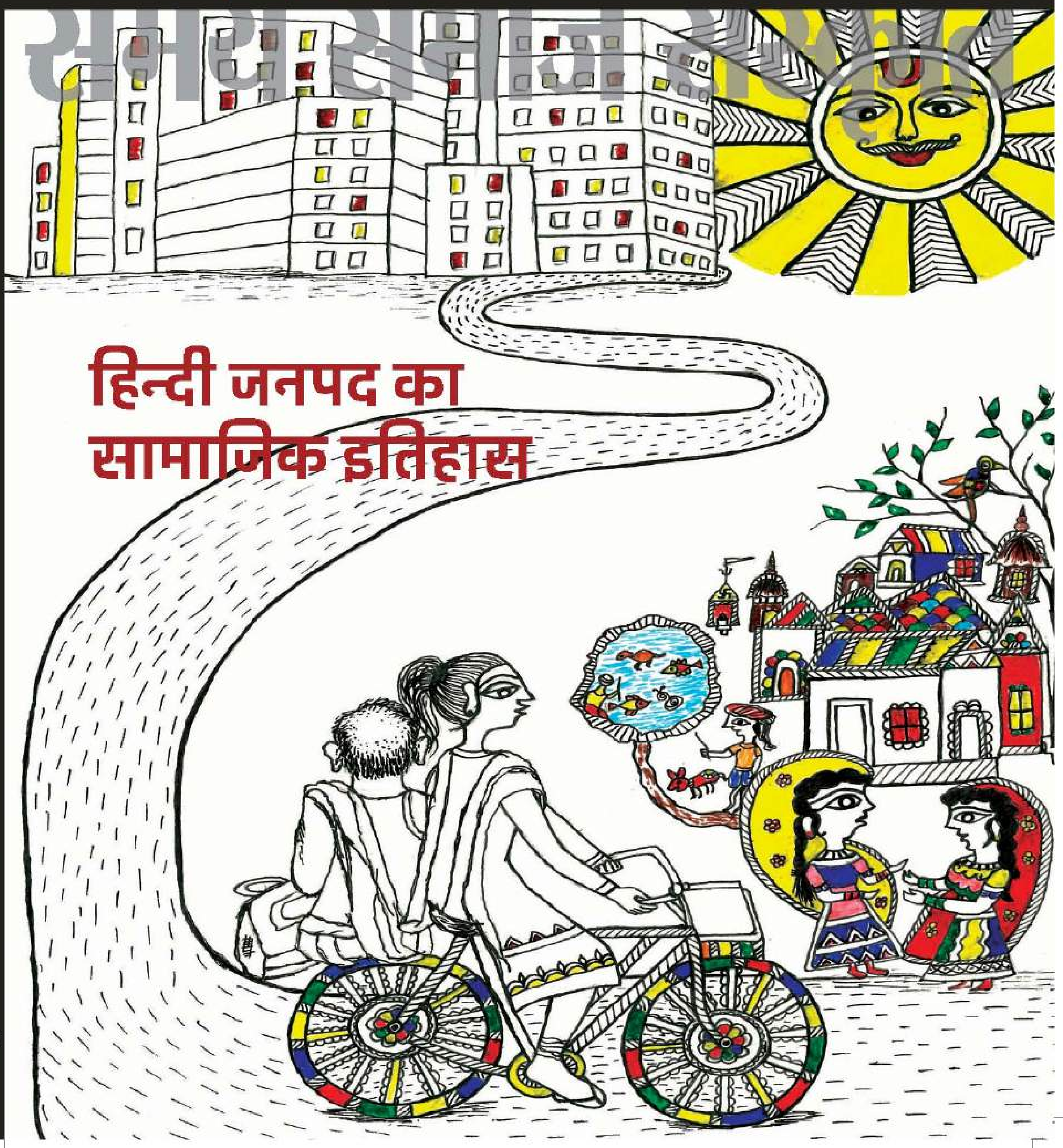
CSDS
बेमिसाल 60 साल
1963-2023

प्रतिमान

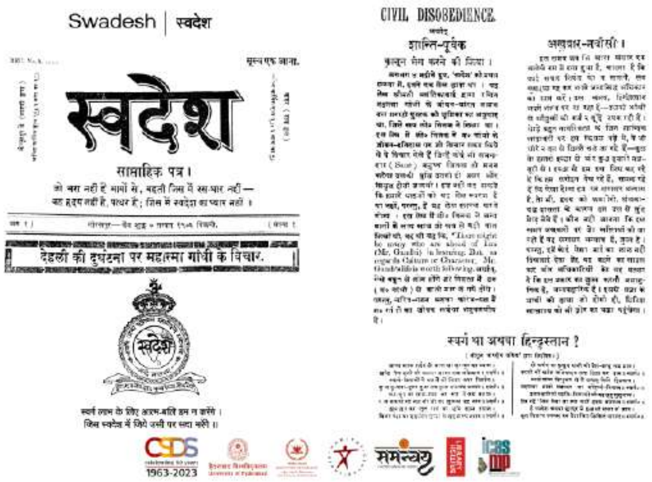
समय समाज संस्कृति

जनवरी-दिसंबर, 2022 | वर्ष 10, संयुक्तांक 19-20



हिन्दी जनपद का सामाजिक इतिहास

प्रतिमान समय समाज संस्कृति
जनवरी-दिसंबर, 2022 | वर्ष 10, संयुक्तांक 19-20
वाणी प्रकाशन


Swadesh | स्वदेश

मूल्य एक आना.

स्वदेश

साप्ताहिक पत्र।

जो भरा नहीं है भावों से, बहती जिस में रस-धार नहीं—
वह हृदय नहीं है, पत्थर है; जिस में स्वदेश का प्यार नहीं।

देहली की दुर्घटना पर महात्मा गांधी के विचार.

स्वर्ग लाभ के लिए अपना-बलि हम न करेंगे।
जिस स्वदेश में जिये उसी पर सदा मरेंगे॥

CIVIL DISOBEDIENCE.

अर्थात्

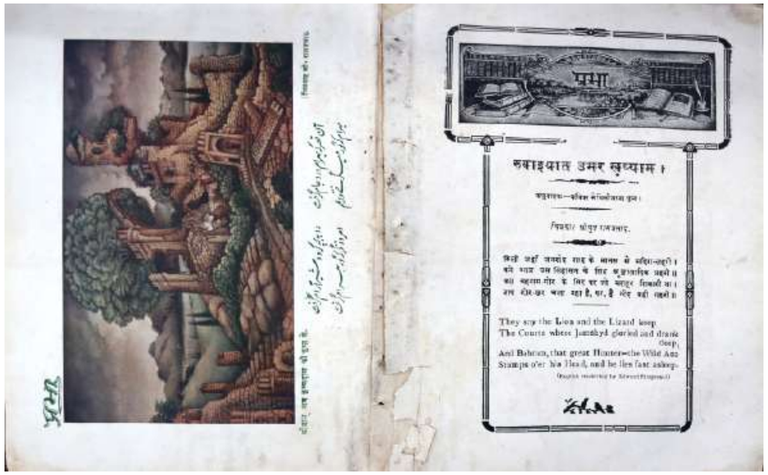
शान्ति-पूर्वक

क़ानून भंग करने की क्रिया।

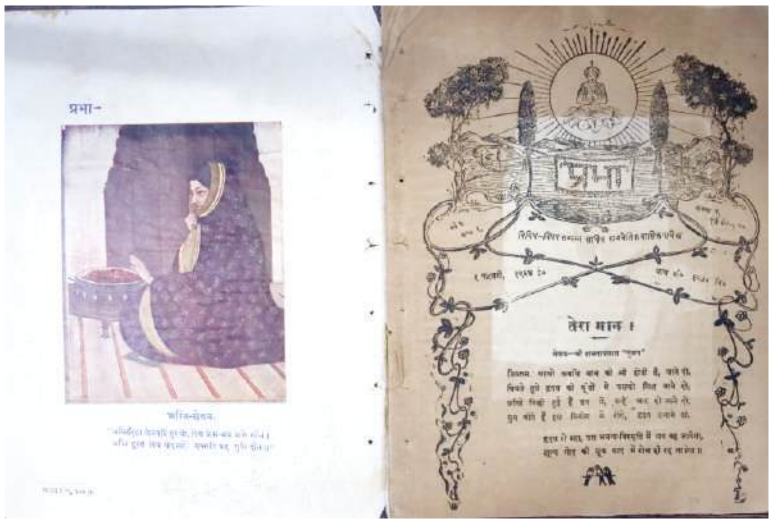
अख़बार-नवीसी।

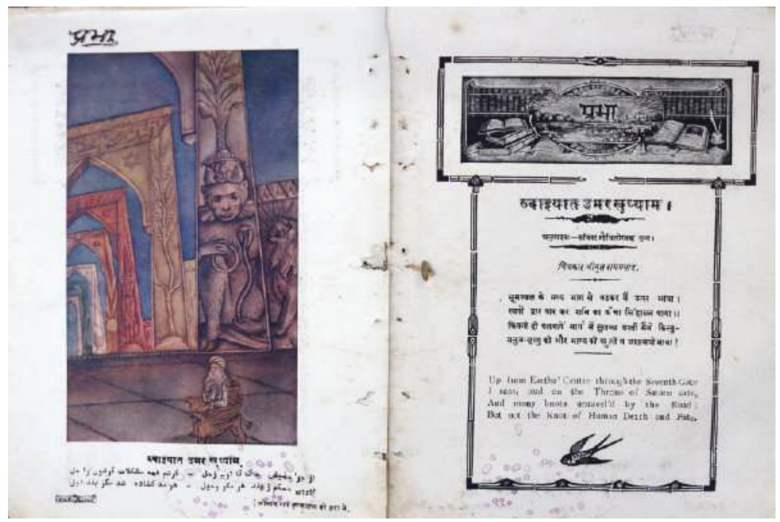
स्वर्ग या अथवा हिन्दुस्तान?











साभार : चम्बल आर्काइव्स, इटावा

साभार : चम्बल आर्काइव्स, इटावा

प्रतिमान

समय

समाज

संस्कृति

जनवरी-दिसंबर, 2022
वर्ष 10, संयुक्तांक, 19-20

प्रतिमान
समय समाज संस्कृति

जनवरी-दिसंबर, 2022 (वर्ष 10, संयुक्तांक, 19-20)
समाज-विज्ञान और मानविकी की पूर्व-समीक्षित अर्धवार्षिक पत्रिका

CSDS बेमिसाल 60 साल 1963-2023 **भारतीय भाषा कार्यक्रम**
विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस)
29, राजपुर रोड, दिल्ली-110054 फ़ोन : 91.11. 23942199
ईमेल : pratiman@csds.in; वेबसाइट : www.csds.in/pratiman
+

वाणी प्रकाशन
4695/21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002 फ़ोन : 91.11.23273167, 23275710
ईमेल : vaniprakashan@gmail.com; वेबसाइट : www.vaniprakashan.com

सेंटर फ़ॉर द स्टडी ऑफ़ डिवेलपिंग सोसाइटीज़, 29, राजपुर रोड, दिल्ली-110054 के निदेशक अवधेन्द्र शरण के लिए प्रकाशक एवं मुद्रक अमिता माहेश्वरी, वाणी प्रकाशन, 4695/21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002 द्वारा प्रकाशित और ऑप्शन प्रिंटोफ़ास्ट, 41, पटपड़गंज इंडस्ट्रियल एरिया, दिल्ली-110092 में मुद्रित।
संपादक : रविकान्त

मूल्य : व्यक्तिगत : ₹ 350, संस्थागत : ₹ 500
विदेशों के लिए : $ 20 + डाक ख़र्च अतिरिक्त या किसी अन्य मुद्रा की समकक्ष राशि
ISSN: 2320-8201

अनुक्रम

प्रतिमान
समय समाज संस्कृति

हिंदी जनपद का सामाजिक इतिहास

इसे विडंबना ही कहना चाहिए कि सामाजिक इतिहास पर एकाग्र इस संयुक्तांक के उद्गम की कहानी उस त्रासद कोविड-काल में जाती है, जब हमारे सारे वैद्यक ज्ञान और सांस्कृतिक संसाधन एक साथ चूक गए थे, और हम एक-दूसरे से सामाजिक दूरी बनाने को बाध्य हो गए थे! महामारी के साये में जिए जाने की ज़िद के उसी आलम में इसके अतिथि संपादक सदन झा ने अपने एक प्रस्तावित संग्रह की सामग्री को *प्रतिमान* के अंक के रूप में छापने का अहद हमारी टीम से किया था। तब से इसमें और भी लेख जुड़ते गए और इसका कलेवर इतना विशाल हो गया। उम्मीद है कि सुधी पाठक हिंदी जनपद के सामाजिक इतिहास के इन पन्नों से लाभान्वित होंगे, बात से बात पैदा करेंगे, इन सवालों में अपनी मेधा और लगन से नए आयाम जोड़ेंगे, उन्हें नई गहराई देंगे। सामाजिक इतिहास लेखन पिछली सदी में उपजी और ख़ूब लोकप्रिय हुई एक अंतरानुशासनिक विधा है, जो अपनी जड़ों से अनेकानेक शाखा-प्रशाखाओं में बँटकर आज फल-फूल-फैल रही है। कुछ यूँ कि आज उनको उनके उत्स से जोड़कर देखना अब तक स्थापित हो चुकी उनकी स्वतंत्र इयत्ता के साथ नाइंसाफ़ी होगी। दिल्ली विश्वविद्यालय के सुमित सरकार जैसे हमारे उस्ताद पढ़ाते थे कि सोशल हिस्ट्री को कुछ लोग 'टोटल हिस्ट्री' भी मानते हैं, यानि सामाजिकता के दायरे में आकर आप हर तरह का इतिहास कर सकते हैं : राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, सांस्थानिक, धार्मिक, बौद्धिक, सामुदायिक, वर्गीय, लैंगिक, आदि, आदि।

मार्क्सवादी रिवायत में तो मज़दूरों, किसानों आदि जैसे हाशिये की इकाइयों को पहले से ही हिरावल दस्ता मान लिया गया था, तो उनके जनांदोलनों के इर्द-गिर्द बीसवीं सदी में बहुत-सारा काम हुआ, ख़ासकर आज़ादी के आंदोलन, पूँजीवाद, ट्रेड यूनियन और पार्टियों से इन वर्गों के बनते-बिगड़ते रिश्तों को लेकर। अभिजात्य (एलीट) और निम्नवर्गीय (सबॉल्टर्न)

हलक़ों के आपसी अंतर्द्वंद्व को लेकर उर्वर ज़मीनें तोड़ी गईं : कि चौरी-चौरा में हिंसा करने वाले किसान कैसे अपूर्ण या अप्रशिक्षित असहयोगी थे; या गाँधी के 'महात्म्य' की निर्मिति में किसानों की श्रद्धा और उनके अंधविश्वास का भी योगदान है, जिन्हें गोरखपुर से छपे अख़बार *स्वदेश* के पन्नों ने छापकर न सिर्फ़ अभूतपूर्व प्रसार दिया, बल्कि प्रामाणिकता भी प्रदान की (शाहिद अमीन)। हाल ही में लगभग सैकड़ा मारकर दिवंगत हुए रणजीत गुहा ने औपनिवेशिक अभिलेखागार को एकदम उलटा लटकाकर बाग़ी वनवासियों व किसानों की चेतना को उनके अपने सांकेतिक मुहावरे में पढ़ने की कोशिश की, तो अरविंद नारायण दास ने अकादमिक और पत्रकारीय दोनों इदारों में, ग्रामीण और जातीय इतिहास से लेकर सांस्कृतिक इतिहास तक का वितान रचा। प्रतिमान में हाल ही में हिंदी जनपद के हिंदुस्तानी मर्द की घरेलू भूमिका की पड़ताल करने वाले ज्ञानेन्द्र पांडेय ने नब्बे के दशक में सांप्रदायिकता और राष्ट्रवाद के बीच की सामान्य ज़मीन को रेखांकित करते हुए, आज़ादी और विभाजन के प्रदत्त और आरामदेह फ़र्क़ को मिटा दिया था। अगर बँटवारा एक बड़ी मानवीय त्रासदी था, जिसमें इतने बड़े सामाजिक और घरेलू स्तर पर हिंसा हुई, तो उसके राजनीतिक कारण गिनाना या बड़े नेताओं में से खलनायक चुन लेना सतही लगने लगा। आशिस नंदी और वीणा दास ने मंटो को विमर्श में लाकर न सिर्फ़ साहित्य को पढ़ने के कुछ नये समाजशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक नुस्ख़े दिए, बल्कि सामुदायिक मर्दवादी हिंसा के स्वरूप की भी शिनाख़्त की, जिसे सुधीर कक्कड़ जैसे विद्वानों ने अपने ढंग से आगे बढ़ाया। दीपेश चक्रवर्ती ने मज़दूरों के हिरावल दस्ते की क्रांतिकारी शुचिता को कलकत्ता के जूट मिलों में पूँजी और श्रम के बीच के संघर्ष के सांप्रदायिक इतिहास के ज़रिये पहले ही प्रश्नांकित कर दिया था।

पिछली सदी के आख़िरी दो दशकों में अगर असली दुनिया में ग्लास्नॉस्त और पेरेस्त्रोइका चल रहा था तो सिद्धांतों की दुनिया में उत्तर-आधुनिकता और उत्तर-संरचनावाद ने अपना बौद्धिक लोहा मनवा लिया था, जिसके नतीजे में रूढ़ निश्चिंतताएँ तो ढह ही गईं, समाज को समझने के बौद्धिक औज़ारों में भी अभूतपूर्व बदलाव आए। भाषाई मोड़ आए, विमर्शों का युग आया। मीडिया के इलाक़े में सैटेलाइट चैनलों के आगमन के बाद वैश्वीकरण भी हुआ, और इंटरनेट से लैस कंप्यूटरों की क्षमता, चिप की क्षमता में सुधार के साथ दिन दूनी चार चौगुनी बढ़ती गई। मोबाइल पर आने के बाद दुनिया डिजिटल हुई और मीडिया सोशल हुआ, जिसके साये में जीवन को नित नये चरण में प्रवेश करते हुए हम अमूमन हर पाँच साल के अंतराल पर अचंभित होते हुए देख ही रहे हैं। इंसान डेटा बन चुका है और डेटा अब जोड़-घटाव की कैलकुलेटरीय क्षमता से कहीं आगे जा चुका है। मानवीय रचनात्मकता अब हॉलीवुड में हड़ताल कर रही है, क्योंकि 'एआय' के हाथों पटकथा लेखकों की नौकरियों और उनके भविष्य पर ख़तरा मँडरा रहा है। तो निहायत मुख़्तसर तौर पर, ये विरासत है, और भविष्य की कुछ आहटें। श्रमपूर्वक लिखे गए इन लेखों में आप सामाजिक इतिहास की पारंपरिक परिभाषा का सतत विस्तार देख सकते हैं। लेखों के शीर्षक से उनके निहितार्थ लगभग ज़ाहिर हैं, लेकिन सारे लेख पढ़ने से तआल्लुक़ रखते हैं।

हिंदी जनपद के प्रख्यात शिक्षाविद और दुभाषी लेखक कृष्ण कुमार ने हमें हमेशा याद दिलाया है कि हिंदी पत्रकारिता की उर्जस्वी परंपरा की जड़ें आज़ादी के आंदोलन की सर्वसमावेशी राजनीति में थी, इसीलिए *सरस्वती*, *चाँद*, *माधुरी*, *सुधा* और *कल्पना* से लेकर *धर्मयुग*, *साप्ताहिक हिंदुस्तान*, *दिनमान*, *हंस*, *पहल*, *आलोचना* और *तद्भव* तक हमारा विमर्श सिर्फ़ साहित्य-केंद्रित नहीं रहा। इन पत्रिकाओं के पन्नों में हर तरह की राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय सामग्री छपी, और हम इस गौरवशाली परंपरा के भक्त न सही, वारिस तो ज़रूर हैं।

चंबल आर्काइव्स एवं म्यूज़ियम



पत्रिकाओं के विरसे को सँभालने का काम कई संग्रहकर्ता यूँ करते रहे हैं, गोया वे इसी के लिए पैदा हुए थे। पिछले कुछ सालों में नष्ट हो रहे पुस्तक-संग्रहों को बचाने की मुहिम में कई ऐसे संग्रह-कर्ताओं से मिला हूँ, जिनमें से इटावा के श्री कृष्णा पोरवाल का नाम मैं बड़े आदर से लेना चाहूँगा। 27 जुलाई, 1951 को जन्मे पोरवाल साहब का परिचय मैं इसलिए दे रहा हूँ कि पाठक न सिर्फ़ उनके संग्रह का इस्तेमाल करें बल्कि इसे लंबी ज़िंदगी देने में उनकी मदद करें। पोरवाल साहब ने यह काम 1960 से ही शुरू कर दिया था, और कुछ साल पहले उन्होंने इस निजी संग्रह को 'चंबल आर्काइव्स एवं म्यूज़ियम न्यास' के नाम से संस्थाबद्ध कर दिया है जिसके तहत वे तमाम तरह की अकादमिक और शैक्षणिक गतिविधियाँ भी चलाते रहे हैं। वे असंख्य प्रदर्शनियाँ लगा चुके हैं और साथ में जीवंत प्रस्तुतियाँ दे चुके हैं; उनके संग्रह में दुर्लभ मध्यकालीन मानचित्र हैं, चित्र हैं, लालटेनें हैं, टाइपरायटर हैं, चँवर हैं, तलवारें हैं, हारमोनियम हैं, और पता नहीं क्या-क्या है।

लेकिन पढ़ने-पढ़ाने वालों के लिहाज़ से आज़ादी के पहले और बाद की तमाम पत्रिकाएँ हैं और हिंदी, अंग्रेज़ी और उर्दू की दुर्लभ पुस्तकें हैं, जिनकी रोज़ाना की देखभाल, साफ़-सफ़ाई से लेकर बाइंडिंग तक पिछले साठ सालों से वे ख़ुद अपने हाथों से करते रहे हैं। उनके यहाँ कई विद्वान कुछ दिन ठहरकर पढ़ने भी आते हैं। संग्रह आसानी से नहीं बनते, न ही उन्हें सँजोये रखने का काम हल्के में लिया जा सकता है : इसके लिए कागचेष्टा, बकोध्यानम् की ज़रूरत होती है। पोरवाल साहब और अहमदाबाद के नरेश दुदानी जैसे संग्रहकर्ताओं के अभ्यास से साफ़ है कि यह आजीवन चलने वाला ऐसा काम है, जिसे दैनंदिन स्तर पर चलाये रखना होता है।

अलविदा अजातशत्रु!



सरकारी नाम रविशंकर श्रीवास्तव, रवि रतलामी के नाम से जग-प्रसिद्ध, राजेश रंजन जैसे लोग आदर से 'रतलामी जी' कहते; गुंटुपल्ली करुणाकर, मेरे और मसिजीवी के लिए सिर्फ़ रवि, लेकिन उम्र का इतना फ़ासला तो था ही कि कभी 'तुम' नहीं कहा तुम्हें, सो आज कह रहा हूँ, कि तुम्हें तो अब फ़र्क़ पड़ने से रहा; कि लहर की शक्ल में गतिशील तुम्हारी जीवन-रेखा सपाट हो गई है : अचानक, वक़्त से बहुत पहले। (तुम्हारा ह्वॉट्सैप का डीपी मुँह चिढ़ा रहा है : Line is life ✉) पता नहीं कितनों की ज़िंदगियाँ बदलीं तुमने। इस सदी के शुरुआती सालों से लेकर आज तक अंग्रेज़ी कंप्यूटरों की शाहराह के समांतर भाषा की पगडंडी पर चलते हुए अपनी औक़ात से बड़े सपने देखते और उनमें से कुछ को साकार करते हुए कितने सारे हमसफ़र बनाये, कितने गिरतों को उठाया, कितने भूलों को सही राह पकड़ाई, और यह सब ऐसे किया गोया तुम इसी के लिए बने थे। यह हमारे मुक्त सॉफ़्टवेयर आंदोलन का सहज अभ्यास था कि हम एक-दूसरे की मदद करेंगे। इसे जिन लोगों ने आत्मसात किया उनमें तुम अग्रणी थे। मसला आया नहीं कि समाधान हाज़िर। हमने साथ मिलकर तक़रीबन 18 साल पहले 2005 में हिन्दी का पहला डेस्कटॉप लोकार्पित किया था। सारा सरकारी बजट एक तरफ़। रवि रतलामी के प्रयास दूसरी तरफ़। तुम अकेले हमारी सरकार थे, इकलौती दुबली-पतली काया की एक भरी-पूरी अहिंसात्मक, हरदिलअज़ीज़, लगातार उम्मीद बाँटती फ़ौज। इंडिक कंप्यूटिंग, इंडलिनक्स, हिन्दी ब्लॉगिंग इन सब बौद्धिक-तकनीकी आंदोलनों की जान थे तुम। भाषायी कंप्यूटिंग के न जाने कितने पहले पन्ने हमने साथ-साथ पलटे; हैरत-भरे सुख के साथ। और जैसे ही तुम्हें कुछ नया ज्ञान पता चलता था, पूरी दुनिया को दे डालते थे। पता नहीं कितनी बार तुम्हारी मदद ली और कितनों को तुम्हारी दिशा में ठेला मैंने! और किसी ने मुड़कर ये नहीं कहा कि मेरी मदद नहीं की।

रवि की याद में हिंदयुग्म, सीएसडीएस व विनीत कुमार द्वारा आयोजित सभा की रिकॉर्डिंग के लिए देखें :

https://www.facebook.com/csdsdelhi/videos/875641130923218

पाक शास्त्र और आदर्श राष्ट्र : कुछ दैनंदिन नुस्ख़े

सौम्या गुप्ता



बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में प्रकाशित पाक पुस्तिकाओं को सामाजिक स्रोतों का पद दुर्लभ ही प्राप्त होता है और आम तौर पर अकादमिक दुनिया की बहसों में कम ही अहमियत दी जाती है। यह आलेख इन उपेक्षित स्रोतों के माध्यम से आधुनिकता के मुहाने पर खड़े शहरी मध्यवर्गीय हिंदू परिवार में प्रचलित आम धारणाओं, क़ायदों और आस्थाओं की एक झलक पेश करने का प्रयास है। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में लिखी गई हिंदी पट्टी की लोकप्रिय पाक-पुस्तिकाओं में पकवानों की विधि तो होती ही थी, साथ ही एक सामाजिक और 'राष्ट्रीय' पाक सीमा को खींचने का प्रयास भी होता था; रसोई के नियम, भोज्य-अभोज्य की परंपरा, कच्चे और पक्के की परिधि, शिष्टाचार विधान और आदर्श स्त्रियोचित स्वभाव के लक्षण आदि के निरूपण के द्वारा इन पाक-पुस्तिकाओं ने सम्भवत: बीसवीं सदी के उभरते सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

राष्ट्र की कल्पना-प्रक्रिया में लोगों की सांस्कृतिक स्मृति में रचे-बसे खान-पान के रूपक में चिर-परिचित घनिष्ठता की छौंक राष्ट्रवाद के ख़याल को अंतरंग बनाने का काम करती है।

हमारे यहाँ के व्यंजनों और खाद्य परंपराओं की भारी विविधता को देखते हुए किसी प्रतिनिधि भारतीय व्यंजन की धारणा को विकसित कर उसे स्थापित करना, यहाँ तक कि उसकी कल्पना करना भी कोई आसान चुनौती तो थी नहीं। राष्ट्र की कल्पना के दौरान अमूमन दोहरी कोशिश दिखाई देती है : पहले आम दिनचर्या को अनुष्ठान बनाया जाता है और फिर यह दावा किया जाता है कि यह अनुष्ठान राष्ट्र-बोध की पूर्णता के लिए अनिवार्य है। भारत की आज़ादी के बाद विभिन्न प्रकार की क्षेत्रीय और स्थानीय पाक परंपराओं से अलग-अलग व्यंजनों को चुनकर एक वृहद भारतीय भोजन परंपरा तैयार की गई, लगभग उसी तरह जिस तरह अनेक क्षेत्रीय भेदों को अंगीकार करते हुए भारत की संघीय कल्पना अस्तित्व में लाई गई।[1] समाजशास्त्री अर्जुन अप्पादुरै ने इस भारतीय 'राष्ट्रीय व्यंजन' — जो अपनी क्षेत्रीय या जातीय जड़ों को छिपाने की कोशिश नहीं करता — के निर्माण का श्रेय 'उत्तर-औद्योगिक, उत्तर-औपनिवेशिक…घुमंतू, बहुजातीय, बहुभाषी, पश्चिमी आस्वाद में रँगे पेशेवर मध्यम वर्ग द्वारा किए गए बेहिचक पाक परीक्षणों' को दिया है।[2]

राष्ट्रीय भोजन के इस 'सलादनुमा' विवरण से इतर, इस पर्चे का सरोकार राष्ट्र की उस कल्पना से है जो आज़ादी के पहले की हिंदी पट्टी में गढ़ी जा रही थी, और जिसकी एक झलक हमें हिंदी में छपी पाकशास्त्र की लोकप्रिय पुस्तक-पुस्तिकाओं में मिलती है।[3]

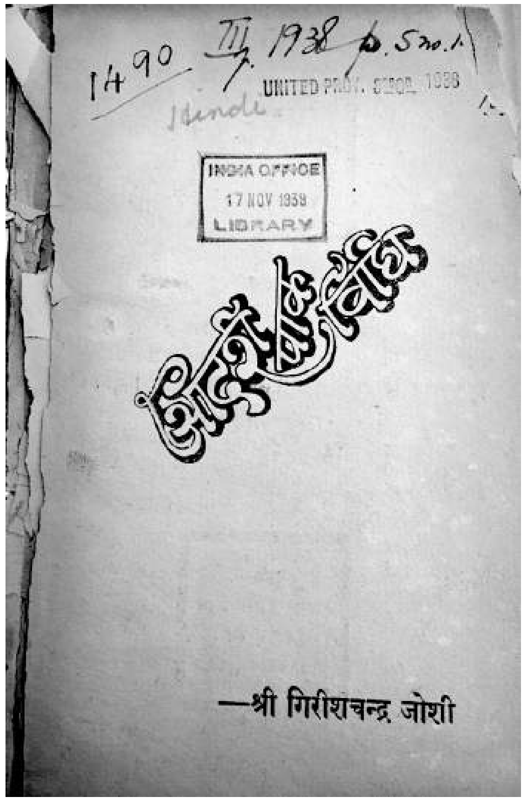
पौराणिक आर्यावर्त से उत्प्रेरित, ख़ुद को आदर्श हिंदू धर्म, संस्कृति और भाषा का केंद्र मानते हुए उत्तर प्रदेश हिंदी पट्टी पर एक स्वाभाविक विशेषाधिकार का दावा करता है। गंगा-जमुना दोआब में स्थित यह स्थान, जहाँ वर्ण और आश्रम के मानदंड पूर्ण रूप से मान्य थे, प्राचीन काल से लगातार विभिन्न साम्राज्यों का केंद्र रहा था।[4] चौथी शताब्दी का गुप्त और सत्रहवीं शताब्दी का मुग़ल साम्राज्य इसी क्षेत्र में पनपे। पूर्व-औपनिवेशिक काल में यह अवध की स्वायत्त नवाबी का केंद्र था, जिसकी राजधानी लखनऊ गंगा-जमुनी संस्कृति का संगम क्षेत्र थी। औपनिवेशिक काल के दौरान वाराणसी, मथुरा और इलाहाबाद जैसे प्राचीन शहर यहाँ कानपुर और आगरा जैसे वाणिज्यिक केंद्रों से होड़ लगाते मिलते हैं। लोकप्रिय आत्म-कल्पना में यह क्षेत्र नियमित रूप से स्वयं को 'राष्ट्र का हृदय' होने के नाते ख़ुद पर गर्व करता है। इतिहासकार ज्ञानेश कुदैसिया ने पाँच अलग-अलग निर्मितियाँ इंगित की हैं जिनमें उत्तर प्रदेश को भारतीय समाज और राजनीति के हृदय स्थल के रूप में स्थापित किया गया है : 1870 के दशक में

[1] गांधी की भोजन और रसोई से संबंधित बातों में रुचि सर्वविदित है. अपनी निरंतर यात्राओं के दौरान उन्होंने स्वागत समितियों के द्वारा गुजराती व्यंजन उपलब्ध कराने को अनावश्यक माना. हरिजनबंधु के एक गुजराती लेख में गांधीजी ने स्पष्ट लिखा कि 'हममें अपने प्रांत के बाहर के प्रांतों में खाए जाने वाले भोजन को स्वीकार करने की क्षमता होनी चाहिए'. हालाँकि, एक 'राष्ट्रीय भोजन' निर्धारित करने में मौजूद कठिनाइयों को वे खूब समझते थे : 'मुझे पता है कि यह सवाल इतना सरल नहीं है जितना दिखता है... (क्योंकि) न केवल विभिन्न प्रांतों में भोजन परंपरा के अलग-अलग सम्मिश्रण हैं, बल्कि एक ही प्रांत में विभिन्न समुदायों के बीच भी अलग-अलग स्टाइल होती है' 'प्ली फ़ॉर कैथोलिसिटी,' *हरिजन*, जनवरी 5, 1934.

[2] अर्जुन अप्पादुरै (1988) : 3-24.

[3] रुडोल्फ़ ऐंड रुडोल्फ़ (1981) : 811; कुदैसिया (2006) : 9.

[4] रॉय (2009) : 30.



युनाइटेड प्रॉविन्सेज़ (संयुक्त प्रांत) औपनिवेशिक अधिकारियों की नज़र में एक 'मॉडल' प्रांत' था। तदुपरांत यह 'हिंदी, हिंदू, हिंदुस्तान' के दावे और मुस्लिम राजनीति की मुखर अभिव्यक्ति का केंद्र बना।[5] बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में उत्तर प्रदेश के ग्रामीण इलाकों में राष्ट्रवाद का प्रसार हुआ और कांग्रेस के नेतृत्व में यह राष्ट्रीय संघर्ष का अगुआ बना। तब से अब तक उत्तर प्रदेश भारत की राष्ट्रीय राजनीति को गहराई से प्रभावित करता आ रहा है।[6]

बीसवीं सदी का आरंभ हिंदी लेखन के प्रस्फुटन का दौर भी था। इलाहाबाद, लखनऊ, बनारस, कानपुर और आगरा जैसे मुख्य शहर ज्ञान उत्पादन और हिंदी प्रकाशन उद्योग के महत्त्वपूर्ण केंद्र थे।[7] जहाँ बंगाल उन्नीसवीं शताब्दी में देशज भाषाओं के प्रकाशन का अग्रणी केंद्र था, वहीं 20वीं शताब्दी की शुरुआत में उत्तर प्रदेश में देशी भाषाओं के प्रकाशन में ज़बर्दस्त प्रगति देखने को मिली।[8] यहाँ 1926 में पंजीकृत किए गए कुल प्रकाशनों की संख्या 2840 थी। 1931 तक यह संख्या बढ़कर 3565 हो गई, जो एक स्थिर वार्षिक वृद्धि दर्शाती है। प्रांत के कुल प्रकाशनों के आँकड़ों में हिंदी प्रकाशन का हिस्सा 59.2% था। हिंदी किताबत में यह उल्लेखनीय बढ़त इस बात का सबूत है कि हिंदी जन क्षेत्र का तेज़ी से विकास हो रहा था।[9] साक्षरता के आँकड़े भी इस कथन का समर्थन करते हैं। संयुक्त प्रांत में 1921-1931 के एक दशक में साक्षरता में 34.4% की वृद्धि दर्ज की गई। महिला साक्षरों की कुल संख्या 1921 में 134,004 से बढ़कर 1931 में 218,299 हो गई।[10] यह सत्य है कि कुल आबादी का यह एक बहुत छोटा प्रतिशत था और यह संभावित पाठक वर्ग राज्य के क़स्बों और शहरी क्षेत्रों में ही केंद्रित था। फिर भी,

[5] उत्तर भारत में राष्ट्रवाद और साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण के विकास के दस्तावेजीकरण के लिए देखें फ्रांसिस रॉबिन्सन (1974), सुधीर चंद्र (2014), ज्ञानेंद्र पाण्डेय (1990), सैंड्रिया फ्रायटैग (1990) और आलोक राय (2001).

[6] गॉल्ड (2004) : 2

[7] वसुधा डालमिया (1997); फ्रंचेस्का ओर्सीनी (2002); स्टुअर्ट ब्लैकबर्न व डालमिया (2004) : 16.

[8] चारु गुप्ता (2001) : 50; उलरिके स्टार्क (2007).

[9] *रिपोर्ट ऑन द एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ़ द युनाइटेड प्रोविंस ऑफ़ आगरा ऐंड अवध,* 1926-27.

[10] डी. नटराजन, *एक्सट्रैक्ट्स फ़्रॉम दि ऑल इंडिया सेन्सस रिपोर्ट्स ऑन लिटरेसी, 1971*, iii, 89.

औपचारिक शिक्षा की धीमी और असमान प्रगति के बावजूद इस प्रिंट आउट पुट के 'पाठकों' की किसी भी गणना में इस तथ्य को नज़रअंदाज़ नहीं करना चाहिए कि औपचारिक पाठकों के अलावा इन पुस्तकों और पत्रिकाओं को सुनने वाला एक बड़ा वर्ग होता था।।[11]

उत्कृष्ट साहित्यिक प्रकाशनों के साथ-साथ इस दौर में घर और महिला संबंधी अन्तरंग विषयों पर आधारित नैतिक व हिदायती प्रकाशनों की बाढ़ सी आ गई। इन रचनाओं में 'नूतन विचार और विभिन्न शैलियाँ एक साथ नमूदार हुईं, लैंगिक भूमिकाओं की नई संभावनाएँ तलाशी गईं, उनमें संशोधन किये गए, उनको [नई भाषा में] दुहराया भी गया'।[12] जैसा कि चारु गुप्ता ने अपने काम में सविस्तार दर्शाया है, यह पर्चे और पत्रिकाएँ मुख्यतः क़स्बाई क्षेत्रों और शहरों में रहने वाले मध्यम-वर्गीय, उच्च और मध्यवर्ती जातियों के मुखर वर्गों द्वारा रचित थे, और विशेष रूप से दैनन्दिन रिश्तों और कार्यस्थलों में उनकी चिंताओं और नैतिक संत्रासों को प्रस्तुत करते थे।[13] क्योंकि यह साहित्यिक और पत्रकारीय उत्पादन राष्ट्रीय आंदोलन द्वारा उद्घाटित आमूल परिवर्तन के समकालीन था, राष्ट्र व इसके उत्थान का रूपक हिंदी सार्वजनिक क्षेत्र के विभिन्न प्रकाशनों द्वारा संबोधित केंद्रीय विषय वस्तु बन गया।[14] वसुधा डालमिया ने बताया है कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से स्थानीय प्रेस में छप रहे अनेक ऐतिहासिक निबंधों और *इंडियन ऐंटीक्वेरी* जैसी पत्रिकाओं ने भी भारत को मुख्यतः हिंदू सभ्यता के दायरे में प्रस्तुत किया और स्थानीय परंपराओं और स्वाद को सांस्कृतिक और ब्राह्मणवादी आदर्शों से जोड़ने का उपक्रम किया। ऐतिहासिक-सांस्कृतिक अवचेतन से सूचित-संचालित इस साहित्यिक परियोजना में 'सभी शैलियों के लेखकों ने प्राचीन साहित्य से सीधा शजरा जोड़ने और वैधता हासिल करने की कोशिश की'।[15] प्रिंट क्रांति और उसके स्थानीयकरण का तत्काल परिणाम यह हुआ कि परंपरावादी व रूढ़िवादी पुस्तकों की पहुँच में इज़ाफ़ा हुआ और धर्म, भाषा, राष्ट्र, और संस्कृति की यकसाँ समझ की परंपरा मज़बूत हुई।[16] 1920 और 1930 के दशक में हिंदी प्रेस में ऐसा कोई विमर्श नहीं था जो राष्ट्र के बारे में न हो, और यह बात हिंदू पाकशास्त्रों पर भी लागू होती है। पाकशास्त्रों, महिला पत्रिकाओं और घरेलू नियमावलियों ने 'महिलाओं के सवाल', 'आदर्श पारिवारिक जीवन' और स्त्री-सुधार जैसे मुद्दों के माध्यम से भावी आदर्श राष्ट्र को भी परिभाषित किया। वस्तुतः 'आदर्श राष्ट्र की कल्पना' परिवार की भौतिक और भावनात्मक देखभाल और पोषण जैसे अंतरंग

---

[11] निझावन (2017) : 48–66.

[12] ब्लैकबर्न और डालमिया (2004) : 16.

[13] चारु गुप्ता (2012) : 1-36.

[14] फ्रंचेस्का ओर्सीनी के हिंदी और उर्दू में वाणिज्यिक प्रकाशन के विश्लेषण में नोट किया गया है कि 'यहाँ पुस्तिकाओं और रंगमंच के द्वारा उत्पादित आनंद के व्यवसायीकरण में ऐसे विमर्श, मुहावरे और बिम्ब शामिल थे, जो राजनीतिक रंग ले सकते थे'. देखें ओर्सीनी (2009) : 1-48.

[15] वसुधा डालमिया (2015) : 110.

[16] वही : 110-138.

धरातल पर ही सम्भव मानी गई। बक़ौल तनिका सरकार, 19 वीं सदी के अंत से, शास्त्र और हिंदू रीति-रिवाजों से मर्यादित स्त्री अतीत की स्वतंत्रता के साथ-साथ एक उभरते राष्ट्र के प्रतीक के रूप में स्थापित की गई। भोजन की सांस्कृतिक स्थापना इसी प्रक्रिया का हिस्सा थी।[17]

हालाँकि, इस स्वघोषित राय के अलावा कि खाना पकाना महिलाओं का स्वाभाविक कार्य था, पकाने की विधि और व्यंजनों के विस्तृत दिशा-निर्देश पर साहित्यिक पत्रिकाओं में ज़्यादा ज़ोर नहीं था। यद्यपि आधुनिक गृह सज्जा, स्वच्छता, आरोग्य, बचत इत्यादि पर सलाह तत्परता से बाँटी जा रही थी, हिंदी पट्टी के प्रमुख रिसालों में व्यंजन, या रसोई के नुस्ख़ों जैसे कॉलम आरम्भ में कम ही दिखते है। 1909 से इलाहाबाद से प्रकाशित *गृहलक्ष्मी* जैसी सफल पत्रिका में भी रसोई या रंधन कार्य सरीखा कोई *नियमित* स्तंभ नहीं था।[18]1920 के दशक से *चाँद* और *माधुरी* में 'दादीमाँ के नुस्ख़े' 'घरेलू उपचार,' जैसे कॉलम कभी-कभार दिखते हैं, और आगे जा कर ये ही 'पाक शिक्षा' के रूप में स्थापित होते हैं। पर ये नियमित फिर भी नहीं थे। यह माना जाता था कि महिलाओं को न तो रोज़ाना का खाना, न ही औत्सविक पकवान बनाना सिखाने की कोई ज़रूरत है। पाक कला तो उनका नैसर्गिक गुण था – जैसे कि बंगाल के एक सुधारवादी पति ने अपनी पत्नी से हतप्रभ हो कहा : 'मैं आपको पाक कला के बारे में क्या सिखा सकता हूँ? खाना पकाने में सिखाने के लिए है ही क्या? इसे तो स्वयं देखकर और पकाकर ख़ुद ही सीखा जाता है।'[19]

मगर इससे यह तात्पर्य नहीं निकालना चाहिए कि हिंदी प्रिंट जगत में खाना पकाने के बारे में कोई सलाह दी ही नहीं जाती थी।[20] यद्यपि महिलाओं की मानक पत्रिकाओं में पाक विद्या को अमूमन कम स्थान दिया गया था, हिंदी पाक पुस्तिकाएँ और व्यंजन विधियाँ सस्ते और 'अप्रबुद्ध' साहित्य की दुनिया का महत्त्वपूर्ण हिस्सा थीं।[21] धार्मिक और पौराणिक साहित्य, यौन निर्देशिका, कविता, सनसनीख़ेज़ उपन्यास और रोमांस, टीका और कथा सरीखी

---

[17] तनिका सरकार (1999) : 29.

[18] बीसवीं सदी के आरम्भ में *गृहलक्ष्मी* महिलाओं की सफलतम पत्रिकाओं में एक थी, जो पहले वर्ष में ही 4000 सदस्य बनाने में कामयाब हुई. मगर 1924 तक यह संख्या 2000 तक ही रह गई. संभवतः इस कमी का कारण इलाहाबाद की ही एक और पत्रिका *चांद* की बेमिसाल सफलता थी. 1926 में *चांद* की प्रसार संख्या 6000 थी, जो 1930 में 15,000 तक पहुँच गई. देखें, निझावन (2012): 49; ओर्सीनी (2002): 64-65.

[19] देखें धीरेंद्र नाथ पाल, *स्त्रिरेर सहित कथोपकथन*, कलकत्ता, वैष्णव चरण वसाक (1908), जो वॉल्श, *डोमेस्टिसिटी इन कोलोनियल इंडिया*, 55 में उद्धृत है.

[20] बंगाल में विस्तृत निर्देशों से पूर्ण पाक-पुस्तकें 19वीं सदी के अंत से ही प्रकाशित होने लग गई थीं, हालाँकि इस साहित्य का उद्देश्य महिलाओं के पाक-कौशल को ही था, न कि किसी नौसिखिए को आरम्भ से खाना पकाना सिखाना. देखें, बोर्थविक (1984) : 210-216.

[21] चारु गुप्ता का शोध इस बात पर ज़ोर देता है कि 'उच्च और निम्न, अभिजात और लोकप्रिय' साहित्य के बीच एक सरल भेदभाव सम्भव नहीं है. देखें, गुप्ता (2001) : 84. साथ ही उलरिके स्टार्क ने इस वाणिज्यीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से 'मुद्रित पाठ का सांस्कृतिक संपत्ति से सस्ते और आसानी से उपलब्ध उपभोक्ता वस्तु में रूपांतरण के रूप में वर्णन किया है. यह रूपांतरण औद्योगीकरण द्वारा उत्पन्न विस्तृत आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों से गहराई से जुड़ा हुआ है'. स्टार्क (2007) : 4.

स्वदेशी शैलियों की दुनिया में हिंदी पाक पुस्तिकाओं ने अपनी जगह बना ली थी और इनकी अच्छी ख़ासी संख्या में बिक्री भी होती थीं। छपाई-पूर्व की वाचिक दुनिया और परवर्ती छपाई जगत के बीच कोई ऐसी गहरी खाई कभी नहीं रही जो परस्पर आवाजाही को निषिद्ध करती। प्रिंट की दुनिया अपनी परंपरागत सामाजिक, सांस्कृतिक, भाषाई सीमाओं से बँधी रही। बक़ौल स्टुअर्ट ब्लैकबर्न, 'प्रिंट [की आमद से] ज़्यादा किताबें नहीं छपीं, बल्कि पुरानी किताबें ज़्यादा छापी गईं ...लेकिन इन शुरुआती दौर की सभी नई और पुरानी किताबों ने भाषा और साहित्य को लेकर स्थानीय सामुदायिक नज़रिए को काफ़ी हद तक बदल दिया।'[22]

अतः यह पाक-पुस्तकें एक प्रकार से पारंपरिक ज्ञान प्रणालियों का औपनिवेशिक शहरी जीवन की नई माँगों से वार्तालाप हैं – एक ऐसा वार्तालाप जो कि प्रिंट के नए सार्वजनिक माध्यम में मौखिकता की एक पुरानी दुनिया को ला रहा था। इस प्रक्रिया में रवायती रसोई पुनर्परिभाषित होने लगी, उसे नई गतिशीलता प्राप्त हुई, और पारंपरिक आहार के रूप में नई वैधता भी प्राप्त हुई।

यह ध्यान रखना ज़रूरी है कि जिन पाक पुस्तकों का यहाँ ज़िक्र किया गया है, वे सभी अवध के उसी इलाक़े और पाक परंपरा से संबंधित रही हैं जहाँ के नवाबी पकवान मशहूर और जग-प्रसिद्ध रहे हैं।[23] परंतु इन हिंदी पाक पुस्तकों में इस नवाबी ठाट-बाट से सम्पन्न पकवानों की झलक नगण्य है। लगभग हर पुस्तक आम हिंदू परिवारों द्वारा खाए जाने वाले रोज़मर्रा के खाद्य पदार्थों से संबंधित है। अतः इन पाक-संग्रहों को ऐसे ऐतिहासिक अभिलेख की मानिंद समझा जा सकता है जो बीसवीं शताब्दी की शुरुआत में शहरी मध्यवर्गीय दुनिया में हो रहे बदलाव को इंगित करते हैं, और उस बदलती दुनिया को क़रीब से देखने में हमारे सहायक होते हैं। रसोई के नियम और खान-पान की सलाहें मध्यवर्गीय घरेलू परिवर्तनों और संबंधित चर्चाओं के निकट ले जाती हैं। यह कहा जा सकता है कि 1920 के दशक में हिंदी पट्टी के राष्ट्रवादी प्रचारकों और रहनुमाओं की तरह ही ये पाक पुस्तिकाएँ भी एक अतीत-आधारित और भविष्योन्मुखी राष्ट्र की (पुन:) कल्पना करती हैं।[24]

पाक चंद्रिका की दुनिया : उत्तर प्रदेश की हिंदी पाक-पुस्तिकाएँ

आहार परंपरा के समकालीन अध्ययन विभिन्न समाजों में दैनंदिन आदतों और रुचियों के परिवर्तन पर ध्यान केंद्रित करते हुए उन जटिल संबंधों को रेखांकित करते हैं जो स्थानीय संस्कृतियों और वैश्विक आधुनिकताओं के बीच उभरते हैं। भारतीय व्यंजनों की विभिन्न

[22] स्टुअर्ट ब्लैकबर्न (2003) : 9.

[23] अब्दुल हलीम शरर (1926) (1971); हॉली शेफ़र (2012) : 110-125; लिज़्ज़ी कोल्लिंघम (2006) : 93-98; कॉलीन सेन (2015) : 192-201.

[24] जैसा कि फ्रंचेस्का ओर्सीनी ने दर्शाया है, बीसवीं सदी में सस्ती किताबों और रंगमंच के माध्यम से जो फुर्सत का व्यवसायीकरण हुआ, उससे रोज़मर्रा के संवादों में राजनीतिक आशय, विमर्श और रूपक शामिल होने लगे. देखे, ओर्सीनी (2009) : 1-48.

क़िस्में इस प्रस्ताव को सर्वश्रेष्ठ रूप में प्रस्तुत करती हैं। भारत के प्राचीन और मध्ययुगीन व्यंजन कोई अखंड इकाइयाँ तो थे नहीं। प्राचीन काल के युरोपीय व्यापार और सांस्कृतिक आदान-प्रदान के अवशेष भारतीय व्यंजनों में रचे-बसे हैं। पुर्तगाली और मध्य एशियाई राजनीतिक और व्यापारिक सम्बन्धों ने समय के साथ भारतीय व्यंजनों को स्वाद और विविधता से समृद्ध किया है। औपनिवेशिक काल में क्षेत्रीय थालियों की बहुतायत में बर्तानवी मेमों और भारतीय ख़ानसामों के प्रयोगों ने संकरता की एक परत और जोड़ दी; कालांतर में देसी और विदेशी, केंद्रीय और क्षेत्रीय, नवाबी और घरेलू खाद्य परंपराओं ने घुल-मिल कर एक-दूसरे को परिष्कृत ही किया।[25] उन्नीसवीं सदी के व्यंजन पटल पर एक सरसरी निगाह डालने से ही स्पष्ट हो जाता है कि नए खाद्य पदार्थों की स्वीकृति, अस्वीकृति के साथ-साथ घरेलू रसोई में अनेक पाक प्रयोग निरंतर ही हो रहे थे। उदाहरण के तौर पर, 19 वीं सदी के उत्तरार्ध में उत्तर भारत में नए फल और सब्ज़ियों की फ़सलों को सरकारी प्रोत्साहन दिया जा रहा था। नई दुनिया के इन उत्पादों को पारंपरिक रसोई में शामिल होने में मामूली प्रतिरोध का ही सामना करना पड़ा और जल्द ही आयातित आलू, टमाटर, मकई, गाजर इत्यादि रोज़मर्रा के भोजन में स्थापित हो गए।[26] मगर बीसवीं सदी की शुरुआत में जैसे-जैसे भारतीय राष्ट्र के निर्माण पटल में अपनी जगह बनाने के लिए विभिन्न आवाज़ें उठीं, परंपरा, रिवाजों और स्थापित रीतियों के बारे में ऊहापोह और अकुलाहट बढ़ गई। घर और समुदाय, लैंगिक और जातीय मानदंडों पर पुनः ज़ोर देते हुए, परिवर्तन और आधुनिकता पछोरते हुए, नवाचार त्यागते हुए, हिंदी पट्टी की पाक पुस्तकें परिवर्तन विरोधी जामा ओढ़ लेती हैं और एक सख़्त विधेय रूप धारण कर लेती हैं। इस लेख में उद्धृत पाक पुस्तिकाएँ इसी प्रक्रिया को स्पष्ट करने का प्रयास हैं।

इस पर्चे में जिन चार घरेलू पाक पुस्तिकाओं का ज़िक्र किया जाएगा, वे सभी बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में उत्तर प्रदेश से प्रकाशित हुई थीं। कार्तिक प्रसाद रचित *पाकराज* (द्वितीय संस्करण) 1908 में और गिरीशचंद्र जोशी रचित *आदर्श पाक विधि* 1938 में बनारस से प्रकाशित हुईं। पंडित मणिराम शर्मा द्वारा लिखित *पाक चंद्रिका* 1926 में इलाहाबाद से, और पंडित नरसिंह शुक्ल द्वारा लिखी गई *वृहद पाक विज्ञान* मथुरा से 1939 में प्रकाशित हुई। हिंदी पट्टी के लोक में रची-बसी ये चारों घरेलू पाक पुस्तिकाएँ अनेक व्यंजनों की विधि के साथ-साथ गृहस्थी संबंधी विमर्शों की अंतरंग झलक देती हैं। *पाकराज, वृहद पाक विज्ञान* और *आदर्श पाक विधि* – ये तीनों पुस्तकें अपने आप में वृहद् संकलन हैं और हिंदी पट्टी की खान-पान परंपरा के दस्तावेज़ हैं। परंतु इस पर्चे की धुरी *पाक चंद्रिका* है जो व्यंजनों के विस्तृत संकलन और घरेलू निर्देश के माध्यम से राष्ट्रीय आकांक्षाओं-चिंताओं के निवारण-सूत्र प्रस्तुत करती है। *पाक चंद्रिका* में प्रस्तुत आदर्शों और घरेलू हिदायतों के अध्ययन से हिंदी पट्टी का सामाजिक ताना-बाना स्पष्ट उजागर हो जाता है।

---

[25] पुष्पेश पन्त (2013) : 1-34.

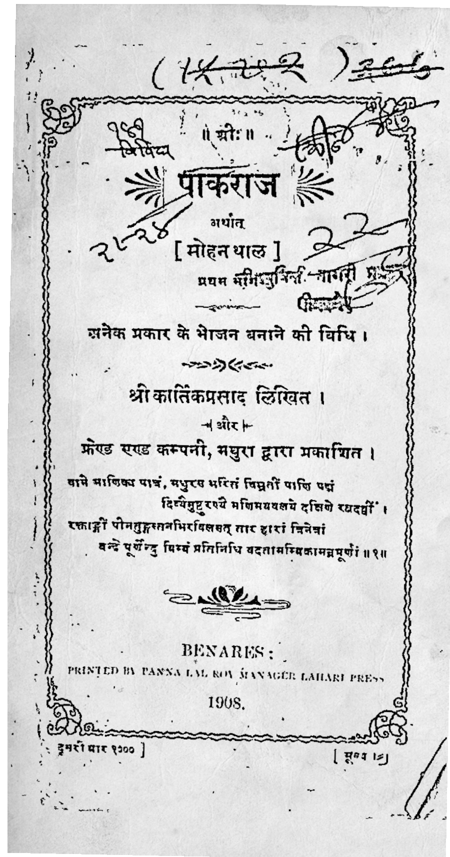
[26] कॉलीन सेन (2015) : 213.

ऊपर वर्णित सभी पाक पुस्तिकाएँ पुरुषों द्वारा लिखी गई हैं। पाक शास्त्र के इन पुरुष ज्ञाताओं ने, बिना किसी विडंबना-बोध के, पाक क्रिया को स्त्रियों के प्राकृतिक कार्य-क्षेत्र के रूप में वर्णित किया है। अतीत के जिन मुख्य ख़ानसामों की उन्होंने भूरि-भूरि प्रशंसा की है, वे भीम और नल थे न कि उनकी पत्नियाँ। अधिकांश पुस्तकों का आरम्भ माँ अन्नपूर्णा की स्तुति या संस्कृत के मंगलाचरण से होता है, जैसे कि *शरीर माध्यम खलु धर्म साधनम्*। सभी ने पाक शैली की उत्पत्ति वैदिक और महाकाव्यात्मक दौर के पाकशास्त्रों में चिह्नित की है। सभी में पाकविधि और भोज्य सामग्री की एक तुलनीय विषय-सूची और वर्गीकरण सम्मिलित है, जो पकवानों के मुख्य खाद्य संघटकों पर आधारित है। इस प्रकार, रोटी प्रकरण, दाल प्रकरण, चावल प्रकरण, शाक प्रकरण, रायता प्रकरण, मिष्ठान्न प्रकरण आदि में व्यंजनों को अनुक्रमित किया गया है। साफ़ है कि यह वर्गीकरण 12-13वीं सदी के संस्कृत ग्रंथ *पाक दर्पणम्* से लिया गया है। *पाक दर्पणम्* महाभारत में वर्णित प्रसिद्ध राजा नल की पाक कला को उद्धृत करता है।[27] तेरहवीं सदी के *पाक दर्पणम्* और बीसवीं सदी के पाक-शास्त्रों में एक स्पष्ट अंतर मांसाहार या आमिष प्रकरण को लेकर दिखाई देता है। मांस प्राचीन वैदिक युग का महत्त्वपूर्ण आहार था और *पाक दर्पणम्* में आम तौर पर मौजूद है। परंतु बीसवीं सदी में कुछ ही हिंदी पाक-पुस्तिकाओं में मांस और आमिष प्रकरण शामिल किया गया। इस व्यापक वर्गीकरण के भीतर, एक वर्णानुक्रम आधारित द्वितीयक वर्गीकरण का इस्तेमाल होता है। इसमें नाना प्रकार की व्यंजन विधियाँ परिमाण इत्यादि के साथ उपलब्ध हैं।

इस पर्चे में उल्लिखित चारों पाक-पुस्तिकाओं में *पाकराज* सबसे पहले छपी। अतः हम *पाकराज* से शुरू करते हैं, पर सिर्फ़ इसलिए नहीं कि यह यहाँ इंगित चार पुस्तकों में से प्रारंभिक पुस्तक है। यद्यपि *पाकराज* के वर्गीकरण और पाकविधियों का पालन अन्य तीनों पुस्तिकाओं में बड़े पैमाने पर मिलता है, पर बाद की पाक-पुस्तिकाओं, विशेष रूप से *पाक चंद्रिका* के लहजे और उसमें आने वाले बदलाव महत्त्वपूर्ण हैं। कार्तिक प्रसाद द्वारा लिखित *पाकराज* पिछली शताब्दी के अंत में बनारस से प्रकाशित हुई थी। क़रीब 94 पन्नों की इस पतली-सी किताब में 'साधारण हिंदू परिवारों के लिए' केवल शाकाहारी पाकविधियों के प्रकरण थे। हालाँकि लेखक मांसाहार विरोधी नहीं है और पुस्तक की भूमिका में यह वादा है कि आगामी संस्करणों और भागों में आमिष व्यंजन शामिल किया जाएगा : 'यह पुस्तक आम हिंदू परिवारों के लिए लिखी गई है, यही वजह है कि इसमें आमिष व्यंजनों को पकाने की विधि शामिल नहीं की गई है।'[28] ज़ाहिर है कि मांसाहार ख़ास रसोई है, और यद्यपि दिन-प्रतिदिन

[27] भट्टाचार्य, *पाक दर्पणम्* (महाराज नल रचित), 1983. यह ग्रंथ एक पूर्व-मध्यकालीन संकलन है, जो जी. जॉन म्युलेनबेल्ड कृत '*भारतीय चिकित्सा साहित्य का इतिहास*' में सूचीबद्ध बत्तीस संस्कृत (पाकशास्त्र) में सबसे विस्तृत रसोई पुस्तकों में से एक है. म्युलेनबेल्ड यह भी नोट करते हैं कि न इस ग्रंथ के वास्तविक लेखक के बारे में कोई विशेष जानकारी है, और न ही इसके रचे जाने की तिथि ज्ञात है. हालाँकि ग्रंथ में मिर्च जैसे कुछ पौधों की अनुपस्थिति के आधार पर उन्होंने इसे 12वीं से 17वीं शताब्दी के बीच का बताया है. देखें, म्युलेनबेल्ड (2009) : 416-17.

[28] कार्तिक प्रसाद (1908) : 2.


॥ श्रीः ॥

पाकराज

अर्थात्

[मोहनथाल]

अनेक प्रकार के भोजन बनाने की विधि।

श्री कार्तिकप्रसाद लिखित।

और

फ्रेण्ड एण्ड कम्पनी, मथुरा द्वारा प्रकाशित।

BENARES:

PRINTED BY PANNA LAL ROY MANAGER LAHARI PRESS

1908.

[दूसरी बार १०००] [मूल्य ।=]

हिंदू परिवारों में पकाई-परसी नहीं जाती है, उसे खाना और पकाना सीखना पाक कला का स्थापित हिस्सा है। रसोई की स्थिति और जगह, चूल्हों और ईंधनों की विविधता और गुणों, विभिन्न बर्तनों के गुणों, घी और विभिन्न मसालों की तैयारी इत्यादि भारतीय रसोई की बुनियादी गतिविधियों के रूप में *पाकराज* विशुद्ध रूप से व्यावहारिक सलाह देने से आरम्भ होती है। व्यंजनों को मोटामोटी चावल, दाल, रोटियाँ, रायता, पकौड़ी, तरकारी और मिष्ठान्न में विभाजित किया गया है। इस प्रारंभिक वर्गीकरण में मीठे और खट्टे व्यंजनों में कोई अंतर नहीं है। व्यंजनों के बारे में सरलता से बताया गया है, हालाँकि कुछ का क्रियान्वयन सरल प्रतीत नहीं होता है।

पाकराज में उन भोजनों के बारे में कोई अनुदेशात्मक बात नहीं है जो मूलरूप से नए हैं या जिनकी उत्पत्ति विदेश में हुई हो। विदेशीपन का अर्थ 'अस्थानीयता' के ज़्यादा निकट पड़ता था। उदाहरणतः, खंड पाँच में बंगाली मिठाइयों का ज़िक्र किया गया है। परंतु इनकी संख्या केवल पाँच है – छेना बनाने की विधि, छेना बड़ा, गोला संदेश, छेना की बर्फ़ी और 'लेडिगेनि' जो आज भी बंगाल की मिठाइयों की दुकान में उपलब्ध होती है।[29] इन मिठाइयों की दी हुई विधि आज की विधि से काफ़ी सरल है। यह स्पष्ट है कि बंगाली मिठाइयों के विशाल संसार से हिंदी पट्टी अभी परिचित हो ही रही थी, और ये अभी भी बहुतों के लिए एक लुभावनी-अजनबी चीज़ थी।

इसी प्रकार एक अंग्रेज़ी तरकारी का ज़िक्र इस टिप्पणी के साथ है कि इसे 'प्रिंस ऑफ़ वेल्स खाते थे।' *पाकराज* के लेखक में विदेशी या अन्य क्षेत्रीय पकवानों के प्रति कोई दुराग्रह नहीं दिखता। एक तरफ़ विभिन्न अंग्रेज़ी सिरप और पेपरमिंट लॉज़ेन्जेज़, वाइन, अदरक और चीनी से बनने वाले 'विलायती बढ़िया बिस्किट' बनाने की प्रविधि दी गई है, वहीं इन विलायती नुस्ख़ों के समानान्तर स्थानीय फलों के शरबतों की विधि भी दी गई है। भारतीय व्यंजनों के माप पुरानी अकबरी इकाइयों में, और पश्चिमी व्यंजनों के ब्रिटिश शाही इकाइयों में हैं। हालाँकि कभी-कभी हम कुछ ख़ास व्यंजनों के नुस्ख़ों में माप और अनुपात का एक विचित्र घालमेल देखते हैं, जैसे कि 'लेमोनेड चूर्ण' नींबू शरबत का मसाला के निर्देशों के अनुसार, 'नीबू का रस डेढ़ औंस, शक्कर दो पाव, टार्टरिक 4 औंस, सोडा बाईकार्ब 4 औंस, इन सभी

[29] जे. हालदार (1924).

को मिलाकर एक काँच के जार में रखा जाए। पानी में इस मिश्रण को एक चम्मच मिलाने से शानदार विलायती मीठा पानी बनता है।'[30]

ऊपर उल्लिखित खाना पकाने की विभिन्न परंपराओं का सुखद सह-अस्तित्व भारत की पाक विरासत का अभिन्न अंग है। *पाकराज* सरीखी पुस्तकें बताती हैं कि आहार विज्ञान प्राचीन भारत में अत्यधिक विकसित था, और यह भी कि मुस्लिम काल के दौरान इसे नई ऊँचाइयों पर ले जाया गया। हम पाते हैं कि यह पुस्तिका सांस्कृतिक रूप से अपने प्रति आश्वस्त है। यद्यपि सांस्कृतिक भिन्नता के कई बिंदु स्पष्ट हैं, *पाकराज* में भिन्नता को लेकर कुछ ख़ास विद्वेष नहीं है, और न ही राष्ट्रीय भोजन को लेकर कोई कठोर राजनीतिक लाइन है।

दूसरी व्यंजन पुस्तक *पाक चंद्रिका* अन्य चारों की अपेक्षा काफ़ी प्रसिद्ध हुई। नामी हिंदी पत्रिका *चाँद* के प्रख्यात संपादक रामरख सिंह सहगल ने इसे अधिकृत किया था।[31] लेखक पंडित मणिराम शर्मा का प्रकाशन से पहले निधन हो गया और पुस्तक के अंतिम मसौदे का संपादन *चाँद* प्रेस की प्रबंधक और सहगल की पत्नी विद्यावती सहगल ने किया।[32] *पाक चंद्रिका* का पहला संस्करण 1926 में निकला और चार साल के भीतर इसकी छह हज़ार से ज़्यादा प्रतियाँ बिक चुकी थीं। 1934 में पुन: 2000 प्रतियों का नया संस्करण आया।

पाक चंद्रिका का विस्तृत सूचीपत्र तत्काल ही ध्यान आकर्षित करता है। 39 पृष्ठों में 836 व्यंजनों की सूची क्रमबद्ध है। इस लंबी सूची को सोलह अलग-अलग वर्गों में वर्गीकृत किया गया है, जिसमें सब्ज़ियों की 103 विधियाँ, दाल बनाने के 38 तरीक़े, चावल बनाने के 26, खिचड़ी बनाने के 22 तरीक़े, विभिन्न अनाजों से दलिया बनाने के 12 और कढ़ी बनाने के 43 तरीक़े शामिल हैं। साथ ही, रोटियों के 80 अलग-अलग प्रकार बताए गए हैं। भोजन का स्वाद बढ़ाने हेतु 113 विभिन्न प्रकार की चटनियों, अचारों, मुरब्बों और रायतों इत्यादि का भी उल्लेख है। 44 प्रकार के फ़रसान और नमकीन सिलसिलेवार लिखे गए हैं। मीठे की लालसा शांत करने के लिए 19 प्रकार के दूध, 83 प्रकार के मिष्ठान्न, 20 प्रकार की खीर और 21 प्रकार की बंगाली मिठाइयाँ हैं। इस मीठे को संतुलित करने के लिए, अगला खंड 13 प्रकार की चाटों का वर्णन करता है और आख़िरी प्रकरण उपवास में खाए जाने वाले 27 खाद्य पदार्थों को सूचीबद्ध करता है।[33] इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि छह सौ पृष्ठ लम्बे खाना पकाने के इस 'सम्पूर्ण ग्रंथ' का प्रचार 'बेटियों और बहनों के लिए एक उपयुक्त शादी का तोहफ़े' के रूप में किया गया।[34]

---

[30] कार्तिक प्रसाद (1908) : 81.

[31] 1922 में इलाहाबाद से शुरू, *चाँद* बीसवीं सदी के शुरुआत दशकों के सबसे सफल हिंदी मासिकों में से एक थी. 1927 में इस पत्रिका की 8000 प्रतियाँ बिकीं, जो 1930 में 15000 तक पहुँच गई. इसके संपादक रामरख सिंह सहगल इस उत्कृष्ट सफलता के खेवनहार थे। *चाँद* की अभिनव और सुधारवादी पत्रकारिता और इसके करिश्माई संपादक रामरख सहगल की भूमिका के लिए देखें, ओर्सीनी (1999) : 137-160.

[32] 'दो शब्द,' *पाक चंद्रिका*. पंडित मणिराम शर्मा गृहविज्ञान, सामाजिक उपन्यास और पाक पुस्तकों के लेखक थे. *पाक-विद्या* (1922), *आदर्श परिवार* (1925) और *पाक चंद्रिका* (1926) जैसी सफल कृतियों में भोजन, खाना पकाने और हिंदू घरेलू-जगत के समक्ष उनकी चिंताओं को देखा जा सकता है. देखें रेचेल बर्जर (2013) : 9.

[33] मणिराम शर्मा (1926) : 3-39.

परंतु इस सम्पूर्ण ग्रंथ में भी निःसंदेह कुछ छूट गया था। जैसा कि साफ़ है, 836 व्यंजनों की यह विशाल सूची पूरी तरह शाकाहारी है। शाकाहार का यह निर्णय *पाकराज* की भाँति पुस्तक की लंबाई कम करने हेतु लिया एक मासूम विचार नहीं था। पुस्तक के आकार को देखते हुए इसे महज़ चूक नहीं कह सकते, जैसा कि *पाकराज* जैसी पुस्तिका के लिए शायद कहा भी जा सकता है। न ही *पाक चंद्रिका* का देशकाल पूरी तरह शाकाहारी था। बल्कि *पाक चंद्रिका* के लिए अपनी विशाल व्यंजन-सूची से मांस का बहिष्कार करना एक राजनीतिक बयान और धार्मिक विमर्श था। यह तब और स्पष्ट हो जाता है जब हम *पाक चंद्रिका* को दस-बारह वर्षों के भीतर प्रकाशित उसी क्षेत्र की दो अन्य पाक पुस्तकों के साथ मिलाते हैं। *आदर्श पाक विधि* और *वृहद् पाक विज्ञान* दोनों ही ग्रंथों में मांसाहार खाने और पकाने में सम्मिलित था। 1938 में छपी *आदर्श पाक विधि* को दो वर्गों में विभाजित किया गया था – एक व्यापक शाकाहार खंड, जिसमें 550 से अधिक व्यंजन शामिल थे और एक मांसाहार खंड, जिसमें लगभग 160 व्यंजन शामिल थे। 1939 में छपे *वृहद् पाक विज्ञान* ने शीर्षक पृष्ठ में ही कहा है कि इसमें शाकाहारी और मांसाहारी व्यंजनों को शामिल किया गया है, हालाँकि आमिष खंड, निरामिष के आकार का एक छोटा अंश भर था।

हालाँकि, 1920 के उपरांत जब राष्ट्र की परिकल्पना हिंदू राष्ट्र के रूप में और आदर्श हिंदू को शाकाहारी के रूप में परिभाषित किया जाने लगा, तब *आदर्श पाक विधि* और *वृहद् पाक विज्ञान* दोनों को स्पष्ट रूप से अपने चयन की कैफ़ियत देनी पड़ी। उच्च जाति के लेखकों के लिए शाकाहार गर्व और आदर्श का विषय था। *आदर्श पाक विधि* की प्रस्तावना में यह स्वीकार किया गया था कि 'हमारे देश में शाकभोजियों की बनिस्बत आमिष भोजियों की संख्या ही अधिक है', इसलिए 'इस तरह की पुस्तक में उस विषय का समावेश' न करने से एक अनुपयोगी और अपूर्ण ग्रन्थ तैयार होगा।[35] अपने इस समावेशन को और अधिक न्यायोचित ठहराने के लिए प्राचीन हिंदू अतीत की धर्मनिरपेक्षता का आह्वान किया गया था : 'यह संभव है कि निरामिष भोजियों [को] इन दोनों विधियों के एक साथ रहने पर कुछ आपत्ति हो, पर जिस तरह हमारे धर्म ग्रंथों में सभी तरह के विषयों के एक साथ समावेश से सभी उनका लाभ उठा सकते हैं, उसी तरह ऐसे ग्रंथों से भी अपने मतलब की बात जान लेने में कोई हानि की संभावना नहीं होनी चाहिए।'[36] प्रकाशक द्वारा इस क्षमायाचना और दोषमुक्ति आग्रह के बावजूद *आदर्श पाक विधि* में शाकाहार खंड और मांसाहार खंड के बीच पथ्य प्रकरण को जगह दी गई है। लगता है आहत भावनाओं को शांत करने के लिए प्रकाशक ने एक प्रकार का बफर ज़ोन बना दिया है, जो कि शुद्धता की दहलीज़ गढ़ते हुए छपे पन्नों पर भी शाकाहारी खंड को प्रदूषित होने से बचा रहा हो।

---

[34] *चाँद* में छपा विज्ञापन, (1931).

[35] *दो शब्द* (प्रकाशकीय आमुख), गिरीश चंद्र जोशी (1938).

[36] वही.

इसके इतर, इन पाक पुस्तकों में शाकाहार पारंपरिक हिंदू धर्म या संस्कृति के बजाय आर्य समाजी और अहिंसा के गांधीवादी आग्रह से अधिक जोड़ा गया था। गांधी का शाकाहारवाद जितना पारंपरिक हिंदू पारिवारिक नैतिकता से निर्देशित था, उतना ही वह उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध की रैडिकल ब्रिटिश राजनीति की उपज भी था। उनके आहार संबंधी विश्वास वैष्णव-जैन नैतिकता की उनकी विरासत के साथ-साथ हेनरी सॉल्ट, जोशिया ओल्डफ़ील्ड और लियो टॉलस्टॉय जैसे युरोपीय शांतिवादियों के साथ उनके जुड़ाव का उत्पाद थे। गांधी ने उपनिवेशवाद विरोध, उद्योगवाद-विरोध और शाकाहारवाद को मिलाकर अहिंसा का एक विस्तृत दर्शन और व्यवहार खड़ा किया।[37] इसे *वृहद् पाक विज्ञान* के ब्राह्मण लेखक नरसिंह शुक्ल अच्छी तरह समझते थे और उनमें मांसाहार के प्रति कोई ज़्यादा आशंका या झिझक नहीं थीं। बड़े ही अविचलित ढंग से उन्होंने पुस्तक की भूमिका में शाकाहार-मांसाहार विवाद पर अपना पक्ष रखा : 'जो लोग अहिंसावाद के सिद्धांत को मानते हैं, जीव-हत्या को पाप समझते हैं, वे निरामिषी होते हैं। जो इन बातों पर नहीं मानते, वे ही आमिषी खाते हैं। कुछ लोग तो ऐसे हैं जो कहते हैं कि मांस भक्षण नहीं करना चाहिए परंतु स्वयं करते हैं।'[38] नरसिंह शुक्ल ने साफ़ लिखा कि 'आज संसार में अधिकांश लोग आमिष का प्रयोग करते हैं'। यद्यपि उनका स्पष्ट मानना था कि मांस के प्रति विरक्ति न तो संस्कृति और न ही धर्म में निहित थी, नरसिंह शुक्ल का यह पाक-समन्वय समकालीन शाकाहारी हिंदू राष्ट्रवादी आग्रहों को मान्य नहीं था। अतः उन्हें वृहद् पाक विज्ञान में मांसाहारी व्यंजन विधियों को शामिल करने का औचित्य देना पड़ा : 'इस विषय पर लिखने से हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि हम लोगों से मांस भक्षण की वकालत करना चाहते हैं…केवल पुस्तक को सर्वांगपूर्ण करने के अतिरिक्त इस विषय से हमारा कुछ और संबंध नहीं है।'[39]

इस समावेशी खाद्य आग्रह के विपरीत, *पाक चंद्रिका* द्वारा कल्पित और मनोचित्रित दुनिया पूरी तरह से शाकाहारी थी। 1920 के दशक में, जब यह पुस्तक प्रकाशित हुई थी, हिंदू राष्ट्रीय पहचान गढ़ने की अभिव्यक्तियाँ अपने चरम पर थीं। वस्तुतः इस किताब के पन्नों से मांस और मांसाहार पूर्णतः निषिद्ध थे।[40] इस तथ्य के बावजूद कि बहुतेरे हिंदू *बख़ुशी* मांस का सेवन करते थे, इस पुस्तक ने उच्च जातीय आदर्श को पाक परंपरा पर लाद दिया और किसी भी तरह के मांस सेवन को पाप घोषित कर दिया। बीसवीं सदी के आरम्भ में छपी *पाकराज* की समावेशी व्यंजन परंपरा अथवा पाक दृष्टि से स्वच्छन्द *आदर्श पाक विधि* और *वृहद् पाक विज्ञान* के विपरीत,

---

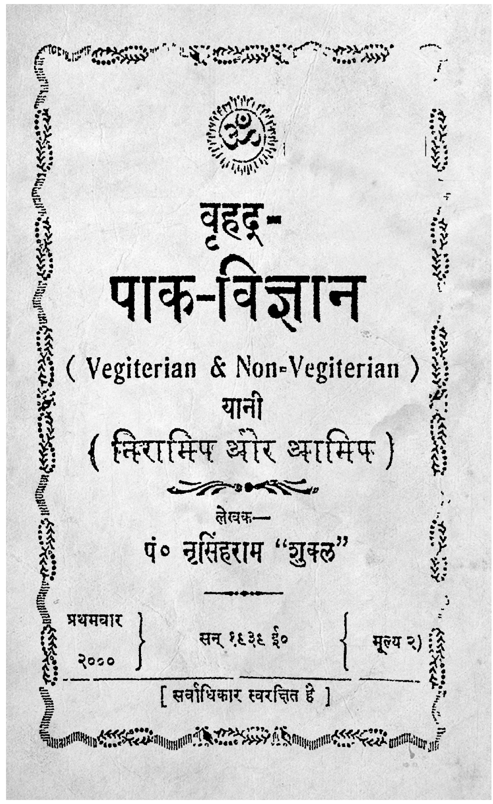
[37] निको स्लेट (2019) : 64. गांधीवादी आहार प्रयोगों पर लीला गांधी (2006) और जोसेफ़ ऑल्टर (2000) के शोध भी देखें.

[38] नरसिंह शुक्ल (1939) : 228.

[39] वही.

[40] बीसवीं सदी की शुरुआत में शाकाहार और मांसाहार का मसला राष्ट्रवादी सोच के लिए महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक प्रश्न बन गया. मांसाहार पश्चिमी भौतिकवाद की पहचान बन गया, और शाकाहार को पूर्व के अध्यात्म और सभ्यता की उच्चतम निशानी माना गया. देखें, सेनगुप्ता (2012) : 73-87.

पाक चंद्रिका में कोई मांसाहारी या 'विदेशी' व्यंजन शामिल नहीं था। *पाक चंद्रिका* के लेखक पंडित मणिराम शर्मा का विस्तृत व्यंजन-फलक एक संकीर्ण शाकाहारी संसार में रचा बसा था। हिंदू राष्ट्र की इस परिकल्पना में शाकाहार एक राजनीतिक-सांस्कृतिक लक्ष्मण-रेखा खींचने का प्रयास प्रतीत होता है।



आर्यावर्त की आधुनिक परिकल्पनाएँ : भाषा, जाति, समुदाय

राष्ट्र और समुदाय की सियासत में इस कल्पित आर्यावर्त और उसकी आधुनिक परिकल्पनाओं का अंदाज़ा किताब की भाषा से बख़ूबी लगाया जा सकता है। *पाक चंद्रिका* के अलावा बाक़ी तीन पाक पुस्तकों की भाषा हिंदुस्तानी या आम बोलचाल की हिंदी है। पुस्तक पढ़ते हुए हिंदी क्षेत्र के दैनिक लहजे का आभास होता है : *वृहद् पाक विज्ञान* में *रामचरितमानस* की चौपाइयाँ हैं, रहीम और कबीर के दोहे हैं और नज़ीर अकबराबादी की नज़्में भी; *पाकराज* और *आदर्श पाक विधि* में भी भोजन, खाने और पकाने पर लोकोक्तियाँ और मुहावरे भरपूर हैं। लगता है कि हिंदी पट्टी के बड़े-बूढ़ों की सीख उन्हीं की भाषा में हमसे मुख़ातिब है।[41]

इसके विपरीत, *पाक चंद्रिका* अत्यंत सुसंस्कृत मुहावरे का अनुसरण करती है। हिंदुस्तानी जो कि हिंदी क्षेत्र की रोज़मर्रा की बोली है को यहाँ कोई स्थान नहीं दिया गया है। खाना पकाने के लिए भी हिंदुस्तानी/उर्दू समानार्थक आम शब्दों का प्रयोग नहीं किया गया है। खाना पकाने को हमेशा प्रणाली, शास्त्र, विज्ञान, विधि या रंधनकार्य के रूप में संदर्भित किया जाता है, भोजन हमेशा खाद्य या भोजन होता है, 'खाना' कभी नहीं, रसोई एक 'पाकशाला' है, उसे विरले ही रसोई कहा गया है। इस शुद्धतावादी नक़्शे में, परिचित खाद्य पदार्थ और व्यंजनों को भी उनके संस्कृतनिष्ठ रूप में ही दर्ज किया गया है : अतः खिचड़ी 'मिश्रान्न' है, कढ़ी 'तक्रान्न', पूड़ी और पराँठे 'घृतान्न' की श्रेणी में आते हैं, और पुलाव 'पल्लान्न' के नाम से अभिहित है। संस्कृतनिष्ठ भाषा का प्रयोग न केवल पदार्थ वर्गीकरण के लिए किया गया है बल्कि मामूली सब्ज़ियों और फलों को भी उनके संस्कृत नामों से ही सम्बोधित किया गया है : उदाहरण के लिए, कुछ जगहों पर प्याज़ को उसके प्राचीन नाम 'पल्लांडु' कहा गया है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे इसके लेखक

[41] नरसिंह शुक्ल (1939) : 19.

राजा नल के *पाक दर्पणम्* की दुनिया को पुनर्निर्मित करना चाहते हैं, और संभवतः मुस्लिम/फ़ारसी प्रभाव के पहले की हिंदू रसोई को उसी पुरानी भाषा में परोसने के लिए आतुर हैं।

भाषा की तरह, व्यक्तिगत व्यंजन भी सांस्कृतिक और सामुदायिक अंतर को इंगित करते दिखते हैं। हिंदू और मुस्लिम पाक शैलियों में अलग-अलग मसाले प्रयोग होते थे : हिंदू हींग और मुसलमान प्याज़ का इस्तेमाल करते थे। इसी प्रकार अंग्रेज़ मशीन से पिसे हुए 'करी पाउडर' का इस्तेमाल करते थे, जबकि भारतीय विधि से बने *कलिया* और *कोरमा* में केवल साबुत या ताज़े पिसे मसालों का ही इस्तेमाल किया जाता था। अंग्रेज़ी तौर से पकाए – मुख्य रूप से उबाल कर या कम मसाले में भूनकर – मांस पकाने के तरीक़े को असभ्य या 'आदिम' कहा गया है।[42] इस बात पर ज़ोर था कि रोटी हमेशा ताज़ा ही बनानी और खानी चाहिए। अंग्रेज़ी ब्रेड बाज़ार में उपलब्ध तो थी, पर 1920-40 तक उनका उपभोग नए फ़ैशन के रूप में ही देखा जाता था। *ख़मीरी रोटी*, *तंदूरी रोटी और शीरमाल* को मुसलमानों और पंजाबियों का खाना बोला गया, क्योंकि ये समुदाय साझे चूल्हे के इस्तेमाल को अपवित्र नहीं मानते थे।[43] ऐसे अनेक अंतर – ख़मीर का उपयोग, अपरिचित तंदूर चूल्हा और उल्टा तवा – तथाकथित रूप से पाक विधियों में मौजूद धार्मिक और सांस्कृतिक भेद के परिचायक थे और एक तरह से समुदायों के बीच के विरोध को रेखांकित करते थे।

उच्च जातीय हिंदू रसोई का आधार कच्चे और पक्के खाने के भेद में निहित माना गया है।[44] यह विभाजन शुद्धता और अशुद्धता की आनुष्ठानिक धारणाओं पर आधारित है। पावन अपावन का यह द्विभाजन वर्ण-जाति व्यवस्था की नींव में है। कच्चा भोजन नियमित रूप से पानी से पकाया जाने वाला दैनिक भोजन – मुख्य रूप से उबला हुआ, जैसे दाल, खिचड़ी, बिना तली हुई सब्ज़ियाँ और रोटी – चूल्हे के समीप और चौके में ही खाया जाता था; इसे औपचारिक रूप से अधिक अन्तरंग और शुद्ध माना जाता था। पक्का भोजन घी या तेल में तला हुआ विशेष व्यंजन था, जो अपेक्षाकृत कम अपवित्र समझा जाता था और दावतों व उत्सवों में रसोई के बाहर साझा किया जा सकता था।[45] आम तौर से दोपहर वाली कच्ची रसोई होती थी और रात की पक्की। यह भोजन-श्रेणी विशेष रूप से हिंदी पट्टी की उच्चजातीय पारंपरिक पाक कला में उल्लेखनीय है, और इसे सभी पाक पुस्तकों में संदर्भित किया गया है। उदाहरण के लिए, सभी पाक पुस्तकों में, विभिन्न प्रकार की रोटियाँ बनाने की विधियाँ अलग-अलग प्रकरण में पाई जाती हैं, जो इस बात पर निर्भर करता है कि उन्हें सीधे आग पर रोटी (चपाती) के रूप में पकाया जाता है या तेल या घी में पराँठे या पूरियों की तरह तला जाता है।

अपवित्रता का ख़तरा देशाटन और यात्रा के वक़्त और भी प्रासंगिक हो उठता था। ऐसे समय के लिए 'अछूती रोटी' का सहारा लेने की सलाह दी गई है। 'अछूती' रोटी एक अनछुई

[42] गिरीश चंद्र जोशी (1938): 299.

[43] नरसिंह शुक्ल, *वृहद् पाक विज्ञान*, 52.

[44] मणिराम शर्मा (1926) : *387;* गिरीश जोशी (1938): 109; नरसिंह शुक्ल (1939) : 34-35 और 121.

[45] आर.एस. खरे, 'अन्न' (2004) : 418.; केटी अचाया (1994) : 62-63.

रोटी थी जो 'अदूषित' समझी जाती थी, और जिसके लंबे समय तक बासी या ख़राब होने का ख़तरा नहीं था। यात्रा के दौरान खायी जाने वाली यह रोटी जात-पात के कट्टर अनुयायियों को विदेश में अपवित्र हाथों से बने संदिग्ध भोजन को ग्रहण करने से बचाती थी।[46] 'अछूती' रोटी को बनाने की विधि सरल थी : पानी के बजाय केले के तने को मसल कर उसका दूध निकाल लिया जाता था। इसी दूध से आटा माँड़ा जाता था। विकल्प के रूप में बैंगन और मूली जैसी सब्ज़ियों को धीमी आँच पर भून कर, मसल कर आटा माँड़ा जा सकता था। तदुपरांत रोटियाँ सामान्य तरीक़े से बेल कर पका ली जाती थीं। छुआछूत की जो कर्मकांडी धारणाएँ जाति-व्यवस्था की रीढ़ थीं, उन्हें अछूती रोटी जैसे व्यंजनों के नुस्ख़ों में पूरी तरह से क़ुदरती आचरण बना दिया जाता है।

औपनिवेशिक लेखकों द्वारा रचित अधिकांश पाक-पुस्तकों में किचन या रसोई घर एक ऐसे स्थान के रूप में वर्णित है जहाँ हिंदुस्तानी ख़ानसामों का राज होता था। गोरी मेमसाहिबों को ये सलाह दी जाती थी के वे इस अंधेरी, धुएँ भरी दुनिया पर लगाम रखें, उसका प्रबंधन करें, पर स्वयं उसमें पकाने का जोखिम न उठाएँ।[47] इसके ठीक विपरीत हिंदुओं के रसोई घर को सर्वाधिक पवित्र क्षेत्र माना जाता था – जहाँ शुद्ध-अशुद्ध के नियमों का सटीक और अक्षरशः पालन किया जाता था।[48] फिर भी रसोई की दुनिया को हमेशा ही नवाचारों से रूबरू होना पड़ा है। पुराने विश्वासों को छोड़े बिना नई परंपराओं को गढ़ना पड़ता है। इसी प्रकार हिंदी पट्टी के हृदय में पनप रहे हिंदू राष्ट्र की रसोई को भी आधुनिक होने की ज़रूरत थी। शहरी भारतीय घरों के सुपरिचित चौके में शुद्धता और अपवित्रता की प्रवृत्ति, तथा उस चौके में महिलाओं की भूमिका पर एक नज़र डालते हैं जिससे यह समझने में मदद मिलेगी कि आधुनिक राष्ट्रवाद की तरह, उसके समकालीन इन हिंदी पाकपुस्तकों के विमर्श ने परंपरा और आधुनिकता के अंतर्विरोधों को कैसे सुलझाया।

सभी पाक पुस्तकों में रसोई के स्थान से संबंधित एक आरम्भिक खंड है। यह आम तौर पर विषय-प्रवेश का एक हिस्सा था, हालाँकि कई बार पाक पुस्तकों के मुख्य भाग में कुछ विशिष्ट सलाहों को दोहराया गया था। *पाकराज* में ये सलाह पाँच पन्नों में दी गई है जो कि *वृहद् पाक विज्ञान* में आठ पन्ने पर फैली है। *पाक चंद्रिका* में यह खंड बीस पृष्ठ लंबा है। आम तौर पर यह घरेलू सलाह 'पाक-शाला,' 'सामान रखने का स्थान', 'पाक एवं भोजन पात्र,' 'रसोइया' जैसे अनुच्छेदों में विभक्त है। *पाकराज* में दी गई स्पष्ट सरल सलाह *पाक चंद्रिका* में विमर्श का स्थान ले लेती है। भारतीय मध्यवर्गीय रसोईघर पर आधुनिक स्वच्छता और

46 मणिराम शर्मा (1926) : 293. दलित साहित्य में 'शुद्ध और निर्मल' के रूप में अछूत शब्द को परिभाषित करने का एक उदाहरण रामनारायण रावत के शोधपत्र में भी मिलता है. रावत (2015) : 336.

47 सिसीलिया लियोंग-स्लोबिर (2011) : 60-86, 114-133.

48 'जब तक भोजन (या उसका हिस्सा) कच्चा है, तब तक मनुष्य को कर्मकांडी सावधानियों के साथ भोजन करना चाहिए. उसे चौके में ज़मीन पर बने चौकोर निशान के अंदर बैठना होता है. यदि किसी अजनबी की छाया इस चौके पर पड़ती है, तो इसके भीतर पकाया गया सब कुछ प्रदूषित हो जाता है और इसे फेंकना पड़ता है'. ई. ए. एच. ब्लंट (1931/1969) : 97.

व्यवस्था के मानकों का असर इन निर्देशों में स्पष्ट है। घरेलू अनुशासन के इन आधुनिकतावादी मानकों को सभ्यतागत निवेश के रूप में प्रस्तुत किया गया था। यह सुव्यवस्था की सलाह पश्चिम के 'गुड हाउस्कीपिंग' के नियमों – जैसे रसोई हवादार, स्वच्छ और साफ़ होनी चाहिए, पैंट्री या भंडारघर रसोई के पास होना चाहिए, 'सभी चीजों की जगह और सभी चीज अपनी जगह पर' इत्यादि – को पूरब के चौके के लिए अनूदित करने की मुहिम सी प्रतीत होती है।[49] यह सलाह नए उभरते हुए वैश्वीकृत पारिवारिक आदर्श का देसी रूपांतरण भर नहीं थी, बल्कि पुरातन परिपाटी के माध्यम से स्थानीयकरण की कोशिश भी थी। उदाहरणतः रसोईघर का केवल साफ़ होना ही ज़रूरी नहीं था, उसका मिट्टी या गोबर के लेप से शुद्ध होना भी वांछित था। रसोई विभिन्न प्रकार के धातु के बर्तनों से सुसज्जित होनी चाहिए, हालाँकि पवित्रतता-अपवित्रता के पैमाने पर मिट्टी के बर्तनों को सर्वोत्तम माना जाता था, क्योंकि उनका पुनः उपयोग नहीं किया जा सकता था। मिट्टी के बर्तन को दोबारा इस्तेमाल करने से खाना दूषित होने की संभावना रहती है, इसलिए 'हमारे पूर्वज इसमें धर्म-अधर्म का भय लगा गए हैं'।[50] धातु के बर्तनों को विशेषतः चूल्हे की राख़ से नियमित रूप से साफ़ किया जाना चाहिए।

पीने और पकाने के पानी को उबालकर और छानकर शुद्ध करने की सलाह चारों पुस्तकों में है। ग्रामीण और शहरी जीवन का अंतर यहाँ दिखता है। 1920 के दशक तक कई शहरी नगरपालिकाओं में म्युनिसिपल पाइप लाइन बिछा दी गई थी और फ़िल्टर किया गया पानी उपलब्ध था, फिर भी जैसा कि *वृहद् पाक विज्ञान* ने नोट किया, सर्वोत्तम शुद्ध जल केवल बद्रिका-आश्रम के रास्ते, लक्ष्मण झूले के ऊपर की गंगा का ही हो सकता था; वैसा शुद्ध पानी शहरों में दुर्लभ ही था।[51] इसी प्रकार, हालाँकि लोहे की आधुनिक अँगीठियों से रंधन कार्य में सुविधा होती थी, पर पारंपरिक मिट्टी के चूल्हे पर पका भोजन ही तृप्तिकर माना गया। यदि आवश्यक हो, और सामर्थ्य हो तब भी अंग्रेज़ी शैली के केरोसिन स्टोव पर केवल दूध और पानी गर्म करने की रियायत दी गई, रोटी बनाने के लिए तो क़तई नहीं।

वृहद् पाक विज्ञान के अनुसार 'नीच और मलिन व्यक्ति का बनाया भोजन धर्म शास्त्रों में अखाद्य कहा गया है।' उत्तम रसोइया यदि उच्च जाति का न भी हो तो भी 'रोज़ स्नान करने वाला... शुद्धि-अशुद्धि का विचार करने वाला होना चाहिए'।[52] रसोइए के कपड़े, रसोई में विशेष उपयोग के लिए अलग रखे जाते थे।[53] साधारणतः घर और बाज़ार में पहने जाने वाले वस्त्र रसोई में वर्जित थे। छुआछूत के डर से एक सूती साड़ी या धोती आम तौर पर रसोई में ही रहती थी, और कई बार बहुत मलिन ही पहन ली जाती थी। हर पुस्तक इसे रोज़ धोने की सलाह देती है। *पाक चंद्रिका* के अनुसार रसोई केवल स्वच्छ धुले कपड़े पहन कर ही बनानी

---

49 कार्तिक प्रसाद (1908) : 3; मणिराम शर्मा (1926) : 28; नरसिंह शुक्ल (1939) : 22.

50 कार्तिक प्रसाद (1908); मणिराम शर्मा (1926) : 34.

51 नरसिंह शुक्ल (1939) : 9-12.

52 नरसिंह शुक्ल (1939) : 26.

53 मणिराम शर्मा (1926) : 37.

चाहिए। भोजन परोसने वाले व्यक्ति को भी सिले हुए कपड़े नहीं पहनने चाहिए, और बाहरी लोगों को दावत में खाना परोसते हुए किसी भी तरह के स्पर्श से बचना चाहिए।[54]

हिंदी पाक पुस्तकें पाक स्थान को साफ़ रखने पर भी बहुत ज़ोर देती हैं। 1908 में *पाकराज* की रसोईघर संबंधी सलाह सरल थी कि वह 'बहुत छोटा न हो, जाला-अंधेरा न हो, लिपा-पुता हो, धुआँ निकलने का पथ हो, जल गिराने का सुभीता हो, मच्छर-मक्खी न हो।'[55] यह काफ़ी रोचक है कि आम तौर पर अंग्रेज़ी पाक पुस्तिकाओं में भारतीय 'रसोईघर को एक ब्लैकहोल के रूप में, और पैंट्री को सिंक के रूप में' चित्रित किया जाता था।[56] सन् 1936 तक इस औपनिवेशिक दृष्टि को उलटते हुए, *वृहद् पाक विज्ञान* युरोपीय रसोईघरों को ही मलिन क़रार देती है। जहाँ भारतीय चौके में पकाने और खाने के स्थान साथ ही होते हैं, वहीं युरोपीय किचन और डाइनिंग हॉल एक-दूसरे से दूर बनाए जाते हैं, क्योंकि पश्चिमी परंपरा में पाक क्रिया किसी धार्मिक नियम से नहीं बँधी होती है। बक़ौल *वृहद् पाक विज्ञान,* खाना पकाने और खाना खाने के स्थान के संबंध में 'हम भारतीय युरोपीय लोगों से मीलों आगे हैं। उनकी पाकशाला बेहद गन्दी होती है। उनके बावर्चीख़ाने का प्रत्योकरण [भीतरी स्वरूप] देख कर एक प्रकार से घृणा-सी हो जाती है। यदि उसी स्थान पर भोजन भी करना पड़े, तो कदाचित ही कभी दिल गवाही दे। परिणामस्वरूप हमारे घरों के विपरीत...उनके घरों में रसोई और खाने के स्थान अलग-अलग होते हैं।'[57] मेज़ और कुर्सी पर बैठ कर भोजन करने की पश्चिमी शैली के विपरीत, भारतीय भोजन शैली को अधिक वैज्ञानिक और स्वच्छ क़रार दिया गया। खाना पकाने और खाने के स्थानों के बारे में ऐसी राय और हिदायत एक ओर स्वच्छता और सफ़ाई की पश्चिमी धारणाओं को अपनाती और स्वाभाविक बनाती है, वहीं दूसरी ओर, भारतीय रसोई के विमर्श में जाति आधारित शुद्धता-अशुद्धता की हमेशा मौजूद धारणाओं के हठ को भी कमज़ोर नहीं पड़ने देती है।

स्वच्छ रसोई – सुलक्षणा पत्नी – स्वादिष्ट भोजन – सशक्त राष्ट्र

परंपरा और आधुनिकता के बीच का लेनदेन और समझौता रसोई के जेंडर्ड स्पेस के पुनर्विन्यास में भी देखने को मिलता है। जैसा कि ज्ञात है, बीसवीं शताब्दी की शुरुआत में हिंदी सार्वजनिक क्षेत्र ने महिलाओं की शिक्षा और सार्वजनिक भागीदारी की ज़ोरदार वकालत की, हालाँकि शिक्षित और राजनीतिक रूप से सक्रिय महिलाओं के रसोई से मुँह मोड़ने का ख़तरा भी व्यापक रूप से महसूस किया जा रहा था।[58] राष्ट्रवादी प्रेस ने हमेशा घर

[54] नरसिंह शुक्ल (1939) : 27.

[55] कार्तिक प्रसाद (1908) : 2.

[56] स्टील ऐंड गार्डिनर (1909) : 1-10

[57] नरसिंह शुक्ल (1939) : 22

[58] *स्त्री दर्पण* जैसी राजनीतिक पत्रिका ने भी एक महिला पाठक, जिसके पति ने उसे असहयोग आंदोलन में भाग लेने से मना किया था, को सलाह दी कि वह घर पर ही रहे और सूत कातकर मातृभूमि के प्रति अपने दायित्व को निभाए। ओर्सीनी (2002)

और बाहर के बीच संतुलन की भावना की वकालत की। ज़ाहिर है कि इस संतुलन को बनाये रखने की ज़िम्मेदारी महिलाओं के कंधे पर ही होती थी।

1920-30 के दशक से ही गांधी ने *देशसेवा* को पतिव्रत धर्म जैसे ऊँचे कर्तव्य से जोड़कर महिलाओं के लिए राजनीतिक भागीदारी की जगह तैयार की। हिंदी पट्टी की महिलाओं ने उनके आह्वान पर, घर की सीमा लाँघ कर बहिष्कार, जुलूस और धरने की राजनीति में सक्रिय भागीदारी का प्रण भी उठाया। परंतु हिंदी की व्यंजन पुस्तकों ने देशसेवा की एक अनोखी ही व्याख्या प्रस्तुत की। घर के अंदर हो या बाहर, सार्वजनिक गतिविधियों के लिए हो या महिलाओं के पारिवारिक कर्तव्यों के लिए, महिलाओं का निःस्वार्थ श्रम अब 'देश सेवा' के रूप में परिकल्पित हुआ।[59] राष्ट्र की सेवा का अर्थ न केवल राजनीतिक भागीदारी था, बल्कि राष्ट्र के पुरुषों और पुत्रों के लिए पौष्टिक, स्वादिष्ट भोजन बनाना भी हो गया। *पाक चंद्रिका* के अनुसार एक मज़बूत राष्ट्र के पुष्ट पुरुषत्व का दैनन्दिन पुनरुत्पादन महिलाओं के द्वारा अर्पित देशसेवा का उत्तमोत्तम आदर्श होगा। 'स्वच्छ रसोई – सुलक्षणा पत्नी – स्वादिष्ट भोजन – सशक्त राष्ट्र' की यह वैचारिक कड़ी सभी व्यंजन पुस्तकों में मुखर रूप से देखने को मिलती है।

जैसे-जैसे भारतीय शहरी परिवार आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से गुज़र रहे थे, वे महिलाओं के लिए विक्टोरियाई 'नवीन स्त्री' का आदर्श अपनाते जा रहे थे। आधुनिक स्त्री को पश्चिम में 'शिक्षित पुरुष की साथी' के रूप में परिभाषित किया गया। परंतु आधुनिकता के इस आगमन काल में गृहस्थी के नए दिशा-निर्देश परंपरा की ज़मीन पर ही गढ़े गए।[60] तनिका सरकार ने उल्लेख किया है कि किस प्रकार उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से 'स्त्री शास्त्रों और भारतीय रिवाजों से पूरी तरह बँधी थी। यह स्त्री भारत के 'स्वर्णिम अतीत की स्वतंत्रता' के साथ-साथ उभरते आधुनिक राष्ट्रवाद का प्रतीक भी बन गई।'[61] आधुनिक राष्ट्र की प्राचीन संस्कृति की वाहिका हिंदू स्त्री को नए ढंग से परिभाषित और अनुशासित किया गया। हिंदी पट्टी की पाक पुस्तकों ने अपने घेरे में रहते हुए खाना पकाने को न केवल स्त्रीत्व की एक बुनियादी विशेषता के रूप में प्रस्तुत किया, बल्कि राष्ट्र और इसकी संस्कृति के संरक्षण के लिए भी इसे आवश्यक माना। घर या राष्ट्र, दोनों का सौभाग्य और प्रसन्नता, गृहिणियों द्वारा बनाये गए भोजन पर निर्भर बना दी गई। सुलक्षणा पत्नी का प्रमुख कर्तव्य जाति-धर्म सम्मत भोजन पकाना घोषित हुआ।

चारों पुस्तकों में यह ज़ोर देकर कहा गया है कि रोज़मर्रा का भोजन प्राचीन आयुर्वेद के सिद्धांतों के अनुसार ही निर्धारित होना चाहिए। यह अनिवार्य था कि परिवार के लिए खाना बनाते समय गुण-दोष का ख़याल रखा जाए। अतः स्त्रियों के लिए अनाज, फल-सब्ज़ियों आदि की तासीर का ज्ञान आवश्यक था। आयुर्वेद में मीठा, खट्टा, नमकीन, तीखा, कड़वा

: 265.

[59] फ्रंचेस्का ओर्सीनी (1999) : 154-156.

[60] सोनल शुक्ला (1991).

[61] तनिका सरकार (1999) : 29.

और कसैला जैसे छह प्रमुख स्वाद *षट् रस भोजन* के रूप में चिह्नित किये गए हैं, और उन्हें दैनिक आहार में शामिल किया जाना चाहिए। इसी प्रकार चबाना, पीना, चूसना, चाटना, सुड़कना और निगलना सेवन के छह तरीक़े बताए गए हैं।[62] इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि फलों और सब्ज़ियों का सेवन षड्-ऋतु के अनुसार किया जाए।[63] इसके अलावा, पाक कला में निपुण स्त्री को परिवार के विभिन्न सदस्यों के स्वाद और उनकी इच्छाओं को ध्यान में रखना चाहिए। यदि पुरुषों को घर का बना खाना मिले तो वे बाहर के खाने पर पैसे ख़र्च करने से बचेंगे और अपने स्वास्थ्य के साथ खिलवाड़ भी नहीं करेंगे। साथ ही स्त्रियों को एक दक्ष रसोइये की भाँति व्यंजन पुस्तकों में बताए गए सटीक अनुपात पर ज़्यादा ध्यान नहीं देना चाहिए, बल्कि परिवार के स्वादानुसार मसाले इत्यादि की मात्रा में फेर-बदल करना चाहिए।[64] इन सारे निर्देशों के माध्यम से *पाक चंद्रिका* सरीखी पाक पुस्तकों ने स्पष्ट रूप से इस तर्क को स्थापित करने का प्रयास किया कि भारतीय पुरुष, 'आर्य जाति' और भारतीय राष्ट्र की वर्तमान 'निर्बलता' का मुख्य कारण भोजन का अभाव न हो कर आधुनिक शहरी महिलाओं में आयुर्वेदिक सिद्धांतों की अनभिज्ञता, पाकशास्त्र की अज्ञानता और रसोई के प्रति अरुचि थी।[65] पाक-विज्ञान के नियमों की अनदेखी करते हुए अनमने ढंग से रसोई निपटाती हुई महिलाओं को 'मूर्ख और आलसी' क़रार दिया गया।[66] *देश सेवा* के इस पाक संस्करण में 'स्वादिष्ट भोजन' घर की ख़ुशी और राष्ट्रीय उत्थान, दोनों का साधन था।

बांग्ला व्यंजन पुस्तकों पर शोध करते हुए उत्सा रे ने दर्शाया है कि पाक कला की किताबों में खाना पकाने के कार्य को कला और प्रेम के भाव रूपकों से नवाज़ा गया है।[67] इसका एक परिणाम यह हुआ कि रसोई में महिलाओं के श्रम का सौंदर्यीकरण कर दिया गया। महिलाओं को क़ुदरती रसोइये के रूप में देखा जाता था। स्वादिष्ट भोजन बनाना उनके प्यार और स्नेह को दर्शाता था। हिंदी पट्टी के पाक-कला विमर्श ने एक सच्ची आर्य महिला की तुलना देवी अन्नपूर्णा से की, जो पति, पुत्रों और प्रियजनों को अपने हाथों से बना भोजन परोसते हुए अनिर्वचनीय ख़ुशी का अनुभव करती है : 'स्त्रियों के लिए नित्य नित्य नवीन नवीन क्रियाओं से पाक बना अपने प्रियजनों को खिलाना कोई सामान्य आह्लाद का विषय नहीं है… आर्य जातियों के गृह में रमणी मंडल के मध्य यह परम पवित्र भाव चिरंतन, अपार्थिव सम्पत्ति की भाँति चिरस्थायी था… पाक विद्या के प्रति अनुराग नारी जाति के रक्त मांस में मिश्रित था।'[68]

---

[62] मणिराम शर्मा (1926), 41-42, नरसिंह शुक्ल (1939) 31-32.

[63] कार्तिक प्रसाद (1908) : 10-11, नरसिंह शुक्ल (1939) : 32.

[64] मणिराम शर्मा (1926) : 6-17. गिरीश चंद्र जोशी की *आदर्श पाक विधि* भी सटीक मापों के ख़िलाफ़ सावधानी बरतने की चेतावनी देती हैं : 'जो मसाले लिखे गए हैं, वे सब हों तो बहुत अच्छा, एक आध न भी हों तो कोई बात नहीं. मसालों का जो वज़न लिखा गया है, वह भी अन्दाज़ से ही समझ लेना चाहिए. क्योंकि गृहस्ती में काँटा-तराज़ू ले कर मसाला नहीं डाला जाता', जोशी (1938) : 312.

[65] लेखक की प्रस्तावना, मणिराम शर्मा (1926) .

[66] मणिराम शर्मा (1926) : 22.

[67] उत्सा रे (2015) : 106-148.

पाक चंद्रिका के अनुसार पाककला के प्रति प्रेम के कारण ही बालिकाएँ शैशव अवस्था से ही 'मिट्टी के चूल्हे,चक्की, बटलोई, करछुल, चमचा प्रभृति लेकर गार्हस्थ्य जीवन का अनुशीलन करती हैं'।[69] अस्तु आर्य कन्याओं को अपने जीवन के इस एकमात्र उद्देश्य के लिए बचपन से ही प्रशिक्षित किया जाना चाहिए। पाक विधि की हिंदी पुस्तकों में खाना पकाने की कड़ी मेहनत को समर्पण और प्रेम की भाषा में लपेट कर और रसोई में किये जाने वाले श्रम को सभ्यता और संस्कृति के नाम पर महिमामंडित करके स्वाभाविक बना दिया गया।

यह ध्यान देने योग्य है कि रसोई और रंधन में नौकरों, सेविकाओं इत्यादि के श्रम से उचित दूरी बनाये रखने की पुरज़ोर सलाह दी जाती है। महराज और महराजिनों पर रसोई का भार छोड़ने वाली धनवान पर आलसी गृहिणी हेय दृष्टि का पात्र बनती है : 'यह कितने भारी दुःख की बात है कि जिस आहार पर हमारा जीवन निर्भर करता है, उस आहार को हम दूसरों के हाथ में सौंप रखें... प्रिय माताओ, भगनियो और पुत्रियो आप लोग सावधान हो जाएँ ...किसी समय इन रसोईदारों के द्वारा जीवन से हाथ धोना पड़ता है'।[70]

तो एक आदर्श हिंदू स्त्री की दिनचर्या अलसुबह रसोई की सफ़ाई से आरम्भ होती है : यदि रसोईघर पक्के फ़र्श का है तो गरम पानी से और यदि कच्चा है तो गोबर और मिट्टी से सफ़ाई की जानी चाहिए। सभी अनाजों को तीन बार धोना, सुखाना और पीसना ज़रूरी था, पिसाई घर में ही की जानी थी। वैसे भी जो स्वाद घर में हाथ की चक्की से पिसे अनाज – विशेषतः गेहूँ के आटे – में था, वह बाज़ार की चक्की से पिसवाए गए आटे में कहाँ! सुस्वादु भोजन इस पर भी निर्भर करता है कि मसालों को उपयोग से ठीक पहले पीसा गया है या नहीं। कुछ व्यंजनों को केवल सुबह ही बनाया जा सकता था, जबकि कई व्यंजनों को बनाने में लगभग तीन दिन का समय लगता था। सुबह और शाम के भोजन पकाने के बाद के ख़ाली समय में कुशल गृहिणियों को सलाद व चटनी बनाने के निर्देश दिए गए थे। यदि दिन का हर प्रहर रसोई के किसी-न-किसी कार्य के लिए निर्धारित था, तो साल के महीने ऋतु विशेष में अचार, पापड़, बड़ी-मंगौड़ी बनाने के लिए। उपयोग में आसान अंगीठी के बजाय मिट्टी के चूल्हे पर पकाया गया भोजन ज़्यादा स्वादिष्ट और तृप्तिकर बताया गया। कहा जा सकता है कि घरेलू अन्नपूर्णा का रसोई श्रम निरंतर और अथक था। इस मध्यमवर्गीय हिंदू गृहिणी का जीवन अंग्रेज़ी मेमसाहिब के विशेषाधिकार प्राप्त जीवन से बहुत दूर था : हिंदी पट्टी की सुलक्षणा को रसोई में ख़ुद खटना था, जबकि मेमसाहिब का दायित्व अधिकतर श्रम का प्रबंधन ही होता था।[71] क्या संदेह है कि ऐसे सतत, निर्विराम परिश्रम के कारण शहरी महिलाएँ खाना पकाने के विचार से ही सिहर उठती हों और

---

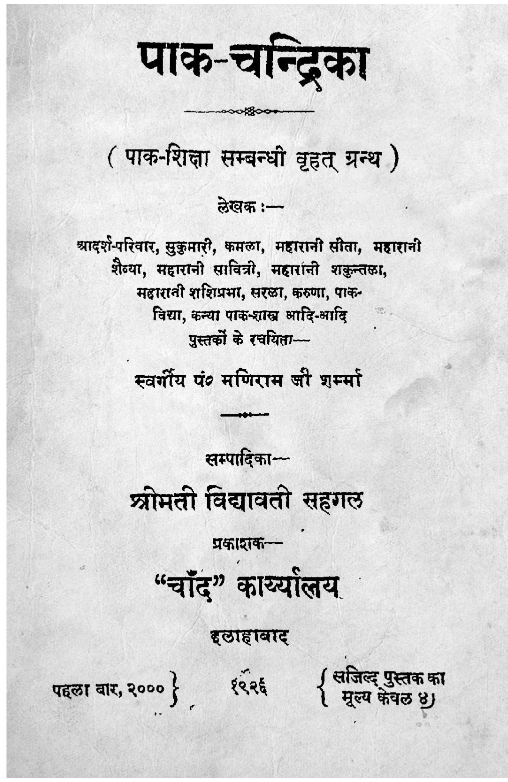
[68] मणिराम शर्मा (1926) : 5.

[69] वही.

[70] मणिराम शर्मा (1926) : 21.

[71] जूडिथ वॉल्श (2004) : 113-140.

इससे दूर भागने के रास्ते खोजती हों! और कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि हिंदी पट्टी की लगभग सभी पाक-पुस्तिकाओं में आधुनिक महिलाओं की खाना पकाने से घृणा और अपने घरेलू कर्तव्यों की उपेक्षा के प्रति एक निरंतर विलाप था।



पाक-चन्द्रिका

(पाक-शिक्षा सम्बन्धी वृहत् ग्रन्थ)

लेखक :—

आदर्श-परिवार, सुकुमारी, कमला, महारानी सीता, महारानी शैव्या, महारानी सावित्री, महारानी शकुन्तला, महारानी शशिप्रभा, सरला, करुणा, पाक-विद्या, कन्या पाक-शास्त्र आदि-आदि पुस्तकों के रचयिता—

स्वर्गीय पं० मणिराम जी शर्म्मा

सम्पादिका—

श्रीमती विद्यावती सहगल

प्रकाशक—

"चाँद" कार्य्यालय

इलाहाबाद

पहला बार, २००० } १९२६ { सजिल्द पुस्तक का मूल्य केवल ४)

यह भी ध्यान देने योग्य है कि महिलाओं द्वारा अपने लिए भोजन पकाने और भोजन का आनंद उठाने के सन्दर्भ इन व्यंजन पुस्तकों में कहीं भी नहीं मिलते। इससे फ्रंचेस्का ओर्सीनी की इस सुसंगत टिप्पणी को बल मिलता है कि *स्त्री-उपयोगी* साहित्य ने 'स्त्रियों को स्वभावतः संकोची माना और केवल उनके कर्तव्यों की चर्चा की, कभी भी उनकी ज़रूरतों पर ध्यान नहीं दिया'।[72] बांग्ला की प्रथम जीवनी लेखिका राशसुंदरी देवी पर अपने शोध में तनिका सरकार ने मार्मिक ढंग से बताया कि कैसे इस युवा ब्राह्मण गृहिणी को, जो कम-से-कम पच्चीस लोगों के लिए हर दिन, दो पहर खाना पकाती थी, ख़ुद कभी शांत भाव से अपने पकाए व्यंजनों का स्वाद लेने का मौक़ा नहीं मिला। तनिका सरकार की मार्मिक लेखनी दर्शाती है कि कैसे इस भद्र-महिला का ख़ुद का खाना-पीना अव्यवस्थित और अनिश्चित रहता था : 'राशसुंदरी खाना पकाने और खिलाने के कर्तव्य को कठिन परिश्रम की संज्ञा देती है। इस सफल गृहिणी की जीवनी में न तो खाना पकाने के उपक्रम में किसी उत्साह की संभावना दिखती है, न प्रियजनों को खिलाने में कोई संतुष्टि और न ही यादगार व्यंजनों की सुगंध और स्वाद का वर्णन मिलता है'।[73] उच्च जातीय हिंदू रसोई परंपरा स्त्रियों के लिए एक पाश ही बन कर रह गई थी।

यह भी स्मरण रहे कि आदर्श महिलाओं का रसोई श्रम आम तौर पर भूखे पेट ही होता था। पाक चंद्रिका के अनुसार खाना पकाना एक ऐसा धार्मिक कर्तव्य है जो कि 'निराहार रह कर भक्ति और पवित्रता' के साथ निभाना चाहिए। वे 'प्रौढ़ आर्य महिलाएँ' अनुकरणीय मानी गईं 'जो जब तक घर के सब लोग भोजन नहीं कर लेते, तब तक मुँह में एक दाना नहीं डालतीं; जब सब भोक्ता गण खा चुकते हैं तब पीछे से वह जल ग्रहण करती हैं'।[74] यह स्वयं सिद्ध

---

[72] फ्रंचेस्का ओर्सीनी (1999) : 150.

[73] तनिका सरकार (2003) : 122.

[74] मणिराम शर्मा (1926) : 9.

विडम्बना ही है कि हिंदू घरों की 'अन्नपूर्णा' अक्सर भूखी रहती थीं और उसका भूखा रहना उसे अधिक श्रद्धेय बनाता था।

घर में किसी अतिथि के अचानक आगमन से औरत को अपने हिस्से का छोटा-सा निवाला भी नसीब नहीं होता था। भारतीय रीति में अतिथि को भोजन कराना *अन्नदान* के समान था। *पाक चंद्रिका* के अनुसार प्रत्येक गृहस्थ का धार्मिक कर्तव्य है कि कोई भी अतिथि भूखा न रहे। अतः 'भारत को एक विशाल अतिथिशाला कहा जाए तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है'।[75] हालाँकि, इस न्योते के साथ-साथ यह विरोधाभास भी दर्ज किया जाता है कि देश में पाक शास्त्र की वर्तमान पतित अवस्था, पारिस्थितिकी और आयुर्वेदिक खान-पान के प्रति अनादर, स्त्रियों में रंधन कार्य के प्रति विरक्ति एवं हिंदू आदर्शों का क्षय भी विदेशियों की आमद और उनके रिवाजों के प्रभाव के कारण हुआ है : 'दुःख का विषय है कि विजातियों के आचार-व्यवहार की छाप पड़ जाने से पवित्र हिंदू जाति …की चिरप्रथा और पाक विद्या… का गौरव नष्ट हुआ जाता है।'[76] स्पष्टतः उपभोग और सहभोज के सख़्त मानदंडों के चलते भारतवर्ष नाम की इस विशाल सराय में सभी अतिथि समान रूप से आमंत्रित नहीं थे! यहाँ बाह्य विशिष्टताओं के बरअक्स हिंदी पाक पुस्तिकाओं द्वारा प्रतिपादित राष्ट्रवाद का यह पाक संस्करण आंतरिक, देशी भेदों के मद्देनज़र ख़ुद को परिभाषित करता दिखता है।[77]

उपसंहार

इन पाक पुस्तकों में रेखांकित पाक कला की दुनिया कितनी वास्तविक थी और कितनी काल्पनिक, इन सलाहों-निर्देशों के नियमन की सीमाएँ निर्धारित करना बेमानी है। भारतीय समाज की चिरस्थायी विविध प्रकृति के कारण, संभवतः ग्रंथों में उल्लिखित आहार नियमों और निषेधाज्ञाओं का पूर्णतः पालन नहीं हुआ होगा। पर यदि *पाक चंद्रिका* को हम एक पृथक, एकाकी विमर्श प्रस्तुत करता हुआ मान भी लें, तो भी हिंदी पट्टी की अन्य व्यंजन पुस्तिकाएँ, जो ऊपरी तौर पर अधिक समावेशी प्रकृति की हैं, उनमें भी इन्हीं रूमानी मानदंडों की झलक दिखती है।[78] जब-जब प्रसिद्ध रसोइयों का स्मरण किया जाता है तो उदाहरण हमेशा वैदिक ग्रंथों या महाकाव्यों से ही दिए जाते हैं। सम्पूर्ण मध्य काल के इतिहास के किसी पाक-नायक या महान ग्रन्थ का उल्लेख यहाँ नहीं है। उदाहरण के रूप में मुग़लई व्यंजनों की व्यापक स्वीकृति और प्रसिद्धि के बावजूद, *पाक-चंद्रिका* में इनका कोई भी सन्दर्भ नहीं मिलता। इन चारों पुस्तकों में जिस व्यंजन शैली का प्रयोग हुआ है वह अवध की पाक शैली के रूप में प्रसिद्ध है, लेकिन इस अवधी पहचान को स्पष्टतः अंगीकार नहीं किया गया है। व्यंजन पुस्तकों

---

[75] वही : 17.

[76] वही : 10.

[77] मिशेल टी. किंग (2019) : 9.

[78] ईशानी चौधरी (2017) : 24-39

की दैनंदिन साधारणता एक ओर 'अन्यता' की प्रक्रिया को छुपाती है और दूसरी तरफ़ राष्ट्र की वांछित पहचान का निर्माण भी करती है। खाना पकाने की अन्तरंग भाषा के ज़रिए, एक नई 'जज़्बाती संरचना' और एक अंतरंग समुदाय की पुनर्रचना करती है। इन पाक-पुस्तकों की सांस्कृतिक भाषा-संहिता में मौजूदा सामाजिक पूर्वग्रह आसानी से पढ़े जा सकते हैं। *पाक-चंद्रिका* जैसी पुस्तिकाओं को एक सांस्कृतिक ढाँचे के रूप में देखा जा सकता है, जो सांस्कृतिक निर्मिति में मौजूद आतंरिक तत्त्वों की पहचान कराती हैं।[79]

औपनिवेशिक समाज अपनी 'प्रामाणिक पहचान' की खोज को लेकर लगातार चिंतित रहते हैं। उन्हें एक ऐसी पहचान की दरकार रहती है जो खाँटी देशी हो और विदेशी /औपनिवेशिक शासन द्वारा दूषित न हो। एक तरफ़ नवीन राष्ट्र के सार्वभौमिक होने की उम्मीद की जाती है, दूसरी तरफ़ यह अपेक्षा रहती है कि इसकी मूल/आंतरिक सामग्री विशिष्ट, अद्वितीय व 'स्वदेशी' भी हो।[80]

कई विद्वानों का मानना है कि 'हिंदू' नामक श्रेणी – जो स्वयं आधुनिक है – उभरते हुए राष्ट्र को इंगित करने और वैध करने के लिए रची गई; उसका किसी भी मौजूदा सामुदायिकता या क्षेत्रीयता के साथ कोई अपरिहार्य संबंध नहीं था। चूँकि 'हिंदू' शब्द की कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं थी तो यह मुख्यतः अपने बहिष्करणों द्वारा परिभाषित किया गया; और अलग-अलग संदर्भ में नस्ल, संस्कृति, सभ्यता, जातीयता, राष्ट्रीयता या धर्म को निरूपित करने के लिए इस्तेमाल किया जाता रहा।[81] इसका अर्थ यह नहीं है कि हिंदू या आर्य शब्द के सभी उपयोग हमेशा ही 'बहिष्कारात्मक' (ज़ेनोफ़ोबिक) ही समझे गए होंगे। दरअसल, हिंदू धर्म की छत्रछाया में कला, संस्कृति और खान-पान की कई तरह की प्रथाएँ मौजूद थीं।[82] फिर भी हिंदू संस्कृति के नियमन ने – विशेषकर दैहिकता के अन्तरंग मामले में, रोज़मर्रा की आदतें और दैनिक खान-पान की पसंद के इर्दगिर्द – संभावित रूप से बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में राष्ट्र के संकीर्ण, सीमित विचार को पोषित किया। जैसा कि रेचेल बर्जर ने कहा है, व्यंजन से संबंधित इन परिचर्चाओं और रसोईघरीय संवाद ने 'प्रामाणिक स्वदेशीयता' का एक अंतर्निहित दावा किया जहाँ 'भोजन और आहार भूमि से बँधा हुआ था। वह सनातन था और इतिहास से परे भी।'[83] हिंदू राष्ट्र की यह शुद्ध शाकाहारी परिकल्पना हिंदू/भारतीय नैतिकता के साथ (रूढ़) ब्राह्मणवादी विश्वदृष्टि के सम्मिश्रण का परिणाम थी, और इसे एक अनैतिहासिक किंतु प्रभुत्वशाली आदर्श और एक विवादात्मक विमर्श के रूप में देखा जाना चाहिए, तब भी और आज भी।[84]

---

[79] ब्रायन मासुमि (2002) : 2-3.

[80] बेंजमिन ज़कारिया (2008) : 330-359.

[81] वसुधा डालमिया (1997) : 32-42.

[82] लिजी कोलिंघम (2006) : 5.

[83] रेचेल बर्जर (2013) : 17.

[84] NFHS-5 (2019-20-) के सर्वेक्षण से पता चलता है कि में भारत में 15-49 आयु वर्ग में कुल 83.4 प्रतिशत पुरुष और

माइकल बिलिग ने तर्क दिया है कि राष्ट्रवाद एक लगातार मौजूद स्थिति है, जिसे प्रतिदिन रोज़मर्रा की साधारण दुनिया में पुनरुत्पादित किया जाता है।[85] रसोई और व्यंजन वास्तविक या संभावित राष्ट्र के साथ एक पहचान दिखाने और उस पर बल देने के लिए इस्तेमाल किए जाते हैं। पारंपरिक व्यंजनों और भोजन शिष्टाचार के माध्यम से, और खोई हुई परंपराओं की भावनात्मक शक्ति का सहारा लेते हुए, हिंदी पाक-पुस्तकों के निर्देश पारंपरिक भोजन के साथ-साथ नैतिक मूल्यों के संरक्षक के रूप में उभरे। यहाँ उल्लिखित रसोईघरीय सिफ़ारिशों ने एक तरीक़े से एक कल्पित हिंदू राष्ट्र को चुपचाप चिह्नित किया, जो हर गृहलक्ष्मी द्वारा रसोई में पकाया जाना चाहिए। वसुधा डालमिया ने दर्शाया है कि *इंडियन ऐन्टीक्वेरी* जैसी पत्रिकाओं ने भारत को मुख्य रूप से हिंदू समझने और स्थानीय परंपराओं तथा स्वाद को सांस्कृतिक आदर्शों से जोड़ने का उपक्रम किया।[86] अस्तु, उभरते राष्ट्र के रसोईघरीय प्रोफ़ाइल का संघटन भारत के विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधि नमूनों से नहीं होना था और न ही उन आम व्यंजनों से जो कि विभिन्न समुदायों और जातियों द्वारा पसंद किए जाते थे। बल्कि हिंदी पट्टी की पाक पुस्तिकाएँ एक ग़ैर-मिलावटी, शुद्ध और पवित्र राष्ट्रीय पकवान परंपरा की सिफ़ारिश करती हैं, जो परिभाषा और विश्वास से शाकाहारी, उच्चजातीय और हिंदू हो। इन दैनिक, रोज़मर्रा के दोहराए जाने वाले व्यंजन विकल्पों के माध्यम से मानो भविष्य के राष्ट्र का पूर्वाभास पेश किया जा रहा हो।[87] समकालीन भारत के खाद्य संघर्ष, मतभेद और प्रतिस्पर्धा इस बात के गवाह हैं कि ख़ासकर हिंदी पट्टी में ये नुस्ख़े और निर्देश पूरी तरह से आत्मसात हो कर आदर्श बन गए हैं।

संदर्भ

अब्दुल हलीम शरर (1971), *पुराना लखनऊ (गुज़िश्ता लखनऊ)* (अनु.), नूर नबी अब्बासी, नैशनल बुक ट्रस्ट .

अर्जुन अप्पादुरई (1988), 'हाउ टू मेक ए नैशनल कुईजीन : कुकबुक्स इन कनटेम्पॅररी इंडिया', *कम्पेरेटिव स्टडीज़ इन सोसाइटी ऐंड हिस्ट्री*, 30, 1 : 3-24

आलोक राय (2001), हिंदी नैशनलिज़म, ओरिएंट ब्लैकस्वान, दिल्ली.

आत्सुको इचिजो और रॉनल्ड रैंटा (2016), फ़ूड, नैशनल आइडेंटिटी ऐंड नैशनलिज़म. फ्रॉम एवरीडे टू ग्लोबल पॉलिटिक्स, पालग्रेव मैकमिलन, न्यू यॉर्क.

आर. एस. खरे. (2004), 'अन्न', द हिन्दू वर्ल्ड (सं.) सुशील मित्तल ऐंड जेने थर्सबी, रटलेज, न्यू यॉर्क ऐंड लन्दन: https://doi.org/10.4324/9780203644706

70.6 प्रतिशत महिलाएँ मांस का सेवन करती हैं, जबकि NFHS-4 (2015-16) में पुरुषों के लिए यह आँकड़ा 78.4 प्रतिशत और महिलाओं के लिए 70 प्रतिशत था. सिर्फ़ हिंदुओं में भी 52.5% पुरुष और 40.7% महिलाएँ मांसाहारी बताई जाती हैं. देखें नैशनल फ़ैमिली हेल्थ सर्वे (एनएफ़एचएस-4) 2015-16 और नैशनल फ़ैमिली हेल्थ सर्वे (एनएफ़एचएस-5), 2019-21 भारत. मुंबई: इंटरनैशनल इंस्टिट्यूट फ़ॉर पॉपुलेशन साइंसेज़ (आईआईपीएस) ऐंड आईसीएफ 2017).

[85] माइकल बिलिग (1995) : 8.

[86] वसुधा डालमिया (2015) : 118.

[87] आत्सुको इचिजो और रॉनेल्ड रैंटा (2015) : 1-18.

ई. ए. एच. ब्लंट (1969), द *कास्ट सिस्टम ऑफ़ नॉर्दर्न इंडिया (विद स्पेशल रेफरेन्स टू युनाइटेड प्रोविंसेज़ ऑफ़ आगरा ऐंड अवध),* एस चाँद ऐंड कम्पनी, दिल्ली.

ईशानी चौधरी (2017), 'अ पैलेटेबल जर्नी थ्रू द पेजेज़ : बंगाली कुकबुक्स ऐंड दि आइडियल किचन इन लेट नाइनटीन्थ ऐंड अर्ली ट्वेन्टीन्थ सेंचुरी', *ग्लोबल फ़ूड हिस्ट्री,* 3 : 1 : 24-39.

उत्सा रे (2015), *कलिनरी कल्चर इन कोलोनियल इंडिया : ए कॉस्मोपॉलिटन प्लैटर ऐंड द मिडिल-क्लास*, केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस,दिल्ली.

उलरीके स्टार्क (2007), *ऐन एम्पायर ऑफ़ बुक्स : द नवल किशोर प्रेस ऐंड द डिफ़्यूजन ऑफ़ प्रिंटेड वर्ड इन कोलोनियल इंडिया,* परमानेंट ब्लैक, रानीखेत.

एम. के. गांधी (1949), *डायट ऐंड डायट रिफ़ॉर्म*, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद.

एम. के. गांधी (1959), द *मोरल बेसिस ऑफ़ वेजिटेरियनिज़्म*, नवजीवन मुद्रणालय, अहमदाबाद.

एल. आई. रुडोल्फ और एस. एच. रुडोल्फ (1981), 'ट्रांसफॉर्मेशन ऑफ़ काँग्रेस पार्टी : व्हाय 1980 वाज़ नॉट अ रेस्टोरेशन', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, 16 : 18, मई 2 : 811-813, 815-818.

कार्तिक प्रसाद (1908), *पाकराज*, फ्रेंड ऐंड कंपनी, बनारस, मथुरा [II एडिशन].

कुमकुम रॉय (2009), द *हिस्टोरिकल डिक्शनरी ऑफ़ एनसिएंट इंडिया, हिस्टोरिकल डिक्शनरीज़ ऑफ़ एनसिएंट सिविलाइज़ेशन्स ऐंड हिस्टोरिकल एराज़*, न. 23, आईएनसी, द स्केयरक्रो प्रेस, प्लीमाउथ, युके.

के. टी. अच्चैया (1994), *इंडियन फ़ूड: ए हिस्टोरिकल कम्पैनियन*, ऑक्सफ़र्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली.

कॉलीन टेलर सेन (2015), *फीस्ट्स ऐंड फास्ट्स : ए हिस्ट्री ऑफ़ फ़ूड इन इंडिया*, रीएक्शन बुक्स, लन्दन.

गिरीश चन्द्र जोशी (1938), *आदर्श पाक विधि,* हिंदी पुस्तक एजेंसी, काशी.

चारु गुप्ता (सं.) (2012), *जेंडरिंग कोलोनियल इंडिया : रिफ़ॉर्म्स, प्रिंट ऐंड कम्युनलिज़्म*, ओरिएंट ब्लैक स्वान, नई दिल्ली.

चारु गुप्ता (2011), 'राइटिंग सेक्स ऐंड सेक्सुअलिटी : आर्काइव्ज ऑफ़ कोलोनियल नॉर्थ इंडिया', *जर्नल ऑफ़ विमेंस हिस्ट्री,* 23, 4, विंटर : 12-35.

चारु गुप्ता (2001), *सेक्सुअलटी, ऑबसिनिटी, कम्युनिटी : वीमेन, मुस्लिम्स ऐंड द हिन्दू पब्लिक इन कोलोनियल इंडिया*, परमानेंट ब्लैक, नई दिल्ली.

जयंत सेनगुप्ता (2012), 'नेशन ऑन अ प्लैटर : द कल्चर ऐंड पॉलिटिक्स ऑफ़ फ़ूड ऐंड कुज़ीन इन कोलोनियल बंगाल', *करीड कल्चर्स : ग्लोबलाइजेशन, फ़ूड, ऐंड साउथ एशिया*, कृष्णेंदु रे ऐंड तुलसी श्रीनिवास (सं.), यूनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, बर्कले ऐंड लॉस एंजेल्स.

जी. जे. म्युलेनबेल्ड (2000), ए *हिस्ट्री ऑफ़ इंडियन मेडिकल लिटरेचर,* वॉल्यूम II-ए, एग्बर्ट फोर्सटेन, ग्रोनिंजेंन.

जूडिथ वॉल्श (2004), *डोमेस्टीसिटी इन कोलोनियल इंडिया : व्हाट वीमेन लर्न्ड व्हेन मेन गेव एडवाइस*, रोवमन ऐंड लिटिलफील्ड पब्लिशर्स, लान्हम.

जे. हालदार (1926), *बंगाल स्वीट्स*, सेकंड एडिशन, चक्रवर्ती, चटर्जी ऐंड कम्पनी, कलकत्ता.

जोसेफ़ ऑल्टर (2000), *गांधीज़ बॉडी : सेक्स, डाइट, ऐंड द पॉलिटिक्स ऑफ़ नैशनलिज़्म*, यूनिवर्सिटी ऑफ़ पेन-सिल्वेनिया प्रेस, फिलाडेल्फिया.

ज्ञानेंद्र पाण्डेय (1990), *कंस्ट्रक्शन ऑफ़ कम्युनलिज़्म इन कोलोनियल नॉर्थ इंडिया*, ऑक्सफ़र्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली.

ज्ञानेश कुदैस्या (2006), *रीजन, नेशन, 'हार्टलैंड' : उत्तर प्रदेश इन इंडियाज बॉडी पॉलीटिक*, सेज सीरीज इन मॉडर्न

इंडियन हिस्ट्री, सेज पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली.

डी. नटराजन (1971), एक्सट्रैक्ट्स फ्रॉम द ऑल इंडिया सेन्सस रिपोर्ट्स ऑन लिटरेसी, सेन्सस सेंटेनरी मोनोग्राफ न. 9, *सेन्सस ऑफ़ इंडिया*, 1971, ऑफिस ऑफ़ द रजिस्टरार जनरल इंडिया.

तनिका सरकार (1999), *वर्ड्स टू विन: द मेकिंग ऑफ़ अमार जीबन, ए मॉडर्न ऑटोबायोग्रफ़ी*, काली फॉर वीमेन, नई दिल्ली.

निको स्लेट (2019), *गांधी 'ज़ सर्च फॉर द परफ़ेक्ट डायट : ईटिंग विद द वर्ल्ड इन माइंड*, यूनिवर्सिटी ऑफ़ वाशिंगटन प्रेस, सीएटल.

नैशनल फैमिली हेल्थ सर्वे-4, 2015-16 (2017), इंटरनैशनल इंस्टिट्यूट फॉर पापुलेशन्स साइंसेज (आईआईपीएस) ऐंड आई सी एफ़., मुंबई.

नैशनल फैमिली हेल्थ सर्वे-5, 2019-21 (2021), इंटरनैशनल इंस्टिट्यूट फॉर पापुलेशन्स साइंसेज (आईआईपीएस) ऐंड आई सी एफ़., मुंबई.

पंडित नरसिंह शुक्ल (1939), *वृहद् पाक विज्ञान : वेजेटेरियन यानी निरामिष और आमिष*, हिंदी पुस्तकालय, मथुरा.

पंडित वामनाचार्य भट्टाचार्य (सं.) (1983), *पाक दर्पणम् (ओल्डेस्ट आयुर्वेदिक ट्रीटीज ऑफ़ होम साइंस) ऑफ़ महाराजा नल*, हिंदी कमेंटरी, डॉ. इन्द्रदेव त्रिपाठी, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी.

एफ़. ए. स्टील ऐंड जी. गार्डिनर (1909), द *कम्प्लीट इंडियन हाउसकीपर ऐंड कुक*, विल्यम हायनेमन ऐंड संज़, लंदन.

फ़्रंचेस्का ओर्सीनी (1999), 'डोमेस्टीसिटी ऐंड बियॉन्ड : हिंदी विमेंस जर्नल इन द अर्ली ट्वेंटिएथ सेंचुरी' *साउथ एशिया रिसर्च*, 19 : 2 : 137-160.

फ़्रंचेस्का ओर्सीनी (2002), द *हिंदी पब्लिक स्फीयर 1920-1400 : लैंग्वेज ऐंड लिटरेचर इन द एज ऑफ़ नैशन-लिज़्म*, ऑक्सफ़र्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली.

फ़्रंचेस्का ओर्सीनी (2009), *प्रिंट ऐंड प्लेजर : पॉपुलर लिटरेचर ऐंड एंटरटेनिंग फिक्शन्स इन कोलोनियल नॉर्थ इंडिया*, परमानेंट ब्लैक, नई दिल्ली.

फ़्रान्सिस रॉबिन्सन (1974), *सेप्रटिज़्म अमंग इंडियन मुस्लिम्स : द पॉलिटिक्स ऑफ़ द युनाइटेड प्रॉविन्सेज़ 1860-1923*, केम्ब्रिज.

बेंजामिन ज़कारिया (2008), 'रेजिडुअल नैशनलिज़्म ऐंड द इंडियन (रेडिकल?) इंटेलेक्चुअल : ऑन इंडीजेनिज़्म, अथेंटीसिटी ऐंड द कोलोनाइज़र्'स प्रेजेंट्स.' , देबराज भट्टाचार्य (सं.) *ऑफ़ मैटर्स मॉडर्न : द एक्सपीरियंस ऑफ़ मॉडर्निटी इन कोलोनियल ऐंड पोस्टकोलोनियल साउथ एशिया*, सीगल, कलकत्ता.

ब्रायन मासुमि. (2002), *पैरब्ल्स फॉर द वर्चुअल : मूवमेंट, एफ़ेक्ट, सेंसेशन (पोस्ट-कंटेम्परारी इंटरवेंशन्स)*, ड्यूक यूनिवर्सिटी प्रेस बुक्स, डरहम ऐंड लन्दन.

मणिराम शर्मा (1926), *पाक चन्द्रिका*, चाँद प्रेस, इलाहाबाद.

माइकल बिलिग (1995), *बनाल नैशनलिज़्म*. सेज, लन्दन.

मिशेल टी. किंग (सं.) (2019), *कलिनरी नैशनलिज़्म इन एशिया*, ब्लूम्सबरी अकैडेमिक, लन्दन.

मेरेडिथ बोर्थविक (1984), द *चेंजिंग रोल ऑफ़ वीमेन इन बंगाल 1849-1905*, प्रिन्सटन यूनिवर्सिटी प्रेस.

रामनारायण रावत (2015), 'जिनीऑलजीज ऑफ़ दलित पॉलिटिकल : द ट्रांसफॉर्मेशन ऑफ़ अछूत फ्रॉम 'अन-टचेबल' इन अर्ली ट्वेंटिएथ सेंचुरी नॉर्थ इंडिया,' द *इंडियन इकॉनॉमिक ऐंड सोशल हिस्ट्री रिव्यु*, 52 : 3 : 335 : 355.

रिपोर्ट ऑन द एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ़ द युनाइटेड प्रोविन्सेज़ ऑफ़ आगरा ऐंड अवध, 1926-27 (1928) और 1931-1932, गवर्नमेंट ब्रांच प्रेस, लखनऊ.

रेचल बर्जर (2013), 'बिटवीन डाइजेशन ऐंड डिजायर : जिनीऑलजि ऑफ़ फ़ूड इन नेशनलिस्ट नार्थ इंडिया', *मॉडर्न एशियन स्टडीज़*, फर्स्ट व्यू आर्टिकल (फ़रवरी) : 1622-1643.

लिज़ी कोलिंघम (2006), *करी : अ टेल ऑफ़ कुक्स ऐंड कंकरर्स*, ऑक्सफ़र्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.

लीला गांधी (2006), *अफेक्टिव कम्युनिटीज़ : एंटीकोलोनियल थॉट ऐंड द पॉलिटिक्स ऑफ़ फ्रेंडशिप*, परमानेंट ब्लैक, दिल्ली.

वसुधा डालमिया (1997) द *नैशनलाईजेशन ऑफ़ हिन्दू ट्रेडिशन : भारतेंदु हरिश्चंद्र ऐंड द नाइनटीन्थ सेंचुरी बनारस*, ऑक्सफ़र्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली.

वसुधा डालमिया (2015), *हिन्दू पास्ट्स : वीमेन, रिलिजन, हिस्टरीज़*. परमानेंट ब्लैक इन एसोसिएशन विद अशोका यूनिवर्सिटी, नई दिल्ली.

विलियम गोल्ड (2004), *हिन्दू नैशनलिज़्म ऐंड द लैंग्वेज ऑफ़ पॉलिटिक्स इन लेट कोलोनियल इंडिया*, केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

शोबना निझावन (2017), 'वीमेन ऐंड द नेशनलाइजेशन ऑफ़ लिटरेचर : टेक्स्ट ऐंड इमेज ऐज पैरेलल नैरेटिव्स विद मल्टीप्लाड मीनिंग इन ए हिन्दू पीरियाडिकल (1927-1941)' *जेंडर ऐंड हिस्ट्री*, 29 : 1 अप्रैल : 48-66.

शोबना निझावन (2012), *वीमेन ऐंड गर्ल्स इन द पब्लिक स्फीयर : पीरियोडिकल लिटरेचर इन कोलोनियल नॉर्थ इंडिया*, ऑक्सफ़र्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली.

सिसिल्या लेओंग-सलोबिर (2011), *फ़ूड कल्चर इन कोलोनियल एशिया: अ टेस्ट ऑफ़ एम्पायर,* रटलेज, लन्दन ऐंड न्यू यॉर्क.

सी. ए. बेली (1992), *रुलर्स, टाउन्समेन ऐंड बज़ार्स : नॉर्थ इंडियन सोसाइटी इन द एज ऑफ़ ब्रिटिश इक्सपैंशन 1770-187,* ऑक्सफ़र्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली.

सुधीर चंद्रा (2014), द *ऑप्प्रेसिव प्रेजेंट : लिटरेचर ऐंड सोशल कॉंसियसनेस इन कोलोनियल इंडिया*, रटलेज, नई दिल्ली.

सैंड्रिया बी. फ्राईटैग (1990), *कलेक्टिव एक्शन ऐंड कम्युनिटी : पब्लिक अरेनस ऐंड द एमर्जेंस ऑफ़ कम्युनलिज़्म इन नॉर्थ इंडिया*, ऑक्सफ़र्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली.

सोनल शुक्ला (1991), 'कल्टीवेटिंग माइंड्स: नाइनटीन्थ सेंचुरी गुजराती विमेंस जर्नल्स', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, 26 : 43, अक्टूबर 26 : WS63-WS66.

स्टुअर्ट ब्लैकबर्न ऐंड वसुधा डालमिया (सं.) (2004), *इंडियाज़ लिटरेरी हिस्ट्री, एसेज़ ऑन द नाइनटीन्थ सेंचुरी*, परमानेंट ब्लैक, नई दिल्ली.

स्टुअर्ट ब्लैकबर्न (2003), *प्रिंट, फ़ोकलोर ऐंड नैशनलिज़्म*, परमानेंट ब्लैक, नई दिल्ली.

होली शेफ़र (2012), 'दम पुख़्त : अ स्यूडो-हिस्टॉरिकल क्विज़ीन', कृष्णेंदु रे और तुलसी श्रीनिवास (सं.), *करीड कल्चर्स : ग्लोबलाईज़ेशन, फ़ूड ऐंड साउथ एशिया*, यूनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, बर्कली ऐंड लॉस एंजेल्स.

हिंदी सिनेमा में ग़ज़ल का सांगीतिक सफ़र

शिखा झींगन

अनुवाद : दिनेश कुमार

यह अध्याय हिंदी सिनेमा की एक सांगीतिक विधा के रूप में ग़ज़लों पर केंद्रित है। ग़ज़ल का गहरा संबंध रूमानियत से है और इसमें तीव्र भावनाएँ अभिव्यक्ति पाती हैं (क़ुरैशी 1990)। जैसा कि पीटर मैनुएल ने दिखाया है, जहाँ भी इसका अस्तित्व है उन तमाम क्षेत्रीय संस्कृतियों में ग़ज़ल को गाने और शायरी के रूप में पेश करने का प्रचलन रहा है[1], और उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में यह भारतीय लोकप्रिय संस्कृति के अंतर्गत हिंदुस्तानी संगीत की एक महत्त्वपूर्ण विधा बन गई। मुशायरा और महफ़िल जैसे मंचों से सांगीतिक ग़ज़ल कैसे पैदा हुई, नाट्य मंचों से लेकर आधुनिक जन-संचार माध्यमों जैसे ग्रामोफ़ोन, रेडियो और सिनेमा में इन्हें कैसे प्रस्तुत किया गया है, इसको समझने के साथ-साथ हिंदी सिनेमा में ग़ज़ल के विभिन्न रूपों और प्रयोगों को रेखांकित करने का प्रयास इस लेख में किया गया है।

बतौर काव्यरूप ग़ज़ल 'शेरों की अनिश्चित संख्या' का एकबद्ध समुच्चय है, जिसके शेर रदीफ़ और क़ाफ़िए में होते हैं और ग़ज़ल इस ढाँचे का सख़्त पालन किए जाने की माँग करती है। इसके अतिरिक्त, ग़ज़ल में प्रत्येक शेर का उद्देश्य एक ख़ुद मुख़्तार इकाई के रूप में 'आत्म-पर्याप्त भाववाची विचारों' को प्रस्तुत करना है'।[2] इसके छंद/बहर को तय करने वाले मानदंड ख़ास तौर पर रदीफ़ और काफ़िये पर ज़ोर ग़ज़ल को एक निश्चित ताल और सांगीतिक गुणवत्ता प्रदान करता है। शायरों का मानना है कि ग़ज़ल कहने या लिखने के लिए उन पर आयद पाबंदियाँ दरअसल उसके रूप को तराशने, समृद्ध करने और पढ़ने तथा सुनने वाली जनता द्वारा सराहे जाने के क़ाबिल बनाती हैं।

ग़ज़ल 'एक ही समय में 'गीतात्मक, लाक्षणिक और चिंतनशील' है तो साथ ही वही पंक्तियाँ 'भावुक, कामुक और दार्शनिक-आध्यात्मिक विषय' की व्यंजनाएँ करने में समर्थ

[1] पीटर मैनुएल (1998-89) : 950.

[2] वही : 94.

हैं'।[3] इसकी अरबी-फ़ारसी जड़ों की ओर ध्यान खींचते हुए फ़्रंचेस्का ओर्सीनी ने यह सुझाया है कि *ग़ज़ल* का एक केंद्रीय तत्त्व इश्क़ है।[4] यद्यपि साहित्यिक विधा के रूप में इसकी महत्ता से इंकार नहीं किया जा सकता है लेकिन ग़ज़ल मूलतः मुशायरों और महफ़िलों की मौखिक और श्रव्य विधा है जो सहृदय श्रोताओं और शायरों के बीच आमने-सामने की अंतर्क्रिया से परवान चढ़ती है। रैल्फ़ रसेल के अनुसार, ग़ज़ल पहले तो सुनाए जाने के लिए रची जाती थी बाद में इसे पढ़ा जाने लगा। लिहाज़ा शायर से यह उम्मीद की जाती थी कि वह अपनी अदायगी और अंदाज़े बयाँ से श्रोताओं को मुतास्सिर करे।[5] चूँकि शायर की वक्तृता और लोच ग़ज़ल के लिए अहम है, हम सहज कल्पना कर सकते हैं कि मुशायरा एक ऐसी ऐंद्रिक और सुरीली जगह बन जाता है जो संपादकों-प्रकाशकों, शौक़िया शायरों तथा काव्य प्रेमियों को बरबस अपनी ओर खींचता है। भास्कर और ऐलन के अनुसार 'सार्वजनिक जनपद में होने वाले ये साहित्यिक और सामाजिक जमावड़े' जहाँ ग़ज़ल पढ़ी जाती थी, मुख्यतः मर्दाना जगहें थीं, 'यद्यपि स्त्रियों का अपनी तरह का मुशायरा था'।[6] इसके अलावा, जीवनियों और आत्मकथात्मक वर्णनों में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में *कोठों* की *महफ़िलों* और *मुजरों* का ऐसे अहम कार्यक्रम स्थलों के रूप में ज़िक्र मिलता है जहाँ उर्दू शायरी का ख़ूब प्रचार-प्रसार हुआ।[7] *ग़ज़ल* के प्रसार के लिए अमूमन उतनी ही महत्त्वपूर्ण जगह पारसी थिएटर भी रही है जिनमें ग़ज़लों का सनृत्य इस्तेमाल होता था।

मेरे ख़्याल से ये ऐसे संजाल थे जिनमें ग्रामोफ़ोन के आने के साथ बड़े बदलाव हुए चूँकि फिर संगीत का भावोत्पादक विनिमय भी संभव हुआ। अपनी पीएचडी थीसिस (2016) में रविकान्त ने 'हिंदी' सिनेमा के अंतर्माध्यमिक संबंधों पर बहुत ही गहराई से विचार करते हुए प्रिंट मीडिया, ग्रामोफ़ोन रिकॉर्डिंग्स, लाइव प्रदर्शनों, पारसी थिएटर, सिनेमा और रेडियो जैसे विभिन्न मनोरंजन रूपों के बीच 'आवाजाही' को दिखाया है। ग़ज़ल के मामले में ध्वनि पुनरुत्पादन तकनीकों द्वारा मौखिक, श्रव्य और सांगीतिक प्रदर्शनों के अंतर प्रवाह का इस्तेमाल किया गया। जैसे-जैसे ग़ज़ल एक सांगीतिक विधा के रूप में ग्रामोफ़ोन रिकॉर्डिंग्स और रेडियो के माध्यम से प्रसारित होना शुरू हुई तो अवश्यम्भावी रूप से इसने 1930 और 1940 के सिनेमा में भी अपना रास्ता प्रशस्त किया। शाब्दिक, सांगीतिक, प्रदर्शनात्मक ग़ज़ल का माधुर्य, पढ़े जाने, सुने जाने और गाए जाने के परस्पर समावेशी संबंधों पर विशेष रूप से मुनहसर है। ग़ज़ल के ये प्रवाह पाठीय, सांगीतिक, प्रदर्शनात्मक और ध्वनिक गुण के संयुक्त आवेश से पैदा हुए थे और जो पढ़ने, सुनने

---

[3] भास्कर और एलन (2009) : 14.

[4] फ़्रंचेस्का ओर्सीनी (2007) : 14.

[5] रसेल (1969) : 119-20.

[6] भास्कर और एलन (2009) : 14.

[7] संपत (2010) : 39, संपत द्वारा लिखी गौहर जान की आत्मकथा में मलिका जान का वर्णन सुप्रसिद्ध कवयित्री के रूप में हुआ है जिन्होंने 1886 में अपनी कविताओं का संग्रह प्रकाशित करवाया था. वहीं इसका भी उल्लेख है कि दाग़ देहलवी और अकबर इलाहाबादी उनके समकालीन थे और उनका बहुत आदर करते थे.

और गाने के पारस्परिक रूप से समावेशी संबंध पर महत्त्वपूर्ण रूप से निर्भर थे। मसलन, चौधरी ज़िया इमाम द्वारा लिखित नौशाद अली की जीवनी में हमें एक वर्णन मिलता है कि नौशाद लखनऊ में अमीनाबाद चौक में स्थित एक पान की दुकान में अपनी शामें गुज़ारा करते थे।[8] दुकान के मालिक कोई नईम साहब थे, जो उर्दू शायरी के शैदाई और शायर दोनों थे, लिहाज़ा वहाँ शो'अरा का अड्डा जमता था। तो यहीं नौशाद बहज़ाद लखनवी से मिले थे। लोगों का यह संजाल अलग-अलग जगहों पर फैल गया। फलते-फूलते फ़िल्म उद्योग वाले बंबई शहर ने कई कवियों, संगीतकारों, गायकों और लेखकों को आकर्षित किया जिन्होंने न केवल वहाँ काम पाया बल्कि नए संदर्भों में इन लोगों ने अपने आपसी संबंधों को पुनर्परिभाषित किया। बंबई में 1940 के दशक में जब वे फ़िल्मों में अपने पैर जमाने के लिए संघर्षरत थे, उस समय नौशाद ने शकील बदायूनी, ख़ुमार बाराबंकवी, नक़सब जारचवी और ज़ुल्फ़िकार अली बुख़ारी के साथ गुज़ारी अपनी महफ़िलों का वर्णन किया है। कुछ शीर्ष उर्दू गीतकारों और शायरों के बीच संगीतकारों की उपस्थिति स्वयं इस बात का गवाह है कि *ग़ज़ल* के लिए एक व्यापक जन संवेदना के निर्माण में संगीत ने एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसी तरह, मंटो ने रफ़ीक ग़ज़नवी का बहुत दिलचस्प वर्णन किया है कि वे अमृतसर में अपने मज़ापसंद दोस्तों के साथ ठुमरी, दादरा और टप्पा गाते थे और शायरी भी करते थे।[9] फिर ग़ज़नवी मुंबई आ गए और 1940 के दशक में महबूब ख़ान सहित फ़िल्म उद्योग के मशहूर निर्माताओं के साथ संगीत निर्देशक के रूप में काम किया।

मेरी दिलचस्पी संगीत शैली के रूप में सिनेमा में एक मज़बूत मुक़ाम बनाने से पहले सांगीतिक विधा के रूप में ग्रामोफ़ोन और रेडियो के माध्यम से प्रसारित होने वाली ग़ज़ल की इस आधुनिक अनुवांशिकी की पड़ताल करने में है। कुंदन लाल सहगल, बेगम अख़्तर और तलत महमूद की जीवनियों, ब्लॉग पर हुई चर्चाओं और पर्दे की सांगीतिक दृश्यावली के शाब्दिक विश्लेषण से इकट्ठा सूचनाओं के आधार पर मैंने पूछा है कि जब ग़ज़ल एक फ़िल्म गीत के रूप में सिनेमा में शामिल हुई तब कौन सी पाठ्य, सांगीतिक और शैलीगत मध्यस्थताएँ हस्तक्षेप करती हैं। इसकी श्रव्य अदायगी को ध्यान में रखते हुए मैं सिनेमाई ग़ज़ल की ऐंद्रिकता को श्रोता के माध्यम से समझने की कोशिश करूँगी जिसका पर्दे पर का और पर्दे से इतर संदर्भ भी होगा। आख़िरी खंड में मैं सिनेमाई ग़ज़ल की प्रस्तुति की दो विशिष्ट शैलियों पर ध्यान केंद्रित करूँगी ताकि कैमरे के दृश्यांकन के ज़रिये ध्वन्यात्मक तत्त्वों को रेखांकित किया जा सके कि कैसे पर्दे पर स्टार-गायक और श्रोताओं के बीच दृष्टि विनिमय में ध्वन्यात्मक विनिमय भी विन्यस्त है।

---

[8] चौधरी ज़िया इमाम (2008) : 58.

[9] *ठुमरी* हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत की एक गेय उप-शास्त्रीय विधा है. *दादरा* गायन शास्त्रीय संगीत के अंतर्गत एक उप-शास्त्रीय विधा है जिसमें *छह ताल* या *दादरताल* का प्रयोग होता है. अशोक राणाडे के अनुसार, *दादरा* में ताल के झुकाव पर ज़ोर दिया जाता है. *टप्पा* उप-शास्त्रीय संगीत की एक अन्य विधा है, जो पंजाब के ऊँट सवारों से प्रेरित है, इसकी मधुरता और लयात्मकता इसे ख़ास बनाती है.

ग्रामोफ़ोन युग में ग़ज़ल

रिकॉर्डिंग तकनीक के आगमन के साथ, ग़ज़ल सिर्फ़ साहित्यिक और तमाशाई विधा नहीं रह गई बल्कि ग्रामोफ़ोन तवों के ज़रिये इसके श्रव्य जनपद का विस्तार हुआ। लंदन में 1899 में रिकॉर्डों की पहली सूची जिसे 10000 सिरीज़ कहा जाता है, उसमें हाफ़िज़ की फ़ारसी शायरी की शिराज़ द्वारा अदायगी और ग़ालिब की उर्दू-फ़ारसी शायरी की ज़हीर फ़ारयाबी द्वारा अदायगी शुमार है। दोनों में ग़ालिब और कविताओं के पाठ शामिल थे (किन्नियर 1994)। गैसबर्ग द्वारा चलाए गए पहले रिकॉर्डिंग अभियान के तहत सबसे पहली ध्वन्यांकित ग़ज़लें हरी मोती और मिस सुशीला की थीं जिन्होंने उसी शृंखला में कुछ *दादरे* भी रिकॉर्ड किए थे। इस दौर में निजी *महफ़िलों* में अपने संरक्षकों का मनोरंजन करने वाली बाई जी या तवायफ़ों के नाम से मशहूर महिलाओं ने ग्रामोफ़ोन उद्योग के लिए तवे भरे। अंगूर बाला जैसी नाटकों में काम करने वाली मशहूर गायिकाओं-सह-अभिनेत्रियों ने भी ग्रामोफ़ोन कंपनियों के लिए गायन किया। श्वेता सचदेव जैसी विदुषियों ने फ़रमाया है कि इनमें से बहुत सी तवायफ़ें उर्दू की बेहतरीन और मशहूर शायराएँ थीं। बहुत से क़स्बों और बड़े शहरों में कोठों, शहरी थिएटर और रिकॉर्डिंग उद्योग के बीच संसाधनों, प्रतिभा और स्थितियों का अबाध आदान-प्रदान होता था। नाट्य-संगीत भी रिकॉर्डिंग उद्योग के लिए एक अहम स्रोत माना गया है। कलाकारों, संगीतकारों और शायरों के विभिन्न पारम्परिक प्रदर्शनों के बीच आदान-प्रदान के ज़रिये सांगीतिक विधाओं के ईजाद हुए और व्यावसायिक रिकॉर्डों के माध्यम से संगीत श्रोताओं तक पहुँचकर लोकप्रिय हुआ। संगीत की इसी थाती और संसाधन का इस्तेमाल सवाक सिनेमा ने किया।

लेकिन रिकॉर्डिंग उद्योग में एक विधा के रूप में ग़ज़ल को विशिष्ट पहचान कैसे मिली? यहाँ ध्यान रखने की ज़रूरत है कि आरंभिक रिकॉर्डों में प्रस्तुत ग़ज़लें कलाकारों की व्यापक थाती का हिस्सा प्रतीत होती हैं जिसमें उत्तर भारत की शास्त्रीय और अर्द्ध-शास्त्रीय संगीत विधाएँ जैसे ठुमरी, दादरा, टप्पा, ख़याल, तराना, क़व्वाली और भजन शामिल थीं।[10] यदि हम आरंभिक समय के तवों पर ग़ौर करते हैं तो यह साफ़ हो जाता है कि ग्रामोफ़ोन उद्योग गायक-कलाकारों के साथ व्यक्तिगत तौर पर काम करना पसंद करता था, कि एक कलाकार को बुलाया और उसकी थाती में से तरह-तरह की चीज़ें रिकॉर्ड कर लीं। गौहर जान, जानकी बाई, ज़ोहरा बेगम, काली जान, इनायत ख़ान पठान, अज़ीज़ जान, असग़री जान, अंगूरबाला, इंदुबाला और मिस दुलारी कुछ ऐसे ही गायक-गायिकाएँ हैं जिनकी ग़ज़लें ग्रामोफ़ोन रिकॉर्डों के माध्यम से भारत में रिकॉर्ड संगीत के पहले और दूसरे दशकों में लोकप्रिय हुईं। एक और ग़ौरतलब तथ्य यह है कि इन अधिकांश आरंभिक तवों में शायरों के नामों का उल्लेख नहीं

---

[10] *ख़्याल* हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत की एक ख़ास विधा है, जिसे एक निश्चित राग और ताल में गाया जाता है और जिसकी ख़ास बनावट का प्रयोग *राग* को खोलने के लिए किया जाता है. *तराना* एक संरचना युक्त गायन संगीत है जो वाद्य यंत्रों की ध्वनि से प्रेरित ध्वनि शब्दांशों का प्रयोग करता है. *भजन* और *कीर्तन* हिंदू आध्यात्मिक गायन संगीत की विधाएँ हैं. इनके बाद वाले हिस्सों को कोरस में गाया जाता है.

मिलता। उदाहरण के तौर पर गौहर जान की 12’ की सूची के रिकॉर्डिंग में ग़ालिब का ये मशहूर शेर तो है पर उनका नाम नहीं आता[11] :

ये न थी हमारी क़िस्मत, के विसाल-ए-यार होता[12]

पीटर मैनुएल के अनुसार, ग़ज़ल की बहर ‘परिष्कृत-अलंकृत’ ज़बान, ‘श्रृंगारिक अंतर्वस्तु’ और ‘रदीफ़-काफ़िये’ से संयुक्त होकर संगीत में ढलने के लिए तैयार हो जाती है।[13] बक़ौल रेगुला क़ुरैशी, ध्वन्यांकित ग़ज़ल में संगीत दरअसल ‘काव्य के ढाँचे और श्रव्य तौर पर अदायगी की सेवा में इस्तेमाल होता था’।[14] 1990 की शुरुआत में एचएमवी द्वारा दस कैसेटों की सिरीज़ निकाली गई जिसमें *ग़ज़ल का सफ़र* के अपने मौखिक इतिहास में गुलज़ार ने इस बात पर ज़ोर दिया कि साज़ के माध्यम से ग़ज़ल प्रकाशन संसार से निकलकर रिकॉर्ड स्वरूप में आने का रास्ता बना सकी।[15] ध्वन्यांकित ग़ज़ल और सांगीतिक महफ़िल में गाई गई ग़ज़ल के बीच एक महत्त्वपूर्ण अंतर है जिसे मैनुएल ने भी रेखांकित किया है, वह है महफ़िलों की ग़ज़लों की आशु बढ़त की प्रकृति।[16] ध्वन्यांकित ग़ज़ल के अपेक्षाकृत कम तात्कालिक रूप का विकास व्यावसायिक ध्वन्यांकित प्रारूप की भौतिक, तकनीकी और व्यावसायिक सीमाओं के संदर्भ में देखा जाना चाहिए। गायक जिस *ख़याल बंदिश* को घंटों में गाते थे, उसे अब उनसे तीन मिनट में गाने की उम्मीद की जाती थी। 78 आरपीएम रिकॉर्ड में तीन मिनट और बीस सेकंड के समय की सीमा का मतलब था सांगीतिक आशु बढ़त में एक हद तक कटौती, और एकरूपता लाने के लिए ‘पीट-पाट के समतल किया गया’।[17] शायरों की कृतियों से कुछ चुनिंदा अश’आर को ही ध्वन्यांकित प्रारूप में शामिल किया जा सकता था। शामिल करने और निकाल बाहर करने की इस प्रक्रिया से ही ग़ज़ल का वह लोकप्रिय रूप पैदा हुआ जिसे श्रोताओं की बाढ़ पाती तादाद आसानी से ग्रहण कर सकती थी।

सिनेमा में आवाज़ के आगमन के साथ 1930 के दशक में क्रांतिकारी बदलाव हुए। और ठीक उसी समय ग्रामोफ़ोन रिकॉर्डों, सिनेमा और रेडियो के माध्यम से ग़ज़ल भी एक

---

[11] संपत (2010) : 247.

[12] सभी अनुवाद मेरे हैं. मैं इरा भास्कर और रिचर्ड एलन को धन्यवाद देती हूँ जिनके बहुमूल्य सुझावों ने कुछ अनुवादों को सटीक बनाने में मेरी मदद की. इस अध्याय के लिए ऑनलाइन रेख़्ता डिक्शनरी ने भी मेरे लिए एक ज़रूरी साधन का काम किया.

[13] पीटर मैनुएल (1988-89) : 95.

[14] रेगुला क़ुरैशी (1990) : 489.

[15] *ग़ज़ल का सफ़र* के प्राक्कथन में गुलज़ार ने लिखा, लिखी जाने के बाद ग़ज़लें किताबों में सुरक्षित तो हो गईं लेकिन संगीत और गायन के चलते इनका रिकॉर्डेड स्वरूप में भी संग्रहण संभव हुआ. *ख़्याल महफ़ूज़ था लेकिन आवाज़ पहली दफ़ा महफ़ूज़* हुई, गुलज़ार के शब्द इस ऑडियो लिंक में उपलब्ध हैं : https://wynk.in/music/song/introduction-by-gulzarand-jagjit-singh/sa_INH101103014?autoplay=true.

[16] पीटर मैनुएल(1988-89) : 106.

[17] भास्कर चंद्रावरकर (1980) : 71.

अहम सांगीतिक विधा के रूप में उभरी। कलकत्ता रिकॉर्डिंग उद्योग का एक फलता-फूलता केंद्र था, लिहाज़ा वहाँ कुंदन लाल सहगल, जद्दन बाई और तलत महमूद जैसे कलाकार इन अंतर्माध्यमिक रूपों के बीच काम की तलाश में आ जुटे। न्यू थिएटर के प्रतिभावान संगीतकारों ने *ग़ज़ल* और *ठुमरी* जैसी ललित सांगीतिक विधाओं से खेलते हुए ऐसी विशिष्ट शैली की रचना की, जिनमें गीतों के भावों को स्पष्ट और भावनात्मक रूप से उचारने का अवकाश था। भास्कर चंद्रावरकर ने इसे 'ब्रह्मो-बंगाली' संगीत की एक प्रवृत्ति के रूप में चिह्नित किया है, जिसका उपयोग कलकत्ता की शहराती थिएटर कंपनियों ने भी किया था।[18] इसी दौरान रवींद्र संगीत, ठुमरी, भजन, कीर्तन और ग़ज़ल जैसी ललित शास्त्रीय विधाओं की स्वभावीकृत प्रस्तुतियाँ कुंदन लाल सहगल, कृष्ण चंद्र डे और पहाड़ी सान्याल जैसे कलाकारों के स्वरों में राय चंद बोराल, कमला दास गुप्ता और पंकज मलिक जैसे संगीतकारों के निर्देशन में पेश और रिकॉर्ड की जा रही थीं।

कुंदन लाल सहगल को अपने गायन में शायरी और संगीत के अनोखे मिश्रण को परोसने की दिशा में अग्रणी माना जाता है। उनकी ग़ैर-फ़िल्मी ग़ज़लें निजी कंपनियों के प्रबंधकों के प्रयास से ध्वन्यांकित तवों के रूप में श्रोताओं को उपलब्ध थीं और यह सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि उन्हें रेडियो पर भी सुना जा सकता था। बाद में सहगल ने फ़िल्मों के लिए कई गज़लें गाईं। मीडिया तकनीकों के संजाल द्वारा निर्मित अंतर्धारा से जिस नए सौंदर्यशास्त्र का उदय हुआ उसे बेहतर ढंग से समझने के लिए कुंदन लाल सहगल की जीवनी से हमें काफ़ी मदद मिल सकती है। सहगल को प्रेमांकुर अतोर्थी द्वारा निर्देशित कलकत्ता के न्यू थिएटर की फ़िल्म *मोहब्बत के आँसू (1932)* में किस तरह गायक-नायक के रूप में आगंतुक भूमिका मिली, इसके बारे में जीवनियों में वर्णित मुख़्तलिफ़ कहानियाँ हैं। एक कहानी यह है कि सहगल 1931 में कलकत्ता रेडियो स्टेशन की खोज थे जहाँ वे एक ऑडिशन के लिए ग़ज़ल गाने आए थे, जब कि कुछ अन्य कहानियों में बताया गया है कि एस्पलेनेड (चौरंगी) पर पान की एक दुकान पर गुनगुनाते हुए पाए गए थे, कुछ का मानना है कि वे मेट्रो सिनेमा के बाहर मिले। कुछ अन्य वर्णनों में ज़िक्र मिलता है कि एक फ़िल्म वितरक के सगाई समारोह में एक *निजी महफ़िल* में गाते हुए सहगल ने न्यू थिएटर के निर्माताओं को किस तरह मुतास्सिर कर दिया था (शरद दत्त 2007; नेविल 2011)। इन कहानियों की सच्चाई की परख में न उलझते हुए मेरी दिलचस्पी उन संजालों और भूगोल की शिनाख़्त करने में है जिसमें कलाकारों, प्रतिभाखोजियों और संगीतकारों ने एक ऐसा आपसी दिल का रिश्ता बनाया जो उभरते तकनीकी माध्यमों का इस्तेमाल कर नए रूपों की रचना करने में कामयाब हुआ। सहगल से जुड़ी हर किंवदंती दरअसल एक ऐसी घटना का दृश्यात्मक बयान है जहाँ तकनीकी और सामाजिक कल्पना साथ आकर ध्वन्यात्मक अनुगूँज पैदा करती है। हर बयान आवाज़ को पकड़े रखने की लालसा है, कि इसे दर्ज कर लो इसके पहले कि यह फिसल जाए।

[18] वही, (1987) : 11

इस श्रव्यात्मक आवेश के माध्यमीकृत संदर्भ को ध्यान में रखना ज़रूरी है : यह किसी श्रव्य पुनर्जागरण से कम नहीं था, जिसका सूत्रपात ग्रामोफ़ोन, रेडियो और सिनेमा की संयुक्त उपस्थिति से संभव हुआ था।

न्यू थिएटर्स ने 1933 में प्रेमांकुर अतोर्थी की *यहूदी की लड़की* रिलीज़ की, जिसमें कुंदन लाल सहगल द्वारा गाई ग़ालिब की मशहूर ग़ज़ल 'नुक्ताचीं है ग़म-ए-दिल' पेश की गई, जिसने लोकप्रिय सिनेमाई विधा के रूप में ग़ज़ल के लहज़े को निर्धारित करने में अहम भूमिका निभाई। राघव मेनन के अनुसार :

> सहगल ने ग़ज़ल को गाने की जो तकनीक अपनाई वह उनकी अपनी ईजाद रही होगी। अगर ग़ालिब ने उन्हें *नुक्ताचीं* की बेहतरीन अदायगी करते हुए सुना होता तो यह ग़ौर करके ख़ुश होते कि सहगल ने कैसे उनके अल्फ़ाज़ को बग़ैर बाजे-गाजे के और सीधे दिल से उतार कर रख दिया। सहगल की ग़ज़ल का संगीत चूल्हे पर रखी पानी की केतली के नीचे जलती मद्धम लौ की तरह है। दर्द से डबडबाते शब्द और संगीतकार की कोशिश मिलकर आपको यह एहसास कराती है कि ख़ूबसूरत छंदों के मार्मिक सफ़र की हमसफ़र दरअसल धुन की लौ है।[19]

गीतों के भावों को रेखांकित करते चलने की उनकी विशिष्ट शैली ने ग़ज़ल को लोकप्रिय बनाने में सहगल को एक ऐतिहासिक भूमिका प्रदान की। न्यू थिएटर्स में शामिल होने के बाद भी सहगल ग़ज़ल गाते रहे, जिनमें से अधिकांश ग़ैर-फ़िल्मी अल्बम के रूप में हिन्दुस्तान रिकॉर्ड के द्वारा ध्वन्यांकित करके बेची गईं।[20] अहम बात यह कि ग़ालिब और सीमाब अकबराबादी जैसे चुनिंदा शायरों की ग़ज़लें गाकर, सहगल ने गायक और शायर के बीच एक अनोखी साझेदारी की ज़मीन तैयार की। प्राण नेविल लिखते हैं :

> सहगल पहला कलाकार था जिसके ग़ालिब को गाने का अंदाज़ इतना लोकप्रिय हुआ, और इस प्रकार शायर को उन लोगों के बीच भी प्रसिद्धि और लोकप्रियता हासिल हुई जो उर्दू दाँ नहीं थे... ग़ालिब के कृतित्व से सहगल का चयन अद्भुत था और यही चयन सोहराब मोदी द्वारा 1954 में निर्मित *मिर्ज़ा ग़ालिब* में भी दोहराया गया।[21]

सहगल की ग़ज़लों के निजी अल्बम की लोकप्रियता ने श्रव्य क्षेत्र में सांगीतिकता के एक नए प्रभाव क्षेत्र का निर्माण किया, और आम श्रोताओं तथा शौक़िया गायकों ने सहगल की गायकी का अनुकरण करना शुरू कर दिया। सामग्री के लिए ग्रामोफ़ोन उद्योग की

---

[19] राघव मेनन (1989) : 112-13.

[20] सुरेश चाँदवणकर के बताये आँकड़ों के अनुसार, सहगल साहब ने 33 ग़ज़लें रिकॉर्ड कीं. उनके रिकॉर्ड ज्याँ-ओ-फ़ोन, एचएमवी और कोलंबिया रिकॉर्ड्स द्वारा भी रिलीज़ किए गए : http:// members.tripod.com/ oldies_ club/ klsaigal.htm. 15 दिसम्बर, 2016 को देखा.

[21] सोहराब मोदी (2011) : 52-53.



चित्र 1: एचएमवी–ईसीएलपी 2640 का रिकॉर्ड कवर। अपनी अलहदा भावात्मक शैली में गाकर कुंदन लाल सहगल ने ग़ज़ल श्रोताओं की एक नयी जमात खड़ी की. इस ग्रामोफ़ोन रिकॉर्ड के केंद्र में चित्र *यहूदी की लड़की* (1933) से है जिसके लिए सहगल ने ग़ालिब की *नुक्ता चीं है ग़म-ए-दिल* गाया.

अदम्य भूख ने ऐसी प्रतिभाओं की एक नई खेप पैदा कर दी जिन्होंने निजी महफ़िलों में अवसर देने वाले रसिकों को निराश नहीं किया। ध्वन्यांकित प्रारूप में अपनी अनुकरणीय शैली में ग़ालिब की शायरी को उकेर कर सहगल ने ग़ज़ल का एक नया श्रोता समुदाय खड़ा करने में एक अहम भूमिका निभाई (चित्र 9.1)। अदबी शायरी पर ज़ोर देने के साथ-साथ शायरों की पहचान को रेखांकित करने के सहगल के अंदाज़ ने ग़ज़ल को आसानी से पहचानी जाने, उसको याद रखने और बार-बार सुने जाने के लिए मुफ़ीद बनाया। इसके अलावा, ग़ज़ल का सांगीतिक रूप भी सावधानीपूर्वक गढ़ा गया: तवे के एक ओर तीन मिनट का ध्वन्यांकन ही संभव था लिहाज़ा पूर्व प्रकाशित, किंचित लंबी ग़ज़लों के चुनिंदा अश'आर ही गाकर उनमें भरे जा सकते थे। तीन मिनट बीस सेकंड में ग़ज़ल गाने के इसी अनुशासन के कारण हर सुबह सात बजकर सत्तावन मिनट में रेडियो सीलोन के श्रोताओं तक कुंदन लाल सहगल की आवाज़ पहुँच जाया करती थी। फ़िल्मों के लिए शायरी के ऐसे अंश चुने जाते थे जो सहल उर्दू में और फ़िल्म की कहानी से भी मेल खाते थे। इस तरह विविध श्रोताओं पर अपनी पकड़ बनाये रखने के क्रम में ग़ज़ल का पाठ मौखिक, प्रकाशित और श्रव्य माध्यमों के अनुसार लगातार बदलता रहा।

रूमानियत से लबरेज़ और अभिव्यक्ति में समृद्ध ग़ालिब की ग़ज़लों को सिनेमा में एक नई जगह मिल गई। हालाँकि, पत्रकारों और काव्य रसिकों की शिकायत रही है कि फ़िल्मी गाने की माँग के अनुसार मूल शब्दों में रद्दोबदल कर दिया जाता था। *फ़िल्मफेयर* के एक लेख में, चित्रदूत ने चुटकी ली कि ऐतिहासिक अनारकली से कोई सौ वर्षों बाद लिखी गई ग़ालिब की *ग़ज़ल* का प्रयोग करने के चलते इम्पीरियल की *अनारकली* (1935) 'एक कालदोष का शिकार' हो गई है।[22] और भी तरीक़ों से ग़ालिब की शायरी को फ़िल्मी गानों के लिए अनुकूलित किया गया था। एक लोकप्रिय ब्लॉग पर हुई एक परिचर्चा ने ग़ालिब की एक मशहूर पंक्ति के एक दिलचस्प उदाहरण की ओर मेरा ध्यान खींचा जिसे फ़िल्म *ठोकर*(1939) के लिए वहीदन बाई द्वारा गाई एक ग़ज़ल में चतुराईपूर्वक उपयोग किया गया है। यद्यपि इस ग़ज़ल के बोल पी.एल. संतोषी ने लिखे थे लेकिन इसका श्रेय ग़ालिब को भी दिया गया है। भ्रम इसलिए होता है क्योंकि ग़ज़ल का

[22] चित्रदूत (1969) : 42.

एक शेर ग़ालिब की एक मशहूर ग़ज़ल से लिया गया है :

उसको देखे से जो आ जाती है मुँह पर रौनक़
वो समझते हैं कि बीमार का हाल अच्छा है।

पी.एल. संतोषी द्वारा लिखी ग़ज़ल की शुरुआती पंक्तियाँ ये हैं :

अच्छे ईसा हो मरीज़ों का ख़्याल अच्छा है
हम मर जाते हैं तुम कहते हो हाल अच्छा है।

इस ब्लॉग पर उर्दू शायरी के क़द्रदानों ने अनुमान लगाया कि हो सकता है संतोषी ग़ालिब के शेर से प्रभावित रहे हों क्योंकि वे अपनी पंक्तियों में ग़ालिब की जैसी ही बहर का इस्तेमाल करते हैं (अतुल 2012)। लेकिन यह भी संभव है कि संतोषी ने जानबूझकर ग़ालिब का एक मशहूर शेर उधार ले लिया हो, ताकि शब्दों की सरलता और मानी की गहराई में संतुलन बना रह सके। लोगों के बीच इस ग़ज़ल या शेर की जीवंत वाक़फ़ियत का फ़ायदा उठाने के साथ-साथ उसे फ़िल्मी गीत के रूप में इस्तेमाल करने की मंशा इस चयन और संशोधन में साफ़ है।

बेगम अख़्तर और ग़ज़ल

पिछली सदी के चौथे दशक में ध्वन्यांकित संगीत के दूसरे और बाद के चरणों में, ग़ज़ल गायकी की सबसे प्रमुख प्रतिनिधियों में से एक, फ़ैज़ाबाद की अख़्तरी बाई का उदय भी उतना ही महत्त्वपूर्ण था। अख़्तरी से बेगम अख़्तर के रूप में ख्याति मिलने तक उनकी यात्रा का दो दशकों से अधिक का इतिहास है जिसमें उन्होंने निजी महफ़िलों, थिएटर, ग्रामोफ़ोन कंपनियों, रेडियो और सार्वजनिक संगीत कार्यक्रम को समान पटुता से अपनी आवाज़ बख़्शी (चित्र, 9.2)। अख़्तरी ने सुगम शास्त्रीय संगीत में सशक्त प्रशिक्षण की अपनी जड़ों से ग़ज़ल गायकी के आशु-रूप को बरक़रार रखते हुए अपनी एक अलग पहचान बनाकर रखी। हालाँकि अवध की महफ़िलों ने अख़्तरी के संगीत के जुनून और अभ्यास को खाद-पानी दिया, कलकत्ता शहर ने उनकी आवाज़ को एक बहुत बड़ी आबादी तक पहुँचाया। मेगाफ़ोन रिकॉर्ड्स के साथ एक अनुबंध के तहत अख़्तरी ने कई तवे रिकॉर्ड किए जिनमें से बहज़ाद लखनवी द्वारा लिखी मशहूर ये ग़ज़ल भी है :

दीवाना बनाना है तो दीवाना बना दे।

इस उर्वर दौर में अख़्तरी फ़िल्मों, थिएटर और लखनऊ की महफ़िलों में, कलकत्ता और अन्य जगहों पर भी गा रही थीं। सन 1942 में, अख़्तरी को महबूब ख़ान की *रोटी* में गायिका-अभिनेत्री का एक प्रमुख किरदार दिया गया। *रोटी* के संगीतकार अनिल विश्वास ने लिखा है

कि वह अख़्तरी द्वारा गाई एक ग़ैर फ़िल्मी ग़ज़ल 'दीवाना बनाना है तो दीवाना बना दे' की 'सदाबहार' धुन को फ़िल्म की ग़ज़ल के लिए उठाने का लोभ संवरण नहीं कर सके।

रहने लगा है दिल में अँधेरा तेरे ब-ग़ैर।

आरज़ू लखनवी की इस ग़ज़ल ने अख़्तरी बाई को अब फ़िल्मों में भी इसी ग़ज़ल को अदा करने का अवसर दिया। यह दिखाता है कि किस तरह संगीतकार, एक विशेष भंडार से धुन लेते हुए, ग़ज़ल की बारीकियों को उभारने में महारत रखने वाली अख़्तरी बाई को सुनने के अनुभव को फिर से देख पाने का भी मौक़ा श्रोताओं को दे रहे थे (मेंहँदी 1975)।

हालाँकि अख़्तरी की ख्याति ग़ज़लों, दादरा और टप्पा की महान गायिका के रूप में हुई, मैं ग़ज़लों के संगीतकार के रूप में उनकी भूमिका को रेखांकित करना चाहूँगी जो कि एक कलाकार के तौर पर उनकी अलग छवि पेश करता है। बक़ौल जी.एन. जोशी, 'अख़्तरी के पास उपयुक्त ग़ज़ल चुनने और उसे उपयुक्त धुन से सजाने की अलौकिक क्षमता थी'।[23] ग़ालिब, मीर, दाग़ और मोमिन जैसे ऐतिहासिक शायरों की शायरी को संगीतबद्ध करने के अलावा अख़्तरी ने अपने कुछ प्रतिभाशाली समकालीनों और लोकप्रिय शायरों, मसलन फ़िराक़ गोरखपुरी, हाफ़िज़ जालंधरी, बहज़ाद लखनवी, जिगर मुरादाबादी और शकील बदायूनी के साथ रचनात्मक संबंध बनाया।[24] बेगम अख़्तर पर लिखे अपने संस्मरण में शांति हीरानंद ने उनके होटल के कमरे में शायरों और संगीत प्रेमियों के साथ हुए आशु सत्रों का वर्णन किया है जब वह अपने संगीत कार्यक्रम में शामिल होने के लिए दिल्ली जाया करती थीं।[25] नौशाद द्वारा वर्णित बम्बई में 1940 के दशक में शायरों की संगति में होने वाली महफ़िलों का ज़िक्र मैं पहले ही कर चुकी हूँ। कहना न होगा कि बेगम अख़्तर ने पुरुषों की सामाजिक और साहित्यिक इलाक़े में न केवल एक कलाकार बल्कि एक संरक्षक के रूप में भी प्रवेश किया। हीरानंद के अनुसार, बहज़ाद लखनवी उनके 'दरबारी कवि' थे जिन्होंने अपने अधिकांश शेर उनको ध्यान में रखकर ही लिखे थे। आख़िर लखनवी की लिखी ग़ज़ल 'दीवाना बनाना है तो दीवाना बना दे' ही तो थी जिसने महबूब ख़ान की रोटी से कहीं पहले अख़्तर को सुर्ख़ियों में ला दिया था। हीरानंद द्वारा वर्णित एक और दिलचस्प प्रसंग बॉम्बे सेंट्रल रेलवे स्टेशन में हुई मुठभेड़ है जहाँ शकील बदायूनी ने अख़्तर को एक चिट सौंपी। बॉम्बे से लखनऊ वापस आते हुए अख़्तर ने *ऐ मोहब्बत तेरे अंजाम पे रोना आया* की धुन तैयार की, जिसे एक सप्ताह के अंदर अख़्तरी ने लखनऊ रेडियो पर गाया और जो उनकी सफलतम ग़ज़लों में से एक साबित हुई।[26]

बहुत सारा शोध बी.वी. केसकर की प्रसारण नीतियों और ऑल इंडिया रेडियो के 1950 के दशक की राष्ट्रवादी परियोजना के तहत संगीत के प्रतिमानीकरण पर केंद्रित है, उस अनुपात में

[23] जी.एन. जोशी (1984) : 69.

[24] मेरी जानकारी में बहुत-सी महिलाओं ने तवायफ़ पृष्ठभूमि से आकर भी कवियों के साथ एक रचनात्मक रिश्ता साझा किया. लेकिन यहाँ मैं जो रेखांकित करना चाहती हूँ वो यह कि बेगम अख़्तर के रचनात्मक रिश्ते सार्वजनिक दायरे में अधिक थे.

[25] शांति हीरानंद (2005) : 140.

[26] वही : 135.



चित्र 2: बेगम अख़्तर ने अपने समकालीनों और लोकप्रिय शायरों के साथ रचनात्मक संबंध बनाया और रेडियो व निजी महफ़िलों में गाकर ग़ज़ल को लोकप्रिय बनाया। चित्र साभार : संगीत नाटक अकादमी.

ऑल इंडिया रेडियो (एआईआर) के आरंभिक इतिहास पर कम सामग्री उपलब्ध है। जिस समय फ़नकार और ग्रामोफ़ोन कंपनियों के प्रबंधक 1920 और 1930 के दशक के दौरान नई प्रतिभाओं की तलाश कर रहे थे, उसी दौर में एआईआर के प्रसारण केंद्र नए बुनियादी संजालों का हिस्सा बनकर उभरे जहाँ नया सौंदर्य बोध विकसित हो रहा था। जब 1940 के दशक में औपनिवेशिक प्रशासन केवल नौ शहरों से प्रसारण कर रहा था, लखनऊ में एक रेडियो स्टेशन की मौजूदगी दिखाती है कि कैसे एक ऐसे शहर के सांस्कृतिक जीवन के पुनर्गठन में रेडियो जैसे संस्थान ने एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई जो पहले से मौखिक उर्दू शायरी और उस पर आधारित सांगीतिक प्रदर्शन की परंपराओं का पालना रहा था। डेविड लेलीवेल्ड ने बताया है कि एआईआर के प्रसारण केंद्रों की भौगोलिक अवस्थिति 'यह तय करती थी कि किस तरह के लोगों को माइक्रोफ़ोन पर बुलाया जाएगा'।[27] अख़्तरी बाई ऐसी ही एक फ़नकार थीं जिन्हें लखनऊ के केंद्र निर्देशकों द्वारा उनकी ठुमरी, दादरा और ग़ज़लों को रिकॉर्ड करने के लिए राज़ी किया गया था। शायद रेडियो ने अख़्तरी को उनके जीवन के एक ऐसे समय में गुमनाम रहकर गाने की सहूलियत और अंततोगत्वा पहचान दोनों प्रदान की, जब वह लखनऊ के एक संभ्रांत परिवार से ताल्लुक़ रखने वाले वकील से शादी के बाद खुलकर गाने के बारे में लाचार महसूस कर रही थीं। आकाशवाणी के माध्यम से ही अख़्तर ने ख़ुद को एक गुणी फ़नकार के रूप में स्थापित किया। सन 1951 में, वह दिल्ली में शंकर लाल उत्सव में गाने के लिए आमंत्रित की गईं तो उनका परिचय बेगम अख़्तर के रूप में दिया गया था। बेगम अख़्तर की जीवनी में, रीता गांगुली लिखती हैं :

> और अब यह दिनचर्या-सी बन गई थी कि जब उनके शौहर अदालत चले जाते, बेगम साहिबा आकाशवाणी की ओर भागतीं, अपना कार्यक्रम रिकॉर्ड करातीं और पति की वापसी के पहले लौट आतीं। संगीतकार और शानदार हारमोनियम वादक मदन मोहन के

[27] डेविड लेलीवेल्ड (1994) : 116.

> साथ अक्सर होने वाली बातचीत में वे उनको वली की याद दिलाते। उन्होंने ग़ौर किया कि इन छह सालों के दौरान, प्रदर्शन का संसार पूरी तरह बदल चुका है, और सारे संगीतकार, शायर, नाटककार आकाशवाणी के इर्द-गिर्द चक्कर काट रहे थे। संगीतकारों और संगीतज्ञों के साथ हुए इस संपर्क ने उन्हें समकालीन मौसिकी से अवगत कराया।[28]

लखनऊ रेडियो स्टेशन के गांगुली के वर्णन से शायरों, संगीतकारों और नाटककारों को साथ लाने वाली एक ऐसी जगह का पता मिलता है जो हमें यह भी बताती है कि कैसे बुनियादी संरचना और सौंदर्यबोध एक-दूसरे के साथ गुत्थम-गुत्था हैं। (लार्किन 2013)। लखनऊ केंद्र पर काम करने वाले तलत महमूद और मदन मोहन सहित कई फ़नकार सिनेमा में अपनी प्रतिभा दिखाने मुंबई चले गए। जग ज़ाहिर है कि, सिनेमा के ग़ज़ल सम्राट के रूप में मशहूर होने वाले मदन मोहन बेगम अख़्तर से तब मिले जब वह आकाशवाणी लखनऊ में कार्यक्रम सहायक के रूप में कार्य कर रहे थे, और दोनों लंबे समय तक दोस्त बने रहे ।[29] एक अन्य ग़ज़ल विशेषज्ञ रोशन जिन्होंने आकाशवाणी के दिल्ली केंद्र में बारह सालों तक काम किया जहाँ वे बेगम अख़्तर से मिले जो नियमित रूप से वहाँ रिकॉर्ड किया करती थीं। इसी प्रकार शांति हीरानंद आकाशवाणी पर *महफ़िल* जैसी रिकार्डिंग के बारे में लिख चुकी हैं जिसमें अख़्तर और कैफ़ी आज़मी आशु सत्र में शेर पढ़ते थे जिन्हें अख़्तर फ़ौरन संगीतबद्ध करती जाती थीं।[30]

पिछली सदी के चौथे और पाँचवें दशक में एक गायिका-अभिनेत्री के रूप में और 1950 में कुछ गानों के लिए एक पार्श्वगायिका के रूप में काम करने के उनके संक्षिप्त कार्यकाल के सिवाय यद्यपि अख़्तर ने हिंदी की व्यावसायिक फ़िल्मों के लिए बमुश्किल ही गाया, एक सांगीतिक विधा के रूप में ग़ज़ल के लिए श्रोताओं का लोकप्रिय आधार बनाने में उन्होंने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई जिसने सिनेमा में इसकी उपस्थिति को मज़बूत बनाने में सहायता की।[31] मदन मोहन की 'कलात्मक रचनात्मकता' पर बेगम अख़्तर के प्रभाव को रेखांकित करते हुए, जी.एन. जोशी ने सुझाया है कि बेगम अख़्तर द्वारा गाई हुई अनेक गज़लों को उन्होंने अपनी फ़िल्मी धुनों में पुनः पेश किया।[32] दीगर, जीवनियों में भी उल्लेख मिलता है कि मुंबई फ़िल्म उद्योग के शायरों और संगीतकारों के साथ उनके घनिष्ठ संबंध रहे हैं जिनमें कैफ़ी आज़मी, शकील बदायूनी, मदन मोहन और ख़य्याम जैसे नाम शामिल हैं।

---

[28] रीता गांगुली (2008) : 129.

[29] जी.एन. जोशी (1984) : 70.

[30] यह रिकॉर्डिंग यूट्यूब में देखी जा सकती है : https:// www.youtube.com/ watch?v=FvSi6ZlpL6E(15, दिस. 2016 को देखा गया).

[31] बेगम अख़्तर ने 1950 में मदन मोहन द्वारा रची गई दो *ग़ज़लें* गाईं : *दाना पानी में* 'ऐ इश्क़ मुझे कुछ और याद नहीं' *(1953)* और *एहसान में* 'हमें दिल में बसा भी लो' *(1954)*. दुर्भाग्यवश बाद वाले गाने का रिकॉर्ड उपलब्ध नहीं है.

[32] जी.एन. जोशी (1984) : 70.

पार्श्वगायन का युग और हिंदी सिनेमा में ग़ज़ल

> *चालीस के दशक में पार्श्वगायन और गीतकारों की भूमिका मज़बूती से स्थापित होने के बाद ग़ज़ल एक नए चरण में प्रवेश हुई।* (अनिल बिस्वास, 1975)

1940 के दशक में भारतीय सिनेमा में स्टूडियो युग के अंत की शुरुआत हुई जबकि मुंबई उद्योग का सबसे महत्त्वपूर्ण केंद्र बन गया। फ़िल्म संगीत के क्षेत्र में सबसे बड़ा परिवर्तन था गायक-अभिनेताओं के युग का धीरे-धीरे तिरोहित होना, जिससे स्वतंत्र पार्श्वगायन के लिए रास्ता तैयार हुआ। पार्श्वगायन युग के आने के बाद फ़िल्म संगीत के प्रत्येक विभाग में विशेषज्ञों की माँग बढ़ी। विशेषज्ञता पर ज़ोर के इसी चरण के दौरान केदार शर्मा और डी.एन. मधोक जैसे गीतकारों को उद्योग में महत्त्व मिलना शुरू हुआ। 1940 के दशक में प्रगतिशील लेखक आंदोलन का उभार भी हुआ। कैफ़ी आज़मी, मजरूह सुल्तानपुरी, साहिर लुधियानवी और जाँ निसार अख़्तर जैसे इस आंदोलन के कुछ दिग्गज शायर फ़िल्मी गीतकार बने और साधारण, रोज़मर्रा की हिंदुस्तानी ज़बान में ग़ज़लें लिखकर इसे श्रोताओं के बड़े हिस्से तक पहुँचाया।

गायक-अभिनेता युग की समाप्ति के साथ, प्रतिभाशाली पार्श्व गायकों की एक नई पौध जैसे लता मंगेशकर, मुकेश, मोहम्मद रफ़ी, गीता दत्त, आशा भोसले, तलत महमूद और मन्ना डे पर फ़िल्म उद्योग की निर्भरता बढ़ गई। गाने की माँग के अनुसार पार्श्वगायक काफ़ी समय गाने के अभ्यास, तलफ़्फ़ुज़, भावाभिव्यक्ति, साँसों के उतार-चढ़ाव और सुरों को साधने में ख़र्च करने लगे (झींगन 2009)। इससे पर्दे पर संदर्भ और गाने में अभिव्यक्त भाव पर ज़ोर देने और दर्शकों पर समग्र प्रभाव पैदा करने में अभिनेता को मदद मिली। कुल मिलाकर पार्श्वगायन की तकनीक ने अभिनेताओं की लोकप्रियता में महत्त्वपूर्ण रूप से योगदान दिया।

कलकत्ता में न्यू थिएटर्स की धीमे अवसान ने सहगल, अनिल बिस्वास और बाद में तलत महमूद जैसे फ़नकारों को मुंबई जाने के लिए मजबूर कर दिया था। लखनऊ में पैदा और बड़े हुए तलत महमूद महफ़िल संस्कृति से काफ़ी लाभान्वित हुए थे। अंबरीश मिश्र (1990) ने उल्लेख किया है कि 'यह लखनवी तहज़ीब थी जिसने तलत महमूद को उर्दू शायरी, साहित्य और संगीत की दुनिया में उतारा।' किंतु ज़्यादा महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ग्रामोफ़ोन रिकॉर्ड और रेडियो में कुंदनलाल सहगल की आवाज़ सुनकर महमूद ने अपनी स्वयं की अंतराभिमुखी और सूक्ष्म गायन शैली विकसित की। निजी महफ़िलों में गाने से लेकर लखनऊ में आकाशवाणी के लिए गाने का अवसर मिलने तक महमूद का सफ़र कुछ हद तक सहगल की तरह ही रहा। अंततः, फ़य्याज़ हाशमी द्वारा लिखित 'तस्वीर तेरी दिल मेरा बहला न सकेगी' जैसी ग़ज़लों के ग्रामोफ़ोन रिकॉर्डों के माध्यम से महमूद ने ख्याति हासिल कर ली। बॉम्बे में उनका यह पहला ब्रेक था जब उन्हें *आरज़ू* (1950) के लिए 'ऐ दिल मुझे ऐसी जगह ले चल जहाँ कोई न हो' गाने का मौक़ा मिला। अनिल बिस्वास के संगीत और मजरूह सुल्तानपुरी



चित्र 3 : तलत महमूद की भावपूर्ण आवाज़ में गाये गए फिल्म *आरज़ू* के *ऐ दिल मुझे ऐसी जगह ले चल* में दिलीप कुमार की अदायगी (निर्दे. शाहिद लतीफ़, 1950).

द्वारा लिखा यह गाना इस बात का सटीक उदाहरण था कि कैसे एक भावपूर्ण पार्श्व आवाज़ एक अभिनेता की अदाकारी में चार चाँद लगा सकता था।

दृश्य बंध और मिज़ाज के लिहाज़ से, *शाहजहाँ* (1946) में सहगल द्वारा गाई ग़ज़ल इस ग़ज़ल के काफ़ी क़रीब थी :

ग़म दिए मुस्तक़िल, इतना नाज़ुक है दिल
ये न जाना, हाय हाय ये ज़ालिम ज़माना।

नौशाद के संगीत और मजरूह सुल्तानपुरी के लिखे गाने जैसे 'ग़म दिए मुस्तक़िल' से भावपूर्ण आवाज़ और गीतों की गहरी समझ से मेल खाने वाली सहगल की मुलायम गायकी की शैली सामने आई। फ़िल्म में सहगल ने दरबारी गायक की भूमिका निभाई जिसने मजरूह सुल्तानपुरी और ख़ुमार बाराबंकवी को 'कब बरबाद करेगी हमें मालूम न था' और 'जब दिल ही टूट गया, हम जी के क्या करेंगे' जैसे गाने लिखने का अवसर दिया। हम यहाँ उल्लिखित तीनों गानों में, सहगल को स्वगत गाते हुए, अकेले उदास व्यक्ति के रूप में देखते हैं। कैमरा दूर रहता है और उनकी अपेक्षाकृत सख़्त काया के बहुत नज़दीक जाने से बचता है। इसके विपरीत, *आरज़ू* के गाने के दृश्यबंध में दिलीप कुमार तलत महमूद के गाये गाने में अदाकारी कर रहे हैं जहाँ तलत की आवाज़ में हलकी सी थरथराहट नायक की नज़ाकत को और बढ़ा देती है। 'ऐ दिल मुझे ऐसी जगह ले चल' के अंतिम अंतरे में, दिलीप कुमार एक मिड-शॉट में कैमरे की ओर देखते हुए अपनी नाज़ुक स्थिति का दर्द अनुभव करने के लिए दर्शकों/श्रोताओं को आमंत्रित करते हैं (चित्र 9.3)।

सांगीतिक विधा के रूप में ग़ज़लों के अपने अध्ययन में, रेगुला क़ुरैशी (1990) का मानना है कि सांगीतिक अभिव्यक्ति गीतों के साथ एक व्यक्तिगत संबंध बनाने में गायक की मदद करती है। तलत महमूद की आवाज़ की सहायता से पर्दे पर दिलीप कुमार की संवेदनशील



चित्र 4: एचएमवी–ईसीएलपी 2265 का रिकॉर्ड कवर. 1950 के दशक में दिलीप कुमार के लिए गाकर तलत महमूद ने हिन्दी फ़िल्मों में ग़ज़ल को लोकप्रिय बनाया. तलत की आवाज़ में हल्की सी थरथराहट नायक की नज़ाकत और बढ़ा देती है. जैसा कि मेहदी हसन ने बताया, दोनों की जोड़ी के बड़ी संख्या में क़द्रदान पूरे उपमहाद्वीप में थे. चित्र लेखक के व्यक्तिगत संग्रह से.

अदाकारी शब्दों को अपना बना लेती है। 1950 के दशक के शुरुआती सालों में ही दिलीप कुमार की पहचान ऐसे अग्रणी सितारे के रूप में बन गई थी जिन्हें अपनी अदाकारी की नैसर्गिक शैली, स्वाभाविकता और उर्दू भाषा पर बेदाग़ महारत के लिए जाना जाता था, और इस प्रकार उन्होंने लोक मानस में ग़ज़ल की सांगीतिक विधा को ठोस स्वीकार्यता हासिल करने में मदद की।[33] लेकिन जैसा कि मेघनाद देसाई ने उल्लेख किया है, उनकी फ़िल्मों के समीक्षकों ने ग़ौर किया कि दिलीप कुमार ख़ुद को ट्रैजिक नायक के किरदार में ख़ुद को दोहरा रहे थे ।[34] मेरा मानना है कि इतने सालों के दौरान दिलीप कुमार के लिए तलत महमूद द्वारा गाए जाने वाले गानों ने उन्हें 'ट्रैजिक हीरो' के रूप में पहचान दिलाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

तलत और दिलीप कुमार की जोड़ी, ग्रामोफ़ोन रिकॉर्ड और रेडियो के ज़रिये इन गानों की लहर का निर्माण न केवल भारत में बल्कि उपमहाद्वीप में भी देखी गई (चित्र 9.4)। कहा गया है कि ख़ुद को एक ग़ज़ल गायक के रूप में स्थापित करने की कोशिश करते हुए, मेहदी हसन ने रावलपिंडी में एक संगीत समारोह में तलत महमूद की दो ग़ज़लों को गाने के लिए चुना, जिसने श्रोताओं को 'मंत्रमुग्ध' कर दिया (*द हिंदू*, (1991)। दोनों गज़लें पर्दे पर दिलीप कुमार के ऊपर फ़िल्माई गई थीं। जैसा कि मेहदी हसन ख़ुद बताते हैं :

> तलत साब की आवाज़ के माध्यम से मुझे अपने गले में सोने के ख़ज़ाने का सुराग़ मिला। 1952 का साल था, जब दिलीप कुमार जितना हिंदुस्तानियों के लिए 'ट्रैजडी किंग' थे उतना ही हम पाकिस्तानियों के लिए भी। और तलत साब उन दिनों इस महान आशिक़ की आवाज़ थे। मेरी कमसिन उम्र में 'एक मैं हूँ एक मेरी बेकसी की शाम है', और 'हुस्न वालों को न दिल दो, वो मिटा देते हैं' तलत और दिलीप साब दोनों ने मुझ पर अमिट छाप छोड़ी।

आइए हसन के ज़िक्र में आई दो ग़ज़लों को समझते हैं।

[33] ठीक उसी साल *बाबुल* (1950) के लोकप्रिय गानों के माध्यम से दिलीप कुमार और तलत महमूद की जोड़ी स्थापित हुई.

[34] मेघनाद देसाई (2004) : 38-39.

महफ़िल शैली की ग़ज़ल

तलत महमूद की गाई और दिलीप कुमार द्वारा पर्दे पर जी गई *बाबुल* (1950) की ग़ज़ल 'हुस्न वालों को न दिल दो' में आवाज़ और शायरी को प्रमुखता देने के क्रम में साधारण लय में कम से कम वाद्य यंत्रों का इस्तेमाल करके संगीतबद्ध किया गया था। गाने की शुरुआत हारमोनियम में एक छोटे सुर के साथ होती है और कैमरा ऊषा (मुनव्वर सुल्ताना) पर केंद्रित रहता है जो गाने में प्रमुख श्रोता है। कैमरा दिलीप कुमार को अग्रभाग में फ्रेम करता है जबकि पृष्ठभूमि में तीन महिलाएँ श्रोता के रूप में बैठी हैं। चरित्रों को इस तरह फ्रेम करके और गायक व प्रमुख श्रोताओं के बीच इशारों और पॉइंट-ऑफ़-व्यू (मुखामुखम) शॉट्स का प्रयोग करके पूरे दृश्यबंध को महफ़िल शैली में प्रस्तुत किया गया है, जहाँ सुनना गायन की तरह ही अदाकारी का हिस्सा है। प्रत्येक शेर की शुरुआती पंक्ति बिना तबले की थाप के आशु शैली में गाई गई है। फिर यह पंक्ति दोहराई जाती है, इस प्रकार शेर की दूसरी पंक्ति में इससे उत्पन्न होने वाली प्रत्याशा और प्रतिक्रिया का निर्माण करती है। प्रत्येक अंतरा की पहली पंक्ति में कैमरा दिलीप कुमार पर ठहरता है, लेकिन उनकी भाव-भंगिमा और आँखों का संचालन श्रोताओं की उपस्थिति को उभारती है। कुछ ख़ास मौक़ों पर दिलीप कुमार आगे झुकते हैं और शाब्दिक खेल की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए हाथ फैलाते हैं। प्रत्येक शेर की अंतिम पंक्ति इसी प्रत्याशा को आगे बढ़ाने के लिए समयबद्ध है, क्योंकि पर्दे पर के श्रोता पहले से ही रदीफ़ और काफ़िया समझ चुके हैं। इन पलों में जब शब्दों के अर्थ बयान करने की कोशिश हो रही होती है, कैमरा मुनव्वर सुल्ताना पर ठहरता है जिससे वह गाने में मुख़ातिब है। पॉइंट-ऑफ़-व्यू (मुखामुखम) शॉट्स, जो शब्दों की ही तरह नाटकीय अंदाज़ में प्रस्तुत करने के लिए समयबद्ध हैं, श्रोताओं के बीच रदीफ़ और क़ाफिया साझी समझ को व्यंजित करने वाले आपसी इशारों के अंग बन जाते हैं, जिससे अदाकारी की इस अंतरंग शैली का आनंद और बढ़ जाता है। मौखिक, श्रव्य और सिनेमाई को एक साथ हरकत में लाकर एक सांगीतिक विधा के रूप में यहीं पर ग़ज़ल अपना काम करती है।



चित्र 5: ग़ज़ल में ज़नाना महफ़िल में नाज़ के किरदार में मीना कुमारी *नग़्मा-ओ-शेर की सौग़ात किसे पेश करूँ* में अदायगी करते हुये. (निर्दे. वेद-मदन, 1964).

इस्लामिक परिवेश वाली 1950 और 1960 के दशक की कई ऐतिहासिक और सामाजिक फ़िल्मों में मुशायरे और महफ़िलें ग़ज़ल पेश करने के लिए केंद्रीय स्थल बन जाते हैं, जहाँ गायक-शायर मोहब्बत की विभिन्न दशाएँ बयान करने का ऐसा मंच पाता है, जो फ्रांसिस प्रिचेट के



चित्र 6. एजाज़ के किरदार में सुनील दत्त मुशायरे में *इश्क़ की गर्मी-ए-जज़्बात किसे पेश करूँ* गाते हुये, वह ग़ज़ल में चतुराई पूर्वक मीना कुमारी के शुरुआती मिसरे को चुनता है. (निर्दे. वेद-मदन, 1964).

अनुसार 'महज़ ज़ाती नहीं' है।[35] *ताज महल* (1963) में, जहाँगीर के मुग़ल दरबारी मुशायरे में जब नायिका 'जुर्म-ए-उल्फ़त पे हमें लोग सज़ा देते हैं' गाती है तब उसके लिए यह अतिक्रमण का पल बन जाता है। साहिर लुधियानवी का लिखा हुआ यह गीत एक अद्भुत मिसाल है जिसके ज़रिये यह समझा जा सकता है कि फ़िल्मी रणनीतियाँ, संगीत और गीत श्रोताओं के बीच किस तरह की तरतमता का निर्माण करते हैं। जैसे ही मुमताज़ महल (बीना राय) गाना शुरू करती हैं, यह स्पष्ट हो जाता है कि ग़ज़ल के माध्यम से किसकी सत्ता को चुनौती दी जा रही है। कैमरा गायिका मुमताज़ महल और प्रमुख श्रोता नूरजहाँ के बीच इंटरकट करता रहता है और प्रत्येक शेर की अंतिम पंक्ति पर श्रोता की प्रतिक्रिया नुमायाँ होती है। महफ़िल शैली की दूसरी महत्त्वपूर्ण ग़ज़लें हैं : 'नग़मा-ओ-शेर की सौग़ात किसे पेश करूँ' और 'हाले दिल यूँ उन्हें सुनाया गया' (*जहाँआरा,* 1964)। ज़्यादातर महफ़िल-शैली की गज़लें बहुत कम साज़ के साथ सरल धुनों का उपयोग करती हैं, इनमें सांगीतिक अंतराल छोटे होते हैं ताकि आवाज़ और शायरी को बाक़ी तत्त्वों पर हावी होने का मौक़ा मिले। सच पूछा जाए तो इन ग़ज़लों में संगीत का प्रयोग मानी को परिवर्धित करने के लिए किया गया है (क़ुरैशी 1990)।

पर्दे पर प्रस्तुत की जाने वाली ग़ज़लों में भी महबूबा की प्रशंसा में गाये जाने वाले तारीफ़-गीत प्रमुख हैं। जैसे कि 'ये हवा ये रात ये चाँदनी' (1952) और 'चौदहवीं का चाँद हो' (1960), अथवा वे गाने जिनमें शायर भिन्न भावनात्मक स्थितियों का वर्णन करता है जिनसे वह गुज़र रहा है, जैसे कि :

तुझे क्या सुनाऊँ मैं दिलरुबा
तेरे सामने मेरा हाल है
(आख़िरी दाँव, 1958)

ऐ हुस्न ज़रा जाग तुझे इश्क़ जगाए
(मेरे महबूब, 1963)
दिल में एक जाने तमन्ना ने जगह पाई है
(बेनज़ीर, 1964)

[35] फ्रंचेस्का ओर्सीनी (सं.) (2007) : 18.

मोहब्बत ही न जो समझे वो ज़ालिम प्यार क्या जाने
(परछाई, 1952)

इन सभी ग़ज़लों में गायक और श्रोताओं के बीच शॉट/ रिवर्स शॉट वाला संपादन करके ग़ज़ल की ध्वन्यात्मक गुणवत्ता बढ़ायी गई है। इसके अलावा, आवाज़, धुन, पर्देतर सांगीतिक तत्त्व और शाब्दिक खेल जिसके तहत गायक शेर की अहम दूसरी पंक्ति को पहले रोकता है और फिर खोलता है – ये सब मिलकर एक गहरे भावनात्मक माहौल का सृजन करते हैं।

ये ग़ज़लें लिखे हुए रूप से लेकर गाए और सुने जाने तक के रूपांतरण को सहज ही रेखांकित करती हैं। गाने की ध्वन्यात्मक गुणवत्ता बढ़ाकर यह रूपांतरण उसकी भावात्मकता का विस्तार करता है। यह *ग़ज़ल* जैसी फ़िल्मों के दृष्टांत से स्पष्ट है, जहाँ मीना कुमारी एक शायरा का किरदार निभाती हैं। 'नग़्मा-ओ-शेर की सौग़ात किसे पेश करूँ' में, कैमरा महिला क़द्रदान श्रोताओं के साथ बैठी हुई मीना कुमारी को फ्रेम करता है, जिनमें से कुछ तो गाने के शब्दों को बाक़ायदा लिख रही हैं (चित्र 9.5)। उन्हें पता नहीं है लेकिन दर्शकों के लिए मौजूद नायक एजाज़ (सुनील दत्त) एक क्रांतिकारी शायर है जो तब तक ग़ज़ल के प्रति अपनी घृणा की घोषणा कर चुका था, लेकिन अब उसकी हवेली के बाहर टहलते हुए गायिका की शायरी और आवाज़ से अच्छा-ख़ासा प्रभावित नज़र आता है। मंत्रमुग्ध हुआ एजाज़ एक मुशायरे में ग़ज़ल ही गाने का निश्चय करता है। आग़ाज़ करते हुए चतुराईपूर्वक वह वही मिसरा चुनता है ताकि वह उस महिला का पता लगा सके जिसने 'नग़्मा-ओ-शेर की सौग़ात' गाया था। एजाज़ 'इश्क़ की गर्मी-ए-जज़्बात किसे पेश करूँ' गाता है (चित्र 9.6) और पुरुष श्रोता उसे दाद देते हैं, जबकि नाज़ आरा यानि मीना कुमारी और उसकी सहेलियाँ उसे चोरी की ग़ज़ल पढ़कर मुशायरा लूटने वाला उठाईगीर कहती हैं। चूँकि वह गाना जारी रखता है, हम मीना कुमारी को उसके जोशीले प्रदर्शन और चतुर शाब्दिक खेल के प्रति लट्टू होते हुए देखते हैं (चित्र 9.7)।

मिर्ज़ा ग़ालिब (1954) में, हम एक फ़क़ीर को ग़ालिब का क़लाम गाते हुए सुनते हैं जो शायर की जिज्ञासा को हवा देता है। तब फ़क़ीर उसे बताता है कि ग़ालिब की शायरी की दीवानी मोती बेगम ने उसे इन ग़ज़लों को गाना सिखाया है। *मिर्ज़ा ग़ालिब* में मोती बेगम का किरदार सुरैया ने निभाया है, जो न केवल ग़ालिब का क़लाम पढ़ती और सुनती है बल्कि उसको संगीतबद्ध करके गाती भी है जिससे आम जनता के बीच में उसका व्यापक प्रसार होता है। *मिर्ज़ा ग़ालिब* के अपने अंतर्दृष्टिपूर्ण विश्लेषण में भास्कर और ऐलेन ने तर्क किया है कि ग़ालिब और मोती बेगम के बीच काल्पनिक लेकिन गहन संबंधों पर ध्यान केंद्रित करके गीतों की अभिव्यंजक गुणवत्ता के ज़रिए फ़िल्म के मुख्य किरदारों की भावनात्मक तीव्रता और विविधता को नुमायाँ करती है।[36] सुरैया, रफ़ी और तलत महमूद द्वारा गायी आठ ग़ज़लों के माध्यम से उनकी शायरी पेश करते हुए सोहराब मोदी की फ़िल्म ग़ालिब को न केवल 'अपने

[36] इरा भास्कर और रिचर्ड ऐलन (2009) : 132.



चित्र 7. उसे ग़ज़ल चोर कहने के बावजूद, नाज़ आरा ग़ज़ल में एक स्रोत के रूप में एजाज़ के जोशीले प्रदर्शन के प्रति धीरे-धीरे लट्टू हो जाती है. (निर्दे. वेद-मदन, 1964).

समय की आवाज़' के रूप में बल्कि 'उस समय से कहीं आगे की पूरे दक्षिण एशिया में गुंजायमान आवाज़' के रूप में पेश कर रही थी।

मिर्ज़ा ग़ालिब ने दर्शकों/श्रोताओं को उनके जीवन के काल्पनिक वृत्तांतों से भरी ग़ालिब की शायरी का पुनरावलोकन करने का मौक़ा दिया, क्योंकि फ़िल्म में प्रस्तुत कई ग़ज़लें सहगल और बेगम अख़्तर द्वारा ग़ैर-फ़िल्मी ग्रामोफ़ोन रिकॉर्डिंग के माध्यम से पहले से ही प्रचलन में थीं। ग़ज़ल के शायराना और ध्वन्यात्मक स्वर विस्तार को सामने लाने के लिए फ़िल्म में जिस तरह रेडियो को सुनने के उपकरण के तौर पर इस्तेमाल किया गया यह रेखांकित करने के लिए मैं इसे एक व्यापक सांस्कृतिक संदर्भ में रखना चाहूँगी। *बरसात की रात* (1960) जैसी फ़िल्मों में रेडियो के महत्त्व की चर्चा करते हुए रविकान्त ने एक अहम सुझाव दिया है कि 'रेडियो की कथात्मक मौजूदगी', *सूफ़ी ख़ानक़ाहों, महफ़िलों* और बाज़ारों में *ग़ज़ल* और *क़व्वाली* को गाने की 'परंपरा का अनुकरण करती है।'[37] मेरा मानना है कि ख़ास तौर पर ऐतिहासिक फ़िल्मों ने रेडियो सुनने के श्रव्य अनुभव की नक़ल उतारने के लिए सुनने के औज़ारों को दिखाए बिना रचनात्मक युक्तियों का इस्तेमाल किया। जिस वर्ष *बरसात की रात* आई थी उसी साल प्रदर्शित *बाबर* (1960) में हमें हस्तलिखित *ग़ज़ल* के श्रव्यात्मक तौर पर आविष्ट सांगीतिक अदायगी में रूपांतरण की मिसाल मिलती है।[38] हुमायूँ और हमीदा बानो के बीच का इश्क़ शायराना ख़तों के आदान-प्रदान के द्वारा पनपता है जो पर्दे पर तीन ग़ज़लों की शक्ल लेता है। 'सलामे हसरत क़ुबूल कर लो' एक लिखित पत्र से संगीतमय ध्वनि की यात्रा करता है, जब हमीदा बानो की दोस्त हिजाब हुमायूँ की लिखी ग़ज़ल गाना शुरू करती है, जबकि इस ख़त को पाने वाली हमीदा बानो एकाग्रचित्त होकर सुनती है। यह परंपरा लोकप्रिय रेडियो कार्यक्रमों से ग्रहण की गई है, जो फ़िल्मी गानों के लिए *फ़रमाइश* के साथ रूमानी सन्देश भेजने के लिए दर्शकों को आमंत्रित करते थे। हुमायूँ को काग़ज़ी ख़तों में लिपटा हमीदा बानो का ठंडा जवाब गाने में बदल जाता है। हम देखते हैं कि मुग़ल शहज़ादा स्क्रॉल पढ़ रहा है और उसी समय ग़ज़ल गाते हुए बानो का क्लोज़-अप सुलिखित पन्ने पर सुधा

---

[37] रविकान्त (2016) : 231.

[38] दिलीप कुमार और तलत महमूद के अन्य गानों की तरह 'हुस्न वालों को न दिल दो' का अंदाज़ हल्का-फुल्का है, जिसमें दिलीप कुमार का चरित्र महिलाओं के साथ चुहल करता है.

मल्होत्रा की आवाज़ के साथ आरोपित हो जाता है। इसके बाद हुमायूँ का जवाब एक और स्क्रॉल पत्र के रूप में आता है जिसे हिजाब बानो के कमरे में छोड़ देती है। जैसे ही बानो स्क्रॉल उठाती है, हमें धीरे-धीरे स्पष्ट होती मोहम्मद रफ़ी की कोमल, संवेदनशील और इसरार भरी आवाज़ में 'तुम एक बार मोहब्बत का इम्तेहान तो लो' ग़ज़ल सुनाई देती है। यह दृश्य रेडियो के अनुभव की याद ताज़ा करता है। कैमरा ग़ज़ल के श्रव्यात्मक आवेश का आस्वाद करते हुए बानो और हिजाब को दिखाता है (हिजाब खिड़की के पीछे छिपी है लिहाज़ा बानो से भी); इसके बोल, सांगीतिक अंतराल और रफ़ी की पर्दे के पार्श्व से आती आवाज़ उन्हें अपने आग़ोश में ले लेती है।

महफ़िल-शैली की ग़ज़ल का एक अन्य उपयोग *लाल क़िला* (1960) में है, जब हम बहादुर शाह ज़फर को 'न किसी की आँख का नूर हूँ' गाते हुए सुनते हैं। हालाँकि हालिया विद्वानों ने इसे मुज़्तर ख़ैराबादी की लिखी ग़ज़ल बताया है (अख़्तर 2005), पाठ में मार्मिकता लाने के लिए, फ़िल्म इस लोकप्रिय विश्वास की तरफ़ ध्यान दिलाती है कि यह ग़ज़ल अंग्रेज़ों द्वारा तख़्त से बेदख़ल अंतिम मुग़ल शासक बहादुर शाह ज़फ़र द्वारा लिखी गई है। जब बादशाह अपने परिवार के सदस्यों और दरबारियों की ओर बेबसी से देखते हुए गाता है तो पर्देतर संगीत और सरल धुनों के न्यूनतम उपयोग से सजी मुहम्मद रफ़ी की संयमित आवाज़ मुग़ल दरबार को मनहूसियत से भर देती है। घूमता हुआ कैमरा दरबार में मौजूद तमाम किरदारों के स्तब्ध चेहरे दिखाता है तो भावनात्मक इंदराज को क्रमशः विस्तार मिलता है और साथ ही हमारा ध्यान शायरी की ओर खींचता है।

उदास ग़ज़ल

अपने इंटरव्यू में मेहदी हसन ने जिस दूसरी तरह की ग़ज़ल का ज़िक्र किया है, मैं उसकी तरफ़ वापस आना चाहूँगी। *महफ़िल शैली* की ग़ज़ल के विपरीत इस शैली को हम उदास *ग़ज़ल* कह सकते हैं, जो 1950 और 1960 के दशक की फ़िल्मों में आमतौर पर पाई जाती थीं :

एक मैं और एक मेरी बेकसी की शाम है।
(तराना, 1951)

यह दूसरी तरह की ग़ज़ल का प्रतिनिधित्व करती है जिसमें गीत, सांगीतिक तत्त्व और दृश्यात्मक माहौल किसी खोई हुई ख़ुदी की निराशा से लबरेज़ है। इस ग़ज़ल के चित्रण में दिलीप कुमार की तन्हाई को कैमरा दूर से फ्रेम करते हुए उनकी हताशा को दर्शाता है। गाने की शुरुआत एक बहुत नाटकीय और त्रासद दृश्य से होती है : तराना (मधुबाला द्वारा निभाया किरदार) से मोती (दिलीप कुमार) प्रेम करता है लेकिन शादी नहीं कर सकता, परिवार की बदनामी कराने के लिए उसका पिता उसको कोसता है। तराना के बाप को झूठी ख़बर दी जाती है कि उसकी बेटी विवाह-पूर्व माँ बनने वाली है; क्रोधित पिता तराना को घर में बंद कर उसमें

आग लगा देता है। जब उसे काफ़ी देर बाद झूठ का पता चलता है तो वह उसे बचाने के लिए दौड़ता है। रोते हुए पिता और जले हुए घर का विस्तृत चित्रण अंततः उसकी मृत्यु के साथ समाप्त होता है। हमें विश्वास दिलाया जाता है कि तराना भी मर चुकी है। इस स्थिति में कैमरा कट कर अलग स्थल पर पहुँचता है, और नज़्म तलत महमूद की आवाज़ में एक दोहे के साथ बिना किसी साज़ के शुरू होती है।

जली जो शाख़-ए-चमन, साथ बाग़बाँ भी जला
जलाके मेरा नशेमन, वो आसमाँ भी जला।

संगीत की प्रस्तुति के पहले दोहे का उपयोग एक आकस्मिक श्रव्य अतिक्रमण है, कहें कि एक आर्त्तनाद है। खोने की गहरी भावना व्यक्त करते हुए, दर्शकों को संबोधित यह पुकार, वर्तमान पल की व्यथा को सीधे व्यक्त करता है।[39] हम यहाँ किसी बड़े सार्वजनिक स्थान पर प्रदर्शित गीतों के माध्यम से कथा के अन्वेषण पर किए गए रवि वासुदेवन के सूत्रीकरण को याद कर सकते हैं।[40] इस उदास शैली की अधिकांश ग़ज़लें दोहे से शुरू होती थीं जिन्हें तन्हा किरदारों द्वारा बिना श्रोताओं की मध्यस्थता के पर्दे पर प्रस्तुत किया जाता था। इसके अलावा, इन ग़ज़लों में कैमरा दूर ही रहता था। दिलीप कुमार यहाँ एक अलहदा व्यक्ति के तौर पर, आस-पास की दुनिया से पूरी तरह अलग-थलग, चित्रित हुए हैं। दिलीप कुमार की सूक्ष्म भंगिमाओं और चेहरे के हाव-भाव पर तलत महमूद की नर्म और लरज़ती हुई आवाज़ और गहरी छाया के साथ चमकीले प्रकाश का विरोधाभास इस गाने में व्यक्त खोए हुए प्यार और गहरी निराशा की भावना को विश्वसनीय बना देता है। इन आख्यानों में पितृसत्तात्मक क़ायदों के दबाव, वर्ग-विभाजन, सामाजिक ऊँच-नीच और नैतिक ऊहापोह बार-बार आते हैं। लेकिन कविता में इन मुद्दों अथवा घटनाओं का प्रत्यक्ष वर्णन नहीं आता। इसके बजाय इन घटनाओं से उपजी बेकली और बेकसी की सामान्य भावना को ये गीत बयाँ करते हैं।[41]

इस ग़ज़ल में श्रव्य अतिक्रमण, भाव-भंजक के रूप में दोहे का उपयोग एक महत्त्वपूर्ण शैलीगत विशेषता बन जाता है। यही दोहा संगीत निर्देशकों के लिए एक सांगीतिक शैली के रूप में ग़ज़ल और फ़िल्मी गाने के बीच मध्यस्थता का बिंदु बनकर भी उभरता है। दिलीप कुमार के लिए तलत महमूद द्वारा गाई हुई एक अन्य ग़ज़ल 'हम दर्द के मारों का' (*दाग़*, 1952) एक दोहे से शुरू होती है। यहाँ एक बार फिर महमूद की नर्म गुनगुनाती शैली शब्दों को हावी होने देती है। सरल, गुनगुनाने योग्य धुन से संगीतबद्ध ये ग़ज़लें गायकी की ख़ूबी या शब्दकौशल प्रदर्शित न करके नायक के अंदरूनी अँधेरे, आंतरिक परिदृश्य को दिखाती हैं।

[39] *बरसात की रात* में गाने और संगीत के लिए साहिर लुधियानवी और रोशन ने साथ काम किया और इसका संगीत बहुत लोकप्रिय हुआ था.

[40] रवि वासुदेवन (2010) : 43.

[41] एजाज़ अहमद (1995) : xxiv.

इन गानों में प्रयुक्त पश्चिमी ऑर्केस्ट्रा का उल्लेख भी ज़रूरी है। नौशाद, अनिल विश्वास और शंकर जयकिशन ने पियानो, पियानो एकॉर्डियन, गिटार, वायलिन और मैंडोलिन का इस्तेमाल करके सुरों की अतिरिक्त विविधताएँ पैदा कीं। 'हम दर्द के मारों का' एक दोहे से शुरू होती है जो एक तड़प भरा विलाप है :

बुझ गए ग़म की हवा से प्यार के जलते चिराग़
बेवफ़ाई चाँद ने की, पड़ गया उसमें भी दाग़।

इन ग़ज़लों की पंक्तियों में 'इश्क़ की नाकामी और अस्वीकृति' जलती हुई देह, घर और ख़ुदी के रूपक धरकर बार-बार आती है। मसलन :

ज़िंदा हूँ इस तरह ग़म-ए-ज़िन्दगी नहीं

आग (1948) में मुकेश के गाये इस गाने की दूसरी पंक्ति में बग़ैर आग के ख़ुदी के जलने का भाव है :

जलता हुआ दिया हूँ मगर रौशनी नहीं।

चौदहवीं का चाँद (1960) *की* मोहम्मद रफ़ी द्वारा गाई गई शीर्षक ग़ज़ल में भी भस्मीभूत इश्क़ से हम मुख़ातिब होते हैं :

मिली ख़ाक में मोहब्बत, जला दिल का आशियाना।

1950 और 1960 के अंतिम दशकों में, जब तलत महमूद और दिलीप कुमार की जोड़ी टूटी तो मोहम्मद रफ़ी ही उनकी आवाज़ बने। रफ़ी ने दिलीप कुमार के लिए और अधिक नाटकीय स्वरों वाली ग़ज़लें गाईं जैसे कि यह ग़ज़ल :

टूटे हुए ख़्वाबों ने हमको यह सिखाया है
(मधुमती, 1958)

और

गुज़रे हैं आज इश्क़ में हम उस मक़ाम से,
नफ़रत सी हो गई है, मोहब्बत के नाम से।
(*दिल दिया दर्द लिया*, 1966)

इन तमाम ग़ज़लों में दिलीप की व्यथा वीरानियों में गूँजती है। अपने हालिया अध्ययन में, इरा भास्कर ने 1930 और 1940 के दशक में जर्मन अभिव्यक्तिवाद के साथ भारतीय सिनेमा की मुलाक़ात की ओर ध्यान आकर्षित किया है जिसका इसके दृश्य और श्रव्य सौंदर्यबोध पर एक ख़ास असर पड़ा। 'भावनाओं का सचेत अभियोजन भारतीय मेलोड्रामा की विशेषता है' और इसमें यह असर देखा जा सकता है।[42] भास्कर के अनुसार, विविध पौराणिक और काव्य परंपराओं से निःसृत गीत भारतीय सिनेमा के अभिव्यक्तिवादी सौंदर्यशास्त्र के केंद्र में हैं। उदास ग़ज़लों की चर्चा में हम इस सौंदर्यशास्त्रीय शैली का प्रभुत्वशाली प्रयोग देख सकते हैं : नायक-गायक अकेले हैं, उसके इर्द-गिर्द नाटकीय प्रकाश संयोजन के चलते गहरे बड़े डरावने साये डोल रहे हैं और इस माहौल में *ख़त्म, मातम, ग़म, बेकसी, तन्हाई, बर्बादी* जैसे शब्द एक हिली हुई ख़ुदी का नैराश्य रचते हैं।

विरह संबंधी अपने अध्ययन में कुमकुम संगारी ने विभिन्न भंडारों और मौखिक, पाठ्य, सांगीतिक, नाटकीय और सिनेमाई आदि अंतर्माध्यमिक रूपों में निरूपित प्रेम को समझने की कोशिश की है। संगारी ने बताया है कि भक्ति और सूफ़ी काव्य, मध्यकालीन प्रेमाख्यान और ठुमरी व ग़ज़ल के भंडार से विरह के आरंभिक रूपों ने सिनेमा में प्रवेश करके वहाँ रोमांस, विछोह और समर्पण के विविध इंदराज का सृजन किया।[43] विरह की व्यापक नक़्शानवीसी करते हुए संगारी इस विविध इंदराज के उन विषम व्यंजनाओं को सामने लाती हैं जिसके ज़रिए 'विभाजन और आज़ादी की हिंसक युगलबंदी को एक साथ नियोजित किया जा सकता था'।[44] 1950 के दशक की ग़ज़लों में प्रेम, ख़ुदी और घर के टूटने-बिछुड़ने की बार-बार दोहराई जाती कहानी एक साथ निजी और सार्वजनिक नैराश्य का सांस्कृतिक-ऐतिहासिक बयान है। इस लिहाज़ से, तलत महमूद की ग़ज़लों के माध्यम से अपनी आवाज़ पाने का मेहदी हसन का दृष्टांत न केवल तलत और दिलीप कुमार दोनों के लिए अपने आकर्षण का स्वीकार है, बल्कि ग्रामोफ़ोन, रेडियो और सिनेमा की प्रौद्योगिकी की ओर भी इशारा है जिसने न सिर्फ़ इन ग़जलों का प्रसार किया बल्कि साझा इतिहास के साथ-साथ हताशा व नउम्मीदी की अभिव्यक्तियों का भंडार भी सौंपा। इस प्रकार ये किंवदंतियाँ दरअसल विरह, तड़प और अपूर्णता के अमूर्त भाव के मिले-जुले इतिहास के सुराग़ हैं।

सिनेमाई संगीतकारों ने शायरों और गीतकारों के साथ घनिष्ठ साझेदारी में काम करते हुए नायिकाओं पर फ़िल्माई ग़ज़लों के लिए जगह बनाई। जैसा कि हमने देखा कि इनमें मदन मोहन प्रमुख थे जिन्होंने विरह और नाउम्मीदी की भावनाओं से ओत-प्रोत लता मंगेशकर द्वारा गाई हुई कई ग़ज़लों की रचना की और जिन्हें तन्हा नायिकाओं पर फ़िल्माया गया था। कुछ मिसाल देखें :

---

[42] इरा भास्कर (2018) : 253.

[43] कुमकुम संगारी (2011) : 266.

[44] वही : 276.

हम प्यार में जलने वालों को (जेलर 1958)
हमारे बाद अब महफ़िल में अफ़साने बयाँ होंगे (बाग़ी, 1953)
न तुम बेवफ़ा हो न हम बेवफ़ा हैं (एक कली मुस्कायी, 1968)
और
रुके-रुके से क़दम रुकके बार-बार चले। (मौसम, 1975)

इसके अलावा, तवायफ़ संबंधी फ़िल्मों में मदन मोहन द्वारा संगीतबद्ध महफ़िल शैली की ग़ज़ल पतिता स्त्री के लिए नैतिक स्वीकार्यता का प्रतिनिधि ठौर बन गई। इन ग़ज़लों में, बेगम अख़्तर की अदायगी की नाटकीय शैली के निशान देख सकते हैं जहाँ मध्यम संगीत के साथ-साथ शायरी पर ज़ोर होता था और गायिका द्वारा बढ़त करने का अवकाश भी। यह बढ़त शैली इन ग़ज़लों में विशेष रूप से देखी जा सकती है :

रस्मे उल्फ़त को निभाएँ तो निभाएँ कैसे (दिल की राहें, 1973)

और

आज सोचा तो आँसू भर आए,
मुद्दतें हो गईं मुस्कुराए। (हँसते ज़ख़्म, 1973)

साथ ही इन ग़ज़लों को लता मंगेशकर से गवाकर मदन मोहन ने विधा को कोठा के प्रभाव से मुक्त करने में मदद की। जैसा कि मैंने अन्यत्र कहा है, अपने स्वर की ऊँचाई को बढ़ाकर लता मंगेशकर ने कोठा से जुड़ी 'मुक्त-कंठ' की गायन शैली की काट विकसित की थी।[45] ज़ाहिर है फ़िल्म उद्योग में गायिकाओं की नैतिक और वर्गीय पहचानों का मूल्यांकन उनकी गायन की प्रकृति के आधार पर किया जाता था। इन विशेष तरह की ग़ज़लों ने नायिकाओं की कामनाओं, असफल संबंधों, बेवफ़ाई और जकड़न जैसी अंदरूनी भावनाओं को अभिव्यक्त करने का सामान दिया। ग़ौरतलब है कि इन दृश्यबंधों में पर्दे पर मुख्य श्रोताओं का ध्यान आकर्षित करने के लिए गीत और संगीत एक साथ आते हैं। मसलन :

न हँसो हम पे, ज़माने के हैं ठुकराए हुए (गेटवे ऑफ़ इंडिया,1957)
और
वो चुप रहें तो मेरे दिल के दाग़ जलते हैं (जहाँ आरा, 1964)

मदन मोहन द्वारा संगीतबद्ध अन्य सभी ग़ज़लें ऐसी हैं जिन्हें संरक्षक पुरुषों के मनोरंजन के लिए तवायफ़ों ने पेश किया।

अदालत (1958) में नर्गिस ने कोठे में फँसी हुई एक मध्यवर्गीय महिला का किरदार अदा किया है। इस फ़िल्म की ग़ज़लें इस बात का प्रमाण हैं कि उदास ग़ज़ल जब महफ़िल में प्रवेश करती है तो कैसे प्रस्तुति स्थल बदल-बदल जाता है। बड़े से सेट में निर्मल (नर्गिस द्वारा

[45] शिखा झींगन (2016) : 219.

अभिनीत) बैठकी महफ़िल के अंदाज़ में सारंगी, हारमोनियम और तबला बजाने वाले साज़िंदों के साथ बैठी है। यहाँ ऐसे श्रोताओं की उपस्थिति ग़ौरतलब है जो तवायफ़ की ओर कामुक निगाहों से देख रहे हैं। लेकिन चूँकि नायिका उनसे नज़रें नहीं मिला रही है तो महफ़िल शैली का रूपायन यहाँ कुंठित हो जाता है। 'यूँ हसरतों के दाग़, मोहब्बत में धो दिए' कमसिन निर्मल (लता मंगेशकर की आवाज़ में) द्वारा पेश की जा रही है जो अपने किसी भी श्रोता से मुख़ातिब होने से इंकार करती है। हालाँकि वह *महफ़िल* में गा रही है लेकिन निर्मल की शून्य में टँगी आँखें उसे एक ग़मगीन त्रासद शख़्सियत बनाता है। ग़ज़ल में पसरी उदासी तंतु साज़ की शह पाकर वाद्यावकाश में ख़ास तौर से गहरी हो जाती है। ग़ज़ल के बोल निर्मल द्वारा जाल में फँसी होने और नाउम्मीदी के एहसास का इज़हार करते हैं जिसे फ़िल्म की कहानी में पहले ही विस्तार से स्थापित किया जा चुका है। इस दृश्यबंध में पर्दे से बाहर बैठे यानि सिनेमा देखने वाले श्रोताओं/दर्शकों और कोठे के दर्शकों के बीच सूक्ष्म भेद किया गया है : पहली कोटि को निर्मल की त्रासदी का एहसास है, जबकि दूसरी कोटि उससे नितांत अनभिज्ञ है।

निष्कर्ष

महत्त्वपूर्ण ग़ज़ल गायकों पर जीवनीपरक सामग्री के साथ एक सांगीतिक विधा के रूप में ग़ज़ल रिकॉर्डिंग का विश्लेषण करके मैंने यह दिखाने का प्रयास किया है कि किस तरह पाठ्य, मौखिक और श्रव्य तत्त्व एक-दूसरे को परस्पर अनुप्राणित करते हुए ग़ज़ल की सशक्त विधा को श्रोताओं तक ले जाते हैं। ग्रामोफ़ोन और रेडियो जैसी मीडिया प्रौद्योगिकी ने शायरों और गायकों को रचनात्मक निकटता में ला खड़ा किया। ग़ज़ल के श्रव्य आवेश को सामने लाते हुए वाचाल सिनेमा ने इन संजालों का आगे विस्तार किया। मैंने उन दो तरीक़ों का ज़िक्र किया है जिनमें 1950 और 1960 के दशक की फ़िल्मों में सांगीतिक ग़ज़ल पेश की गई। पहली थी महफ़िल शैली की ग़ज़ल जिसने काव्य के पाठ को अधिक महत्त्व दिया और इसको भी कि कैसे पर्दे का शऊरमंद श्रोता ग़ज़ल को सराहता है। रूमानी प्रेम में पगी फ़िल्मी ग़ज़ल गायक की प्रेमिल आवाज़ में लिपटी चली आती है और गायक व श्रोताओं के बीच नज़रों के आदान-प्रदान से इसे अतिरिक्त गहराई मिलती है। दूसरी तरह की ग़ज़ल ने दर्शकों को प्रत्यक्ष रूप से संबोधित किया और मनहूस माहौल में फँसे तन्हा व्यक्ति की गहरी नाउम्मीदी और असुरक्षाबोध को नुमायाँ किया। रंगारंग महफ़िल में तवायफ़ तो है लेकिन वह कैमरे से नज़र चुराती यानि वह कोठे से बाहर बैठे किसी और श्रोता समुदाय से मुख़ातिब है। विरह के बारे में संगारी की स्थापना सिनेमाई ग़ज़ल के मेरे अपने विश्लेषण से मेल खाती है, कि विछोह और वेदना के सतत रूपांकन के माध्यम से ग़ज़ल उत्तर-औपनिवेशिक काल में बृहत्तर भावनात्मक और ऐतिहासिक इंदराज को खोलने में कारगर हुई।

संदर्भ

अंबरीश मिश्रा (1992), 'मेलोडी योर नेम', *द टाइम्स ऑफ़ इंडिया*, 3 मई.

अतुल (2012), 'अच्छे ईसा हो मरीज़ों का ख़्याल अच्छा है', *वर्डप्रेस ब्लॉग*, 3 सितम्बर, https:// atulsongaday.me/2012/09/03/achcha-eesaa-ho-mareezon-ka-khayaal-achcha- hai/. 15 दिसंबर, 2016 को देखा गया.

अनिल बिस्वास (1975), 'द ग़ज़ल इन इंडियन फ़िल्म्स', *संगीत नाटक*, 37.

अनिल बिस्वास (एन.डी.), 'माई जर्नी इन्टू द वर्ल्ड ऑफ़ फ़िल्म म्यूज़िक', डी. हथी और पी. शर्मा (सं.) *ट्रिब्यूट टू अनिल बिस्वास*, विंटेज हिंदी म्यूज़िक लवर्स एसोसिएशन, बंगलौर : 7-10.

अमिय चक्रवर्ती (1952), *दाग़*, (डीआईएर.), मार्स ऐंड मूवीज़ प्रोडक्शंस, इंडिया.

इरा भास्कर (2018), 'एक्सप्रेसनिस्ट ऑरैलिटी : द स्टाइलज़्ड एस्थेटिक ऑफ़ भाव इन इंडियन मेलोड्रामा', सी. ग्लेडहिल ऐंड आई. विलियम्स (सं.), *मेलोड्रामा अनबाउंड एक्रॉस हिस्ट्री*, मीडिया ऐंड नैशनल कल्चर्स, कोलंबिया युनिवर्सिटी प्रेस, न्यू यॉर्क.

इरा भास्कर और रिचर्ड ऐलन (2009), *इस्लामिकेट कल्चर्स ऑफ़ बॉम्बे सिनेमा*, तूलिका बुक्स, नई दिल्ली.

एजाज़ अहमद (सं.) (1995), 'इंट्रोडक्शन', *ग़ज़ल्स ऑफ़ ग़ालिब : वर्सेज़ फ़्रॉम दि उर्दू*, ऑक्सफ़र्ड, नई दिल्ली.

एस. एम. मेहदी (1975), 'डेवलपमेंट ऑफ़ द उर्दू ग़ज़ल-सॉन्ग', *संगीत नाटक*, 37 : 5-11.

कुमकुम संगारी (2011), 'विरहा : ए ट्रैजेक्ट्री इन नेहरूवियन एरा', के. पंजाबी (सं.), *पोएटिक्स ऐंड पॉलिटिक्स ऑफ़ सूफ़िज़्म ऐंड भक्ति इन साउथ एशिया : लव, लॉस ऐंड लिबरेशन*, ओरिएंट ब्लैकस्वान, हैदराबाद : 256-87.

गुलज़ार (1990), 'इंट्रोडक्शन', *ग़ज़ल का सफ़र*, 10-कैसेट सिरीज़, एचएमवी इंडिया.

चित्रदूत (1969), 'ग़ालिब इन फ़िल्म्स', *फ़िल्मफेयर*, 25 अप्रैल : 41-43.

चौधरी ज़िया इमाम (2008), *नौशाद : ज़र्रा जो आफ़ताब बना*, पेंगुइन बुक्स इंडिया, नई दिल्ली.

जावेद अख़्तर (2005), *टॉकिंग सॉन्ग्स : इन कन्वर्सेशन विद नसरीन मुन्नी कबीर*, ऑक्सफ़र्ड, नई दिल्ली.

जी. एन. जोशी (1984), *डाउन मेलोडी लेन*, संगम बुक्स, बॉम्बे.

ठोकर (1939), वहीदन बाई (निर्देशन), रंजीत मूवीटोन, इंडिया.

डेविड लेलीवेल्ड (1994), 'अपॉन द सबडोमिनेंट : ऐडमिनिस्ट्रिंग म्यूज़िक ऑन आल-इंडिया रेडियो', *सोशल टेक्स्ट*, 39 : 111-27.

तराना (1951), राम दरयानी (निर्देशन), रंजीत मूवीटोन, इंडिया.

पीटर मैनुएल (1988-89), 'द हिस्टोरिकल सर्वे ऑफ़ द उर्दू ग़ज़ल-सॉन्ग इन इंडिया', *एशियन म्यूज़िक*, 20 : 1, : 93-110.

प्राण नोविले (2011), *कुंदन लाल सहगल : द डेफ़िनिटिव बायॉग्रफ़ी*, पेंगुइन बुक्स, दिल्ली.

फ़्रंचेस्का ओर्सीनी (2007), 'इंट्रोडक्शन' , एफ़. ओर्सीनी (सं.), *लव इन साउथ एशिया : ए कल्चरल हिस्ट्री, साउथ एशिया*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली : 1-39.

फ़्रांसिस प्रिचेट (1994), *नेट्स ऑफ़ अवेयरनेस : उर्दू पोएट्री ऐंड इट्स क्रिटिक्स*, युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, बर्कली.

ब्रायन लारकिन (2013), 'द पॉलिटिक्स ऐंड पोएटिक्स ऑफ़ इन्फ़्रास्ट्रक्चर', द *एनुअल रिव्यु ऑफ़ ऐंथ्रोपॉलजी*, 42 : 327-43.

भास्कर चंदावरकर (1980), 'द ग्रेट इंडियन फ़िल्म सॉन्ग कंट्रोवर्सी', *सिनेमा विज़न इंडिया*, 1-4 : 66-75.

भास्कर चंदावरकर (1987), 'बर्थ ऑफ़ द फ़िल्म सॉन्ग', *सिनेमा ऑफ़ इंडिया*, अप्रैल : 7-11.

माइकल किन्नियर (1994), द *ग्रामोफ़ोन कंपनी 'ज फ़र्स्ट इंडियन रिकॉर्डिंग्स : 1899-1908*, पॉपुलर प्रकाशन, बॉम्बे.

मेघनाद देसाई (2004), *नेहरू 'ज़ हीरो : दिलीप कुमार इन द लाइफ़ ऑफ़ इंडिया*, लोटस कलेक्शन, रोली बुक्स, नई दिल्ली.

मेहदी हसन (1991) 'द लिविंग लेजेंड', द *हिंदू*, 27 सितम्बर.

रवि वासुदेवन (2010), द *मेलोड्रैमैटिक पब्लिक : फ़िल्म फॉर्म ऐंड स्पेक्टेटरशिप इन इंडियन सिनेमा*, परमानेंट ब्लैक, रानीखेत.

रविकान्त (2016), 'वर्ड्स इन मोशन पिक्चर्स : ए सोशल हिस्ट्री ऑफ़ लैंग्वेज ऑफ़ 'हिंदी' सिनेमा', *अप्रकाशित डॉक्टोरल शोध-प्रबंध,* दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली.

राघव मेनन (1989), *के. एल. सहगल : द पिलग्रिम ऑफ़ स्वर*, हिंद पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली.

रीता गांगुली (2008), *ऐ मोहब्बत : रिमिनीसिंग बेगम अख़्तर*, स्टेलर, नई दिल्ली.

रेगुला क़ुरैशी (1990), 'म्यूज़िकल जेस्चर ऐंड एक्स्ट्रा-म्यूज़िकल मीनिंग : वर्ड्स ऐंड मीनिंग्स इन द उर्दू ग़ज़ल', *जर्नल ऑफ़ अमेरिकन म्यूज़िकोलॉजिकल स्टडीज़*, 43 : 457-97.

रैल्फ़ रसेल (1969), 'द परसूट ऑफ़ द ग़ज़ल', द *जर्नल ऑफ़ एशियन स्टडीज़*, 29 : 1 :107-24.

विक्रम संपत (2010), *माय नेम इज़ गौहर जान! : द लाइफ़ ऐंड टाइम्स ऑफ़ ए म्यूज़िशियन*, रूपा पब्लिकेशन, नई दिल्ली.

विभूति दुग्गल (2018), 'इमैजनिंग साउंड थ्रू द फ़रमाइश : रेडियोज़ ऐंड रिक्वेस्ट-पोस्टकार्ड्स इन नॉर्थ इंडिया, 1955-75', *बायोस्कोप*, 9 : 1 : 1-23.

शरद दत्त (2007), *कुंदन लाल सहगल का जीवन और संगीत*, पेंगुइन बुक्स इंडिया, नई दिल्ली.

शांति हीरानंद (2005), *बेगम अख़्तर : द स्टोरी ऑफ़ अम्मी*, विवा बुक्स, नई दिल्ली.

शाहजहाँ (1946), राम दरयानी (निर्देशन), कारदार प्रोडक्शन, इंडिया.

शिखा झींगन (2009), 'द सिंगर, द स्टार ऐंड द कोरस', *सेमिनार*, 598 : 58-63.

शिखा झींगन (2016), 'सोनिक रप्चर्स : म्यूज़िक, मोबिलिटी ऐंड द मीडिया', ए. राजगोपाल और ए. राव (सं.), *मीडिया ऐंड युटोपिया : हिस्ट्री, इमैजिनेशन ऐंड टेक्नोलॉजी*, न्यू यॉर्क : रटलेज : 209-34.

सआदत हसन मंटो (1998), *स्टार्स फ़्रॉम अनदर स्काय : द बॉम्बे फ़िल्म वर्ल्ड ऑफ़ द 1940ज़*, पेंगुइन बुक्स, नई दिल्ली.

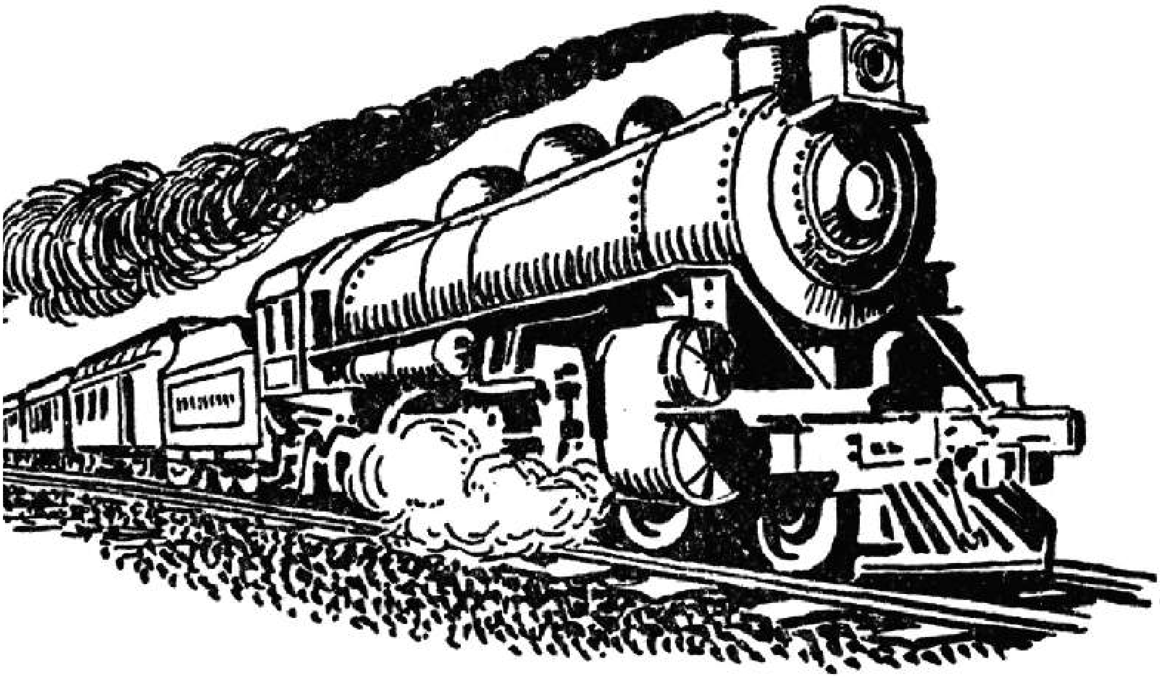
सुरेश चंदावरकर (एन. डी.), 'कुंदनलाल सहगल (1904-1947)', *ओल्डीज़ क्लब*,

https://members.tripod.com/oldies_club/klsaigal.htm. 15 दिसबंर 2016 को देखा गया.

११

प्रौद्योगिक आधुनिकता और सामाजिक अनुभव, 1870–1930

प्रभात कुमार



रेल के ज़रिये आधुनिक प्रौद्योगिकी के सामाजिक जीवन के कुछ पहलुओं को केंद्र में रख कर यह लेख 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध और 20वीं सदी के पूर्वार्द्ध के हिंदी जनपद में प्रौद्योगिक आधुनिकता की सांस्कृतिक परिकल्पना और सामाजिक अनुभव के इतिहास की पड़ताल करेगा। आधुनिक प्रौद्योगिकी का मौजूदा भारतीय इतिहास-लेखन, अगर संक्षेप में कहें तो, युरोपीय तकनीक के हिंदुस्तान में हस्तांतरण का इतिहास है। कैसे युरोपीय आक़ाओं ने इसका नियोजन और इस्तेमाल 'साम्राज्य के औज़ार' (टूल ऑफ़ एंपायर) की तरह किया? कैसे ये औज़ार साम्राज्य की वैचारिक मंशा व राजनैतिक-आर्थिक स्वार्थ के ही मूर्त रूप थे? वग़ैरह, वग़ैरह। ज़ाहिरन ये निहायत ज़रूरी और दृष्टिपूर्ण अध्ययन हैं। किंतु, इन आख्यानों में प्रौद्योगिकी की कहानी महज़ साम्राज्य, साम्राज्यवादी संरचना और साम्राज्य के विभिन्न किरदारों और उनकी राजनीति की विस्तारित कहानी मात्र होकर रह जाती है, या साम्राज्यवाद की राजनीतिक-आर्थिक-सांस्कृतिक आलोचना की कथा के भीतर प्रायः आधुनिक प्रौद्योगिकी की चरित-चर्चा उसके संदेहास्पद नैतिक-वैचारिक पक्ष को लेकर की जाती है। प्रौद्योगिक आधुनिकता के बरअक्स हिंदुस्तानियों की अपनी सांस्कृतिक-सामाजिक

परिकल्पना और अनुभव का इतिहास, जाने-अनजाने, या तो छूट जाते हैं, या टुकड़ों में कही गई छोटी-मोटी कहानियाँ मात्र बनकर रह जाते हैं।[1] हमारा मानना है कि अगर हम फ़ोकस को घुमा कर कहानी के केंद्र में भारतीय अनुभव को रखें तो आधुनिक प्रौद्योगिकी के विविध और समृद्ध सांस्कृतिक जीवन को दिलचस्प ढंग से इतिहासबद्ध किया जा सकता है। मसलन, नई प्रौद्योगिकी का स्वागत व अभिग्रहण भारतीय समाज में किस तरह से हुआ? दैनंदिन लेन-देन में किस प्रकार से इसे परखा गया? इसे क्या नए मायने दिए या ढूँढ़े गए? कैसे नई तकनीकी ने नैतिक-सामाजिक आचार के बदलाव का आगाज़ किया? प्रौद्योगिकी कैसे आधुनिक भारत की सामुदायिक सांस्कृतिक परिकल्पनाओं में गहराई से दर्ज हुई?[2] या, अगर शीला जेसनोफ़्फ़ के अंदाज़ में कहें, किस प्रकार एक नूतन 'समाजी-तकनीकी' कल्पना (सोसिओटेक्निकल इमैजिनरी) का निर्माण हुआ।[3] इन सवालात के ज़रिये लेख यह भी रेखांकित करेगा कि कोई तकनीकी कहीं भी सामाजिक मूल्यों व मानदंडों को अकेले या एकतरफ़ा प्रभावित नहीं करती, वरन (भारतीय) समाज द्वारा ख़ुद को शासित और गठित करने के रवैये से प्रौद्योगिकी के स्थानीय जीवन और चरित्र का निर्धारण होता है।

चलती का नाम गाड़ी

शुरुआत करते हैं 1880 के दशक में सार्वजनिक बहसों में उठाए गए उन प्रकरणों से जो तत्कालीन समाजी-तकनीकी परिकल्पनाओं की झलक दिखाते हैं। ऐसी परिकल्पनाएँ जो निवर्तमान राष्ट्र की नब्ज़ पर अंगुली रखकर वांछित भविष्य की ओर इशारा करती हैं। राधाचरण गोस्वामी ने अपनी पत्रिका *भारतेंदु* के जुलाई 1883 के अंक में एक कार्टून प्रकाशित

---

[1] आर्नोल्ड (2000, 2013); एडस (1989); केर (1995, 2003, 2008); रैना और हबीब (1995) लाहिरी चौधरी (2010); बोनिया (2016); आहूजा (2009); औगियर (2011); प्रसाद (2015); मुखोपाध्याय (2019). इयन केर और डेविड आर्नोल्ड के परवर्ती लेखन, हैरियट ब्युरी, मैरियन औगियर, ऋतिका प्रसाद, अपराजिता मुखोपाध्याय आदि की नई रचनाओं में आधुनिक प्रौद्योगिकी के भारतीय अनुभव की कहानी को जगह मिली है. रेल को लेकर विस्तृत पुस्तकें औगियर, मुखोपाध्याय और प्रसाद की हैं. लेकिन, आगे पढ़ने से स्वतः ज़ाहिर हो जाएगा, इस लेख में उठाए हुए प्रसंग और स्रोत, दोनों ही इन क़िताबों के केंद्र में नहीं हैं. चुनिंदा संदर्भ यहाँ हैं, बाक़ी लेख में उद्धरण की ज़रूरतों के हिसाब से बाद के पन्नों में दिए गए हैं.

[2] आर्नोल्ड के शब्दों में : 'प्रौद्योगिकी का इतिहास वस्तुओं के भौतिक इतिहास और ऐतिहासिक प्रक्रियाओं से कहीं ज़्यादा है. इसमें मानवीय कल्पनाओं के उद्यम और उड़ान की पड़ताल भी समाहित है... प्रौद्योगिक उत्पाद, कौशल और प्रक्रियाओं से लोगों का लगाव या दुराव किसी तकनीकी को नई ढाल और अलग स्वरूप देता है. तकनीकी भविष्य-दृष्टि को सूचित और निर्मित करती है, वर्तमान की आकांक्षाओं को आकार देती है और अतीत के विश्लेषण को रंग प्रदान करती है'. आर्नोल्ड, (2013), 15.

[3] जेसनोफ़्फ़ के मतानुसार, 'समाजी-तकनीकी परिकल्पनाएँ वांछित भविष्यों की ऐसी दृष्टि होती है जिनका धारण और प्रदर्शन [वैयक्तिक न होकर] सामुदायिक होता है, जो सामाजिक जीवन और शासन के विभिन्न रूपों की साझी समझदारी से संचालित होती हैं, और जिसके प्राप्ति की संभावना विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में होने वाली उन्नति के ज़रिए होती है. कोरे विचारों और फ़ैशनों के विपरीत, समाजी-तकनीकी परिकल्पनाएँ सामुदायिक, टिकाऊ व प्रदर्शनीय होती हैं, बल्कि ये देशकाल और संस्कृति सापेक्ष भी होती हैं. ये परिकल्पनाएँ आधुनिकता के अंतर्गत होने वाले विज्ञान, प्रौद्योगिकी और समाज के सह-उत्पादन से निकली हुई उत्पाद भी होती हैं और औजार भी. जेसनोफ़्फ़ (2015) : 19.

किया, जिसका शीर्षक था 'उन्नति की गाड़ी'।[4] कार्टून में दिखाया गया कि एक अंग्रेज़ पुरुष अपने हाथ में 'शासन' और 'अनुशासन' की चाबुक लहराते हुए उन्नति की गाड़ी हाँक रहा है। एक पंक्ति में क्रमश: एक बंगाली, एक मराठी और उसके बाद एक पंजाबी मर्द खड़े गाड़ी को ठेलते हुए आगे बढ़ाने में मदद कर रहे हैं, उन सबसे काफ़ी पीछे 'आलस्य' से पीड़ित और 'अविद्या' की बेड़ी में जकड़ा हुआ एक हिंदुस्तानी आदमी नीचे पड़ा है।

तक़रीबन चार महीने बाद 1884 के नवम्बर महीने में दिए गए अपने प्रसिद्ध बलिया व्याख्यान, 'भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है?' में भारतेंदु हरिश्चंद्र ने कहा[5] :

> यह समय ऐसा है कि उन्नति की मानो घुड़दौड़ हो रही है। अमेरिकन, अंग्रेज़, फरासीस आदि तुरकी ताज़ी सब सरपट दौड़े जाते हैं। सबके जी में यही है कि पाला हमीं पहले छू लें। उस समय हिंदू कठियावाड़ी ख़ाली खड़े-खड़े टाप से मिट्टी खोदते हैं... वहाँ के लोगों का यह सिद्धांत है कि एक दिन भी व्यर्थ न जाए। उसके बदले यहाँ के लोगों में जितना निकम्मापन हो उसे उतना ही बड़ा अमीर समझा जाता है। आलस्य यहाँ इतना बढ़ गया कि मलूकदास ने दोहा ही बना डाला 'अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम। दास मलूका कहि गए, सबके दाता राम।

यानि, उन्नति की घुड़दौड़ शुरू हो चुकी है, उन्नति की गाड़ी रफ़्तार से आगे बढ़ रही है। सभी लोग रेस में मौजूद हैं, गाड़ी पर सवार। सिर्फ़ हिंदू/हिंदुस्तानी ही हैं जो इस रेस से नदारद हैं, ज़मीन पर लोटे, आलस में पड़े, जड़ता में फँसे, गतिहीन और पतनशील! क्योंकि, दूसरी क़ौम के विपरीत हिंदुस्तानियों के अग्रगामी वर्ग, शिक्षित संभ्रांत लोग, विलासिता और अविद्या के अंधकूप में धँसे पड़े हैं। अगर कुछ सक्रिय भी हैं तो उनकी सक्रियता ऊर्जाहीन, अक्षम, लद्धड़ और गतिहीन है – ख़ाली खड़े-खड़े टाप से मिट्टी खोदते हैं। और तो और, अक्रियता और गतिहीनता का महिमामंडन ऐसा है कि इसे काव्य-सौंदर्य का जामा भी पहना दिया गया है! जो भी हो, ध्यान देने के क़ाबिल है 'उन्नति' के पद का प्रयोग। 1880 के पहले प्रकाशित और उपलब्ध शब्दकोश में इसका अर्थ है बढ़ोतरी, समृद्धि, विस्तार, ऊँचाई पाना, ऊपर उठना, वग़ैरह – यानि लंबवत या क्षैतिज (किंतु स्थितिज) वृद्धि। तीव्रता और अग्रमुखी गतिशीलता का बोध अब तक नहीं दिखाई पड़ता है। वहीं हरिश्चंद्र और गोस्वामी जैसे प्रबुद्ध और द्रष्टा लोगों की चर्चाओं और उद्धरणों में 'उन्नति' के पद में रफ़्तार और गतिशीलता का अतिरिक्त अर्थ समाहित होता हुआ स्पष्ट दिखता है। उन्नति का मतलब अब है ऐसी वृद्धि,

---

[4] यह कार्टून मेरे हाथ नहीं लग पाया है, यह उद्धरण परिमलेंदु (2007) : 21 से लिया गया है. राधाचरण गोस्वामी (1858-1925) वैष्णव आचार्य और वृंदावन के राधारमण मंदिर के मुख्य पुजारी गोस्वामी गल्लोजी महाराज के पुत्र थे. राधाचरण 'भारतेंदु मंडल' के एक प्रमुख रचनाकार भी थे. उनकी आत्मकथा, जीवनी और लेखन को समझने के लिए देखें शिशिर (1990).

[5] सिंह (2010) : 66-71.

जिसमें अग्रमुखी गति है, तेज़ी से आगे की ओर बढ़ता हुआ।[6] संकल्पनात्मक स्तर पर 'उन्नति' अब 'प्रोग्रेस' या विकास के नए या आधुनिक अर्थ को समेटती नज़र आती है। यह महज़ इत्तेफ़ाक़ नहीं कि उन्नति की परिकल्पना को दृष्टिगोचर करने के लिए गाड़ी – घोड़ागाड़ी या रेल इंजिन (जिसकी मशीनी शक्ति को उन दिनों अश्व-शक्ति की इकाई में मापा जाता था) – के रूपक का इस्तेमाल किया जा रहा था। जैसा कि भारतेंदु के उसी भाषण के अगले उद्धरण के रूपक से और स्पष्ट होगा, जिसमें कहा गया है कि हिंदुस्तान के ठहराव व पतन का जो कारण है वह है रेल इंजन का अभाव :

> हमारे हिंदुस्तानी लोग तो रेल की गाड़ी हैं। यद्यपि फ़र्स्ट क्लास, सेकेंड क्लास आदि गाड़ी बहुत अच्छी-अच्छी और बड़े महसूल की इस ट्रेन में लगी हैं पर बिना इंजिन ये सब चल नहीं सकतीं, वैसे ही हिंदुस्तानी लोगों को कोई चलाने वाला हो तो ये क्या नहीं कर सकते...

गाड़ी चला कौन रहा है, कोई अंग्रेज़ या औपनिवेशिक शासन का प्रतिनिधि, भारतीय राष्ट्र के अग्रज समुदाय (देशी मध्य-वर्ग) के समर्थन के या उसके बग़ैर, अगर उद्धरणों में व्याप्त इन सवालों को तत्काल किनारे कर इनमें प्रयुक्त बिंबों, रूपकों, अन्यार्थों और कल्पनाओं पर ध्यान दें,[7] तो हमारे दर्ज करने लायक़ कुछ अनूठी और दिलचस्प बातें उभरती हैं। और वे हैं इंजन, गाड़ी अथवा रफ़्तार और आवागमन की आधुनिक प्रौद्योगिकी की केंद्रीयता। थोड़ी और स्पष्टता और रोशनी के लिए हरिश्चंद्र के भाषण के आठ साल पहले लिखे गए एक लेख के एक हिस्से पर नज़र डालते हैं।

सन् 1875 में *हरिश्चंद्र चंद्रिका* में छपे 'भारतवर्ष की समृद्धि' शीर्षक वाले इस लेख में उपन्यासकार लाला श्रीनिवास दास ने पछतावे और असंतोष के साथ कहा :

> बहुत से बंगाली और पारसी सिविल सर्विस, डॉक्टरी और बैरिस्टरी की परीक्षा देने विलायत जाते हैं, परंतु कोई इस प्रयोजन से नहीं जाता कि वहाँ से कलों का काम सीख कर आवै और यहाँ इसका प्रचार करै... पनचक्की, धुआँचक्की, सूत काटने की कला, वस्त्र सीने की कला, लोहा ढालने की कला, भाँत-भाँत की घड़ियाँ, अरगन बाजा, गैस की रोशनी, फोटोग्राफ़, और छापा आदि... मनुष्य ही ने बनाई है और भारतखंड के निवासी

---

[6] 1880 से पहले छपे शब्दकोश (जैसे जे. टी. थॉमसन के ए डिक्शनरी इन हिंदी ऐंड इंग्लिश) और इस काल के बाद छपे शब्दकोश, (जैसे श्यामसुंदर दास के हिन्दी शब्दसागर) में 'उन्नति' शब्द के अर्थ की तुलनात्मक समीक्षा कर हम ये बिंदु आसानी से उजागर कर सकते हैं.

[7] वसुधा डालमिया, संजय जोशी व अन्य बहुत सारे विद्वानों ने इस विषय पर काफ़ी कुछ लिखा है और मध्य-वर्ग की आत्म-छवि और उसके आत्म-परिशीलन (सेल्फ़-फैशनिंग) के बारे में विस्तार से चर्चा की है. उन्होंने यह साफ़-साफ़ दिखाया है कि मध्य-वर्ग अपने आप को राष्ट्र की अग्रगामी क़ौम और राष्ट्र या अवाम की आवाज़ मानता था, जिससे उसके ख़ुद के वजूद को भी वैधता मिलती थी. डालमिया (1997) जोशी (2005).

> भी चैतन्य होकर इस काम में श्रम करै तो सब कुछ बना सकते हैं परंतु हाथ पर हाथ धरे बैठे रहने से कुछ नहीं होता है।[8]

आम भारतीय समाज की जड़ता, आलस्य, गतिहीनता आदि पर कलपने के अलावे दास इस बात पे अचंभित नज़र आते हैं कि शिक्षित भारतीय आधुनिक ज्ञान-विज्ञान, ख़ासकर मशीन और प्रौद्योगिक विद्या (कलों का काम) को लेकर इतने उदासीन क्यों हैं! क्योंकि, उनके अनुसार भारत के (समृद्ध) भविष्य की धुरी तो आधुनिक प्रौद्योगिकी और विज्ञान के ज्ञान पर ही टिकी हुई थी।[9] दास (और उनके समकालीनों) में यह विश्वास कि भारत की समस्याओं का निदान सिर्फ़ वैज्ञानिक ज्ञान और तकनीकी कौशल के रामबाण से ही हो सकता है इतना गहरा था कि इसकी छाप इस लेख के छह साल बाद लिखे गए उनके सामाजिक उपन्यास, जो कि दिल्ली के व्यापारी समाज या भारत की 'व्यापारिक आधुनिकता' को केंद्र में रखकर लिखा गया था, में भी स्पष्ट और शायद अतिरेकी रूप में दिखती है। दास के इस विश्वास की उनके अपने उपन्यास में पड़ी अतिरंजित छाप को उनके समकालीन बुद्धिजीवी आलोचकों-पाठकों ने भी अपने अंदाज़ में दर्ज किया। हिंदी के 'प्रथम' उपन्यास *परीक्षा गुरु* की समीक्षा करते हुए *हिंदी प्रदीप* के संपादक बालकृष्ण भट्ट ने एक ओर तो हिंदी जगत में उपन्यास की नई विधा का दोनों हाथों से स्वागत किया। वहीं दूसरी ओर, आधुनिक विज्ञान और तकनीकी के प्रति उपन्यासकार की जुनूनी आसक्ति तथा उपन्यास के गद्य में ठूँसे हुए रूखे, शैक्षणिक और उपदेशी वैज्ञानिक ज्ञान के कारण भट्ट ने दास को आड़े हाथों लेकर खरी-खोटी भी सुनाई। भट्ट ने पछतावे के साथ ये आरोप लगाया कि लेखक ने मोहक सौंदर्य और मनोरंजक गुणों से लैस इस अपूर्व नूतन विधा का नाश कर दिया!

> इस उपन्यास की भाषा और 'प्लाट' बंदिश बहुत कुछ सरा [हना] के योग्य है [।] ग्रंथकर्ता ने अंग्रेज़ी फारसी संस्कृत और विज्ञान में अपनी लियाक़त जहाँ तक हो सका भरपूर हमसे प्रगट किया है [,] पर न जानिए क्यों हमें इस लेख में एक प्रकार का रूखापन जँचता है [।]... नाटक वा उपन्यास के प्रधान अङ्ग शृंगार [,] हास्य, कभी 2 वीर और करुणा होते हैं सो उन सबकी इसमें कहीं झलक नहीं है [।] क्या नीरा विदुरप्रजागर और ठौर-ठौर बेलून आदि वैज्ञानिक बातों ही के भर देने से समस्त लेखनी की चातुरी समाप्त हो गई; Novel writing उपन्यास संबंधी लेख और विज्ञान तथा नीति से क्या सरोकार [!]... ग्रंथकर्ता

---

[8] जैन (1998) : 80 से उद्धृत. इस तरह के विचार-शब्द दास के उपन्यास *परीक्षा गुरु* में भी बहुतेरे स्थानों पर पाए जा सकते हैं.

[9] माइकल एडस के सहारे यहाँ विज्ञान और प्रौद्योगिकी की आधारभूत परिभाषा देना स्पष्टकारी होगा : मौलिक तत्त्वों और सत्वों की खोजबीन और समझदारी विज्ञान का मूल उद्देश्य होता है जबकि प्रौद्योगिकी ज़्यादा व्यवहारमूलक और तात्कालिक समस्याओं के निदान की ओर मुखर होती है. विज्ञान सैद्धांतिक और प्रौद्योगिक दोनों हो सकता है, लेकिन वह पद्धतिबद्ध प्रयोगों और किसी फेनोमेनन के अन्तर्निहित सैद्धांतिक नियमों या नियामकों की खोज की तरफ़ उन्मुख होता है. प्रौद्योगिकी में भी सिद्धांत, नियम, प्रयोग आदि शामिल हो सकते हैं किंतु उसका प्राथमिक उद्देश्य होता है डिज़ाइन, मानवीय युक्तियों में वैज्ञानिक नियमों को लागू करना. एडस (1989) : 5-6.

> महाशय को अनेक प्रकार के उपदेश वाक्य और विज्ञान चातुरी प्रगट करना था तो गुलदस्ते-यख़लाक या विद्याङ्कुर के ढंग की कोई पुस्तक बनाते [।] यदि ये सब ठौर 2 के अनुवाद निकाल लिए जाँय तो original portion असली हिस्सा उस पुस्तक का कुछ रही न जाएगा…[10]

समीक्षा की ख़ूबी या ख़ामी से परे यहाँ प्रासंगिक यह है कि भट्ट ने उपन्यास में बिखरे और पिरोये भौंड़े विज्ञानवाद पर सीधी अंगुली रख दी।[11] उपन्यास वास्तव में ऐसे उपदेशात्मक भाषण से भरा हुआ था जो नैतिकता में वैज्ञानिकता को पिरोने की वकालत करते थे। रोज़मर्रा के इंसानी रिश्तों में बेकनवादी प्रयोगधर्मिता की पैरोकारी अभिव्यंजना के रास्ते कम और वैज्ञानिक व नैतिक उद्धरणों से ज़्यादा की गई थी। मसलन, किसी को मित्र बनाने या नौकरी में रखने से पहले निश्चित अवधि तक उसका प्रेक्षण-निरीक्षण करना चाहिए (जैसे प्रयोगशाला में होता है), इस परीक्षा के बाद किसी को अपना क़रीबी, नौकर, मित्र या हितैषी नियुक्त करना या नहीं करना चाहिए! अपनी पत्रिका के मार्च 1883 के अंक में भट्ट ने (शायद इस उपन्यास के अरचनात्मक और पंडिताऊ विज्ञानवाद के भरे होने के विरोधस्वरूप!) एक मनोरंजक उपन्यास के धारावाहिक प्रकाशन की शुरुआत की। *नूतन चरित्र* नामक इस उपन्यास के लेखक कोई बाबू रतन चंद्र, प्लीडर हाई कोर्ट थे। भट्ट द्वारा चुना गया उपन्यास (मेरी जानकारी में अब इसकी सिर्फ़ शुरुआती सात-आठ क़िस्तें ही उपलब्ध हैं) यूँ तो एक रोमांटिक थ्रिलर लगता है, लेकिन उसके आख्यान और शिल्प में नई प्रौद्योगिकी बहुत ही दिलचस्प अंदाज़ में अंतर्गुंफित है। मसलन, इसकी कथा किसी कमनीय रोमांटिक स्थान में नहीं, बल्कि रेल के तकनीकी-समाजी परिवेश में प्रस्फुटित होती है, जहाँ अत्यधिक आवागमन, भीड़-भाड़, शोर-गुल और धक्का-मुक्की है। एक रेलवे प्लेटफ़ॉर्म पर इत्तेफ़ाक़न नायक, नायिका से टकराता है, प्लैटफ़ॉर्म और ट्रेन में चढ़ते हुए वह नायिका से क़रीबी बढ़ाने के (कुटिल) जतन करता है, चलती ट्रेन में उससे बात करने के मौक़े ईज़ाद करता है, दूसरी तरफ़ से आने वाली ट्रेन से टक्कर के कारण होने वाली दुर्घटना से नायिका को बचाने के क्रम में उसका आलिंगन (और चुंबन) करता है और उसके दिल में अपने लिए जगह बनाने में सफल हो जाता है। इस दिलचस्प ट्रेन-कथा पर थोड़े विस्तार में चर्चा के लिए जल्दी ही वापस आते हैं।

---

[10] हमने इस उद्धरण को जस का तस रखने की कोशिश की है, सिर्फ़ कोष्ठक में दिए हुए शब्द और विराम-चिह्न हमने जोड़े हैं. यहाँ एक छोटी-सी तथ्यात्मक बात कहना लाज़िम होगा. उपन्यास की समीक्षा दिसंबर 1881 और जनवरी 1882 के अंकों में छपी, जिससे ज़ाहिर होता है कि ये उपन्यास 1881 में छपा होगा, न कि 1882 में. चूँकि पत्रिका के पहले *समीक्षा* वाले पन्नों पर छापे की अशुद्धि के कारण 1881 की जगह 1882 छपी हुई है, इसलिए शायद पहले-पहल गोपाल राय ने हिंदी उपन्यास पर लिखी गई अपनी विश्वकोषीय शोध-पुस्तक में और फिर उनका अनुसरण करते हुए अन्य विद्वानों ने इसकी छपाई का साल 1882 मान लिया. राय (1968).

[11] नकारात्मक नज़रिए से ही सही लेकिन भट्ट ने जिस बिंदु को तत्काल छू लिया था, उस पहलू पर अब तक अकादमिक शोध में ध्यान नहीं दिया है, जबकि इस उपन्यास पर ढेरों निबंध और प्रबंध लिखे जा चुके हैं. देखें कलसी (1992); तलवार (1993); डालमिया (1999).

पहले तत्कालीन सोच और कल्पनाओं में अनेक स्तरों पर आधुनिक प्रौद्योगिकी की केंद्रीयता दिखाते हुए उपरोक्त उद्धरणों के बारे में एक स्पष्टीकरण। आधुनिक प्रौद्योगिकी को सामुदायिक या राष्ट्रीय उन्नति और समृद्धि का अग्रदूत माना जाना इसकी एकतरफ़ा व स्तरीय सराहना भर नहीं था। यह तत्कालीन समाजी-तकनीकी परिकल्पना से गुँथा हुआ था, जो उत्तर भारतीय आधुनिकता के गठन और रचना में हृदयस्थ था। अभिव्यक्ति की लगभग सभी साहित्यिक-कलात्मक विधाओं में – कथा, कविता, लेख, व्यंग्य, कार्टून आदि सब में, सीधे या अन्योक्ति में, प्रत्यक्ष या दृष्टांत रूप में, बिंबों से लेकर कथावस्तु में, परिवेश और सौंदर्य के गठन में– प्रौद्योगिक आधुनिकता के निशान बिखरे मिलते हैं। ये सराहना, सम्मोहन और विश्वास की भाषा में भी अभिव्यक्त होते थे और आशंका, भय तथा तनाव की शब्दावलियों में भी। दूसरे शब्दों में, आधुनिक प्रौद्यौगिकी और उसकी संरचनाओं (इंफ्रास्ट्रक्चर) की बिसात पर साहित्यिक-कलात्मक दस्तावेज़ों के ज़रिए आधुनिकता के अनुभव की कहानी से हम दो-चार हो सकते हैं; ऐसी कहानी जिसमें लगाव भी है और दुराव भी, भय भी है और प्रीति भी, वादा भी और वादाख़िलाफ़ी भी, ख़ुद को बदलने की चाहत भी है और बचाने की परवाह भी। कुल मिलाकर आधुनिकता के अनुभव की इस दिलचस्प कथा में पुराने से नए होने या बनने अथवा आधुनिक सब्जेक्टिविटी के निर्माण की वृहत कथा भी है।

आधुनिक तकनीकी वस्तुओं और उनकी व्यापक संरचनाओं की लंबी फ़ेहरिस्त में, ज़ाहिर है, रेलवे बहुत महत्त्वपूर्ण साबित हुआ। यह एक ऐसी बड़ी, विशाल और दर्शनीय वस्तु थी जो कथित तौर पर सभी उपभोक्ताओं को उनकी आर्थिक क्षमता के बरअक्स बराबर सुलभ थी। दो-तीन दशकों (1840-70) के छोटे से कालखंड में इसका व्यापक महाद्वीपीय विस्तार हुआ। प्रत्यक्ष और प्रभावी रूप से इसने बड़ी तेज़ी से देश के भूगोल की अनुभूति को बदला और समतल किया, भौगौलिक समझ और संवेदना में दूरगामी परिवर्तन किए। और तो और, रफ़्तार, गतिशीलता और प्रगति के वाहक के रूप में यह आधुनिकता का भव्य प्रतीक चिह्न बन गई। आख़िरकार, यह एक ऐसी भीमकाय तकनीकी वस्तु थी जिसके आगे इंसान ख़ुद को बौना अनुभव करते थे, जिसके 'पेट' में इंसान समा कर अब तक अकल्पनीय तेज़ी से चलायमान होकर रोज़ी-रोटी, तीर्थाटन या नातेदारी निभाने के लिए भ्रमण कर सकते थे, इसमें कोई भी चढ़ सकता था, या इस 'अपूर्व' चीज़ को गुज़रते हुए देख सकता था या इसके बारे में किसी और के अनुभव सुन सकता था। ट्रेन यात्रा के दौरान खिड़की के बाहर तेज़ी से घूमते, पीछे छूटते लोग-बाग़, गाँव-बस्ती आदि के मनोरम-चित्रात्मक (पैनोरमिक) परिदृश्य से इनकी एकबद्ध राष्ट्रीय कल्पना का नया अनुभव ले सकता था। ट्रेन के अंदर, इसके नए वास्तु-विन्यास के कारण यात्रियों का पाला नए अनुभवों और चिंताओं से पड़ा। एक नई व्यावहारिकता को ईजाद करने की ज़रूरत पड़ी। अपने-अपने स्टेशनों पर उतरकर चले जाने वाले, किंतु यात्रा के दौरान शरीर के अत्यंत पास, आमने-सामने बैठे, बर्थ के ऊपर सोये-लेटे, बगल में खड़े अज्ञात कुल-ख़ानदान-जाति-धर्म-देश के अजनबी स्त्री और पुरुष के साथ ट्रेन

डब्बों के क्षणिक या अल्पकालीन सान्निध्य में किस तरह पेश आया जाए? क्या बाँचा जाए? क्या छुपाया जाए? आदि। ज़ाहिर है कि रेलवे प्रौद्योगिकी की बिसात पर फैले रोज़मर्रा के ऐसे इंसानी आचार-विचार, उनकी तब्दीलियाँ, उनके विविध अनुभव और इन सबके बीच आत्म, आत्मीयता और जज़्बात के (पुन:) निर्माण की इस कथा के कुछ हिस्से हम साहित्यिक-अभिलेखागार में मौजूद दास्तानों के टुकड़ों (फ़्रैगमेंट्स) के ज़रिए बेहतर बयान कर सकते हैं।

प्रौद्योगिक आधुनिकता से प्रीति और भय

मौजूदा इतिहास लेखन हमें बताता है कि हिंदुस्तान में रेल के आगमन का इतिहास उपनिवेशवाद के राजनैतिक अर्थशास्त्र और सभ्यकारी परियोजना (सिविलाइज़िंग मिशन) से जुड़ा है। अपनी संकल्पना में यह एक ऐसी सभ्यकारी प्रौद्योगिकी होने का दावा करती थी, जो समाज में भौतिक सुख-समृद्धि को बढ़ाने वाली होगी, जो सामाजिक रूढ़ियों और पूर्वाग्रहों को तोड़ेगी, अबाध उत्पादन और वितरण के मुक्त/अमूर्त्त परिवेश (ऐब्स्ट्रैक्ट स्पेस) बनाएगी, क्षुद्र सामासिक और परंपरागत मूल्यों से परे आधुनिक वैयक्तिकता व समतामूलक आचार से लैस उद्यमी और अनुशासित इंसानी देह के निर्माण में सहायक होगी, आदि।[12] इन दावों और अपेक्षाओं से परे, वास्तविकता के धरातल पर, भारत में रेल का विस्तार मूलतः उपनिवेशवाद के राजनैतिक अर्थशास्त्र से संचालित हुआ; रेलवे और उसकी संरचना में नस्ल और वर्ग भेद की गहरी निशानदेही मौजूद रही। फलस्वरूप, शुरुआती दौर में रेल के प्रति समकालीन भारतीय बुद्धिजीवियों के विविध अनुभवों और प्रतिक्रियाओं में इन बिंदुओं पर ख़ास ज़ोर दिखाई देता है। बतौर उदाहरण हम अगस्त 1883 के *भारतेंदु* में ही प्रकाशित (जिसमें 'उन्नति की गाड़ी' शीर्षक वाला कार्टून भी छपा था) और राधाचरण गोस्वामी की एक बेहद रोचक व्यंग्य-कृति *रेलवेस्तोत्र* को ले सकते हैं। लेकिन साहित्य में व्यक्त रेल अनुभव के बिंबों और उनकी सघन भावप्रवणता में घुसने के पहले कुछ बातें ध्यान में रखनी ज़रूरी हैं। रेलवे के चरित्र पर किए गए (व्यंग्यात्मक) हमलों से हमें एकतरफ़ा मायने नहीं निकालना चाहिए कि ये लेखक-बुद्धिजीवी रेल जैसी औपनिवेशिक प्रौद्योगिकी के ही ख़िलाफ़ थे।[13] वास्तव में, ये

---

[12] देखें केर (1995); आहूजा (2003); गोस्वामी (2004). मसलन, भारत में एक मुख्य रेलवे परामर्शी जॉर्ज मैकजॉर्ज ने कहा : 'दुनिया भर की सबसे कठोर और अनन्य बंदिशों में से एक भारत की जाति-व्यवस्था की दरो-दीवार में वाष्प-शक्ति ने चहुँ ओर से सेंध लगा दिया है. सालों से रेलवे के अहाते से जाति-पूर्वाग्रह व्यावहारिक रूप में लगभग इस क़दर मिट गया है कि सबसे पवित्र ब्राह्मण भी यात्रा की सुख-सुविधा त्यागने की बजाय जातीय बंदिशों को नज़रअंदाज़ करना पसंद करेगा.' गोस्वामी (2004) : 106 से उद्धृत. साम्राज्यवादी प्रेस में रेलवे को लेकर पश्चिम की रफ़्तार और शक्ति के प्रतीक रेल-इंजिन के महिमामंडन बनाम पूरब की स्थूल या मंदगतीय शक्ति के प्रतीक हाथी का मखौल बनाते, हिंदुस्तानियों के आलसी चरित्र का मज़ाक उड़ाते व्यंग्य और कार्टून को केंद्र में रख कर लिखा गया नितिन सिन्हा का लेख भी काफ़ी दिलचस्प है. देखें सिन्हा (2016).

[13] रेल, पुल और सड़क आदि के विकास की बेलाग सराहना के लिए हरिश्चंद्र के संपादकीय सहायक दामोदर शास्त्री के आत्मकथात्मक संस्मरण को देखिए, जिसका शुमार आधुनिक हिंदी की शुरुआती आत्मकथाओं में किया जा सकता है. दामोदर शास्त्री, *मैं वही हूँ* (बाँकीपुर : खड्गविलास प्रेस, 1886). इसके अलावे हरिश्चंद्र के रुड़की और हरिद्वार यात्रा वृत्तांतों में इंजीनियरिंग कॉलेज, बाँध, पुल, पनबिजली आदि के बहाने आधुनिक तकनीकी और विज्ञान को लेकर उनका सकारात्मक

हिंदी बुद्धिजीवियों के उस समाजी-तकनीकी परिकल्पना के आंतरिक विरोधाभास की ओर इशारा करते थे जो एक तरफ़ तो आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी (के राष्ट्रीय 'उन्नति' का मार्ग होने) की शक्ति से सम्मोहित थी, वहीं दूसरी तरफ़ इसके मौजूदा भेदभावी चरित्र और मुक्तिकारी वादों को लेकर आशंकित भी। प्रौद्योगिक वस्तुएँ तो चाहिए थीं, लेकिन जद्दोजहद थी उन्हें अपनी शर्तों पर अपनाने की, उसे सुधारने की, उसे स्थानीय और घरेलू बनाने की गुंज़ाइश को लेकर। आधुनिकता के निहायत ज़रूरी और सराहनीय प्रौद्योगिक उत्पादों से दो-चार होने के डर और प्रीति के मिश्रित भाव और बोध को *रेलवेस्तोत्र* बख़ूबी पकड़ता है।

इस तरह के व्यंग्य स्तोत्र के बारे में गोस्वामी ने स्पष्ट लिखा था कि इसका उद्देश्य शैक्षणिक है और यह विषय-वस्तु व्याप्त दोषों में सुधार की कामना मनोरंजक और ग़ैरबोझिल तरीक़े से करती है।[14] आख़िरकार स्तोत्र (या आरती) अपने पूजनीय विषय-वस्तु या चरित्र के ज़रूरी गुणों और पहलुओं का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन और अभिव्यंजन करता है। इस वर्णन के क्रम में एक-एक कर सभी गुणों का बखान करते हुए उस चरित्र (की महानता) के बारे में जानकारी दी जाती है। दैवी या पूजनीय वस्तु की जगह जब व्यंग्य रूप में किसी आमफ़हम मानवीय चरित्र या विषय-वस्तु को लाया जाता है तो वस्तु या चरित्र के (अंतर्निहित दोषों और विरोधाभासों सहित) अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन के कारण, उस चरित्र की जानकारी के अलावे इसमें आलोचना व मखौल का एक अतिरिक्त पक्ष और जुड़ जाता है।[15] कुल मिलाकर *रेलवेस्तोत्र* (या ऐसी व्यंग्य-स्तुतियाँ) एक साथ दो कार्यों का निष्पादन करते हैं। एक, ये अपनी विषय-वस्तु यानि रेल की आलोचना करते हैं। और दो, एक परदेशी और अनजान प्रौद्योगिक वस्तु का देशी और पौराणिक-परंपरागत शब्दावली में वर्णन कर उसे चिर-परिचित भी बनाते हैं। रेलवेस्तोत्र हिंदू देवी-देवताओं की तरह ही रेल की अपूर्व शक्ति और विशालता का वर्णन करता है और ट्रेन के प्रति भारतीय लोगों की उन्मत्तता और आकर्षण को भक्तों के दैवी शक्ति और अवतारों के प्रति सम्मोहन के समानांतर व्याख्यायित करता है।[16] लब्बोलुआब यह है कि रेल की दानवाकार आधुनिक

उत्साह सीधा छलकता है. रेल-यात्रा, आधुनिक तकनीकी के प्रति सम्मोहन, भारतेंदु के यात्रा-साहित्य और उभरते राष्ट्रीयता-बोध की सुंदर पड़ताल के लिए देखिए ब्युरी (2008).

[14] गोस्वामी ने इसी अंदाज़ में लिखी एक अन्य व्यंग्य-कृति *नापितस्तोत्र* (जो कि ब्राह्मणवादी दृष्टि से नाई समुदाय के जाति-बंधन के ख़िलाफ़ उठाए गए 'उच्छृंखल' क़दमों की आलोचना में लिखा गया था) के आमुख में यह कहा था. शिशिर (1990) : 36.

[15] आख़िरकार व्यंग्य अपने आप में कोई स्वतंत्र स्थापित विधा नहीं है. यह एक मोड या शैली है जो किसी पूर्व-स्थापित वाचिक या लिखित विधा या कन्वेन्शन का परजीवीनुमा इस्तेमाल कर उसे नए साहित्यिक कलात्मक मायने और अवदान देता है. व्यंग्य लेखन की विधागत विशेषता और हिंदी में उसके ऐतिहासिक-साहित्यिक पहलुओं की विस्तृत चर्चा के लिए देखें कुमार (2015). बांग्ला में बंकिमचंद्र चटर्जी के लिखे व्यंग्य-स्तोत्र की विवेचना के लिए देखें कविराज, (2000).

[16] डेविड गोस्लिंग के अवलोकन को याद करना यहाँ लाज़िम होगा कि पश्चिमी समाज की तरह भारत में आधुनिक विज्ञान की धर्मशास्त्रीय या ईश्वर मीमांसा से कोई ख़ासी तक़रार नहीं हुई. मसलन, डार्विन के जैव-विकास सिद्धांत, जो इंसानों और जानवरों के सामान्य पूर्वज होने की पैरोकारी करता था, को यहाँ के पौराणिक अवतारवाद के बरअक्स पचा लिया गया. ध्रुव रैना और सैयद इरफ़ान हबीब (1989) : 2085, से उद्धृत.

प्रौद्योगिकी के विविध पक्ष, प्रभाव और अनुभव का बहुमुखी वर्णन रेलवेस्तोत्र बहुत ही दिलचस्प और चटकीले ढंग से करता है।[17]

> हे रेल तेरी जय हो, जय हो! और गाड़ी, इक्का, नौका, डेंगी, सबकी क्षय हो! एवं हिंदुस्तानी राजाओं को अपने राज्य में तुम्हारे जाने से भय हो! और हमारे दुखों का तुम्हारे पहियों की अमूल धूल सर पर पड़ने से लय हो, लय हो!...
> हे विश्वमोहिनी! हे माया महे! जिस देश को तुमने अपने पतित पावन, चरणारबिंदों से पवित्र नहीं किया, वहाँ के लोग तुम्हारे दर्शनों के लिए, देवोदेव मानते, सरकार के द्वार पर धन्ना देते, हज़ारों रुपये का चंदा सही करते, तब तुम्हें अपने देश में पधारकर सफल जन्मा होते हैं। पर जब तुम वहाँ के व्यापार की नफ़ा अपनी किरणों से हर लेती तब वहाँ के लोग तुम्हारा नाम 'रेड' रखते और 'रलयोर्डलयोश्चैव' इस कारिका को चरितार्थ करते। अतएव तुम्हारे आदि अंत दोनों में दुःख-ही-दुःख है...
> हे सुरासुर पूजिते! तुम असुर वंश की स्वामिनी हो! तुम्हारा सिर हबड़े में है। तुम्हारे दोनों चरण दिल्ली और कराची में हैं, तुम्हारे दोनों हाथ अवध रूहेलखंड रेलवे और राजपुताना रेलवे हैं। तुम्हारी पुच्छ ग्रेट इंडिया-पेनेंसुला रेलवे है और बाकी देलावली सब तुम्हारी रोमावली है। तुम समग्र भारतवर्ष को दाब कर पड़ी हो। जिस दिन तुम्हें रुपये का पिंड न मिला कि तुमने गयासुर की तरह उठाकर हिंदुस्तान का भक्षण किया...
> हे युरोपीय कला कलानिधे! हे मानवी कारीगरी के चरम भूते! तुम सर्ग नहीं हो, क्योंकि ब्रह्मा से तुम्हारी उत्पत्ति नहीं और न रघुवंश माघ की कोई प्रकरण ही हो, रहा विसर्ग, सो वह भी नहीं क्योंकि मरीच, कश्यप, आदि ने तुम्हारे दर्शन भी नहीं किए, क्योंकि न द्विविंदु (:) ऐसा आकार है, अतएव सर्ग-विसर्ग रहित सच्चिदानंद स्वरूप हो!…
> हे दुर्गे! दुर्गति हारिणी:! तुम्हारे बहुत से देहाती भक्त तुम्हें दुर्गा का अवतार मानकर प्रणाम करते। अतएव 'या देवी सर्वभूतेषु रेलरूपेण संस्थिता। नमस्तस्यै नमो नमः।[18]

ज़ाहिर है इस स्तोत्र में रेल एक परलोकवासी दानवनुमा अपूर्व शक्तिशाली किंतु आधुनिक शहरी मशीनी राक्षसी है। यह औपनिवेशिक सरकार का ऐसा उपहार है, जिसकी अबाध गतिशीलता ने न केवल पूर्व-आधुनिककालीन तकनीकी और संचार माध्यमों, बल्कि राजनैतिक सत्ता के लिए भी ख़तरा पैदा कर दिया है। एक ही साथ इस प्रौद्योगिकी के प्रति एक पुरज़ोर आकर्षण भी है और संदेह भी। एक तरफ़ 'उन्नति की गाड़ी' से सम्मोहन है। दूसरी तरफ़, इसके राजनैतिक आर्थिक पक्ष को लेकर चिंता भी कि यह (राष्ट्र की) 'संपत्ति की निकासी' (ड्रेन ऑफ़ वेल्थ) का माध्यम है। रेलवे तंत्र की विशालता और उसकी अतिरंजित

[17] हिंदुस्तान में ही नहीं, संसार भर में रेल आधुनिकता का भीमकाय प्रतीक रहा है और हरेक समाज में इसको लेकर रोचक प्रतिक्रियाओं और अनूठे अनुभवों को दर्ज किया गया है. मसलन, ब्रिटेन में भी रेल व्यंग्यात्मक हमले और आलोचना के केंद्र में रही है. लेकिन ऐतिहासिक-सामाजिक-राजनैतिक संदर्भ अलग होने के कारण इन आलोचनाओं का चरित्र अलग था. टेलर (2005); फ्रीमैन (1999); सिमोंस (1994).

[18] शिशिर (1990) : 40-45.

महत्वाकांक्षा का दैहीकरण दिलचस्प है जो दैत्य के अन्यीकृत (एलिगोरिकल) निरूपण में स्तोत्र या आरती के अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन शैली के ज़रिए किया गया है। इसी अंदाज़ में, यह व्यंग्य-रचना समूचे रेल तंत्र को वर्ग और नस्ल-भेद से रंजित औपनिवेशिक जगह की तरह चित्रित करती जाती है और भारतीय लोगों के यात्रा अनुभव का बयान राष्ट्रवादी नज़रिए से करती है।[19] इस तरह की अन्य कृतियों को एक साथ रखकर ध्यान से देखने पर लगता है कि रेल के औपनिवेशिक अर्थशास्त्र की आलोचना तो ज़रूर हो रही थी, किंतु वह इतनी मुखर नहीं थी जितनी रेल यात्रा में होने वाली विभिन्न कष्टों और कठिनाइयों को लेकर होने वाली आलोचनात्मक बातें। यात्रा की शुरुआत से अंत तक – प्लैटफ़ॉर्म पर घुसने, टिकट ख़रीदने, ट्रेन में चढ़ने, डिब्बे में बैठने-सोने, ट्रेन से उतरने, प्लैटफ़ॉर्म से बाहर निकलने तक होने वाली धक्का-मुक्की, रेल-पेल, रेल कर्मचारी, पुलिस और गार्ड द्वारा शोषण, धाँधली और अपमान, खाने-पीने से लेकर पेशाब-पखाने की अनिश्चितता, आदि – रोज़ाना स्तर पर एहसास होने वाली बहु उल्लेखित शारीरिक-मानसिक दिक़्क़तों की अपनी वास्तविकता तो थी ही, लेकिन शायद इनके अनुल्लेखित या अर्ध-उल्लेखित सामाजिक पक्ष भी थे जो आख़िरकार भारतीय समाज की प्रौद्योगिक आधुनिकता से होने वाली जद्दोजहद को बयान करते थे।

मसलन, हरिश्चंद्र कुलश्रेष्ठ रचित और भारतजीवन प्रेस से 1884 ईस्वी में प्रकाशित प्रहसन, ठगी की चपेट में बगी की रपट में, के शुरुआती दृश्य को लेते हैं। एक उत्तर भारतीय शिक्षित ग्रामीण युवक अपनी माता, नौकर तथा नौकरानी के साथ प्लैटफ़ॉर्म पर प्रवेश करता है, फिर रेल-अनुभव की व्यथा-कथा आरंभ होती है। प्लैटफ़ॉर्म की भीड़, थोड़े समय के लिए खुलने वाले टिकट-काउंटर की धक्कामुक्की, जो कि रेल-अधिकारी, कॉन्स्टेबल और दलालों की मिलीभगत से यात्रियों को ठगने के लिए रचा जाता है, के बीच यह युवक ट्रेन में यात्रा करने के लिए आख़िरकार रिश्वत देकर टिकट ख़रीदने और फिर ट्रेन में चढ़ने में सफल हो पाता है। काशी प्रसाद खत्री रचित, रेल का विकट खेल (1883-4) का प्रथम अंक, जो हरिश्चंद्राज़ मैगज़ीन, 15 मई, 1884 में छपा था, भी इसी तरह के रेल-अनुभव को चित्रित करता है। अपनी सुंदर पत्नी के साथ यात्रा करने वाले एक देहाती युवक को टिकट ख़रीदने और ट्रेन में चढ़ने के लिए क्या-क्या पापड़ बेलने पड़ते हैं, चपरासी, टिकिट-बाबू और गार्ड से ठगाने, अपमानित होने के बाद अंततः वह रेलवे गार्ड से (पिछवाड़े में) मिले धक्के की मदद से डिब्बे में सवार हो पाता है। कभी-कभी भारतीय अनुभवों में रेल के शोषक और औपनिवेशिक चरित्र को उजागर करने के लिए यहाँ की तुलना अमेरिकी ट्रेन से भी की जाती थी।[20] बहरहाल, इन रचनाओं के मूल में ये विचार थे कि रेल और उसकी समूची संरचना और तंत्र सिर्फ़ कथनी में क़ानून के शासन में है, लेकिन करनी में ग़ैर-क़ानूनी ढंग से रेल-अधिकारियों द्वारा भेदभाव,

[19] इस तरह की भावनाओं और नज़रियों को हम अलग ढंग के स्रोतों में भी पाते हैं. मसलन, देखें 'रेलवे अधिकारियों का अविवेक', *हिंदी प्रदीप*, अक्टूबर 1883. जिसमें यात्रा के दौरान नस्लीय भेदभाव, समान किराया देने पर भी गोरे/युरोपीय और भारतीय यात्रियों के बीच होने वाले भेदभाव की बात उठाई गई है.

[20] 'अमेरिका तथा भारतवर्ष की रेलगाड़ियाँ', *हिंदी प्रदीप, जिल्द 31, संख्या 3*, संवत 1966 (1909).

अन्याय, और अपमानकारी तरीक़े से संचालित होते हैं। रेल डिब्बों में हाथ-पैर हिलाने की जगह भी मयस्सर नहीं होती, यात्री-उपभोक्ताओं को सामान के बक्सों की तरह ठूँस-ठेल कर चढ़ा और उतार दिया जाता है। इतना ही नहीं, रेल के डिब्बे अपने आप में जेल की तरह हैं, और यात्रा के अनुभव जेल के अनुभव की तरह, जहाँ खाने-पीने और शौचक्रिया की मूलभूत सुविधाओं पर भी आफ़त है। *रेलस्तोत्र* भी कुछ इस तरह कहता है :

> हे विकट टिकटे! हमें टिकट-बाबू न लूटें। हे भीड़-भाड़ भरिते! हम भीड़ में दबकर न मरैं। हे नीलबंदर बल्लभे! हमें तुम्हारा कोई नीलबंदर न छेड़े। हे पुलिसप्रिये! हम तुम्हारे पार्षदों द्वारा पुलिस में न दिए जावें। हे मेला ठेला में महामानिनी! हमसे अभिमान मत करो। हे जेल सन्निभे! हमें चार आना जुर्माना और घंटे का जेलखाना न भुगतना पड़े... हे मल मूत्र जथार्थहि लघाहार सुसम्मते! हम जब चाहें सुतंत्र मल मूत्र विसर्जन कर सकैं...[21]

रेल-पेल और (अ)व्यवस्था

रेर, रेला, रेल-पेल, आदि शब्द रेल और तीर्थ यात्रा संबंधी तत्कालीन अनुभवों के विवरण में अक्सरहाँ मिलते हैं।[22] शायद ध्वन्यात्मक समानता के कारण रेल-पेल जैसे पुराने पदों, जिसका मतलब भीड़-भाड़, धक्का-मुक्की, कोंचना, भरमार, अधिकता आदि था, का नए संदर्भों में इस्तेमाल किया जाने लगा हो। जो भी हो, रेल-पेल का भाव न केवल व्यंग्यात्मक लेखन बल्कि कथा-उपन्यास आदि विधाओं में ट्रेन यात्रा के अनुभवों के वर्णन में बहुतायत मिलता है, जिसके कम से कम दो पहलू दिखाई पड़ते हैं। एक है अज्ञात लोगों और नई या अनजान जगह में भीड़-भाड़, तेज़ी, धक्का-मुक्की, घुटन और अराजकता का माहौल; और दूसरा, ऐसे माहौल में अपने आप और आपे को बचाना और मज़बूती से थामे रखना। अनियंत्रित भीड़, तेज़ी, धक्का, अराजकता, अव्यवस्था तथा उससे जूझने की कोशिश को हम शायद आधुनिकता के विविध अनुभवों और आकांक्षाओं की अन्योक्ति की तरह दर्ज कर सकते हैं। स्पष्ट और गौण दोनों स्तरों पर साहित्यिक निरूपण में रेल-पेल की अपरिहार्य समस्या में बहुतेरी चिंताएँ समाहित नज़र आती हैं। जैसे, अनजान सांसारिक गति से संचालित नए और अपरिचित स्थान, संस्थान और लोगों के बीच कैसा बर्ताव किया जाए या कैसे तालमेल बैठाया जाए! व्यंग्य रचनाओं में भीड़, अव्यवस्था और अराजकता या रेल-पेल की दिक़्क़तों के अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णनों में अपरिचित नज़र और अजनबी स्पर्श के कारण अपने भोजन, जाति और स्त्री की शुद्धि और रक्षा के भंग होने के ख़तरे, इस ख़तरे के मद्देनज़र उत्पन्न भय और चिंता बहुधा झलकती है। बक़ौल वुल्फगंग शिवेलबुश, विभिन्न देशों में रेल बाधाओं-बंधनों, ऊँचाई-निचाई, खाई-दूरी को पाटने वाली भीमकाय यांत्रिक संरचना की तरह मानी गई, ऐसे सामान्य

[21] शिशिर (1990) : 45.

[22] यह सर्वविदित है कि रेल और तीर्थ यात्रा का आधुनिक इतिहास एक-दूसरे से गहरे जुड़े हैं और रेल ने पुराने तीर्थ स्थलों और तीर्थाटन को नया आयाम दिया. देखें मैक्लीन (2003).

बोध या धारणा के विकसित होने का एक कारण इस प्रौद्योगिक संरचना के अपने डिज़ाइन में भी गुम्फित था – रोडवे, जो प्राकृतिक भूरूप (टोपोग्राफ़ी) का अनुसरण करती है, के विपरीत रेलवेलाइनें वस्तुतः विषम तलों का समतलीकरण करती हैं, रेल-गुफाएँ (टनेल) पहाड़ी ऊँचाइयों को भेदती और छेदती हैं, रेल-पुल नदी-तीरों को जोड़ते हैं।[23] जो भी हो, रेल के जाति-भंजक होने को लेकर उठने वाली चिंता और ख़ौफ़ आत्मकथाओं और संस्मरणों तक में बख़ूबी दर्ज मिलता है। 1864 ई. में अपने वेदमर्मज्ञ और संस्कृत आचार्य पिता के साथ कराड (सतारा, महाराष्ट्र) से काशी की पहली यात्रा में दामोदर शास्त्री (ज.1848 ई.) ने रेलगाड़ी न लेकर बैलगाड़ी का इस्तेमाल किया। क्योंकि, उनके पिताजी जो अपने देहावसान के लिए काशी प्रवास को जा रहे थे, को ट्रेन में अपने भोजन और जाति के अशुद्ध हो जाने का ख़तरा था।[24] यह महज़ इत्तेफ़ाक़ नहीं कि व्यंग्य रचनाओं में भी रेल की औपनिवेशिकतामूलक नस्ल और वर्ग भेदी प्रकृति की आलोचना के संग-संग रेलडब्बों में सामाजिक या जाति-भेद को (पुनः) बहाल करने की ख़्वाहिश भी छलक उठती है। छुआछूत के न बरते जाने के कारण उसकी तुलना कभी बार-गर्ल से तो कभी जाति-उदासीन धार्मिक संप्रदायों से करके रेलवे का मखौल उड़ाया जाता था। इसे रेलस्तोत्र कुछ इस तरह से बयान करता है :

> हे जंगम जगन्नाथ रूपिणी! तुम्हारे नीचे नील चक्र और ऊपर भैरवी चक्र है। क्योंकि तुम्हारे मंदिर में रत्न सिंहासन पर बैठकर हिंदू-मुसलमान, क्रिस्तान, सब बराबर बैठते और एक साथ भोजन करते। अतएव 'जगन्नाथ के भात को जगत पसारै हाथ' और 'प्रवृत्ते भैरवी चक्रे सर्वे वर्णाः द्विजायतः' इन दोनों श्रुतियों ने तुम्हारा ही कलियुग से डरकर आश्रय लिया है... हे विश्वरूपे! विशेष कहाँ तक तुम्हारी स्तुति करैं, तुम बार-वनिता हो। तुम्हारे यहाँ सब का निर्वाह है। तुम अशरण शरण हो...[25]

वहीं *रेलवे दोकट* जैसी लेखनी में तो सीधे-सीधे ब्राह्मणवादी विषवमन भी नज़र आ जाता है। रेलवे नियमों के दोग़ले चरित्र, यानि (नस्लीय) अलगाव की युरोपीय परंपरा को बढ़ावा किंतु (जातीय) अलगाव की हिंदुस्तानी परंपरा को ख़ारिज करते रेलवे क़ानून पर तंज़ करते हुए यह व्यंग्य रचना कुछ यूँ कहती है :

> हिंदू मुसलमानों को भंगियों से अत्यंत घृणा है, पर वह जबरन उनके पास बिठलाए जाएँगे।[26]

---

[23] शिवेलबुश (1977, 2014).

[24] शास्त्री (1886) : 3. विदित हो कि दामोदर शास्त्री भारतेंदु हरिश्चंद्र के सम्पादकीय सहकर्मी भी रहे और कई वर्षों तक *बिहार-बंधु* प्रेस (पटना) के संपादक भी.

[25] शिशिर (1990) : 44-45.

[26] *रेलवे दोकट* पहली दफ़ा *भारतेंदु*, 27 जुलाई, 1884 में प्रकाशित हुआ. शिशिर (1990) : 49.

इस तरह के उदाहरण अपने आप में उन उत्साही उपनिवेशवादियों के बयानों के कांउटर-प्वाइंट भी हैं जो रेल को जाति-भंजक बता रहे थे। दरअसल ये बदलती परिस्थितियों के अनुकूल जाति-पालक आचारों की पुनर्निर्मिति की पुरज़ोर चाहत का इज़हार करते नज़र आते हैं। अन्य वाक़यात्मक साक्ष्यों के हवाले से, जिसकी झलक हम आगे देखेंगे, हमें जाति-पालक कर्म-व्यवहारों का निजीकरण होता भी नज़र आता है। खान-पान, जाति-धर्म संबंधी शुद्धता या छुआछूत के पालन की अनिश्चितता और दुश्चिंता के अलावे रेलवे स्टेशनों और रेलगाड़ी को संभ्रांत (हिंदू) महिलाओं के लिए असुरक्षित, ख़तरनाक और नैतिक भ्रष्टाचार की जगह भी समझा गया, क्योंकि इन स्थानों में उनका सामना निम्न जाति-वर्गीय महिलाओं, अनजान (छिछोरे) यात्रियों, और रेलवे कर्मचारियों से हो सकता था। यह मर्दानी चिंता और डर न केवल *रेल का विकट खेल* जैसी रचनाओं में, बल्कि सरकारी अधिकारियों को दी गई अनगिनत दर्ख़्वास्तों और संपादकों के नाम लिखी खुली चिट्ठियों में भी काफ़ी तादाद में मिलते हैं जो भद्र महिलाओं के लिए प्लैटफ़ॉर्म पर प्रतीक्षा, ट्रेन में उतरने-चढ़ने-बैठने के बंदोबस्त ऐसे ढंग से करवाना चाहते थे कि उन्हें अनजान मर्द की निगाहों और निम्न कुल-ख़ानदान की औरतों की नज़दीकी से बचाया जा सके।[27] सिर्फ़ एक उदाहरण के लिए अप्रैल 1881 के अंक में छपे *हिंदी प्रदीप* संपादक के नाम लिखे पत्र को देख सकते हैं जिसमें हरदेव प्रसाद नामक एक व्यक्ति ने अपनी ऐसी ही शिकायत को सरकार बहादुर तक पहुँचाने की बात की।

अजनबी लोग-बाग़ और इश्क़-मोहब्बत की नई (आख्यानिक) संभावनाएँ

एक ओर जहाँ रेलवे के प्रति भीड़, अराजकता और अनचाही नज़दीकियों को लेकर ब्राह्मणवादी मर्दानी चिंताओं का उभार दिखता है, वहीं दूसरी तरफ़ अनजाने लोग-बाग़ से आमना-सामना होने की असीमित आख्यानिक संभावनाओं के प्रति एक दिलचस्प और रोमांचक दृष्टिकोण का आगमन होता भी नज़र आता है। आरंभिक औपन्यासिक कथा-मीमांसा में रेलवे के स्पेस का पुनर्नियोजन और देसीकरण (डॉमेस्टिकेशन) ऐसे स्थान या मंच की तरह होता है, जहाँ 'नूतन चरित्र' के लिए न केवल आधुनिक रोमांटिक मोहब्बत की, बल्कि प्रचलित यौनिक-सामाजिक दायरे के उल्लंघन की भी अपूर्व संभावना थी। आख़िरकार *हिंदी प्रदीप* में किस्तवार प्रकाशित 1883 का रोमांटिक थ्रिलर स्वघोषित रूप से नए या आधुनिक स्त्री-पुरुष की कथा कहता है। इसके मुख्य किरदार विवेक राम और चित्रकला, शिक्षित युवक और युवती हैं जो अपनी-अपनी यात्राओं के क्रम में महज़ इत्तेफ़ाक़न उत्तर भारत के हरथला (मुरादाबाद) रेलवे स्टेशन पर मिलते हैं और यात्रा के दौरान एक-दूसरे के क़रीब आते हैं और फिर (अंततः मन ही मन) इश्क़ कर बैठते हैं। उपन्यास का प्रासंगिक सार इस

[27] रेलवे कॉलोनियों में रहने वाले ग़ैर-बीवीशुदा गोरे पुरुषों के देशी महिलाओं के साथ बनते दैहिक-वैवाहिक रिश्तों के आलोक में नस्लीय-शुद्धता को लेकर मिलती-जुलती नस्लीय-मर्दवादी चिंता अंग्रेज़ अधिकारियों में भी दिखती है. देखें, बेयर (1994).

प्रकार है – दिल्ली शहर के दो लड़के नायक विवेक और उसका दोस्त दौलत हरथला स्टेशन पर दिल्ली जाने वाली ट्रेन के इंतज़ार में झक मार रहे हैं, और छोटे स्टेशन पर मस्ती, मज़े और लड़कियों के न होने की गुंजाइश को लेकर शिकायत कर रहे हैं। जल्दी ही उनकी बातचीत पास के आवासीय महिला विद्यालय और उसकी छात्राओं के साथ मज़े करने की गुदगुदाती संभावनाओं की तरफ़ मुड़ जाती है। अचानक एक ख़ूबसूरत लड़की, जो उसी स्कूल की छात्रा थी, एक उम्रदराज़ नौकरानी के साथ ट्रेन पकड़ने पहुँचती है। नायक के अनुरोध पर उसका दोस्त नौकरानी को घूस देकर लड़की के बारे में जानकारी और उसके साथ एक ही डिब्बे में सफ़र करने की संभावना तलाशता है। लड़की को छोड़ने आई नौकरानी घुड़की देकर नायक के दोस्त को भगा देती है, लेकिन दूर खड़े नायक को नायिका उत्सुकता से बस एक नज़र देख लेती है। नायिका की एक नज़र ही नायक के दिल की धड़कन बढ़ा देती है। शरारती शहरी लड़के जानबूझ कर उसी डब्बे में चढ़ते हैं, जिसमें लड़की प्रवेश करती है, लेकिन इन लड़कों को नज़रअंदाज़ करने के लिए वह किताब पढ़ने में मशगूल हो जाती है। नायक अपने दोस्त से कुछ करने की गुज़ारिश करता है क्योंकि वह उसकी सुंदरता से घायल है और उससे नज़दीकी बढ़ाने को लेकर बेचैन। नायक का दोस्त खलनायक बनने का स्वांग रचता है, वह लड़की को छेड़ता है, अश्लील बातें करता है और फिर जबरन उसके हाथ पकड़ता है। नायक अपनी दोस्ती तोड़कर, दोस्त को पीटकर नायिका को बचाता है, और फिर लड़की उसको धन्यवाद देती है। नायक विवेक और नायिका चित्रकला एक-दूसरे से औपचारिक रूप से परिचित होते हैं, और पता चलता है कि दोनों ही अच्छे कुल-ख़ानदान से हैं। नायिका पूर्व-सैनिक की बेटी है, जिसका लालन-पालन किसी अंग्रेज़ अफ़सर ने किया था क्योंकि मृतक सूबेदार पिता ने 1857 के ग़दर में उसकी जान बचाई थी। विवेक के पिता एक बड़े व्यापारी थे जिनके पूर्वज मुग़लों के ख़ज़ांची हुआ करते थे। फिर अचानक विवेक को एहसास होता है कि ट्रेन टक्कर के कारण दुर्घटनाग्रस्त होने को है। वह चित्रकला को झटके से अपनी बाँहों में भर लेता है, अपने दिल की भावना का इज़हार करता है और अगले क्षण ट्रेन-दुर्घटना हो जाती है। हैरान और सन्न चित्रकला को एहसास होता है कि वह एक अजनबी पुरुष की गर्म देह के नीचे पड़ी है, और यह भी कि उसकी जान बच गई है, उसे विवेक ने बचा लिया है, जो ख़ुद बेहोश और घायल पड़ा है। जल्दी ही विवेक को रेलवे के डॉक्टर और उसका दोस्त दौलत वहाँ से निकालते हैं और अस्पताल ले जाते हैं, और चित्रकला ज़रूरी काम होने के कारण घायल नायक की सेवा न कर पाने के लिए माफ़ी माँग कर दूसरी ट्रेन से दिल्ली को रवाना हो जाती है। रवानगी से पहले वह भी अपनी दिली भावना का इज़हार करती है।[28]

[28] इसके बाद कथानक दिल्ली की ओर चला जाता है, जहाँ नायिका को अपने भाई के साथ मिलकर बीमार अंग्रेज़ अभिभावक (जिसने इन दोनों को पाला-पोसा और शिक्षा-दीक्षा मुहैया कराई थी) से मिलने लाहौर जाना होता है. लेकिन आकस्मिक परिघटनाओं और संयोग से भरे कथानक में नया मोड़ आ जाता है. चित्रकला का अपहरण हो जाता है, नायक विवेक कुछ दिनों बाद दिल्ली आकर अपने प्यार की तलाश करता है और नायिका के दुखी भाई से टकराता है. अंततः विवेक अपनी बुद्धि और शौर्य से अपनी महबूबा को अपहरणकर्त्ता के चंगुल से आज़ाद करा लेता है. उपलब्ध *हिंदी प्रदीप* की फ़ाइलों में इसके

ज़ाहिर है, इस दिलचस्प आख्यान में रेलवे स्टेशन और रेल यात्रा में अनजान लोग-बाग़ और अजनबी से सामना और नज़दीकी के मौक़े का नया और बदलावमूलक इस्तेमाल होता नज़र आता है। 1880 के दशक में किसी अजनबी युवक और युवती के रोमांटिक प्रेम और मिलन की यथार्थवादी दास्तान का विश्वसनीय और सुगम बयान शायद रेलवे के आधुनिक तकनीकी-समाजी परिवेश के अलावे और कहीं भी करना मुश्किल था। ग़ैर-रिश्तेदार, विजातीय, अजनबी स्त्री-पुरुष के आधुनिक रोमांटिक प्रेम, दैहिक नज़दीकी, यौनिक चाहत, आदि की (साहित्यिक) अभिव्यक्ति, जो तत्कालीन सामाजिक बंधनों-मान्यताओं की हदों का उल्लंघन करती थी, वास्तव में चलती ट्रेन में या रेल तंत्र के बृहत्तर तकनीकी-समाजी माहौल में ही घटित होती है।[29] ग़ौरतलब है कि रेल-दुर्घटना से (नायिका की जान को) होने वाले नुक़सान को रोकने की हीरो की क्षमता और क़ाबिलियत एक नए क़िस्म के मर्दानेपन के उभार की निशानदेही करती है। वह न केवल आधुनिक द्रुतगामी प्रौद्योगिकी के ख़तरे को नियंत्रित करने की कोशिश करता है बल्कि अपने पुरुषत्व का प्रदर्शन (पाठकों के लिए यद्यपि यह प्रदर्शन नाटकीय या फ़रेबी था) कर रेलगाड़ी के अंदर एक अबला युवती की रक्षा करता है, ट्रेन-डब्बे को सुरक्षित और रिहाइशी जगह में तब्दील कर देता है, अजनबी हसीना का दिल जीत लेता है।[30]

यहाँ दो बिंदु दर्ज करने लायक़ हैं। एक, रेल की तकनीकी-समाजी संरचना के बहाने नए क़िस्म के ऐंद्रिक सौंदर्य बोध की रचना की कोशिश – ऐसा सौंदर्य जिसके गठन और परिचालन में मॉडर्न कॉमोडिटी (आधुनिक उपभोग की वस्तुएँ) और टेक्नो-इंडस्ट्रियल आर्टीफ़ैक्ट्स (मशीननिर्मित शिल्प की वस्तुएँ) केंद्रीभूत नज़र आते हैं।[31] दो, इसमें रेलवे प्रौद्योगिक संरचना के नए या अनजान और अराजक स्पेस को एक सचेत साहित्यिक-राजनीतिक प्रयास के तहत अपनाने और उसे एक व्यवस्थित, सुरक्षित, जानी-पहचानी जगह में बदलने का प्रयास और प्रतीकात्मक चाहत दिखती है। ऐसी चाहत जो 'नूतन चरित्र' के ज़रिए ही (आख्यानिक स्तर पर) मुमकिन हो पाती है। एक आधुनिक मर्द/नायक जो रेल-पेल, असुरक्षा, अराजकता और उनसे उपजी चिंता और भय से भरे माहौल में हस्तक्षेप कर व्यवस्था

बाद की क़िस्त मुझे मयस्सर नहीं हो पाई. पहले नौ अध्यायों के लिए देखें *हिंदी प्रदीप* मार्च, अप्रैल, जून, जुलाई, अगस्त और अक्टूबर 1883 के अंक. रेल-परिवेश केंद्रित आधुनिक रोमांटिक मोहब्बत के कथानक वाली एक और दिलचस्प कृति राधाचरण गोस्वामी की *सौदामिनी* है, जिसे उन्होंने 'नवन्यास' की संज्ञा दी. यह साल 1891 में *भारतेंदु* के जनवरी और फ़रवरी अंक तथा मार्च-अप्रैल-मई-जून के संयुक्तांक में किस्तवार छपा था. पुनर्मुद्रित संस्करण के लिए देखें शिशिर (1990) : 221-34. मतलब, *नूतन चरित्र* कोई अपवाद नहीं था.

[29] इस उपन्यास के दो किस्तों का शीर्षक 'चलती रेल' है.

[30] अंग्रेज़ी नाटक व सिनेमा कथानकों के संदर्भ में ट्रेन दुर्घटना, हीरो के हस्तक्षेप और बचाव आदि के अप्रस्तुत विधान (ट्रोप) को समझने के लिए देखें डाली (1998).

[31] इसकी विस्तृत चर्चा इस पर्चे के हद में मुमकिन नहीं, लेकिन इसे दर्ज करना ज़रूरी है. क्योंकि इस नए क़िस्म के ऐंद्रिक-सौंदर्य की रचना और बोध *परीक्षा गुरु* में भी स्पष्ट झलकता है, जिसके शुरुआती पन्नों में बेल्जियन और फ्रेंच काँच तथा अन्य आधुनिक उपभोग की वस्तुओं के वर्णन मिलते हैं, जिन्हें नायक ख़रीदने और दिखाने की चाहत रखता है.

क़ायम कर सकता है। तकनीकी-समाजी स्थानों और संरचनाओं के ख़तरे, अनियंत्रित तेज़ी और परेशानी पर क़ाबू कर वह उसे इतना नियंत्रित और अंतरंग बना सकता है कि (महिलाओं के लिए) वह घर जैसा हो जाए। *आदर्श हिंदू* नामक एक परवर्ती उपन्यास में ऐसी ही चाहत और उसकी पूर्ति का प्रयास उसके नायक के ज़रिए होता है। सपाट शीर्षक वाले इस साहित्यिक रूप से उचाट किंतु ऐतिहासिक दृष्टि से दिलचस्प उपन्यास के लेखक बंबई के *श्री वेंकटेश्वर समाचार* के सह-संपादक लज्जाराम मेहता थे, घोषित रूप से सनातनी ब्राह्मण, गोरक्षा और हिंदी भाषा के अग्रणी पैरोकार, बाल-विवाह, वर्णाश्रम और 'मुसलमानी अत्याचार का अंत करने वाली' अंग्रेज़ी हुकूमत के घोर समर्थक थे।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा और इंडियन प्रेस, इलाहाबाद द्वारा संयुक्त रूप से 1914 ईस्वी में प्रकाशित *आदर्श हिंदू* में रेलवे के अनुभव का बयान बहुत ही रुचिकर है। शिक्षामूलक और ज्ञानबाँटू उद्देश्य से लिखा गया यह (ब्राह्मणवादी) उपन्यास मूलतः एक ऐसे आम आधुनिक ब्राह्मण पुरुष के रोज़मर्रा के जीवन और कृत्य की दास्तान है जिसमें आदर्श हिंदू के सर्वगुण (पूर्व!) मौजूद हैं। नायक पंडित प्रियनाथ एक स्वाभिमानी ब्राह्मण है, वह अंग्रेज़ी साहित्य में एम. ए. है, किसी ज़मींदारी में कोर्ट ऑफ़ वॉर्ड का मैनेजर है, वह एक मुसलमान-विरोधी, अंग्रेज़-समर्थक, कट्टर गौसेवक तथा वर्ण-व्यवस्था, मूर्ति-पूजा और कर्मकांड में विश्वास रखने वाला आदमी है। उसकी स्त्री प्रियंवदा एक ऐसी शिक्षित, कर्तव्यपरायण और सुंदर नारी है जो पति के अलावे हर अजनबी मर्द की नज़र, नज़दीकी या सोहबत पर संदेह करती है। वह अपनी पत्नी से बेहद प्यार करता है, उसके साथ प्रेम-प्रवास (हनीमून) पर जाता है और माता-पिता को तीर्थ-यात्रा पर ले जाता है। कथानक और चरित्र रेलवे लाइन के संग-संग तीर्थस्थलों के भूगोल का भ्रमण करते हुए उत्तर भारत के विभिन्न स्थानों (जैसे प्रयाग, गया, काशी, आदि) के इर्द-गिर्द घूमते हैं और अच्छे व आदर्श हिंदू होने के गुण, हिंदी भाषा की महानता आदि का बखान करते हुए समाज, देश और दुनिया के बारे में अपने विचार व मंतव्य पेश करते हैं। मैं उपन्यास-चर्चा रेलवे-अनुभव की दृष्टि से सीमित करके पेश करूँगा। उपन्यास के चरित्र और कथानक जैसे ही रेलवे परिसर में पहुँचते हैं, उनके लय-ताल बदलने या चरमराने लगते हैं। रेल-पेल के कारण (उपरोक्त प्रहसनों की तरह ही) डिस्लोकेशन और डिस्ओरिएंटेशन का भाव हावी हो जाता है, जैसे कि नए द्रुतगामी इंफ्रास्ट्रक्चर के लिए ज़रूरी आचार-व्यवहार और ऐंद्रिक माँगें (सेंसरी डिमांड) रेलगाड़ी और स्टेशन के बाहर अज्ञात हों। ऐसे ही माहौल में आदर्श आधुनिक हिंदू नायक आगे आता है, ज़िम्मेदारी लेता है, अनुकरणीय कार्य और बातों के माध्यम से परिस्थिति को क़ाबू में कर व्यवस्था क़ायम करता है। व्यंग्यात्मक और आत्मसंस्मरणात्मक रचनाओं के छुआछूतधर्मी शुद्धतावादी ब्राह्मण मर्दों के विपरीत, पंडित प्रियनाथ न केवल सहजता से भीड़-भाड़ में रेल यात्रा करता है बल्कि सक्रियता से वहाँ फैली अव्यवस्था को दुरुस्त करने की कोशिश भी करता है। भोजन, स्पर्श आदि से संबंधित आचरणों का उसने शायद निजीकरण कर लिया है। वह ख़ुद अपना लोटा-डोरी लेकर चलता है और ट्रेन में या स्टेशन पर खाना नहीं खाता। वह या उसका परिवार ट्रेन

से उतरने के बाद बिना स्नान किए खाना नहीं खाता। किंतु, जो ऐसा नहीं करते हैं, उनसे कोई शिकवा-शिकायत भी नहीं करता। एक प्रसंग में कर्मचारियों की हड़ताल की वजह से ट्रेन यातायात में देरी और स्टेशन पर फँसे भूखे-प्यासे यात्रियों के बीच मचे कोहराम का सामना करता है तो वह भीड़ को अनुशासित करता है। रेलवे अधिकारी की अनुपस्थिति में आदर्श हिंदू नायक परंपरागत क्षत्रिय रूप में (न जाने कहाँ से!) तलवार निकाल कर कुएँ पर झगड़ती भीड़ को ललकारता है, भीड़ सहम कर क़तारबद्ध हो एकाएक बिना धक्का-मुक्की के पानी ले पाती है। वह पास के गाँव जाकर एक परिवार से (जहाँ पिछली रात शादी का भोज था) खाना-मिठाई लेकर स्टेशन आता है और भूखे यात्रियों में बँटवाता है। रेलवे जंक्शन पर तार भिजवा कर ट्रेन यातायात दुरुस्त करवाने में मदद करता है। दूसरे प्रसंग में वह भीड़ से एक चोर को, जो उसकी पत्नी का सामान लेकर भागने की कोशिश करता है, पकड़कर पुलिस के हवाले करता है। एक और प्रसंग में उसकी आदर्श पत्नी एक भले दिखने वाले पुरुष के द्वारा भीड़ में किए स्पर्श और उसकी गंदी नज़र का प्रतिकार करने के लिए ज़नाने डब्बे की जगह अपने पति के साथ सफ़र करना बेहतर बताती है।

बहरहाल, दोनों उपन्यासों में, चाहे वह उपदेशात्मक बड़बोलेपन से भरा (*आदर्श हिंदू*) हो या मनोरंजक प्रेमकहानी वाला (*नूतन चरित्र*), सीधे या परोक्षतः महिलाओं से होने वाली छेड़-छाड़, ज़बर्दस्ती या उनको घूरना-ताड़ना आदि को आम घटनाओं की तरह दर्ज किया गया है। इस आलोक में इन उपन्यासों में एक ऐसे पुरुषत्व के गठन का आग़ाज़ दिखता है जिसके सुरक्षा-क्षेत्र में रेलवे का ख़तरनाक परिसर (घर जैसे) सुरक्षित स्थान में तब्दील हो जाता है, जिससे महिलाएँ आराम से यात्रा कर पाती हैं। हालाँकि, रेलवे को अपनाने और उसके घरेलूकरण के प्रतीकात्मक साहित्यिक प्रयास कई अन्य रूपों में भी दिखते हैं। जैसे, एक महिला लेखक के काफ़ी अलग और दिलचस्प निरूपण में रेल को न केवल पुरुषों बल्कि स्त्रियों के लिए भी गॉसिप और हँसी-मज़ाक़ के स्पेस की तरह दर्ज किया गया है। राजेंद्रबाला घोष उर्फ़ बंगमहिला द्वारा लिखी वर्ष 1906 के सरस्वती में छपी *दुलाईवाली* एक ऐसी ही कहानी है।[32] इस कहानी में एक आधुनिक भद्र पुरुष चलती ट्रेन में अपने सामने घूँघट में बैठी अकेली स्त्री की सुरक्षा को लेकर परेशान है। कहानी के अंत में पता चलता है कि पर्दानशीन अकेली स्त्री और कोई नहीं बल्कि उसके मित्र की पत्नी है, और ऊपर बर्थ पर छिपे अपने पति के साथ मिलकर उसने इस भद्र-पुरुष को उल्लू बनाया है। स्पष्ट तरीक़े से यह कहानी स्त्रियों के प्रति पुरुषों की कृपा-रक्षा-भावजनित चिंता का मज़ाक़ उड़ाती है, और शायद यह भी दिखाती है कि रेलयात्रा स्त्री तथा पुरुष दोनों के लिए ही मज़ेदार मौक़ा हो सकता है। लेकिन इस क़िस्म के उदाहरण कम और बिरले ही मिलते हैं। अधिकतर, मर्दानी नज़र और स्पर्श से (संभ्रांत मध्यवर्गीय) महिलाओं को होने वाली परेशानी का ही ज़िक्र करते हैं।

---

[32] पांडेय (2006) से उद्धृत.

स्त्रियों के ट्रेन अनुभव और हिंदुस्तानी मर्दों की (व्यभिचारी) नज़र और रवैये में सुधार का प्रश्न, ज़ाहिर है जल्दी ही रेलवे आवाजाही और गतिशीलता का एक आम स्थापित माध्यम हो चला था। इसलिए 1920 के बाद से ख़ास तौर से, सार्वजनिक स्थानों में या घर के बाहर निकलने वाली स्त्रियों के प्रति आम हिंदुस्तानी पुरुषों की घूरती-छेड़ती निगाहें और उनके यौन-उत्पीड़क रवैये की अधिकतर आलोचनाएँ और (फलतः) स्त्री-पुरुष संबंधों में सुधार हेतु मर्दों के रवैये में परिवर्तन की ज़रूरत पर ज़ोर देती हुई अपील अमूमन रेलवे स्टेशन या प्लैटफ़ॉर्म जैसी जगहों में अवस्थित दिखती है।[33] इसका मतलब यह नहीं निकाला जाना चाहिए कि रेल-पेल और उससे जुड़ी अन्य समस्याएँ और आलोचनाएँ मसलन रेलवे अफ़सरों, पुलिस, सरकार आदि की ज़्यादतियाँ अब नहीं हो रही थीं। वे तो अभी भी लगातार जारी थीं जो संपादकों के नाम लिखी चिट्ठियों, रिपोर्टों और कार्टून वग़ैरह में आसानी से देखी जा सकती हैं।[34] हाँ, उसमें कुछ तत्कालीन राष्ट्रवादी उभार के तत्त्व ज़रूर जुड़ गए। मसलन, देखिए (चित्र1) 'हिन्दोस्तान की रेलगाड़ी का तीसरा दर्जा' शीर्षक वाला कार्टून। यह सीधे-सीधे रेल-पेल की दिक़्क़त और उसके कारण महिलाओं को होने वाली विशेष परेशानी का ('भड़काऊ') चित्रण करता है। एक अंग्रेज़ीनुमा रेल अधिकारी लतियाकर यात्रियों को ट्रेन में ठूँस रहा है, जिससे भगदड़ जैसी स्थिति पैदा हो रही है। पुरुष तो किसी तरह चढ़ पा रहे हैं, किंतु महिला गिरती (और चोटिल होती) नज़र आ रही है। ज़ाहिर है, यहाँ रेल की सवारी में महिला के बेइज़्ज़त और चोटिल होने की संभावना पुरुषों के मुक़ाबले अधिक दिखाई गई है। इस तस्वीर में एक और बिंदु ग़ौरतलब है, जो अमूमन लिखित या साहित्यिक दस्तावेज़ों में सीधे-सीधे संप्रेषित नहीं हो पाता। अंग्रेज़ अफ़सर की लताड़ और ज़बर्दस्ती के कारण आम भारतीय लोग एक-दूसरे के क़रीब आ रहे हैं या मजबूरीवश नज़दीकी अपना रहे हैं। इन अतिरिक्त अर्थों में यह रेल-पेल के उन्नीसवीं सदी वाले विवरणों से थोड़ा हट कर भी है। दूसरे शब्दों में, तत्कालीन राष्ट्रवादी तड़के से लैस इस कार्टून में तीसरे दर्जे से सफ़र करने वाले, यानि आम भारतीय स्त्री-पुरुष, औपनिवेशिक ज़्यादतियों के शिकार हैं और शायद इसलिए साथ आने, या राष्ट्रवादी एकजुटता के लिए विवश और प्रयासरत भी। रेलयात्रा के अनुभव, कुल मिलाकर, एक नए राष्ट्रीय समुदाय की कल्पना में मदद कर रहे हैं, जो शायद बिना आक्रामक औपनिवेशिक संदर्भ के मुमकिन नहीं थी!

[33] नारी-सुधार और नए नारीत्व को लेकर बहुत लोगों द्वारा ढेरों कुछ लिखा जा चुका है, इसलिए मैं सिर्फ़ पुरुषों के सुधार या नई मर्दानगी की तलाश करते उदाहरणों पर ही फ़ोकस रखूँगा.

[34] एक और उदाहरण के लिए देखें 'रेल यात्रा में स्त्रियों को कष्ट', *चाँद*, अक्टूबर 1924.



चित्र 1 हिन्दोस्तान की रेलगाड़ी का तीसरा दर्जा (*सुधा*, मई 1928)

राष्ट्रवादी उभार के नए दौर ने एक तरफ़ रेल के औपनिवेशिक चरित्र और उसके अनुभव को (उपरोक्त कार्टून के ज़रिए) नए नज़रिए से परखा। दूसरी ओर, स्त्री-शिक्षा, राष्ट्र-निर्माण और राष्ट्रीय आंदोलनों में स्त्रियों के घर से बाहर निकलने और निकालने की वकालत करने वाले हस्तक्षेपों के फलस्वरूप बाहर आने-जाने या सार्वजनिक स्थलों में स्त्रियों द्वारा सामना की गई समस्याओं की चर्चा के तहत भारतीय पुरुष और पुरुषत्व की आलोचना और सुधार की बात भी होने लगी। इन्हीं परिवर्तनकारी परिघटनाओं के बृहत्तर संदर्भ में स्त्रियों की रेल यात्रा के अनुभवों और उसके बहाने भारतीय मर्दानगी की समस्याओं और उनके सुधार की चर्चा ज़ोर-शोर से होने लगी। अब स्पष्ट तौर पर न केवल अंग्रेज़ या भारतीय रेल-अधिकारी, या रेलवे स्टेशन के बाज़ारू और दर्शनीय-पर्यटनीय माहौल में फिरने वाले आम आवारा लड़के, बल्कि मध्यवर्गीय शिक्षित पुरुषों को भी सुधारवादी आलोचना का हिस्सा बनाया जाने लगा। सार्वजनिक, खुली जगहों या यात्राओं में नवागंतुक बेपर्द शिक्षित महिलाओं की दिक़्क़तों के बरअक्स पुरुषों से सीधे तौर पर अपना चाल-चलन बदलने की अपील की जाने लगी, क्योंकि बिना उनके बदले रेल या किसी अन्य सार्वजनिक स्थान को महिलानुकूल (वीमेन-फ्रेंडली) नहीं बनाया जा सकता था। गहराई से समझने के लिए देखते हैं 1920-30 के दशक में छपे कुछ और कार्टून, जो थोड़ी-थोड़ी भिन्नता से इसी एक मुद्दे को बार-बार उभारते हैं।

'हमारे रेलवे स्टेशनों का दृश्य' में पर्दा न करने वाली शहरी मध्यवर्गीय हिंदू युवतियाँ ट्रेन से प्लेटफ़ॉर्म पर उतरकर बाहर जाती दिखाई दे रही हैं, जिन्हें प्लैटफ़ॉर्म पर खड़े और ट्रेन में खिड़कियों से झाँकते उच्च, मध्य और निम्न सभी वर्गों के पुरुष (कामुक) निगाहों से घूर रहे हैं। कुछ (देहाती) महिलाएँ भी दूर प्लेटफ़ॉर्म पर बैठी नज़र आ रही हैं, जिनकी तरफ़ भी कुछ पुरुष नज़र गड़ाए दिखाई दे रहे हैं। कार्टून के कैप्शन में लिखा है : पर्दा न करने वाली स्त्री का



चित्र 2 : हमारे रेलवे स्टेशनों का दृश्य (*चाँद*, अप्रैल 1928)

स्टेशन पर दिखाई देना मानो बिजली का गिरना है। रेलवे कर्मचारी, मुसाफ़िर, कुली-कबाड़ी सभी जिस आशापूर्ण नेत्रों से देखने लगते हैं, यह उसी का दृश्य है।[35]

अगला कार्टून 'पुरुष समाज स्टेशन पर' भड़काऊ तरीक़े से एक भद्र-पुरुष को जनाने-डब्बे के अंदर सुध-बुध खोकर बुरी तरह घूरते हुए दिखाता है। वह ताड़ने में इतना मशगूल है कि उसे अपनी पगड़ी-टोपी (इज़्ज़त) का ठिकाना भी नहीं है। मर्दों की व्यभिचारी नज़र और रवैये का मख़ौल उड़ाते इन व्यंग्यचित्रों में कई मायने छिपे हैं। एक तो स्पष्ट किंतु परोक्ष सुधारवादी अपील है : सार्वजनिक जगहों में स्त्रियों की उपस्थिति में असहजता और दिक़्क़त पैदा करने वाले कारक (स्त्रियों में न होकर) अजनबी स्त्रियों के प्रति मर्दों के सामान्य आचरण और रवैये में ही मौजूद हैं। इसलिए हिंदुस्तानी मर्द और उनकी मर्दानगी में बदलाव और सुधार की सख़्त ज़रूरत है। इसके अलावे, पर्दा न रखने वाली ये लड़कियाँ मर्दों के हमलावर नज़रिए और बर्ताव के बावजूद, दरअसल उन्हें नज़रअंदाज़ करके, बिना मर्दों की संगति में, अकेले या महिला सखा-रिश्तेदार के संग, बाहर आवाजाही और यात्रा कर रही हैं। ये पिछले दशकों की चित्रकलाओं (*नूतन चरित्र*) और प्रियंवदाओं (*आदर्श हिंदू*) से भिन्न हैं जो अजनबी मर्दों के अवांछित स्पर्श से बचने के लिए अपने पुरुष रिश्तेदार या प्रेमी के सुरक्षा-चक्र का या हमलावर निग़ाहों से छुपने के लिए किताब का इस्तेमाल परदे की तरह करती थीं। उनके विपरीत, ये बेपर्द महिलाएँ मर्दानी निगाहों से बेपरवाह होकर आपस में मशग़ूल हैं। सर ऊँचा

[35] इअन केर ने भी अपने लेख में ऐसी ही विषय-वस्तु का उल्लेख करते हुए गगनेंद्र नाथ टैगोर के एक कार्टून को उद्धृत किया है जिसमें डिब्बों और प्लैटफ़ॉर्म पर बैठे एक-एक भद्र-पुरुष स्टेशन परिसर में मौजूद युवतियों को बेशर्मी से घूर रहे हैं. लेकिन केर ने इस कार्टून का इस्तेमाल सिर्फ़ रोज़ाना की देशी ज़िंदगी में रेल के सामान्यीकरण (नेचुरलाइज़ेशन) को दिखाने वाले साक्ष्य की तरह किया है. वे महिलाओं के रेल-अनुभव के मुद्दे की पड़ताल करने में दिलचस्पी नहीं दिखाते हैं. केर (2003) : 319-20.



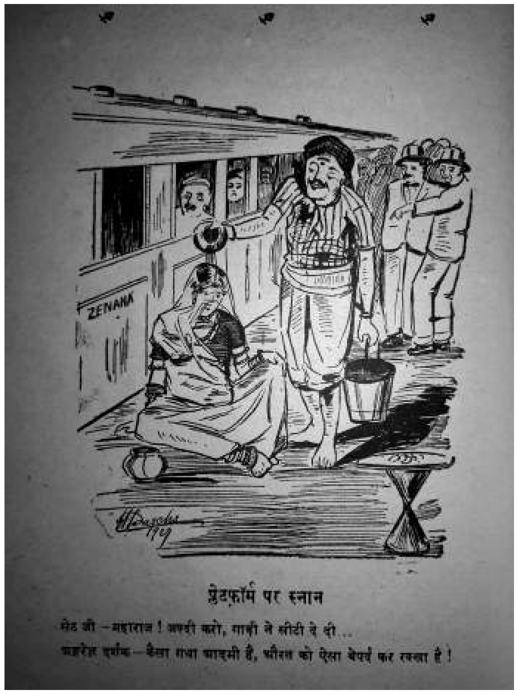
चित्र 3 : पुरुष समाज (स्टेशन पर) (*चाँद*, जून 1930)

कर (और शायद बंद मुट्ठी के साथ!) अपने रस्ते आगे बढ़ती दिखती हैं, या बेशर्म घूरते मर्दों को पीठ दिखा कर नज़रअंदाज़ करती हैं।

अगला कार्टून 'प्लैटफ़ॉर्म पर स्नान' तो और भी दिलचस्प है। नहाने-धोने की कर्मकांडी पवित्रता को लेकर एक जुनूनी मारवाड़ी सेठ सरेआम खुले में, रेलयात्रा के बीच में डिब्बे से प्लैटफ़ॉर्म पर उतारकर, अपनी बीवी को स्नान करवा रहा है।[36] महिला नाख़ुश नज़र आती है, शायद अपनी इच्छा के विपरीत खुले में नहाने को मजबूर किए जाने के कारण, या पति द्वारा एकांत-बंद जगह न मुहैया कराए जाने के कारण। वहीं इस नज़ारे का मज़ा लेने वाली बेशर्म मर्दानी निगाहें, जिनमें अंग्रेज़ और हिंदुस्तानी भद्र पुरुष दोनों शामिल हैं, मारवाड़ी सेठ की मूर्खता को भो रेखांकित कर रही हैं। कुल मिलाकर, ये तीनों कार्टून अपने-अपने अंदाज़ में रेलवे की सार्वजनिक जगहों को महिलानुकूल, गरिमापूर्ण, सहज और सुविधाजनक बनाने की वकालत करते दिखते हैं, और ज़ाहिर तौर पर इसके लिए पुरुषों को बदलने की तथा नए आचरण और व्यवहार को आज़माने की पैरोकारी करते हैं।

---

[36] यहाँ शायद एक सेठ अंदर बैठा है और 'पानी-पांडे' को जल्दी नहलवाने के लिए बोल रहा है. या बाल्टी से पानी उड़ेलने वाला ख़ुद ही सेठ है. पहली बार यह कार्टून *चाँद* के विशेषांक (*मारवाड़ी अंक* 1929) में छपा, उसके बाद कई बार पुनर्मुद्रित हुआ.



चित्र 4 : प्लेटफ़ॉर्म पर स्नान (*चाँद*, नवम्बर 1931)

तुलनात्मक विषमता के सहारे अगले दो व्यंग्यचित्रों की कथावस्तु में भी यात्रा के दौरान महिलाओं के प्रति मर्दों के व्यवहार-आचार की विभिन्न ख़ामियों को उजागर किया गया है।



चित्र 5 : यहाँ और वहाँ के सभ्य यात्री (*चाँद*, मार्च 1930)

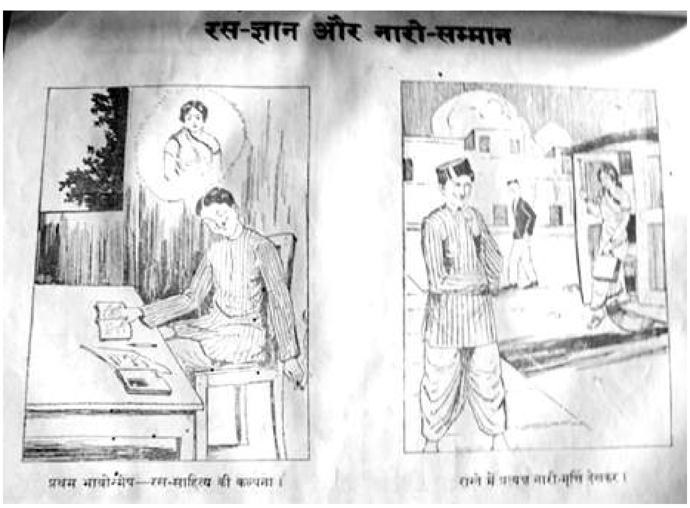
'यहाँ और वहाँ के सभ्य यात्री' (चित्र 5) में युरोप और हिंदुस्तान के ट्रेन-डब्बों के अंदर के माहौल में अजनबी स्त्री-पुरुष यात्रियों के यात्रा-अनुभव के कुछ ख़ास पहलुओं को दर्ज किया गया है। दो प्लेट वाले इस कार्टून में एक तरफ़ भारतीय और दूसरी तरफ़ युरोपीय ट्रेन डब्बे को दिखाया गया है। भारतीय ट्रेन में पुरुष यात्रियों की अशिष्टता को विशेष रूप से रेखांकित करते हुए चित्रण में दो बातें संप्रेषित की गईं हैं : महिला सहयात्री खड़ी-खड़ी यात्रा कर रही है। लेकिन, अपनी सीट छोड़ने के बजाय आधुनिक मर्दानी शिष्टता को धता बताते हुए सभी पुरुष न केवल अपनी सीट पर ठाठ से बैठे हुए हैं, बल्कि वे एक साथ अकेली महिला को घूर भी रहे हैं। मर्दानगी की निराशाजनक भारतीय वास्तविकता को दिखाती इस तस्वीर के बगल में एक काल्पनिक या आदर्श स्थिति को उकेरा गया है। विदेश/युरोप में अवस्थित ट्रेन-अनुभव को दर्शाती दूसरी तस्वीर एक चाहत का बयान करती है, ऐसी चाहत जो एक ही साथ भारतीय वास्तविकता की आलोचना भी करती है और स्त्री सहयात्रियों के प्रति पुरुषों के लिए ज़रूरी नए आचार-विचार का मॉडल भी दिखाती है – जहाँ पुरुष महिलाओं को अपनी सीट ऑफ़र करते हैं, उनसे शिष्ट व्यवहार करते हैं, उन्हें लगातार घूरने की बजाय अख़बार पढ़ते हैं या अपनी निगाहें महिला-देह से परे रखते हैं।

अगला कार्टून 'रेलयात्रा में' (चित्र 6) भी तुलनात्मक विषमता की तकनीक का इस्तेमाल करते हुए भारतीय पुरुषों के दोहरे नैतिक चरित्र और यौनिक धूर्तता को रेखांकित करते हुए उसकी आलोचना करता है। पहले फ्रेम में भारतीय मर्द का अपनी स्त्री के प्रति (अशिष्ट और संवेदनहीन) बर्ताव दिखाया गया है। वह ख़ुद चैन से पसर कर सो रहा है और उसकी पत्नी सामान को सीट बनाकर बच्चे के साथ जगी और बैठी है, या शायद झपकी ले रही है। दूसरे फ्रेम में, भारतीय मर्द के अजनबी महिला के प्रति एकदम विपरीत रवैये को दिखाया गया है। वह रेल-यात्रा में अपने अख़बार से निगाह फेर कर, अपनी सीट छोड़ कर, (शायद इस एहसान के बदले) उन्हें घूर रहा है। ज़ाहिर है, ये दोनों कार्टून भी मर्दों को उनकी हमलावर नज़र और असंवेदनशील रवैये को बदलने की पैरोकारी करते हैं।



चित्र 6 : 'रेल यात्रा में' (चाँद, अप्रैल 1936)

भारतीय पुरुषों की नज़र को लेकर काफ़ी और क़िस्मों की रोचक चर्चाएँ मिलती हैं जो सिर्फ़ औरतों के यौन-उत्पीड़न की वास्तविकता को ही उजागर नहीं करतीं बल्कि सुधारवादी विमर्शों के कुछ अन्य तारों से भी जुड़ती नज़र आती हैं। जैसा कि हम जानते हैं, रीतिकालीन काव्य-सौंदर्य और संवेदना में दैहिकता, यौनिकता और कामधर्मी प्रेम के कारण तत्कालीन सुधारवादी साहित्यिक विमर्शों के शुचितावादी चिंतनों में इसके प्रति काफ़ी नकारात्मक रवैया अपनाया गया। शृंगार को राष्ट्रीय या सामुदायिक स्तर पर नैतिक-चारित्रिक पतन का ज़िम्मेदार बताया गया। पुरुषों द्वारा महिलाओं को छेड़ने-घूरने के व्यभिचारी रवैये को भी प्रायः रीतिकालीन साहित्यिक-सौंदर्यशास्त्रीय संवेदनाओं या पूर्व/ग़ैर-आधुनिक संस्कृति के अतिशय 'दुष्प्रभाव' से जोड़ा जाने लगा। कार्टून 'रस-ज्ञान और नारी-सम्मान' तथा शिवपूजन सहाय की एक अनूठी ललित कहानी में यह बखूबी ज़ाहिर होता है। कार्टून के पहले फ़्रेम में एक साहित्यानुरागी रसिक अपने ड्रॉइंग रूम में सिगरेट पीते हुए कुछ ऐसी पुस्तकें पढ़-गुन रहा है, जिससे वह आनंदित व तल्लीन होकर कल्पना लोक में विचरण करने लगा है। चित्र-बैलून के ज़रिए पता चलता है कि उसके भाव-विभोर होने का कारण और कुछ नहीं बल्कि उसके मानस-पटल पर हावी एक सुंदर महिला, यानि शृंगार-साहित्य और उसका रस-सौंदर्य है। दूसरे फ़्रेम में, ऐसे साहित्य के (निजी) पठन-पाठन का अगला चरण या पहले दृश्य का (सामाजिक) परिणाम दिखाया गया है। जब शृंगार रस और साहित्य का रसिक किसी स्वतंत्र युवती को ट्राम/एक्के से आते-जाते, सार्वजनिक जगहों में काम-काज या घूमने-फिरने के लिए निकलते पाता है तो वह उनके शरीर को कामुक और हमलावर नज़र से वस्तु-रूप में ही निहारता है। जहाँ दूसरे पुरुष शायद सिर्फ़ घूर रहे होते हैं, वहीं ऐसे रसिक घूरने के घटिया कृत्य पर सौंदर्य प्रशंसा का लेबल चस्पाँ कर देते हैं।



चित्र 7 : 'रस-ज्ञान और नारी-सम्मान' (*चाँद*, जून 1935)

सार्वजनिक जगहों और यात्राओं में स्त्रियों को महसूस होने वाली ऐसी ही समस्या को उजागर करती शिवपूजन सहाय की ललित कहानी आख़िरकार इस मुद्दे की तत्कालीन गंभीरता और विकरालता की ओर इशारा करती है। पहले एक नज़र कहानी के प्रासंगिक उद्धरण पर :

> अकस्मात् चंद्रमोहन बाबू से भेंट हो गई। भेंट होते ही, बड़े आह्लाद के साथ, हमें गलबहिंयाँ में पकड़कर, अव्वल दर्जे के एक डब्बे के सामने ले जाकर, अलग से ही इशारा करके, बोले – 'देखो, ऐसी कांत-कलेवरा लावण्य-यष्टिका तुमने कभी देखी थी? मैं तो प्रतिदिन संध्या-समय टहलते-टहलते स्टेशन चला आता हूँ। प्रत्येक दिन डाकगाड़ी में एक-से-एक सुंदर रूप देखता हूँ। किंतु ऐसा रूप आजतक मैंने कभी डाकगाड़ी में नहीं देखा था। अहा! कैसा मनोमुग्धकर रूप है! यह मानस-सरोवर की कमल-कलिका अथवा नंदन-कानन का विकसित पारिजात-स्तवक भले ही न हो; पर उस 'परम रम्य आराम' की पाटलि-पटली तो अवश्य है। श्वेत साड़ी ऐसी शोभती है जैसे बगुले के पंख में मछली लपेटी हुई हो। हरे रंग के रेशमी फूल साड़ी में टँके हुए हैं, उनकी शोभा कहते नहीं बनती। सिर पर से होता हुआ आँचल, कमर तक पहुँच, कमरबंद से कसकर बेकस हो गया है! वक्षःस्थल पर रेशमी फूलों की झालर तो यों जान पड़ती है, मानो पर्वत-शृंग पर मृदुल लतिका आरोहण कर रही हो।'... देखो अपनी सौंदर्य्य-गर्व-गरिमा से यह बिजली की रोशनी को भी मात कर रही है। जब हँस देती है तब दंत-द्युति देखकर बिजली-बत्ती भी लज्जित हो जाती है! इसके हाथ का रेशमी रुमाल कभी स्वेद-बिंदु पीकर अपनी तृषा शांत करता है और कभी कमर को चूमकर निहाल हो जाता है... एक भद्र महिला के संबंध में अनभिमत बातें सुनकर हमसे चुप न रहा गया। हमने उनकी गलबहियाँ छुड़ाकर, उन्हें फटकारते हुए कहा – 'चंद्रमोहन बाबू! आपके मुख से ऐसी अवांछनीय बातें सुनने की आशा हमें नहीं थी। यदि आप वस्तुतः नित्य ही ऐसे अभद्र कार्य के लिए स्टेशन आया करते हैं, तो यह बड़ी ग्लानि और लज्जा का विषय है![37]

अलंकारिक-शृंगारिक शैली में ही रची आधुनिक साहित्य-रसिक की सस्ती मर्दाना हरकतों को उघाड़ती इस कहानी के ज़रिए हम देख सकते हैं कि रेलवे स्टेशन एक आम दर्शनीय-पर्यटनीय जगह की तरह उभर चुका है, जहाँ लोग सिर्फ़ घूमने, तफ़रीह करने भी जाते हैं। साहित्य-रसिक चंद्रमोहन बाबू एक ऐसे ही शिक्षित पुरुष हैं जो रोज़ाना ख़ाली समय में टहलने और लड़की ताड़ने स्टेशन जाते हैं और ट्रेन डिब्बों के अंदर ताका-झाँकी करते हैं। अजनबी स्त्रियों को घूरने-ताड़ने और उनकी सौंदर्य-विवेचना करने की स्त्री-विरोधी सामान्यीकृत मर्दानी आदतों की समस्या की निशानदेही करती इस कहानी में न केवल पुरुषों की बदचलनी को लताड़ा गया है, बल्कि 'नख-शिख वर्णन' की साहित्यिक परंपरा के वर्तमान में होने वाले दुष्प्रयोग को भी चुनौती दी गई है। यहाँ यह स्पष्ट करना लाज़िम होगा कि अन्य शुचितावादी

[37] 'विचार चित्र' (1914 में प्रथम प्रकाशित), देखें सहाय (1920) : 83-85.

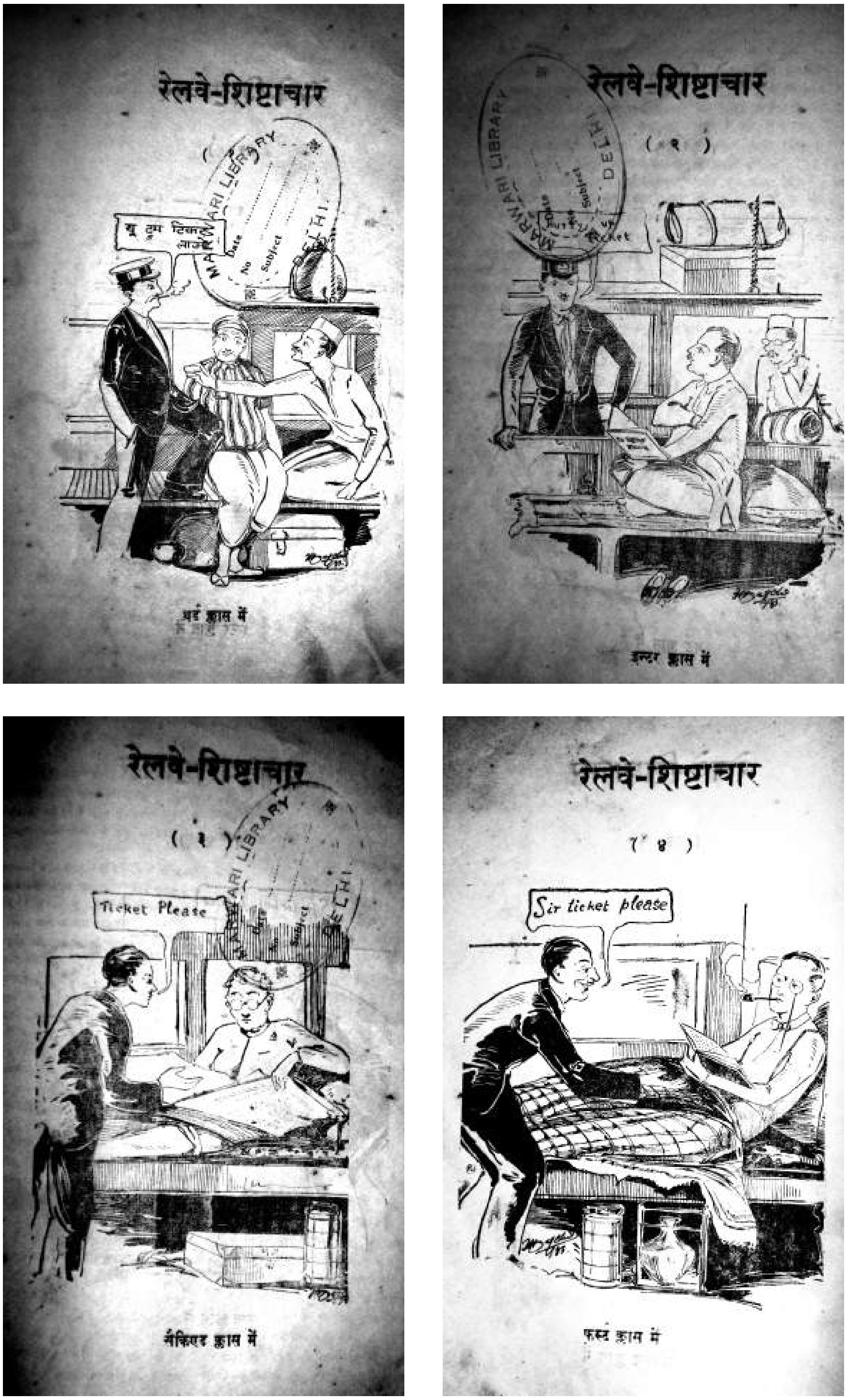
साहित्यकारों की तरह शिवपूजन सहाय ने इस परंपरा की नैतिक आलोचना नहीं की, बल्कि लड़की घूरने-छेड़ने के कृत्य को इतिहास और (रीतिकलीन) परंपरा से जोड़ने या ज़िम्मेदार ठहराने को आड़े हाथों लिया। जो भी हो, पुरुषों की व्यभिचारी नज़र और रवैये की आलोचना और सुधार की वकालत करती इस रचना के केंद्र में रेलगाड़ी में बिना परदे के सफ़र करने वाली महिलाओं के परेशानी भरे अनुभव तो हैं ही, क़ाबिल-ए-ग़ौर है मर्दानी नज़र की समस्या के एक से अधिक शजरे होने की ओर किया गया इशारा भी।

उपसंहार

रेल के भारतीय अनुभवों को दर्ज करते विमर्शों में बीसवीं सदी के शुरुआती दशकों से भोजन और जाति संबंधी छुआछूत और चिंता की अभिव्यक्ति, कम से कम खुले तौर पर, बंद हो जाती है। तत्कालीन संस्मरणों के छिटपुट साक्ष्य यह इशारा करते हैं कि इन चिंताओं का एक तरह से निजीकरण (प्राइवेटाइज़ेशन) हो जाता है, या स्वच्छताकरण (हाईजीनाइज़ेशन) के विमर्शों में इनका विलय होने लगता है। यात्री अपना भोजन घर से लेकर चलते हैं और फल, मिठाई, चाय आदि बाहर से ख़रीदते हैं। यात्रा के तुरंत बाद नहाने-धोने का इंतज़ाम करते हैं और तभी खाना खाने की कोशिश। अनुशासन और बंदिश से भरे खाने-पीने के इस नए ढंग और रवायत के मद्देनज़र, ऐसा लगता है, जाति-आचार अब नए तरीक़े से पुनर्नियोजित होने लगे। कुछ यूँ कहें कि सार्वजनिक जगहों में, जो कि मिला-जुला भी है और विभाजित भी, अब देह ही अंतिम सीमा बन गई और उसे दूसरे के बनाए भोजन से दूर रखना और/या ख़ुद को साफ़-सुथरा रखना निहायत ज़रूरी। धीरे-धीरे शुद्धता-प्रदूषण की जाति-आधारित छूतछात की चिंता स्वच्छता-स्वास्थ्य की शब्दावली में परिशोधित होती दिखती है। समकालीन संस्मरणात्मक रचनाओं में मौजूद साक्ष्यों के हवाले से पता चलता है कि ऐसे लोग, जो यात्रा में इन बंदिशों को न मानते थे या सामान्यतया बाहर कुछ भी खा-पी लेते थे, वे भी घर आकर तुरंत सबसे पहले नहाया करते थे। शायद 'आत्म-प्रक्षालन' के कर्मकांड की तरह![38]

इसके अलावे, रेल-पेल और नस्ल-भेद की समस्या अब मुखर नहीं नज़र आती, या बक़ौल चित्र 1, उसकी रूपांतरित अभिव्यक्ति राष्ट्रीयता और वर्ग-भेद की पदावली में होने लगती है। 'रेलवे शिष्टाचार' (चित्र 8) जैसे कार्टूनों में वर्ग-भेद पर ज़्यादा ज़ोर नज़र आने लगता है: जब सभी यात्री-उपभोक्ता भारतीय हैं और सबने उचित दाम दिए हैं तो फिर उन्हें मिलने वाली इज़्ज़त और सुविधाओं में भेदभाव क्यों? मसलन कार्टून शृंखला को देखिए, अपने अर्थों को सीधे संप्रेषित करती इन छवियों को विश्लेषण की कोई ख़ास दरकार ही नहीं। स्पष्ट है कि

[38] जैसे महामहोपाध्याय पंडित रामावतार शर्मा (1877-1929), प्रोफ़ेसर, पटना कॉलेज के बारे में लिखे गए संस्मरणात्मक निबंध से पता चलता है कि वे रेल यात्रा में या स्टेशन पर खाने-पीने में कभी कोई परहेज नहीं करते थे. लेकिन वे निजी स्वच्छता को लेकर निहायत जुनूनी (ऑब्सेस्ड) थे. इतना ही नहीं, वे बाहर से घर आने या शौच से निवृत्त होने के बाद, हरेक बार निश्चित रूप से नहाया करते थे. सिंह (1978) : 50, 101.



चित्र 8 : रेलवे-शिष्टाचार (चाँद, फ़रवरी 1938)

रेल-अधिकारी यात्रियों से उनके दर्जे के अनुसार में क्रमशः बदतमीज़ी, अड़ियलपन, नम्रता और सम्मान और अनुज्ञा-भाव से पेश आते हैं।

रेल अनुभवों के कुछ और प्रसंग और पहलू बदलाव के साथ जारी नज़र आते हैं जिनमें से एक है रेल और रेल-यात्रा का संयोग और संभावनाओं से भरा होना, जहाँ अजनबी लोगों से मुलाक़ात, प्यार-मोहब्बत और नई सामाजिकता को बढ़ावा मिलता है। मसलन, अनूपलाल मंडल की सुधारवादी प्रेम-कहानी 'संयोग' को उद्धृत कर सकते हैं, जो *चाँद* के अक्टूबर 1931 के अंक में छपी थी।[39] यात्रा के संयोग में एक युवक और युवती कलकत्ते जाने वाले ट्रेन-कंपार्टमेंट में मिलते हैं, इशारों में बातें होती हैं। युवती किताब उधार लेकर पढ़ने लगती है और बिना वापस किए ट्रेन से उतर जाती है, शायद दोबारा किताब के बहाने कॉलेज स्ट्रीट में मिलने के लिए। दोनों में प्यार हो जाता है। ग़रीब किंतु उच्च-शिक्षित लड़का एक अमीर और सुशिक्षित लड़की से यह जानते हुए भी शादी कर लेता है कि उसकी प्रेमिका की माता एक पूर्व-वेश्या है। बहरहाल, इत्तेफ़ाक़ और संभावनाओं का स्पेस होने के अलावे, कथा-विमर्शों में भारतीय समाज, राजनीति और उसकी समस्याओं के माइक्रोकॉज़्म या भारतीयता के सूक्ष्म जगत-दर्शन के माध्यम की तरह भी रेलवे को लक्षित किया गया है। *आदर्श-हिंदू* जैसे शुरुआती उपन्यासों में जहाँ यह धुँधले रूप में या कभी-कभार परिलक्षित होता है,[40] 1940 के आस-पास और उसके बाद यह बहुत ज़्यादा नज़र आता है। ट्रेन यात्रा में टकराने वाले भारत के विविध, विचित्र और दिलचस्प चरित्रों के रोचक वर्णन और समझ के लिए हरिमोहन झा की कहानियों को उद्धृत कर सकते हैं। झा की कहानी *रेल की बात* विशेष रूप से चर्चा के लायक़ है, जो खान-पान और यौनिक शुचिता के परंपरागत दायरों के उल्लंघन की कथा है जिससे बंगाली, पंजाबी और मलयाली युवा-दंपतियों, यानि विविध भारतीयों में एकता स्थापित होती है। ट्रेन के एक ही कंपार्टमेंट में यात्रा कर रहे प्रगतिशील आधुनिक जोड़े न केवल अपने-अपने भोजन बल्कि (सुझावतः) अपने-अपने मीतों की भी अदला-बदली करते हैं।[41]

दूसरा पहलू है, जेंडर और यौनिकता के सवाल का नए रंग-रूप में उभरना। रेलवे परिसर, जो अपने आप में पुरुषों (यात्री, क़ुली, रेहड़ी-खोमचे वाले से लेकर उचक्के, आवारा लोगों तक) के नज़ारे लेने का स्थान (साइट ऑफ़ स्पेक्टेटरशिप) भी बन जाता है, को अपनाने और महिला-अनुकूल बनाने की कल्पनाएँ भी होने लगती हैं। व्यंग्य के आईने से जहाँ सभी वर्गों के

---

[39] बिहार के पूर्णिया जिले में जन्मे अनूप लाल मंडल (1896-1982) 1920 और 30 के दशक के एक प्रसिद्ध लेखक-उपन्यासकार थे. उनकी कई रचनाएँ *चाँद* प्रेस से छपी थीं. और अधिक जानकारी के लिए देखें *परिषद पत्रिका : अनूपलाल मंडल अंक* (1998).

[40] मसलन, हिंदी को अंतरप्रादेशिक संचार की भाषा बनाने के लिए प्रियनाथ एक ट्रेन यात्रा में संस्कृतनिष्ठ हिंदी की महत्ता और ज़रूरत के बारे में अपने सहयात्रियों, जो कि विभिन्न प्रोफ़ेशन, जाति, धर्म, और प्रदेश से ताल्लुक़ रखते हैं, के साथ जिरह करता है. देखिए चैप्टर 'हिंदी और बलिदान', मेहता (1914, 2016) : 172-76.

[41] झा (2008). उदाहरण अनगिनत हैं. भारत-विभाजन और हिंसा के आलोक में लिखी गई ढेरों कहानियों में आम लोगों के आपसी भाव-विचार, तत्कालीन समाज, राजनीति, अंतर-सामुदायिक रिश्तों आदि को लेकर ट्रेन और ट्रेन यात्रा को केंद्र में रखा गया है, देखिए औगियर (2015).

पुरुषों पर आक्षेप किए जाते हैं, वहीं गद्य-रचनाओं में नए पौरुष के गठन का आग़ाज़ भी दिखता है। नए पौरुष की छवियों और आदर्शों में, ज़ाहिर है, जातिवादी-अस्मिताओं के तत्त्व भी बदले हुए अंदाज़ में किंतु बख़ूबी नज़र आते हैं।

लुब्बेलुवाब यह है कि उन्नीसवीं सदी के परवर्ती दशकों से ही हमारे रोज़मर्रा जीवन में नित नई प्रौद्योगिकी के शामिल होने के कारण हमारे विचार और व्यवहार भी प्रभावित और परिवर्तित होते रहे। रेलवे या अन्य तकनीकी वस्तुएँ हमारे समाज, सामाजिक व्यवस्था का न केवल अभिन्न हिस्सा बन गईं, बल्कि वे हमारी वैयक्तिक और सामुदायिक चेतना और सब्जेक्टिविटी की निर्मितियों में भी शामिल हो गईं। रेलवे की पैठ ख़ासकर हमारी परिकल्पनाओं में इतनी गहरी उतरी कि इसके अक़्स 'आधुनिकता के स्वप्न-पटल' (शीला जेसनोफ़्फ़ की शब्दावली में 'ड्रीमस्केप ऑफ़ मॉडर्निटी') पर भी लंबे समय तक नज़र आते हैं। बराबरी-मूलक और न्यायसंगत सामाजिक-राजनैतिक व्यवस्था के स्वप्निल भविष्य की कामना में रचे साहित्यिक आदर्शलोक में भी – जो उपनिवेशवाद-विरोधी राष्ट्रवादी ऊर्जा से संचालित और बोल्शेविक क्रांति के आलोक में समाजवाद के मुक्तिधर्मी वादों से प्रज्वलित हो रहा था –आधुनिक प्रौद्योगिकी की बदलावमूलक शक्ति केंद्रीभूत नज़र आती है। 1924 के आस-पास लिखे गए एक ऐसे ही अनूठे युटोपियन कृति *बाइसवीं सदी* में राहुल सांकृत्यायन ने जिस समतामूलक हिंदुस्तानी और विश्व समाज और व्यवस्था की कल्पना की, उसमें विज्ञान और प्रौद्योगिकी की भूमिका दिलचस्प है, और हमारे इस लेख के लिहाज़ से, इसके अंतर्गत की गई रेलवे की कल्पना काफ़ी प्रासंगिक है। लेख का अंत हम इसी की अति संक्षिप्त चर्चा से करेंगे।[42] सांकृत्यायन की स्वप्न-दृष्टि में, 200 साल के बाद के भारत और विश्व में समाज, राजनीति, सत्ता, संस्कृति आदि मानव जीवन के सभी पहलुओं का पूर्ण लोकतंत्रीकरण हो चुका है : उत्पादन का समूहीकरण, निजी संपत्ति का अंत, समाज और राज्य का संपूर्ण विसैन्यीकरण, जाति-नस्ल-रंग-लिंग-वर्ग आदि के भेद और पदानुक्रम की विलुप्ति, साम्राज्यवाद का ख़ात्मा, आदि सब हो चुके हैं। सांकृत्यायन की दृष्टि में[43] मानवता के ऐसे समतामूलक भविष्य की निर्मिति और साकारीकरण में आधुनिक तकनीकी की भूमिका निहायत ज़रूरी और घटकीय थी। जहाँ तक रेल का सवाल है, इस उपन्यास में रेल द्रुतगामी और स्वतंत्र आवागमन का सर्व-सुलभ साधन है। न केवल यह तकनीकी रूप से बहुत ही अपडेटेड, संश्लिष्ट और ऊर्जा-कुशल है, बल्कि अपने स्थापत्य/वास्तु, डिज़ाइन और सुविधाओं की दृष्टि से बराबरीमूलक है, इसके डब्बे की संरचना दर्जे या वर्ग और लिंग-भेद के हिसाब से नहीं की गई है, इसके टॉयलेट और रसोई की बोगी, घर जैसे साफ़ और स्वच्छ हैं। इतना ही नहीं रेल में एक मिनी-अस्पताल भी है, यानि औपनिवेशिक रेल के यह सीधे

[42] ज़ाहिर है, इतनी छोटी चर्चा इस महान ऐतिहासिक कृति के साथ इंसाफ़ नहीं करती, लेकिन तकनीकी-समाजी परिकल्पना के पर्चे में इसे शामिल नहीं करना भी गुनाह ही होगा. सांकृत्यायन (1943).

[43] जिसके वैचारिक तार या उसकी वंशावली, एक साथ भारतीय बौद्ध-समाजवादी-आधुनिकतावादी सांस्कृतिक-दार्शनिक चिंतन के एक रोचक मिश्रण में मिल सकते हैं.

विपरीत है। यात्री बिना रेल-पेल के यात्रा करते हैं, स्टेशन भीड़, हल्ला, और दर्शन-पर्यटन का स्थल नहीं है। यात्रा अनुभव इतना आरामतलब है कि डब्बे छोटे चलते-फिरते वातानुकूलित घर की तरह महसूस होते हैं, जो इंसानी शोर-गुल और कर्कश मशीनी आवाज़ से महफूज़ हैं, जिसके कारण यात्री (उपन्यास का नायक-सूत्रधार-बुद्धिजीवी) देश और संस्कृति के पैनोरमिक दर्शन करते हुए उसकी छटा और वास्तविकता का सही-सही बयान कर सकता है – यानि वह सब कुछ जो औपनिवेशिक व्यवस्था में पाना नामुमकिन था!

संदर्भ :

पत्रिकाएँ

चाँद (इलाहाबाद, 1922); भारतेंदु (वृन्दावन, 1883); *सुधा* (लखनऊ, 1927); *हिंदी प्रदीप* (इलाहाबाद, 1877) के विविध अंक

किताब और लेख

अपराजिता मुखोपाध्याय (2019), *इम्पीरियल टेक्नोलॉजी ऐंड 'नेटिव' एजेंसी : अ सोशल हिस्ट्री ऑफ़ रेलवेज़ इन कॉलोनियल इंडिया*, रटलेज, न्यू यॉर्क.

अमीलिया बोनिया (2016), द *न्यूज़ ऑफ़ एंपायर : टेलीग्राफ़ी, जर्नलिज़म, ऐंड द पॉलिटिक्स ऑफ़ रिपोर्टिंग इन कॉलोनियल इंडिया*, 1830-1900, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

इयन केर (1995), *बिल्डिंग द रेलवेज़ ऐंड द राज, 1850-1900,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

इयन केर (2003), 'रेप्रेज़ेंटेशन ऑफ़ रेलवेज़ इन कॉलोनियल ऐंड पोस्ट-कॉलोनियल साउथ एशिया', *मॉडर्न एशियन स्टडीज़*, 37, 2 : 287-326.

इयन केर (सं.) (2008), *27 डाउन : न्यू डिपार्चर्स इन इंडियन रेलवे स्टडीज़*, ऑरिएंट लॉन्गमैन, दिल्ली.

ए. एस. कलसी (1992) 'परीक्षा गुरु (1882)' द फ़र्स्ट हिंदी नॉवेल ऐंड द हिंदू इलीट', *मॉडर्न एशियन स्टडीज़*, 6, 4 : 763-790

ओमप्रकाश सिंह (सं.), (2010) *भारतेंदु ग्रंथावली-6*, प्रकाशन संस्थान, दिल्ली.

कर्मेंदु शिशिर (सं.), (1990) *भारतेंदु मंडल के प्रमुख रचनाकार राधाचरण गोस्वामी की चुनी हुई रचनाएँ*, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद.

कामा मैक्लीन (2003), 'मेकिंग द कॉलोनियल स्टेट वर्क फ़ॉर यू : द मॉडर्न बिगिनिंग्स ऑफ़ दि एन्सिएंट कुंभ मेला इन इलाहाबाद', *जर्नल ऑफ़ एशियन स्टडीज़*, 62, 3 : 873-905.

गोपाल राय (1968) *हिंदी उपन्यास कोष*, ग्रंथ निकेतन, पटना.

जेम्स टेलर (2005), 'बिज़नेस इन पिक्चर्स : रेप्रेजेंटेशन ऑफ़ रेलवेज़ इन नाइनटीन्थ सेंचुरी सटैरिकल प्रेस', *पास्ट ऐंड प्रेज़ेंट*, नं. 189 : 111-145.

जैक सिमोंस (1994), 'अ पावरफुल क्रिटिक ऑफ़ रेलवेज़ : जॉन टेनिअल इन पंच', *दि एक्सप्रेस ट्रेन ऐंड अदर एसेज़*, डेविड सेंट् जॉन थॉमस, नयर्ण : 133-157.

ज्ञानचंद्र जैन (1998), *प्रेमचंद पूर्व के हिंदी उपन्यास*, आर्य पुस्तक मंडल, दिल्ली.

डेविड आर्नोल्ड (2000), *साइंस टेक्नोलॉजी ऐंड मेडिसिन इन कॉलोनियल इंडिया*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

डेविड आर्नोल्ड (2013) एवरीडे टेक्नोलॉजी : मशीन ऐंड द मेकिंग ऑफ़ इंडियाज़ मॉडर्निटी, युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, शिकागो.

दामोदर शास्त्री (1886), *मैं वही हूँ*, खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर.

दीपकांत लाहिरी चौधरी (2010), *टेलीग्राफ़िक इम्पीरियलिज़म : क्राइसिस ऐंड पैनिक इन दि इंडियन एंपायर, 1830-1920,* पाल्ग्रेव मैकमिलन, लंदन.

ध्रुव रैना और सैयद इरफ़ान हबीब (1989) 'कल्चरल फ़ाउंडेशंस ऑफ़ अ नाइनटींथ सेंचुरी मैथेमेटिकल प्रोजेक्ट', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, 24, 37 : 2082-2086.

ध्रुव रैना और सैयद इरफ़ान हबीब (1995), 'भद्रलोक पर्सेप्शनस ऑफ़ साइंस, टेक्नोलॉजी ऐंड कल्चरल नैशन-लिज़म', 32, 1 : 95-117.

निकोलस डाली (1998), 'ब्लड ऑन द ट्रैक्स : सेंसेशन ड्रामा, द रेलवे, ऐंड द डार्क फ़ेस ऑफ़ मॉडर्निटी', विक्टोरियन स्टडीज़, वॉल्यूम 42, नंबर 1 (ऑटम) : 47-76.

नितिन सिन्हा (2016), 'इंजन वर्सेज़ एलीफ़ेंट : ट्रेन टेल्स ऑफ़ इंडियन मॉडर्निटी', *इंटरडिसिप्लिनेयर ज़ाइटश्रीफ्ट फुअर ज़ुदासिएनफ़ॉरशुंग,* नं. 1 : 112-130 <https://doi|org/10|11588/izsa|2016|1|846>

परिषद पत्रिका (1998), अनूपलाल मंडल अंक, संयुक्तांक 137-140 बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना.

प्रभात कुमार (2015), *सटायर, मॉडर्निटी, ट्रांसकल्चरलिटी इन लेट नाइंटींथ ऐंड अर्ली ट्वेंटिएथ सेंचुरी नॉर्थ इंडिया*, डी. फिल. थीसिस, ऊनिवर्सिटाट हाइडेलबेर्ग.

भवदेव पांडेय (2006), *हिंदी कहानी का पहला दशक*, रेमाधव प्रकाशन, दिल्ली.

मनु गोस्वामी (2004), *प्रोड्यूसिंग इंडिया : फ्रॉम कॉलोनियल इकॉनॉमी टू नैशनल स्पेस*, युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, शिकागो.

महथा सुखदेव नारायण सिंह (सं.) (1978), *रामावतारगाथा*, भारतीय शास्त्र समादर समिति, 50; छपरा : 101.

माइकल एडस (1989), *मशीन ऐज़ द मेज़र ऑफ़ मैन : साइंस, टेक्नोलॉजी ऐंड आइडियोलॉजीज़ ऑफ़ वेस्टर्न डॉमिनेंस*, इथिका ऐंड लंदन : कॉर्नेल युनिवर्सिटी प्रेस.

माइकल फ्रीमैन (1999), *रेलवेज़ इन विक्टोरियन इमैजिनेशन*, येल युनिवर्सिटी प्रेस, न्यू हेवेन.

मैरियन औगियर (2011), *ट्रैकिंग मॉडर्निटी : इंडियाज़ रेलवेज़ ऐंड कल्चर ऑफ़ मोबिलिटी,* युनिवर्सिटी ऑफ़ मिनेसोटा प्रेस, लंदन.

रवि आहूजा (2009) *पाथवेज़ ऑफ़ एंपायर : सर्कुलेशन, 'पब्लिक वर्क्स' ऐंड सोशल स्पेस इन कॉलोनियल ओड़िसा, 1780-1914,* ओरिएंट ब्लैकस्वान, हैदराबाद.

रवि आहूजा, (2003), 'द ब्रिज-बिल्डर्स' : सम नोट्स ऑन रेलवेज़, पिल्ग्रिमेज ऐंड द ब्रिटिश 'सिविलाइज़िंग मिशन' इन कॉलोनियल इंडिया', *कॉलोनियलिज़म ऐज सिविलाइज़िंग मिशन : द केस ऑफ़ ब्रिटिश इंडिया*, (सं.) हेराल्ड फ़िशर-टिने और मिशेल मान, ऐंथम प्रेस, लंदन : 195-216.

रामनिरंजन परिमलेंदु (2007), *मोहनलाल महतो वियोगी*, साहित्य अकादमी, दिल्ली.

राहुल सांकृत्यायन (1943), तृतीय संस्करण, *बाइसवीं सदी*, किताब महल, इलाहाबाद.

ऋतिका प्रसाद (2015), *ट्रैक्स ऑफ़ चेंज : रेलवे ऐंड एवरीडे लाइफ़ इन कॉलोनियल इंडिया*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

लज्जाराम मेहता (1914, 2016), *आदर्श हिंदू*, (सं.) कुमार पंकज, अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली.

लाउरा बेयर (1994), 'मेइसेज़िनेशन ऑफ़ मॉडर्निटी : कंस्ट्रक्टिंग यूरोपियन रेस्पेक्टेबिलिटी ऐंड रेस इन इंडियन रेलवे

कॉलोनी, 1857-1931', *वीमेन्स हिस्ट्री रिव्यू*, 3, 4 : 531-548.

वसुधा डालमिया (1997), द *नैशनलाइजेशन ऑफ़ हिंदू ट्रैडीशन*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

वसुधा डालमिया (1999), 'अ नॉवेल मोमेंट इन हिंदी : 'परीक्षा गुरु', *नैरेटिव स्ट्रैटेजीज़ : एसेज़ ऑन साउथ एशियन लिटरेचर ऐंड फिल्म्स* (सं.) वसुधा डालमिया और थिओ दम्स्तीग्त, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली : 169-184.

वीर भारत तलवार (1993), *राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य : कुछ प्रसंग, कुछ प्रवृत्तियाँ*, हिमाचल पुस्तक भंडार, दिल्ली.

वुल्फ़गंग शिवेलबुश (1977, 2014), द *रेलवे जर्नी : दि इन्डस्ट्रियलाईज़ेशन ऑफ़ टाइम ऐंड स्पेस इन द नाइनटीन्थ सेंचुरी*, युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, बर्कली.

शिवपूजन सहाय (1920) *विभूति : सोलह ललित कहानियाँ*, पुस्तक भंडार, लहेरियासराय.

शीला जेसनोफ़्फ़ (2015), 'फ़्यूचर इंपर्फ़ेक्ट : साइंस, टेक्नोलॉजी, ऐंड दि इमैजिनेशंस ऑफ़ मॉडर्निटी', *ड्रीमस्केप्स ऑफ़ मॉडर्निटी : सोसिओ-टेक्निकल इमैजिनरीज़* ऐंड द *फ़ैब्रिकेशन ऑफ़ पॉवर*, (सं.) शीला जेसनोफ़्फ़ और शांग-ह्यून किम, शिकागो युनिवर्सिटी प्रेस, शिकागो.

संजय जोशी (2005), *फ़्रैक्चर्ड मॉडर्निटी : मेकिंग ऑफ़ अ मिडिल क्लास इन कॉलोनियल नॉर्थ इंडिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

सुदीप्त कविराज (2000), 'लाफ़्टर ऐंड सब्जेक्टिविटी : द सेल्फ़-आयरॉनिकल ट्रैडीशन इन बेंगाली लिटेरेचर', *मॉडर्न एशियन स्टडीज़,* वॉल्यूम 34, नंबर 2 : 379-406.

हरिमोहन झा (2008), *रेल की बात*, अंतिका प्रकाशन, दिल्ली.

हैरिअट ब्युरी (2008), 'नॉवेल स्पेसेज़, ट्रांजिशनल मोमेंट्स : निगोशिएटिंग टेक्स्ट ऐंड ट्रैवल एकाउंट्स इन लेट नाइनटीन्थ सेंचुरी', *27 डाउन : न्यू डिपार्चर्स इन इंडियन रेलवे स्टडीज़*, (सं.) इयन केर, ऑरिएंट लॉन्मैन, दिल्ली : 1-39.

खट्टर काका का मैथिल समाज : हास्य-विनोद की लोकायत संस्कृति

देवनाथ पाठक



वर्तमान भारत में धार्मिक-सांस्कृतिक विषयों को केंद्र में रख कर हँसी-मज़ाक़ थोड़ा कठिन लग सकता है लेकिन इस विधा का प्रचलन हमारी लोक संस्कृति से लेकर आधुनिक साहित्यिक प्रयोगों में पाया जाता है। इसी संदर्भ में यह लेख बीसवीं सदी के पहली चौथाई में हरि मोहन झा रचित *खट्टर काकाक तरंग* नामक प्रचलित साहित्यिक रचना के ऊपर केंद्रित रहते हुए साहित्य का एक समाजशास्त्रीय पाठ प्रस्तुत करता है।

हरिमोहन झा आधुनिक मैथिल गद्य साहित्य के एक जाने माने स्तंभ रहे हैं। *खट्टर काका* विमर्श के आने से पूर्व उन्हें उपन्यास *कन्यादान* के लिए ख्याति मिल चुकी थी। *कन्यादान* मूल रूप में एक धारावाहिक-कथा के रूप में लिखा गया था। लेखक ने लगभग 1940 में *खट्टर काकाक तरंग* नामक व्यंग्यात्मक गद्य लिखा। यह गल्प की पद्धति में लिखी गई एक प्रयोगात्मक पहल थी। शीघ्र ही इसके प्रमुख पात्र खट्टर काका एक घरेलू नाम हो गए। खट्टर काका का चरित्र लोक समाज की व्यंग्य शैली में संवाद करता है। सामाजिकता और सामाजिक संबंधों पर चुटकियाँ लेना झा के काका के लिए उतना ही सहज है जितना उत्तर बिहार के गाँव और क़स्बों में आम तौर पर देखा जाता है। इस तरह एक साहित्यिक रचना होने के बावजूद झा के किरदार खट्टर काका लोक समाज में उपस्थित अनेक काकाओं के साथ संवाद करते, उनका प्रतिनिधित्व करते मिलते हैं। इस लेख में इंटर-टेक्सचुअलिटी को समीक्षा के एक आधार के रूप में प्रयोग किया गया है और हरिमोहन झा,

खट्टर काका, उनका व्यंग्यात्मक विमर्श, उनके भारत के सांस्कृतिक विमर्श से संबंध आदि को मुखर किया गया है।

काका के संवाद का फलक व्यापक है, जहाँ कबीर पंथ से लेकर चार्वाक के लोकायत दर्शन तक का उल्लेख बार-बार आता है। लोक के इस सिरे के सहारे यह लेख *खट्टर काका* के हास्य-विनोद, टीका-टिप्पणी और उनके विचार-विमर्श का संबंध लोकायत के सिद्धांतों से जोड़कर देखता है और लगभग विस्मृत हो गए लोकायत विचारों को पाठकों की स्मृति में लाकर एक महत्त्वपूर्ण बहस छेड़ता है। इस बहस में लोकायत एक सजीव शैली और विचार है। इसका कमोबेश संबंध तंत्र में उपस्थित देहवाद से भी है। इस देहवाद में देह केवल मानव मात्र की नहीं, बल्कि समाज-संस्कृति की भी देह है। और इस देह को काका हिंदू धर्म ग्रंथों में व्याप्त इहलोक और परलोक के भेद से अलग करके देखते हैं। इसमें एक स्वतंत्र देह की परिकल्पना उभरती है। जो है तो काका हैं, उनकी हँसी-ठट्ठा है, जीवन है, और बहस है। लोकायत का वितंडावाद *खट्टर काका* के गल्प में भरपूर पाया जाता है जिसके माध्यम से हरिमोहन झा समाज और संस्कृति की पर्याप्त आलोचना प्रस्तुत करते हैं।

हास्य-विनोद के माध्यम से सामाजिक संबंधों पर आलोचनात्मक प्रकाश डालने, सांस्कृतिक और धार्मिक विषयों पर हल्के-फुल्के तरीक़े से गंभीर विमर्श करने के क्या परिणाम हो सकते हैं? इस प्रश्न को ध्यान में रखते हुए ये पड़ताल भी आवश्यक है कि कैसे इस तरह का संवाद प्रतिरोध की वैकल्पिक अवधारणा प्रस्तुत करता है। यह लेख हास-परिहास की सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवस्था को उजागर करते हुए कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को रेखांकित करने का प्रयास करता है। ये प्रश्न समाज में सत्तात्मक विचार, शक्ति संघर्ष, संतुलन-असंतुलन, जातिगत और लैंगिक भेद-विभेद पर बहस आमंत्रित करते हैं।

साहित्य-संस्कृति का समाजशास्त्र

कैसा हो साहित्य-संस्कृति का समाजशास्त्र, जिसमें देशज भाषाओं में रचित साहित्य को पढ़ा, समझा और विश्लेषित किया जाए? क्या हो इस लेख का समाजशास्त्रीय ढाँचा, जिसमें साहित्य के एक विशेष हिस्से को पढ़ते हुए हमारी नज़र एक सर्वांगीण समाज पर टिकी रहे? इस बृहत प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ने का प्रयास है यह लेख। ये इसलिए भी ज़रूरी है क्योंकि आधुनिक समाज विज्ञान के अंदर मौजूद कुछ ऐसी सीमाएँ हैं जिसे धक्का लगाए बग़ैर हम साहित्य, समाज संस्कृति और उनके राजनैतिक लक्षणों के पारस्परिक संबंध को नहीं समझ पाएँगे।

साहित्य के समान एंथ्रोपोलॉजी और सोशियोलॉजी में भी रिश्ते-नातों का केंद्रीय स्थान रहा है। बस तथ्य और कल्पना के स्वघोषित मिश्रण का फ़र्क़ हो सकता है। प्रारंभिक अध्ययनों में मानव समाज किनशिप, यानि पैतृक-मातृक-वैवाहिक संबंधों के एक सुंदर गुच्छे के रूप में सामने आया। फिर किनशिप के अंदर ही शक्ति-संबंधों को भी देखा-परखा जाने लगा। 20वीं सदी में क्लासिकल एंथ्रोपोलॉजी, एथ्नोलॉजी, सोशियोलॉजी आदि में समाज और संस्कृति के



प्रारंभिक स्वरूपों पर बृहद चर्चाएँ मिलती हैं। अमरीका में फ्रांज़ बोआस (1974) आदिम जन मानस को समझने के लिए चार्ल्स डार्विन के सिद्धांतों के प्रभाव को देख रहे थे। अमेरिका में व्याप्त नस्ल, यानि आनुवंशिक और रंग-भेद पर आधारित समाज में प्रचलित कला-संस्कृति आदि की गूढ़ता का बोआस ने विश्लेषण किया। उन्होंने आदिम समाजों की समानताओं को उजागर किया। दूसरी तरफ़ एंथ्रोपोलॅजी की ब्रिटिश परंपरा में 19वीं सदी में ही ई.बी. टायलर ने संस्कृति को केंद्रीय अवधारणा के रूप में परिभाषित कर दिया था। बाद में एथनोग्राफ़ी के आधार पर सामाजिक संरचना, उसके अंदर फंक्शन यानि सामाजिक व्यवहार आदि के प्रभाव पर सैद्धांतिक चर्चाएँ होने लगीं। इसे फंक्शनलिज़म अथवा प्रकार्यवाद के नाम से भी जाना जाता है जिसे एमिल दुर्खाइम और मार्सल मॉस, ए. आर. रैडक्लिफ़ ब्राउन, बरनिस्लॉव मलिनवस्की आदि ने प्रचलित किया। बाद में लेवी स्ट्रॉस का संरचनावाद, और उसके बाद उत्तर-संरचनावाद आता है। एंथ्रोपोलॅजी के इस लंबे क़िस्से को फ्रेडरिक बार्थ (2005) ने एक जगह समेटने की अच्छी कोशिश की है। हमारा उद्देश्य उस क़िस्से को दोहराना नहीं है।

उन मूलभूत पाठ्य पुस्तकों से हमने सीखा कि रिश्ते-नाते, परिवार-समाज, शक्ति प्रदर्शन और संवर्धन के आधार भी रहे। इस दिशा में अनेक एंथ्रोपोलॅजी के विद्वानों ने यह असंतोष भी जताया कि बीसवीं सदी के महत्त्वपूर्ण हस्तक्षेपों, जिन्हें क्लासिक अध्ययन का दर्जा प्राप्त है, उनमें समाज और संस्कृति की निहित राजनीति पर्याप्त रूप में उभर कर सामने नहीं आती। 1970 के दशक में क्लिफोर्ड गीयर्ट्ज़ (1972) ने इंडोनेशिया के बाली में होने वाले एक सांस्कृतिक खेल, बालिनीज़ कॉकफाइट, की विस्तार से चर्चा की। उसमें उन्होंने 'डीप-प्ले' की अवधारणा को देखा और समझा। सांस्कृतिक खेल-कूद, हँसी-मज़ाक़, उत्सव-उल्लास आदि के गहरे सामाजिक और राजनीतिक मतलब को इशारे से, संकेतों-प्रतीकों के ज़रिये, उजागर करने की प्रक्रिया है डीप-प्ले। ख़ास बात ये है कि सांस्कृतिक घटनाएँ अपने आप में एक टेक्स्ट, एक पाठ, के रूप में प्रकट होती हैं जिन्हें एंथ्रोपोलॅजी में पढ़ा और समझा जाता है। ऐसे प्रक्रियानुमा पाठ के मद्देनज़र गीयर्ट्ज़ एंथ्रोपोलॅजी और सोशियोलॅजी को संकेतों, प्रतीकों और मतलबों से गहरे तौर पर जुड़ने और समीक्षा करने की सलाह देते हैं।[1] इसके अलावा एक और विमर्श सामने आता है जिसमें शक्ति, सत्ता और एंथ्रोपोलॅजी के रिश्ते के आलोक में

[1] क्लिफोर्ड गीयर्ट्ज़ (1972) : 1-37.

समाज-संस्कृति को समझने के लिए कुछ नए प्रस्ताव गढ़े गए। तलाल असद (1979) के लेख 'एंथ्रोपोलॅजी ऐंड द कॉलोनियल एनकाउंटर' ने कुछ ऐसा ही किया।[2] अपने आप से इतर किसी 'अन्य' की तलाश और अध्ययन आधुनिक एंथ्रोपोलॅजी के सामने सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न थे। एंथ्रोपोलॅजी और उसकी विषय वस्तु, स्व और अन्य के संबंध में शक्ति और सत्ता का प्रभाव देखा गया। आदिम, ग्रामीण, कृषक और लोक संस्कृति के समाज को 'अन्य' मानकर अध्ययन करने और समझने में समस्या दिखी। विशेषतः पूर्व में उपनिवेश रहे समाजों में इस विषय पर गहन चिंता ज़ाहिर की गई। भारत भी एक ऐसा ही समाज था, और है भी।

इस संक्षिप्त चर्चा में यह भी जोड़ देना ज़रूरी है कि स्वाधीन भारत में समाजशास्त्रियों ने समाजशास्त्र और मानव या नृ-विज्ञान के संबंध पर भी बहस की। लखनऊ में राधाकमल मुखर्जी और डी.पी. मुखर्जी आदि इस विषय पर मुखर थे। उन्हें सोशियोलॅजी और एंथ्रोपोलॅजी के फ़र्क़ में औपनिवेशिक बौद्धिकता का आभास था। इसीलिए वे दोनों के साहचर्य पर ज़ोर देते थे। जब एम.एन. श्रीनिवास ने एथ्नोग्राफ़ी के आधार पर समाजशास्त्रीय अध्ययन किया तो उसमें एंथ्रोपोलॅजी भी भरपूर मौजूद थी। दोनों के बीच का औपनिवेशिक फ़र्क़ ख़त्म नहीं हुआ लेकिन दोनों के बीच का पुल ज़रूर सामने आया। उसके साथ ही स्वाधीन भारत में संस्कृति के लिखित-अलिखित और प्रिंट-मौखिक साहित्य को समझने का सोशियोलॅजी और एंथ्रोपोलॅजी का एक अलिखित घोषणा पत्र भी आकार ले रहा था। समाज वैज्ञानिकों की इस पीढ़ी का साहित्य की तरफ़ ख़ासा रुझान था। आख़िर बंगाल से जुड़े विद्वानों की बौद्धिक तैयारी साहित्य के बिना कैसे हो सकती थी। राधाकमल मुखर्जी (1944) बड़े ही मुखर थे कि भारत में समाजशास्त्र को कला, संस्कृति आदि पर ध्यान केंद्रित करना चाहिए। वे कला और समाजविज्ञान को एक-दूसरे का पूरक तक मानते थे और कला के विश्वव्यापी विचार के अंदर ही वे समाज, संस्कृति और साहित्य को उपसमुच्चय की तरह देखते थे। समाजशास्त्र में व्याप्त कला की तरफ़ उदासीनता को देखकर वे हतप्रभ थे।[3] इस स्थिति पर आठ दशक बाद भी बहुत फ़र्क़ नहीं पड़ा है और इसीलिए साहित्य, कला आदि का समाजशास्त्र हाशिये पर ही है।

बहरहाल, जो भी प्रयत्न दिखते हैं उससे ऐसा लगता है कि क्लासिकल पाश्चात्य परंपरा में और स्वाधीन भारत में लिखित-अलिखित साहित्य का फ़र्क़ बना रहा। यह फ़र्क़ बहुत हद तक विचारधारात्मक था और वर्ग विशेष के पूर्वाग्रह से ग्रसित भी। रॉबर्ट रेडफ़ील्ड (1955) द्वारा प्रतिपादित लिटिल ट्रेडिशन (लोक संस्कृति) और ग्रेट ट्रेडिशन (शास्त्रीय और पठित संस्कृति) का फ़र्क़ इसी पूर्वाग्रह को उजागर करता था।[4] साहित्य को टुकड़ों में बाँटने की यह पद्धति आधुनिकता के स्व और अन्य के फ़र्क़ से मेल खाती है। आश्चर्य नहीं कि साहित्य का समाजशास्त्र और लोकजगत या वाचिक परंपराओं का समाजशास्त्र अलग-अलग रहा है।

---

[2] तलाल असद (1979) : 85-96.

[3] राधाकमल मुखर्जी (1944) : 60-62.

[4] रॉबर्ट रेडफ़ील्ड (1955) : 13-21.

साहित्य के समाजशास्त्र के नाम पर महज़ साहित्यिक आलोचना का एक प्रारूप ही सामने आया। आम तौर पर साहित्य के समाजशास्त्र के नाम पर सिर्फ़ 'मेथड' की चर्चा ही होती है। उनमें कहे-सुने-लिखे के भेद जैसी जटिलता पर कोई विशेष रोशनी नहीं पड़ती।

वैचारिक और अवधारणात्मक बायनरी को तोड़ने वाले विचारों में हमें लिखित-अलिखित साहित्य के संबंधों पर विशेष टिप्पणी नहीं मिलती। परफ़ॉर्मेंस, थिएटर, कला, सिनेमा आदि के अध्ययन में बहुतायत में संस्कृति-राजनीति का विरोध बना रहता है। परफ़ॉर्मेंस को राजनीति से जोड़कर देखने की विधा हाल-फ़िलहाल की है। समाजशास्त्र में जेफ्री एलेक्जेंडर (2011) जैसे विद्वान परफ़ॉर्मेंस और पावर, यानि प्रदर्शन और शक्ति-सत्ता के संबंध पर ज़ोर देते हैं। चाहे वो मानव अधिकारों के लिए होने वाले आंदोलन हों या राजनीतिक सम्मेलन या युद्ध आदि की राजनीति, सबमें परफ़ॉर्मेंस देखा जाने लगा। जीवन के हरेक पहलू में, पारंपरिक अनुष्ठानों-संस्कारों में और घटनाओं में नाटकीयता देखने की एक परंपरा समाज विज्ञान में पहले से मौजूद थी। चाहे वो इरविंग गॉफ़मैन (1959) का *प्रेज़ेंटेशन ऑफ़ सेल्फ़ इन एवरीडे लाइफ़* हो या विक्टर टर्नर (1969) का *रिचुअल प्रॉसेस*, ऐसे लेखन से साफ़ ज़ाहिर होता है कि अलिखित भी संस्कृति में बड़ा नाटकीय महत्त्व रखता है।

इस पृष्ठभूमि में ही हमें भारतीय समाज और संस्कृति को विषय वस्तु बनाने की ज़रूरत है। उसकी सामाजिक-सांस्कृतिक जटिलताओं और उसमें व्याप्त संबंधों और शक्ति संघर्षों को देखते हुए हम स्व और अन्य का जड़वत भेद लेकर आगे नहीं बढ़ सकते। न ही हम लिखित-अलिखित की बायनरी के साथ बहुत आगे बढ़ पाएँगे। इस लेख में मैथिल समाज और संस्कृति की चर्चा करते हुए इस आलोचनात्मक एंथ्रोपोलॉजी और उसके विमर्श को याद रखना ज़रूरी है। यही वो ढाँचा है जो इस लेख के पार्श्व में साहित्य का समाजशास्त्र बनाता है।

देशज साहित्य और संस्कृति में हास्य-विनोद

एंथ्रोपोलॉजी और सोशियोलॉजी में जिन रिश्ते-नातों का विस्तृत ज्ञान मिलता है, वे हमारे साहित्य और संस्कृति से गुत्थम-गुत्था हैं। उनमें एक शक्ति का संघर्ष भी निहित होता है। इन शक्ति संबंधों के सबूत तब हमारे सामने आते हैं जब कोई विवाद हो, ज़र-जोरू-ज़मीन के नाम पर भाई-भौजाई तो लड़ते ही हैं, आस-पड़ोस और समाज-बाज़ार भी लड़ता है। लोक भाषाओं में इसे दियादी, भाई-भाई के विवाद के नाम से जाना जाता है। दियाद, यानि भाई और उसका परिवार जो आस-पड़ोस में सबसे पहले आने वाले संबंधों में है, कभी भी चैन से नहीं रहने देता। प्राचीन क़िस्से-कहानियों में समाज-परिवार त्याग कर जंगल में तपस्या करने वाले ऋषियों की लड़ाइयों की भी चर्चा होती है। देवी-देवताओं की लड़ाई से तो मिथकों और धार्मिक कथाओं का पूरा संसार ही अटा पड़ा है। तो, मिथिला के लोक समाज में यही सब हो तो क्या अचरज? अगर हम मिथिला के जाने-माने समाजशास्त्री हेतुकर झा (1991) के शोध के ज़रिए देखें तो जाति-लिंग के आधार पर विभाजित मैथिल और भोजपुरी भाषी समाज की शक्ति-संबंधों से लदी संरचना का दर्शन हो

जाता है। कर्मकांडी मैथिल ब्राह्मणों का प्रभुत्व तो है ही। लेकिन अनेक ऐसी जनजातियाँ भी हैं जिनका दबदबा ज़र-ज़मीन-संपत्ति के बल पर रहा है। इसके अलावा अग्रिम जातियों द्वारा निम्न समझी जाने वाली जातियों पर अनेक प्रकार की हिंसाएँ तो नग्न सत्य हैं। जातिगत हिंसा और भेद-विभेद के बीचोबीच कुछ और संभावनाएँ भी हैं जो मैथिल समाज के सांस्कृतिक रहस्य की तहें खोलती हैं। इस लेख में उन्हीं संभावनाओं में से एक विशेष पहलू पर ध्यान केंद्रित किया गया है। वह पहलू है हास्य-विनोद के द्वारा सामाजिक-सांस्कृतिक मान्यताओं की आलोचना। और यह आलोचना भी रिश्ते-नाते से परे नहीं है। धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक रूढ़िवाद और उनसे जुड़ी मानवीय भूमिकाओं पर खिल्ली उड़ाने की परंपरा भी उसी समाज की देन है जिसमें रूढ़िवाद को मज़बूत करने की निरंतर कोशिशें होती रही हैं। साहित्य-संस्कृति के समाजशास्त्र में इस दोहरेपन को समझने की कोशिश होनी चाहिए। इस लेख में आगे हम देखेंगे कि इस दोहरेपन पर मैथिल साहित्य में हरिमोहन झा के खट्टर काका विमर्श में निशाना साधा गया है।

क्लासिकल एंथ्रोपोलॅजी-सोशियोलॅजी के मद्देनज़र हम समाज-संस्कृति-बाज़ार आदि संरचनाओं को संबंधों के नज़रिए से देखते रहे हैं। उन्हीं रिश्तों-नातों से हमें मनुष्य के मौलिक स्वभाव-व्यवहार का ज्ञान हुआ है। हमने देखा है कि जहाँ संबंध हैं वहाँ भेद-विभेद, राग-द्वेष, सहकारिता-संघर्ष सब हैं। उन्हीं संबंधों की परिधि में हास्य-विनोद, हँसी-मज़ाक़, छींटाकशी-उपहास, आलोचना-निंदा आदि का भी व्यवहार है। अक्सर यह तय कर पाना मुश्किल हो जाता है कि सर्वोपरि क्या है, हमारे रिश्ते-नाते-संबंध या व्यंग्यमय व्यवहार? इस लेख का केंद्रीय विषय यह प्रश्न नहीं है। लेकिन, जब इस लेख में हम सामाजिक व्यंग्यात्मकता पर विमर्श को केंद्र में रखते हैं तब एक तर्क के रूप में यह प्रश्न सामने आ सकता है। मेरा मत है कि यह व्यंग्यात्मकता ही सामाजिक-सांस्कृतिक चक्की को चलायमान रखती है। तभी तो टेरी ईगलटन (2019) जैसे सिद्धांतकारों ने भी हास्य-व्यंग्य को समाज-संस्कृति के बने रहने और उनमें परिवर्तन के लिए भी ज़िम्मेदार माना है। उन्होंने तो यह भी कह दिया कि जैसे-जैसे समाज बदलता है, चुटकुले-परिहास आदि के रूप-गुण भी बदलते हैं। मनुष्य के इतिहास में जिस प्रकार के हँसी-मज़ाक़ को भूतकाल में वर्जित माना गया, वह वर्तमान में या भविष्य में शायद स्वीकृत हो जाए। ईगलटन के साथ अगर हम संस्कृति के इतिहास के पन्ने पलटें तो पाएँगे कि अनेक चुटकुले, जिन्हें भूतकाल में दबी ज़बान में कहा जाता था और बहुत 'प्राइवेट' में सुना जाता था, अब उन्हें सार्वजनिक तौर पर कहा-सुना जाने लगा है। जो कल निजी लगता था, अब सामाजिक स्वीकृति के बाद सार्वजनिक हो गया। अनेक प्रकार के व्यंग्यात्मक लहजे जो भूतकाल में स्वीकृत थे, वे प्रतिबंधित हो गए या हो जाएँगे। उदाहरण के तौर पर, रैडक्लिफ़ ब्राउन (1940) ने आदिम समाज में हँसी-मज़ाक़ वाले संबंधों की चर्चा की। विवाह पर आधारित संबंध जैसे ससुर-दामाद में, सास-बहू में, जीजा-साली-साले में जो हास्य-विनोद का संबंध होता है, उससे उनके रिश्ते में तल्ख़ी नहीं आती।[5] जिस समाज, समय, स्थान और संस्कृति के संदर्भ में रैडक्लिफ़ ब्राउन ने 'जोकिंग

[5] ए.आर. रैडक्लिफ़ ब्राउन (1940) : 195-210.

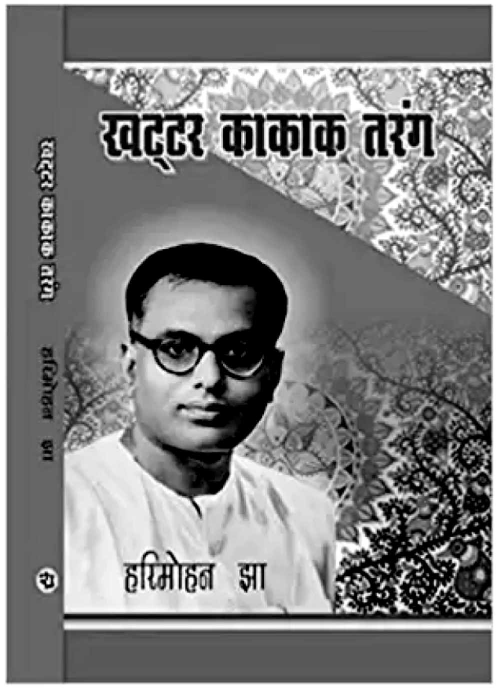
रिलेशन' की अवधारणा दी थी, संभवतः अब वो जोकिंग रिलेशन अमान्य हो गया हो। पहले हँसी-मज़ाक़ से तल्ख़ी नहीं आती थी, अब शायद उसी हँसी-मज़ाक़ के कारण रिश्ते टूट जाएँगे। मिथिला में भी तो सार-बहनोई (साला-जीजा) के बीच होने वाले हँसी-मज़ाक़ के कितने क़िस्से हैं। जीजा-साली के संबंध में तो इतनी आत्मीयता होती है कि उसके आधार पर कितने रसीले क़िस्से बने। यही नहीं, चाचा-मामा, चाची-मामी आदि के साथ भी हँसी-मज़ाक़ आम बात होती थी। जिसे अंग्रेज़ी में एवंकुलर रिश्ते कहा जाता है, उसमें बड़े ही विनोदात्मक गाली-गलौज का भी सामाजिक-सांस्कृतिक प्रावधान रहा है। लेकिन यह सब भी बदलता रहा है। आधुनिक शिक्षा, शहरी संस्कृति या नई संवेदना के प्रसार से, या चाहे किसी नई सामाजिक-राजनीतिक चेतना के कारण, संबंधों के हास्य-विनोद में परिवर्तन जग-ज़ाहिर है।

हँसी-मज़ाक़ के मायने समय-स्थान के अनुसार तय होते हैं। इस विचार को पूर्व में महादेव आप्टे (1985) नामक एक एंथ्रोपोलॉजिस्ट ने भी विकसित किया था। हास्य-विनोद के एंथ्रोपोलॉजी पर विस्तृत और सैद्धांतिक चर्चा आप्टे से ही शुरू होती है। स्थान-समाज-संस्कृति-प्रसंग की निर्णायक भूमिका के कारण हास्य-विनोद के स्वभाव को लगभग सापेक्षता के सिद्धांत के ज़रिए देखा गया। जो चुटकुला अमेरिका में कहने- सुनने वालों को गुदगुदाए, वो शायद अफ़्रीक़ा या दक्षिण एशिया में विवाद का कारण बन जाए। सापेक्षता के इस सिद्धांत में आधुनिक विश्ववाद से हटकर एक नई सोच की प्रेरणा है। आप्टे ने उत्तर-आधुनिकता में प्रचलित विचार यथा सत्य की सापेक्षता को हँसी-मज़ाक़ के प्रसंग में भी देखा। अनेक उत्तर-आधुनिकतावादी विचारकों ने भाषा, डिस्कोर्स, लघु परिप्रेक्ष्य और स्थानीयता पर ज़ोर देते हुए 'अनुभवों' की सापेक्षता पर विस्तार से चर्चा की। पॉज़िटिविज़्म यानि सार्वभौमिक तथ्यात्मकता, यानि किसी प्रस्ताव के लिए वैश्विक स्तर पर मान्य प्रमाण के द्वारा सामाजिक-सांस्कृतिक हास्य को नहीं समझा जा सकता है। यहाँ तक कि कुछ स्पष्ट रूप से उपलब्ध प्रामाणिकता भी पर्याप्त नहीं है। विनोदात्मक व्यवहार को समझने के लिए इस प्रकार के सांस्कृतिक व्यवहार के लिए राजनीतिक यथार्थता, दोषमुक्त दृष्टिकोण भी ज़रूरी नहीं होता है। हास्य-विनोद की अपनी सांस्कृतिक राजनीति होती है, चाहे आपको बुरा लगे या भला। सबको समझने के लिए स्थानीय संस्कृति में प्रचलित कोड्स, सूत्रों और संकेतों को स्थानीय सामाजिक परिवेश से जोड़कर देखना ज़रूरी है। इस तरह आप्टे ने बहुत उदारतापूर्वक हँसी-मज़ाक़ की संस्कृति पर प्रकाश डाला। इस लेख में भी यह संभव है कि हास्य-विनोद भरे गल्प में समय-स्थान की सापेक्षता प्रचुर दिखाई पड़े। रिश्ते-नाते, किनशिप के जाल और पारिवारिक-सामाजिक परिवेश आदि गल्पों के मतलब समझने और उनके गूढ़ दार्शनिक महत्त्व के उद्घाटन में बहुत अहम हैं।

खट्टर काका का चरित्र, मैथिल संस्कृति और समाज से जुड़कर, वाद-विवाद-संवाद करता है। उनके इस व्यवहार में उनका भतीजा एक महत्त्वपूर्ण सूत्रधार है। भतीजा प्रश्न करता है और करता ही रहता है क्योंकि काका के हरेक जवाब में एक विमर्श है, और ये किसी भी स्वस्थ

विमर्श की प्रकृति है कि उससे नए प्रश्न उत्पन्न हों। तो भतीजे के प्रश्नों का सिलसिला नहीं रुकता, और न ही काका का विमर्श। हास-परिहास से भरे इस विमर्श में काका अनेक स्थापित धार्मिक-सामाजिक, सांस्कृतिक-साहित्यिक मान्यताओं को तोड़ते हैं। कितनी ही बार भतीजे को टोकना पड़ता है, वो बार-बार याद दिलाता है कि शायद काका बात का बतंगड़ बना रहे हैं, ज़बर्दस्ती अपने मतलब घुसा रहे हैं, अपना प्रोपगेंडा चला रहे हैं, आदि। पाठकों को कितनी ही बार लग सकता है कि भतीजे का टोकना सही है। क्या सचमुच में काका कोई वाद-विवाद-संवाद नहीं बल्कि बस वितंडा कर रहे हैं, कुतर्क करके हँसा रहे हैं और मान्यता प्राप्त मूर्तियों को ध्वस्त कर रहे हैं? जैसे ही हम काका के विमर्श से दो-चार होते हैं, हमें उनके हँसी-मज़ाक़ में तर्क दिखने लगता है। मतलब में मतलब और बातों में बात सुनाई पड़ने लगती है। चाहे कितने भी हल्के-फुल्के अंदाज़ में कहा जाए, हम समझ सकते हैं कि काका दरअसल किसी विशेष दर्शन का प्रतिपादन कर रहे हैं। उन्होंने जानबूझकर किसी पंडित या दार्शनिक के अंदाज़-ए-बयाँ को नहीं अपनाया है। वे साधारण पद्धति में साधारण लोगों के लिए बिल्कुल साधारण बातें बता रहे हैं, लेकिन इन बातों के परिणाम असाधारण हो सकते हैं। वे कैनन, कैननवादी बौद्धिक संस्कृति और ज्ञान-विज्ञान से जुड़ी किसी भी महंतशाही को तोड़ना चाहते हैं। वे व्यक्ति, उसके भाव-व्यवहार, प्रकृति-भोग विलास, और उसके संपूर्ण अस्तित्व को दर्शन का केंद्र बना देना चाहते हैं। लेकिन क्या ऐसा करते हुए वे युरोप के प्रबुद्धवाद (एनलाइटेनमेंट) वाले आधुनिक दार्शनिकों जैसे सोचने लगते हैं? संभवतः नहीं, क्योंकि खट्टर काका और उनके रचयिता एक प्रकार की रोज़मर्रे की ज़िंदगी और उससे जुड़ी देहवादी बौद्धिकता के माध्यम से सब कुछ देखने की कोशिश करते हैं। युरोप के एनलाइटेनमेंट में देह की दैहिकता, स्थान की स्थानीयता, समय की सामयिकता और यहाँ तक कि समाज की सामाजिकता आदि से ऊपर उठकर, 'ना जाने किस जगह से' विश्व-दर्शन होता है। इस प्रवृत्ति की भरपूर आलोचना करते हुए दीपेश चक्रबर्ती (2007) सरीखे विद्वानों ने युरोप को प्रोविंशियल दिखाने की बात कही थी। यही नहीं, उन्होंने यह भी बताया था कि उपनिवेशों में भी आधुनिकता कोई हवा-हवाई विचार और व्यवहार नहीं, चाहे उसमें बाहर से आये विचारों का कितना ही प्रभाव हो, उसकी अपनी ज़मीन उपनिवेशों में स्थित समाज-संस्कृति होती है। तो खट्टर काका का प्रबुद्धवाद कोई हवा-हवाईवाद नहीं है। काका विमर्श में लेखक झा का बौद्धिक जीवन, भारत की प्राचीन प्रबुद्ध विधाएँ, विचार-व्यवहार आदि सब मिल जाते हैं।

एक मायने में खट्टर काका का चरित्र और उसके रचयिता श्री हरिमोहन झा का जीवन आपस में गुत्थमगुत्था है। और हो भी क्यों नहीं, आख़िर काल्पनिक चरित्र लेखक के अपने आसपास से, परिवार-समाज से किसी न किसी प्रकार से जुड़े तो होते ही हैं। अनेक उपन्यासकारों ने भी यह स्वीकार किया है। विश्वविख्यात लेखक और साहित्यकार ओरहान पामुक ने भी अपने 2009 में दिए चार्ल्स इलियट नॉर्टन लेक्चर, 'द नाइव ऐंड सेंटीमेंटल नॉवेलिस्ट' (अनुभवहीन और भावुक उपन्यासकार) में ऐसा ही कुछ बताया। पामुक बताते हैं



कि हम जानते हैं कि हमारे नींद में देखे सपने सच नहीं होते फिर भी हम उन सपनों के बारे में ऐसे सोचते रहते हैं जैसे या तो वे सच थे या उनका सच से थोड़ा बहुत संबंध हो सकता है। शिलर नामक एक प्राचीन जर्मन दार्शनिक का संदर्भ देकर पामुक हमें कला, साहित्य और जीवन के रिश्ते पर सोचने के लिए बाध्य करते हैं। जब पामुक का उपन्यास *म्यूज़ियम ऑफ़ इनोसेंस* प्रकाशित हुआ तो उनसे बहुतेरे लोगों ने पूछा, क्या आप अपने उपन्यास के नायक केमल हैं? पामुक ने दो विरोधात्मक जवाब दिए – 'मैं केमल नहीं हूँ, लेकिन मैं अपने पाठकों को कभी भी यक़ीन नहीं दिला पाऊँगा कि मैं केमल नहीं हूँ' (2010 : 34)। शायद हरिमोहन झा भी हमें यक़ीन नहीं दिला पाते कि वे खट्टर काका नहीं हैं। या फिर खट्टर काका विमर्श को पढ़ते हुए, उसके हास्य-विनोद का रसपान करते हुए हम भी यह नहीं मान पाते कि हम, पाठकगण, खट्टर काका नहीं हैं।

देशज साहित्य और लोक संस्कृति की तरफ़ जब एंथ्रोपोलॅजी और सोशियोलॅजी रुख़ करते हैं तो एक सबक़ याद रखना निहायत ज़रूरी है। साहित्य-संस्कृति, सामाजिक व्यवहार, हास-परिहास और सबवर्ज़न यानि उलट-पलट करने की बौद्धिक संस्कृति आपस में रचे-बसे होते हैं। उन्हें अलग-अलग करके देखना-समझना अकादमिक सहूलियत के लिए होता रहा है। लेकिन इससे सामाजिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक जगत के बारे में संतोषजनक समझ नहीं बन सकती। दूसरा ये कि समय-स्थान, समाज-संस्कृति, साहित्य और हास-परिहास की स्थानीयता और परिवर्तनशीलता होती है। सार्वभौमिक सत्य की तलाश में आधुनिक विधाओं में सांस्कृतिक सापेक्षता को नज़रअंदाज़ किया गया है। इस लेख में देशज साहित्य-संस्कृति का जो समाजशास्त्र है वो उपरोक्त विमर्श की रोशनी में ही हरिमोहन झा और उनकी काका-कृति का अध्ययन कर रहा है। आख़िरी बात जो याद रहनी चाहिए, वह यह है कि साहित्य-संस्कृति आदि का समाजशास्त्र अपरिहार्य रूप से इंटर-टेक्सचुअल होगा। 1960 के दशक में जूलिया क्रिस्टेवा (1966) ने इसका प्रस्ताव देते हुए कहा था कि कोई भी टेक्स्ट स्फूर्त-गतिशील होता है जिसमें प्रक्रियाओं और व्यवहारों के संबंध निहित होते हैं। टेक्स्ट को महज़ एक संरचना या उत्पाद समझ देखेंगे तो हम उस टेक्स्ट में विराजमान नाना प्रकार के व्यवहारों-प्रक्रियाओं और उनके साहचर्य को कभी नहीं समझ पाएँगे। सीमिऑटिक को

प्रधानता देते हुए क्रिस्टेवा किसी भी साहित्य को डिस्कोर्स के भरोसे नहीं छोड़ना चाहती थीं। बल्कि उसमें विद्यमान लक्षणों, संकेतों, प्रतीकों के गुच्छों को निकाल कर देखना चाहती थीं। दरअसल क्रिस्टेवा अपने पूर्ववर्ती विचारक बाख़्तिन की बात को और विस्तार दे रही थीं। बाख़्तिन का विचार यह था कि किसी भी टेक्स्ट को पढ़ते हुए आप ये महसूस कर सकते हैं कि एक शब्द के साये में अनेक और शब्द छुपे होते हैं। किसी भी साहित्यिक या सांस्कृतिक टेक्स्ट में, चाहे वह लिखित हो या अलिखित, श्रव्य या दृश्य, हरेक स्टेटमेंट की तह में उप-कथन (सब-स्टेटमेंट) होता है। अर्थात हरेक टेक्स्ट अपने गर्भ में भाँति-भाँति के सब-टेक्स्ट दबाए रहता है। अगर हम क्रिस्टेवा के बहुत ही तकनीकी क़िस्म के सीमिऑटिक को दरकिनार भी कर दें तो भी साहित्य-संस्कृति के समाजशास्त्र में इंटर-टेक्सचुअलिटी से इनकार नहीं कर सकते। तो क्या हर्ज़ है अगर काका-विमर्श की विवेचना करते हुए हम उसका संबंध अनेक, अन्य, अद्भुत अवयवों से देखने लगें? ऐसा ही कुछ शेष लेख में होता है।

खट्टर काका और हरिमोहन झा : रचना और रचयिता

1945 में *खट्टर काकाक तरंग* शीर्षक से एक पोथी प्रकाशित हुई। ये मैथिल में थी और कहते हैं कि आधुनिक मैथिल साहित्य में यथार्थवाद का नायाब प्रयोग लेकर आई थी। मैथिल साहित्य के इतिहासकार जयकांत मिश्र (1998) ने हरिमोहन झा को मैथिल में हास्य-विनोद साहित्य की शैली को विकसित और प्रचलित करने में महत्त्वपूर्ण माना है और *खट्टर काका* के चरित्र व विनोदात्मक संवाद को उसी शैली में एक मील का पत्थर। यद्यपि हास-परिहास के साहित्यिक प्रयोग में और भी अनेक नाम लिए जाते हैं लेकिन खट्टर काका की लोकप्रियता इतनी बढ़ गई कि उनसे जुड़ी सारी बातें दैनिक-सामाजिक जीवन का हिस्सा बन गईं। 1970 के दशक में जो मैथिली के युवा पाठक थे, वे याद करते हैं कि सामाजिक-सांस्कृतिक स्तर पर काका के गल्प कितने प्रभावशाली थे। चूँकि इस गल्प में बहुत सारे स्थापित मूल्य तहस-नहस होते हैं, इसलिए अनेक युवकों को इसे पढ़ने की मनाही भी थी। लेकिन जितना प्रतिबंध, उतना ही पढ़ने का आनंद। सत्तर के दशक के पाठकों से सुना जा सकता है कि वे चोरी-चोरी, चुपके-चुपके, भरपूर नाटकीय आनंद के साथ काका-विमर्श पढ़ते और रसों का बखान करते थे।

एक तरफ़ तो हरिमोहन झा को मैथिल साहित्य का ध्रुव स्तंभ माना गया और दूसरी तरफ़ उनके काका विमर्श पर भारी सामाजिक-सांस्कृतिक चिंतन होने लगा। मिलाजुला कर इसका एक परिणाम यह भी हुआ कि काका के रचयिता झा की अन्य कृतियों की तुलना में *खट्टर काकाक तरंग* सबसे महत्त्वपूर्ण माना जाने लगा।[6] इसकी लोकप्रियता के कारण हिंदी भाषा साहित्य के पाठकों की भी रुचि बढ़ी। परिणामस्वरूप, झा को *खट्टर काका* के कुछ गल्पों को हिंदी में लिखना (या कहें तो अनुवाद करना) पड़ा जो *कहानी* और *धर्मयुग* जैसी प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए। दर्शनशास्त्र के अपने अध्यापकीय जीवन से सेवानिवृत्ति के बाद

[6] रमाकांत मिश्रा (1986) : 107-115.

1971 में हरिमोहन झा ने *खट्टर काका* शीर्षक से एक संपूर्ण पोथी हिंदी में प्रकाशित की।

ओरहान पामुक के अंदाज़ में कहें तो हरिमोहन झा क़तई खट्टर काका नहीं हैं। लेकिन रचयिता और रचना के सामाजिक-सांस्कृतिक अनुभवों में इतना तारतम्य है कि पाठकों को एक अनोखी बात सहज ही सूझ जाए। मैथिल भाषी समाज में जिधर नज़र दौड़ाएँ, उधर एक क्या, अनेक काका निकल आएँगे। और हरेक काका में कमोबेश खट्टर काका का अस्तित्व दिखाई और सुनाई पड़ सकता है। हम बस अनेक संदर्भों के पारस्परिक साहचर्य को समझने के लिए उस समाज और संस्कृति को थोड़ा टटोलेंगे जिसमें हरिमोहन झा पले-बढ़े और अपने लेखकीय जीवन की शुरुआत की। जिज्ञासा है कि रस का वह स्रोत कहाँ है जिसकी चर्चा खट्टर काका यह कहकर करते हैं, रसम पित्वा रसम वदेत।[7]

रस प्रधान गल्प की धारा जिस जगह से फूटती है वह मिथिला के गाँव-शहर, कच्चे-पक्के गली-गलियारे और उनमें भरे लोग ही हैं । और चूँकि यह रस दैनिक-सामाजिक जीवन से संबंधित है तो ऐसा नहीं हो सकता कि इसमें यथार्थ का तीखापन न हो। हरिमोहन झा काका से बुलवा लेते हैं, 'मैं बस रस नहीं परोसता, उसके साथ खटमिट्ठी अचार और थोड़ी सी मिर्ची भी डालता हूँ'।[8] जैसाकि आम तौर पर सामाजिक परिवेश में होता है, थोड़े हास्य-विनोद के ज़रिये यथार्थ की कटुता को जाना-पहचाना जाता है और सोचा-बताया जाता है। कैसे आता है ये सब रचयिता हरिमोहन झा के जीवनवृत्त में?

1984 में अपनी मृत्यु से पहले हरिमोहन झा ने *जीवन यात्रा* शीर्षक से अपनी आत्मकथा लिखी थी, जो मरणोपरांत प्रकाशित हुई। इसमें उन्होंने लिखा कि सर्वश्रेष्ठ नाटककार ईश्वर ने समस्त ब्रह्माण्ड को रचा और सबको जीवन रूपी नाटक का पात्र बना कर भेजा। उस नाटक में हरिमोहन झा को एक मसख़रे पात्र की भूमिका दी। ज़ाहिर है कि लेखक ने अपने जीवन में उसी हास-परिहास को जिया और रचा और उसी के माध्यम से अपने तर्क-वितर्क को प्रसारित किया। हास्य-विनोद और सामाजिक संदेश का संगम झा की पहली प्रसिद्ध कृति, 1930 में प्रकाशित उपन्यास *कन्यादान* से ही दिखाई देने लगता है। एक संपूर्ण उपन्यास बनने से पहले *कन्यादान* अनेक धारावाहिकों में बँटी कहानियों के रूप में एक पत्रिका, *मिथिला मिहिर* में प्रकाशित हो चुका था। बिहार के उत्तर-पूर्व में स्थित ज़िला दरभंगा में लहेरियासराय से प्रकाशित पत्रिका *मिथिला मिहिर* उन दिनों साहित्यिक प्रकाशन के लिए प्रसिद्ध थी। उन दिनों युवक हरिमोहन उस पत्रिका में कार्यरत थे और उनसे अनुरोध किया गया था कि वो मिथिला के लिए कुछ कहानियाँ लिखें। उन्होंने जल्दबाज़ी में ही कुछ कहानियाँ लिखीं जो परिष्कृत होकर उपन्यास के रूप में प्रकाशित हुई। यह उपन्यास इतना प्रचलित हुआ कि बंगाल के फ़िल्मकार फणींद्र मजूमदार ने इस पर *कन्यादान* नामक मैथिल फ़िल्म भी बनाई, जो मैथिल में बनने वाली पहली फ़िल्म के रूप में प्रतिष्ठित है। लगभग इसी उपन्यास के फ्रेमवर्क को आगे

---

[7] हरिमोहन झा (1971) : 8.

[8] वही : 10.

बढ़ाते हुए हरिमोहन झा ने 1943 में *द्विरागमन* भी लिखा। उसे भी चाव से पढ़ा गया, हालाँकि *द्विरागमन* को वह प्रसिद्धि नहीं मिली जो *कन्यादान* को मिली थी। तदुपरांत उन्होंने 1945 में *प्रणम्य देवता* नामक उपन्यास लिखा जिसकी चुटीली मैथिल, मैथिल ब्राह्मणों के व्यावहारिक जीवन के रसमय और कटाक्षमय विवरण और हास्य-विनोद की पद्धति आदि ने ख़ासी प्रसिद्धि अर्जित की। एक दृष्टिकोण से देखें तो *प्रणम्य देवता* से ही काका सरीखे चरित्रों की प्रधानता दिखने लगती है। काका जैसे चरित्र *कन्यादान* में भी थे लेकिन उनके चरित्र से हास्य-विनोद का अटूट संबंध संभवतः इसी उपन्यास से स्थापित हो पाता है। यही संबंध *खट्टर काका* और *खट्टर काकाक तरंग* में उनके विमर्श का आधार बन जाता है।

मसख़रे झा और अनथक मज़ाक़िये काका का संबंध एक ही समाज और संस्कृति से था। यह वह समाज था जिसके एक हिस्से, यानि गाँव कुमार बाजितपुर में, बालक हरिमोहन का जन्म हुआ था। पिता जनार्दन झा, जिन्हें उपनाम 'जनसीदन' से भी जाना जाता था, हजारी प्रसाद द्विवेदी युग के जाने-माने साहित्यकार थे। बालक हरिमोहन का ग्रामीण लोक-जगत से घर परिवार की महिलाओं के माध्यम से सीधा नाता था। उनकी दादी, जिन्हें सब दैया कह कर बुलाते थे, ग्राम्य संस्कृति को मुँह-ज़बानी बताती थीं। क़िस्से बाँचने में दैया की बेटी, जिसे सब बहिन दाय कहते थे, भी कुछ कम नहीं थीं। हरिमोहन की माँ सारी दुनिया को गीतों-कथाओं में पिरो कर रख देती थीं। ये गपशप, क़िस्से, गीत-नाद, फ़करा-कहबी मिलकर हरिमोहन का सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश तैयार करते हैं। उनमें वह सब कुछ था जो युवक हरिमोहन की लेखनी के माध्यम से आधुनिक साहित्य का हिस्सा बन गया। इसमें भूत-पिशाच, दैत्य-दानव, देवी-देवता, सुर-असुर, डायन-जोगिन से लेकर मामा-काका, भाई-भतीजा, काकी-मामी, बहिन-बहनोई तक आराम से एक साथ आ जाते थे। संस्कार-अनुष्ठान और तीज-त्यौहार, पूजा-पाठ और भोज-भात, कुछ भी नहीं छूटता था। ग्राम्य-देहाती जीवन की दरिद्रता से लेकर मानवीय लोभ-लालच, सबसे किसी न किसी तरह का गूढ़ मतलब निकलता उन क़िस्सों में। हरिमोहन इसके अलावा अपने पिता से संस्कृत काव्य और दर्शन की बातें तो सीख ही रहे थे। बालपन में ही अपने पिता के माध्यम से उन दिनों की प्रसिद्ध साहित्यिक पत्रिका *मिथिला मिहिर* से उनका परिचय हुआ। जनार्दन झा जनसीदन *मिथिला मिहिर* के संपादक थे और ज़िला दरभंगा में उनका दफ़्तर था। इस तरह तरुणाई में ही हरिमोहन का परिचय प्रमुख साहित्यिक व्यक्तित्वों और कामों से होने लगा। यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि संपादक पिता की फ़ाइलों में से लेखों को पढ़कर हरिमोहन झा ने आधुनिक मैथिल साहित्य में किस उमंग से प्रवेश किया होगा।

बचपन में उनके मानस में जो लोक-संस्कृति की नींव पड़ी, उसमें सामाजिक भेदभाव की समझ भी जुड़ी। उन्होंने अपनी नव ब्याहता पत्नी को शिक्षा और हर उस अवसर से वंचित देखा, जो पुरुषों को प्राप्त होता है। पितृसत्तात्मक मैथिल भाषी समाज, उसमें होने वाले लिंग भेद, स्त्रियों का दोयम स्थान और जाति-भेद आदि सब मिलकर लेखक हरिमोहन झा की

साहित्यिक संवेदना को तैयार करते हैं। उनका अपने समाज से पहला द्वंद्व *कन्यादान* उपन्यास में स्पष्ट दिखता है। स्त्री को पराया धन, दूसरे के घर की लक्ष्मी मान कर उसके साथ होने वाले भेदभाव को झा बड़ी ही शालीनता के साथ एक स्वाभाविक, सहज, स्वत: स्फूर्त नारीवादी दृष्टिकोण से प्रस्तुत करते हैं। उनका नारीवाद किसी स्थापित बौद्धिक धारा से सीधा नहीं जुड़ता लेकिन एक उदारवादी दृष्टिकोण से स्त्री-पुरुष के भेद की आलोचना करता है। आधुनिकता के इतिहास के इस चरण में उदारवाद (लिबरलिज़्म) ही सबसे प्रभावशाली मॉडल था। औपचारिक शिक्षा के माध्यम से उसी दृष्टिकोण और मूल्यों का प्रसार होता था।

हरिमोहन झा को औपचारिक शिक्षा और दैनिक संघर्ष से भी एक लेखकीय दिशा मिली। स्नातक उन्होंने अंग्रेज़ी साहित्य में किया। बीसवीं सदी की पहली चौथाई में पटना महाविद्यालय उत्कृष्ट शिक्षा का केंद्र था। युवक हरिमोहन एक मेधावी छात्र थे और अंग्रेज़ी साहित्य की पढ़ाई में अव्वल रहे। लेकिन आर्थिक सुविधा के अभाव में उन्हें बी. ए. करने के बाद अर्थोपार्जन में लगना पड़ा। थोड़ी जमा-पूँजी होने के बाद स्नातकोत्तर की पढ़ाई का विचार था। उन दिनों प्रसिद्ध लहेरियासराय, दरभंगा स्थित साहित्यिक प्रकाशन के एक महत्त्वपूर्ण केंद्र, पुस्तक भंडार में नौकरी भी की। वहाँ उन्होंने कुछ लोकप्रिय कुंजियाँ भी लिखीं। 'तीस दिनों में अंग्रेज़ी' या 'तीस दिनों में संस्कृत' जैसी कुंजियों की अच्छी-ख़ासी बिक्री भी हुई। इसी दौरान उन्हें हिंदी, मैथिल और अन्य भाषाओं के साहित्य को जानने और समझने का मौक़ा मिला। उन्हें लगा कि मैथिल साहित्य में व्याप्त आदर्शवाद के बदले यथार्थवाद को प्रबल बनाने की ज़रूरत है। इस नवीनता में उनकी अपनी साहित्यिक रचनाएँ पुरज़ोर योगदान करती हैं।

बाद में हरिमोहन झा पटना विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्र विभाग में प्राध्यापक नियुक्त हुए। आधुनिक दर्शन से लेकर प्राचीन भारतीय दर्शनों पर उनकी पकड़ की चर्चा होने लगी। उन्होंने अनेक दार्शनिक समीक्षाएँ भी लिखीं। इन सबको समेटते हुए उन्होंने भारतीय विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अनुरोध पर एक ट्रेंड रिपोर्ट लिखी जो *ट्रेंड्स ऑफ़ लिंगविस्टिक एनालिसिस इन इंडियन फ़िलॉसफ़ी* शीर्षक से प्रकाशित हुई (1981)। इस ग्रंथ से विद्वान हरिमोहन झा की दार्शनिक क्षमता और विश्लेषण दक्षता की विस्तृत जानकारी मिलती है। इस रिपोर्ट में प्राचीन भारतीय दर्शन को उन्होंने बारीकी से सहेजते हुए समीक्षात्मक अध्ययन किया था। न्याय, मीमांसा, वेदांत, व्याकरण, अलंकार शास्त्र आदि को एक साथ लाकर झा कमोबेश वही प्रश्न पूछ रहे थे, जो दुनिया के उन हिस्सों में पूछे जा रहे थे, जहाँ आधुनिक दर्शनशास्त्र का जन्म और पालन-पोषण हुआ था। लेकिन विशेष बात यह थी कि झा की समीक्षा का स्रोत पूर्णतः स्थानीय था। यानि उत्तर-औपनिवेशिक भारतीय प्रबुद्ध समाज में जिन प्राचीन संसाधनों के आधार पर महज सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के नारे लगते थे, उन्हीं संसाधनों को दार्शनिक झा कुछ ऐसे प्रश्नों की तरफ़ मोड़ रहे थे जो महज़ स्थानीय-देशी-क्षेत्रीय नहीं थे। जैसे हमारी स्पीच कैसे अस्तित्व में आती है? इसमें भाषा और भाषा के अलावा भावों की क्या भूमिका है, हम अपनी और एक-दूसरे की बातों को कैसे समझ पाते हैं, आदि-आदि।

समझने-समझाने की प्रक्रिया में दर्शन के कैसे गूढ़ रहस्य छुपे हुए हैं? क्या भारतीय हरमेनुटिक्स वैश्विक स्तर पर प्रचलित हरमेनुटिक्स के दर्शन को नवीनता प्रदान कर सकता है? हरिमोहन झा के दार्शनिक विमर्श को देखते हुए इस प्रकार के अनेक प्रश्न हमारे ज़ेहन में उभर सकते हैं। युरोप में दर्शन और समाज विज्ञान में जिसे लिंग्विस्टिक टर्न या भाषाई मोड़ कहा जाता है, लगभग वही शंखनाद भारत में हरिमोहन झा कर रहे मिलते हैं यद्यपि इसमें वे अकेले नहीं थे। इस क्षेत्र में भारतीय दर्शनों के आधार पर समीक्षात्मक विश्लेषण करने वाले दार्शनिकों में बी. के. मतिलाल और जे. एन. मोहंती सरीखे लब्धप्रतिष्ठित दर्शन के विद्वानों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। इसी शृंखला की महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में हरिमोहन झा के दार्शनिक योगदान को देखने की ज़रूरत है।

हरिमोहन झा की जीवनी की इस बेहद संक्षिप्त प्रस्तुति से जो बात ज़ाहिर होती है, उसे एक बार दोहरा देना चाहिए। क्योंकि उद्देश्य उनकी जीवनी को दुहराना नहीं है, इसलिए लेखनी के उपरोक्त हिस्से में जो सूचना दी गई है, उसे हेगिओग्राफ़ी, यानि प्रशंसा में की गई स्तुति नहीं माना जाए। इस निरीक्षण का उद्देश्य महज़ यह देखना और दिखाना है कि लेखक-रचयिता-मसख़रे पात्र हरिमोहन झा के अनुभव का दायरा कितना व्यापक था। इसमें लोक संस्कृति से लेकर आधुनिक बौद्धिक प्रगति तक का विस्तार है। साथ ही साथ, इस विस्तार से जुड़ी सीमाएँ भी हैं जो उन्हें सीधे-सीधे अंतर्राष्ट्रीय पटल पर बौद्धिक वाद-विवाद में जाने से रोकती हैं। उन सीमाओं का संबंध लेखक झा की आर्थिक स्थिति से भी रहा ही होगा। आर्थिक संसाधन एकत्र करने के बाद ही उन्होंने पटना दर्शनशास्त्र में स्नातकोत्तर किया और 1933 में बी.एन. कॉलेज पटना में पढ़ाने लगे। इसीलिए यथार्थवाद का झंडा उठाए हरिमोहन झा, अंततः कह गए – 'मुझे क़िस्से-कहानियों के प्लॉट तो मिलते रहे लेकिन ज़मीन का कोई प्लॉट नहीं मिल सका'।[9]

काका के हास्य-विनोद के बीचोबीच हमें लगता है कि उत्तर-औपनिवेशिक मैथिल समाज में व्याप्त स्थिति पर एक प्रकार का गुस्सा भी ज़ाहिर हो रहा है और काका के विमर्श को सुनते हुए हम ये भी समझ सकते हैं कि दरअसल मैथिल समाज की भी प्रायः वही बीमारियाँ रही हैं जो शेष भारतीय समाज या किसी भी ऐसे समाज में पाई जाती हैं जहाँ बुद्धि-विवेक पर ताला लगा कर प्रगति की कल्पना की जाती है। एक तरह से कहें तो काका रुके हुए समाज पर हँसते-हँसते चुटकी लेते हैं।

कैसे हैं काका?

एक प्रश्न उठ सकता है : हरिमोहन झा के खट्टर काका आधुनिकतावादी हैं या परंपरावादी? जब *खट्टर काकाक तरंग* का पहला संस्करण प्रकाशित हुआ था तो किसी आलोचक ने

[9] रमाकांत मिश्रा (1986) : 115.

मिथिला मिहिर में *खट्टर काका* को पाश्चात्य रंग में रँगा हुआ बताया था। अभी भी ऐसा ही होता है, अगर कोई आलोचनात्मक हो तो उसे तुरंत दूसरे दल का घोषित कर दिया जाता है। अगर दक्षिणपंथी नहीं तो निश्चय ही कॉन्ग्रेसी होंगे। उसी तरह अगर हरिमोहन झा परंपरावादी नहीं तो ज़रूर पाश्चात्य आधुनिकवादी होंगे। हरिमोहन झा ने इस तरह के आलोचकों को पुस्तक के द्वितीय संस्करण की भूमिका में जवाब दिया। जवाब में एक नया गल्प जोड़ दिया था। क्या काका सचमुच पश्चिमी सभ्यता का अनुसरण करते हुए भारतीय परंपरा की आलोचना करते हैं? राष्ट्रवाद के जिस ऐतिहासिक चरण में खट्टर काका गढ़े गए और उनका विनोदी संवाद प्रचलित हुआ, वहाँ आधुनिकता की आलोचना प्रबुद्धों का एक स्थापित व्यवहार था। दूसरी तरफ़, पश्चिमी-आधुनिक मूल्यों को बढ़ावा देने वाले समाज सुधारकों द्वारा पारंपरिक व्यवहार की आलोचना का भी प्रचलन था। ऐसे में खट्टर काका आधुनिकता के साथ भी दो-दो हाथ करते हैं। उनके विमर्श का सबसे बड़ा हिस्सा पारंपरिक व्यवहार और साहित्य-संस्कृति को समर्पित है। लेकिन कैसे? बड़ा उभयार्थक है काका का परंपरा प्रेम। संस्कृत साहित्य से लेकर धार्मिक मान्यताओं पर वे रसीले कटाक्ष करते हैं। लेकिन उन्हें आधुनिक पद्धति का रैशनलिस्ट (हेतुवादी) कहना कठिन है। आधुनिक समाज में संस्कृति की विकृति को सामने रखते हुए काका कहते हैं :

> सांस्कृतिक कार्य माने नाच। एहि हिसाबें संस्कृतक पंडित महा असंस्कृत छथि।[10]

जब किसी ने टोका कि काका, भारतीय समाज को परंपरा और आधुनिकता के समन्वय की ज़रूरत है, तो वो बिफर पड़े। उनके हिसाब से ये भारत के प्रबुद्ध वर्ग का एक बड़ा आडंबर है जिसमें वे दो बौद्धिक-वैचारिक, सामाजिक-व्यावहारिक पद्धतियों का घालमेल करते हैं। अपने परिहासात्मक अंदाज़ में काका कहते हैं :

> कोन प्रकारें समन्वय करय कहैत छह? आब सँ शिवजी के माथ पर 'सोडावाटर' ढारि दिऐन्ह? भगवानक नैवेद्यमे 'बिस्कुट' चढ़ा दिऐन्ह? भगवती कैं आँचरक बदला 'गाउन' ओढ़ा दिऐन्ह? कुल देवता कैं 'लिपस्टिक' लगा दिऐन्ह? श्राद्ध में 'केक' ल क पिंड दी? ब्राह्मण भोजन करा क हाथमें 'बिल' द दिऐन्ह? जनउ धोबक हेतु 'लौंड्री' दिऐक? तोरा काकी कैं अंगरेजीमे समदाउनि गाबय कहिऐन्ह?[11]

उनके ऐसा कहने पर उनके भतीजे ने हैरानी दिखाई। क्योंकि काका प्रायः प्राचीन, यानि परंपरागत को दूसते थे। किसी को भी ऐसा लगेगा कि काका स्थानीय समाज के वैसे ही

[10] हरिमोहन झा (2011) : 200.

[11] हरिमोहन झा (2011) : 10.

रैशनलिस्ट हैं, जैसे युरोप में एनलाइटेनमेंट जैसे दार्शनिक आंदोलन के प्रणेता थे। लेकिन ऐसा बिलकुल नहीं था। स्वाधीन भारत में अनेक दशकों तक समाज वैज्ञानिकों में परंपरा और आधुनिकता के रिश्ते को लेकर कुछ आज़माए हुए फ़ॉर्मूले, यानि वैचारिक नुस्ख़े प्रचलित थे। सब आधुनिक और पारंपरिक के बीच के तनाव, उनकी संधि और सामंजस्य आदि को देखने को तत्पर थे। कोई युरोपीय आधुनिकता को भाव देता तो कोई परंपरा की ओर झुक जाता। ऐसे में एक आवाज़ ये भी उठी कि परंपरा में भी एक स्थानीय आधुनिकता का मर्म है। इतिहास को खँगाल कर देखा और दिखाया गया कि प्राचीन भारत में भाषाओं के आधार पर कॉस्मोपॉलिस हुए जो लोगों, जातियों, वर्गों आदि को जोड़कर एक भारतीय सार्वभौमिकता का निर्माण करते थे। शेल्डन पोलॉक (2006) का संस्कृत कॉस्मोपॉलिस इसका एक उदाहरण था और इसी दिशा में मध्ययुगीन फ़ारसी, हिंदी, तमिल और उर्दू कॉस्मोपॉलिस के भी विचार आए। इसी क्रम में सबाल्टर्न इतिहास लिखने वाले विद्वानों ने अनेक उद्धरणों के द्वारा स्थानीय संस्कृतियों पर प्रकाश डाला। दीपेश चक्रबर्ती (1999) ने बंगाली संस्कृति के दैनिक अड्डों पर चर्चा करते हुए दिखाया कि गपशप की अनौपचारिक व्यवस्था और व्यवहार में भी एक प्रकार का स्थानीय तर्कवाद-हेतुवाद-अनुभववाद है।[12] मोटा-मोटी बात ये निकलती है कि स्थानीय समाज और संस्कृति में परंपरा और आधुनिकता, दोनों ही शब्दों के पीछे एक विस्तृत अवधारणा है और इसकी भी रैशनलिस्ट है। अतः दोनों शब्दों को दो दल बना कर पक्ष-विपक्ष में खड़ा करना कोई बहुत प्रगतिशील विचार नहीं है। सभी स्वाधीन हुए पूर्व उपनिवेशों में वहाँ की स्थानीय आधुनिकता की खोज करते हुए लगभग इसी तरह की बहसें सामने आई हैं। यही वह पृष्ठभूमि है जिसमें काका आधुनिक और परंपरा के बीच मचे पक्ष-विपक्ष की बौद्धिक राजनीति से प्रस्थान करते हैं। किसी तरह के दृष्टिकोण के प्रति वफ़ादारी उनके दर्शन के विरुद्ध है। काका बेबाक कहते हैं, हमें हँसने के लिए विवश करते हुए :

> हौ, हम की ककरो नाम बहिखाता लिखी देने छियैक? हमर पित्ती मटर झा कहथिन्ह – जय जगदम्बा, जय जगदीश! जे देत दही-चूड़ा तकरे दीस। जकर खेबैक, तकर गेबैक। जेहन खेबैक, तेहन गेबैक।[13]

ज़ाहिर है कि काका की निष्ठा और वफ़ादारी किसी एक दृष्टिकोण की तरफ़ नहीं थी। वे तो खान-पान, रस-प्रेम, मेल-भाव आदि के नज़रिये से देखने की बात करते हैं। उनके अपने तात्कालिक स्वार्थ-रुचि आदि उनके लिए ज़्यादा टिकाऊ स्तंभ हैं। निजी स्वार्थ और सामाजिकता का विचित्र मेल है इसमें। यहाँ स्वार्थ और सामाजिकता में भेद नहीं। आख़िर सामाजिकता भी तो एक प्रकार का स्वार्थ ही है। इस विषय पर आधुनिक समाज विज्ञान में भी

[12] दीपेश चक्रबर्ती (1999) : 109-145.

[13] हरिमोहन झा (2011) : 215-216.

भरपूर चर्चा होती है। इमैनुएल कांट की धारणा की आलोचना करते हुए समाजशास्त्री एमिल दुर्खाइम ने उन्नीसवीं सदी में सामाजिकता पर लिखे अपने दो ग्रंथों, द *डिवीज़न ऑफ़ लेबर इन सोसाइटी* और द *एलीमेंट्री फॉर्म्स ऑफ़ रिलिजियस लाइफ़* में ऐसी ही अवधारणा दी थी। कांट ने 'केटेगोरिकल इम्परेटिव', यानि निष्पक्ष अनिवार्यता के आधार पर सामाजिक व्यवहार, संबंधों और सांस्कृतिक गतिविधियों की बात की थी। उनके बाद अनेक दार्शनिकों ने सामाजिक-संधि, कॉन्ट्रैक्ट आदि को आधार बना कर स्वस्थ सामाजिकता का विचार दिया था। दुर्खाइम ने समाज में होने वाली गतिविधियों, सांस्कृतिक-धार्मिक क्रियाकलापों को ही सामाजिकता के बने रहने के लिए उपयुक्त माना था। यानि समाज के अंदर ही एक प्रकार की ऊर्जा उत्पन्न होती रहती है जो सामाजिकता को बनाए रखती है। उसमें होने वाली उठापटक, तोड़फोड़ को भी दुर्खाइम सामाजिकता के लिए लाभप्रद ही बताते थे। कोई अपराध करे, नियमों का उल्लंघन हो, कोई दुर्घटना आदि हो तो सामाजिकता और प्रबल हो कर सामने आती है। ये था दुर्खाइम का फ़ंक्शनलिज़्म, जिसमें हरेक घटना-दुर्घटना समाज के लिए फलीभूत होती थी। लेकिन कांट से लेकर दुर्खाइम तक को छोड़ कर हमारे खट्टर काका आगे बढ़ने की कोशिश करते हैं। उन सब आधुनिक दार्शनिकों के लिए व्यक्ति, समूह के सामने या तो गौण या दोयम था। इसीलिए तो स्ट्रक्चर और एजेंसी, यानि आधुनिक समाज विज्ञान में सामाजिक संरचना और व्यक्तित्व की भूमिका के बीच तनाव बना रहता है। और उसी तनाव को कम करने के लिए उत्तर-आधुनिकता या उत्तर-संरचनावादी दृष्टिकोण प्रभावशाली बन कर उभरता है। हमारे खट्टर काका उस व्यक्ति-समूह के तनाव से परे, भाव-संवेदना-रस और अस्थायिकता को प्रमुखता देते हैं। रचयिता झा ने काका से तरंग के दूसरे संस्करण की भूमिका में भी यह बात कहलवा लिया :

> हौ, हमर की कोनो स्थायी विचार रहैत अछि? जखन जे सूरमे चढ़ि गेल। ई रस-लहरी सभक हेतु थोड़बे होइ छैक? जिनका ओतेक रस नहि पचतेन्ह से विष-वमन करथुन्ह। छौ-मसिया नेना कैं यदि एक बाटी आमक गारा पिया दहौक त की हाल हैतैक?[14]

मामला साफ़ है। काका अपने गल्प उन्हीं के लिए प्रस्तुत कर रहे हैं जिनकी बौद्धिक पाचन शक्ति इतनी पुख़्ता हो कि वे रस को पचा सकें। उनका कोई भरोसा नहीं, वे किसी भी तरफ़ जा सकते हैं। उनकी ये व्यक्तिगत विशिष्टता दरअसल में सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवहार है। इसमें अस्थायी होना, मज़ेदार बातें करना, स्थापित मूल्यों की तोड़फोड़ करना कोई विडंबना नहीं बल्कि एक सहज व्यवहार है। लेकिन उनके वार्ताकार भतीजे को विमर्श के सूत्रधार की भूमिका में यह बात पचती नहीं। भतीजा तो वैसे ही सोचता है जैसे आधुनिक ज्ञान-विज्ञान में दक्ष कोई विद्वान। उनके अनुसार काका या तो इस तरफ़ या उस तरफ़ होंगे। या तो आधुनिक या पारंपरिक

[14] हरिमोहन झा (2011) : 11.

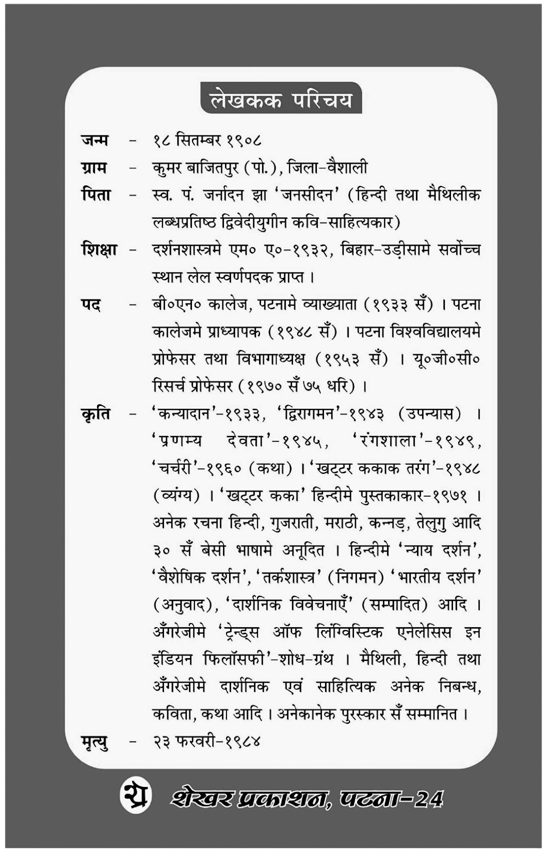
होंगे। या तो काका को परंपरावाद के अनुसार प्रजातंत्र को एक ऊटपटांग व्यवस्था मान लेना चाहिए या फिर एक अच्छे नागरिक की तरह चुपचाप वोट डालने के बाद नेताओं की भक्ति करनी चाहिए। काका आधुनिक राजनीति की लोकतंत्र जैसी एक उत्कृष्ट अवधारणा को भी नहीं बख़्शते। लोकतंत्र या जनतंत्र को काका 'थोकतंत्र' कह कर मज़ाक़ उड़ाते हैं। इसमें विचार, प्रश्न, और इरादे का कोई मतलब नहीं, बस संख्या का महत्त्व है। इसमें वैसे ही ठग होते हैं जैसे ससुराल में साले-सालियाँ, पत्नी के भाई-बहन होते हैं।

अलबत्ता काका कभी भी किसी समाज-सुधार या बहुत बड़े क्रांतिकारी परिवर्तन के उद्देश्य से कुछ नहीं कहते। वे ख़ुद भी मैथिल ब्राह्मण जैसे दिखते हैं। एक विशेषाधिकार है उनकी अपनी सामाजिक अवस्थिति का। अपने सामाजिक स्थान का त्याग नहीं करते हैं काका, कभी यज्ञोपवीत तोड़कर सामाजिक और आनुष्ठानिक विशेषता का त्याग नहीं करते। वो साधारण बने रहते हैं, जैसे सब लोग हैं और फिर बोलते रहते हैं कि ये विशेषाधिकार एक गंभीर सामाजिक-सांस्कृतिक साजिश का नतीजा है। वे अपने आप को उसी परदे में रखते हैं जिसका पर्दाफाश कर रहे होते हैं। एक तरह से वे उसी डाल को काटते हैं, जिस पर बैठे हैं। लेकिन ऐसा कभी नहीं लगता कि यह कोई मूर्खता है। बल्कि काका का दर्शन ही ऐसा है जिसमें नश्वरता उतनी ही आवश्यक है जितना जीवन को भरपूर जीना। देह से प्रेम और उसकी लीला उतनी ही पवित्र है, जितना इसका पतन। एक विचित्र देहवाद है खट्टर काका का। संभवतः यही कारण है कि काका-विमर्श से एक विचित्र और प्रायः वांछनीय समाजशास्त्र तथा मानव विज्ञान का उद्भव संभव है। एक प्रकार की सामाजिक-सांस्कृतिक 'साधारणता' है जिसके तहत हर वे बात महत्त्वपूर्ण हो जाती है जिसे मठाधीशों ने, गंभीर वैज्ञानिकों और दार्शनिकों ने संदेह की नज़र से देखा था। इसीलिए भंग की तरंग में रहते हुए भी, हँसते-खिखियाते हुए भी न तो काका का दर्शन से ध्यान हटता है, न ही उनके श्रोताओं और पाठकों का।

हरिमोहन झा ने कल्पना का सहारा लेते हुए अपने पात्र खट्टर काका से (*खट्टर काकाक तरंग* के प्रथम संस्करण की भूमिका में) कहा कि वे उन पर किताब लिख रहे हैं। लेखक की लेखकीयता से ज़्यादा वे हतप्रभ हुए विषय-वस्तु के बारे में। काका ने कहा, 'केहन बलेल छह? बलहुँ अपनों गारि सुनबह, हमरो सुनैबह'!

स्वभावतः काका ने इस प्रस्ताव को हँसी में उड़ाया और झा को बताया कि कोई नहीं पढ़ेगा ऐसी किताब। उन्होंने अपने आप को बदनाम बताया। कोई उन्हें भंगेड़ी, कोई नास्तिक, तो कोई चार्वाक का चेला कहता है। उनकी किसी से पटती भी नहीं, सबसे झगड़ा होता रहता है। और क्यों न हो, काका ठहरे आले दर्जे के मुँहफट, जो जब सही लगता बोल देते। न तो आगे-पीछे देखते, न भूत-भविष्य नापते, तो भला 'मुँह में राम बगल में छुरी' कैसे रखते। ऐसे व्यक्ति की बात में भला किसी की क्या दिलचस्पी हो सकती है। लेकिन लेखक को बहुत भरोसा है कि काका की बातें लोगों तक पहुँचाई जाएँ। उनका मानना है : 'अहाँक गप्प तेहन रोचक होइत अछि जे झगड़ो कैनिहार कैं रस भेटैत छैन्ह। जखन अहाँक गप्प छपत त गारिओ

देनिहार रातिमे चोरा क पढ़बे करताह।'



लेखकक परिचय

जन्म - १८ सितम्बर १९०८

ग्राम - कुमर बाजितपुर (पो.), जिला-वैशाली

पिता - स्व. पं. जर्नादन झा 'जनसीदन' (हिन्दी तथा मैथिलीक लब्धप्रतिष्ठ द्विवेदीयुगीन कवि-साहित्यकार)

शिक्षा - दर्शनशास्त्रमे एम० ए०-१९३२, बिहार-उड़ीसामे सर्वोच्च स्थान लेल स्वर्णपदक प्राप्त।

पद - बी०एन० कालेज, पटनामे व्याख्याता (१९३३ सँ)। पटना कालेजमे प्राध्यापक (१९४८ सँ)। पटना विश्वविद्यालयमे प्रोफेसर तथा विभागाध्यक्ष (१९५३ सँ)। यू०जी०सी० रिसर्च प्रोफेसर (१९७० सँ ७५ धरि)।

कृति - 'कन्यादान'-१९३३, 'द्विरागमन'-१९४३ (उपन्यास)। 'प्रणम्य देवता'-१९४५, 'रंगशाला'-१९४९, 'चर्चरी'-१९६० (कथा)। 'खट्टर ककाक तरंग'-१९४८ (व्यंग्य)। 'खट्टर कका' हिन्दीमे पुस्तकाकार-१९७१। अनेक रचना हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तेलुगु आदि ३० सँ बेसी भाषामे अनूदित। हिन्दीमे 'न्याय दर्शन', 'वैशेषिक दर्शन', 'तर्कशास्त्र' (निगमन) 'भारतीय दर्शन' (अनुवाद), 'दार्शनिक विवेचनाएँ' (सम्पादित) आदि। अँगरेजीमे 'ट्रेन्ड्स ऑफ लिंग्विस्टिक एनेलेसिस इन इंडियन फिलॉसफी'-शोध-ग्रंथ। मैथिली, हिन्दी तथा अँगरेजीमे दार्शनिक एवं साहित्यिक अनेक निबन्ध, कविता, कथा आदि। अनेकानेक पुरस्कार सँ सम्मानित।

मृत्यु - २३ फरवरी-१९८४

शेखर प्रकाशन, पटना-24

हरिमोहन झा अपने आप को भी भरोसा दिला रहे हैं और अपने काका को भी कि *तरंग* में प्रस्तुत गल्प को सुना और समझा जाएगा। काका की बात उनके आलोचक भी सुनेंगे, चाहे छुप-छुप के ही क्यों न सुने-पढ़ें और ऐसा ही हुआ। 1970 और 1980 के दशक में कितने ही मैथिल भाषी परिवारों के संस्कारवान लोगों ने *खट्टर काकाक तरंग* को लगभग वैसे ही छुप-छुप कर पढ़ा, जैसे वे कोई कामोत्तेजक सस्ता साहित्य हो। संभ्रांत मैथिल समाज को बड़ी उलझन हुई। एक तरफ़ वे हरिमोहन झा की साहित्यिक उपलब्धि पर गर्व करना चाहते थे, दूसरी तरफ़ वे समझ नहीं पा रहे थे कि *खट्टर काका* के विमर्श को किस प्रकार समझा जाए। हरिमोहन झा ने अपनी ओर से कोई कसर नहीं छोड़ी थी काका की प्रासंगिकता को समझाने में। काका को मैथिल लोक परंपरा में स्थापित करने के लिए उनका संबंध मध्यकालीन राजसी विदूषक गोनू झा से बताया। काका के विमर्श की गूढ़ता दिखाने के लिए उन्हें संत कबीर से जोड़ा। मिथिला के प्रसिद्ध तर्कशास्त्री, नव्य-न्याय के प्रतिपादक, गणेश उपाध्याय से भी उनका संबंध बताया लेकिन फिर भी दुविधा बनी रही, क्योंकि काका के विमर्श पर सबसे ज़्यादा रंग था प्राचीन दर्शन के उस धड़े का, जिसे हम लोकायत के नाम से जानते हैं। स्वयं काका भी बारंबार चार्वाक का नाम लेकर कितनी बातें सुनाते रहते हैं। खट्टर काका एक तरह से लोकायत दृष्टिकोण को पुनर्जन्म देते हैं।

अथ श्री खट्टर काका विमर्श

चाहे संस्कृत साहित्य हो या धर्म ग्रंथों पर आधारित सामाजिक मान्यताएँ, खट्टर काका सबको अपने तर्क की कसौटी पर कसते हैं। सबसे पहले तो संस्कृत साहित्य, यानि वैदिक और उपनिषदों की चर्चा करते हैं। काका भी वही कहते हैं जो हमने आधुनिक समाज विज्ञान, बौद्धिक इतिहास आदि में सुना है। दर्शन समाज के अनुसार बनता है। एक समाज था जिसमें अभाव में जीते हुए कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। उस प्राचीन समाज में जो भी

व्यक्ति अभाव और कठिनाई से जूझता था, वह उसके बारे में शिकायत करने की बजाय उसको जीते हुए वैचारिकी का अनुसरण करते हुए चिंतन-मनन करके जीवन की गुत्थियों को सुलझाने में मदद करता, और वही सबसे ज़्यादा बुद्धिमान माना जाता। तो वेदों और उपनिषदों का ज्ञान ऐसे ही बुद्धिमानों ने दिया। अभाव और कठोर जीवन जीते हुए, 'मन-मसोस' कर रहने का ज्ञान। काका कटाक्ष करते हैं कि उन विद्वानों ने अभाव और कठिनाई को महिमामंडित किया। वैसे पंडितों-ज्ञानियों को कहा जाता है – 'फटकनाथ गिरधारी, जिनका लोटा नै थारी'! यानि कि भूख से बिलबिलाये महापंडित जिनके पास लोटा-थाली भी नहीं है!

उन ज्ञानियों-पंडितों ने जो भी दर्शन दिया, अपने अनुभव की परिधि के अंदर दिया। उदाहरण के लिए काका बताते हैं कि सुबह-सुबह अँधेरे में ही ऋषिगण शौच-स्नान करने जाते, रस्सी-लकड़ी देखकर साँप का भ्रम हो जाता और उसी के अनुसार सत्य और भ्रम का दार्शनिक सिद्धांत बना दिया। संसार भ्रम है, इसमें दुःख है क्योंकि जीवन कठोर है और पूर्णतः हमारे बौद्धिक नियंत्रण में नहीं। इसीलिए संसार से मुख मोड़ कर मोक्ष ढूँढ़ने पर बल दे दिया। ऐसे बेचारे विद्वानों की बात हम क्यों आँख मूँद कर मानें?

ऐसी बातें सुनकर हमेशा की तरह प्रश्नकर्त्ता भतीजे को आपत्ति होती है। भतीजे ने बताया कि उन महान ज्ञानी-ऋषियों को समझ में आ गया कि सांसारिक सुख क्षणिक है, इसलिए वे संसार के भौतिक सुख के त्याग की बात करते थे। ये सुनते ही काका तपाक से पूछते हैं – रसगुल्ला खाने से जो सुख मिलता है वह भी तो क्षणिक है, क्या तुम रसगुल्ला खाना छोड़ दोगे? पेशाब करने से जो राहत मिलती है वह भी तो क्षणिक है, क्या तुम पेशाब करना बंद कर दोगे? और मैथिल लोग जो इतनी मछली खाते हैं वो तो एकदम बंद हो जाना चाहिए। मछली में काँटा होता है। ऐसा सुख क्यों लें जिसमें काँटे जैसी कठिनाई हो। काका ऋषि याज्ञवल्क्य की अपनी पत्नी को कही बात को दुहरा कर अपने सिद्धांत को गढ़ते हैं – सर्वमात्मयं जगत! 'अर्थात अपनी आत्मा वा स्वार्थ ल क ई संसार छैक' (पृ. 199)। ये संसार तभी है जब हमारा अपना स्वार्थ, सुख, भोग है। नहीं तो क्या संसार, क्या आत्मा-परमात्मा?

काका स्वयं को, निजी सुख-दुःख को दर्शन के केंद्र में लेकर आना चाहते हैं। उनके लिए व्यक्ति, उसका सुख-दुःख ज़्यादा महत्त्वपूर्ण है। इसी सिद्धांत पर वे अनेक मार्गों और संदर्भों पर बल देते रहते हैं। प्रत्येक दर्शन के मूल में भोग-भावना को देखने-दिखाने की उनकी कोशिश इसी दिशा में है। इसके अलावा कैनन, यानि ग्रंथों की सत्ता को ध्वस्त करने के लिए एक सरल रास्ता उन्होंने अपनाया। हरेक कैनन को समाज और संस्कृति से जोड़ कर देखने-दिखाने और समझने-समझाने से उसके इर्द-गिर्द जो अनावश्यक महिमामंडन होता है, वह तार-तार हो जाता है। ऐसा करने से बड़े-बड़े धार्मिक और सांस्कृतिक ग्रंथ जनसाधारण के दैनिक जीवन, भोग-विलास, भाव-विचार के बहुत नज़दीक आ जाते हैं।

काका देखते और दिखाते हैं कि कैसे न्याय दर्शन को ऋषि गौतम ने लिंग-व्यभिचार-भोग की उपमाओं से सींचा और उसमें उनकी पत्नी अहिल्या के साहचर्य का निश्चय ही योगदान होगा। ऋषि कपिल की पत्नी नहीं थीं इसलिए उनके द्वैतवाद में प्रकृति ही वह सुख

प्रदान करती है, जो स्त्री के संसर्ग में संभव है। और तो और, काका तो अद्वैतवादी शंकर के दर्शन में भी इसी प्रकार भोग-विलास और सुख की कल्पना पाते हैं। माया न हो तो अद्वैतवाद का क्या तात्पर्य? इसलिए इन दार्शनिक ऋषियों के बारे में काका बेहिचक कहते हैं :

> हिनका लोकनि कैं नीक जकाँ विवाह-द्विरागमन होइतैन्ह त ऐना कियैक छिछिएतैथ? वियोग सँ योगक प्रादुर्भाव होइ छैक।॥ योगसूत्र ओ कामसूत्र, दुनू मासियौते। चौरासी भोगासनक नकल पर चौरासी योगासन बनल अछि (पृ : 200)।

ज़ाहिर है, काका की ऐसी बातें सुनकर भतीजे को झुँझलाहट होगी और वह किसी प्रकार से काका को चुप कराने की कोशिश भी करेगा। आख़िर काका एकदम से सभ्यता को उलट-पुलट रहे थे। प्रायः भतीजा इसी उद्देश्य से प्रतिरोधात्मक प्रश्न करता है लेकिन प्रतिपक्ष भी काका की बौद्धिक आग में घी बन जाता है। जैसे भतीजे ने काका को सुनाया कि ऐसा नहीं है, सांख्य दर्शन में, वेद-वेदांत में, बड़े ही प्रतापी-त्यागी पुरुषों की कल्पना भी हुई है। काका ने जैसे जवाब दिया उसे भतीजे ने 'ठांइपटाका' अलंकार से सुशोभित किया; ठांइपटाका, जैसे बंदूक से गोली छूटी हो। काका ने कहा :

> सांख्यक पुरुषक नाम नहि लैह। हमरा त तेहन तामस चढ़ैत अछि जे कसि क एक भंगघोटना लगावी। ।॥ प्रकृति नाच करौ, क्रीड़ा करौ, सभ किछु करौ, आ पुरुष चुपचाप पड़ल टुकुर टुकुर तकैत रहथु। एहनो पुरुष कतहु पुरुष कहाबय। माउगि ने मरद, बलिगोबिना! (पृ. 200)

माने यह कि सांख्य दर्शन में जो पुरुष की कल्पना है उसके बारे में तो पूछिए मत, काका ग़ुस्से से आग-बबूला होने लगते हैं। वे कहते कि कैसा पुरुष है जो चुपचाप टुकुर-टुकुर देखता रहता है और उसके सामने प्रकृति नाच-गान, काम-क्रीड़ा करती रहती है। ये पुरुष न तो औरत है न मर्द, एक तरह का बीचबीचौवा जैसा है। ऐसा कहकर काका दरअसल लैंगिक-सामाजिक धारणाओं का पक्ष ले रहे हैं। उन्हें पुरुष से वही उम्मीद है जो समाज में साधारण पुरुष से होती है। उनकी नज़र में जो सौंदर्य, प्रेम, कामुकता, स्नेह से लबरेज़ हो वही पुरुष और स्त्री मान्य है।

दरअसल काका को किसी भी पुरुष और स्त्री से मनुष्यता की अपेक्षा है। वे यह सोच ही नहीं पाते कि कोई उन इच्छाओं-आकांक्षाओं से आज़ाद होगा जिनसे हम मनुष्य बने हुए हैं। भला मूलभूत तत्वों से बढ़कर कोई कैसे हो सकता है? और मनुष्य जैसा होगा, उसका दर्शन भी वैसा ही होगा। संभोग और समाधि, दोनों ही मनुष्य को प्रिय हो सकते हैं तो काका के नज़रिये में दोनों को अलग करके देखना मूर्खता है। जैसे वे सांख्य दर्शन में कल्पित पुरुष को मौगा यानि अस्पष्ट जेंडर पहचान वाला मानते हैं, उसी तरह वेदांत में कल्पित ब्रह्म को नपुंसक मानते हैं। दोनों के ही सामने वे सच के रूप में खड़ा देखते हैं, क्रमशः प्रकृति और माया को।

यही दोनों सच का रहस्योद्घाटन करने वाली हैं। इसीलिए काका विस्तारपूर्वक भोग-संभोग का वर्णन करके दिखाते हैं कि कैसे हमारे धर्मशास्त्र उनसे परे नहीं। वेदों के ऋषियों को रसिक कहकर काका यज्ञ के वर्णन को इस प्रकार समझाते हैं :

> आगि स्त्री थीक। सिल्ला जननेंद्रीय थीक। धुआँ रोइयाँ थीक। ज्वाला स्त्रीक गुप्तांग थीक। लुत्ती जे झड़ै अछि से आनंदक कण थीक। आहुति वीर्य थीक। ताहि सँ गर्भ होइत छैक (पृ. 203)।

काका कहते हैं कि इन इच्छाओं-आकांक्षाओं, भोग-संभोग की कल्पना से अद्वैतवादी शंकर भी अछूते नहीं थे। उन्होंने शंकर के शब्दों में ही यह ज़ाहिर किया, 'स्वयं शंकराचार्येक मुँह सँ व्याख्या सुनि लैह। न कांचन स्त्रियं स्वातमतल्पप्राप्तां परिहरेत समागमार्थिनीम, अर्थात समागम चाहयवाली जे स्त्री शय्या पर आबि जाथि तिनका नहि छोड़क चाहि।' (पृ. 204)। इसी तरह पूरे संदर्भ के साथ, उद्धरण देते हुए काका साबित कर देते हैं कि भोग-संभोग ही परम सत्य है। वेद, उपनिषद, वेदांत, गीता आदि सभी ग्रंथों में मूल सिद्धांत यही है जो घूम-फिर कर सत्यापित होता रहता है।

घबराकर भतीजे को पूछना पड़ता है, तब इन ग्रंथों में और वाम मार्ग में क्या फ़र्क़ है? तांत्रिक व्यवहार पद्धति को वाम मार्ग कहते हैं जिसका उद्धरण लोकायत दर्शन में भी आता है। इसके अनुसार मांस भक्षण, मदिरा पान और मैथुन क्रिया आदि जैसे तथाकथित वर्जित भोग के माध्यम से ही साधना होती है। इसमें साधक, साधन और साधना के केंद्र में व्यक्ति की देह, उसकी अनुभूतियाँ आदि होते हैं। विद्वानों ने वाम का एक दूसरा मतलब 'औरत' भी बताया है। तो क्या सभी धार्मिक ग्रंथों में वाम मार्ग के ही द्वार खुलते हैं? ऐसे प्रश्न पर काका को अपना निर्णय सुनाने का सुनहरा अवसर मिलता है। 'वेदे-वेदांत सँ त वाममार्ग बहराएल अछि। पाप-पुण्य बुड़िबक लेल होइ छैक। जे पारंगत छथि तिनका हेतु धर्म की और अधर्म की?' (पृ. 204)

काका जिन ग्रंथों की आलोचना करते हैं, उन्हीं से उन्हें उन्मुक्त बौद्धिकता का रास्ता भी मिलता है। उनकी परंपरा की आलोचना में विध्वंस नहीं बल्कि एक नए दृष्टिकोण की रचना है जो उन्हीं पारंपरिक स्रोतों से बनती-सँवरती है। काव्य की चर्चा करते हुए वे फिर से वही राग सुनाते हैं। उनके अनुसार संपूर्ण काव्य सौंदर्य-भोग और काम-संभोग के विवरण से भरा पड़ा है। उनका मानना है कि प्रेम का वर्णन करने वाले कवि उमर खय्याम भी फीके पड़ जाएँगे इन संस्कृत और सुसंस्कृत कवियों के यौन-सुखप्रद काव्य के सामने।

एक बार उनका भतीजा किसी नवसिखुए कवि के साथ काका से मिलने आया। काका खाट में नेबार घोर रहे थे, यानि खटिया में पट्टियाँ लगा रहे थे। युवक कवि काका को अपनी कविता सुनाकर उनसे अपनी तारीफ़ सुनने के लिए व्याकुल था। कविता प्रेम जैसे विषय पर थी और काका ठहरे प्रेम रस के प्रेमी। लेकिन काका ने बिना समय गँवाए उस नवसिखुए कवि

को टोका और बताया कि उसकी कविता में अलंकारों के माध्यम से अंग-प्रत्यंग, काम-वासना का जो विवरण है, उसमें नया कुछ नहीं। अलंकारों के प्रयोग से, भाषा के सौंदर्य से, साफ़-सुथरे तरीक़े से काव्य में वही बातें कही जाती हैं जो हम सब साधारण जीवन में जानते और करते हैं। उन्होंने प्राचीन कवियों की प्रशंसा करते हुए जो बताया, वह सब उनके दर्शन को फिर से सशक्त करता है। काका अगर तारीफ़ भी करें तो उसमें भी दो-एक हाथ लगा ही देते हैं। उन्हें तनिक भी मंज़ूर नहीं कि संस्कृत-सुसंस्कृत करने, सौंदर्य में चार चाँद लगाने के नाम पर सीधे-सपाट-सरल सत्य को उलझा दिया जाए। काव्य का अलंकृत सत्य और साधारण जीवन का निर्वस्त्र सत्य, जिसे कवि-कोविद और बुद्धिजीवी अश्लील कहेंगे, दोनों एक हैं। और ऐसा करते हुए काका ने पकड़ा मध्यकालीन मिथिला के महाकवि विद्यापति को, जो मिथिला में घर-घर पूज्य हैं। उन्होंने बताया कि कैसे विद्यापति ने संभ्रांत संस्कृत काव्य के रस को जनसाधारण के लिए उपलब्ध कराया, 'पहिने नायिकाक संभोग वर्णन केवल संस्कृत काव्यमे रहैत छलैक। साधारण लोक ओहि रस सँ वंचित रहैत छल। देवभाषाक ओहि रस कैं ई लोकभाषा मे ल अनलन्हि। फलस्वरूप सभ केओ 'कचकुचकटाक्ष' क आस्वादन करय लागि गेल। एही माधुर्यक कारण विद्यापति ग्रामीण जनताक कंठहार बनि गेलाह। यदि हुनका पदावली सँ 'कुच' काटि देल जाइन्ह त की रहि जैतैन्ह? केवल नचारी।' (पृ. 214)

कवि विद्यापति को मैथिल के पुराने स्वरूप यानि कि अवहट्ट भाषा में काव्य लिखने के लिए जाना जाता है। उनके बहुतायत काव्य भक्ति भाव में हैं। देवी भगवती के लिए उन्होंने देवी के गीत लिखे और शिव की स्तुति अर्चना के लिए नचारी। ऐसे काव्य के कारण उन्हें मिथिला के घर-घर में प्रतिष्ठा प्राप्त है और उनकी लिखी नचारी महिलाएँ प्रेम से गाती हैं। काका उसमें एक नया आयाम जोड़ रहे हैं ये बता कर कि विद्यापति प्रेम-भोग आदि को भी जनसाधारण के जीवन से जोड़ते हैं। उनकी एक कविता में नायिका कहती है, 'झाँपब कुच दरसाएब आध', या फिर दूसरे में 'उनत उरोज चिर झपबै, पुनि पुनि दरसाय'।

यहाँ तक कि विद्यापति की शिव भक्ति में भी काका को यौन सुख का सार दिखता है और वे उद्धरण देते हैं एक नचारी का, 'सुतल समापि सुतल वर नागर, पानि पयोधर आपी कनक शंभु जनि पूजि पुजारी, धएल सरोरुह झाँपि' (पृ. 176)।

यदि बौद्धिक तौर पर भोग-संभोग सुख के लिए धार्मिकशास्त्र हैं और मन के उत्तेजनात्मक सुख के लिए संस्कृत-सुसंस्कृत काव्य तो तन के लिए क्या है? यद्यपि सबका संबंध अंततः देह से ही है, लेकिन देह के लिए अलग से विज्ञान भी तो है भारतीय परंपरा में। भतीजे को लगा शायद देह के विज्ञान की तरफ़ लाकर वह काका को निःशब्द कर देगा लेकिन ऐसा नहीं हुआ। उस तरफ़ भी काका अपने दर्शन पर अड़े रहे। उनका कहना था :

> जहाँ विज्ञान कनेक माथ उठौलक कि तुरंत कविता-कामिनी आबि क छाती पर सवार भ जाइत छथिन्ह। आयुर्वेद कैं काव्य तेना भ क ग्रसित कैने छैक जे भावप्रकाश ओ भामिनी-

> विलासमे विशेष अंतर नहि। एहि द्वारें हम वैध लोकनि कैं कवि कहैत छिऐन्ह। कवियों में साधारण कवि नहि, कविराज।। महादेव कैं वैद्यनाथ किऐक कहल जाइ छैन्ह से जनैत छह? (पृ. 32)

काका बताते हैं कि शिव में सभी जड़ी-बूटियों का ज्ञान का भण्डार तो है ही लेकिन काव्य कंचन कामिनी का अनुराग भी भरपूर है। ये सब कहकर काका चिकित्सा शास्त्र में कोकशास्त्र दिखाने लगते हैं। एक में रसायन और दूसरे में रस, तो दोनों का संबंध तो होना ही है। एक तरह से शिकायत है कि काव्य और रस में विज्ञान डूबा हुआ है। लेकिन साथ ही काका को ख़ुशी है कि ऐसा भ्रम बना है, जिससे विज्ञान भी हमारे दैनिक जीवन के अनुभूतियों में उलझा हुआ दिखता है। आर्युवेद के उद्गम के विषय में ही काका ऐसा विचार देते हैं कि सब स्पष्ट हो जाता है। आयुर्वेद में ही उपलब्ध संस्कृत श्लोक का उद्धरण देते हुए काका बताते हैं :

> जखन वृद्ध च्यवन भोग करबामे असमर्थ भ गेलाह तखन आदिवैद्य अश्विनीकुमार रसायनक जोर सँ हुनका पुनः युवा बना देलथिन्हि। जेना आदिकवि कैं क्रौंच पक्षीक मैथुनेच्छा सँ काव्यक प्रेरणा भेटलैन्ह, तहिना आदिवैद्य कैं वृद्ध मुनिक भोग-तृष्णा सँ आयुर्वेदक प्रेरणा भेटलैन्ह। एक अनुष्टुप छंदक आविष्कार कैलन्हि, दोसर च्यवनप्राशक (पृ. 35)।

जब सच इतना सरल है कि हमारे दर्शन, काव्य और ज्ञान-विज्ञान, सब हमारी मूलभूत मानवीय इच्छाओं के अनुरूप होते हैं तो भला धर्म-विश्वास के आधार पर आडंबर की क्या आवश्यकता? यही प्रश्न है जो काका के पूरे विमर्श में मुँह खोले हमारी तरफ़ ताकता है। उसी प्रश्न का मुँह और खुल जाता है जब काका *रामायण* और *गीता* जैसे धार्मिक ग्रंथों पर अपनी विनोद भरी टीका का निष्पादन करते हैं। *रामायण* को लेकर अनेक प्रचलित सामाजिक मान्यताओं के विरुद्ध काका का अपना एक विशेष नज़रिया है। जैसे ही भतीजे ने कहा कि *रामायण* में रामचंद्र जी ने न्याय की मर्यादा को जीवन्त किया, काका क्रोध से तमतमा उठे। उन्होंने एक-एक करके ऐसे उद्धरण दिए जिससे रामचंद्र के मर्यादा पुरुषोत्तम होने पर संदेह हो जाए। उन्होंने बताया कि रामचंद्र जी की शिक्षा में ही खोट थी। इसीलिए वे स्त्री के साथ अन्याय करने में दक्ष हो गए। अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं *रामायण* में – किसी स्त्री पर तीर चलाना, किसी की नाक कटवा लेना और अपनी सीता जैसी सुशीला पत्नी को किसी की बातों में आकर छल करके जंगल भिजवा देना। सीता के मामले में तो काका क्रोध और भावुकता से उद्विग्न हो उठते हैं। उन्हीं के शब्दों में :

> सीता सं देवी के एहन करुण अंत! ओ भरि जन्म राम कैं सेवलन्हि। हुनक तोषार्थ आगि पर्यन्तमे कूदि पड़लिह। परंतु ओहि सर्वश्रेष्ठ सतीक प्रति हुनका लोकनिक केहन व्यवहार भेलैन्ह? आठम मासमे घर सँ निकालि बाहर क देलथिन्ह। एहन बेइज्जती सँ त कंठ दबा क मारि दितथिन्ह से

> नीक। बेचारी मिथिलाक कन्या छलि। सी अक्षर बाजयवाली नहि, तैं। दोसर ठामक रहितैन्ह टी बुझा दितैन्हि। हौ हम पुछैत छिऔह, जौं संबंधे तोड़बाक छलैन्ह त बापक घर जनकपुर पठा दितथिन्ह। ओहन घोर जंगल में कोना पठाओल गेलैन्ह?। विश्वक इतिहास में आइ धरि एहन अन्याय ककरो संग नहि भेलैक अछि। स्वाइत पृथ्वी फाटि गेलीह (पृ. 41)।

काका जिन कारणों से रामचंद्र की निंदा कर रहे हैं, उसे समझना बहुत कठिन नहीं। सीता गर्भवती थीं और आठवें महीने में थीं। ऐसे में आमतौर पर पत्नी की सेवा की जाती है, ध्यान रखा जाता है। अगर स्थिति अनुकूल न हो तो गर्भवती स्त्री और उसके गर्भ को जान का ख़तरा होता है। इसकी बजाय उनके पति ने उन्हें त्याग दिया। जिस रिश्ते में भावना, आत्म-सम्मान, और प्रेम का भाव नहीं, उस संबंध में कैसी मर्यादा और उसमें क्या होगा कोई पुरुषोत्तम। काका ने पूरी *रामायण* को छान-छान कर हर उस घटना के आधार पर राम और उनके वंशजों की निंदा की, जिसके लिए उन्हें समाज में सम्मान दिया जाता है। ऐसा करते हुए वे ही मूल्यों को महत्त्व देते हैं जो मनुष्य के सबसे क़रीब होते हैं। वह 'साधारण मनुजता' का मूल्य जिसके बारे में हम लेख के अगले हिस्से में चर्चा करेंगे। इसी मनुजता के मूल्य की परिधि में काका रामचंद्र को सम्मान भी देना चाहते हैं। इसके पीछे वे बस एक ही कारण बताते हैं :

> जे दोसर विवाह नहि कैलन्हि। जानकीक प्रतिमा बनाक शेष जीवन बितौलन्हि। एही बात पर हम हुनकर सभटा कसूर माफ़ क दैत छिऐन्ह। सीते ल क रामक महत्त्व। तैं पहिने सीता तखन राम (पृ. 44)।

यही तर्क गीता विमर्श में भी फिर से सुनाई पड़ता है। *महाभारत* जैसे महाकाव्य की बखिया उधेड़ने के बाद काका गीता के मूल दर्शन यानि अनासक्ति योग की धज्जी उड़ाते हैं। वे कृष्ण के उपदेश में दोहरापन दिखाते हैं। एक तरफ़ तो कहते हैं कि फल की सोचे बिना कर्म करो और दूसरी तरफ़ अर्जुन को लोभ देते हैं, कभी हस्तिनापुर पर राज करने का और कभी स्वर्ग जाने का! काका के शब्दों में, कृष्ण कहते हैं, 'हो अर्जुन! यदि मरबह त स्वर्ग भेटतौह। जितबह त राज्य भेटतौह। दुनू हाथ में लड्डू छौह। तैं उठह और लड़ह' (पृ. 129)।

काका को लगता है कि निष्काम कर्म का विचार विरोधाभासी है। जब कर्म है तो निष्काम नहीं होगा। निष्काम होना भी तो एक कामना है। भतीजे ने टोक कर काका को समझाने की कोशिश की लेकिन जैसा हमेशा होता है – पासा उल्टा पड़ गया। काका ने तो गीता में उद्धृत मृत्यु और मरणोपरांत धारणाओं का भी खंडन कर दिया। जहाँ भी उन्हें मानवीय भावनाओं पर गीता कमज़ोर दिखती, काका चढ़ जाते। कहते कि अगर मरना बस चोला बदलने जैसा है, देह नश्वर है, संसार भंगुर है, तो बस इसी बात पर युद्ध बंद हो जाना चाहिए था। *महाभारत* युग से ही विश्व शांति की शुरुआत हो जानी चाहिए थी लेकिन ऐसा कुछ हुआ तो नहीं। यानि मामला गड़बड़ है। इस दर्शन में खोट है। सच यह है कि संसार ही सच है। देह ही सच है। देह

नहीं तो क्या इहलोक और क्या परलोक। देह से ही भोग-संभोग, सुख-दुःख और यहाँ तक कि ऋषियों की मोक्ष की महत्वाकांक्षा भी है। देह को देखो, सुनो, जानो, पहचानो और देह-दर्शन की तरफ़ लौट चलो। इसमें कोई उपभोक्तावादी संस्कृति नहीं, बल्कि देहवादी दर्शन है जो मनुजता को रूढ़िवाद से मुक्त कर समाज-संस्कृति के मूलभूत तत्वों की तरफ़ ले जाता है। यह होता कैसे है और कैसे काका का देहवाद आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की सीमाओं को कैसे तोड़ता है, इस पर हम लेख के अगले हिस्से में चर्चा करेंगे।

काका का देहवाद-लोकायत और लोक ज्ञान

ऐसा नहीं कि देह आधुनिक और पाश्चात्य विचारों में गौण थी लेकिन देह की दैहिकता संदिग्ध थी। आधुनिक समाज विज्ञान में बीसवीं सदी के आख़िरी दशकों में दैहिकता एक विषय-वस्तु के रूप में स्थापित हुई। अलबत्ता देह पर जिरह आधुनिकता के प्रारंभिक चरणों में शुरू हो गई थी। देह और विवेक के संबंध में अनेक चर्चाएँ हैं और दोनों का संबंध प्रायः सौतेला जैसा होता है, एक प्रबल तो दूसरा संदिग्ध। अगर विज्ञान के दार्शनिक कार्ल पॉपर (1963) की मानें तो इस विस्तृत क़िस्से का संक्षिप्त रूप दिलचस्प है। वे बताते हैं कि प्राचीन ग्रीक से लेकर आधुनिक हेतुवादी तर्कवादी अनुभववाद में भी देह की दैहिकता को त्याग कर ही ज्ञानोत्कर्ष और मनुष्य की स्वतंत्रता की कल्पना की गई। देह की दैहिकता, धर्म की धार्मिकता, संस्कृति की सांस्कृतिकता और यहाँ तक कि प्रकृति के प्राकृतिक गुणों आदि से एक विशेष प्रकार के युरोपीय आधुनिक हेतुवाद को ख़तरा महसूस हुआ। पॉपर ने बताया कि मनुष्य की मनुजता को उसकी ज्ञान-विज्ञान की खोज और बौद्धिक स्वतंत्रता के लिए बाधक माना गया। इसीलिए आधुनिक विज्ञान और उसके समाज वैज्ञानिक जुड़वे पॉज़िटिविज़्म को एक प्राधिकार बनाया गया। इसके अनुसार जो विज्ञान और उसके हेतुवाद-तर्कवाद-अनुभववाद से भटकेगा, वह कभी ज्ञानी नहीं होगा और उसका बुद्धि-विवेक दोयम दर्जे का ही होगा। इस प्रकार के वैज्ञानिकों ने सत्ता के विरुद्ध अनेक बौद्धिक और दार्शनिक मुठभेड़ें कीं। पॉपर ने भी अपनी 'सेन-सोसाइटी', यानि स्वस्थ चित्त वाले समाज की अवधारणा में वैज्ञानिकता को मानवता से जोड़ने की दार्शनिक पहल की। इसके अलावा एक तरफ़ फ्रैंकफर्ट स्कूल के अंदर मैक्स होर्ख़ेइमर और अडोर्नो (1979) का साझा शंखनाद था, जिसमें उन्होंने आधुनिक विज्ञान के जनक युरोप के एनलाइटेनमेंट आंदोलन को अधिनायकवादी (टोटलिटेरियन) बताया। दूसरी तरफ़ नारीवादी समाजशास्त्रियों, दार्शनिकों और विचारकों का अनथक प्रयास था, जिसमें आधुनिक विज्ञान और पॉज़िटिविज़्म को स्त्री के अनुभवों को समझने में अक्षम कहा गया। स्त्रीवादी विमर्श में देह की दैहिकता, स्थान की स्थानीयता, समाज की सामाजिकता आदि को केंद्र में लाने की कोशिश की गई। डोना हारावे (1988) ने इसे 'सिचुएटेड-नॉलेज' के मुहावरे के रूप में प्रतिपादित किया।[15] ये एक तरह से देह, स्थान, समय, स्थिति और व्यक्ति की

[15] डोना हारावे (1988) : 575-599.

अवस्थिति से उत्पन्न ज्ञान था। इस प्रकार के ज्ञान-विज्ञान में महिलाओं के शारीरिक, सामाजिक, स्थानीय आदि अवयवों का समावेश होता है। देह की दैहिकता समेत जानने-समझने की इस आधुनिक विधा से कुछ नई दिशाएँ खुलती हैं। देह को लेकर जो विचारधारात्मक रस्साकशी होती रही है, उसका एक विस्तृत ब्यौरा ब्रायन एस टर्नर (2012) ने एक हैंडबुक में इकट्ठा किया। ऐसा लग सकता है कि जब पॉज़िटिविज़म संदेह के दायरे में आया, तभी फ़ेनोमेनोलॉजी, फेमिनिज़म, मेडिकल एंथ्रोपोलॉजी, क्वीयर थ्योरी, उत्तर-संरचनावादी और उत्तर-आधुनिकतावादी सिद्धांतों और दर्शनशास्त्र आदि में देह की तरफ़ ध्यान गया। एक तरह से देह और अनेक बाह्य अवयवों का गुत्थमगुत्था रिश्ता दिखने लगा। समाज, संस्कृति, राजनीति, अर्थ-वाणिज्य और यहाँ तक कि विज्ञान भी देह से जुड़े अंग-प्रत्यंग की तरह दिखने लगे। धर्म, उपभोक्तावाद, वर्ण, लिंग, चिकित्सकीय परंपरा, विज्ञान और व्यवहार, तकनीकों के नेटवर्क आदि देह को परिभाषित करने वाले कारक के रूप में देखे गए और देह के आधार पर भूमंडलीकृत संसार की परिकल्पना की गई। यही वह संक्षिप्त रूपक है, जिसमें अनेक सिद्धांतकारों के 'ऑन्टोलॉजिकल टर्न' को भी देखा-समझा जाता है। ऑन्टोलॉजी एक तरह का सत्व शास्त्र है, जिसमें व्यक्ति, समष्टि, संस्कृति आदि के सजीव, स्थान-निहित, सारभूत अनुभवों के आधार पर समझ का विकास किया जाता है। ऐसी ही पृष्ठभूमि में दार्शनिक द्वय गोपाल गुरु और सुंदर सारुक्कई (2019) ने समाज को सेंसोरियम के माध्यम से समझने की सलाह दी। सेंसोरियम यानि ऐंद्रिक अनुभव का एक वृहद संसार, जिसका संबंध हमारे दैहिक माध्यमों यथा पाँच इंद्रियों से होता है। समाज और संस्कृति, उनमें निहित राजनीतिक मायने हम देख, सूँघ, सुन, चख, छू सकते हैं। समाज-संस्कृति, धर्म-जाति, लिंग-वर्ग आदि सब महज शब्द नहीं। ये सब गंध, ध्वनि, ठोस, दृश्य, स्वाद आदि के रूप में हमारे चारों तरफ़ अनुभव के लिए उपलब्ध होते हैं।

तो देह और दैहिकता के प्रकाश में देखे जाने वाले ज्ञान का अच्छा-ख़ासा विमर्श बुना जा सकता है। काका का देहवाद आज उतना हतप्रभ न करे, जितना बीसवीं सदी के आठवें दशक तक उसने किया तो देह और दैहिकता के प्रकाश में देखे जाने वाले ज्ञान का एक अच्छा-ख़ासा विमर्श बुना जा सकता है। ख़ास ये है कि यह देहवाद एक प्राचीन और लगभग विस्मृत परंपरा के आधार पर है। जैसा हमने देखा, काका-विमर्श में बार-बार देह और दैहिक गुणों पर विशेष बल दिया गया है। काका के रचयिता हरिमोहन झा भी काका से अनेक बार चार्वाक का संदर्भ दिलवाकर सांसारिकता के पक्ष में दलील प्रस्तुत करते हैं। जैसाकि हमने इस लेख के प्रारंभ में देखा, काका का संबंध अनेक काव्य और दार्शनिक था। नव्य न्याय की तर्कवादी पद्धति से लेकर, गोनू झा की चतुर बुद्धि, कबीर की प्रेम-भक्ति और तंत्र ज्ञान की वामवादी पद्धति, सबकी अनुगूँज काका-विमर्श में सुनी जा सकती है। लेकिन झा और उनके माध्यम से काका चार्वाक के दर्शन को निरंतर याद कराते रहते हैं। ऐसा प्रतीत हो सकता है कि चार्वाक कोई दैवी या पैशाचिक शक्ति है, जिसके हवाले से काका वह सब कहे जा रहे हैं जो अन्यथा कहना कठिन है। और यह सब एक ऐसे समाज में, जहाँ देवी-देवता, नेता-अभिनेता,

ज्ञानी-विज्ञानी और यहाँ तक कि आस-पड़ोस के लोगों पर प्रश्न उठाना लगभग पाप मान लिया गया है। ऐसे में चार्वाक उस अभेद्य-अविजित साये की तरह हैं जिसकी आड़ में काका हमें गुदगुदाते-हँसाते और खीझ दिलाते हुए तोड़फोड़ मचा देते हैं। इसी साये में काका की तोड़फोड़ आम जीवन में होने वाली घटना जैसी लगती है। ये सबवर्जन की वह कला और संस्कृति है, जिसकी जड़ें अत्यंत साधारण समाज में उपस्थित हैं। ये समाज आम तौर पर लोक-समाज है, जिसमें लोक विद्या (फोकलोर) का वर्चस्व है। यद्यपि उसी फोकलोर में रूढ़िवादी व्यवहार और दृष्टिकोण को भी जगह मिलती है। लोक संस्कृति की रूढ़िवादिता के मद्देनज़र, आधुनिकता से प्रेरित उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के समाज सुधारकों ने लोक पर तंज कसे, आलोचनाएँ कीं और उनसे अलग रहने की सलाह दी। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं। बंगाल में अनेक नामों से होने वाले समाज और धर्म सुधार की गतिविधियाँ थीं। यहाँ तक कि मध्य और दक्षिण भारत में भी निम्न जाति के उत्थान के लिए विभेदात्मक रूढ़िवादी लोक संस्कृति से मुक्ति का आह्वान किया गया था। इस विषय पर अनेक इतिहासकारों ने लिखा है जिनमें से राधा कुमार (1993) भी हैं, जिन्होंने स्त्री दृष्टिकोण से इस की विवेचना की है। सामाजिक-राजनीतिक दृष्टिकोण से डॉक्टर भीमराव आंबेडकर ने तो स्पष्ट रूप से लोक संस्कृति को हिंदुओं और अग्रिम जातियों का प्रपंच बताया था।

ऐसे में खट्टर काका लोक संस्कृति से ही अपने बौद्धिक, भाषाई और सांस्कृतिक अस्त्र ढूँढ़ कर निकालते हैं। जैसे उनके लिए मनुष्य की देह, वैसे ही समाज-संस्कृति की देह। वे देह से ही देह को दर्पण दिखाते हैं और उसके रूप-रंग, चाल-ढाल, विश्वास-व्यवहार की व्यंग्यात्मक-आलोचनात्मक विवेचना करते हैं। आख़िर मैथिल समाज में ही सामाजिक मान्यताओं को हिला देने वाले फ़करा-कहबी, डाक-वचन, गीत-नाद, नाच-तमाशे आदि की पुरानी परंपरा रही है। इन सब पारंपरिक ज्ञानों में कोई स्कूल की पाठ्यपुस्तक जैसा साफ़-सुथरा पाठ थोड़े ही होता है। इनमें तो बिना लाग-लपेट के दोनों लक्ष्य दिखाई देते हैं – सामाजिक व्यवस्था बनाए रखना और उसी व्यवस्था की आकृतियों विकृतियों पर उपहास करना! (देवनाथ पाठक 2019)। खट्टर काका इसी जटिल फोकलोर को पकड़े रहते हैं।

जैसे इन दिनों विशेष राजनैतिक दल और नेता के लिए भक्ति का घनघोर बादल छाया हुआ है, ऐसे में भी मैथिल भाषी गाँवों में कुछ बच्चे मिलकर गलियों में दौड़ते हुए नारा लगाते हुए सुने जा सकते हैं, जो मूलतः एक फकरा है – पूरी जिलेबी तेल में, आ फल्लाँ नेता जेल में! फल्लाँ, मतलब फलाने, दरअसल में एक ख़ाली जगह जिसमें समय के अनुसार नाम भरे जाते हैं। फल्लाँ, फलाने की जगह पर राजनीतिक इतिहास के बदलते पन्नों के अनुसार नाम डालने की पुरानी परंपरा रही है। जो कोई बहुत बन रहा हो, डींगें हाँक रहा हो, छप्पन इंच का सीना दिखा रहा हो तो गाँवों और शहरों में काका सरीखे बड़े-बुज़ुर्ग उपहास के साथ कहते हैं – अपने नहाए छी झांट दहाय अइछ! अगर सीधा-सपाट शाब्दिक अर्थ में सोचें तो इसका मतलब होता है अपना शरीर तो नहाने में गीला है लेकिन शरीर के गुप्तांग के बाल हैं कि आंधी-तूफ़ान बनकर उड़ रहे हैं। यहाँ तक जातियों की भी हँसी उड़ाई जाती है। चाहे वह ब्राह्मण का

घर हो या दुसाध का, महिलाएँ किसी न किसी लोकगीत के ज़रिए कह ही देती हैं – बकलेल बभना (बेवकूफ़ ब्राह्मण)। रोज़मर्रे की आपसी बातचीत में ऐसी अनेक कहावतें और लोकोक्तियाँ मैथिल भाषियों की ज़ुबान पर ऐसे रहती हैं, जैसे किसी प्रचलित सिनेमा का कोई भयंकर प्रचलित गाना। यही वह संदर्भ है, जिसमें काका का चार्वाक के साथ प्रेमालाप दैनिक जीवन में होने वाली, लगभग साधारण सी बात लगती है।

चार्वाक के साथ काका के मेलजोल से किस प्रकार की देहवादी सोच बनती और सँवरती है यह समझने के लिए थोड़ा चार्वाक और उनके लोकायत दर्शन का स्मरण करते हैं। यह आसान नहीं है क्योंकि चार्वाक और लोकायत दर्शन लगभग मृतप्राय मान लिया गया है। उसका संदर्भ भी टुकड़ों में, आंशिक रूप में उपलब्ध टीकाओं और अन्य विश्लेषणों में ही मिलता है। महाभारत में भी आंशिक रूप से चार्वाक अथवा वृहस्पति नामक विचारक का संदर्भ आता है। जिन ग्रंथों, टीकाओं, विश्लेषणों में लोकायत का संदर्भ है, वे भी प्रायः यही साबित करने के लिए कि चार्वाक या वृहस्पति और उनकी सोच कितनी अनुपयुक्त, निकृष्ट, अहितकर थी और उसका ग़ायब हो जाना लाज़िमी था। ऐसे विचारों को असुर-विचार भी कहा गया। स्पष्ट है कि असुर वे साधारण लोग थे, जो ब्राह्मणों की तरह वेद-ऋचाएँ गाने में पारंगत नहीं थे या अन्य अग्रिम वर्णों और जातियों की तरह धन-धान्य संपन्न नहीं थे। असुर संस्कृति दरअसल लोक संस्कृति थी, जिसे पारंपरिक विद्वानों ने उसी तरह संदेह की दृष्टि से देखा जैसे आधुनिक शास्त्रों में पारंगत समाज सुधारकों ने बीसवीं सदी में लोक संस्कृति को बस रूढ़िवादी मान कर उसका बहिष्कार किया। परंपरा में एक तरह के आर्य दृष्टिकोण के कारण असुरों, यानि साधारण लोगों के विचार और व्यवहार संदिग्ध हो गए। यह लगभग वैसे ही स्थापित और मान्यता प्राप्त कैनन से ग़ायब हो गया, जैसे आजीवक नामक एक दूसरा दार्शनिक विचार और व्यवहार ग़ायब हुआ। इतिहासकार ए. एल. बाशम (1951) ने आजीवक पर शोध करके उसके टुकड़ों को एक जगह समेट कर उपलब्ध कराया। उसी तरह लोकायत के टुकड़ों को समेटने का काम एस. एन. दासगुप्ता और देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय सरीखे दर्शन के इतिहासकारों ने किया।

अगर बाशम (2004) की सुनें तो वैदिक काल में ही एक प्रकार की नाच-गान, भोग-विलास आधारित संस्कृति का जन्म हो गया था। यह अलग बात है कि आर्यों का वर्चस्व मजबूत हुआ और वैदिक हिस्से को क्रमशः ज़्यादा स्थान और मान्यता मिलने लगी। *अथर्ववेद*, *सामवेद* आदि पर *ऋग्वेद* हावी हो गया। ज़ाहिर है कि तंत्र, लोकायत और आजीवक सरीखी व्यावहारिक ज्ञान परंपराएँ हाशिये पर चली गईं। लेकिन क्या वे सब सामाजिक जीवन से वस्तुतः ग़ायब हो सकीं? लोगों के व्यवहार में लोकायत बना रहा, इसीलिए हरिमोहन झा के खट्टर काका को वह बहुत आसानी से उपलब्ध हो गया। विद्वानों को जो सर पीट कर भी भारी-भरकम ग्रंथों में नहीं मिलता, वह साधारण लोगों के सामाजिक जीवन में सहज ही जीवन्त रहता है।

असुरों, यानि वैदिक और आर्य विधि व्यवहार से परे लोगों की वह पद्धति, जिसकी बौद्ध विद्वान बुद्धघोष ने निंदा करते हुए उसे वितंडावाद कहा, लोकायत के अनुसार तर्क-वितर्क की विधि है। जैसा वाद-विवाद होता है, वैसा ही वितंडा होता है जिसमें वाद को काट-पीट कर स्थापित मूल्यों और मान्यताओं की धज्जी उड़ा दी जाती है ताकि नई सोच की तरफ़ ध्यान आकर्षित किया जाए। ज़रा सोचिए, अगर ऐसा न किया जाए तो कौन सुनेगा ऐसे तर्क जो हमारे अस्तित्व की बुनियाद पर चोट करते हों। धर्मों और ग्रंथों पर आधारित हमारे ब्रह्माण्ड ज्ञान, जीवन-मृत्यु के अनुभव, काम-अर्थ कामनाएँ, देह और संसार के मायने आदि को तोड़ने के लिए वितंडा निश्चित रूप से एक बड़ा उपक्रम है। इसकी निंदा या अवहेलना वही कर सकते हैं जिन्हें आधार खिसकने का डर हो और उससे भी बड़ा ये डर हो कि अगर जाना-पहचाना आधार खिसक गया तो वे कुछ सोच ही नहीं पाएँगे। काका के लिए वितंडा एक बौद्धिक आवश्यकता है अपनी बात कहने के लिए। अलबत्ता उनके वितंडा में हास्य रस सहज ही बहने लगता है। ज़ाहिर है कि ये विश्वविद्यालयों के सेमिनार हॉल में होने वाला वितंडा नहीं है। काका का लोकायती वितंडा मैथिल लोकसंस्कृति में इतना रचा हुआ है कि लोकपात्रों के हास-परिहास की शैली उसमें आराम से फिट हो जाती है।

काका के भतीजे को भी यह डर लगातार लगा रहता है, कि इस वितंडे से कहीं सोचने-समझने-बताने का मूल आधार ही ना खिसक जाए। उसके हरेक प्रश्न में ऐसी चिंता दिखती है। वह बार बार कहता है, 'काका अहाँ त सब बात में अपन तर्क लगा दैत छियैक'! लेकिन उसके पास और कोई चारा नहीं। कैसे तोड़े काका से रिश्ता और कैसे ग़लत साबित करे काका को? कैसे अनदेखा करे उस हास्य-निमंत्रण को? भतीजे को वितंडा के प्रभाव को अनदेखा करना असंभव लगता है। यही तो है काका का लोकायत, जिसमें रिश्ते और भावनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं लेकिन हँसी-ठिठोली करते हुए अपना पक्ष रखना भी ज़रूरी है। अपने अनुभवों को अनावश्यक परिष्कृत करने और पंडितों की वाहवाही लेने की बजाय इसमें दैनिक जीवन में दिखने वाले नग्न सच को देखना, समझना और मानना ज़्यादा हितकर है। दैनिक जीवन में भौतिकता ही प्रधान है। संसार ही सच है। उसमें उपलब्ध सुविधा-असुविधा, भोग-विलास, काम-क्रोध आदि सब सच हैं। इस संसार को भोगते हुए हम देह के माध्यम से इसे जानते हैं। देह केंद्रित अनुभव और ज्ञान ही असल दर्शन है जिसे अनेक आधुनिक विचारकों ने एमबॉडीड नॉलेज यानि देहगत आनुभविक ज्ञान कहा है। कमोबेश वही तो मंत्र है लोकायत में। हालाँकि लोकायत के पार्श्व में भी एक व्यवस्था बताई गई है। कहा जाता है कि देह के केंद्रीकरण में दरअसल तंत्र ज्ञान का प्रभाव है। लोकायत दर्शन और व्यवहार तंत्र ज्ञान के इर्द-गिर्द घूमता है लेकिन तांत्रिक अनुष्ठानों में नहीं जाता। एक तरह से कहें तो अनेक मामलों में तांत्रिक विचारों और कला को लोकायत एक सहजता प्रदान करके उसे अतिसाधारण सामाजिक स्तर पर ले आता है। इसी संदर्भ में अनेक मैथिल भाषी यह भी मानते हैं कि अहिपन, यानि अल्पना, दरअसल एक तांत्रिक यंत्र है। अनेक शुभ अवसरों पर महिलाएँ पिसे हुए चावल, हल्दी, सिंदूर आदि से धरती या किसी और ठोस सतह पर डिज़ाइन बनाती हैं। यह डिज़ाइन वास्तव में यंत्र

की शक्ल में होता है। मैथिल सांस्कृतिक जीवन में मौजूद ऐसे और भी अनेक उदाहरण दिए जाते हैं। इसी के अंतर्गत आती है मैथिल पुरुषों के सर पर सुशोभित एक विशेष प्रकार की टोपी जिसे पाग कहते हैं, या फिर महिलाओं के कपाल पर सिंदूर का ठोप आदि। इन सब सांस्कृतिक लगने वाले उदाहरणों से ये प्रतीत होता है कि तंत्र को भी लोक संस्कृति में लाकर एक सांस्कृतिक साधारणीकरण किया गया। फिर कैसे ये तंत्र काका के लोकायत में प्रवेश ना करे?

हिंदुओं और बौद्ध धर्म के अनुयायियों में तंत्र के अलग-अलग रूप पाए गए हैं। तंत्र का लोकायत से थोड़ा बहुत संबंध अनुमानित है (नरेंद्र नाथ भट्टाचार्य, 1982)। तंत्र में देह को केंद्र में रखते हुए मांस-मैथुन-मद्य-मुद्रा-मत्स्य को माध्यम बना कर साधना की पद्धति रही है। मृत शवों के इर्द-गिर्द, श्मशान भूमि जैसी जगहों पर तंत्र व्यवहार की जानकारी तो कमोबेश सबको है लेकिन तंत्र ज्ञान बस इतना ही नहीं है, इसमें सोच-विचार की एक विकसित धारा भी है। तांत्रिकों को वामाचारी भी कहा गया है। वाम को साधारणतः बाएँ पक्ष के रूप में समझा जाता है। लेकिन तंत्र में वाम का मतलब स्त्री-देह और काम-भोग होता है। ध्यान देने वाली बात यह है कि यह सब, स्त्री-पुरुष की देह और मांस, मैथुन आदि दैनिक सामाजिक जीवन में पाई जाने वाली अति साधारण चीज़ें हैं। भोग-उपभोग करना भी बिल्कुल ही साधारण बातें हैं। ऐसा नहीं करना निश्चय ही एक असाधारण व्यवहार है जिसे मान्यता प्राप्त धार्मिक ग्रंथों और पांडित्य से लबरेज़ प्रवचनों में देखा-सुना जाता है। तंत्र ऐसे आडंबरों से एक क्रांतिकारी प्रस्थान करता है जिसमें व्यवहार और विचार में पवित्रता और संस्कारों के नाम पर असामाजिक पांडित्य का वर्चस्व हो। कैननवादी, ग्रंथवादी, कर्मकांडी, अनुष्ठानवादी पांडित्य से लोकायत भी ऐसा ही प्रस्थान है। एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है लोकायत की जो इसे तंत्र ज्ञान और व्यवहार से अलग करती है। वह यह कि लोकायत में परिवार-समाज, रिश्ते-नाते, भाव-स्वभाव आदि का भी स्थान बना रहता है। समाज से हटकर, ऊपर उठकर, त्याग कर नहीं बल्कि इसमें रहकर लोकायत का देहवाद परिष्कृत होता है। इसमें दुःख में दुखी होकर दहाड़े मार-मार कर रोने, सुख में ख़ुशी से ठहाके लगा कर हँसने और इस तरह के अनेक मानवीय व्यवहार को ही सच माना जाता है। देह को जैसा लगे, वही सच है। काम-वासना, मद-लोभ, छल-कपट, सब कुछ बिना किसी हिचक के मानवता के सच के रूप में स्वीकार किया जाता है। जो यह सब है, वही मानवीय है, साधारण है और लोकायत दर्शन का पात्र है। ऐसा करते हुए लोकायत ब्रह्म और ब्रह्माण्ड की परिकल्पना को अपदस्थ करता है। यह एक तरह की संशयवादी परिकल्पना है परलोक को लेकर, जो लोकायत को देह की इहलौकिक परिधि में समेटता है। इस संसार के बाद देह नहीं। तो इस संसार के आगे जो है, उससे हमारे आनुभविक ज्ञान का सीमित मतलब ही रह जाता है।

अब ऐसे साधारण लगने वाले दैनिक व्यवहार को एक दार्शनिक विचार के रूप में कोई स्थापित करेगा तो उसका क्या होगा? चार्वाक का नाम इतना बदनाम किया गया कि अगर हमारे समाज में कोई निजी सुख के लिए कुछ करे तो एक संस्कृत श्लोक सुना कर उसे धिक्कारा जाता है। कहते हैं, यह श्लोक चार्वाक या बृहस्पति ने प्रचलित किया था –

यावज्जीवेत्सुखं जीवेत ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत। भस्मिभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।। (यानि, जब तक जियो, सुख से जियो और इसके लिए अगर ज़रूरत हो तो पर्याप्त उधार लो और मज़े करो।)

ये अलग बात है कि लोकायत को बस इस सरल श्लोक में नहीं समेटा जा सकता। इसीलिए लोकायत महज उपभोक्तावादी विचार नहीं बल्कि ये भोग करने के सहज मानवीय गुण को इसीलिए प्रचारित करता है क्योंकि इसके केंद्र में देह है, संबंध हैं, भावनाएँ और संवेदनाएँ हैं। ऐसे विचार को अनीश्वरवादी-नास्तिक विचारकों का बेकार का ज्ञान समझ कर फेंकने से पहले हमें यह देख लेना चाहिए कि इसका पूरा संदर्भ क्या है। देह का जो केंद्रीयकरण लोकायत करता है, वह इस श्लोक के गूढ़ मतलब को भी स्पष्ट करता है। जैसे खट्टर काका करते हैं, देह केंद्रित सुखों को विस्तार से समझा कर। अगर देह है, तभी आत्मा-परमात्मा है, अन्यथा क्या है? व्यक्तिगत देह के आसपास जो अनेक देह हैं, और उनके अनुभवों का संसार है, उसी से तो परिवार और समाज है, रिश्ते-नाते हैं, भोग-संभोग और भाव-स्वभाव है। चूड़ा-दही, खाजा-लड्डू, रसगुल्ला-पनितोबा खाते हुए, भाँग पीसते और पीते हुए, साहित्य-संस्कृति और धार्मिकता-नैतिकता पर चर्चा करते हुए खट्टर काका लोकायत दर्शन को एक ठोस जीवन प्रदान करते हैं। या शायद हमारे काका मैथिल लोक संस्कृति में पहले से ही मौजूद लोकायत विचार-व्यवहार के प्रतिनिधि बन जाते हैं। आख़िर यही तो है सांस्कृतिक इंटर-टेक्सचुअलिटी जिसमें भूत-भविष्य, शब्द-दृश्य, व्यक्ति-समष्टि आदि आपस के किसी ज़बर्दस्त प्रेम आलिंगन में पड़े रहते हैं।

अंततोगत्वा : न भूतो न भविष्यति

जयकांत मिश्र ने मैथिल साहित्य के इतिहास में हरिमोहन झा के खट्टर काका विमर्श की सिद्धि को स्वीकार करते हुए लिखा कि काका तिल का ताड़ बनाकर तोड़-फोड़ कर रहे हैं, लेकिन उनके पास कोई विकल्प नहीं। भला कोई और तरीक़ा है समाज में रहने, विद्रूपों को हास-परिहास का दर्पण दिखाते हुए, रिश्ते में बने रहकर सबसे चिढ़ते और चिढ़ाते रहने का? ऐसे दोषारोपण का हरिमोहन झा ने *तरंग* के दूसरे-तीसरे संस्करणों में अपने तरीक़े से जवाब दिया। साहित्य-संस्कृति का जो समाजशास्त्र हरिमोहन झा ने प्रस्तुत किया अपनी रचनाओं के माध्यम से, उसे एकत्र करने की कोशिश करते हुए इस लेख में भी ऐसे आरोपों का एक जवाब देने की कोशिश की गई है। हरिमोहन झा साहित्यिक विधाओं के ज़रिए वही बातें कह रहे हैं और काका से कहलवा रहे हैं, जो उन्होंने मैथिल समाज में देखा-सुना है। सोहर में राम का गुणगान और शिकायत दोनों सुने जा सकते हैं। गोसाउनिक गीत और नचारी में देवताओं के साथ सवाल-जवाब सुने जा सकते हैं। किसी दोपहर या शाम को किसी गाँव में किसी काका की दालान पर बैठक में कमोबेश यही सब सुनने में आ सकता है, जो खट्टर काका सुनाते रहते हैं। साधारणतः सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवहार देहवादी ही हैं – खाते-पीते, मौज में रहते, मैथिल समाज के लोगों ने तो तंत्र विधा तक को स्वीकार किया। फिर बिना नाम जाने अगर लोकायत दिखाई पड़े तो क्या हर्ज़।

इस लेख के निष्कर्ष में भी यह जोड़ देना अनिवार्य है कि *खट्टर काका* विमर्श के इंटर-टेक्सचुअलिटी का एक और आयाम भी है। भारतीय उपमहाद्वीप के इतिहास के जिस खंड में काका साहित्यिक परिधि में अवतरित होते हैं उसका एक संबंध उन दिनों प्रचलित एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न से भी देखा जा सकता है। वह प्रश्न था – हिंदू कौन है? आज भी ये प्रश्न विविध रूपों में हमारे सामने आता रहता है। औपनिवेशिक काल में इस प्रश्न के पीछे राष्ट्रवादी, उदारवादी और एक तरह की हिंदूवादी ऊर्जा को देखा गया। इस प्रश्न को एक औपचारिक अभिव्यक्ति सावरकर (1923) ने दी थी। सावरकर ने स्पष्ट किया था कि उनकी हिंदुत्व की अवधारणा हिंदुइज़्म, हिंदूधर्म और उसके लोगों के व्यवहार से ऊपर और विशिष्ट है। उनकी अवधारणा का आधार संस्कृत साहित्य का एक पांडित्यपूर्ण हिस्सा था, जिसमें समाज की सामाजिकता, देह की दैहिकता, लोक की लौकिकता से बचते हुए एक शुद्धतावादी दृष्टिकोण प्रबल था। सावरकर के इस प्रश्न और शुद्ध-अशुद्ध की अवधारणा की ऊष्मा स्वाधीन भारत में भी बनी रही थी। तभी संस्कृत भाषा को एकाधिकार मिला और संस्कृत जानने, उसमें लिखित साहित्यों को समझने और मीमांसा करने वालों को हिंदू का उपयुक्त मॉडल समझा गया। इसे और विस्तार से समझने के लिए सुमति रामास्वामी (1999) की संस्कृत और आधुनिक भारत की संवैधानिक राजनीति पर की गई बहस को देख सकते हैं।[16] या फिर रोमिला थापर (1989) की उस बहस को भी, जिसमें वे बताती हैं कि एक कल्पित समाज, संस्कृति और राष्ट्र को शुद्धतावादी दृष्टिकोण से काग़ज़ पर उतारा गया।[17] अक्षय मुकुल (2017) की उस विस्तृत बहस को भी इस सिलसिले में देख सकते हैं, जिसमें वे आधुनिक भारत की हिंदू दृश्य संस्कृति को गीता प्रेस के प्रकाशनों के माध्यम से समझाते हैं। ऐसे अनेक और नाम लिए जा सकते हैं जो शोध-लेखन में इस प्रश्न से जूझते रहे हैं।

दलित और जेंडर की दृष्टि से भी अनेक आलोचनात्मक बहसें हो चुकी हैं। ताराबाई शिंदे द्वारा लिखित *स्त्री-पुरुष तुलना* तो एक प्रकार से औपनिवेशिक भारत में हिंदुओं की पहली स्त्रीवादी आलोचना कही जा सकती है। पंडिता रमाबाई ने अग्रहारा जाति की औरतों पर सटीक लेखन किया, उसका उल्लेख तो आज भी स्त्री-दलित विमर्श में होता है। सूज़ी थारू और के. ललिता (1991) ने ऐसे ही अनेक उल्लेखनीय उदाहरणों को इतिहास के पन्नों से एकत्र करके हमें नारीवादी-दलित चिंतन में भी 'कौन है हिंदू' जैसे प्रश्न का उत्तर समझाया। इसके अलावा डॉ. बी. आर. आंबेडकर के चिंतन और विमर्श में तो खुल कर हिंदुओं की सामाजिकता और संस्कृति, धर्म और कर्म, ज्ञान और मीमांसा में जातिगत विभेद, हिंसा और असहिष्णुता की चर्चा है। उनका जाति तोड़क आह्वान तो स्पष्टतः हिंदू तोड़क भी था। तभी तो उन्हें हिंदू धर्म छोड़ कर बौद्ध को नवरूप देते हुए नवयान धम्म का मार्ग प्रशस्त करना पड़ा।

---

[16] सुमथी रामास्वामी (1999) : 339-381.

[17] रोमिला थापर (1989) : 209-231.

ये सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि हरिमोहन झा के *खट्टर काका* 'कौन है हिंदू' जैसे प्रश्न पर एक गूढ़ प्रहसन दे रहे हैं जिसमें जाति तोड़क, धर्म तोड़क और समाज-संस्कृति की असंगति पर भरपूर प्रहार है। आज के हिंदुत्व की राजनीति को ध्यान में रख कर कोई लोठार लुत्से (1999) की बात भी शायद मान ले कि खट्टर काका हिंदुत्व के आलोचक हैं। लोठार लुत्से प्रायः एकमात्र ऐसे विद्वान हैं जिन्होंने हरिमोहन झा के *खट्टर काका* पर एक टीका लिखी थी। लेकिन नहीं देख-समझ पाए वे कि *खट्टर काका* की इंटर-टेक्सचुअलिटी का दायरा बहुत बड़ा है। ध्यान में रखने वाली बात ये है कि काका की आलोचना के आधार में न तो यज्ञोपवीत का त्याग है, न ही आंबेडकर की तरह *मनुस्मृति* का दाह-संस्कार है। उसी समाज संस्कृति में बने रहना, जिसकी हँसी उड़ाई जाए और उस पर प्रहार किया जाए, यह सांस्कृतिक प्रतिरोध की एक अनोखी रणनीति है। कोई कहेगा, ये काका बस अवसरवादी हैं! उनकी आलोचना खोखली है। उन्होंने वह नहीं किया जो आधुनिकता से प्रेरित, नामचीन विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा प्राप्त कर रहे मैथिल युवकों ने 1950 या 1960 के दशकों में किया। सुना जाता है कि अनेक ऐसे मैथिल युवक जनेऊ को जलाकर शराब में डाल कर पी गए। मैथिल ब्राह्मणों की संस्कृति के विरुद्ध और 'कौन है हिंदू' के प्रश्न पर जो हिंदू राष्ट्रवादी जवाब आ रहे थे, उसके विरुद्ध ये उनका प्रतीकात्मक विरोध था। हरिमोहन झा के काका ऐसा कुछ नहीं करते बल्कि उसी संस्कृति से अपने दैहिक सुख का संसाधन लेते हैं और उसी का मज़ाक़ बनाते हैं। ये एक साधारण दिखने वाला सामाजिक-सांस्कृतिक प्रतिरोध का तरीक़ा है जिसे काका लोकायत के आवरण में प्रस्तुत करके हमें अवाक करते हैं।

एक और ध्यान देने की बात यह है कि काका-विमर्श आधुनिक ज्ञान मीमांसा के लिए नए द्वार खोलता है। युरोपीय एनलाइटेनमेंट जैसी दार्शनिक मीमांसा से आगे बढ़कर यहाँ हम देह की अनेक परतों में सच की परिकल्पना पाते हैं। युरोप के रेने देकार्त (1641-1993) के लिए देह संदेहास्पद ज्ञान का स्रोत है। देह की वेदना-संवेदना को शुद्ध बौद्धिकता के मार्ग में बाधा माना गया था। ठीक वैसे ही जैसे संसार का त्याग कर तप करने वाले किसी पंडितनुमा संन्यासी ने भारतीय वैदिक परंपरा में माना होगा। व्यक्ति की देह की दैहिकता और संसार की सांसारिकता से हट कर ही पारंपरिक ज्ञान और आधुनिक विज्ञान ने अपनी सांसारिक सत्ता स्थापित की थी। बुद्धि-विवेक को एक देह-मुक्त विशेषण और कर्त्ता दोनों माना गया। यहीं से आधुनिक ज्ञान-विज्ञान का विवाद शुरू होता है जिसे बाद में गिल्बर्ट राईल (1949) नामक दार्शनिक अपनी किताब *द कॉन्सेप्ट ऑफ़ माइंड* में खंडित करते हैं। देकार्त के *मेडिटेशंस* से उपजी समझ को वे एक मिथक बताते हैं। वे इंटेलेक्ट को इमोशन से जोड़ कर दिखाते हैं। वे देह की दैहिकता को केंद्रित करते हुए ज्ञान की अवधारणा प्रस्तुत करते हैं। राईल को लगता है कि बुद्धि और देह के बीच की खाई में खोट है। इसका फ़ायदा आधुनिक दर्शन, विज्ञान और समाजशास्त्र को मिला लेकिन इससे अनेक भ्रांतियाँ भी पनपीं। ऐसी ही देह-बुद्धि की खाई को पाटने के लिए उत्तर-आधुनिक, उत्तर-संरचनावादी और स्त्रीवादी सिद्धांतों में अलग-अलग विमर्श सामने आए। हरिमोहन झा के खट्टर काका बिना शाब्दिक जाल बुने, बिना जटिल संकल्पनाओं में उलझे, बड़ी सरलता और सहजता

से, हँसते-हँसाते, देहवादी बौद्धिक और व्यावहारिक ज्ञान की रसधारा बहा देते हैं। जब उन्हें लगता है कि आलोचक बिना उन्हें समझे-जाने आधुनिक या पाश्चात्य कहकर किनारे रख देंगे, तो वे आधुनिकता के परपितामह डॉक्टर फ्रॉयड को भी नहीं छोड़ते। भतीजे ने कहा, 'धन्य छी, खट्टर काका। अहाँक त सभ बात में बिनोदे सुझैत अछि। उलटे गंगा बहा दैत छिऐक।'

काका कहते हैं, 'हम बहबैत छिऐक कि आधुनिक महर्षि फ्रायडक चेला लोकनि बहबैत छथुन्ह? हुनका लोकनिक सिद्धांत छैन्ह जे चोला छुटय, लेकिन चोली नहि छुटय। कदम्ब सँ कदीमा, धरि, सभ प्रतीके सुझैत छैन्ह। इंद्रियनिरोधक स्थान में गर्भनिरोध करय छथि। मेन लाइन छोड़ि तेहन लूप लाइन धेलन्हि अछि जे भावी पीढ़ी कूप में जा रहल अछि' (पृ. 217)।

हम देख सकते हैं कि काका का देहवाद कैसे आधुनिक प्रतीकात्मकता पर भी तंज कसता है। काका चाहे किसी घाट का पानी पी रहे हों, वे अपने हास-परिहास के ज़रिये एक अति साधारण प्रकार के प्रतिरोध की सांस्कृतिक राजनीति को अंजाम देते रहते हैं। इस लेख में जिस तरह के समाज-संस्कृति-साहित्य के समाजशास्त्र का ख़ाका तैयार होता है, वह ऐसे प्रतिरोध की महत्ता को समझने के लिए सुलभ है।

संदर्भ

इर्विंग गॉफ़मैन (1959), *द प्रेजेंटेशन ऑफ़ सेल्फ़ इन एवरीडे लाइफ़*, एंकर, लंदन.

ए. एल. बाशम (1951), *हिस्ट्री ऐंड डॉक्टरिंस ऑफ़ द आजीविकाज़*, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली.

ए. एल. बाशम (2004), *द वंडर दैट वॉज़ इंडिया : ए सर्वे ऑफ़ द हिस्ट्री ऐंड कल्चर ऑफ़ द इंडियन सब-कांटिनेंट बिफ़ोर द कमिंग ऑफ़ द मुस्लिम्स*, पैन मैकमिलन, दिल्ली.

ए.आर. रैडक्लिफ़-ब्राउन (1940), 'ऑन जोकिंग रिलेशनशिप्स', *जर्नल ऑफ़ दि इंटरनैशनल अफ़्रीकन इंस्टीट्यूट*, वॉल्यूम 13, नंबर 3, अफ़्रीका : 115-210.

एमिल दुर्खाइम (2010), *द एलीमेंट्री फॉर्म्स ऑफ़ रिलीजियस लाइफ़*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, लंदन.

एमिल दुर्खाइम (2013), *द डिवीज़न ऑफ़ लेबर इन सोसाइटी*, पालग्रेव मैकमिलन, न्यू यॉर्क.

ओरहान पामुक (2010), *द नाइव ऐंड सेंटीमेंटलिस्ट नॉवेलिस्ट*, हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, हार्वर्ड.

के. पॉपर (1963), *कंजेक्चर ऐंड रेफुटेशन*, रटलेज ऐंड केगन पॉल, न्यू यॉर्क.

गिल्बर्ट राईल (1949), *द कॉन्सेप्ट ऑफ़ माइंड*, हचिंसन युनिवर्सिटी लाइब्रेरी, लंदन.

गीयर्ट्ज़ क्लिफोर्ड (1972), डीप प्ले : नोट्स ऑन द बालिनीज़ कॉकफाइट, डेडल*स*, वॉल्यूम 101, नं 1, मिथ, सिम्बल ऐंड कल्चर : 1-37.

गोपाल गुरु ऐंड सुंदर सारुक्कई (2019), *एक्सपीरियंस, कास्ट ऐंड द एवेरीडे सोशल*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

जयकांत मिश्रा (1998), *मैथिल साहित्यक इतिहास*, साहित्य अकादेमी, दिल्ली.

जूलिया क्रिस्टेवा (1982), *डिज़ायर इन लैंग्वेज़ : ए सेमिऑटिक एप्रोच टू लिटरेचर ऐंड आर्ट*, कोलंबिया युनिवर्सिटी प्रेस, कोलंबिया.

जेफरी सी. एलेग्जेंडर (2011), *परफ़ॉर्मेंस ऐंड पावर*, पॉलिटी प्रेस, केम्ब्रिज़.

टी. अडोर्नो, एम. होर्खेइमर (1971), *डायलेक्टिक ऑफ़ एनलाइटेनमेंट*, वर्सो, न्यू यॉर्क.

टेरी ईगलटन (2019), *ह्यूमर*, येल युनिवर्सिटी प्रेस, येल.

डोना हारावे (1988), 'सिचुएटेड नॉलेज़्स : द साइंस क्वेश्चन इन फेमिनिज़म ऐंड द प्रिविलेज़ ऑफ़ द पार्शियल पर्सपेक्टिव', *फ़ेमिनिस्ट स्टडीज़*, वॉल्यूम 14, नं. 3 : 575-599.

तलाल असद (1979), 'एंथ्रोपोलॉजी ऐंड द कोलोनियल एनकाउंटर', गेरित हुईज़र और ब्रूस मानहाइम (सं.), द *पॉलिटिक्स ऑफ़ एंथ्रोपोलॉजी : फ्रॉम कोलोनियलिज़म ऐंड सेक्सिज़्म टुवार्ड ए व्यू फ्रॉम बिलो*, मुतोन, पेरिस : 75-96.

दीपेश चक्रबर्ती (1999), 'अड्डा, ड्वेलिंग इन मॉडर्निटी', *पब्लिक कल्चर*, वॉल्यूम 11, संख्या 1, कलकत्ता : 109-145.

दीपेश चक्रबर्ती (2007), *प्रोविंशियलाईज़िंग युरोप : प्रिकॉलोनिअल थॉट ऐंड हिस्टोरिकल डिफरेंस*, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन.

देवनाथ पाठक (2019), *लिविंग ऐंड डाईंग : मीनिंग्स इन मैथिल फोकलोर*, प्राइमस, दिल्ली.

देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय (1959), *लोकायत : ए स्टडी इन एंसियंट मेटेरिलिज़म*, पीपल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली.

नरेंद्र नाथ भट्टाचार्य (1982), *हिस्ट्री ऑफ़ द तांत्रिक रिलीजन*, मनोहर, दिल्ली.

फ्रेडरिक. एड. बार्थ (2005), *वन डिसिप्लिन, फोर वेज़: ब्रिटिश, जर्मन, फ्रेंच, ऐंड अमेरिकन एंथ्रोपोलॉजी*, युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, शिकागो.

ब्रायन एस. टर्नर, (एड.), (2012), *रटलेज हैंडबुक ऑफ़ बॉडी स्टडीज़*, रटलेज, ओक्सऑन.

माधव एल. आप्टे (1975), *ह्यूमर ऐंड लाफ्टर : एन एंथ्रोपोलॉजिकल एप्रोच*, इथाका ऐंड कॉर्नेल युनिवर्सिटी प्रेस, लंदन.

मिशेल फूको, (1977), 'व्हाट इज़ ऐन ऑथर?', डोनाल्ड एफ़ बोचार्ड (सं.) *लैंग्वेज़, काउंटर-मेमोरी, प्रैक्टिस : सेलेक्टेड एसेज़ ऐंड इंटरव्यू बाइ मिशेल फूको*, कॉर्नेल युनिवर्सिटी प्रेस, ईतहाका : 113-138.

रमाकांत मिश्रा (1986), 'मैथिल : लाइफ़ ऑफ़ ए लिटरेरी जाएंट', *इंडियन लिटरेचर*, वॉल्यूम 29, नंबर 5 (सितंबर-ऑक्टूबर) : 107-115.

राधा कुमार (1993), द *हिस्ट्री ऑफ़ डूइंग : एन इलस्ट्रेटेड अकाउंट ऑफ़ मूवमेंट्स फ़ॉर विमेंस राइट्स ऐंड फेमिनिज़म इन इंडिया, 1800-1990*, ज़ुबान, काली फ़ॉर वीमेन, दिल्ली.

राधाकमल मुखर्जी (1944), 'आर्ट ऐज़ सोशल साइंस', द *सोशियोलॉजिकल रिव्यू*, 36; 1-4 : 60-66.

रेने देकार्त (1641/ 1993), *मेडिटेशंस ऑन फ़र्स्ट फ़िलॉसफ़ी इन व्हिच द एक्ज़िस्टेंस ऑफ़ गॉड ऐंड द डिस्टिंक्शन ऑफ़ द सोल फ्रॉम द बॉडी आर* डेमोंस्ट्रेटेड, हैकेट पब्लिशिंग कंपनी, इंडियानापॉलिस.

रॉबर्ट रेडफ़ील्ड (1955), 'द सोशल आर्गेनाइज़ेशन ऑफ़ ट्रेडिशन', द *फ़ार ईस्टर्न क्वार्टरली*, 15; 1 : 13-21

रोमिला थापर (1989), 'इमैज़िंड रिलीजियस कॅम्युनिटीज़? एन्सिएंट हिस्ट्री ऐंड द मॉडर्न सर्च फ़ॉर ए हिंदू आइडेंटिटी', *मॉडर्न एशियन स्टडीज़*, 23; 2 : 209-231.

रोलाँ बार्थ (1977), 'द डेथ ऑफ़ द ऑथर', *इमेज, म्यूज़िक, टेक्स्ट*, हिल ऐंड वैंग, न्यू यॉर्क.

लोठार लुत्से (1999), 'फ्रॉम डिंगली डेल टू दरभंगा : सम इंट्रोडक्टरी रिमार्क्स ऑन द मीनिंग (सेंस ऑफ़) ह्यूमर', क्रिस्टीना ओएस्टरहेल्ड और क्लाउस पीटर ज़ॉलर (सं.), *ऑफ़ क्लाउन्स ऐंड गॉड्स, ब्राह्मन्स ऐंड बाबूज़ : ह्यूमर इन साउथ एशियन लिटरेचर्स*, मनोहर, दिल्ली.

विक्टर टर्नर (1969), द *रिचुअल प्रॉसेस : स्ट्रक्चर ऐंड एंटी-स्ट्रक्चर*, ट्रांज़ैक्शन बुक, लंदन.

वीर सावरकर (1923), *हिंदुत्व : हिंदू कौन है*, वीर सावरकर प्रकाशन, बॉम्बे.

शेल्डन पोलॉक (2006), *द लैंग्वेज़ ऑफ़ द गॉड्स इन द वर्ल्ड ऑफ़ मेन : संस्कृत, कल्चर ऐंड पावर इन प्रीमॉडर्न इंडिया*, युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफोर्निआ प्रेस, बर्कले.

शैलेंद्र मोहन झा (1994), *हरि मोहन झा : मेकर्स ऑफ़ इंडियन लिटरेचर*, साहित्य अकादेमी दिल्ली.

सुमति रामास्वामी (1999), 'संस्कृत फ़ॉर द नेशन', मॉडर्न एशियन स्टडीज़, वॉल्यूम 33, नंबर 2 : 339-381.

सूज़ी थारू और के. ललिता (1991) (सं.), *वीमेन राइटिंग इन इंडिया : 600 बी. सी. टू अर्ली ट्वेंटिएथ सेंचुरी*, फ़ेमिनिस्ट प्रेस ऐट द सिटी युनिवर्सिटी ऑफ़ न्यू यॉर्क, न्यू यॉर्क.

हरिमोहन झा (1971), *खट्टर काका*, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली.

हरिमोहन झा (1981), *ट्रेंड्स ऑफ़ लिंगविस्टिक एनालिसिस इन इंडियन फ़िलॉसफ़ी*, चौखंभा ओरिएंटेलिया, वाराणसी.

हरिमोहन झा (1993), *कन्यादान*, हिंदी अनुवाद विभा रानी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली.

हरिमोहन झा (2011), *खट्टर काकाक तरंग* (मैथिल), शेखर प्रकाशन, पटना.

हेतुकर झा (1991), *सोशल स्ट्रक्चर्स ऑफ़ इंडियन विलेजेज़ : ए स्टडी ऑफ़ रूरल बिहार*, सेज दिल्ली.

तारा उपासना का मैथिल स्वरूप : रोज़मर्रा की धार्मिकता

कमल मिश्रा

बोधा ने कहा, 'बड़ी करुण कथा है धर्मावतार! अक्षोभ्य भैरव मिथिला के श्रोत्रिय ब्राह्मण हैं। ओदंतपुरी के निकट जो नालंदा विहार है, उसमें देश-देशांतर से आए विद्वान और साधु शास्त्र-चर्चा किया करते थे। पता चला है कि वहाँ अष्टोत्तर शत विहार थे। वहाँ बौद्ध और शाक्त आगमों के बड़े-बड़े विद्वान और साधक निवास करते थे। जब तुर्क सेनापति बख़्तियार ने उस स्थान पर अधिकार किया, मंदिरों और विहारों को ध्वस्त कर दिया और वहाँ के विशाल पुस्तक-मंदिर को जला दिया, तो विद्वान और साधु या तो मार डाले गए या जिसे जो रास्ता सूझा, उस रास्ते उसे भागना पड़ा। नालंदा का विद्यामंदिर देखते-देखते जनशून्य हो गया। पुस्तकालय कई दिन तक जलता रहा, हथौड़ों की चोट से कई दिन तक मूर्तियाँ टूटती रहीं। केवल दो साधू वहाँ रह गए – प्रधान आचार्य राहुल भद्र और तारापीठ के अनन्य सेवक अक्षोभ्य भैरव।'

– हजारीप्रसाद द्विवेदी के उपन्यास *चारु चंद्रलेख* (1963) से

और तुम रात-भर मा-त-रे-मा-त-रे करती रहो!' सुधना ने मुँह बिदकाकर कहा – 'कौन है यह मा-त...
देख सुधना, हर बात में टाँग नहीं अड़ाते। गाँव के पके हुए अरियासमाजी लड़कों की बोली सीखी है तूने। कुछ समझता भी है? ख़बरदार, जो कभी माँ तारा के नाम ठिठोली की!
ताजमनी ने आँखें मूँदकर मन-ही-मन काली की मूर्ति को स्मरण करके कहा – माफ़ करना माँ! बच्चे की बुद्धि ही कितनी!
सुधना ने भी मन-ही-मन फ्रेम में मढ़ी, रक्त-चंदन के छींटों से धुँधली काली माँ की तस्वीर को याद किया – जीभ निकालकर खड़ी है, तो खा लो न मुझे!... दिदिया इतने दिनों से रो-रोकर पूजा करती है, मान-मनौती करती है। लेकिन, माँ तारा तो और रुलाती ही है... रोज़ पंडित जी के बाग़ से अड़हुल फूल ला कर देता हूँ... और क्या चाहिए? ...

–फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यास *परती : परिकथा* (1957) से

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के ऐतिहासिक उपन्यास *चारु चंद्रलेख* (1963) और फणीश्वरनाथ रेणु के आंचलिक उपन्यास *परती : परिकथा* (1957) के उपर्युक्त दो अंशों को

पढ़ते हुए हम यहाँ सबसे पहले कुछेक बिंदुओं पर आगे की चर्चा के लिहाज़ से विचार करेंगे। पहला तो यह कि आचार्य द्विवेदी की औपन्यासिक कृति मूलतः 12वीं और 13वीं सदी के उत्तर भारत की कथा है। उपन्यासकार की अपनी कल्पनाशीलता के अलावा इस औपन्यासिक कृति का आधार तेरहवीं सदी ईस्वी में भारत आए तिब्बती बौद्ध भिक्षु धर्मस्वामी के यात्रा वृत्तांत जैसे ऐतिहासिक दस्तावेज़ों को बनाया गया है। इस उपन्यास के तमाम पात्र और उनसे जुड़ी परिस्थितियाँ काल्पनिक होने के बावजूद एक वास्तविक दौर का चित्रण करते हुए यह ख़ुद अपनी वास्तविकता का भरोसा पूरी कामयाबी से पाठकों को देता है। इसी तरह, रेणु के उपन्यास की कथा के केंद्र में आज़ादी के सात-आठ वर्षों बाद का गाँव परानपुर है। मिथिला के भू-सांस्कृतिक परिक्षेत्र में बसे इस गाँव का परिचय देते हुए उपन्यासकार स्वयं लिखता है कि, 'बहुत उन्नत गाँव है परानपुर। सात-आठ हज़ार की आबादी है। प्रत्येक राजनीतिक पार्टी की शाखा है यहाँ। धार्मिक संस्थाओं के कई धुरंधर धर्मध्वजी इस गाँव में विराजते हैं।...पंडित नेहरू तीन बार पदार्पण कर चुके हैं इस गाँव में। लाहौर कॉन्ग्रेस के बाद पहली बार, दूसरी बार 1936 में चुनाव के दौरे पर और पिछले साल कोसी प्रोजेक्ट देखने आए थे जब...।'[1] वैसे तो *परती : परिकथा* के कथासूत्र उपन्यास के नायक जितेंद्र (या जित्तन) और उसके पतनीदार पिता शिवेंद्र मिश्र से जुड़ कर संक्रमण से गुज़रते इस ग्राम समाज के प्रतिनिधि अंकन को एक दिलचस्प प्रेमकथा में परिवर्तित करते मालूम होते हैं। मगर कोसी अंचल यहाँ सदैव एक स्वतंत्र और संपूर्ण व्यक्तित्व बन कर उपस्थित रहता है। रेणु के ही दूसरे कालजयी उपन्यास *मैला आँचल* की तरह, *परती : परिकथा* में भी, अंचल के भौगोलिक परिवेश से शुरू कर उसका सांस्कृतिक चरित्र, वेश-भूषा, राग-रंग, उत्सव-त्यौहार, और धार्मिक विश्वास, या कहें कि उसकी समग्र नृतत्त्व शास्त्रीय विशिष्टता, अपनी पूरी जीवंतता से इस कथा में हर कहीं मौजूद दिखाई देती है।

इन दोनों औपन्यासिक कृतियों को पढ़ते हुए कोई भी सजग पाठक सहज ही इस स्वीकार्य नतीजे पर पहुँच सकता है कि मिथिला क्षेत्र के निवासियों का देवी तारा की उपासना से एक निश्चित ऐतिहासिक संबंध रहा है। फिर रेणु के उपन्यास में वर्णित नट्टिन टोले की ताजमनी के उदाहरण पर नज़र डालते हुए यह भी लगता है कि देवी तारा केवल मैथिल ब्राह्मणों की आराध्या न हो कर कहीं ज़्यादा बड़े जनसमुदाय के दैनंदिन जीवन और उसकी आस्था का केंद्र बनने की दिशा में अग्रसर हो चुकी हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह कि बीसवीं सदी के मध्य के कोसी अंचल में, 'पके हुए अरियासमाजी' (या पक्के आर्यसमाजी) धर्मध्वज वाहकों की उल्लेखनीय उपस्थिति के बावजूद, 'माँ तारा' की लोकप्रियता में हमें उपरोक्त उपन्यास के हवाले से भी लगातार एक इज़ाफ़ा होता हुआ साफ़ दिखता है। लेकिन, बड़ी हैरत उस समय होती है जब हम ऐन हिंदी पट्टी में अवस्थित मिथिला जैसे एक बेहद महत्त्वपूर्ण भू-सांस्कृतिक परिक्षेत्र के दैनिक अनुभव का अहम हिस्सा बन चुकी इस विशिष्ट धार्मिकता को समझने के

[1] फणीश्वरनाथ रेणु (1957), [2009] : 24.

लिए आधुनिक भारत के इतिहासकारों का रुख़ करते हैं। यहाँ हम पाते हैं कि उत्तर भारत या हिंदी पट्टी पर केंद्रित देशी और विदेशी विद्वानों के तमाम हालिया अध्ययन इस ख़ास ऐतिहासिक विषय पर बिल्कुल मौन हैं! इतना ही नहीं, पिछले कुछ दशकों के दरमियान मिथिला की धार्मिक संस्कृति का अन्वेषण करने वाले नृतत्त्वशास्त्रियों से, या साहित्य आदि दूसरे कुछ अनुशासनों से जुड़े स्थानीय विद्वानों को भी पढ़ते हुए, हमें मिथिला के दैनंदिन जीवन का हिस्सा बन चुकी इस देवी के संप्रदाय और उपासना के इतिहास का कुछ विशेष पता नहीं चलता। यहाँ एक स्वाभाविक सवाल उठता है कि ऐसा क्यों है? संक्षेप में कहें तो सत्तर के दशक से शुरू हुए अंतर-अनुशासनिक तथा उत्तर-संरचनावादी प्रयोगों ने भले ही इतिहास, नृतत्त्व शास्त्र, और साहित्य जैसी विद्याओं की अपनी घेरेबंदी को काफ़ी कुछ कमज़ोर किया है। लेकिन उत्तरी भारत के सामाजिक इतिहासकारों द्वारा प्रस्तुत सामाजिकता के विस्तृत अध्ययनों पर आज भी हमें उनके राजनीति संबंधी विचार का निर्णायक असर दिखता है। शायद यही वजह है कि, 'सामाजिक' या 'धार्मिक' जैसे परस्पर संबद्ध पहलुओं को अपने अध्ययन में शामिल करने वाले समर्थ सामाजिक इतिहासकारों की एक लंबी फ़ेहरिस्त के बावजूद, अभी भी हिंदी पट्टी पर केंद्रित ऐतिहासिक अध्ययनों में धार्मिकता जैसे ख़ास दैनिक अनुभव की वाज़िब नुमाइंदगी की गुंजाइश बाक़ी रहती है।[2] ऐसा नहीं होने से इस क्षेत्र विशेष की सामाजिकता को समझने और समझाने के सबसे बेहतरीन प्रयास भी शायद कमतर ही साबित होंगे। इसी कमी को मद्देनज़र रखते हुए, और मिथिला के आम धार्मिक जीवन में गहराई तक प्रविष्ट हुई भगवती तारा के एक महत्त्वपूर्ण पीठ स्थान की निर्मिति को आधार बना कर, प्रस्तुत आलेख हिंदी पट्टी के इतिहास संबंधी चिंतन में धार्मिकता जैसे बेहद अहम दैनिक अनुभव को रेखांकित भर करने का एक संक्षिप्त प्रयास है।

हिंदुस्तान और दुनिया के दूसरे हिस्सों की ही तरह हिंदी पट्टी में भी ऐसी विवरणात्मक (या 'क्वालिटेटिव'), और परिमाणात्मक (या 'क्वांटिटेटिव'), आधार-सामग्री पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है जो व्यक्तियों और समूहों के रोज़मर्रा के जीवन से जुड़े विविध पहलुओं का उद्घाटन बख़ूबी करती है। हालाँकि यह हर जिज्ञासु के अपने मस्तिष्क पर निर्भर करता है कि वह उस आधार-सामग्री से अर्थ की निष्पत्ति चाहे तो अपनी ख़ालिस समझ के इस्तेमाल से करे या फिर मानविकी और समाजविज्ञान की कोटियों तथा सिद्धांतों के ज़रिए। आम तौर से 'आधार-सामग्री' कहते ही व्यक्ति या समूह से परे की एक चीज़ का बोध होता है। दूसरी ओर कई विशेषज्ञ यह मानते हैं कि वैयक्तिक और सामूहिक स्मृतियाँ आधार-सामग्री का महत्त्वपूर्ण

[2] एक तरफ़ जहाँ इतिहास लेखन की दृष्टि से 'सामाजिक' और 'सांस्कृतिक' पहलुओं की नज़दीकी ने 80 के दशक से सबाल्टर्न इतिहासकारों के विविध अध्ययनों में एक निश्चित रूपाकार ग्रहण किया है. वहीं दूसरी ओर, अकादमिक दायरे में 'सामाजिक' का विचार भी अपरिवर्तनीय नहीं रहा है. चूँकि कोई पूरी फ़ेहरिस्त देना यहाँ संभव नहीं. फिर भी रणजीत गुहा का क्लासिकल आलेख, और 19वीं सदी के बंगाल का सामाजिक इतिहास प्रस्तुत करता सुमित सरकार का अध्ययन हमारी विवेचना के लिहाज़ से बेहद महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं. साथ ही, तनिका सरकार द्वारा नारीवादी दृष्टिकोण से प्रस्तुत अध्ययन का भी दूरगामी महत्त्व है, रणजीत गुहा (1985) : 1-25; सुमित सरकार (1997); तनिका सरकार (2001).

भंडार होती हैं, जहाँ से इसकी पुनः प्राप्ति भी संभव है।[3] मैथिल समाज के दैनिक जीवन-जगत में धार्मिकता के तत्त्व को समझने के अपने इस सीमित उपक्रम में हम मुख्य तौर से तीर्थ माहात्म्य जैसे उस रचनात्मक साहित्य रूप का उपयोग करेंगे जो मूलतः तीर्थ यात्रियों के लिए छपी पुस्तिकाओं की शक्ल में तीर्थ स्थलों में बहुत कम क़ीमत पर उपलब्ध होते हैं। वस्तुतः साहित्यिक स्रोत सामग्री पर आधारित इस शोधपरक आलेख में ऐतिहासिक, पाठ-आलोचनात्मक, और अंतर-पाठ प्रविधियों का उपयोग करते हुए हमारा उद्देश्य आधुनिक दौर में देवी तारा के उस उपासक संप्रदाय के इतिहास को जानने और समझने का रहेगा जिसने न सिर्फ़ मिथिला बल्कि पूरी हिंदी पट्टी को भी अपनी धार्मिकता के ज़ोर से प्रभावित करने का प्रयास किया है। साथ ही, परिवर्तन और निरंतरता की उस प्रक्रिया को समझने की कोशिश भी हम बराबर करेंगे जिसके तहत किसी परंपरा का स्वरूप बदल जाने के बाद भी उसका क्रम जारी रहता है, और बदले हुए सामाजिक-राजनीतिक संदर्भ में यह एक नई अर्थवत्ता प्राप्त कर लिया करती है।

1.

लेख के प्रारंभ में उद्धृत आचार्य द्विवेदी के उपन्यास अंश से ही अगर इस चर्चा की शुरुआत करें तो पहला सवाल यही उठता है कि क्या हम बौद्धों की आराधिता भगवती तारा और हिंदू शाक्त परंपरा में उपास्य देवी तारा को एक मान सकते हैं? दरअसल, बौद्ध महायान परंपरा की समस्त देवियों में तारा सर्वोपरि हैं। कई बार उन्हें समस्त बुद्धों और बोधिसत्वों की जननी तक कहा जाता है, और प्रथम श्रेणी की एक स्वतंत्र देवी के तौर पर इक्कीस से भी अधिक रूपों में उनकी आराधना होती है। प्राचीन भारत के कुछ इतिहासकारों का ऐसा मत है कि बौद्धों की महायान शाखा में संभवतः छठी सदी ईस्वी के दौरान तारा की उपासना प्रचलित हुई होगी।[4] दूसरी तरफ़, बौद्ध मिथकशास्त्र में उनका संबंध सामान्यतया इस कल्प के प्रधान बोधिसत्व, अवलोकितेश्वर से जोड़ा जाता है। ऐसा माना गया कि आदि बुद्ध से ही पाँच ध्यानी बुद्ध, और अनेक बोधिसत्व, देवियों समेत निर्गत हुए हैं। इन बोधिसत्वों में भी अवलोकितेश्वर और मंजुश्री गुप्तकाल तक काफ़ी लोकप्रिय हो चुके थे। करुणा की मूर्ति कहे गए अवलोकितेश्वर से प्रारंभिक चरण में संबद्ध रही देवी तारा, वज्रयान व तंत्रयान की बढ़ती के साथ-साथ, तांत्रिक बौद्ध मत की सर्वप्रमुख नारी शक्ति के रूप में स्वीकृत हुईं। विद्वानों का विचार है कि आरंभ में उनके दो रूप 'सौम्य' और 'उग्र' प्रकार के रहे होंगे। हालाँकि, पश्चवर्ती बौद्ध मत में अवलोकितेश्वर की ही भाँति तारा को भी 108 अलग-अलग रूपों और नामों से अभिहित किया गया है।[5] सातवीं सदी से तांत्रिक बौद्ध मत के प्रचार प्रसार के साथ देवी तारा के उपासना

[3] प्रशांता रॉय (2011) : 6.

[4] एन. एन. भट्टाचार्य (1999) : 193.

[5] पुष्पेंद्र कुमार (1992) : 48.



गीताप्रेस द्वारा प्रकाशित तांत्रिक देवी तारा का एक चित्र (अकादमिक और ग़ैर व्यावसायिक उद्देश्य से साभार प्रस्तुत)।

संप्रदाय का विस्तार भी तमाम दूसरे मुल्कों तक हुआ। फिर यह तो सर्वविदित ही है कि देवी तारा को तिब्बत में सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई जहाँ बौद्ध परंपरा में उन्हें 'महा मुक्तिदाता' भी कहा जाता है।

वहीं अपने शाक्त स्वरूप में तारा बहुत हद तक काली से मिलती जुलती हैं। बाजार में उपलब्ध कैलेंडर और अन्य तस्वीरों में काली की ही भाँति तारा का भी चित्रण प्रायः शवरूपी शिव के ऊपर खड़ी, व्याघ्र चर्म से आवृत्त, मुंडमाल पहने, लोल जिह्वा वाली, सर्पों से आभूषित, और चार करों में खड्ग, खप्पर, कर्तरी, और नरमुंड या नीलकमल लिए हुए, नीलवर्ण की, एक उग्र स्वरूप वाली देवी के रूप में हुआ दिखता है। काली की ही तरह तारा का संबंध भी श्मशान और यहाँ प्रज्वलित अग्नि से जोड़ा जाता है। हालाँकि, भक्तों के नज़रिये से इस उग्र स्वरूपा देवी का संबंध महज श्मशान या वैसे ही कुछ दूसरे भयप्रद और

रूपान्तरणकारी प्रतीकों तक महदूद नहीं। और, देवी तारा के एक बेहद प्रचलित नाम 'तारिणी' (अर्थात 'पार उतारने वाली') से भी हमें ऐसा ही प्रतीत होता है।

देवी तारा के स्वरूप की विशेष चर्चा हमें संस्कृत तांत्रिक साहित्य में मिलती है। और इनकी उपासना भी ज़्यादातर तंत्रोक्त पद्धति से ही होती आई है। कभी सीतामढ़ी का हिस्सा रहे शिवहर के भूमिहार जमींदार परिवार से संबद्ध देव नंदन सिंह ने, 1890 ईस्वी में, *शाक्त प्रमोद* जैसी पद्धति शैली के एक संग्रह ग्रंथ का संस्कृत भाषा में लेखन-संकलन और संपादन किया। इसकी एक हस्तलिखित पांडुलिपि लंदन स्थित ब्रिटिश लाइब्रेरी में भी ईस्वी सन 1894 से संरक्षित है। देव नंदन सिंह ने पहली बार 1891 ईस्वी में इसका मुद्रित संस्करण प्रकाशित किया। 1905 तक आते-आते, कुल 16 स्वतंत्र 'तंत्रों' में विभक्त इस तांत्रिक पूजा व कर्मकांड विषयक संग्रह ग्रंथ के पूरे चार संस्करण वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई, से प्रकाशित हो चुके थे। 'शाक्त प्रमोद' की महत्ता इस बात से समझी जा सकती है कि सौ वर्षों से ज़्यादा का समय बीतने के बाद आज भी उच्च श्रेणी के अनेक तांत्रिक साधक और कर्मकांड विशेषज्ञ इसे तांत्रिक उपासना में प्रयुक्त होने वाला एक अनिवार्य प्रामाणिक स्रोत मानते हैं। मिथिला और उसकी परिधि के बाहर भी शाक्त मतावलंबियों द्वारा नित्य पूजा में प्रयुक्त होने वाले इस संग्रह ग्रंथ के पहले दस हिस्से काली, तारा, षोड्शी, भुवनेश्वरी जैसी उन विशिष्ट देवियों को समर्पित हैं जिन्हें दस महाविद्याओं के रूप में जाना जाता है। बाक़ी के 6 हिस्से कुमारीतंत्र, दुर्गातंत्र, शिवतंत्र, गणेशतंत्र, सूर्यतंत्र और विष्णुतंत्र को समर्पित हैं। प्रत्येक 'तंत्र' में देवता विशेष का ध्यान, यंत्र, मंत्र, और तांत्रिक उपासना की विधि के साथ ही स्तोत्र, कवच और शत तथा सहस्त्रनाम का वर्णन है।

ग़ौरतलब है कि महाविद्या तारा को समर्पित *शाक्त प्रमोद* के द्वितीय तंत्र में उनके जिस 'उग्र-तारा' स्वरूप का वर्णन हमें मिलता है, उसके बाबत बुह्नेमान्न का यह स्पष्ट मत है कि हिंदू तंत्रों ने आरंभिक मध्यकाल में इनकी साधना को बौद्ध शाश्वतवज्र के तांत्रिक ग्रंथ 'महाचीनक्रमा-साधना' से सीधा उठाया है।[6] प्रतिमा विज्ञान की दृष्टि से भी बौद्ध महाचीनक्रमा-तारा के शीश पर पाँच ध्यानी बुद्धों में से एक अक्षोभ्य को स्थापित माना गया है। दिलचस्प बात तो यह है कि हिंदू महाविद्या तारा की प्रतिमाएँ और चित्र भी अक्षोभ्य से अलंकृत होते हैं।[7] वैसे, हिंदू शाक्त संदर्भों में अक्सर इन्हें क्षोभरहित शिव का प्रतीक बताया जाता है। हालाँकि, देव नंदन सिंह के 'शाक्त प्रमोद' में वर्णित उग्र-तारा ध्यान और उपचार पूजा की पद्धति को पढ़ते हुए हम पाते हैं कि यंत्र पूजा के क्रम में देवी के अपने जिस देव परिवार समूह की पूजा का विधान यहाँ किया गया है उसमें न सिर्फ़ शीश के केंद्र में सुशोभित अक्षोभ्य बल्कि वैरोचन और अमिताभ जैसे सदस्य भी प्रमुख रूप से शामिल हैं।[8] इनके नामों

---

[6] गुद्रून बुह्नेमान्न (1998) : 472-93.

[7] पुष्पेंद्र कुमार (1992) : 38.

[8] राजा देवनंदन सिंह (2013) : 119-120.

से यह स्पष्ट आभास होता है कि उक्त तीनों देव पहले से देवी उग्र-तारा के बौद्ध परिवार का अंग रहे होंगे और बाद में उनके ही साथ इन्हें भी हिंदू शाक्त तांत्रिक संदर्भ में जगह दे दी गई है। तब क्या यह माना जाए कि अपने उग्र-तारा स्वरूप में हिंदुओं की पूजिता रही भगवती तारा वास्तव में बौद्ध देवी महाचीनक्रमा-तारा ही हैं?

ऐसा मान लेना शायद इसलिए भी उचित नहीं होगा क्योंकि सदियों से शाक्तों और तांत्रिकों की उपास्य रही महाविद्या तारा वास्तव में बौद्ध स्रोत से ले कर पुनर्निर्मित की गई एक हिंदू देवी हैं। यही वजह है कि बौद्ध स्रोत से निकाल कर अंततः शाक्त काली-कुल में शामिल कर ली गई देवी तारा का एक गहरा साम्य हमें दक्षिण काली के रूप से दिखता है। लेकिन, भक्तगण इन दोनों शक्तियों के रूप और गुणों में निश्चित वैषम्य भी विशेषकर साधना और उपासना की दृष्टि से मानते हैं। मिसाल के लिए तारा का क़द काली की तुलना में छोटा तथा उनके स्तनों और उदर का आकार अपेक्षाकृत बड़ा होने के कारण तांत्रिक संदर्भों में उन्हें 'खर्वा', 'घटस्तनी' और 'लंबोदरी' जैसे विशेषणों से भी अभिहित किया जाता है।[9] फिर अपने महाविद्या स्वरूप में देवी तारा के एक विशिष्ट वाम-मार्गी साधना पद्धति (अर्थात् 'चीनाचार') से ही प्रसन्न होने की एक सर्व स्वीकृत और व्यापक मान्यता है। ऐसा लगता है कि, बौद्ध स्रोत से निकल कर 'काली-कुल' या महाविद्याओं के समूह का भाग बन जाने के दौरान, इन लोकप्रिय घोररूपा तांत्रिक देवी का मध्यकाल में ही संभवतः अपना एक स्वतंत्र उपासक संप्रदाय भी विकसित हुआ जिसके कुछ चिह्न हमें अकेले तारा की साधना को समर्पित पद्धतियों की बढ़ती में साफ़ नज़र आते हैं।[10] साथ ही, बौद्ध संदर्भों में 'करुणा' के विचार को रूपायित करने वाली और 'उद्धारक' कही गई भगवती तारा को हिंदू संदर्भ में भी 'दयामयी' और 'मुक्तिदायनी' माना गया है। इतना ही नहीं, हिंदू शाक्त तांत्रिक साहित्य में उन्हें भी काली की तरह मूल कारण के रूप में जगत की सर्जक, पालक, और संहारक तक बताया जाता है।

इस बिंदु पर एक वाज़िब सवाल यह उठ सकता है कि जब अन्य देवी-देवताओं (जैसे गणेश, दुर्गा, शिव, विष्णु और सूर्य) की उपासना को भी *शाक्त प्रमोद* में यथोचित स्थान मिला हुआ है तब हम अपना सारा ध्यान सिर्फ़ 'द्वितीय तंत्र' में वर्णित देवी उग्र-तारा के ऊपर ही क्यों केंद्रित कर रहे हैं? इस प्रश्न के जवाब में हम फ़िलहाल बस इतना ही कहना चाहेंगे कि गहराई से देखने पर आप भी यक़ीनन यही पाएँगे कि इन पौराणिक देवताओं की भी पूजा के सिर्फ़ तांत्रिक विधान का ही *शाक्त प्रमोद* में वर्णन है। फिर उससे भी ज़्यादा महत्त्वपूर्ण बात तो *शाक्त प्रमोद* में नज़र आने वाला विषय का अपना क्रमवार विभाजन है, जहाँ पहले तो दस महाविद्याओं की उपासना तदोपरांत कुमारी पूजा और उसके बाद ही पंचोपासना का वर्णन हुआ है। क्या यह क्रम विशेष स्वयं ही मिथिला की अपनी धार्मिकता के बारे में बहुत कुछ

---

[9] रॉबर्ट इ. स्वोबोदा (1986) [1993] : 79.

[10] विकास कुमार भट्टाचार्य (2003) : 167-176.

नहीं कहता? इसीलिए हम असल में एक नितांत ठोस शाक्त-तांत्रिक आधार पर खड़ी मिथिला की धार्मिकता के चंद विशिष्ट पहलुओं पर ही अपना ध्यान केंद्रित कर रहे हैं। लेकिन इन पहलुओं पर किसी विस्तृत चर्चा से पहले हम यहाँ बाबू देव नंदन सिंह द्वारा *शाक्त प्रमोद* जैसे महत्त्वपूर्ण 'संकलन ग्रंथ' को बाक़ायदा छापे की शक्ल में प्रकाशित करने की वजहों पर भी एक संक्षिप्त चर्चा करना चाहेंगे।

शाक्त प्रमोद के अधुनातन संस्करण की 'प्रस्तावना' लिखते हुए मधु खन्ना अपनी एक सारगर्भित टिप्पणी में यह कहती हैं कि, 19वीं सदी में, शाक्त मतवाद के अलंबरदारों को न सिर्फ़ मुख्यधारा के वैष्णव और शैव जैसे बड़े संप्रदायों से अलग अपनी पहचान को परिभाषित करना था। बल्कि उन्हें अंग्रेज़ी राज के द्वारा व्यवहृत एकरूपीकरण से भी अपनी रक्षा करनी थी। इस सबमें अंचल-केंद्रित शाक्तों की सत्ता का आमतौर से क्षरण हुआ, जैसा कि तांत्रिक शाक्त परंपरा का पहले भी कई बार हो चुका था, जब अपने दृष्टिकोण के पक्षपोषण हेतु उन्हें स्मार्त परंपराओं का सहारा लेना पड़ा।[11] तो क्या स्मार्त परंपरा के अंगों (जैसे गणेश, दुर्गा, शिव, विष्णु और सूर्य की पंचोपासना) की भी तांत्रिक मैथिल शाक्तों द्वारा आम स्वीकृति के पीछे ऐसा ही कोई ऐतिहासिक कारण या दबाव रहा है? हमें इस संभावना से इंकार के लिए निश्चय ही कोई ठोस वजह नहीं दिखती। बहरहाल, 19वीं सदी के अंतिम चरण में अपनी पहचान को परिभाषित करने और इस क्रम में ख़ुद के लिए वैधता पाने का जो माध्यम देव नंदन सिंह ने चुना वो था एक शाक्त-तांत्रिक साधना और कर्मकांड विषयक ग्रंथ के संकलन-लेखन और प्रकाशन का। हालाँकि, एक व्यवस्थित प्रयास के तहत धार्मिक व सांस्कृतिक परंपराओं को पुनर्निर्मित करने, और उसी क्रम में निज की पहचान को व्याख्यायित करते हुए वैधता पाने का कोई दूसरा ज़रिया भी वो बेशक चुन सकते थे। मिसाल के लिए, देवोत्तर या ब्रह्मोत्तर के रूप में भूमि का दान, मंदिरों का निर्माण, या फिर किसी तीर्थ केंद्र की ही स्थापना वे कर सकते थे। किंतु देव नंदन सिंह तो हमें *शाक्त प्रमोद* जैसे बहुस्तरीय पाठ के ज़रिये मुख्यधारा की ब्राह्मणवादी व्यवस्था के समक्ष अपने तांत्रिक शाक्त मत की आग्रहपूर्ण स्वीकारोक्ति करते दिखते हैं। वैसे इस सिलसिले में देव नंदन सिंह को अनूठा मान लेने की हड़बड़ी हमें बिलकुल नहीं करनी चाहिए। क्योंकि, मिथिला में उनके कई निकटवर्ती समकालिक भी दूसरे रास्तों से शायद ऐसा ही कुछ करने का प्रयास कर रहे थे।

2.

पृथक मिथिला प्रदेश और उसकी प्रादेशिक भाषा के रूप में मैथिली और हिंदी दोनों की वकालत करने वाले प्रख्यात कवि स्वर्गीय नागार्जुन ने अपना एक लंबा साक्षात्कार साहित्यकार मनोहर श्याम जोशी को दिया, जो बतौर पुस्तक अंश 1980 के दशक की शुरुआत में पहली बार प्रकाशित हुआ। इस बेहद रोचक साक्षात्कार में नागार्जुन अपने बचपन

[11] देखें, राजा देवनंदन सिंह (2013) : 7-8.

के दिनों की अनेक स्मृतियाँ भी साझा करते हैं। साक्षात्कार के क्रम में नागार्जुन यह बताते हैं कि कैसे 1925 में प्रथमा करने के बाद उन्होंने अपने गाँव के पास ही गोनौली विद्यालय से मध्यमा किया और फिर शास्त्री बनने का इरादा कर वो अध्ययन के लिए मिथिला से काशी चले आए। फिर इसके बाद जैसे ही नागार्जुन की स्मृतियों में बसे चित्र बोलने लगते हैं तो पाठक के सामने 1920 के दशक की काशी अपने एक अलग ही स्वरूप में मूर्तिमान होती है : 'रानियों द्वारा संचालित क्षेत्रों की काशी। मेधावी बटुकों को मुफ़्त भोजन कराने वाली काशी।'[12] यहाँ नागार्जुन बताते हैं कि कैसे उस दौर की काशी में दरभंगा की महारानी लक्ष्मीवती जैसी धनाढ्य मैथिल स्त्रियाँ किसी विद्यार्थी द्वारा की गई छंदबद्ध प्रशस्ति सुनकर प्रसन्न होने पर पाँच रुपये तक इनाम में दे देती थीं। उस समय जब पाँच रुपये का काफ़ी मूल्य हुआ करता था, मैथिली में छंदबद्ध कविताएँ लिखते हुए नागार्जुन (जो तब वैद्यनाथ कहे जाते थे) ने भी कई मौकों पर वह पंचटकिया पुरस्कार जीता। उस दौर की काशी में संस्कृत के विद्यार्थियों की लेखन और वक्तृता जैसी अनेक प्रतियोगिताएँ भी हुआ करती थीं और किशोर वैद्यनाथ उन प्रतियोगिताओं में शिरकत कर अक्सर अढ़ाई-तीन रुपये तक के नक़द पुरस्कार प्राप्त किया करते थे। काशी में बीते उन दिनों को याद करते हुए नागार्जुन आगे यह भी बताते हैं कि कैसे भोजन करने के लिए वे प्रतिदिन दूसरे बटुकों के साथ नेपाली खपरा मोहल्ले में बने तारा मंदिर जाया करते थे। बनारस का यह तारा मंदिर उस वक़्त बनैली की रानी द्वारा संचालित क्षेत्र था और वहाँ पूरे एक सौ आठ छात्रों को नियमित भोजन कराया जाता था।

अपने फ़ील्ड अध्ययन के दौरान मुझे भी साल 2011 में बनारस के नेपाली खपरा स्थित इस तारा मंदिर जाने का अवसर मिला। मैंने पाया कि एक मैथिल पुरोहित का परिवार इस वक़्त भी तारा मंदिर प्रांगण में ही रह रहा है, और उन पुरोहित पर ही देवी तारा मंदिर की नित्य पूजा आदि की ज़िम्मेवारी है। हालाँकि, सुबह की पूजा का समय होने के कारण वे बातचीत के लिए उपलब्ध नहीं हो सके। मगर, मंदिर की दीवार पर लगी सूचना-पट्टी से कुछ ज़रूरी बातों का पता अवश्य चल गया। जैसे कि काशी के इस विख्यात तारा मंदिर का निर्माण संवत् 1972 (या 1915 ईस्वी) में रानी पद्मावती ने करवाया था। रानी पद्मावती मिथिला की बनैली जागीर के राजा लीलानंद सिंह के बेटे और उत्तराधिकारी पदमानंद सिंह की पत्नी थीं। और काशी में इस तारा मंदिर के निर्माण की प्रेरणा उन्हें महिषी निवासी पुण्यदत्त झा से मिली थी।

आगे इस आलेख में हम देवी तारा की उपासना से मिथिला स्थित महिषी गाँव के ऐतिहासिक संबंध पर कुछ विस्तार से चर्चा करेंगे। अव्वल तो यह समझना ज़रूरी है कि रानी पद्मावती ने शिव की नगरी कही जाने वाली काशी में तारा मंदिर के निर्माण की प्रेरणा को क्यों स्वीकार किया होगा? और फिर उसी तारा मंदिर से संचालित क्षेत्र में सौ से ज़्यादा मेधावी छात्रों को भोजन करवाने जैसे नियमित आयोजनों द्वारा वो आख़िर क्या हासिल करना चाहती थीं? साफ़ है कि, शिवहर के जमींदार परिवार से संबद्ध देव नंदन सिंह और दरभंगा की महारानी

[12] मनोहर श्याम जोशी (1983) : 40.

लक्ष्मीवती की ही तरह, बनैली जागीर से संबद्ध रही पद्मावती भी हमें ऐन बीसवीं सदी में धार्मिक व सांस्कृतिक परंपराओं को निर्मित और पुनर्निर्मित करती तथा इस तरह से निज की पहचान को व्याख्यायित करते हुए वैधता पाने के लिए प्रयासरत दिखती हैं। फिर भी यह सवाल मौजूद रहता है कि अपनी पहचान को सार्वजनिक रूप से व्याख्यायित करने के क्रम में रानी पद्मावती को आख़िर तांत्रिक देवी तारा का ही मंदिर क्यों निर्मित करना पड़ा?

दरअसल, साहित्यकार मनोहर श्याम जोशी को दिए अपने पूर्वोक्त साक्षात्कार में नागार्जुन स्वयं तांत्रिक दीक्षा के प्रसंग पर चर्चा करते हुए यह साफ़ कहते हैं कि : 'तारा हम लोगों की इष्ट है। छिन्नमस्ता के हम आराधक हैं।' मतलब यह कि न सिर्फ़ मैथिल ब्राह्मणों में सामान्य उपनयन से अलग तांत्रिक दीक्षा की भी प्रथा प्रचलित है। बल्कि तारा और छिन्नमस्ता जैसी घोररूपा तांत्रिक देवियाँ यहाँ सदियों से निशिदिन ब्राह्मण गृहों में पूजी जाती रही हैं। हालाँकि, इस बिंदु पर यह भी स्पष्ट कर देना ज़रूरी है कि मिथिला की अपनी दृष्टि तारा और छिन्नमस्ता सहित महाविद्या समूह की सभी तांत्रिक देवियों को मुख्यतः तीन वर्गों में विभाजित करके देखती है। मिसाल के लिए दरभंगा के कामेश्वर सिंह संस्कृत विश्वविद्यालय से संबद्ध रहे आचार्य आनंद झा इन्हें तीन कोटियों – (1) सौम्य, (2) उग्र, और (3) सौम्योग्र – में विभक्त मानते हैं।[13] आनंद झा जहाँ दस महाविद्याओं में से त्रिपुरसुंदरी, भुवनेश्वरी, मातंगी और कमला को सौम्य स्वरूप वाली देवियाँ मानते हैं। वहीं महाविद्या काली, छिन्नमस्ता, धूमावती और बंगलामुखी को वे उग्र स्वरूप वाली देवियाँ कहते हैं। साथ ही, महाविद्या तारा और भैरवी की पहचान वे सौम्योग्र स्वरूप वाली देवियों के रूप में करते हैं।

मिथिला में देवी तारा का सौम्योग्र स्वरूप माने जाने के संबंध में आनंद झा का यह स्पष्ट मत है कि : 'द्वितीय महाविद्या तारा में उग्रता के साथ सौम्यता का आभास इसलिए भी मिलता है कि इनके प्रभेदों के अंदर एक प्रभेद उग्रतारा भी आती हैं और एक नील सरस्वती भी। इन दोनों के अंदर प्रथम में उग्रत्व विशेषण तभी सार्थक हो पाएगा जब कि तारा के किसी प्रभेद को अनुग्र अर्थात् सौम्य भी माना जाए। साथ ही उनके एक प्रभेद का नाम नील सरस्वती है, यह नामकरण भी तब तक संगत नहीं हो सकता जब तक उन्हें सौम्य भी न मान लिया जाए। क्योंकि सरस्वती शुक्ल न हो कर नील ही क्यों न हो जाएँ, विद्या की अधिष्ठात्री होने के कारण उनमें सौम्यता माननी ही होगी।' वैसे तो मिथिला में हिंदुओं द्वारा देवी तारा के कुल तीन अलग रूपों (उग्रतारा, नील सरस्वती और एकजटा) की पूजा होती है। लेकिन, देवी महाचीनातारा (या उग्र-तारा) के विपरीत, भगवती नील सरस्वती का अपना नाम इतनी आसानी से उनके बाह्य आयातित होने का पता नहीं देता। हालाँकि, नेपाल में देवी तारा के उग्र तथा नील रूपों की उपासना बौद्ध और हिंदू दोनों ही करते दिखते हैं।[14] फिर तांत्रिक ग्रंथों के अनुसार देवी नील सरस्वती का सिद्ध स्थान भी 'नीलरम्यक' अर्थात चीन में स्थित है।[15] बहरहाल, ऐसा

[13] आचार्य आनंद झा (1979) : 69.

[14] प्रबोध चंद्र बागची (1939) : 42.

लगता है कि देवी तारा अपने सौम्योग्र स्वरूप के चलते, और विद्या की भी अधिष्ठात्री मान लिए जाने से, मैथिल समाज और विशेषकर मैथिल ब्राह्मणों की इष्टदेवी के रूप में लंबे समय से पूजित होती आई हैं। न सिर्फ़ नागार्जुन के उपरोक्त कथन का यही आशय है बल्कि पद्मावती द्वारा निर्मित तारा मंदिर में स्थापित सौम्योग्र प्रतिमा और उनके द्वारा विद्या की अधिष्ठात्री अपनी इष्टदेवी की आराधना हेतु संचालित अन्न क्षेत्र से शताधिक विद्यार्थियों के नियमित भोजन की व्यवस्था को भी हम यूँ ही समझ सकते हैं।

वैसे, मैथिल ब्राह्मणों के वैयक्तिक, पारिवारिक और सार्वजनिक जीवन में भी संपन्न होने वाले बहुविध संस्कारों, चर्याओं या उपासना के अंगों और उपांगों में से कइयों को परंपरागत ब्राह्मण रूपों से घिरा होने के बावजूद स्मार्त नहीं कहा जा सकता।[16] खान-पान से ही शुरू करें तो बहुसंख्यक मैथिल ब्राह्मण अपने दैनिक जीवन में मांस-मछली खाते हैं। साथ ही नागार्जुन के हवाले से हम पहले ही यह देख चुके हैं कि कैसे मैथिलों में दो उपनयन संस्कार होते हैं - एक वैदिक, दूसरा तांत्रिक। मतलब यह कि वैदिक उपनयन में जहाँ प्रत्येक उपनीत ब्राह्मण को गायत्री मंत्र की दीक्षा दी जाती है। वहीं एक उपनीत मैथिल गायत्री दीक्षा के अतिरिक्त फिर तांत्रिक मंत्र की दीक्षा भी पाता है। इस तांत्रिक मंत्र दीक्षा के क्रम में आयु, लिंग अथवा कुल का बंधन नहीं होता। इसमें कोई भी समगोत्री महिला या पुरुष जिसे पहले से मंत्र मिला हो उपनीत के कान में बोल कर उसे बीज मंत्र दे सकता है। ग़ौरतलब है कि इस मंत्र-दीक्षा में प्रदान किए जाने वाले बीज-मंत्र साधारणतया तांत्रिक देवियों या प्रमुख महाविद्याओं में से एक के ही होते हैं। जिन देवी के बीज-मंत्र की दीक्षा दी जाती है वे ही मंत्र-दीक्षा संपन्न मैथिल की इष्टदेवता होती हैं। मंत्र लेना पारिवारिक स्तर पर एक ख़ास उत्सव जैसा होता है। मैथिल वाग्धारा में 'मंत्र अंटाना' जैसे विशेष प्रयोग पर रोशनी डालते जयधारी सिंह अपने पिता के समय का उल्लेख करते हुए यह भी लिखते हैं कि, *पुरश्चर्यार्णव* आदि कुछ तांत्रिक ग्रंथ के 'अकयह' तथा 'ऋणधन' – चक्र से महाविद्याओं के ख़ास बीज मंत्र कुल के रीति-रिवाज के अनुसार दिए जाते थे।'[17] अधिकांश दीक्षित मैथिल ब्राह्मणों की इष्टदेवी काली या महाविद्या तारा ही होती हैं। कोई-कोई इष्ट के रूप में भुवनेश्वरी या कमला की उपासना भी करते हैं। ऐसा नहीं कि विष्णु और शिव जैसे देवों की पूजा दीक्षित मैथिल नहीं करते। मगर इष्ट देवी के यंत्र या कुण्डलिनी शिला को बीच में रखने और इसके बायीं व दाहिनी तरफ़ विष्णु तथा शिव को प्रतिष्ठित करने के उपरांत ही वे इनकी पूजा करते हैं।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना भी ज़रूरी है कि दीक्षित मैथिल को इष्ट की मंत्रोपासना का अधिकार तो मंत्र-दीक्षा से मिल जाता है। मगर उन्हें वाममार्गी उपासना क्रम से अपने इष्ट को पूजने का अधिकार बिना किसी समर्थ गुरु से शाक्ताभिषेक पाए बिना नहीं होता। फिर

[15] भागीरथप्रसाद त्रिपाठी (1980) : 141-143.

[16] जयधारी सिंह (1979) : 146-147.

[17] वही : 146.

वामाचारी अर्थ में 'तांत्रिक' कहलाना भी अच्छा नहीं माना जाता, नतीजतन, ज़्यादातर मैथिल शाक्त दक्षिणमार्गी और सर्वस्वीकृत तांत्रिक विधियों से ही इष्ट देवता की पूजा और तत्संबंधी अनुष्ठानों में संलग्न रहते देखे जाते हैं। श्मशान-साधना और चक्रार्चन जैसी उत्कट वाममार्गी क्रियाओं में रत होने के बजाय गृहस्थ मैथिल शाक्त अक्सर अपने इष्ट देवता की प्रसन्नता के लिए छागबलि और कुमारीपूजा जैसे अभिहित तांत्रिक पटल ही अपनाते हैं।

आम मैथिल गृहस्थ के दैनंदिन जीवन में गृह देवता की उपासना के महत्त्व को साफ़ दर्शाने वाला तत्त्व घरों में बनी पीड़ी या पीठ पर देवता का अधिष्ठान है। मैथिल शब्दावली में गृह देवता या कुल देवता के लिए 'गोसांउनि' शब्द प्रचलित है। अधिकतर किसी तांत्रिक देवी की ही प्रतिष्ठा मैथिल गृहस्थ गोसांउनि के रूप में किया करते हैं। मैथिल गोसांउनि शब्द का संस्कृत के 'गो-स्वामिनी' या मध्य बंगाली के 'गोशानी' से क़रीब का संबंध हो सकता है। परंतु अन्य देवियों की तरह मैथिल कुल देवता या गोसांउनि की नित्य पूजा और उनसे जुड़े विशेष कर्मकांड को किसी भी दूसरी जगह कर पाना संभव नहीं होता। आमतौर से गोसांउनि पछवरिया घर या घर के पश्चिमी हिस्से में स्थित गोसांउनिक घर में अपने ग़ैर-प्रतिमा रूप में स्थापित होती हैं। वे लाल रेशमी या साटन कपडे से बने आँचर, अढत और बिंदी आदि से सुशोभित होती हैं। नियम से इनके नित्य पूजा की ज़िम्मेवारी घर में विवाहित महिला सदस्यों की होती है।

जनाना हिस्से में बने गोसांउनिक घर और भनसाघर (या पाकशाला) का एक-दूसरे से कैसा क़रीबी और पवित्रतामूलक धार्मिक संबंध परंपरागत ब्राह्मण गृहों में रहा होगा इसका कुछ आभास हमें इतिहासकार सदन झा के एक शीघ्र प्रकाश्य रोचक आलेख से भी होता है।[18] मगर क्या गोसांउनिक रूप में शक्ति की पूजा सिर्फ़ मैथिल ब्राह्मण परिवार ही किया करते हैं ? ग़ौरतलब है कि मिथिला में तकनीकी तौर से द्विज जातियों में शुमार न किए जाने वाले कायस्थ भी यहाँ की स्थापित धार्मिक और सांस्कृतिक परंपराओं के उतने ही मज़बूत संरक्षक और साझेदार हैं जितने कि मैथिल ब्राह्मण। फिर, गोसांउनिक घर और भनसाघर को स्थानिक संदर्भ में मैथिल गृहक्षेत्र और मैथिल समाज के सर्वाधिक कम चर्चित या अध्ययन किए गए पहलुओं के बतौर चिह्नित करते हुए सदन झा एक दूसरे महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर भी इशारा करते हैं। ग्रियर्सन द्वारा मैथिली से अंग्रेज़ी में अनुदित सलहेस कथा के हवाले से झा का उपरोक्त आलेख दरअसल हमें घोर रूपा देवी असावरि के एक नितांत ग़ैर-ब्राह्मण संदर्भ में गोसांउनि रूप से पूजित होने का पता देता है।

दूसरी ओर सदियों से मिथिला जैसे ख़ास भू-सांस्कृतिक परिक्षेत्र के दैनिक जीवन का अभिन्न हिस्सा रहे गोसांउनिक घर को हम बदलते दौर के साथ धीरे-धीरे सामान्य पूजा घर में तब्दील होता हुआ भी पाते हैं। ऐसा नहीं है कि मैथिल घरों में पहले पूजा घर नहीं हुआ करते थे। मगर सामान्य पूजा घर और गोसांउनि या गोसांउनिक घर में एक स्पष्ट भेद हुआ करता था।

---

[18] सदन झा, अप्रकाशित.

सामान्य पूजा घर की तरह गोसांउनिक घर की स्थापना कभी भी और कहीं भी नहीं की जा सकती थी। संपत्ति के बँटवारे या किसी दूसरी तरह से स्थानांतरण जैसी परिस्थितियों में नया गोसांउनि निर्मित करने के लिए एक परिवार को ख़ासा आयोजन करना पड़ता था। वैसे नया गोसांउनिक घर बनाने के बजाय पुराने गोसांउनि से ही अपने धार्मिक कृत्यों के लिए संबद्ध रहने का भी निर्णय कोई परिवार कर सकता था। परंतु नई जगह पर गोसांउनि को प्रतिष्ठित करने के लिए विशेषकर एक श्रोत्रिय ब्राह्मण परिवार को पहले पाँच तीर्थों की पवित्र मिट्टी और पाँच नदियों से पवित्र जल लाने की व्यवस्था करनी होती। फिर संपूर्ण विधि-विद्यान से गोसांउनि और उनके देव परिवार की प्रतिष्ठा पछवरिया घर में भनसाघर से लगे हिस्से में की जाती। सबसे अहम बात तो यह कि उसी स्थान पर बिला नागा घर की ज़िम्मेवार महिला सदस्यों को उनकी पूजा करनी होती थी। लेकिन आधुनिकता के असर से बड़े पैमाने पर लगातार जारी उत्प्रवासन और पारंपरिक ढाँचे में आए बिखराव के बीच, आज हम मैथिल गोसांउन पूजा की नियमित व्यवस्था को प्रभावित करने वाली अनेक तब्दीलियों को भी साफ़ देख सकते हैं।[19] हालाँकि गोसांउन पूजा की परंपरा में परिलक्षित होने वाले हालिया बदलावों के बावजूद हम यह मान सकते हैं कि मिथिला के ज़्यादातर घरों में सदियों से गोसांउनि की पूजा का रिवाज़ रहा आया है।

वैसे तो मैथिल ब्राह्मणों में अधिकतर देवी कालिका ही कुल देवता के रूप में पूजित होती आई हैं। मगर गोसांउनि रूप में कुछ मैथिल ब्राह्मण तारा उपासना या अन्य महाविद्या की उपासना भी करते हैं। फिर अन्य जाति समूहों के अपने दूसरे गृह या कुल देवता हैं। ज़ाहिर है कि इन सब देवताओं की सम्मिलित संख्या सैकड़ों में है। हालाँकि उत्तर भारत के दूसरे भू-सांस्कृतिक परिक्षेत्रों से हम मिथिला का वैशिष्ट्य इसके अपने ख़ास देव समूह के संदर्भ में भी देख सकते हैं। मिसाल के लिए मिथिला के विराट देव समूह में राम की मानीख़ेज़ अनुपस्थिति का ज़िक्र करते हुए तारानंद वियोगी स्पष्ट करते हैं कि, यहाँ 'सबके कुलदेवता अलग-अलग होते थे। यह कुल मूल और वंश परंपरा पर निर्भर करता था। ऐसे कुल देवताओं की संख्या सैकड़ों में थी। फिर, कुलदेवता के सहायक देवी देवता होते, जिनकी स्थापना 'गोसांउनि घर' में की गई होती थी। इनकी संख्या हज़ारों में थी। मगर, इनमें राम नहीं थे। लाखों देवी देवताओं के लिए मिथिला के पास जगह थी, पर राम के लिए कोई जगह नहीं थी।'[20] दरअसल, मिथिला की जातीय स्मृति में अपनी कन्या मानी जाने वाली सीता का दुखद दांपत्य आज भी सुरक्षित है।[21] इसीलिए लोक परंपरा में न केवल उक्त विषय से संबंधित अनेकों गीत कवित्त आदि मिलते हैं। बल्कि, लोग सीता के कष्टों के लिए राम के दुर्बल व्यक्तित्व को दोषी मानते हुए आमतौर से उनकी पूजा नहीं करते।

---

[19] सदन झा, अप्रकाशित.

[20] तारानंद वियोगी (2016) : 185-186.

[21] उषा किरण ख़ान (1986) : 119.

हालाँकि, आधुनिक काल में जब पुरानी धार्मिक मान्यताओं को कुछेक नई धर्म धारणाओं से बदला जा रहा था मिथिला में लक्ष्मीनाथ गोसाईं (1787-1872) जैसे रामोपासक सन्यासियों का भी प्रादुर्भाव हुआ। असल में बीसवीं सदी के शुरुआती दशक में बनैली की रानी पद्मावती को काशी में तारा मंदिर के निर्माण की प्रेरणा देने वाले मैथिल ब्राह्मण पुण्यदत्त झा के गाँव महिषी से बेहद क़रीब ही बसे बनगाँव को लक्ष्मीनाथ गोसाईं ने अपनी गतिविधियों का केंद्र बनाया। हज़ारों भक्तिपद रचने, कीर्तन मंडली बना कर भगवद भजन करने, और रामनवमी तथा कृष्ण जन्माष्टमी जैसे वैष्णव पर्वों को कोसी अंचल में लोकप्रिय बनाने के अलावा लक्ष्मीनाथ गोसाईं ने अपने स्तर से आधुनिक मिथिला में व्याप्त कई सामाजिक बुराइयों पर भी चोट करने का प्रयास किया। इन सब गतिविधियों और उनकी व्यक्तिगत साधना के नतीजे में लक्ष्मीनाथ गोसाईं को तो एक सिद्ध महापुरुष के तौर से व्यापक प्रतिष्ठा मिली ही साथ ही उनके आराध्य रहे दशरथ नंदन राम की स्वीकार्यता में भी निश्चित इज़ाफ़ा हुआ। वैसे मिथिला के तमाम गाँव और क़स्बों में जहाँ कहीं राम और लक्ष्मण को सीता सहित देवालयों में स्थान मिला उन सभी धार्मिक स्थलों को 'जानकी मंदिर' कह कर ही पुकारने की एक स्थापित परंपरा दिखती हैं।[22] किंतु सीता जन्म-स्थली के रूप में विख्यात सीतामढ़ी के पास स्थित पुनौरा धाम और जानकी कुंड को तो निःसंदेह मिथिला के सर्वप्रमुख तीर्थ स्थलों में से एक माना जा सकता है।

हालाँकि उन्नीसवीं सदी में मिथिला के चंदा झा और लालदास द्वारा रचित दो अलग-अलग *मैथिली रामायण* लोकप्रियता के लिहाज़ से तुलसीदास के अवधी *रामचरित मानस* का मुक़ाबला भले न कर पाई हों।[23] लेकिन मिथिला की बहुसंख्यक आबादी अगर आज भी राम को प्रमुख देवता मान कर पूजने के बजाय शक्ति की उपासना में ही प्रवृत्त दिखती है तो इसमें आश्चर्य क्या? क्योंकि, श्री राम जन्मभूमि तीर्थ क्षेत्र द्वारा 5 अगस्त, 2020 को आयोजित 'भूमि पूजन' के अवसर पर ख़ुद श्री राम के कुल देवता रूप में भगवती काली की विशेष पूजा का प्रसारण तो हम सब ख़बरिया चैनलों के ज़रिये स्वयं ही देख चुके हैं। मगर, ग़ौर करने की एक बात यह भी है कि सदियों से कुछ मैथिल परिवार अपने यहाँ कुल देवता रूप में महाविद्या तारा की ही नियमित स्थापना और उपासना करते आए हैं। जैसे प्रख्यात विद्वान महामहोपाध्याय गंगानाथ झा और डॉ. अमरनाथ झा के मूल कुल 'पलिवार महिषी' से संबद्ध मैथिल गृहस्थों की गोसांउनि तारा ही रही आई हैं। ध्यान दें कि सहरसा जिले से लगभग 18 किलोमीटर की दूरी पर स्थित महिषी गाँव को मिथिला में देवी उग्रतारा की एकमात्र पीठस्थली के लिए भी जाना जाता है। कहना होगा कि हिंदुस्तान में देवी उग्रतारा के मंदिर कम ही हैं। हमें अधिकतर नेपाल और तिब्बत में ही महाचीनातारा रूप से देवी के इस उग्र स्वरूप की प्रतिष्ठा मंदिरों या फिर बौद्ध मठों में की गई दिखती है। मिसाल के लिए नेपाल की काठमांडू घाटी में

[22] शंकर दयाल सिंह (1986) : 56.

[23] इंद्र नारायण झा (1984) : 39.

स्थित संखु के वज्रयोगिनी मंदिर में देवी अपने उग्रतारा रूप में प्रतिष्ठित मिलती हैं। वैसे, नेपाल की सीमा से ही सटे सहरसा के गाँव महिषी में तमाम निवासी न केवल देवी उग्रतारा को आठवीं सदी के सुविख्यात स्थानीय दार्शनिक मण्डन मिश्र की गोसांउनि और आराध्या मानते आए हैं। बल्कि, मिथिला के इस प्रसिद्ध तीर्थस्थल में स्थापित देवी उग्रतारा की प्रतिमा का संबंध राम के कुलगुरु ऋषि वशिष्ठ से भी जोड़ा जाता है।

3.

गोरखपुर के गीताप्रेस की प्रसिद्धि के बारे में तो हम सब जानते ही हैं, दशकों से छपे हुए धार्मिक साहित्य को घर-घर पहुँचाने में हिंदी पट्टी के इस विख्यात प्रकाशन गृह की क्या और कैसी भूमिका रही है यहाँ उसे दोहराने की ज़रूरत शायद नहीं है। पिछले कई सालों से यही गीताप्रेस *दशमहाविद्या* शीर्षक से एक 24 पेजी पुस्तिका का प्रकाशन भी लगातार कर रहा है। गीताप्रेस ने पंद्रह रुपये मूल्य की इस सचित्र पुस्तिका को अपने दूसरे प्रकाशनों से अलग चिह्नित करने के लिए इसका कोड 1278 निर्दिष्ट किया है। प्रेस द्वारा अब तक इस पुस्तिका की लाखों प्रतियों को अपने हिंदी पाठकों के लिए मुद्रित किया जा चुका है। संवत 2073 (या 2016-2017 ईस्वी) में कुल 8000 प्रतियों के साथ इस पुस्तिका का 'पचीसवाँ पुनर्मुद्रण' प्रकाशित किया गया। पुस्तिका के शीर्षक और मूल्य से भी यह आभास होता है कि इसका प्रकाशन ख़ासकर मध्यम और निम्न आय वर्ग के उन हिंदी पाठकों को ध्यान में रख कर किया गया है जो महाविद्या समूह की असाधारण तांत्रिक शक्तियों के बारे में जानने के विशेष इच्छुक हो सकते हैं। साथ ही, हिंदी पट्टी के दशमहाविद्या उपासकों की सुविद्या का ध्यान रखते हुए प्रेस ने 'मुण्डमालतंत्र' में वर्णित 'महाविद्यास्तोत्र' को भी पुस्तिका के 23 वें और आख़िरी पृष्ठ पर प्रकाशित किया है।

हमारे इस मौजूदा अध्ययन के लिहाज़ से 'तारा' शीर्षक के साथ गीताप्रेस की *दशमहाविद्या* पुस्तिका में छपे दूसरे अध्याय का ख़ास महत्त्व है। क्योंकि, भगवती तारा के स्वरूप, उनके तीन रूपों, और तांत्रिक उपासना पद्धति आदि का एक संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत करने के अलावा इस अध्याय में हिंदी पाठकों को उग्रतारा पीठ संबंधी एक महत्त्वपूर्ण जानकारी भी दी गई है। पुस्तिका का 'पाठ' बताता है कि, 'बिहार के सहरसा जिले में प्रसिद्ध 'महिषी' ग्राम में उग्रतारा का सिद्धपीठ विद्यमान है। वहाँ तारा, एकजटा तथा नीलसरस्वती की तीनों मूर्तियाँ एक साथ हैं। मध्य में बड़ी मूर्ति तथा दोनों तरफ़ छोटी मूर्तियाँ हैं। कहा जाता है कि महर्षि वशिष्ठ ने यहीं तारा की उपासना करके सिद्धि प्राप्त की थी।'[24] स्पष्ट है कि पुस्तिका का यह पाठ महिषी में महर्षि वशिष्ठ द्वारा तांत्रिक देवी तारा की उपासना करके सिद्धि लाभ करने जैसी लोकव्यापी मान्यता के आधार पर यहाँ स्थित उग्रतारा स्थान को एक 'सिद्धपीठ' का दर्जा देता है। हालाँकि, आसाम और बंगाल में भी स्थित देवी तारा के कुछ दूसरे पीठ या

[24] देखें, दशमहाविद्या, संवत 2073 : 5.

तीर्थ स्थल ठीक ऐसी ही मान्यता के कारण हिंदुस्तान भर में विख्यात हैं। मगर हम पाते हैं कि पुस्तिका के पाठ में उनका कोई उल्लेख नहीं किया गया है। फिर पुस्तिका के इस पाठ का एक दूसरा रोचक पहलू यह भी है कि इसमें शेष नौ महाविद्याओं के किसी अन्य पीठ या संबद्ध तीर्थ स्थल का भी ज़िक्र नहीं मिलता। इस सबके बावजूद, हिंदी पट्टी के विशेष संदर्भ में गीताप्रेस की इस सचित्र धार्मिक पुस्तिका में छपा महिषी के उग्रतारा सिद्धपीठ का उपरोक्त वर्णन क्यों महत्त्व रखता है(?), यह समझना क़तई मुश्किल नहीं। दूसरे शब्दों में कहें तो पुस्तिका के हवाले से भी यह साफ़ है कि हम हिंदी पट्टी के पटल पर एक बेहद महत्त्वपूर्ण तीर्थ स्थल के रूप में महिषी के उग्रतारा पीठ को स्थापित मान ले सकते हैं।

दूसरी तरफ़, मानवशास्त्री माखन झा मिथिला के तमाम शाक्त-तांत्रिक सिद्धपीठों के बारे में यह लिखते हैं कि : 'शाक्त मत से जुड़े इन पवित्र केंद्रों के नामों और अवस्थिति से हमें यह भास होता है कि ये बड़ी संख्या में मिथिला क्षेत्र में फैले हुए हैं, और मिथिला के लोगों की गहरी आस्था और विश्वास शक्ति संप्रदाय में है।'[25] हालाँकि, माखन झा और उनके सहयोगियों ने 1980 के मध्य में मिथिला के कई प्रमुख देवी स्थानों या शक्तिपीठों का मानवशास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत किया है।[26] मगर, अपने विभिन्न शोधपरक आलेखों में महिषी के उग्रतारा पीठ का उल्लेख भर कर देने के अलावा इस महत्त्वपूर्ण धार्मिक केंद्र का कोई व्यवस्थित अध्ययन वे पेश नहीं करते हैं।[27] इस गंभीर अकादमिक कमी को दूर करने की दिशा में पहला सुव्यवस्थित प्रयास हमें गंगानाथ झा द्वारा हालिया प्रकाशित 'बिहार का मंडन-उग्रतारा तीर्थ स्थान : एक मानवशास्त्रीय अध्ययन' शीर्षक आलेख में दिखता है।[28] परंतु सांस्कृतिक समन्वय के संदर्भ में प्रस्तुत गंगा नाथ झा के इस शोधपरक आलेख की कुछ प्रमुख कमियों और सीमाओं को भी हम यहाँ साथ ही रेखांकित कर सकते हैं।

असल में 1950 के दशक से प्रारंभ हुए व्यवस्थित मानवशास्त्रीय अध्ययनों की बात करें तो देशी-विदेशी अध्येताओं ने कई धार्मिक स्थलों पर केंद्रित अपने आलेख प्रकाशित किए। इसके बाद एल. पी. विद्यार्थी की प्रविधियों का इस्तेमाल करते हुए 1960 के दशक से माखन झा को हम पहले जनकपुर और फिर रतनपुर के धार्मिक संकुलों का व्यवस्थित अध्ययन प्रस्तुत करते हुए देखते हैं। एल. पी. विद्यार्थी और माखन झा की ही स्थापित परंपरा का अनुसरण करते हुए गंगा नाथ झा भी महिषी के धार्मिक केंद्र को एक विशेष धार्मिक खंड और वृहत्तर धार्मिक भूगोल का हिस्सा मानते हुए यहाँ बौद्ध एवं हिंदू धर्म-संस्कृतियों के परस्पर समन्वय की विवेचना प्रस्तुत करते हैं। अपने विद्वत्तापूर्ण आलेख में गंगा नाथ झा महिषी के उग्रतारा तीर्थ की पहचान एक ऐसे 'आदिम पीठ' के रूप में करते हैं, जिसकी स्थापना के बाद 'इस क्षेत्र में अनेक सिद्धपीठों की स्थापना हुई'। साथ ही वे मौजूदा उग्रतारा मंदिर में प्रचलित

[25] माखन झा के मूल अंग्रेज़ी पाठ का हिंदी अनुवाद यहाँ लेखक द्वारा किया गया है.

[26] माखन झा (1982) : 83.

[27] माखन झा (1985).

[28] गंगानाथ झा (2005) : 121-139.

तांत्रिक पूजा की परंपरा को इस क्षेत्र के पाल कालीन बौद्ध इतिहास से भी जोड़ कर देखते हैं।[29] हालाँकि, इस शोधपरक आलेख की आलोचनात्मक परीक्षा करते हुए हम पाते हैं कि अव्वल तो ऋषि वशिष्ठ से संबंधित बेहद महत्त्वपूर्ण अनुश्रुति की इसमें पूरी तरह से अनदेखी की गई है। फिर विद्यार्थी की शोध प्रविधि और नमूने का अनुसरण करने के दौरान मानवशास्त्री गंगानाथ झा कई जटिल ऐतिहासिक परिघटनाओं का यथोचित विश्लेषण प्रस्तुत नहीं कर सके हैं। सबसे बड़ी कमी तो यह कि झा का अध्ययन उन तमाम ऐतिहासिक प्रक्रियाओं, परिस्थितियों और शक्तियों के बारे में भी कोई नई जानकारी हमें नहीं देता, जिनके सम्मिलित प्रभावों के परिणामस्वरूप मिथिला के सार्वजनिक या आम धार्मिक जीवन में हिंदू महाविद्या रूप से तारा की तांत्रिक उपासना का दाख़िला संभव हो सका।

आधुनिक मिथिला के धार्मिक इतिहास पर शाक्त मतावलंबियों और ख़ासकर तारा उपासकों का कैसा असर रहा है इस बात की ओर अपने आलेख में हम तमाम विवरणों के ज़रिये पहले भी इशारा करते आए हैं। ज़ाहिर है कि हिंदी पट्टी के इस विशिष्ट भू-सांस्कृतिक परिक्षेत्र में मातृ रूप से शक्ति की उपासना का एक लंबा इतिहास रहा है। फिर मैथिल ब्राह्मणों के व्यक्तिगत और पारिवारिक जीवन में भी दृष्टिगत होने वाली शाक्त-तांत्रिक उपासना का स्वरूप हमें परिक्षेत्र की धार्मिकता को न सिर्फ़ रोज़मर्रा के संदर्भ में समझने की सहूलियत देता है। बल्कि, इसके माध्यम से हमने यह भी समझने का प्रयास किया कि कैसे काली और तारा जैसी तांत्रिक दशमहाविद्या समूह की देवियाँ अनेक मैथिल गृहों में सदियों से पुरुषों और महिलाओं द्वारा समान रूप से पूजी जाती रही हैं। लेकिन एक बेहद महत्त्वपूर्ण सवाल जो अब तक अनुत्तरित रहा आया है वो यह कि, व्यक्तिगत साधना में इष्ट रूप से या कई कुल मूलों में गोसांउनि रूप से भी उपास्य रही भगवती तारा 'कब' और 'कैसे' एक निजी धार्मिक क्षेत्र का अतिक्रमण कर मिथिला के सार्वजनिक या आम धार्मिक जीवन में प्रविष्ट हो जाती हैं ? कहना नहीं होगा कि हम विवेचना के माध्यम से आगे इसी बुनियादी प्रश्न का जवाब तलाशने की कोशिश करेंगे।

4.

हिंदू देवता सिर्फ़ अवतार ही नहीं बल्कि प्रतिमा रूप में भी प्राप्य या सुलभ होते हैं। मंदिरों और तीर्थों में उपास्य रूप से उपलब्ध विभिन्न देव प्रतिमाएँ भक्तों या दर्शनार्थियों का न सिर्फ़ उनके इष्ट से एक नज़दीकी रिश्ता जोड़ती और मज़बूत किया करती हैं। बल्कि पूजा के क्रम में गहनतम भावोद्गारों की बाह्य अभिव्यक्ति भी इन्हीं के कारण संभव हो पाती है।[30] शायद इसलिए भी वर्ष 2014 के जुलाई महीने में संपन्न अपने फ़ील्ड अध्ययन के दौरान जब मैं पहली दफ़ा महिषी स्थित उग्रतारा तीर्थ पहुँचा तो जिस चीज़ ने सबसे पहले यहाँ मेरा ध्यान आकृष्ट किया वो मंदिर से बिल्कुल क़रीब ही लगे कुछ विज्ञापन होर्डिंग थे।

[29] गंगानाथ झा (2005) : 130-131.

[30] डायना. एल. एक्क (1981), (2007) : 46.

दरअसल, सीमेंट ब्रांड एसीसी के फाउंडेशन टू रूफ़ (यानी एफ2आर) प्रोडक्ट का विज्ञापन करते और आस-पास ही लगाए गए ये कुल दो होर्डिंग साधारण नहीं मालूम होते थे। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि जैसे मिथिला के इस प्रसिद्ध तीर्थ स्थल में दूर-दूर से आने वाले श्रद्धालुओं का ध्यान रख कर कंपनी द्वारा इन्हें विशेष तौर से बनवाया गया हो। क्योंकि इन दोनों विज्ञापन होर्डिंगों पर न किसी स्थानीय दुकानदार का नाम या पता छापा गया था और न किसी बड़े वितरक का। लेकिन महिषी पीठ में स्थापित तारा मूर्ति की तस्वीर और सीमेंट कंपनी के अपने ब्रांड लोगो के अतिरिक्त इन विज्ञापन होर्डिंगों में से एक पर दुर्गा मंत्र और दूसरे पर दुर्गा स्तुति को हिंदी में प्रमुखता से छापा गया था। साफ़ ज़ाहिर था कि उन दोनों होर्डिंगों पर महाविद्या तारा की पहचान पौराणिक देवी दुर्गा के रूप में की जा रही है। इनको देखने के बाद बतौर एक शोधार्थी ज़ेहन में यह सवाल उठना भी लाज़िमी था कि अपने आर्थिक हित साधने के लिए प्रयासरत एक व्यावसायिक समूह ऐसा कैसे कर रहा है? क्या दुर्गा रूप में देवी उग्रतारा की शिनाख़्त इन विज्ञापनों में भूलवश की गई थी? या कि अश्विन नवरात्र पूजा के बड़े जुटान को नज़र में रख कर लगाए गए ये दोनों व्यावसायिक विज्ञापन भी उस ख़ास अवसर पर दूर-दराज से यहाँ आने वाले आम दर्शनार्थियों के ही धार्मिक दृष्टिकोण को प्रतिबिंबित कर रहे थे?

स्थानीय सूत्रों से पता चला कि महिषी के इस तीर्थ में अश्विन नवरात्र के दौरान शक्ति स्वरूपा देवी उग्रतारा की विशिष्ट पूजा-अर्चना की एक लंबी परंपरा सदियों से चली आ रही है। दरभंगा राज के दिनों में तो कुछ राजा स्वयं भी नवरात्र की पूरी अवधि यहीं बिताते हुए देवी की इस पूजा में श्रद्धापूर्वक भागीदारी किया करते थे। आजकल हर नवरात्र यहाँ होने वाली विशेष पूजा, मंदिर प्रांगण में किए जाने वाले *दुर्गा सप्तशती* पाठ, और कुमारी भोजन जैसे आयोजनों में महिषी तथा आसपास के ग्रामवासियों और बाहर से आने वाले तीर्थ यात्रियों की भी भागीदारी बड़ी संख्या में हुआ करती है। साथ ही, महिष-मर्दिनी दुर्गा के संबंध से इस प्राचीन गाँव का नाम 'महिष्मती' पड़ने और कालांतर में उसके 'महिषी' रूप में प्रचलित होने जैसी एक रूढ़िबद्ध धारणा भी जानने में आई।[31]

महाकवि विद्यापति ठाकुर (1374-1460) के लिखे दुर्गोत्सव पद्धति से संबंधित संस्कृत ग्रंथ *दुर्गाभक्तितरंगिणी* का मिथिला और बंगाल दोनों में ही एक समान आदर और प्रभाव है। हालाँकि, कुछ लोग आज भी यह मानते हैं कि बंगाल के रघुनंदन भट्टाचार्य (15वीं-16वीं सदी) ही वो पहले व्यक्ति थे जिन्होंने मध्यकाल में तांत्रिक पद्धति से दुर्गोत्सव की प्रवर्तना की। मगर इस प्रचलित मान्यता का खंडन करते हुए मैथिल इतिहासकार यह तर्क देते हैं कि रघुनंदन के दौर से भी पहले मिथिला और दूसरी जगहों पर लिखे गए कुछ ग्रंथों में इस पूजा पद्धति का विस्तृत वर्णन हमें मिलता है ।[32] जो भी हो इतना तो तय है कि पंद्रहवीं सदी में महाकवि विद्यापति द्वारा अपने आश्रयदाता ब्राह्मण राजवंश के निर्देश पर प्रस्तुत *दुर्गाभक्तितरंगिणी* की

[31] इंद्र नारायण झा (1984) : 184.

[32] उपेंद्र ठाकुर (1964) : 32.



महिषी में भगवती उग्रतारा की शिनाख़्त दुर्गा रूप में करता एसीसी सीमेंट कंपनी का एक विज्ञापन।

तांत्रिक पद्धति के अनुरूप ही नवरात्रि के दौरान मिथिला में दुर्गा की पूजा होती आई है। पर दुर्गोत्सव पद्धति संबंधित इस ग्रंथ की दीर्घकालीन मैथिल स्वीकृति को हम ऐतिहासिक दृष्टि से कैसे देख और समझ सकते हैं? असल में इस वृहत नैबंधिक ग्रंथ के परिवर्तन-मूलक विधानों की तांत्रिक मैथिल शाक्तों द्वारा आम स्वीकृति पर रौशनी डालते जयधारी सिंह यह साफ़ सुझाते हैं कि, 'पूर्व-मीमांसकों से अथवा स्मार्त आचार्यों से डरकर तांत्रिक साधक वृंद [ने] ऐसे समन्वयों की स्थापना की कि वामोपचार की अतियों से बचते हुए तांत्रिक विचारों की तथा कुछ अंश तक तांत्रिक आचारों की भी रक्षा संभव हो सके।'[33] कतिपय ऐतिहासिक समन्वयों के बारे में सिंह की यह महत्त्वपूर्ण उक्ति उस वक़्त और भी मौजूँ लगने लगती है जब हम महिषी उग्रतारा पीठ के पुरोहित द्वारा लिखे और प्रकाशित *श्री उग्रतारा माहात्म्य दर्शन* जैसे एक निहायत अहम 'पाठ' को दृष्टिगत करते हैं।

हम जानते हैं कि संस्कृत वाङ्मय में तीर्थ माहात्म्यों का एक महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। ऐसे सभी माहात्म्य ग्रंथ अपने संस्कृत पाठकों के निमित्त विभिन्न तीर्थों से संबंधित उत्पत्ति कथाओं, पवित्र स्थलों, देवी-देवताओं, पूजा और आचार पद्धतियों आदि का संकलन प्रस्तुत करते आए हैं। धार्मिक पहलू से इन ग्रंथों की ख़ासी अहमियत होने के अलावा ऐतिहासिक अध्ययनों की दृष्टि से भी इनका काफ़ी महत्त्व होता है। पर अक्सर कुछ विशेष तीर्थों या धर्मस्थलों से संबंधित प्राचीन संस्कृत ग्रंथ नहीं भी मिलते हैं। ऐसी परिस्थिति में या दीगर वजहों से भी संचालित होकर कई बार अर्वाचीन धार्मिक विशेषज्ञ अपनी ओर से किन्हीं माहात्म्य ग्रंथों की अवतारणा किया करते हैं। बहुधा ऐसे माहात्म्य छापे की शक्ल और एक सस्ते पुस्तिकाकार

[33] जयधारी सिंह (1979) : 147.

संस्करण में तीर्थ यात्रियों के लिए काफ़ी कम क़ीमत पर उपलब्ध हुआ करते हैं। कहना नहीं होगा कि सस्ती छपाई, आधुनिक भाषा में निबद्ध होने, और एक अर्वाचीन धार्मिक विशेषज्ञ द्वारा प्रस्तुत किए जाने पर भी इन नवीन माहात्म्यों की अपनी धार्मिक अहमियत कम नहीं होती। साथ ही इनका शोध-संबंधी वास्तविक मूल्य भी इनकी कम क़ीमतों से क़तई निर्धारित नहीं होता।

बहरहाल, तीर्थ यात्रियों के लिए ख़ालिस हिंदी में प्रकाशित *श्री उग्रतारा माहात्म्य दर्शन* की अगर हम बात करें तो पुस्तिका के लेखक-प्रकाशक तीर्थानंद झा उर्फ़ बच्चा जी इसके 'प्राचीन धर्मग्रंथों, देवी पुराण, इतिहास, बौद्ध धर्मग्रंथ आपण निकाय (?), परंपरागत लोक कथा और वर्तमान साक्ष्य के आधार पर' लिखे जाने का दावा करते हैं।[34] दिलचस्प बात यह है कि शक्ति तत्त्व की दृष्टि से परस्पर संबद्धता होने पर भी माहात्म्य का अपना 'पाठ' दुर्गा सप्तशती में वर्णित नवदुर्गाओं और तांत्रिक दसमहाविद्याओं को एकरूप या एकमेक करके नहीं देखता : '।।।दसमहाविद्या तत्त्व वास्तव में नवदुर्गा तत्त्व का पूर्वार्द्ध है'; तथा, 'दसमहाविद्या सृष्टि की भोगाभिमुखी शक्ति है और नवदुर्गा मुक्ति अभिमुखी शक्ति है।'[35] स्पष्ट है कि एसीसी सीमेंट कंपनी द्वारा महिषी में लगाए गए विज्ञापनों के उलट माहात्म्य का यह रोचक पाठ दुर्गा तत्त्व की यहाँ न सिर्फ़ अलग से पहचान कर रहा है, बल्कि महाविद्या तत्त्व की प्रतिष्ठा भी यह 'भोगाभिमुखी शक्ति' (या प्रकारांतर से भोगप्रदायनी देवियों) के रूप में करने का प्रयास करता है। हालाँकि, महाविद्याओं के एक ही साथ 'भुक्ति-मुक्ति प्रदायनी' दोनों होने की मान्यता भी पूर्ण स्वीकृत है। फिर, महाविद्या तारा के तो विशेष रूप से एक मुक्तिदायिनी देवता होने की व्यापक मान्यता है। मगर विरोधाभासों में न उलझते हुए यहाँ हमें शायद इस बात पर ही तवज्जो देनी चाहिए कि माहात्म्य का अपना दृष्टिकोण क्या इसके लक्षित पाठक वर्ग की अपेक्षाओं से तो निर्धारित नहीं हो रहा है?

स्वाभाविक रूप से माहात्म्य के लक्षित पाठक विभिन्न जातियों और वर्गों से जुड़े वो आम तीर्थयात्री और दर्शनार्थी हैं जो हिंदी पट्टी के तमाम हिस्सों से इस प्रसिद्ध देवी स्थान पर अपनी समस्त लौकिक-अलौकिक कामनाओं से जुड़ी याचनाएँ लिए हाज़िर होते हैं। अतः सभी तीर्थ यात्रियों और दर्शनार्थियों को एक साथ लक्षित करता माहात्म्य का यह बहुस्तरीय पाठ हमें एक तरफ़ तो दुर्गा तत्त्व से भिन्न भोगाभिमुखी शक्तियों के रूप में महाविद्या तत्त्व की प्रतिष्ठा करता दिखता है। वहीं दूसरी तरफ़, ख़ुद शिव पत्नी सती की कथा और उनके ही श्रीमुख से निःसृत वचनों के माध्यम से यही पाठ देवी तारा सहित बाक़ी सभी महाविद्याओं की उपासना को अभीष्ट उपलब्धि; पुरुषार्थ चतुष्ट्य यानी धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति; और, मारण, मोहन, उच्चाटन आदि तांत्रिक षट्कर्मों तक में सिद्धि देने वाला भी बताता है।[36] दरअसल, *महाभागवत* और *बृहदधर्म-पुराण* में वर्णित दसमहाविद्याओं की उत्पत्ति-कथा के

[34] तीर्थानंद झा : 'प्रस्तावना'.

[35] तीर्थानंद झा : 21.

[36] तीर्थानंद झा : 22-23.

ही तर्ज़ पर माहात्म्य के पाठ में भी यज्ञ के अवसर पर पिता दक्ष के घर जाने को आतुर हुई सती अपने पति शिव द्वारा रोके जाने से क्रुद्ध हो कर उनके समक्ष दसमहाविद्या स्वरूप का प्रदर्शन करती हैं। माहात्म्य के कथाक्रम में उक्त 'महादर्शन' से भयाक्रांत हुए शिव द्वारा इन दसों देवियों की उपासना का महत्त्व पूछने पर उपरोक्त फलश्रुति का वर्णन स्वयं सती मुख से किया गया है। वैसे महिषी स्थित उग्रतारा स्थान का जहाँ तक प्रश्न है तो माहात्म्य का पाठ इसे एक ही साथ 'शक्तिपीठ', 'सिद्धपीठ', और 'तंत्रपीठ' के रूप में प्रस्तुत करता दिखता है।

असल में, शक्तिपीठों के उद्भव के संबंध में यह पौराणिक कथा प्रसिद्ध है कि सतयुग में किसी समय प्रजापति दक्ष ने बृहस्पति नाम के यज्ञ का आयोजन किया। इसमें उन्होंने अपनी पुत्री सती और जामाता शिव को छोड़कर बाक़ी सभी देवगणों और ऋषियों को आमंत्रित किया। पिता के यज्ञ की ख़बर सुन कर शिव के मना करने पर भी सती अपने पितृगृह पहुँची, किंतु दक्ष ने सती का स्वागत करने के बजाय उनके पति शिव की निंदा करना प्रारंभ कर दिया। तब दक्ष के मुँह से पति शिव की निंदा सुनकर अत्यंत क्रोधित हुई सती ने यज्ञ की अग्नि में ही कूद कर अपने प्राण त्याग दिए। उधर नारद और गणों से सती की मृत्यु का वृत्तांत सुन कर रौद्र रूप में आए शिव भी दक्ष के यहाँ पहुँचते हैं। यहाँ वे परिजनों सहित दक्ष को मार कर उस यज्ञ का विध्वंस कर देते हैं। इसके बाद मृत सती की देह को कंधे पर लिए शोकमग्न शिव उद्धत भावदशा में निरर्थक विचरण करने लगते हैं। शिव के इस अस्वाभाविक व्यवहार से पैदा हुई अव्यवस्था की स्थिति को समाप्त करने के लिए स्वयं विष्णु अपने सुदर्शन चक्र से सती के अंग-प्रत्यंगों को अनेक टुकड़ों में काट देते हैं। सती के कटे हुए शरीरावयव और आभूषण धरती पर जहाँ-जहाँ गिरे, वहाँ-वहाँ शक्तिपीठों की प्रतिष्ठापना होने जैसी एक लोकव्यापी मान्यता है। *देवी भागवत* में एक सौ आठ ऐसे पीठों का उल्लेख मिलता है। परंतु अलग-अलग ग्रंथों में इन शक्तिपीठों की संख्या और नाम के लिहाज़ से एकरूपता प्रायः नहीं दिखती।[37] जो भी हो पर आम जनमानस में यह धारणा दृढ़ है कि इन तमाम शक्तिपीठों में देवी ख़ुद अपने एक भैरव के साथ भक्तों के लिए पाषाणमयी मूर्ति के रूप में अवस्थान करती है। हालाँकि, महिषी को शक्तिपीठ बताता 'श्री उग्रतारा माहात्म्य दर्शन' का पाठ यह दावा करता है कि, 'भगवती उग्रतारा की प्रतिमा वहाँ पर है, जहाँ भगवती सती का वामनेत्र (तारा) का निपात हुआ था।' मगर, माहात्म्य के इस दावे की पुष्टि शक्तिपीठों का नामोल्लेख करने वाले किसी भी अन्य ग्रंथ से नहीं होती। शायद इसलिए भी एक 'सिद्धपीठ' के रूप में महिषी के उग्रतारा तीर्थ की पहचान कहीं ज़्यादा महत्त्वपूर्ण हो जाती है।

हम जानते हैं कि गीताप्रेस द्वारा प्रकाशित *दशमहाविद्या* पुस्तिका का पाठ महिषी में ऋषि वशिष्ठ के द्वारा देवी तारा की उपासना और सिद्धि लाभ करने की लोकव्यापी मान्यता के आधार पर यहाँ स्थित उग्रतारा स्थान को एक 'सिद्धपीठ' का दर्जा देता है। साथ ही हम इस तथ्य से भी वाकिफ़ हैं कि मानवशास्त्री गंगा नाथ झा द्वारा प्रकाशित उग्रतारा तीर्थ के हालिया

[37] राजेंद्र प्रसाद भट्ट (1980) : 149.

अध्ययन में ऋषि वशिष्ठ से संबंधित इस बेहद महत्त्वपूर्ण अनुश्रुति को पूरी तरह अनदेखा किया गया है। हालाँकि, 2014 में इस तीर्थ स्थल का अध्ययन करने के दौरान मैंने पाया कि यहाँ न सिर्फ़ आगंतुक दर्शनार्थियों की आम सूचना हेतु मंदिर के मुख्य प्रवेश-द्वार पर ही 'वशिष्ठाराधिता श्री उग्रतारा शक्तिपीठम्' जैसा एक स्पष्ट उल्लेख लिखा दिखता है। बल्कि, उसी प्रवेश द्वार के ठीक सामने स्थित 'वशिष्ठ-आश्रम' में ऋषि वशिष्ठ की एक ध्यान मुद्रा में बैठी प्रतिमा भी अर्चना के निमित्त स्थापित है। फिर ऋषि वशिष्ठ और उनके ही द्वारा आराधित मानी जाने वाली देवी तारा की मूर्ति के संदर्भ में एक बेहद रोचक आख्यान माहात्म्य का पाठ भी प्रस्तुत करता है।

श्री उग्रतारा माहात्म्य दर्शन का पाठ कहता है कि ब्रह्मर्षि वशिष्ठ को लोकपितामह ब्रह्मा से गायत्री मंत्र की दीक्षा प्राप्त हुई जिसके बाद इस मंत्र का जप और तपश्चर्या करते हुए उन्हें कई सिद्धियाँ मिलती चली गईं। फिर एक दिन वशिष्ठ ने योगबल से देखा कि ख़ुद ब्रह्मा वर्षों से किसी और ही शक्ति का जप तथा ध्यान करते आ रहे हैं। वशिष्ठ इस अलौकिक शक्ति का रहस्य जानने की इच्छा से ब्रह्मलोक पहुँचते हैं। वहाँ वशिष्ठ की जिज्ञासा सुनने के पश्चात ब्रह्मा उन्हें बताते हैं कि वो दस महाविद्याओं में द्वितीया यानी आदिशक्ति तारा की सतत उपासना करते हुए उन्हीं के अनुग्रह से चौदह भुवनों की रचना और चारों वेदों की व्याख्या किया करते हैं। उनके अलावा विष्णु और शिव भी तारा की ही कृपा से तत्त्व ज्ञान पा कर सृष्टि के उपरांत जगत का पालन तथा प्रलय काल में इसका संहार किया करते हैं। स्वयं सृष्टिकर्ता ब्रह्मा के मुख से महाविद्या तारा की महिमा का ऐसा बखान सुन कर वशिष्ठ भी तारा विद्या की सिद्धि के इच्छुक हो जाते हैं। और ब्रह्मा से ही बीजमंत्र पा कर ऋषि वशिष्ठ तारा साधना के लिए असम के कामगिरी पर्वत पहुँचते हैं। यहाँ वर्षों तक सात्विक विधि से तपस्या और जप करने के बाद भी जब कोई परिणाम नहीं निकलता तो वशिष्ठ एक बार फिर ब्रह्मा के पास जाकर उन्हें अपनी विफलता के बारे में बताते हैं। इस पर ब्रह्मा उन्हें शांत चित्त से तारा समाराधना जारी रखने का उपदेश देकर वापस साधना स्थल लौट जाने को कहते हैं। पुनः कामगिरी आ कर वशिष्ठ पूरी तन्मयता से साधना में जुट जाते हैं। मगर काफ़ी समय बीतने पर भी जब तारा विद्या की सिद्धि उन्हें नहीं होती तो क्रोध में आ कर ऋषि वशिष्ठ तारा के बीज मंत्र को ही शाप दे बैठते हैं। वशिष्ठ के इस कृत्य से संपूर्ण सृष्टि में हाहाकार मच जाता है। सभी देवगण ब्रह्मा के पास पहुँचकर उनसे तत्काल तारा विद्या को ऋषि के शाप से छुड़ाने की प्रार्थना करते हैं। जिसके बाद ब्रह्मा भी वशिष्ठ को बुला कर अविलंब तारा बीज के शाप मोचन का आदेश देते हैं। इसी समय वहाँ उपस्थित शिव ऋषि वशिष्ठ की कमियाँ उजागर करने के बाद उन्हें तारा की तांत्रिक साधना सीखने के लिए मिथिला जा कर विदेह जनक को अपना गुरु बनाने का सुझाव देते हैं। तब तारा बीज का शापोद्धार करने के उपरांत तंत्रदीक्षा और उचित मार्गदर्शन पाने के लिए वशिष्ठ जनक के पास पहुँचते हैं। गुरु के रूप में जनक मिथिला में उनका पूर्णाभिषेक और यथेष्ट मार्गदर्शन करते हैं। फिर जनक चीनाचार पटल से तारा सिद्धि और दर्शन-लाभ के लिए वशिष्ठ को महाचीन (तिब्बत) में अघोर-रूद्र रूपी बुद्ध-विष्णु के पास



उग्रतारा मंदिर का मुख्य प्रवेश द्वार जहाँ देवी मूर्ति के वशिष्ठ आराधित होने का उल्लेख मिलता है

जाने का निर्देश देते हैं। हिमालय के पार्श्व में स्थित महाचीन पहुँचने पर जब ऋषि वशिष्ठ को अघोर रूपी बुद्ध-विष्णु के दर्शन का लाभ मिलता है तो वे देखते हैं कि अनेक कामातुर सुंदरियों से घिरे बुद्ध-विष्णु सुरापान में रत हैं। निर्बाध विलास का ऐसा दृश्य देखते ही वशिष्ठ के मन में बुद्ध-विष्णु के प्रति गहन शंका उत्पन्न होती है। उसी समय एक आकाशवाणी के माध्यम से स्वयं देवी तारा वशिष्ठ को यह सूचित करती हैं कि वास्तव में वो वाममार्ग की इसी चीनाचार पद्धति से प्रसन्न होती हैं और उनकी साधना का रहस्य तथा आचार पृथ्वी पर सिर्फ़ अघोर रूप बुद्ध-विष्णु ही जानते हैं। इसलिए अकारण इधर-उधर भटकने के बजाय बुद्ध-विष्णु से समुचित मार्गदर्शन प्राप्त कर अगर ऋषि वशिष्ठ उनकी समाराधना करें तो ही वे उन पर प्रसन्न होंगी। इस आकाशवाणी को सुन कर वशिष्ठ के हृदय में आस्था जगती है और वे बुद्ध-विष्णु के समीप जा पहुँचते हैं। पहले तो ऋषि वशिष्ठ अघोर रूपी बुद्ध-विष्णु से एक अनार्ष और दुरूह आचार-क्रिया को ले कर अपने भीतर जारी द्वंद्व का ज़िक्र करते हैं। किंतु बुद्ध-विष्णु उन्हें समझाते हैं कि भय, लज्जा, ग्लानि और घृणा आदि अष्टपाशों को त्यागकर पंचमकारों का सेवन करते हुए अघोर क्रिया करना ही मौलिक रूप से चीनाचार है। फिर सप्ताक्षरी तारा मंत्र की दीक्षा देने के साथ ही बुद्ध-विष्णु ऋषि वशिष्ठ को अघोर क्रम में श्मशान साधना, शव साधना, और चिता साधना के पटल भी सिखाते हैं। इसके बाद महाचीन में ही वाममार्गी और चीनाचार की विधियों से तारा साधना में रत हुए वशिष्ठ को एक रात भगवती का महादर्शन उपलब्ध होता है। इसी समय वशिष्ठ स्वयं पर प्रसन्न हुई देवी तारा से वरदान रूप में नित्य के चीनाचार और चक्रपूजा में सहगामिनी होने का निवेदन करते हैं। तारा वशिष्ठ को इस शर्त के साथ उनका यह इच्छित वर प्रदान करती हैं कि जिस क्षण वे भय, लज्जा, ग्लानि तथा घृणा आदि किसी भी अष्टपाश में आबद्ध होंगे तत्काल ही देवी मानवी स्वरूप का त्याग कर

शिलामयी रूप से जगत पूजिता हो जाएँगी। इस सिद्धि के पश्चात् शक्ति रूप में तारा को साथ लिए वशिष्ठ तत्कालीन महिषी पहुँचते हैं। यहाँ भगवती की प्रेरणा से वे उसी स्थान पर अपना आश्रम निर्मित करते हैं जहाँ पहले सती के वामनेत्र का निपात हुआ था। ऋषि वशिष्ठ अपने इस आश्रम में दिवा जप तथा हवन और रात्रि में पंचमकार (यानी मद्य, मीन, मांस, मुद्रा, और मैथुन) से संयुक्त चीनाचार विधि से तारा को प्रसन्न करते हैं। लेकिन वशिष्ठ के ऐसे अनार्ष कर्मकांड देख दूसरे ऋषि उनसे घृणा करने लगते हैं। फिर एक दिन जब वशिष्ठ अपने आश्रम में देवी को मद्य अर्पित कर रहे होते हैं उसी दौरान बाहर एकत्रित कुछ ऋषिगण उनके कृत्यों पर टीका-टिप्पणी करने लगते हैं। तब इष्ट देवता और स्वयं अपने बारे में कहे जा रहे अपमानजनक वाक्यों को सुनकर वशिष्ठ क्षण भर के लिए विचलित हो जाते हैं। ऋषि को इस भाँति मद-मोह में फँसता देख देवी भी अपना मानवी रूप छोड़कर तत्क्षण शिलामयी हो जाती हैं। भगवती के शिलामयी होने से विक्षिप्त दशा में पहुँचे वशिष्ठ अपने प्राण त्याग देने को आतुर होते हैं। उस वक़्त देवी ऋषि को पुनः अपने दर्शनलाभ के लिए अष्टपाश से सर्वथा मुक्त हो शिवत्व प्राप्त करने का आदेश एक आकाशवाणी के माध्यम से देती हैं। भगवती की आज्ञा के अनुसार शिवत्व की साधना के लिए अन्यत्र प्रस्थान करने से पूर्व ऋषि वशिष्ठ यह घोषणा करते हैं कि कोई साधक अगर इस पीठ का दर्शन नहीं करता और वाम मार्ग से तारा को नहीं पूजता तो किसी प्रकार की सिद्धि उसे नहीं मिलेगी।

दरअसल माहात्म्य में वर्णित 'सिद्धपीठ' के प्रादुर्भाव की उपरोक्त कथा का आधार रूद्रयामल, ताहारहस्य, और महाचीनाचारक्रम जैसे संस्कृत तांत्रिक ग्रंथों में प्राप्त होने वाला ऋषि वशिष्ठ संबंधी एक महत्त्वपूर्ण वृत्तांत है। इसी तंत्रोक्त वृत्तांत के चलते बीसवीं सदी की शुरुआत में अनेक भारतविदों ने यह धारणा रखी कि वामाचारी पद्धतियों का सीधा संबंध तारा पूजन से है। और, आरंभिक मध्यकाल में वशिष्ठ नामधारी कोई तंत्र साधक भगवती तारा की तांत्रिक साधना से संबंधित इन बाह्य आयातित पद्धतियों को चीन से भारत लाए थे।[38] हालाँकि, एक ध्यान देने योग्य तथ्य यह भी है कि संस्कृत तांत्रिक साहित्य में प्राप्त तारा साधक वशिष्ठ की महाचीन यात्रा का वृत्तांत मिथिला का ज़िक्र कहीं भी नहीं करता। मगर उसी वृत्तांत का माहात्म्य के पाठ रूप से हुआ पुनर्कथन कई नए तत्वों को एक अलहदा अंदाज़ में पाठक के समक्ष प्रस्तुत करता है। फिर चाहे वो महाचीन में 'नील सरस्वती नदी (यांगसीटी क्यांग) के तट पर जहाँ आज भी शक्तिस्थल और मंदिर है' वशिष्ठ को तारा का महादर्शन ठीक 'रात्रि के 10 बजे' मिलने जैसे अतिरंजित विवरण हों। या कि मिथिलावासी जनक को तारा साधक ऋषि का तांत्रिक गुरु बताने और महिषी में वशिष्ठ आराधिता तारा के शिलामयी हो जगत पूजिता बनने जैसे एकाधिक क्षेपक। परंतु इतना तो तय है कि तंत्रोक्त वृत्तांत का एक पुनर्कथन करता माहात्म्य का पाठ महिषी स्थित तीर्थ स्थान को सफलतापूर्वक ऐसे 'तंत्रपीठ' के बतौर स्थापित कर देता है जहाँ ऋषि वशिष्ठ की उद्घोषणा के अनंतर तांत्रिक पद्धति से भगवती तारा

[38] रामा प्रसाद चंदा (1916) : 141-142.

की पूजा होती आई है : 'तांत्रिक पद्धति में बाममार्ग और चीनाचार की परंपरा प्रचलित है।'[39] साथ ही, तारा साधक वशिष्ठ से संबंधित तंत्रोक्त वृत्तांत के माहात्म्य द्वारा प्रस्तुत इस पुनर्कथन में मिथिला की अपनी सामूहिक स्मृति और एक ठोस शाक्त तांत्रिक भित्ति पर निर्मित इसकी विशिष्ट धार्मिकता की भी झलक बखूबी मिलती है। मिसाल के लिए ब्रह्मा द्वारा वशिष्ठ को पहले गायत्री और फिर भगवती तारा का बीज मंत्र दिए जाने जैसे एक मिथकीय वर्णन में अगर हमें मैथिल समाज में लंबे समय से प्रचलित दो उपनयनों की परंपरा का एक स्पष्ट आभास मिलता है, तो वहीं दूसरी ओर वाममार्गी और चीनाचार की पद्धतियों से तारा साधना में दत्त हुए ऋषि वशिष्ठ पर आक्षेप करने वाले ऋषियों में भी हम पूर्व-मीमांसक और स्मार्त परंपरा समर्थकों की एक झलक साफ़ देख सकते हैं। फिर सबसे रोचक पहलू तो यह कि राजा जनक को जहाँ मिथिला की इस सामूहिक स्मृति में तांत्रिक साधना के आचार्य रूप से प्रतिष्ठित किया गया है, वहीं महाचीन (या तिब्बत) और नेपाल की पहचान 'अथर्ववेदानुगामी' देशों के रूप में की गई है। ज़ाहिर है कि इस तरह मिथिला और इसके बृहत्तर धार्मिक भूगोल में तांत्रिक आचारों को एक ही साथ बेहद प्राचीन और पूर्णतः वेद सम्मत सिद्ध करने का प्रयास हमें माहात्म्य के पाठ में प्रत्यक्ष रूप से दिखता है।

संदर्भ

आचार्य आनंद झा (1979), 'छिन्नमस्तातत्त्व ' ब्रजवल्लभ द्विवेदी और रेवा प्रसाद द्विवेदी (सं.) *सन्मार्ग : तंत्र विशेषांक*, 26 जुलाई, वर्ष 34, अंक 186 : 69-71.

इंद्र नारायण झा (1984), *मिथिला दिग्दर्शन*, विद्यापति परिषद् , रामगढ़.

उपेंद्र ठाकुर (1964), *स्टडीज़ इन जैनिज़्म ऐंड बुद्धिज़्म इन मिथिला*, द चौखंबा संस्कृत सीरीज़ ऑफ़िस, वाराणसी.

उषा किरण ख़ान (1986), 'सीता जनम बिरोगे गेल', सच्चिदानंद वात्स्यायन (सं.) *जन जनक जानकी*, वत्सल फाउंडेशन, नई दिल्ली : 119.

एन. एन. भट्टाचार्य (1999), 'द कल्ट ऑफ़ तारा इन हिस्टोरिकल पर्सपेक्टिव', एन. एन. भट्टाचार्य और अमर्त्य घोष (सं.) *तांत्रिक बुद्धिज़्म : सेंटेनियल ट्रिब्यूट टू डॉ. बेनोयतोश भट्टाचार्या*, मनोहर, दिल्ली : 190-207.

गंगानाथ झा (2005), 'बिहार का मंडन-उग्रतारा तीर्थ स्थान : एक मानवशास्त्रीय अध्ययन', *द ज़र्नल ऑफ़ द एंथ्रोपोलॉजिकल सर्वे ऑफ़ इंडिया*, खंड 54 (1) : 121-139.

गुद्रून बुह्नेमान्न (1998), 'द गॉडेस महाचीना क्रमा-तारा (उग्र-तारा) इन बुद्धिस्ट ऐंड हिंदू तांत्रिज़म' *बुलेटिन ऑफ़ द स्कूल ऑफ़ ओरिएण्टल ऐंड अफ़्रीकन स्टडीज़*, खंड 59 (1-3) : 472-93.

जयधारी सिंह (1979), 'तांत्रिक साधना के मैथिल रूप', ब्रजवल्लभ द्विवेदी और रेवा प्रसाद द्विवेदी (सं.) *सन्मार्ग : तंत्र विशेषांक*, 26 जुलाई, वर्ष 34, अंक 186 : 146-147.

डायना एल. एक्क (1981), (2007), *दर्शन : सीइंग द डिवाइन इमेज़ इन इंडिया*, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली.

तनिका सरकार (2001), *हिंदू वाइफ़, हिंदू नेशन : कम्युनिटी, रिलिजन, ऐंड कल्चरल नैशनलिज़म*, परमानेंट ब्लैक, दिल्ली.

[39] तीर्थानंद झा : 'प्रस्तावना'.

तारानंद वियोगी (2016), 'जीवन क्या ज़िया', *तद्भव*, वर्ष 4, अंक 2 (पूर्णांक 33) : 164 -274.

तीर्थानंद झा, *श्री उग्रतारा माहात्म्य दर्शन*, श्री बच्चा जी, सहरसा.

दशमहाविद्या, गीताप्रेस, गोरखपुर, पचीसवाँ पुनर्मुद्रण सं. 2073 /2016-17.

पुष्पेन्द्र कुमार (1992) *तारा : द सुप्रीम गॉडेस*, भारतीय विद्या प्रकाशन, नई दिल्ली.

प्रबोध चंद्र बागची (1939), (1975), *स्टडीज़ इन द तंत्राज़*, पार्ट-1, युनिवर्सिटी ऑफ़ कलकत्ता, कलकत्ता.

प्रशांता रॉय (2011), *प्रत्याहा : एवरीडे लाइफ़ वर्ड*, आई. डी. एस. के, कोलकाता.

फणीश्वर नाथ रेणु (1957), (2009), *परती : परिकथा*, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली.

भागीरथप्रसाद त्रिपाठी (1980), 'श्याम सरस्वती का सिद्ध स्थान - चीन' रेवा प्रसाद द्विवेदी और कमलेश दत्त त्रिपाठी (सं.) *सन्मार्ग : आगम विशेषांक*, 12 अगस्त, वर्ष 35, अंक 203 : 141-143

मनोहर श्याम जोशी (1983), *बातों बातों में*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली.

माखन झा (1982), *सिविलाइज़ेशनल रीजंस ऑफ़ मिथिला ऐंड महाकोशल*, कैपिटल पब्लिशिंग हॉउस, दिल्ली.

माखन झा (1985), *डायमेंशन्स ऑफ़ पिल्ग्रिमेज : ऐन एन्थ्रोपोलॉजिकल एपरेजल* (सं.), इंटर-इंडिया पब्लिकेशंस, नई दिल्ली.

रणजीत गुहा (1985) 'द करियर ऑफ़ ऐन एंटी-गॉड इन हैवेन ऐंड ऑन अर्थ', अशोक मित्रा (सं.), *द ट्रूथ यूनाइटस : एस्सेज इन ट्रिब्यूट टू समर सेन*, सुवर्णरेखा, कलकत्ता : 1-25.

राजा देवनंदन सिंह (2013) *शाक्त प्रमोद,* मधु खन्ना के साथ संपादन, तंत्रा फाउंडेशन, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान ऐंड डी. के. प्रिंटवर्ड प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली.

राजेंद्र प्रसाद भट्ट (1980), 'शाक्त-महापीठ' रेवा प्रसाद द्विवेदी और कमलेश दत्त त्रिपाठी (सं.) *सन्मार्ग : आगम विशेषांक,* 12 अगस्त, वर्ष 35, अंक 203 : 145-151.

रामा प्रसाद चंदा (1916), द इंडो-आर्यन रेसेज *: ए स्टडी ऑफ़ द ओरिजिन ऑफ़ इंडो-आर्यन पीपल ऐंड इंस्टीट्यूशंस, पार्ट 1*, द वीरेंद्र रिसर्च सोसाइटी, राजशाही.

रॉबर्ट इ स्वोबोदा (1986 [1993]), *अघोरा : ऐट द लेफ़्ट हैंड ऑफ़ गॉड*, रूपा, नई दिल्ली.

विकास कुमार भट्टाचार्य (2003), *तारा इन हिंदुइज़्म,* ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली.

शंकर दयाल सिंह (1986) 'एक गुदगुदी, एक व्यथागीत', सच्चिदानन्द वात्स्यायन (सं.) *जन जनक जानकी*, वत्सल फाउंडेशन, नई दिल्ली.

सदन झा, अप्रकाशित, *गोसांउन ऐंड द गोसांउनिक घर*.

सुमित सरकार (1997), *राइटिंग सोशल हिस्ट्री*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

हजारीप्रसाद द्विवेदी (1963), (2013), *चारु चंद्रलेख*, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली.

पृथक उत्तराखंड आंदोलन में महिलाएँ : भागीदारी से हिस्सेदारी तक

संजीव और महिका

भूमिका

वर्ष 1994 उत्तराखंड के पहाड़ों में रहने वाले लोगों के लिए बदलाव की आशाओं से भरा हुआ साल था जिसमें महिलाओं की भूमिका पहले के अन्य आंदोलनों की ही तरह अग्रणी थी (शेखर पाठक 2019)। इस वर्ष उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री, मुलायम सिंह के द्वारा उत्तराखंड के पहाड़ समेत पूरे उत्तर प्रदेश में जाति के आधार पर एक समान ओबीसी आरक्षण लागू करने की घोषणा की गई। इस फैसले के विरोध में उत्तराखंड के पहाड़ों में शुरू हुआ 'ओबीसी आरक्षण विरोधी आंदोलन' जल्दी ही 'पृथक उत्तराखंड राज्य आन्दोलन' के रूप में परिवर्तित हो गया। इस आंदोलन ने पूरे प्रदेश में लगभग सभी जाति, धर्म, लिंग, और वर्ग विभेदों को समतल करते हुए अंततः वर्ष 2000 में अलग राज्य के लिए मार्ग प्रशस्त किया। इस आंदोलन को अलग-अलग नज़रिए से देखा-परखा गया है जिसमें जातिवादी मानसिकता[1], अराजकवादी[2], अलगाववादी[3], पहाड़ी और ग़ैर-पहाड़ी विभेद[4] महिलाओं की भागीदारी[5] आदि महत्त्वपूर्ण है। यह लेख पृथक उत्तराखंड राज्य आंदोलन में महिलाओं की भूमिका और उनकी भागीदारी को देखने का एक प्रयास है। इस हेतु राजनीति की तीन निर्मितियों का सहारा लिया गया है। ये हैं : गांधीवादी विमर्श से उपजी भागीदारी की संकल्पना, आंबेडकरवादी आंदोलन की अवधारणा और वामपंथी हस्तांतरण की राजनीति।

चिपको आंदोलन हो या नशा विरोधी आंदोलन या फिर ओबीसी आरक्षण के विरोध से शुरू होकर उत्तराखंड राज्य की माँग तक का सफ़र करने वाला पृथक उत्तराखंड राज्य आंदोलन,

---

[1] एम्मा मावड़सलेय (1996) : 205-10.

[2] *नैनीताल समाचार*, आनंद बल्लभ उप्रेती : (2007) और राजीव लोचन शाह से बातचीत.

[3] एम्मा मावड़सलेय (1996) : 205-10.

[4] प्रदीप कुमार (2000).

[5] सावित्री कैरा जन्तवाल (2018), महिलाओं की उत्तराखंड राज्य आंदोलन में भूमिका के संबंध में ज़्यादातर शोध जाँच को महिलाओं के त्याग, बलिदान और भागीदारी तक सीमित रखा है. जिन शोधों में महिलाओं का आंदोलन के नेतृत्व में अभाव की ओर ध्यान दिया है, उन्होंने भी इसको समाज की पुरुषवादी संरचना तक सीमित कर दिया है. इस लेख में हम आंदोलन के दौरान महिलाओं की आंदोलन नेतृत्व में हिस्सेदारी के अभाव के लिए राजनैतिक और उत्तराखंड के राजनीतिक संस्कृति के इतिहास के संबंध में आलोचनात्मक अध्ययन करने का प्रयास करेंगे कि कैसे उत्तराखंड की राजनीति में गांधीवाद का प्रभाव उत्तराखंड राज्य आंदोलन में महिलाओं के इस पक्ष के लिए ज़िम्मेदार है.

पहाड़ की महिलाओं की भागीदारी इन सभी में अतुलनीय है। पर्यावरणविद और कार्यकर्त्ता वंदना शिवा ने चिपको आंदोलन में पहाड़ की महिलाओं की भूमिका को इको-फ़ेमिनिज़्म[6] सबाल्टर्न प्रतिरोध (रामचंद्र गुहा, 2013) का अग्रज तक माना है। क्षेत्र में विभिन्न स्तर पर होने वाली प्रत्यक्ष राजनीति में आज भी महिलाओं की हिस्सेदारी लगभग नगण्य है।[7] प्रश्न उठता है कि पहाड़ों में होने वाले इन आंदोलनों में महिलाओं की भागीदारी हिस्सेदारी में तब्दील क्यूँ नहीं हो पाई? इस आलेख में हम यह जानने का प्रयास करेंगे कि इस आंदोलन में समाज के सबसे निचले पायदान पर बैठी सर्वाधिक भागीदारी करने वाली ग्रामीण महिलाओं की आंदोलन से उत्पन्न आकांक्षाओं, आशाओं, और संभावित संभावनाओं का स्वरूप क्या था? इन संभावनाओं की राजनीति के इस स्वरूप को आंदोलन में भाग लेती हुई महिलाओं की ज़ुबानी, उनके नारे, क़िस्से-कहानियों और आपसी बतकही में किस तरह से विश्लेषित किया जा सकता है?

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से ही अंग्रेज़ी सरकार द्वारा 'वैज्ञानिक वन प्रबंधन' के नाम पर वनों में रहने वाले स्थायी मूल निवासियों को वन-संसाधनों के ऊपर उनके परंपरागत अधिकारों से वंचित रखने का प्रयास लगातार बढ़ता रहा। वैज्ञानिक वन प्रबंधन के नाम पर पहाड़ों के स्थानीय निवासियों को जंगलों से लकड़ी, घास, फल आदि लाने के अधिकार पर अंकुश लगाने का सिलसिला आज़ादी के बाद भी जारी रहा।[8] वहीं पेड़ काटने वाले निजी दलालों को ठेका देने का सिलसिला भी बढ़ता ही रहा। पेड़ व लकड़ियों का व्यापार करने वाले ज़्यादातर बड़े ठेकेदार मैदानी भू-भागों से संबंध रखते थे। उत्तर प्रदेश सरकार के राजनीतिक और प्रशासनिक ख़ेमे तक कमज़ोर पहुँच के कारण स्थानीय लोगों के लिए इस तरह का ठेका मिलना दुर्लभ था। वर्ष 1974 में चमोली ज़िले में महात्मा गांधी और गांधीवादी राजनीति के इतिहास से प्रभावित कुछ समाजवादियों और गांधीवादियों ने सुंदरलाल बहुगुणा के नेतृत्व में ग्रामीणों के साथ मिलकर बाहरी ठेकेदारों और अधिकारियों के इस गठजोड़ के ख़िलाफ़ चिपको आंदोलन प्रारंभ किया जो आगे चलकर पर्यावरण संरक्षण के लिए देश और विश्व के लिए आदर्श के रूप में उभरकर सामने आया।[9]

'चिपको आंदोलन' (1973-74)[10] के बाद से ही उत्तराखंड की महिलाओं को देश के अन्य भाग की महिलाओं की तुलना में अधिक कर्मठ, ज़िम्मेदार, सबल, सजग, सक्षम,

---

[6] वंदना शिवा (2005) : 46.

[7] उत्तराखंड विधानसभा में कभी भी पाँच से अधिक महिला विधायक चुनकर नहीं आई हैं जबकि 2014 में टिहरी राजघराने की बहू प्रदेश के इतिहास में पिछले दो लोकसभा चुनाव से एकमात्र महिला सांसद हैं। प्रदेश में महिलाओं को पंचायत या नौकरियों में आरक्षण बिहार जैसे पिछड़े राज्यों के द्वारा आरक्षण दिए जाने के बाद दिया गया है.

[8] तरुण जोशी (2017) : 243-50.

[9] सुन्दरलाल बहुगुणा (1988) : 6.

[10] चिपको आंदोलन, उत्तराखंड के चमोली ज़िले के रैणी गाँव में वर्ष 1973-74 में हुआ था जब गाँव की महिलाएँ पेड़ काटने आए लकड़ी के ठेकेदारों को पेड़ नहीं काटने देने के लिए पेड़ों से चिपक गई थीं. वे पेड़ों से दो दिन तक चिपकी रहीं जब तक कि पेड़ काटने आए ठेकेदार हार मानकर जंगल से चले नहीं गए. कालांतर में ये आंदोलन पूरी दुनिया में पर्यावरण संरक्षण और इको-फ़ेमिनिज़्म के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया गया.

सशक्त, स्वतंत्र और स्वावलंबी समझा जाने लगा। पारिवारिक ज़िम्मेदारियों, कृषि और स्थानीय ग्रामीण अर्थव्यवस्था के बारे में उनका ज्ञान और उसमें उनका योगदान पुरुषों से अधिक प्रबल माना गया। क्या महिलाओं के इन बढ़ते योगदानों और ज़िम्मेदारियों को महिला सशक्तिकरण का प्रतीक माना जा सकता है? या फिर क्या स्थानीय ग्रामीण अर्थव्यवस्था और पारिवारिक ज़िम्मेदारियों में बढ़ती भूमिका उनकी मजबूरी तो नहीं थी? पहाड़ों से मैदानों की ओर पुरुषों के लगातार बढ़ते पलायन के कारण घर में बची औरतों पर पूरे घर को चलाने और स्थानीय ग्रामीण अर्थव्यवस्था का बोझ आ जाता था। इसी प्रकार आंदोलनों में प्रदेश की महिलाओं की भागीदारी मात्र को उनकी राजनीतिक सजगता, सबलता, स्वतंत्रता, स्वावलम्बिता, सशक्तता और आत्मनिर्भरता का प्रतीक माना जाना क्या उचित और संतोषप्रद है? क्या यह ज़रूरी नहीं है कि समाज के कमज़ोर वर्गों की राजनीतिक ज़िम्मेदारी और भागीदारी के साथ-साथ राजनीतिक हिस्सेदारी/ प्रतिनिधित्व की तरफ़ भी सजगता को सुनिश्चित किया जाए? आख़िर क्या कारण है कि आज़ादी के बाद उत्तराखंड में होने वाले सभी जनवादी आंदोलन में महिलाओं की सर्वोच्च भागीदारी होने के बावजूद पहाड़ों से एक भी महिला किसी आंदोलन का नेतृत्व या प्रत्यक्ष राजनीति में अपनी राजनीतिक पहचान राष्ट्र या राज्य स्तर पर नहीं बना पाई? इन प्रश्नों के साथ हालाँकि हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए की यह पृथक राज्य आंदोलन का ही परिप्रेक्ष्य था जिससे निकलकर उत्तराखंड में उत्तराखंड महिला मंच जैसे कई स्वायत्त महिला संगठनों का अभ्युदय हुआ, जो आज भी प्रदेश के लगभग हर इलाक़े में अपनी पहचान बनाए रखने में सफल रहे हैं। ग़ौरतलब है कि तक़रीबन इन सभी स्वायत्त संस्थाओं ने प्रारम्भ से ही अपने आप को प्रत्यक्ष चुनावी राजनीति से अलग रखा। ऐसे में किसी राजनीतिक आंदोलन में समाज के किसी एक तबक़े (जैसे महिलाओं) की हिस्सेदारी और चुनावी नेतृत्व में उनकी अनुपस्थिति के क्या मायने हुए? क्या भागीदारी और प्रतिनिधित्व/हिस्सेदारी के बीच की इस खाई को, राजनीति और इसकी सामाजिकता के समीकरण, इनके मध्य की संश्लिष्टता हम कैसे व्याख्यायित करें? भागीदारी और हिस्सेदारी के बीच फ़र्क़ को समझने के लिए बाबा साहब आंबेडकर की तरफ़ हम सहज ही मुड़ जाते हैं।

आंबेडकर भारतीय समाज के शोषित वर्गों के लिए राजनीतिक भागीदारी के साथ उनकी राजनीतिक हिस्सेदारी/प्रतिनिधित्व को आंबेडकर ने न सिर्फ़ सर्वाधिक महत्त्व दिया बल्कि इसके लिए जीवन भर संघर्ष भी किया। आंबेडकर राजनीतिक लोकतंत्र सुनिश्चित करने के लिए सामाजिक लोकतंत्र की स्थापना को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानते रहे और इसके लिए उन्होंने समाज के पिछड़े वर्ग के लिए राजनीति में पृथक निर्वाचन प्रणाली और आरक्षण को अत्यंत ज़रूरी माना। हालाँकि आंबेडकर ने कभी महिलाओं के लिए आरक्षण की माँग नहीं की लेकिन वे एकमात्र चिंतक थे जिन्होंने महिलाओं के अधिकार (हिंदू कोड बिल) के सवाल पर मंत्रिपद से त्यागपत्र दे दिया था। आंबेडकर ने कई मौक़ों पर महिला उत्थान को समाज के उत्थान का पैमाना माना। शायद यही कारण है कि आंबेडकर आंदोलनों में महिलाओं की न सिर्फ़ भागीदारी बल्कि महिलाओं के नेतृत्व में आंदोलन की वकालत करते थे।[11] वहीं स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान

[11] रुनी दत्ता (2019) : 25-32.

महिलाओं के राजनीतिक अधिकारों के लिए स्वतंत्रता सेनानियों के नेतृत्व में होने वाले लगभग सभी प्रयास महिलाओं के लिए वोट के अधिकार तक सीमित रहे।[12]

दूसरी तरफ़, यद्यपि महात्मा गांधी महिलाओं को प्रत्यक्ष और चुनावी राजनीति में हिस्सा लेने से मना नहीं करते हैं पर 1929 में *यंग इंडिया* के अपने एक लेख में महिलाओं को इस बात के लिए भी सजग कर देते हैं कि महिलाओं का मुख्य काम फ़िलहाल पुरुषों के अत्याचार से लड़ना है। 1930 आते-आते महात्मा गांधी शराब और विदेशी वस्तुओं के विरोध में धरना देने और प्रदर्शन में महिलाओं को शामिल नहीं करने को अपनी भूल मानने लगते हैं। गांधी मानते हैं कि 'ऐसे धरने पूर्णतः महिलाओं के वर्चस्व में शुरू हों और चलें जबकि पुरुष उन्हें इस प्रक्रिया में जितना हो सके मदद करें।'[13] गांधी की यह बात हमें आज़ादी के बाद उत्तराखंड में होने वाले लगभग सभी आंदोलनों में दिखती है जहाँ शराब विरोधी आंदोलनों में महिलाओं की केंद्रीय भूमिका रही।

गांधी, उत्तराखंड, महिला शक्ति और स्वतंत्रता संग्राम

1929 की गर्मियों में महात्मा गांधी कुमाऊँ और गढ़वाल के कुछ हिस्सों का दौरा कर रहे थे। वे उत्तराखंड के जन-मानस को सफल 'कुली-बेगार आंदोलन' के लिए मुबारकबाद देने के साथ-साथ उन मुद्दों और समस्याओं की तरफ़ ध्यान आकर्षित करते मिलते हैं जिनसे उत्तराखंड के लोग उस दौर में जूझ रहे थे। इन मुद्दों में पलायन, शराब, महिलाओं की स्थिति, जातिगत भेदभाव, स्वच्छता, और जर्जर शिक्षा व्यवस्था प्रमुख थे। ये मुद्दे और समस्याएँ आज भी उत्तराखंड और उत्तराखंड में रहने वाले लोगों के लिए ज्वलंत हैं। इन सभी मुद्दों में से गांधी उत्तराखंड में जाति प्रथा और औरतों के साथ भेदभाव के मुद्दों को कहीं अधिक प्रखरता से रखते हैं।

प्रतिरोध की राजनीति में महिलाओं की भूमिका को तरजीह देने के विषय पर रुख करते हुए हम पाते हैं कि उत्तराखंड में कम से कम पिछले पाँच दशकों के दौरान होने वाले विभिन्न आंदोलनों में मातृशक्ति शब्द का इस्तेमाल सभी मंचों के पर्चों-पोस्टरों, घोषणा-पत्रों आदि में बार-बार होता रहा है। मातृशक्ति और महिलाओं की राजनीतिक भागीदारी 'चिपको आंदोलन' (1970 का दशक), 'नशा नहीं रोज़गार दो आंदोलन' (1980 का दशक) 'पृथक राज्य आंदोलन' (1990 का दशक) के परिप्रेक्ष्य में सहज ही सामने आता है।

आज़ाद भारत के उत्तराखंडी पहाड़ों में गांधीवादी आंदोलन की विरासत सरला बेन, विमला बेन, और मीरा बेन आदि बनीं। इसका एक पक्ष यह भी है कि पहाड़ों में ज़्यादातर पुरुष सेना में नौकरी करते थे या मैदानों (शहरों) में रोज़गार के लिए मौसमी पलायन करते थे जिसके कारण महिलाओं पर पूरा घर और ग्रामीण अर्थव्यवस्था चलाने की ज़िम्मेदारी होती थी। सरला बहन ने इन महिलाओं के साथ कृषि, पशुपालन और स्वास्थ्य संबंधी शिक्षा पर काम किया जो महात्मा गाँधी की नई तालीम का एक अध्याय भी माना जा सकता है। 1950 और 1960 के दशक में इन प्रशिक्षित महिलाओं ने पहाड़ में जगह-जगह सेवा केंद्र खोला और ख़ासकर नशा के ख़िलाफ़

[12] बसु और राय (1990) : 54-58.

[13] मधु किश्वर (1985) : 1691-1702.

और जंगल बचाने के लिए काम किया, शराब की भट्ठियाँ बंद करवाईं, और आंशिक रूप से शराब पर प्रतिबंध लगवाया जिसके लिए उन्हें कई बार जेल भी जाना पड़ा।[14] परन्तु इन महिलाओं ने प्रारम्भ से ही राज्य में होने वाली दलगत-मतगत राजनीति में प्रत्यक्ष भागीदारी से ख़ुद को अलग रखा। गढ़वाल क्षेत्र में सर्वोदय आंदोलन के दौरान अहम भूमिका निभाने वाली विमला बेन, चिपको आंदोलन के नायक गांधीवादी सुंदर लाल बहुगुणा से शादी इसी शर्त पर करती हैं कि वो कॉन्ग्रेस के साथ दलगत राजनीति को पूर्णतः छोड़कर सर्वोदय आंदोलन में सिर्फ़ सेवार्थ भाव से समाज सेवा करेंगे। चाहे वह शराब का मामला हो या दलगत व वोटगत राजनीति से परे रहने की बात हो, सर्वोदय आंदोलन का प्रतिबिम्ब उत्तराखंड में 1970 और 1980 के दशक में उत्तराखंड में होने वाले 'चिपको आंदोलन' और 'नशा नहीं रोज़गार दो आंदोलन' आदि छोटे-बड़े सभी आंदोलनों में दिखता रहा।

उत्तराखंड : आंदोलनों में महिलाओं की हिस्सेदारी का इतिहास

चिपको आंदोलन में महिलाओं की भागीदारी को हर स्तर पर सराहा गया। परंतु जब इस आंदोलन से जुड़े दो सर्वाधिक प्रसिद्ध व्यक्तित्व का नाम आता है तो वे दोनों ही पुरुष हैं : सुंदर लाल बहुगुणा और चंडी प्रसाद भट्ट। सुंदर लाल बहुगुणा को पहाड़ों में गांधीवादी सर्वोदय आंदोलन का हिस्सा बनाने वाली उनकी पत्नी विमला बेन का ज़िक्र सिर्फ़ एक पत्नी के रूप में ही सीमित रख कर किया जाता है। ग़ौरतलब है कि 25 मार्च, 1974 के उस प्रसिद्ध दिन जब रेनी गाँव की महिलाएँ पेड़ों को काटने से बचाने के लिए पेड़ों से चिपक जाती हैं उस दिन रेनी गाँव के पुरुष पेड़ काटने के ठेका आवंटन से संबंधित एक विवाद के सिलसिले में स्थानीय प्रशासन के बुलाने पर चमोली शहर गए हुए थे। पुरुषों की अनुपस्थिति में गाँव में बची महिलाओं के पास पेड़ों को बचाने का जब और कोई विकल्प नहीं रहा तो वे उन पेड़ों से तब तक लिपटी रहीं जब तक की दलाल गाँव छोड़ कर चले नहीं गए और गाँव के पुरुष अगले दिन चमोली से गाँव वापस नहीं आ गए। वह विरोधाभास लग सकता है कि पेड़ को दलालों द्वारा काटे जाने से बचाने के लिए पेड़ से लिपटने वाली इन महिलाओं को एक दशक के भीतर ही पेड़ काटने के अधिकार के लिए 'पेड़ काटो आंदोलन' में शामिल होना पड़ा।[15]

वर्ष 1988-1989 के दौरान उत्तराखंड के कई भागों में *उत्तराखंड क्रांति दल* और *उत्तराखंड संघर्ष वाहिनी* आदि संगठनों द्वारा पेड़ काटने के अधिकार के लिए पूरे प्रदेश में एक सौ से अधिक जगहों पर *पेड़ काटो आंदोलन* चलाया गया। आंदोलनकारियों का मानना था कि वन क्षेत्रों में पेड़ों को काटने पर पूर्णतया प्रतिबंध लगा दिए जाने के कारण क्षेत्र में कई विकास-योजनाओं को नुक़सान हो रहा था और वनों पर स्थानीय लोगों के निर्णय लेने के अधिकार को लगातार ख़त्म किया जा रहा था। दरअसल चिपको आंदोलन उस व्यवस्था के ख़िलाफ़ आंदोलन था जिसमें स्थानीय लोगों को वन संपदाओं के संरक्षित व सतत उपभोग से रोका जा रहा था और वन संपदाओं के उपभोग का एकाधिकार राज्य, उनके

---

[14] कमला गणेश और उषा ठक्कर (2005) : 141-151.

[15] अजय सिंह रावत (1999) : 176-77.

नौकरशाहों, पूँजीपतियों और ठेकेदारों तक सीमित किया जा रहा था। यह प्रक्रिया औपनिवेशिक काल से ही लगातार जारी था जो आज़ादी के बाद और भी तेज़ हुई। कुछ समय पहले, 1976 में वन पंचायत नियमावली में बदलाव किए गए थे – जिसके तहत स्थानीय वन पंचायत के कई अधिकारों को वन विभाग को स्थानांतरित कर दिया गया था। इसी प्रकार 1980 में पारित नए वन संरक्षण क़ानून के तहत वन संपदाओं पर स्थानीय लोगों के अधिकार को और अधिक संकुचित किया गया था।[16]

दूसरी तरफ़, गाँधी इसी दौरान पूरी दुनिया में बुद्धिजीवियों द्वारा चिपको आंदोलन को पर्यावरण संरक्षण के लिए आदर्श और इस आंदोलन में अहम भूमिका निभाने वाली उत्तराखंड की महिलाओं को महिलावादी पर्यावरण संरक्षक (इको फ़ेमिनिज़म) के आदर्श व प्रेरणास्रोत के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा था (वंदना शिवा, 2005)। वैश्विक धरातल पर इस आंदोलन को इस तरह से प्रस्तुत किया गया मानो महिलाएँ अपने महिला होने मात्र से ही जन्मजात प्रकृति संरक्षक होती हैं। लेकिन इसी उत्तराखंड में उन्हीं महिलाओं ने वर्ष 1988 में उत्तराखंड क्रांति दल के नेतृत्व में कुमाऊँ में 'पेड़ काटो आंदोलन' चलाया तो शायद ही किसी ने इसका संज्ञान लिया। ऐसे में, कई लोगों का तो ये भी मानना है कि चिपको आंदोलन के बाद हुए क़ानूनी बदलाव से सशक्तिकरण के विपरीत महिलाओं का असशक्तिकरण ही हुआ (मधु सरीन, 2001)। इसे एक विडम्बना मान सकते हैं कि चिपको जैसे आंदोलन को पर्यावरण की दृष्टि से तो समझा गया पर कभी महिला और उनकी ज़रूरतों की दृष्टि से नहीं समझा गया।

इतिहास की तरफ़ रुख़ करते हम पाते हैं कि चिपको आंदोलन कोई पहला हस्क्षेप नहीं हो कर पूर्ववर्ती आंदोलनों के कड़ी का ही एक हिस्सा था। उत्तराखंड में 1921 में ही इस तरह की घटना घट चुकी थी। अल्मोड़ा ज़िले के सोमेश्वर क्षेत्र में चनोदा गाँव की महिलाओं ने वन क़ानून के ख़िलाफ़ आंदोलन किया और थगलोडी जंगल में आग लगा दी जिसमें स्थानीय महिला दुर्गा देवी और बिशन देवी शाह को गिरफ़्तार भी किया गया (सावित्री कैरा जन्तवाल, 2018)।

दूसरी तरफ़ हमारे सामने नशा विरोधी आंदोलन का उदाहरण है। 1929 में जब गांधी उत्तराखंड का दौरा करते हैं तो उत्तराखंड की कुछ तथाकथित अछूत जातियों की इस बात के लिए प्रशंसा करते हैं कि वे लोग शराब का सेवन नहीं करते हैं और स्वच्छता का बख़ूबी पालन भी करते हैं। साथ ही वे प्रदेश की महिलाओं से आग्रह भी करते हैं कि वो ऐसे मर्दों के साथ असहयोग करें जो शराब का सेवन करते हों।[17] गाँधीवादी सर्वोदय कार्यकर्त्ताओं और अन्य लोगों द्वारा प्रदेश के विभिन्न भागों में शराब उत्पादन और बिक्री पर रोक लगाने के लिए हुए इन अनेक आंदोलनों में महिलाओं ने अहम भूमिका निभाई। इन आंदोलनों के कारण उत्तराखंड के कई क्षेत्रों में कई बार शराब के उत्पादन और बिक्री पर रोक लगाई गई पर हर बार नशा युक्त पदार्थों के उपभोग को रोकने का प्रयास विफल रहा।[18]

इस बाबत यह जानना दिलचस्प होगा कि बकौल अंग्रेज़ी अफ़सर हेनरी रैम्ज़ी, उन्नीसवीं सदी के आख़िरी दशक तक उत्तराखंड के पहाड़ों में ग्रामीण लोगों के बीच शराब का सेवन

[16] अजय सिंह रावत (1999) : 176-77.

[17] शेखर पाठक (1985) : 1360-65.

[18] वही.

लगभग नगण्य था (इ. ऐटकिंसन, 1882)। ऐसा माना जाता है कि उत्तराखंड के पहाड़ों में अंग्रेज़ी काल के दौरान हिल-स्टेशन, ग्रीष्मकालीन राजधानी और प्राकृतिक पर्यटन बढ़ने के साथ-साथ शराब प्रचलित होने लगी। आज़ाद भारत में उत्तराखंड के नौजवानों का सेना में नौकरी करने की बढ़ती प्रवृत्ति भी प्रदेश में शराब का चलन और आपूर्ति बढ़ाने के लिए ज़िम्मेदार मानी जाती है। 1960 का दशक आते-आते विभिन्न प्रकार की सस्ती व कच्ची शराब का भी प्रचलन उत्तराखंड के सुदूर क्षेत्रों में बढ़ने लगा। सरकार ने निजी हाथों में शराब की दुकानों का ठेका देना प्रारंभ कर दिया जिससे इन दुकानों की संख्या में भारी वृद्धि हुई। शराब पीने वालों की संख्या तो बढ़ी ही।

चिपको आंदोलन के ठीक एक दशक बाद फ़रवरी 1984 में 'उत्तराखंड संघर्ष वाहिनी'[19] के नेतृत्व में अल्मोड़ा से शुरू होकर पूरे उत्तराखंड में 'नशा नहीं रोज़गार दो' आंदोलन फैलने लगा। नशा और उसकी ठेकेदारी के सवाल अपने साथ जंगल और खनन में लिप्त मैदानी (देसी) ठेकेदारों की मनमर्ज़ी के मुद्दे को एक साथ ले आया जिससे आंदोलन का स्वरूप और अधिक वृहद होने लगा। जल्दी ही प्रदेश के छात्र, शिक्षक, मज़दूर संघ और कई स्थानीय संस्थाएँ जैसे उत्तराखंड संघर्ष वाहिनी, जागर, उत्तराखंड छात्र संगठन, और नैनीताल समाचार ने आंदोलन में समग्र रूप से लड़ाई को प्रखरता से आगे बढ़ाया। जिस तरह चिपको आंदोलन के दौरान जंगल और पेड़ों की नीलामी को रोका गया उसी प्रकार महिलाओं द्वारा जगह-जगह शराब के ठेके की नीलामी को बलपूर्वक रोकने का प्रयास किया गया, शराब की दुकानों पर धरने दिए गए और सार्वजनिक तौर पर दुकान में तोड़-फोड़ कर शराब को जलाया गया और शराबियों को 'बिच्छू घास' से दंडित किया गया। महिलाओं की ये गतिविधियाँ पृथक राज्य आंदोलन में भी हुबहू जारी रहीं। नशा विरोधी आंदोलन के दौरान लगाए जाने वाले कई नारे राज्य आंदोलन के दौरान भी जारी रहे। जैसे कि 'शराब नहीं रोज़गार दो, हर हाथ को काम दो' और, 'माँ-बहनों की यही ललकार (पुकार), दारू बंद करे सरकार।'[20]

भागीदारी से प्रतिनिधित्व तक का सफ़र

1990 के दशक की शुरुआत में ही ओबीसी आरक्षण विरोधी आंदोलन उत्तराखंड में भी तेज़ी से फैले। परंतु, उत्तराखंड में ज़्यादातर जगहों पर यह शांतिपूर्ण रहा और छात्रों तक ही सीमित था। ओबीसी आरक्षण में पिछड़ेपन का आधार जाति के अलावा धर्म, क्षेत्र आदि अन्य पहचान भी हो सकती थी और इसका निर्णय राज्य सरकार के जिम्मे था। उत्तर प्रदेश में मुलायम सिंह (समाजवादी पार्टी) और मायावती (बहुजन समाजवादी पार्टी) की गठबंधन की सरकार ने वर्ष 1994 में उत्तराखंड के पहाड़ समेत पूरे उत्तर प्रदेश में समान रूप से ओबीसी आरक्षण लागू करने की घोषणा की। शीघ्र ही पूरे उत्तराखंड में ख़ासकर छात्रों और कर्मचारियों

[19] 1977 में स्थापित उत्तराखंड छात्र युवा संघर्ष वाहिनी जो आगे चलकर उत्तराखंड संघर्ष वाहिनी के नाम से जाना गया। यह उत्तराखंडी छात्रों का एक समूह था जिसमें शेखर पाठक, शमशेर सिंह बिष्ट आदि इसके संस्थापक सदस्य थे. ये संस्था उत्तराखंड में वन वाले सभी आंदोलनों में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता रहा जिसमें राज्य आंदोलन शामिल है.

[20] अनिल स्वामी (श्रीनगर), चंद्रकला बिष्ट (गोपेश्वर), उषा भट्ट (देहरादून) से अक्तूबर-नवम्बर 2020 के दौरान बातचीत का अंश.

की तरफ़ से तीखी प्रतिक्रिया आई। उत्तराखंड में अन्य पिछड़े वर्ग (ओबीसी) की जनसंख्या कुल जनसंख्या का मात्र दो प्रतिशत था इसलिए बहुजन समाज पार्टी (बसपा) और समाजवादी पार्टी (सपा) को छोड़कर प्रदेश की सभी पार्टियों ने प्रदर्शनकारियों का समर्थन किया।

ग्रामीण महिलाओं के लिए ओबीसी आरक्षण विरोधी आंदोलन में व्यक्तिगत तौर पर प्रत्यक्ष रूप से जुड़ने के लिए कुछ ख़ास नहीं था। वर्ष 1991 की जनगणना के अनुसार उत्तराखंड में महिला और पुरुष साक्षरता दर के बीच खाई राजस्थान को छोड़कर पूरे देश में सबसे अधिक थी जबकि उनकी सरकारी नौकरियों में भी भागीदारी न के बराबर थी (जनगणना, 2011)। देहरादून में रहने वाली उत्तराखंड महिला मंच की सदस्य उषा भट्ट का मानना है कि 'इस आंदोलन में महिलाएँ भावनात्मक कारण से शामिल थीं, हमें अपने बच्चों का भविष्य ख़तरे में लगा।' ओबीसी आरक्षण विरोधी आंदोलन में महिलाओं की भागीदारी कुछ युवा छात्राओं और उनकी माताओं या पत्नियों की भूमिका तक सीमित थी जो अपने बच्चों के भविष्य में सरकारी नौकरी के संकुचित होते अवसर से चिंतित थे। यह चिंता भी ज़्यादातर उत्तराखंड के शहरी भू-भागों तक सीमित थी क्योंकि ग्रामीण उत्तराखंड में साक्षरता का स्तर बहुत नीचे था। इसके अलावा ग्रामीण परिवेश से उठकर सरकारी नौकरी करने वाले ज़्यादातर उत्तराखंडी युवा सेना के विभिन्न अंगों में नौकरी करते थे जहाँ जाति-धर्म या लिंग के आधार पर कोई आरक्षण लागू नहीं था। गोपेश्वर की चन्द्रकला बिष्ट (आंदोलनकारी और वर्तमान में गोपेश्वर वन पंचायत प्रमुख) बताती हैं कि 'मैं और मेरे साथ की महिलाएँ तो आंदोलन में शराब और वनों पर अधिकार के मुद्दे को लेकर शामिल हुई थीं, और हमारे लिए आरक्षण मुद्दा नहीं था।' पिथौरागढ़ की आंदोलनकारी प्रेमा बाम आज भी आरक्षण को पृथक राज्य आंदोलन का मुद्दा मानने से इंकार करती हैं। जैसे-जैसे ओबीसी आरक्षण विरोधी आंदोलन, पृथक राज्य आंदोलन में परिवर्तित होने लगा वैसे-वैसे आंदोलन में ग्रामीण महिलाओं की भागीदारी बढ़ती चली गई। ऐसा इसलिए भी हुआ क्योंकि पृथक राज्य आंदोलन की प्रमुख माँगों में ज़्यादातर माँगों का सीधा संबंध प्रदेश की महिलाओं ख़ासकर ग्रामीण महिलाओं के दैनिक दिनचर्या और संघर्ष से जुड़ा हुआ था। इनमें प्रमुख था : नशा पर पाबंदी, बच्चों के लिए रोज़गार, पलायन पर अंकुश आदि। जैसे-जैसे ओबीसी आरक्षण विरोधी आंदोलन आगे बढ़ा वैसे-वैसे आंदोलनकारियों की माँगों की सूची में जंगल, शराब, भ्रष्ट ठेकेदार-नौकरशाहों का गठजोड़, आदि मुद्दे शामिल होते चले गए।

यदि तिथिक्रम से बात की जाए तो हम पाते हैं कि – पृथक उत्तराखंड राज्य की प्राप्ति के लिए सभी संगठनों ने मिलकर आंदोलन चलाने के लिए फ़रवरी 1989 में ही उत्तराखंड संयुक्त संघर्ष समिति का गठन कर लिया था। जुलाई 1994 में शुरू होने वाला ओबीसी आरक्षण विरोधी आंदोलन अगस्त 1994 आते-आते पृथक राज्य आंदोलन के रूप में परिवर्तित हो गया। आंदोलन के शुरुआती दौर को याद करते हुए पिथौरागढ़ की प्रेमा बाम बताती हैं :

> आंदोलन से पहले से ही मैं अपने गाँव की महिलाओं को गाँव के ही पास खुल रहे शराब भट्ठी के ख़िलाफ़ एकजुट कर रही थी। मैं राजपूत राजसी घराने से थी तो मेरे समाज के लोगों ने मेरा हुक्का पानी बंद कर दिया लेकिन मैं पीछे नहीं हटी, मेरे पति ने इसमें मेरा साथ दिया। धीरे-धीरे

> हमारा आंदोलन आसपास के गाँव में फैलने लगा। फिर एक दिन काशी सिंह एरी जी हमारे पास आए और उन्होंने मुझे राज्य आंदोलन में शामिल होने को बोला और कहा कि राज्य बनने पर शराब पर प्रतिबंध लगेगा। हमारे पास और भी कई पार्टी और संस्था के लोग आते थे आंदोलन में सहयोग करने के लिए बोलते थे। मुझे इनके बीच कोई अंतर समझ नहीं आता था मुझे तो बस इतना समझ आता था कि अगर हम उनका साथ देंगे तो ये शराब बंद करवाएँगे। हमें तो प्रदर्शन स्थल पर जाने के बाद पता चलता था कि प्रदर्शन किस पार्टी या किस संस्था का है।

वे आगे बताती हैं 'जब मैंने आंदोलन शुरू किया था तो मुझे ये भी नहीं पता था कि राज्य क्या होता है, कौन अधिकारी क्या करता है और हमें किसके पास जाना चाहिए शराब कि दुकान या भट्ठी खुलने से रोकने के लिए, हम सिर्फ़ शराब की दुकान और भट्ठी के आगे जाकर धरना दे देते थे।'

ज़्यादातर पुरुष आंदोलनकारियों, बुद्धिजीवियों और पत्रकारों का मानना है कि उत्तराखंड राज्य आंदोलन एक अराजक आंदोलन था जिसका ना कोई नेता था और न ही इसमें कोई दूरदर्शिता थी। नैनीताल के राजीव लोचन साह का मानना है कि 'सभी बस भीड़ का हिस्सा थे।' जबकि देहरादून की कमला पंत का मानना है कि 'आंदोलन से कुछ मिला हो या नहीं पर आंदोलन ने उत्तराखंड की महिलाओं का राजनीतिकरण ज़रूर किया, महिलाएँ आंदोलन की प्रक्रिया में अपने राजनीतिक और प्रशासनिक अधिकारों के प्रति सजग होने लगीं।' जैसे प्रेमा बाम और चन्द्रलेखा बिष्ट जैसी ग्रामीण महिलाएँ हैं जो आज प्रदेश में राज्य और राजनीति में प्रखर हिस्सेदारी रखती हैं।

कई दस्तावेज़ों में आंदोलन को स्वतः स्फूर्त आंदोलन कहा जाता रहा है। वहीं प्रगतिशील महिला परिषद, उत्तराखंड महिला मंच और संघर्ष वाहिनी जैसे मंच थे जो आंदोलन की रूपरेखा के साथ नए राज्य की परिकल्पना पर भी विचार-विमर्श करने का लोगों से आग्रह कर रहे थे। उत्तराखंड महिला मंच की सदस्य और आंदोलनकारी गीता ग़ैरोला आज भी मानती हैं कि 'आंदोलन के दौरान राज्य के भावी स्वरूप पर अधिक ध्यान नहीं दिया जाना उत्तराखंड राज्य आंदोलन की असफलता का प्रमुख कारण है। हमने राज्य तो बना लिया पर आज पहाड़ों की स्थिति राज्य बनने के पहले से अधिक ख़राब है। राज्य के स्वरूप पर चर्चा करने के लिए उत्तराखंड महिला मंच के ऊपर आंदोलन तोड़ने तक का आरोप लगाया गया पर हम पीछे नहीं हटे।' 1990 के दशक में छपने वाले उत्तराखंड महिला मंच के पर्चों में बार-बार ज़िक्र आये निम्न नारे से नए राज्य से महिला आंदोलनकारियों की आशाओं और उनके सपनों की झलक मिलती है।

> *कैसा रहेगा राज्य हमारा, सदा यही हम बहस करेंगे*
> *जहाँ सुरक्षित सभी निवासी, जहाँ आत्मसम्मान मिले,*
> *जहाँ ध्वस्त हो सभी माफ़िया, ऐसा उत्तराखंड बने*
> *नए राज्य में नया विचार, ना हो माफ़िया ना भ्रष्टाचार*

यहाँ यह भी ध्यान रखने की आवश्यकता है कि जिस तरह पहाड़ों में आंदोलनों का इतिहास रहा (जिस पर संक्षेप में हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं) उसी तरह – पृथक राज्य को

लेकर उठने वाली आवाज़ का भी उत्तराखंड में अपना एक लंबा इतिहास है।[21] दूसरी तरफ़, भारतीय राष्ट्रीय कॉन्ग्रेस औपनिवेशिक काल से ही उत्तराखंड के पहाड़ों को अधिक स्वायत्तता देने का विरोध करती रही थी। आज़ादी के बाद उत्तराखंड के पहाड़ों की सारी स्वायत्तता ख़त्म करके उन्हें उत्तर प्रदेश राज्य का हिस्सा बना दिया गया। लेकिन उत्तराखंड में पृथक राज्य की माँग लगातार उठती ही रही। 1993 में उत्तराखंड को अलग राज्य बनाने के लिए कौशिक आयोग का गठन किया गया और 1994 में उत्तर प्रदेश विधानसभा से पृथक उत्तराखंड राज्य के लिए विधेयक भी पारित हुआ। लेकिन इसी साल पहाड़ों में ओबीसी आरक्षण विरोधी आंदोलन शुरू होने के कारण मुलायम सिंह का बर्ताव उत्तराखंड के लोगों के साथ बदल गया पहले से ही चला आ रहा पहाड़ बनाम मैदान का विभेद और गहरा हो गया।

25 जुलाई, 1994 को पौड़ी शहर में इन्द्रमणि बडोनी ने भूख हड़ताल शुरू किया तो उनकी तीन माँगों में उत्तराखंड के पहाड़ों को ओबीसी पट्टी घोषित करने के साथ-साथ ग्राम सभा का परिसीमन रोकने और सवलंबित हिल कैडर योजना को लागू करना भी शामिल था। दूसरी तरफ़ पौड़ी शहर से तक़रीबन 25 किलोमीटर दूर श्रीनगर स्थित एच.एन. बहुगुणा विश्वविद्यालय के आरक्षण विरोधी छात्र भी बडोनी जी के भूख-हड़ताल में शामिल हो चुके थे। पौड़ी शहर में 7 अगस्त, 1994 की रात में लाठीचार्ज को याद करते हुए अद्वैत बहुगुणा बताते हैं :

> हम 10-12 छात्र पौड़ी कलेक्टर कार्यालय के सामने कृतन-गीत व डफली बजा रहे थे, बडोनी जी वहीं भूख हड़ताल पर बैठे थे। रात के दस बजे के क़रीब सैकड़ों पुलिस वालों ने हमें चारों तरफ़ से घेर लिया, बडोनी जी को उठाकर मेरठ लेकर चले गए और हम छात्रों को पीटने लगे। हम इधर-उधर गली में भागने लगे। उस दौरान भारी संख्या में नीचे वाली पौड़ी गाँव (चुआचा) की महिलाएँ हाथ में दरांती और पत्थर लेकर बाहर निकलीं और पुलिस वालों के ऊपर बरस पड़ीं, यह हमें आज तक समझ में नहीं आया।' 'उन महिलाओं को बस एक ही बात से गुस्सा था कि बच्चों को क्यूँ मार दिया' अगले दिन पूरा दिन पुलिस, छात्रों और महिलाओं के बीच पूरे शहर में झड़प हुई, महिलाओं ने सारे सरकारी दफ़्तरों में तोड़फोड़ मचाया और आगजनी की। ये सिलसिला अगले तीन दिनों तक चलता रहा और कोई 11 तारीख़ को जाकर सभा हो पाई। उसके बाद अलग राज्य के लिए संगठित आंदोलन का प्रारूप बनाया गया।

पृथक राज्य आंदोलन के दौरान खटीमा, मसूरी, नैनीताल, देहरादून, कोटद्वार, और मुज़फ़्फ़रनगर आदि जगहों पर गोली कांड हुए जिसमें कई आंदोलनकारियों को गोली लगी, शहीद हुए, महिलाओं के साथ बलात्कार और छेड़छाड़ हुई। घटना के बाद वहाँ के कमिश्नर ने सार्वजनिक तौर पर यह बयान दिया कि 'औरतें घर से निकलेंगी और गन्ने के खेतों में जाएँगी तो उनके साथ तो ऐसा होगा ही।' मुलायम सिंह ने ख़ुद सितम्बर 1994 में बयान दिया कि उनकी सरकार या राजनीति पहाड़ियों के भरोसे नहीं चल रही है। उत्तर प्रदेश और पहाड़ों के कई भागों में आरक्षण के समर्थन में आंदोलन करने का प्रयास भी किया गया (आनंद बल्लभ उप्रेती,

[21] शेखर पाठक (1999) : 893-907.

2007)। इस तरह के ग़ैर-ज़िम्मेदाराना बयानों ने पहाड़ी अस्मिता और महिला अस्मिता की भावना को और तीव्र किया। पृथक राज्य की माँग को जनता के सामने रामबाण की तरह प्रस्तुत किया जा रहा था। पृथक राज्य को आंदोलनकारी इस तरह प्रस्तुत कर रहे थे मानों पहाड़ियों की सभी समस्याओं जैसे बेरोज़गारी, पलायन, बढ़ती नशाखोरी, शोषक व भ्रष्ट ठेकेदार-नौकरशाही गठजोड़, जंगल-भूमि और लकड़ी माफ़िया के बढ़ते प्रभाव आदि का हल सिर्फ़ पृथक राज्य में निहित हो। पिथौरागढ़ की आंदोलनकारी राधिका शर्मा हमें बताती हैं, 'हमें कुछ और समझ में नहीं आ रहा था, हमारा बस एक ही जुनून था, 'आज दो और अभी उत्तराखंड राज्य दो'। उस दौर में लगने वाले नारों में भी इसकी झलक दिखती है।

आज दो अभी दो उत्तराखंड राज्य दो
जब तक पृथक राज्य न होगा, नशे का प्रतिकार न होगा, पर्वत का उद्धार न होगा, दुष्टों का संहार न होगा

पृथक राज्य आंदोलन का सर्वाधिक प्रत्यक्ष गठजोड़ शराब निषेध आंदोलन के साथ दिखता है जो उपरोक्त नारों में भी साफ़ दिखता है। हमने ऊपर भी उत्तराखंड के पहाड़ों में शराब के प्रचार प्रसार और आज़ादी के बाद से ही शराब के ख़िलाफ़ उठने वाले आंदोलनों के इतिहास का संक्षिप्त खाका प्रस्तुत किया है जहाँ महिलाओं की प्रखर भागीदारी के साथ-साथ शराब और जंगल के मुद्दों व ठेकेदारों और भ्रष्ट राज्य-तंत्र के बीच गठजोड़ दिखता है। ठेकेदारों और सरकारी तंत्र के इस भ्रष्ट गठजोड़ से उत्तराखंड समाज के लगभग सभी तबक़े प्रभावित थे। इन आंदोलनों के दौरान जन मानस के बीच विभिन्न माध्यमों से पहुँचे लगभग सभी पर्चे, पोस्टर, घोषणा पत्रों, आलेखों, नारों आदि में इस भ्रष्ट गठजोड़ का ज़िक्र बार-बार होता है।[22]

जब 1994 में ओबीसी आरक्षण विरोध के सहारे पृथक राज्य आंदोलन को फिर से एक बार नई ऊर्जा मिली तो क्षेत्र की महिलाएँ पृथक उत्तराखंड राज्य में मैदानों से आए शराब और ठेकेदार-नौकरशाही के भ्रष्ट गठजोड़ से मुक्ति का सपना सँजोने लगीं। इस गठजोड़ का ज़िक्र उत्तराखंड महिला मंच के पर्चों-पोस्टर और आंदोलन के दौरान लगाए जाने वाले नारों में भी प्रत्यक्ष रूप से दिखता है।

उत्तराखंड के तीन दलाल; माफ़िया, नेता, यूपी सरकार
उत्तराखंड की जली मशाल, भागे तस्कर भागे दलाल

1990 का दशक आते आते नारों में 'सरकार' शब्द का इस्तेमाल बढ़ने लगा था। सरकार

[22] वर्ष 1994-95 के दौरान उत्तराखंड महिला मंच, प्रगतिशील महिला परिषद, उत्तराखंड क्रांति दल, कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ़ इंडिया (एम.एल.) द्वारा जारी किए गए पर्चों के साथ साथ उस दौर में छपने वाले स्थानीय अख़बारों (अपना पहाड़, नैनीताल समाचार, योगवाहिनी आदि) में इसका ज़िक्र बार बार होता है. फ़ील्ड विज़िट के दौरान हमने कुमाऊँ के विभिन्न आंदोलनकारियों से मुलाक़ात के दौरान इन दस्तावेज़ों का डिजिटल संग्रह किया था. ऐसे ज़्यादातर दस्तावेज़ सड़ गए हैं या उसके संग्राहकों ने उसे सँजोकर रखने का औचित्य खो दिया है.

का ठेकेदारों *(गुंडों)* के साथ गठजोड़ को उभारा जा रहा था और सरकार पर प्रत्यक्ष रूप से हमले किए जा रहे थे जैसे, 'ये सरकार वो सरकार, दारू वालों की सरकार' और, 'दो बोतल देती सरकार, गुंडे पाते एक हज़ार।'[23]

सितम्बर-अक्तूबर 2020 में पिथौरागढ़ जिले के मुवानी स्थित अमोटी गाँव में घास काट रही कुछ महिलाएँ 1994 का दौर याद करते हुए बताती हैं कि उस दौर में क्षेत्र में आठ रुपये में बिकने वाली पॉलिथीन बंद कच्ची देशी शराब का लोगों ने नाम 'मुलायम शराब' रख दिया था। उस दौरान अगर कोई व्यक्ति शराब पीकर घर या घर से बाहर किसी तरह का कोई दुर्व्यवहार कर रहा होता था तो लोग मुलायम सिंह को उलाहना देते हुए बोलते, 'देखो मुलायम पीकर वो तमाशा कर रहा है' या 'मुलायम पीकर वो अपनी पत्नी को पीट रहा है।' स्थानीय स्तर पर, मैदान से आने वाले शराब ठेकेदारों और उनके द्वारा लाए जाने वाले शराबों की पहचान मुलायम सिंह के साथ जोड़ दी जाती थी। मुलायम सरकार के साथ शराब और शराब के ठेकेदारों के गठजोड़ को उसी तरह प्रस्तुत किया गया जैसे चिपको आंदोलन के दौरान भू-माफ़िया व जंगल माफ़िया का गठजोड़ ने नौकरशाही के साथ जोड़ दिया गया था। जबकि हक़ीक़त में मुलायम सिंह के कार्यकाल से बहुत पूर्व से ही, 1970 के दशक से ही – उत्तराखंड के ग्रामीण भागों में कच्ची देशी शराब और उसके ठेकेदार अपनी पैठ बनाए बैठे थे।

आंदोलन से परे महिलाओं का सवाल

निस्संदेह उत्तराखंड राज्य आंदोलन के दौरान सर्वाधिक भागीदारी महिलाओं की थी। लगभग सभी सभाओं, रैलियों, जन-सम्पर्क अभियानों, भूख हड़ताल, आदि आंदोलन के कार्यक्रमों में महिलाओं की संख्यागत भागीदारी पुरुषों से कहीं अधिक थी। कोई महिलाओं की भागीदारी के आँकड़े को आधे से अधिक मानता है तो कुछ इसे दो तिहाई तक मानते हैं। 07 जून, 1996 के अपने एक पर्चे में *उत्तराखंड महिला मंच, आंदोलन* में अस्सी प्रतिशत महिला भागीदारी का दावा करती है। आंदोलन के चित्रों में महिलाएँ रैलियों और जलसों में सबसे अगली पंक्ति में जबकि पुरुष पिछली पंक्ति में खड़े मिलते हैं। नैनीताल के भुवाली में रहने वाली आंदोलनकारी संतोष जी बताती हैं कि 'महिलाओं को रैलियों में अगली पंक्ति में इसलिए रखा जाता था क्योंकि पुलिस प्रशासन महिलाओं पर लाठीचार्ज या गोली चलाने या किसी प्रकार का दुर्व्यवहार करने से निरंतर बचना चाहता था।' पिथौरागढ़ की राधिका शर्मा समेत अन्य प्रखर महिला आंदोलनकारी बताती हैं कि जब पुलिस उन पर हमला कर देती थी तो पीछे की पंक्ति में खड़े पुरुष आगे आ जाते थे।

हालाँकि आंदोलन के दौरान जेल जाने वालों की संख्या में पुरुषों की भागीदारी महिलाओं से अधिक थी। आंदोलन के दौरान कई ऐसे क़िस्से हैं जिसमें आंदोलन के दौरान गिरफ़्तार की गई महिलाओं को देर शाम या देर रात छोड़ा दिया जाता था पर पुरुषों को नहीं छोड़ा जाता। गिरफ़्तार पुरुष आंदोलनकारियों को थाने से जेल ले जाने से रोकने के लिए भी

[23] उत्तराखंड महिला मंच की पत्रिका *उत्तरा* के विभिन्न अंकों में इन नारों का वर्णन है.

कई बार स्थानीय महिलाएँ सड़क पर उतर सड़कों को जाम कर देती थीं और प्रशासन को उन पुरुष आंदोलनकारियों को छोड़ना पड़ता था। एक और क्षेत्र था इस आंदोलन का जहाँ पुरुषों की भागीदारी महिलाओं से कहीं अधिक थी। आंदोलन में संलग्न ज़्यादातर राजनीतिक पार्टियाँ, संगठन और एकता मंच में महिलाओं की भागीदारी तुलनात्मक रूप से बहुत कम थी। ज़्यादातर महिलाएँ जो इन संगठनों में शामिल थीं उन्हें नेतृत्व विरले ही दिया जाता था। हाँ, बैठकों और पार्टी कार्यक्रमों में महिलाओं की उपस्थिति में बदलाव जरूर आया। नैनीताल की विमला असवाल बताती हैं कि 'पहले कुछ चयनित महिलाएँ ही नागरिक संघर्ष समिति की बैठक में जाती थीं... लेकिन अक्तूबर के बाद जब आंदोलन में कुछ ठहराव आ गया था तो हम सभी महिलाएँ भी बैठक में जाने लगीं।'[24]

इस आलेख के लिए किए गए फ़ील्ड वर्क (सितम्बर-अक्तूबर 2020) के दौरान भिन्न-भिन्न संगठनों से जुड़े आंदोलनकारियों के साथ बातचीत में उन्होंने बताया कि आंदोलन में शामिल महिलाओं की आंदोलन से संबंधित नीतियों और फ़ैसले लेने में हिस्सेदारी कम होना उस दौर में कभी मुद्दा नहीं बना था।[25] उनका मानना है कि चूँकि आंदोलन स्वतः स्फूर्त और केंद्रीय नेतृत्व विहीन था इसलिए हिस्सेदारी का सवाल आंदोलन के दौरान आंदोलनकारी के लिए महत्त्वपूर्ण नहीं था। यहाँ यह जोड़ देना लाज़िमी है कि आंदोलन के दौरान नैनीताल से लेकर दिल्ली तक कई ऐसी घटनाएँ हुईं जिसमें प्रतिनिधित्व के मुद्दे पर, यथा मंच पर बैठने और बोलने के लिए लड़ाई झगड़े हुए और माइक की छीना-झपटी भी हुई।[26] प्रतिनिधित्व का सवाल पार्टियों और गुटों के बीच आपसी समन्वय से भी जुड़ा रहा। राज्य प्राप्ति के लिए सभी संगठनों को एक मंच पर लाने के लिए उत्तराखंड संयुक्त संघर्ष समिति का गठन 1989 में ही हो चुका था पर सभी राजनीतिक पार्टियाँ और संगठन अपने-अपने स्तर पर स्वतंत्र रूप से आंदोलन में सक्रिय भूमिका निभा रहे थे। वर्ष 1994 ख़त्म होते-होते संयुक्त संघर्ष समिति के सदस्य संगठनों के बीच मतभेद मुखर रूप से सामने आ चुका था। लेकिन, उनमें से कोई संयुक्त संघर्ष समिति से न तो अलग हुआ और न ही किसी ने उसके क्रियान्वयन पर सवाल उठाया। एकमात्र संस्था जिसने संयुक्त संघर्ष समिति और आंदोलन में शामिल अन्य संगठनों पर भेदभाव का आरोप लगाया उसका नाम था प्रगतिशील महिला परिषद।

प्रगतिशील महिला परिषद वर्ष 1993 से सभी महिला संगठनों और क्षेत्र की महिलाओं से संबंधित समस्याओं को उठाते रहने वाले व्यक्तियों और संगठनों को पृथक राज्य आंदोलन के लिए एकजुट करने का लगातार प्रयास कर रही थी। अंततः फ़रवरी 1994 में प्रगतिशील महिला परिषद का गठन हुआ। इस परिषद का दावा है कि परिषद की महिलाएँ ओबीसी आरक्षण विरोधी और पृथक राज्य आंदोलन प्रारम्भ होने के पहले से ही लगातार ग्रामीण महिलाओं के साथ संपर्क में थीं। उनका ये भी दावा है कि परिषद सदस्यों ने ओबीसी आरक्षण विरोधी

[24] विमला असवाल (2010) : 43-46.

[25] इनमें पिथौरागढ़ के जनार्दन उप्रेती, हल्द्वानी की रेखा जोशी, और असकोट के वीर जंग सिंह पाल प्रमुख हैं.

[26] उत्तरा का लेख जिसमें नैनीताल में भी सुशीला राजवार के हाथ से माइक छीन लिया गया था. दिल्ली में 02 अक्टूबर, 1994 को हुई जनसभा में काशी सिंह ऐरी और इंद्रमणि बडोनी जी को मंच पर चढ़ने नहीं दिया गया, बार बार माइक बंद कर दिया गया, और इस दौरान ऐरी जी का हाथ भी टूट गया था.

आंदोलन को उत्तराखंड राज्य आंदोलन में परिवर्तित करने में अहम भूमिका निभाई थी। लेकिन 27 सितम्बर, 1994 को परिषद द्वारा जारी एक पर्चे में वो सारी पीड़ा सामने दिखती है जिसके अनुसार संयुक्त संघर्ष समिति के सदस्य उनके साथ भेदभाव करते थे। वे लिखते हैं कि 'छात्रों को छोड़कर और कोई भी संगठन एक समग्र आंदोलन के लिए उनके साथ नहीं आता था। परिषद पोस्टर में विभिन्न राजनीतिक दलों द्वारा शराब, जुआ, ठेकेदारों और उत्तराखंड राज्य के स्वरूप के मुद्दों को बढ़ा-चढ़ाकर उठाने के लिए आंदोलन को भटकाने का आरोप लगाते है।'[27] महिलाओं की इस परिषद के बारे में उत्तराखंड की किसी भी राजनीतिक पार्टी या उत्तराखंड संयुक्त संघर्ष समिति के पर्चे-पोस्टर या घोषणापत्रों में कोई ज़िक्र नहीं मिलता है। परिषद ऐसे संगठनों पर राजनीतिक आकांक्षाओं से लबालब दलगत राजनीति में चुनावी लाभ के लिए उत्तराखंड राज्य आंदोलन का इस्तेमाल करने का भी आरोप लगाती है। परिषद का मानना है कि इन संगठनों ने मुज़फ़्फ़रनगर घटना के बाद अगले एक महीने तक लगातार रैलियाँ, राजनीतिक सभाएँ, पद यात्राएँ, धरना प्रदर्शन किए और फिर शांत हो गए परन्तु उन महिलाओं को न्यायिक न्याय दिलाने के लिए कुछ ख़ास प्रयास नहीं किया। ऐसे में प्रदेश के विभिन्न हिस्सों से उमा भट्ट, कमला पंत, गिरजा चौहान, जैसी कुछ प्रखर महिलाओं ने एक बार फिर एक साथ एक मंच पर एकत्रित होने का प्रयास किया, सम्मेलन हुआ और अंततः नवम्बर 1994 में उत्तराखंड महिला मंच का गठन हुआ।

उत्तराखंड महिला मंच के शुरुआती पर्चे पोस्टर और घोषणा-पत्रों में शराब निषेध, ठेकेदार-नौकरशाह गठजोड़ और आंदोलन में एकता बनाए रखने की अपील सबसे ऊपर रहती थी। इनके पर्चों में अलग उत्तराखंड राज्य की माँग से अधिक महत्त्व नवनिर्मित उत्तराखंड के भावी स्वरूप पर ज़ोर दिया जाता था। उत्तराखंड महिला मंच की कमला पंत बताती हैं कि 'वर्ष 1995 में जब केंद्र सरकार के राजेश पायलट ने एक समग्र वार्ता के लिए उत्तराखंड के आंदोलनकारियों को दिल्ली बुलाया तो आठ में से सिर्फ़ एक महिला को जगह दी गई। हमने समग्र वार्ता में कम से कम आधी महिला सदस्य को शामिल करने की माँग की जिसे नहीं माने जाने पर हम वार्ता में शामिल नहीं हुए।' इसी वार्ता में शामिल होने गई गोपेश्वर की चन्द्रलेखा बिष्ट बताती हैं कि 'उत्तराखंड क्रांति दल' के नेता ऐरी जी ने हमें ये बोलकर दिल्ली से वापस भेज दिया था कि ज़्यादा लोग रहेंगे तो काम ख़राब हो जाएगा, और हमें राजेश पायलट से नहीं मिलने दिया गया।' उत्तराखंड पृथक आंदोलन में शामिल लगभग सभी संगठनों और महिला मंच के बीच रिश्तों की खटास कई मौक़ों और मुद्दों पर झलकती रही।

महिला मंच द्वारा आयोजित आंदोलन के दौरान शराब की दुकानों पर दिए जाने वाले धरने और तोड़-फोड़ व लूटपाट के बारे में भी लोगों के बीच कई अफ़वाहें फैलाई गईं। आंदोलनकारी और महिला मंच की सदस्य विमला असवाल बताती हैं कि 'इन अफ़वाहों में से एक प्रमुख अफ़वाह यह थी कि शराब की दुकानों पर दिन भर धरना देने वाली महिलाएँ शाम को दुकान के मालिक से अपने पति के लिए मुफ़्त में शराब लेकर वापस चली जाया

[27] 27 सितम्बर, (1994) को छपा प्रगतिशील महिला परिषद का पर्चा जो नैनीताल की उमा भट्ट के पास संगृहीत है.

करती थीं।[28] पिथौरागढ़ में शराब और पृथक राज्य आंदोलन में अहम भूमिका निभाने वाली प्रेमा बाम बताती हैं कि 'जब दिन भर महिलाएँ शराब की दुकान पर धरना देती थीं तो शाम को पुरुष उन्हें यह बोलकर घर वापस भेज देते थे कि अगले दिन सुबह तक पुरुष लोग धरना देंगे और शराब की दुकान को खुलने नहीं देंगे। ऐसे ही एक धरना के दौरान जब प्रेमा बाम और उनके सह-आंदोलनकारी रात में पुरुषों को शराब की दुकान की चाबी देकर अपने-अपने घर चले गए तो धरना की ज़िम्मेदारी लेने वाले पुरुषों ने शराब दुकान के मालिक से साँठगाँठ करके उनकी दुकान से सारी शराब बाहर निकलवा दिया जबकि आरोप मेरे ऊपर लगा दिया गया कि उन्होंने शराब माफ़िया से पैसे लेकर दुकान की चाबी उन्हें दे दिया था।'[29] आंदोलन में शामिल महिलाओं को बदनाम करने के लिए ऐसी कई अफ़वाहें उड़ाई गईं।

आंदोलन में शामिल लगभग सभी महिलाओं को आंदोलन की ज़िम्मेदारियों के साथ-साथ घर-परिवार की ज़िम्मेदारियों को निभाना पड़ता था। विमला असवाल समेत कई आंदोलनकारी महिला बताती हैं कि सुबह सभी के लिए भोजन बनाकर, बच्चों को स्कूल भेजकर धरने पर पहुँची महिलाओं को शाम को फिर से परिवार के लिए खाना बनाने घर जाना पड़ता था। नैनीताल में रहने वाली उत्तराखंड महिला मंच की संयोजक उमा भट्ट बताती हैं कि 'जब स्कूल और कॉलेज खुल गए और राज्य कर्मचारियों ने हड़ताल वापस ले लिया तो महिलाओं की भागीदारी कम होने लगी क्योंकि स्कूल और दफ़्तर खुल जाने से महिलाओं की घर के अंदर पारिवारिक ज़िम्मेदारी बढ़ गई थी।'

महिला मंच ने वर्ष 1996 में होने वाले लोकसभा चुनाव का विरोध किया और लोगों से यह अपील किया कि जब तक पृथक उत्तराखंड राज्य नहीं बन जाए तब तक उत्तराखंड का जनमानस किसी भी चुनाव में किसी भी तरह की कोई भागीदारी नहीं करे। 1996 के लोकसभा चुनाव में उत्तराखंड क्रांति दल को छोड़कर अन्य सभी राजनीतिक पार्टियाँ चुनाव में हिस्सा लेती हैं जिसे रोकने के लिए उत्तराखंड क्रांति दल और महिला मंच हर संभव प्रयास करती हैं। चुनाव आयोग के कार्यालय पर धरना दिया जाता है, सभी पार्टियों के संभावित प्रत्याशियों को नामांकन करने से रोका जाता है, मतदान केंद्रों पर मतदान रोकने का प्रयास किया जाता है पर उन्हें विशेष सफलता नहीं मिलती है। अगले ही चुनाव (वर्ष 1998) में एकमात्र राजनीतिक पार्टी, उत्तराखंड क्रांति दल जिन्होंने 1996 के चुनाव का विरोध किया था वह भी चुनाव में शामिल हो गया और विरोध करने में महिला मंच अलग-थलग पड़ गई। महिला मंच के कार्यक्रमों, प्रदर्शनों, धरने और माँगों के साथ अन्य संगठन असहयोग का व्यवहार करने लगे जिससे मंच के कार्यक्रमों में लोगों की भागीदारी लगातार घटने लगी। 1990 के दशक के आख़िरी वर्षों में उत्तराखंड महिला मंच के साथ वही हो रहा था जो प्रगतिशील महिला संघ के साथ वर्ष 1994 में हुआ था। उत्तराखंड राज्य बनने के बाद महिला मंच ने लोगों से चुनाव में भागीदारी करने की अपील की लेकिन लोगों से उन

---

[28] विमला असवाल, *उत्तरा पत्रिका*, जनवरी-मार्च 2011, पृष्ठ संख्या 34-36; और विमला असवाल से नैनीताल में अक्टूबर 2020 में चर्चा का हिस्सा.

[29] 17 अक्टूबर, 2020 को प्रेमा बाम से उनके पैतृक गाँव में हुई बातचीत का अंश.

पार्टियों को अपना वोट देने का आग्रह किया जो ग़ैरसेन को राजधानी बनाने, और शराब बंद करने का वादा करे।[30]

महिलाओं की हिस्सेदारी के सवाल पर उत्तराखंड क्रांति दल के सर्वाधिक प्रचलित नेता काशी सिंह ऐरी बताते हैं कि 'उत्तराखंड महिला मंच के साथियों का योगदान पूरे आंदोलन के दौरान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रहा है लेकिन उनकी माँगें और मुद्दे बहुत ज़्यादा यूटोपियन (काल्पनिक) थे जिसके कारण उनमें आगे चलकर फूट पड़ी और उनकी कई महिला सदस्य अपनी उभरती संभावनाओं से भरी राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं को पूरा करने के लिए भाजपा और कॉन्ग्रेस में चली गईं।'[31] हालाँकि प्रेमा बाम स्वयं किसी राजनीतिक दल में शामिल नहीं हुईं पर अपने बेटे के भाजपा में शामिल होने के फ़ैसले को वाजिब ठहराते हुए कहती हैं, 'मेरी सबसे पहली ज़िम्मेदारी उन महिलाओं के प्रति थी जो मेरे बोलने पर हफ़्तों तक मेरे साथ अपना घर-परिवार छोड़कर गाँव-गाँव प्रचार में घूमती थीं पर आज राज्य बनने के बीस वर्ष बाद भी मैं उनके लिए कुछ नहीं कर पाई। आज मेरा बेटा सरकार में शामिल हुआ है तो कम से कम हम उनमें से कुछ को राज्य आंदोलनकारियों की सूची में शामिल करा पाए, उनके लिए उचित मानदेय, वृद्धा पेंशन, आदि की व्यवस्था कर पा रहे हैं।'

गोपेश्वर की चन्द्रलेखा बिष्ट जी बताती हैं कि प्रदेश में वर्ष 2008 में होने वाले पंचायत चुनाव में चमोली ज़िले से महिला मंच की सदस्य प्रभात रतूड़ी ने ग्राम प्रधान के पद के लिए चुनाव में अपना नामांकन किया लेकिन महिला मंच के दबाव में उन्हें अपना नामांकन वापस लेना पड़ा क्योंकि महिला मंच के राजनीतिक दृष्टिकोण के अनुसार महिला मंच के सदस्यों को दलगत या वोटगत राजनीति में हिस्सा लेने की इजाज़त नहीं थी। महिला मंच के पर्चों में दलगत और चुनावी राजनीति को दलदल वाली गंदी राजनीति मानते हुए हीनता की दृष्टि से देखा जाता था। महिला मंच की कई सदस्य व्यक्तिगत राजनीतिक महत्वाकांक्षा होने के बावजूद दलगत-चुनावी राजनीति में क़दम नहीं रखती हैं। उनका मानना है कि पूरी ज़िंदगी जिस संगठन (महिला मंच) को दिया उसे वो ज़िंदगी के आख़िरी पड़ाव पर नहीं छोड़ना चाहती हैं। जहाँ एक ओर, इनमें से कुछ सदस्यों को छोड़कर ज़्यादातर सदस्य आज भी 1996 के चुनाव में हिस्सा नहीं लेने के संगठन के फ़ैसले को सबसे बड़ी भूल समझते हैं, वहीं दूसरी ओर, प्रोफ़ेसर उमा भट्ट जैसी प्रभावशाली महिला मंच की सदस्य आज भी अपने फ़ैसले पर अडिग हैं। उमा भट्ट के अनुसार उनका आंदोलन में भागीदारी करने का उद्देश्य राजनीतिक और सामाजिक बदलाव था न कि राजनीतिक हिस्सेदारी। वर्ष 2020 में महिला मंच की अन्य सदस्यों के साथ-साथ चुनाव में भागीदारी को लेकर उमा भट्ट के दृष्टिकोण में भी बहुत बदलाव हुआ है। अब महिला मंच अपने सदस्यों को पंचायत चुनाव लड़ने के लिए न सिर्फ़ प्रोत्साहित करती है बल्कि उन्हें मदद भी करती है। मुंसियारी की आंदोलनकारी और महिला मंच की सदस्य मल्लिका जी का मानना है कि महिलाओं के लिए दलगत-चुनावगत राजनीति में प्रत्यक्ष रूप से प्रतिनिधि के रूप में हिस्सा लेने के लिए – वर्ष 1996 का दौर उचित नहीं था क्योंकि उस दौर में महिलाएँ

[30] उत्तराखंड महिला मंच के पर्चे जो उमा भट्ट जी के पास संगृहीत हैं, इन पर्चों में वर्ष या तिथि अंकित नहीं है.

[31] अक्टूबर 2020 में काशी सिंह ऐरी के साथ पिथौरागढ़ में हुई बातचीत का अंश.

लोकतांत्रिक प्रक्रिया में चुनाव लड़ने में सक्षम नहीं थीं। पहले उनका राजनीतीकरण होना ज़रूरी था। मल्लिका जी के अनुसार अब समय आ गया है जब कि महिलाएँ पंचायतों और स्थानीय निकाय के चुनाव में हिस्सा लें। मल्लिका जी स्वयं भी दो बार ग्राम प्रधान रह चुकी हैं और अपने सहभागियों को चुनाव लड़ने के लिए प्रेरित करती हैं।

निष्कर्ष

चुनावी राजनीति से अपने आप को अलग रखने के एवज़ में दिए गए उपरोक्त दो तर्कों (उमा भट्ट और मल्लिका) में वंचित समाज के उत्थान हेतु चुनावी राजनीति की भूमिका की दो भिन्न-भिन्न विचारधाराओं को समझने की सम्भावना दिखती है। एक ओर जहाँ सामाजिक बदलाव को चुनावी राजनीति से परे देखने वाली गांधीवादी विचारधारा है जिसके तहत गांधी जी हमेशा से अपने अनुयायियों को दलगत चुनावी राजनीति से अलग होकर (सर्वोदय आंदोलन) समाज और राजनीति में परिवर्तन की लड़ाई में भागीदारी करने की सलाह देते हैं, वहीं दूसरी तरफ़ वंचित तबक़े का लोकतंत्र की प्रक्रिया में शामिल होने से पहले ज़रूरी बदलाव के लिए राजनीतिक हस्तांतरण वामपंथी विचारधारा (सर्वहारा वर्ग की तानाशाही या क्रांति) है। हालाँकि उत्तराखंड की साम्यवादी पार्टियाँ इस राज्य आंदोलन के दौरान विरले ही महिलाओं की राजनीतिक हस्तांतरण सुनिश्चित करने के लिए कोई प्रयास करती मिलती हैं। भूमि व संसाधन के हस्तांतरण की राजनीति में असीम विश्वास रखने वाले साम्यवादी संगठनों ने पहाड़ी कृषक महिलाओं के लिए भूमि या सम्पत्ति के अधिकार की माँग कभी नहीं की। दूसरी ओर पहाड़ों से पुरुषों के बढ़ते पलायन से ग्रामीण कृषिगत अर्थव्यवस्था का पूरा भार चाहे-अनचाहे वहाँ की महिलाओं को ही ढोना पड़ा। गांधीवादी और साम्यवादी वैचारिकता के बीच संबंध जोड़ते, – हल्द्वानी के आंदोलनकारी और वरिष्ठ पत्रकार व लेखक प्रभात उप्रेती बताते हैं कि उत्तराखंड के ज़्यादातर वामपंथी, ख़ासकर महिला वामपंथी, गांधीवादी वामपंथी हैं।

वंचित समाज के उत्थान के लिए चुनावी राजनीति की महत्त्वपूर्ण भूमिका को समझती एक तीसरी समझ है, जिसे आंबेडकरवाद कहा जा सकता है। समाज के वंचित तबक़ों ख़ासकर दलितों और महिलाओं के उत्थान के संबंध में बाबा साहेब आंबेडकर का मानना था कि बग़ैर दलगत और चुनावगत राजनीति में प्रतिनिधित्व/ हिस्सेदारी के समाज के वंचित तबक़े का उत्थान नहीं हो सकता है। शायद यही कारण था कि बाबा साहब आंबेडकर दलितों के लिए पृथक निर्वाचन प्रणाली और आरक्षण की माँग को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं।[32] इसके साथ-साथ आंबेडकर लगातार समुदाय, जाति और वर्ग शब्द का इस्तेमाल एक दूसरे के पूरक के रूप में करते हैं और संविधान के आर्टिकल 16(4) में 'पिछड़ा वर्ग' शब्द का इस्तेमाल करते हैं न कि 'पिछड़ी जाति' का, जिससे कि पिछड़ी जाति समेत महिलाओं व समाज के सभी पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण की सम्भावना बनी रहे।[33]

उत्तराखंड महिला मंच का दलगत चुनावी राजनीति से अपने आप को अलग रखने से

[32] फ्रंचेस्का आर जेंसेनिस (2015) : 75-105.

[33] मेरी ई. जॉन (2000) : 3722-3729.

लेकर चुनावी राजनीति की ओर बढ़ते क़दम कहीं न कहीं गांधी जी के राजनीतिक मूल्यों से शुरू होते हुए बाबा साहब आंबेडकर के राजनीतिक मूल्यों की ओर अग्रसर होने का सफ़र है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि उत्तराखंड में समाज के वंचित तबक़े (महिला) के लिए राजनीतिक हिस्सेदारी सुनिश्चित करने के लिए कभी कोई प्रयास नहीं किया गया। उत्तराखंड में होने वाले सभी आंदोलनों में महिलाओं की सिर्फ़ भागीदारी सुनिश्चित किए जाने का प्रयास किया गया है जिसमें गांधीवादी संस्थाओं और नेताओं ने अहम भूमिका निभाई। आंबेडकर के राजनीतिक मूल्य सभी वंचित समाज के लिए थे जिसमें महिलाएँ शामिल थीं लेकिन उन्हें और उनके राजनीतिक मूल्यों को दलित समाज तक सीमित करने का भरपूर प्रयास किया गया। महिलाओं के उत्थान की लड़ाई में उनके द्वारा दलगत चुनावी राजनीति में हिस्सेदारी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितनी दलितों के उत्थान में चुनावों और नौकरियों में उनकी हिस्सेदारी सुनिश्चित करने के लिए उन्हें दिया जाने वाला आरक्षण।

संदर्भ

अजय सिंह रावत (1999), *फ़ॉरेस्ट मैनेजमेंट इन कुमाऊँ हिमालय : स्ट्रगल ऑफ़ द मार्जिनालाइज़्ड पीपल*, इंडस पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली.

आनंद बल्लभ उप्रेती (2007), *उत्तराखंड आंदोलन में गदहों की भूमिका और उनका भविष्य*, पिघलता हिमालय प्रकाशन, नैनीताल.

इ. ऐटकिंसन (1882), द *हिमालयन गज़ेटियर*, वॉल्यूम 3, भाग-2.

एम्मा मावड़सलेय (1996), उत्तराखंड ऐजिटेशन ऐंड अदर बैकवर्ड क्लासेज़, *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, जनवरी 27, अंक. 31, भाग 4. : 205-210.

कमला गणेश और उषा ठक्कर (2005), *कल्चर ऐंड द मेकिंग ऑफ़ आयडेंटिटी इन कंटेम्परेरी इंडिया*, सेज प्रकाशन, दिल्ली.

तरुण जोशी (2017), 'जंगल पंचायत', *पहाड़*, पिथौरागढ़-चंपावत : 343-350.

प्रदीप कुमार (2000), *उत्तराखंड मूवमेंट : कन्स्ट्रक्शन ऑफ़ रीजनल आयडेंटिटी*, कनिष्क पब्लिशर्स, इंडिया.

फ़्रंचेस्का आर जेंसेनिस (2015), 'मायर्ड इन रिज़र्वेशन : द पाथ-डिपेंडेंट हिस्ट्री ऑफ़ इलेक्टोरल कोटा इन इंडिया', द *जर्नल ऑफ़ एशियन स्टडीज़*, फ़रवरी, अंक 74 : 75-105.

मधु किश्वर (1985), 'गांधी ऑन वीमेन', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, अक्टूबर 5, अंक 20 : 1691-1702.

मधु सरीन (2001), 'डिसएम्पावरमेंट इन द नेम ऑफ़ 'पार्टीसिपेट' फ़ॉरेस्ट्री?, विलेज़ फ़ॉरेस्ट जॉइंट मैनेजमेंट इन उत्तराखंड', *फ़ॉरेस्ट, ट्रीज़ ऐंड पीपल*, संख्या 44, अप्रैल.

मेरी. ई. जॉन (2000), 'अल्टरनेटिव मॉडर्निटी? रिज़र्वेशन ऐंड वीमेन मूवमेंट इन ट्वेंटीएथ सेंचुरी इंडिया', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, अक्टूबर 21-नवम्बर 3, 2000, अंक 35 : 3722-3729.

रामचंद्र गुहा (2013), *अनक्वाइट वुड : इकोलॉजिकल चेंज ऐंड पेज़ंट रेज़िस्टेन्स इन हिमालय*, पर्मानेंट ब्लैक, रानीखेत.

रुनी दत्ता (2019), *इमैन्सिपेटिंग ऐंड स्ट्रेंथनिंग इंडियन वीमेन : ऐन एनालिसिस ऑफ़ बी. आर. आंबेडकर'स कॉन्ट्रिब्यूशन*, कंटेम्परेरी वॉयस ऑफ़ दलित, सेज पब्लिकेशन.

वंदना शिवा (2005), *स्टेइंग अलाइव : वीमेन, इकॉलजी ऐंड डेविल*, काली फ़ॉर वीमेन, इंडिया.

विमला असवाल (2010), *उत्तरा पत्रिका*, अक्तूबर-दिसम्बर : 43-46.

विमला असवाल (2011), *उत्तरा पत्रिका*, विमला असवाल से नैनीताल में अक्टूबर 2020 को चर्चा का हिस्सा, जनवरी-मार्च : 34-36.

शेखर पाठक (1985), 'इंटॉक्सिकेशन ऐज सोशल ईविल : एंटी-अल्कोहल मूवमेंट इन उत्तराखंड', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, 10 अगस्त : 1360-1365.

शेखर पाठक (1999), 'बियॉन्ड ऐन ऑटोनॉमस स्टेट बैकग्राउंड ऐंड प्रिलिमिनरी एनालिसिस ऑफ़ उत्तराखंड मूवमेंट', *प्रोसीडिंग्स ऑफ़ इंडियन हिस्ट्री कॉन्ग्रेस*, अंक 60 : 893-907.

शेखर पाठक (2019), *हरी भरी उम्मीद : चिपको आंदोलन और अन्य जंगलात प्रतिरोधी परम्परा*, भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली.

सावित्री कैरा जन्तवाल (1989), 'कुमाऊँ की महिलाओं का राष्ट्र संग्राम तथा स्थानीय जन आंदोलनों में योगदान', अप्रकाशित डी. लिट. शोध, इतिहास विभाग, कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल.

सावित्री कैरा जन्तवाल (2018), *स्वातंत्र्योत्तर उत्तराखंड में महिलाओं की भूमिका (उत्तराखंड आंदोलन के विशेष संदर्भ में) कुमाऊँ की महिलाओं का राष्ट्र संग्राम तथा स्थानीय जन आंदोलनों में योगदान*, अप्रकाशित डी. लिट. शोध, इतिहास विभाग, कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल.

सुंदरलाल बहुगुणा (जनवरी-फ़रवरी 1988), 'चिपको : द पीपल्'स मूवमेंट विद अ होप फ़ॉर द सर्वाइवल ऑफ़ ह्यूमनकाइंड', आई.एफ़.डी.ए. डोज़ियर, अंक 63 : 6.

सिनेमा, साहित्य और इतिहास : प्रेमचंद, राहुल सांकृत्यायन और सिनेमा की सामाजिकता

शुभनीत कौशिक



पिछले कुछ दशकों में इतिहासकारों ने भारतीय संदर्भ में साहित्य और इतिहास के अंतर-संबंधों और उससे प्राप्त होने वाली अंतर्दृष्टियों पर नए सिरे से विचार किया है। साहित्य और इतिहास की इस गहन पड़ताल ने सामाजिक इतिहास की हमारी समझ को न केवल पहले से समृद्ध किया है, बल्कि इतिहास और अतीत की बनी-बनाई धारणाओं को तोड़ा भी है। साहित्य और इतिहास के इस अंतर्गुंफित इतिहास में अगर हम सिनेमा को भी जोड़ लें, तो अतीत की एक बेहतर और अधिक समृद्ध तस्वीर उभर कर हमारे सामने आती है। इस लेख में मैं सिनेमा, साहित्य और इतिहास की इसी त्रिवेणी के सहारे बीसवीं सदी के तीसरे-चौथे दशक के भारत में आकार लेती सामाजिकता के विविध आयामों की बात करूँगा। इस क्रम में हिंदी के दो महत्त्वपूर्ण साहित्यकारों प्रेमचंद और राहुल सांकृत्यायन का सिनेमा संबंधी लेखन मेरे विश्लेषण का आधार होगा।

फ़िल्म और सामाजिक इतिहास

बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में इतिहासकारों ने सामाजिक इतिहास को उसकी समग्रता में समझने के लिए दृश्य संस्कृति के अध्ययन पर ज़ोर दिया। उल्लेखनीय है कि दृश्य संस्कृति के विभिन्न आयामों के विश्लेषण से सामाजिक इतिहास के संदर्भ में हमें न केवल गहरी अंतर्दृष्टि मिलती है,

बल्कि दृश्यात्मक स्रोतों का इस्तेमाल करते हुए हम ऐतिहासिक अध्ययन की विषयवस्तु और उसके फ़लक़ को और समृद्ध कर पाते हैं। कुछ इतिहासकारों ने जन-स्मृति और इतिहास की सामाजिक प्रासंगिकता के हवाले से भी दृश्य संस्कृति के अध्ययन के महत्त्व को रेखांकित किया है। इतिहासकार अनिरुद्ध देशपांडे के अनुसार, सिनेमा और दृश्य संस्कृति के ऐतिहासिक अध्ययन के ज़रिए जन-इतिहास ('पब्लिक हिस्ट्री') और अकादमिक इतिहास की दूरी को भी कम किया जा सकता है।[1] अगर हम आम दर्शकों पर सिनेमा के प्रभाव को ध्यान में रखें तो बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक विमर्श और इतिहास से जुड़ी आम समझ के निर्माण में फ़िल्मों और फ़िल्म-निर्माताओं की भूमिका को अनदेखा नहीं किया जा सकता। कला फ़िल्मों और समानांतर सिनेमा के साथ ही धीरे-धीरे इतिहासकारों और फ़िल्म अध्येताओं ने लोकप्रिय फ़िल्मों, फ़िल्म पत्रिकाओं और अख़बारों में छपने वाली फ़िल्म समीक्षाओं को भी अपने अध्ययन के दायरे में लिया। अकारण नहीं कि ज्योतिका विर्दी लिखती हैं कि 'लोकप्रिय हिंदी सिनेमा भारतीय इतिहास और सांस्कृतिक राजनीति का एक मोहक वृत्तांत प्रस्तुत करता है।'[2]

फ़िल्मों को उनके ऐतिहासिक संदर्भ में समझने के क्रम में यह ज़रूरी हो जाता है कि हम फ़िल्म और उस समाज के अंतर्संबंध को समझें, जिसमें फ़िल्में बनाई और देखी जा रही होती हैं। फ़िल्मों को इतिहास के स्रोत के रूप में बरतने के लिए यह भी ज़रूरी है कि हम उन सामाजिक प्रक्रियाओं को समझें, जो फ़िल्म-निर्माण में अहम भूमिका निभाती हैं। इतिहासकार मार्क फेरो लिखते हैं कि 'इतिहास के उत्पाद और एजेंट के रूप में, फ़िल्में और फ़िल्मों की दुनिया अपने दर्शक वर्ग, पूँजी और राज्य के साथ जटिल अंतर्संबंध स्थापित करती है और संबंधों का यह आयाम फ़िल्मों के इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण धुरी होता है।'[3] मार्क फेरो के अनुसार, फ़िल्मों का सामाजिक अध्ययन करते हुए हमें उस ऐतिहासिक प्रक्रिया को समझने की कोशिश भी करनी चाहिए, जिससे गुज़रकर फ़िल्म-निर्माताओं ने अपनी कला को वैधता प्रदान की और वे इसे कला-स्वरूप के तौर पर स्वीकार्यता दिलाने में सफल हुए।

प्रेमचंद और सिनेमा

प्रेमचंद और सिनेमा की बाबत जब भी बात होती है, वह अक्सर प्रेमचंद के सिनेमा उद्योग से जुड़े कड़वे अनुभवों तक ही सीमित होकर रह जाती है। ज़ाहिर है कि ऐसे में प्रेमचंद का सिनेमा संबंधी वह लेखन हमारी दृष्टि से ओझल हो जाता है, जो *हंस* और *जागरण* सरीखे पत्रों में प्रेमचंद के संपादकीय लेखों में समाहित है। इन लेखों को पढ़ते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचंद सिनेमा को एक ऐसे सशक्त माध्यम के रूप में देखते थे, जो देश के निरक्षर लोगों को जागरूक बनाने और उनके बीच आधुनिक विचारों के प्रचार-प्रसार में प्रभावी ढंग से इस्तेमाल हो सकता था।

[1] अनिरुद्ध देशपांडे (2004) : 4455-59.

[2] ज्योतिका विर्दी (2003) : 1.

[3] मार्क फ़ेरो (1983) : 358.

1930 के दशक में जब प्रेमचंद बंबई फ़िल्म उद्योग से लगभग एक साल के लिए जुड़े, तो उनका अनुभव काफ़ी बुरा रहा। उनसे पहले भी हिंदी के प्रसिद्ध लेखक सुदर्शन जनवरी 1933 में एक फ़िल्म कंपनी के लिए छह सौ रुपये माहवार पर काम करने लगे थे।[4] वर्ष 1933 में ही 'महालक्ष्मी सिनेटोन' ने प्रेमचंद के उपन्यास *सेवासदन* पर फ़िल्म बनाने का अधिकार माँगा और इसके बदले में उन्हें 750 रुपये देने की पेशकश की। प्रेमचंद के कुछ मित्रों ने उन्हें फ़िल्म कंपनी को अपनी कृतियों पर फ़िल्म बनाने का अधिकार न देने का सुझाव दिया। लेकिन आर्थिक स्थिति ठीक न होने के कारण उन्होंने इस प्रस्ताव को अपनी रज़ामंदी दे दी। इसके कुछ समय बाद ही बंबई की एक अन्य फ़िल्म कंपनी 'अजंता सिनेटोन' ने प्रेमचंद को फ़िल्मों में पटकथा लेखन के लिए बंबई आने का प्रस्ताव दिया। उक्त कंपनी ने प्रेमचंद से एक अनुबंध करने की बात रखी, जिसमें उन्हें एक साल के लिए आठ हज़ार रुपये दिए जाने थे।[5] यह उस समय के हिसाब से एक अच्छी-ख़ासी रक़म थी। *हंस* और *जागरण* के प्रकाशन में आर्थिक कठिनाइयाँ आड़े आ रही थीं। प्रेमचंद ने इन दोनों पत्रों का प्रकाशन साहित्य व विचारों के प्रचार-प्रसार के साथ ही आय के स्थायी स्रोत के रूप में भी किया था। लेकिन इन पत्रों से मुनाफ़ा होना तो दूर, प्रेस और उपन्यासों से प्रेमचंद को होने वाली आय भी इनके प्रकाशन में ही ख़र्च होने लगी थी।

इन वित्तीय कठिनाइयों से निजात पाने और अपनी आर्थिक स्थिति को देखते हुए प्रेमचंद ने अजंता सिनेटोन के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। प्रेमचंद की पत्नी शिवरानी देवी ने भी अपने शुरुआती विरोध के बाद प्रेमचंद को बंबई जाने और फ़िल्म कंपनी से जुड़ने की अनुमति दे दी। शिवरानी देवी से प्रेमचंद ने कहा था कि उनके उपन्यासों और कहानियों की पहुँच शिक्षित समाज तक है, लेकिन फ़िल्म उनके विचारों को जन-जन तक पहुँचाने और उसे सार्वभौम बनाने का काम करेगी। प्रेमचंद ने उनसे कहा, 'अपनी आत्मा की शांति के लिए जो कुछ लिखता हूँ, उसको तादाद में जितने ही लोग ज़्यादा समझ सकें, देख सकें, पढ़ सकें उतनी ही मुझे ज़्यादा शांति मिलेगी। और उसके बाद दूसरा फ़ायदा यह होगा कि *हंस* और *जागरण* को चलाने के लिए मैं ज़्यादा रुपया दे सकूँगा।'[6] *हंस* और *जागरण* की स्थिति ख़ुद शिवरानी देवी से भी छिपी नहीं थी। बच्चों की आगे की पढ़ाई के लिए भी पैसे की ज़रूरत थी। आख़िरकार वे तैयार हो गईं और प्रेमचंद ने अकेले बंबई जाने और वहाँ अपनी क़िस्मत आज़माने का फ़ैसला लिया।

1 जून, 1934 को प्रेमचंद बंबई पहुँचे। ग़ौरतलब है कि इस समय तक सविनय अवज्ञा आंदोलन के दूसरे चरण को भी भारतीय राष्ट्रीय कॉन्ग्रेस ने आधिकारिक तौर पर समाप्त कर

---

[4] वर्ष 1896 में सियालकोट में जन्मे कहानीकार सुदर्शन का फ़िल्म उद्योग से जुड़ाव लंबा रहा. उन्होंने 1935 में बनी फ़िल्म *धूप छाँव* से लेकर *सिकंदर, पृथ्वी वल्लभ, मशाल, पड़ोसी, दुश्मन, परख* और *झाँसी की रानी* जैसी फ़िल्मों की पटकथा लिखी.

[5] अजंता सिनेटोन की स्थापना मोहन दयाराम भवनानी (1903-1962) ने की थी. प्रेमचंद ने भवनानी के लिए *मज़दूर* फ़िल्म की पटकथा लिखी. बाद में, मोहन भवनानी ने भवनानी प्रोडक्शंस की भी स्थापना की, राजाध्यक्ष व विलमेन 1998 : 65.

[6] शिवरानी देवी (1944) : 231.

दिया था, जोकि वर्ष 1933 से ही कमज़ोर पड़ने लगा था। कुछ इसी राजनीतिक माहौल में प्रेमचंद ने बंबई में पटकथा लेखन का काम शुरू किया, जो आरंभ में उन्हें ठीक भी लगा। जुलाई 1934 में जैनेंद्र कुमार को लिखे एक ख़त में प्रेमचंद ने जैनेंद्र से भी बंबई आने और फ़िल्मों के लिए लिखने का आग्रह किया। यही सुझाव प्रेमचंद ने कानपुर के अपने मित्र और *ज़माना* के संपादक दयानारायण निगम को भी दिया। पटकथा लेखन के संदर्भ में प्रेमचंद ने जैनेंद्र कुमार को लिखा कि फ़िल्म के लिए ऐसी कहानियों की माँग है, जिनका फ़िल्मांकन आसानी से किया जा सके और जिनमें भूमिका निभाने में अदाकारों को भी सहूलियत हो।[7]

अजंता सिनेटोन के लिए प्रेमचंद ने जो पहली कहानी लिखी वह श्रमिकों और मिल मालिकों के बीच संघर्ष पर आधारित थी। प्रेमचंद ने गांधीवादी नज़रिये से इस टकराव को फ़िल्म की कहानी में सुलझाने की कोशिश की थी। निर्देशकों की माँग पर फ़िल्म की पटकथा का उन्होंने हिंदी से उर्दू में अनुवाद किया। *मज़दूर (द मिल)* नामक इस फ़िल्म में प्रेमचंद ने पंच का एक छोटा सा किरदार भी निभाया था। आशीष राजाध्यक्ष और पॉल विलमेन ने इस फ़िल्म को भारत के श्रमिक वर्ग की परिस्थिति के पहले यथार्थवादी चित्रणों में से एक माना है। बंबई के कपड़ा मिलों में ही *मज़दूर* का फ़िल्मांकन भी हुआ था। उल्लेखनीय है कि बंबई समेत देश के प्रमुख औद्योगिक शहरों में बीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों से ही मिल मज़दूरों द्वारा अपनी माँगों को लेकर हड़तालें की जा रही थीं। ख़ुद बंबई में वर्ष 1919 से 1940 के बीच कपड़ा मिल के मज़दूरों द्वारा आठ बड़ी हड़तालें की गईं। इनमें से सारी हड़तालें लगभग महीने भर तक चलीं, जबकि 1928-29 के दौरान हुई हड़ताल साल भर तक चली थी।[8]

मज़दूर फ़िल्म की कहानी एक उदार मिल मालिक की मृत्यु से शुरू होती है। उसकी मृत्यु के बाद उसके व्यवसाय का ज़िम्मा उसकी बेटी पद्मा और बेटा विनोद उठाते हैं। विनोद के शोषक रवैये के विरुद्ध पद्मा अपने साथी कैलाश के साथ मिलकर श्रमिकों की हड़ताल का नेतृत्व करती है। विनोद हिंसक हो उठता है, उसे जेल होती है और मिल बंद हो जाती है। बाद में पद्मा फिर से व्यापार शुरू करती है और उदारवादी रवैया अख़्तियार करती है। साथ ही वह कैलाश से विवाह कर लेती है।[9]

फ़िल्म का निर्माण तो हो गया लेकिन सेंसर बोर्ड ने फ़िल्म को प्रमाणपत्र जारी करने में अवरोध खड़े कर दिए। मिल मालिकों के दबाव में, जिनमें से एक सेंसर बोर्ड का सदस्य भी था, यह फ़िल्म पहले बंबई प्रेसीडेंसी में प्रतिबंधित हुई। लाहौर में यह फ़िल्म कुछ दिनों के लिए प्रदर्शित हुई, किंतु पंजाब सरकार ने इसे प्रतिबंधित कर दिया। बाद में दिल्ली, संयुक्त प्रांत, मध्य प्रांत में भी यह फ़िल्म प्रतिबंधित कर दी गई। यह फ़िल्म व्यावसायिक रूप से असफल रही और अजंता सिनेटोन को इससे काफ़ी आर्थिक नुक़सान भी उठाना पड़ा।

---

[7] मदन गोपाल (1964) : 390.

[8] राजनारायण चंदावरकर (1994).

[9] आशीष राजाध्यक्ष व पॉल विल्लेमन (1998) : 259.



उल्लेखनीय है कि बंबई फ़िल्म सेंसर बोर्ड द्वारा फ़िल्म निरीक्षकों (इंस्पेक्टर) को जो निर्देश दिए गए थे, उनमें ऐसी फ़िल्मों को आपत्तिजनक और प्रतिबंधित करने योग्य बताया गया था, जो सामाजिक असंतोष या विद्रोह को बढ़ावा देती हों। इनमें ऐसी फ़िल्में भी शामिल थीं 'जिनमें पूँजीपतियों और श्रमिकों के बीच वास्तविक टकराव की हिंसक परिणति दिखाई गई हो।' उक्त निर्देशिका में जिन विषयों को आपत्तिजनक माना गया था, उनमें राजनीति के विवादित मुद्दे, श्रमिकों और पूँजीपतियों के बीच संबंध तो शामिल थे ही, साथ ही भारत से संबंधित उन फ़िल्मों को भी आपत्तिजनक माना गया था जिनमें ब्रिटिश या भारतीय अधिकारियों को सकारात्मक ढंग से न दिखाया गया हो।[10]

फ़िल्म सेंसरशिप और फ़िल्मों के प्रदर्शन पर नियंत्रण के तत्कालीन प्रावधान सिनेमेटोग्राफ़ एक्ट, 1918 के अंतर्गत लागू किए गए थे। वर्ष 1919 में इस क़ानून में कुछ संशोधन भी हुए थे। ध्यान देने योग्य है कि फ़िल्मों के प्रदर्शन और सेंसरशिप का विषय प्रांतों के अधीन था। इसी क़ानून के अनुरूप वर्ष 1920 में बंबई, कलकत्ता, मद्रास, रंगून और पंजाब में सेंसर बोर्ड की स्थापना हुई। इस क़ानून के अंतर्गत ज़िलाधिकारी और पुलिस आयुक्त को यह अधिकार था कि वह किसी फ़िल्म के प्रमाणपत्र को निरस्त कर सकता था, जिसके लिए प्रांतीय सरकार की स्वीकृति भी ज़रूरी थी। बंबई सेंसर बोर्ड में पुलिस आयुक्त और राजस्व कलेक्टर के साथ-साथ भारतीय शिक्षा सेवा का एक सदस्य होता था और साथ ही बंबई प्रेसीडेंसी के तीन प्रमुख समुदायों (हिंदू, मुस्लिम और पारसी) का एक-एक प्रतिनिधि भी।[11]

प्रेमचंद की लिखी कहानी पर बनी इस फ़िल्म का जो हश्र हुआ, वह ब्रिटिश भारत में सेंसरशिप, औपनिवेशिक राज्य और उद्योगपतियों के गठजोड़ की भी गवाही देता है। इसी समय महालक्ष्मी सिनेटोन ने भी प्रेमचंद के उपन्यास *सेवासदन* पर फ़िल्म बना दी थी, जिसका निर्देशन ननुभाई वकील ने किया था। हालाँकि इस फ़िल्म ने प्रेमचंद को निराश ही किया।[12]

---

[10] *रिपोर्ट ऑफ़ द इंडियन सिनेमेटोग्राफ़ कमिटी, 1927-1928* : 214-15.

[11] 1927 में गठित सिनेमेटोग्राफ़ कमिटी ने प्रांतों में अलग-अलग सेंसर बोर्ड की व्यवस्था की जगह पूरे ब्रिटिश भारत के लिए एक केंद्रीय सेंसर बोर्ड की वकालत की थी, *रिपोर्ट ऑफ़ द इंडियन सिनेमेटोग्राफ़ कमिटी :* 105-130.

[12] प्रेमचंद की जीवनी लिखने वाले मदन गोपाल लिखते हैं कि *सेवासदन* (*बाज़ार-ए-हुस्न*) उपन्यास पर आधारित तमिल फ़िल्म सफल रही थी और उसमें प्रख्यात गायिका एम. सुब्बुलक्ष्मी ने मुख्य भूमिका निभाई थी. 1938 में बनी इस तमिल फ़िल्म का निर्देशन के. सुब्रमण्यम ने किया था.

इसी दौरान प्रेमचंद ने अजंता सिनेटोन के लिए ही एक और कहानी लिखी, जिसका शीर्षक था 'नवजीवन'। लेकिन इस कहानी का भी वही हश्र हुआ, जो *मज़दूर (द मिल)* और दूसरी पटकथाओं का हुआ। जैनेंद्र कुमार को बंबई से लिखे अपने कई पत्रों में प्रेमचंद ने फ़िल्म उद्योग और निर्माता-निर्देशकों के रवैये पर आपत्ति जताते हुए लिखा था कि 'यहाँ फ़िल्म उद्योग में निर्माता-निर्देशक ही सब कुछ है। लेखक क़लम का कितना ही धनी क्यों न हो, यह फ़िल्म जगत निर्देशक का अपना साम्राज्य है। जहाँ लेखक की सुनने वाला कोई नहीं। वह यहाँ इसी शर्त पर बना रह सकता है, जब वह निर्माता की संप्रभुता को स्वीकार करे।'[13] प्रेमचंद ने इसी पत्र में यह भी लिखा कि निर्माता-निर्देशक ही यहाँ सब कुछ तय करते हैं। वे मानते हैं कि उनका काम जनता की रुचियों का परिष्कार करना नहीं, बल्कि उसकी हर अच्छी-बुरी माँग को पूरा करना है। भाषा की दिक़्क़तों की बाबत प्रेमचंद ने आगे जोड़ा कि फ़िल्म निर्माता-निर्देशक न ठीक से हिंदी जानते हैं और न ही उर्दू। उन्हें पटकथा समझाने के लिए अंग्रेज़ी की मदद लेनी पड़ती है। प्रेमचंद ने लिखा कि उन्हें पटकथा लेखन के काम से आत्म-संतुष्टि नहीं मिल रही है।

इसी दौरान अजंता सिनेटोन ने प्रेमचंद को एक साल के लिए इंग्लैंड भेजने का भी प्रस्ताव रखा। वहाँ से लौटने के बाद कंपनी ने उन्हें पाँच फ़िल्मों की कहानियाँ लिखने के एवज़ में प्रतिवर्ष दस हज़ार रुपये देने का प्रस्ताव रखा था। हालाँकि प्रेमचंद ने अपने ख़राब स्वास्थ्य का हवाला देकर इस प्रस्ताव पर अपनी असहमति जता दी। जब शिवरानी देवी से प्रेमचंद ने इस संदर्भ में बात की, तब उन्होंने भी इससे साफ़ मना कर दिया था।[14] इसी दौरान जैनेंद्र को लिखे एक ख़त में अपनी मनोदशा को व्यक्त करते हुए प्रेमचंद ने लिखा कि मैं जिन इरादों से आया था, उनमें एक भी पूरा होता नज़र नहीं आता। ये प्रोड्यूसर जिस ढंग की कहानियाँ बनाते आए हैं, उस लीक से जौ भर नहीं हट सकते। वल्गैरिटी को यह एंटरटेनमेंट वैल्यू कहते हैं। अद्भुत में ही इनका विश्वास है। राजा-रानी, उनके मंत्रियों के षड्यंत्र, नक़ली लड़ाई, बोसेबाजी, ये ही उनके मुख्य साधन हैं। मैंने सामाजिक कहानियाँ लिखी हैं जिन्हें शिक्षित समाज भी देखना चाहे। लेकिन उनको फ़िल्म करते इन लोगों को संदेह होता है कि चले या न चले। (जी चाहता है) यहाँ से छुट्टी पाकर अपने पुराने अड्डे पर जा बैठूँ। वहाँ धन नहीं, मगर संतोष अवश्य है। यहाँ तो जान पड़ता है, जीवन नष्ट कर रहा हूँ।[15]

बंबई के अपने एकाकी जीवन का विवरण देते हुए प्रेमचंद ने जैनेंद्र को लिखा था, 'मेरा जीवन यहाँ भी वैसा ही है जैसा काशी में था। न किसी से दोस्ती न किसी से मुलाक़ात। मुल्ला की दौड़ मस्जिद तक। स्टूडियो गए, घर आए। हिंदी के दो-चार प्रेमी कभी-कभी आ जाते हैं। बस।' 4 जून, 1934 को शिवरानी देवी को लिखे एक पत्र में प्रेमचंद ने इसी संदर्भ में लिखा कि 'तुम्हारे पास तो सभी होंगे, भाई-बन्द, लड़के-लड़की सभी हैं और मुझे तो तुम लोगों के

---

13 मदन गोपाल (1964) : 391.

14 शिवरानी देवी (1944) : 271-72.

15 *प्रेमचंद रचनावली*, खंड 20 (1996) : 27-28.

बिना इतनी बड़ी बंबई होते हुए भी सूनी ही मालूम होती है। यही बार-बार इच्छा होती है कि छोड़-छाड़कर भाग खड़ा होऊँ।'[16]

इस दौरान अजंता सिनेटोन की आर्थिक स्थिति भी ख़राब होने लगी। इससे जुड़े कई नामचीन और अनुभवी अदाकारों ने कंपनी से अपने अनुबंध ख़त्म कर दिए। अंततः प्रेमचंद ने भी फ़िल्मी दुनिया को अलविदा कह बनारस लौटना ही उचित समझा। मदन गोपाल लिखते हैं कि बॉम्बे टाकीज़ के हिमांशु राय ने प्रेमचंद को एक प्रस्ताव दिया था, लेकिन प्रेमचंद ने अब और अधिक दिन बंबई में ठहरना मुनासिब नहीं समझा।[17]

बंबई जाने से पूर्व सिनेमा पर प्रेमचंद के विचार

अगस्त 1932 में प्रेमचंद ने *हंस* में एक संपादकीय लिखकर उन समाचार पत्रों की ख़बर ली थी, जो सिनेमा की अभिनेत्रियों से जुड़ी सनसनीख़ेज़ और मसालेदार ख़बरें प्रकाशित करने से बाज़ नहीं आते थे। दिलचस्प है कि इस लेख को पढ़ते हुए ख़ुद प्रेमचंद में भी हम 'पवित्र' और 'दूषित' वाले द्वैध को स्पष्ट देख सकते हैं। इस लेख में उन्होंने सिनेमा की अभिनेत्रियों के जीवन को 'घृणास्पद' माना और उन्हें लड़कियों को बरगलाने वाली स्त्री के रूप में देखा। प्रेमचंद ने लिखा कि 'भारत में भी अंग्रेज़ी पत्रों की देखा-देखी इस तरह की मनोवृत्ति बढ़ती जाती है। जिन स्त्रियों का जीवन इतना घृणास्पद है कि कोई भला आदमी अपनी लड़की को उनके साथ एक मिनट के लिए भी छोड़ना पसंद न करेगा वही स्त्री सिनेमा में एक्ट्रेस बनते ही देवी बना दी जाती है और हरेक पत्र में उसके चित्र छपते हैं, उसकी प्रशंसा की जाती है और यदि वह अपने जीवन के सनसनी पैदा करने वाले वृत्तांत लिखे, तो उसे बड़े हर्ष से प्रकाशित किया जाता है।'[18] अख़बारों के कर्त्तव्य की याद दिलाते हुए प्रेमचंद ने लिखा कि उन्हें जनता में सनसनी फैलाने या लोगों की मनोवृत्ति को दूषित करने की बजाए स्वस्थ और निष्कलंक सुरुचि उत्पन्न करनी चाहिए। बक़ौल प्रेमचंद : 'हमें गुण का आदर करना चाहिए चाहे वह कबीर के शब्दों में कितने ही 'अपावन ठौर' में क्यों न मिले, लेकिन अर्धनग्न स्त्रियों के निर्लज्जतापूर्ण चित्र खींचकर जनता में कुत्सित भावनाओं को उत्तेजित करना अथवा उनके लज्जास्पद चरित्र वर्णन करके पाठकों में कुवासना को जगाना भारतीय आदर्श के विरुद्ध है।'[19]

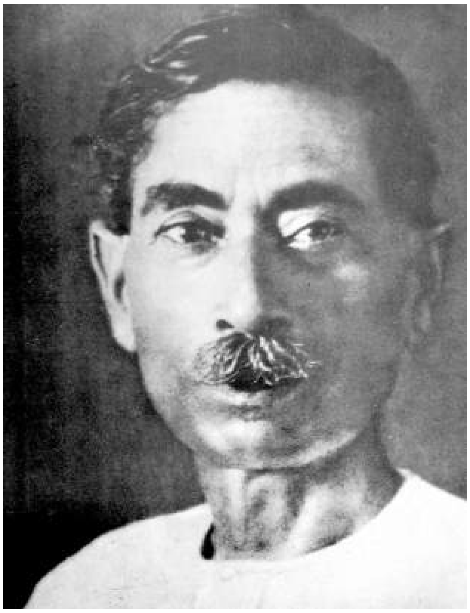
प्रेमचंद अभिनेत्रियों के जीवन को घृणापूर्ण और चरित्र को लज्जास्पद मान रहे थे। इस संदर्भ में, फ़िल्म अध्येता इरा भास्कर का वह लेख उल्लेखनीय है जिसमें वे तीस से पचास के दशक में बनी हिंदी फ़िल्मों में नायिकाओं की बदलती छवियों और उनके गहरे निहितार्थों का

[16] शिवरानी देवी (1944) : 237.

[17] मदन गोपाल (1964) : 399.

[18] हिंदी फ़िल्मों में स्त्री की पवित्रता संबंधी छवियों की निर्मिति और दुश्चरित्र महिलाओं (वैम्प) जैसी रूढ़ियों की पड़ताल के लिए देखें कसबेकर (2001).

[19] *प्रेमचंद रचनावली*, खंड 8 : 121.



अध्ययन करती हैं। *अछूत कन्या* (1936) और *तराना* (1951) जैसी फ़िल्मों के अध्ययन के ज़रिए इरा भास्कर दर्शाती हैं कि इन फ़िल्मों और इनके गीतों में स्त्रियों की आकांक्षाएँ हैं और उनमें सामाजिक दायरे और प्रतिबंधों से परे जाने की उनकी छटपटाहट जज़्ब है। इरा भास्कर 'असामान्य' (डिवीएंट) महिलाओं की छवियों का अध्ययन करने के लिए विविध विधाओं की फ़िल्मों को चुनती हैं, जिनमें सामाजिक (सोशल), भक्ति, रोमांस, ऐतिहासिक गाथाएँ और दास्ताँ, तवायफ़ों पर बनी फ़िल्में शामिल हैं।[20] उनके अनुसार, ये फ़िल्में भले ही स्वीकार्य सामाजिक संरचना को बरक़रार रखती हों लेकिन वे स्त्रियों की आकांक्षाओं/कामनाओं की मेलोड्रामाई अभिव्यक्ति के तौर पर इस सामाजिक संरचना के जेंडर संबंधी मूल्यों पर सवाल भी खड़े करती हैं। विशेषकर इन फ़िल्मों के गाने और कुछ मामलों में उनके संवाद भी। उनके अनुसार, फ्रांज़ ऑस्टेन द्वारा निर्देशित *अछूत कन्या* में जेंडर के साथ जाति का सवाल भी गुँथ जाता है और फ़िल्म जाति-व्यवस्था की जकड़बंदी तथा जातिगत पूर्वाग्रहों का दंश झेलने को मजबूर नायक-नायिका के संघर्षों और उनकी असफल प्रेम कहानी के ज़रिए जेंडर और सामाजिक संबंधों पर भी मानीख़ेज़ टिप्पणी करती है।

बीसवीं सदी के तीसरे दशक में सवाक फ़िल्में तेज़ी से दर्शकों के बीच पैठ बना रही थीं। मूक फ़िल्मों के निर्माता-निर्देशकों, अदाकारों, प्रशंसकों के मन में सवाक फ़िल्मों को लेकर कई तरह की आशंकाएँ भी थीं। वे यह भी सोच रहे थे कि मूक फ़िल्मों के जमे-जमाए दर्शक वर्ग और बाज़ार को भेदने में सवाक सिनेमा सक्षम नहीं हो सकेगा। एक ऐसी ही टिप्पणी प्रेमचंद ने 29 अगस्त, 1932 को 'जागरण' में लिखे एक संपादकीय में की थी। प्रेमचंद ने यह आशा जताई कि मूक फ़िल्मों के दिन फिर लौटेंगे। उन्होंने लिखा :

ऐसा जान पड़ता है कि सवाक फ़िल्मों की हवा बहुत जल्द बिगड़ जाएगी। मूक फ़िल्म एक साल तक भूमंडल में प्रचलित हो जाती थी। सवाक फ़िल्मों का क्षेत्र बहुत तंग हो गया है। क्योंकि अंग्रेज़ी फ़िल्मों का आनंद वही उठा सकते हैं, जो अंग्रेज़ी के ज्ञाता हों। किसी देश की साधारण जनता विदेश की भाषाओं में इतनी कुशल नहीं होती कि विदेशी बोलचाल समझ कर उसका आनंद उठा सके। अतएव सवाक फ़िल्म बनाने वालों को बराबर घाटा हो रहा है और यह अवस्था बहुत दिन तक नहीं रह सकती।[21]

---

[20] इरा भास्कर (2019) : 27 : 44.

[21] *प्रेमचंद रचनावली*, खंड 8 : 128.

ज़ाहिर है कि प्रेमचंद की सवाक फ़िल्मों से जुड़ी यह धारणा/आशंका निर्मूल साबित हुई। सवाक फ़िल्मों ने कुछ ही वर्षों में मूक फ़िल्मों की जगह ले ली। फ़िल्म अध्येता कौशिक भौमिक के अनुसार, सवाक फ़िल्मों ने फ़िल्मों के वितरण और उनके प्रदर्शन के पूरे ढाँचे को समूचे हिंदुस्तानी दर्शकों के अनुरूप बनाने की कोशिश की और शुरुआती सवाक फ़िल्मों की अपार सफलता ने इस संरचनात्मक बदलाव में अहम भूमिका निभाई। कौशिक भौमिक सवाक फ़िल्मों और मध्यवर्गीय चेतना के उभार को जोड़कर देखते हैं। उनके अनुसार, 'भारतीय मध्यवर्ग के लिए भारतीय और बंबईया सिनेमा की असल शुरुआत सवाक फ़िल्मों से ही शुरू होती है।'[22]

बतौर संपादक प्रेमचंद ने सिने पत्रिकाओं की चर्चा भी *हंस* जैसी पत्रिकाओं में की। *हंस* के फ़रवरी 1934 के अंक में प्रेमचंद ने बंबई से प्रकाशित होने वाली मासिक सिने पत्रिका *मूविंग पिक्चर मंथली* के वार्षिकांक पर एक टिप्पणी लिखी। *मूविंग पिक्चर मंथली* के वार्षिकांक में प्रकाशित लेखों और पत्रिका के कलेवर के बारे में प्रेमचंद लिखते हैं :

> लेखों में कई स्वयं उन महानुभावों के हैं, जो फ़िल्म-स्टेज में यश कमा चुके हैं। अपने पेशे पर वे क्या कहते हैं, यह महत्त्व की बात है। सिनेमा संबंधी प्रायः सभी बातों पर कुछ-न-कुछ प्रकाश डाला गया है और छपाई, सजावट और चित्रों की दृष्टि से तो यह पत्र किसी विदेशी सिनेमा मैगज़ीन से टक्कर ले सकता है। हमें यह जानकर हर्ष हुआ कि इसके यशस्वी संपादक मि. आर.के. रेले भी सिनेमा में उच्चकोटि की साहित्यिक रचनाओं के समर्थक हैं और उसे बाजारू रुचि से बचाना चाहते हैं।[23]

ऐसी ही एक टिप्पणी प्रेमचंद ने 'जागरण' में हिंदी की सिने-पत्रिका *चित्रपट* के होलिकांक पर लिखी थी। उल्लेखनीय है कि ऋषभचरण जैन *चित्रपट* के संपादक थे। प्रेमचंद लिखते हैं कि 'इस समय हिंदी में सिनेमा-संबंधी जितने पत्र हैं, उनमें सबसे अच्छा, सुसंपादित पत्र *चित्रपट* ही है। होली के अवसर पर इसने 'होलिकांक' प्रकाशित किया है, और प्रसन्नता की बात है कि होली का कीचड़ इसमें नहीं है। लेख, कविता, नाटक आदि सभी कुछ शिष्ट सामग्री इसमें है।'[24]

सिनेमा, समाज और युवा

प्रेमचंद ने अपने लेखों में सिनेमा के दुष्प्रभावों की बात भी उठाई थी। सितंबर 1933 में 'जागरण' में प्रकाशित संपादकीय लेख में प्रेमचंद ने मद्रास प्रांत के सेंसर बोर्ड द्वारा गठित उस समिति की प्रश्नावली का भी ज़िक्र किया, जो युवाओं पर फ़िल्मों के प्रभाव का मूल्यांकन करने के लिए बनाई गई थी। भारतीय सिनेमा की तात्कालिक स्थिति पर टिप्पणी करते हुए

[22] कौशिक भौमिक (2001) : 145.

[23] *प्रेमचंद रचनावली*, खंड 9 : 384.

[24] *प्रेमचंद रचनावली*, खंड 9 : 431.

प्रेमचंद ने लिखा :

> उसकी वर्तमान प्रगति तो किसी तरह भी आशाजनक नहीं कही जा सकती। हाँ, अगर युवकों और युवतियों के निर्लज्ज चुंबन और आलिंगन और हत्या तथा अपराध के दृश्यों पर ही समाज की जागृति और उन्नति का दारोमदार है, तो निस्संदेह हम आँधी की चाल से उन्नति की ओर बढ़े जा रहे हैं। यूरोप का विलास तो अपनी सारी बुराइयों के साथ आ डटा पर यूरोप का अध्यवसाय और साहस और उत्सर्ग और अन्य हज़ारों ख़ूबियाँ जो उन विलासिता का परदा ढा सकती हैं, यहाँ कहीं नज़र नहीं आतीं।[25]

युवकों पर फ़िल्मों के दुष्प्रभाव के बारे में ही प्रेमचंद ने *जागरण* में 11 दिसंबर, 1933 को एक संपादकीय लिखकर चिंता ज़ाहिर की थी। प्रेमचंद ने लिखा कि 'सिनेमा-चित्रों में प्रायः जिस तरह के दृश्य दिखाए जाते हैं, उनका युवकों के चरित्र पर बुरा परिणाम देखकर यूरोप के कई देशों ने 16 वर्ष से कम उम्र के कुमारों को सिनेमा देखने का क़ानूनी निषेध कर दिया है।' फ़िल्म में दिखाए जाने वाले हिंसा, रक्तपात के दृश्यों के युवामन पर पड़ने वाले प्रभाव को लेकर भी प्रेमचंद ने अपनी आशंका प्रकट की। वे शिक्षोपयोगी और प्रेरक फ़िल्मों के हामी थे। पर इस संदर्भ में भी उन्होंने कुछ शिक्षाविदों के हवाले से फ़िल्मों की उपयोगिता पर प्रश्नचिह्न खड़े किए। प्रेमचंद ने लिखा कि 'शिक्षोपयोगी चित्रों से अलबत्ता युवकों का बहुत कुछ उपकार होने की आशा की जाती है। भूगोल, इतिहास, आरोग्य आदि विषयों की शिक्षा चित्रों द्वारा बहुत ही सरल और मनोरंजक हो गई है, पर शिक्षा-सिद्धांत के मर्मज्ञों को ये शिक्षा-विषयक चित्रपट भी दोष से ख़ाली नहीं दीखते। इनका असर इतना ख़राब तो नहीं होता कि कुकृत्यों की ओर ले जाए, पर बौद्धिक विकास में इससे बाधा पड़ती है।'[26] ऐसी शिक्षोपयोगी और उत्कृष्ट फ़िल्मों के अभाव पर टिप्पणी करते हुए प्रेमचंद ने लिखा कि जब तक फ़िल्म व्यवसाय सुशिक्षित और विचारशील तथा चरित्रवान व्यक्तियों के हाथ में न जाएगा, इसके सुधरने की कोई आशा नहीं।

हंस में मार्च 1935 में लिखे एक संपादकीय में प्रेमचंद ने सिनेमा पर टिप्पणी करते हुए सिनेमा को समाजोपयोगी और शिक्षाप्रद बनाने पर ज़ोर दिया था। प्रेमचंद ने लिखा कि 'सिनेमा का प्रचार दिन-दिन बढ़ रहा है। केवल इंग्लैंड में दो करोड़ दर्शक प्रति-सप्ताह सिनेमा देखने जाते हैं। इसलिए प्रत्येक राष्ट्र का फ़र्ज़ हो गया है कि वह सिनेमा की प्रगति पर कड़ी निगाह रखे और इसे केवल धन-लुटेरों के ही हाथ में न छोड़ दे।'[27] प्रेमचंद ने साहित्य और कला के साथ सिनेमा के सामने भी एक आदर्श रखा कि 'वह सुंदर और पवित्र की रचना करके मनुष्य में जो कोमल और ऊँची भावनाएँ हैं, उन्हें पुष्ट करें और जीवन के संस्कारों से मन और हृदय में जो गर्द और मैल जम रहा हो, उसे साफ़ कर दे।' साहित्य, काव्य और कला के

---

[25] *प्रेमचंद रचनावली*, खंड 8 : 424-25.

[26] *प्रेमचंद रचनावली*, खंड 8 : 485-86.

[27] *प्रेमचंद रचनावली*, खंड 9 : 163, लेख के आगे के अंश इसी लेख पर आधारित हैं.

ध्येय की बाबत प्रेमचंद ने लिखा था कि उसे मनुष्य की निम्न भावनाओं का दमन करते हुए उसकी कोमल और सुंदर वृत्तियों को जगाना चाहिए।

प्रेमचंद सिनेमा के निरे व्यवसायीकरण के विरोधी थे। वे इस बात से सहमत नहीं थे कि जनता की माँग को पूरा करने के लिए ही सिनेमा निर्माता हिंसा, रक्तपात, अश्लीलता से भरी फ़िल्में बनाते हैं। इसका प्रतिवाद करते हुए प्रेमचंद ने लिखा कि 'जनता प्रेम और त्याग अथवा मित्रता और करुणा से भरी हुई तस्वीरों को और भी रुचि से देखना चाहती है, मगर हमारे सिनेमा वालों ने पुलिस वालों की मनोवृत्ति से काम लेकर यह समझ लिया है कि केवल भद्दे और मसखरेपन तथा भड़ैती और बलात्कार और सौ फीट की ऊँचाई से कूदने, झूठमूठ टीन की तलवार चलाने में ही जनता को आनंद आता है।'

प्रेमचंद ने उम्मीद जताई कि धीरे-धीरे ऐसी प्रेरणादायी और आदर्श फ़िल्मों के लिए जनता के दिलों में जगह बनेगी और उन्हें सफलता मिलेगी। अश्लीलता और हिंसक फ़िल्में दिखाकर जनता को अधिक दिनों तक गुमराह करना संभव नहीं। प्रेमचंद ने इस संपादकीय के आख़िर में लिखा कि 'जनमत अब सिनेमा में सच्चे और संस्कृत जीवन का प्रतिबिंब देखना चाहता है, राजाओं के विलासमय जीवन और उनकी ऐय्याशियों और लड़ाइयों से किसी को प्रेम नहीं रहा।'

सिनेमा और साहित्य की परख : प्रेमचंद और नरोत्तम प्रसाद नागर

वर्ष 1935 में प्रेमचंद ने *लेखक* पत्रिका में 'सिनेमा और साहित्य' शीर्षक से एक लेख लिखा। इसमें उन्होंने सिनेमा व साहित्य से जुड़े अपने विचारों को विस्तार से रखा। प्रेमचंद ने इस लेख में साहित्य के विषय में टिप्पणी करते हुए लिखा कि साहित्य वह है जो पवित्र भावों को जगाए। इसके उलट अगर कोई पुस्तक हमारी पशु-भावना को बढ़ाती है, तो उसे साहित्य नहीं कहा जा सकता। इसी क्रम में प्रेमचंद ने लिखा कि पारसी स्टेज के ड्रामे, होली, कजली और बारहमासे की पुस्तकें भी साहित्य नहीं कही जा सकतीं। भले ही वे ज़्यादा बिकती हों और लोगों को मनोरंजन क्यों न करती हों! बक़ौल प्रेमचंद, 'साहित्य में भावों की जो उच्चता, भाषा की जो प्रौढ़ता और स्पष्टता, सुंदरता की जो साधना होती है, वह हमें वहाँ नहीं मिलती।'

भारतीय सिनेमा के बारे में भी प्रेमचंद का कुछ यही ख़्याल था। उनके अनुसार, सिनेमा उद्योग का उद्देश्य केवल पैसा कमाना है। 'सुरुचि या सुंदरता से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं। वह तो जनता को वही चीज़ देंगे जो वह माँगती है।' वह लोगों की निम्न भावनाओं को तुष्ट करने के लिए बनाई जाती है। फ़िल्म-निर्माताओं के बारे में प्रेमचंद ने लिखा कि उनका पूरा ज़ोर अपनी फ़िल्मों में ऐसा मसाला रखने पर होता है, कि वह जनता के बीच खूब लोकप्रिय हो। साहित्य और सिनेमा की तुलना क्रमशः दूध और ताड़ी/शराब से करते हुए प्रेमचंद ने लिखा कि 'साहित्य दूध होने का दावेदार है, सिनेमा ताड़ी या शराब की भूख को शांत करता है।'[28]

[28] *प्रेमचंद रचनावली*, खंड 7 : 458, लेख के आगे के अंश इसी लेख पर आधारित हैं.

जहाँ एक ओर साहित्य को प्रेमचंद ने जन-रुचि का पथ-प्रदर्शक कहा वहीं दूसरी ओर उन्होंने सिनेमा को जन-रुचि के पीछे चलने वाला, उसका अनुगामी बताया। प्रेमचंद ने आगे जोड़ा कि 'अभी वह ज़माना बहुत दूर है जब सिनेमा और साहित्य का एक रूप होगा। लोक-रुचि जब इतनी परिष्कृत हो जाएगी कि वह नीचे ले जाने वाली चीज़ों से घृणा करेगी, तभी सिनेमा में साहित्य की सुरुचि दिखाई पड़ सकती है। प्रेमचंद ने नारायण प्रसाद 'बेताब', मुंशी गौरीशंकरलाल अख़्तर, हरिकृष्ण प्रेमी, जमनाप्रसाद कश्यप, चंद्रिकाप्रसाद श्रीवास्तव, धनीराम प्रेम, सेठ गोविंददास, पं. द्वारकाप्रसाद मिश्र जैसे हिंदी के उन लेखकों का भी ज़िक्र किया जो उस वक़्त सिनेमा-उद्योग से जुड़े हुए थे। प्रेमचंद ने लिखा कि अब देखना है कि 'सिनेमा इन्हें बदल देता है या ये सिनेमा की कायापलट कर देते हैं।'

उल्लेखनीय है कि बीसवीं सदी के तीसरे दशक में अंग्रेज़ी के साथ-साथ गुजराती, हिंदी, बांग्ला जैसी भारतीय भाषाओं में भी फ़िल्म पत्रिकाओं का प्रकाशन शुरू हुआ। यह वही दौर था जब सिनेमा बड़े महानगरों और प्रेसीडेंसियों की राजधानी से परे उत्तर भारत और पश्चिमोत्तर भारत के शहरों तक पहुँच रहा था। वर्ष 1924 में गुजराती में फ़िल्म पत्रिका *मौज मजा* के प्रकाशन के साथ फ़िल्म पत्रिकाओं का दौर आरंभ हुआ। *चित्रपट*, *सिनेमा संसार*, *वातायन*, *चित्रलेखा* जैसी पत्रिकाएँ इसी दौर में निकलीं। फ़िल्म केंद्रित आलोचना और फ़िल्म समीक्षा के साथ ही ये पत्रिकाएँ आगामी फ़िल्मों के निर्माण संबंधी जानकारियाँ, फ़िल्म स्टूडियो से जुड़ी ख़बरें और अभिनेता-अभिनेत्रियों के साक्षात्कार भी प्रकाशित करती थीं।[29]

हिंदी की एक ऐसी ही फ़िल्म पत्रिका *रंगभूमि* के संपादक नरोत्तम नागर ने प्रेमचंद के लेख 'सिनेमा और साहित्य' पर अपनी प्रतिक्रिया देते हुए प्रेमचंद को एक ख़त लिखा। इसमें उन्होंने प्रेमचंद के सिनेमा संबंधी कुछ विचारों से अपनी असहमति जताई थी। नरोत्तम नागर ने प्रेमचंद द्वारा साहित्य और सिनेमा के बारे में किए गए सामान्यीकरण पर असहमति प्रकट करते हुए अपने पत्र में लिखा : 'निश्चय ही सिनेमा ताड़ी और साहित्य दूध है पर इस चीज़ को जेनरलाइज़ करना ठीक न होगा – सिनेमा के लिए भी और साहित्य के लिए भी। साहित्य भी इस ताड़ीपन से अछूता नहीं है। सिनेमा को मात करने वाले उदाहरण भी उसमें मिल जाएँगे।'

नरोत्तम नागर का मत था कि प्रेमचंद ने साहित्य के जो उद्देश्य गिनाए हैं, उन्हें हासिल करने में सिनेमा साहित्य से कहीं अधिक प्रभावी हो सकता है। उपयोगिता की दृष्टि से भी और दर्शकों पर प्रभाव की दृष्टि से भी। सिनेमा के दुरुपयोग के लिए नरोत्तम नागर ने फ़िल्म-निर्माताओं को दोषी ठहराते हुए लिखा कि 'सब होते हुए भी सिनेमा की उपयोगिता कुपात्रों के हाथों में पड़कर दुरुपयोगिता में परिणत हो रही है। इसमें दोष सिनेमा का नहीं, उनका है जिनके हाथ में इसकी बागडोर है। इनसे भी अधिक उनका है जो इस चीज़ को बर्दाश्त करते हैं।' सिनेमा-उद्योग से जुड़े साहित्यकारों की बाबत भी नरोत्तम नागर ने लिखा कि 'सिनेमा में प्रवेश करने वाले साहित्यिकों में ऐसा कौन है, जिसके सिनेमा-प्रवेश का मुख्य उद्देश्य सिनेमा

[29] कौशिक भौमिक (2001).



को अपने रंग में रँगना रहा हो? क्या किसी भी साहित्यिक ने सिंसीयरली इस ओर कुछ काम किया है? पहले सिनेमा-जगत को कुछ दीजिए; या यों ही गले में जयमाल पड़ जाए?'

होली, कजरी और बारहमासे के गीतों के बारे में प्रेमचंद ने जो विचार रखे थे उनसे मतभेद प्रकट करते हुए नरोत्तम नागर ने लिखा, 'इन चीज़ों को साहित्य नहीं कहा जाता या साहित्यिक इन्हें रिकग्नाइज़ नहीं करते, यह ठीक है। लेकिन उनका अस्तित्व है और जिस प्रेरणा या उमंग को लेकर अन्य कलाओं का सृजन होता है, उन्हीं को लेकर ये होली, कजरी और बारहमासे भी आए हैं।' उन्होंने आगे जोड़ा कि केवल उपयोगितावादी दृष्टि से लिखा गया साहित्य ही साहित्य है, यह समझ ठीक नहीं क्योंकि 'ऐसी रचना करने के लिए साहित्यिक से अधिक प्रोपेगेंडिस्ट होने की ज़रूरत है।' *हंस* के जून 1935 के अंक में प्रकाशित लेख में नरोत्तम नागर का यह पत्र प्रेमचंद ने अपने जवाब के साथ प्रकाशित किया था।[30]

अपने पत्र में नरोत्तम नागर ने प्रभात, न्यू थिएटर्स, रणजीत जैसी फ़िल्म कंपनियों और शांताराम, देवकी बोस और चंदूलाल शाह जैसे फ़िल्म निर्देशकों का उल्लेख करते हुए लिखा कि इन कंपनियों, निर्देशकों और उनकी बनाई हुई फ़िल्मों को जनता और शिक्षित वर्ग दोनों में ही पर्याप्त लोकप्रियता हासिल हुई है। साहित्य और सिनेमा में सेक्स की उपस्थिति के संदर्भ में नरोत्तम नागर ने लिखा कि 'आप किसी भी ऐसी रचना का नाम बताएँ, जिसमें सेक्स अपील न हो। सेक्स अपील बुरी चीज़ नहीं है, वह तो होनी ही चाहिए। लोहा तो हमें उस प्रवृत्ति से लेना है, जो सेक्स अपील और सेक्स परवर्शन में कोई भेद नहीं समझती।'

सिनेमा में सुधार की बात से अपनी सहमति जताते हुए नरोत्तम नागर ने लिखा कि सिनेमा की वर्तमान स्थिति में बदलाव की अपेक्षा फ़िल्म उद्योग या फ़िल्म निर्माताओं से रखना व्यर्थ है। साहित्यकारों, प्रेस, नवयुवकों को ही इसकी ज़िम्मेदारी उठानी होगी। उस समय नरोत्तम नागर फ़िल्म पत्रिका *रंगभूमि* के माध्यम से ऐसी ही कोशिश कर रहे थे। लेखकों द्वारा इस ओर

[30] *प्रेमचंद रचनावली*, खंड 7 : 461, लेख के आगे के अंश इसी लेख पर आधारित हैं.

न ध्यान दिए जाने पर शिकायत के स्वर में उन्होंने लिखा : 'सिनेमा सुधार की आवश्यकता को तो सब महसूस करते हैं, सिनेमा का विरोध भी जी खोलकर करते हैं, पर क्रियात्मक सहयोग का नाम सुनते ही अलग हो जाते हैं। सिर्फ़ इसलिए कि सिनेमा बदनाम है और यह चीज़ हमारे रोम-रोम में धँसी हुई है कि बद अच्छा बदनाम बुरा।'

अपने प्रत्युत्तर में प्रेमचंद ने पुनः साहित्य के आदर्शों की याद दिलाते हुए लिखा कि 'साहित्य का उद्देश्य जीवन को बल और स्वास्थ्य प्रदान करना है। अन्य सभी उद्देश्य इसके नीचे आ जाते हैं।' फ़िल्म उद्योग के अपने अनुभवों का ज़िक्र करते हुए प्रेमचंद ने लिखा कि 'मैं आदर्शों को लेकर गया था, लेकिन मुझे मालूम हुआ कि सिनेमा वालों के पास बने-बनाए नुस्खे हैं, और आप उन नुस्खों के बाहर नहीं जा सकते।'

उपयोगितावादी साहित्य के संबंध में भी प्रेमचंद अपने विचारों पर अडिग थे। उनका कहना था कि 'परोक्ष या अपरोक्ष रूप से सभी कलाएँ उपयोगिता के सामने घुटने टेकती हैं। प्रोपेगेंडा बदनाम शब्द है, लेकिन आज का विचारोत्पादक, बलदायक, स्वास्थ्यवर्धक साहित्य प्रोपेगेंडा के सिवा न कुछ है, न हो सकता है, न होना चाहिए।' सेक्स-अपील के संदर्भ में प्रेमचंद ने लिखा कि वे इसे हौआ नहीं मानते, लेकिन वे उसके विकृत रूप की निंदा ज़रूर करेंगे क्योंकि वह साहित्य को दूषित कर देती है। उन्होंने आगे जोड़ा कि 'सिनेमा में वह अपील और भी भयंकर हो गई है, जो संयम और निग्रह का उपहास है।'[31] आख़िर में प्रेमचंद ने नरोत्तम नागर के प्रयास की सराहना करते हुए कहा कि वे भी सिनेमा को परिष्कृत रूप में देखने के इच्छुक हैं।

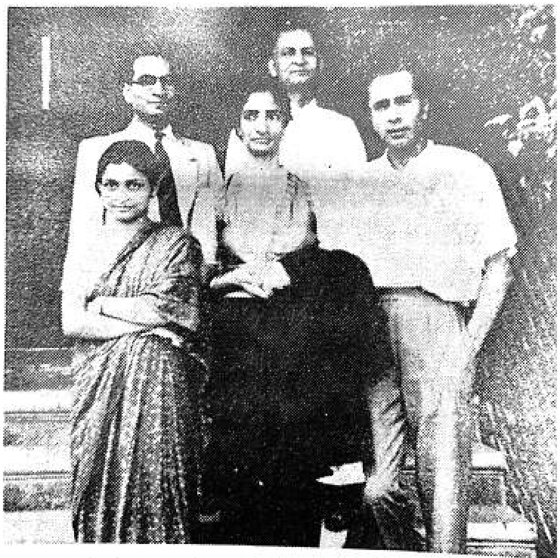
राहुल सांकृत्यायन और सिनेमा

प्रेमचंद *हंस* के पन्नों में जब सिनेमा के सवाल पर नरोत्तम नागर से संवाद कर रहे थे, उसी दौरान हिंदी के एक और मूर्धन्य साहित्यकार राहुल सांकृत्यायन सिनेमा से जुड़ी अपनी राय को अपनी डायरी में दर्ज कर रहे थे। राहुल सांकृत्यायन ने अपनी आत्मकथा *मेरी जीवन-यात्रा* में अपनी देखी हुई फ़िल्मों के बारे में जगह-जगह जो टिप्पणियाँ लिखी हैं, वे उनकी सुलझी हुई कला-दृष्टि और सिनेमा के प्रति उनके दृष्टिकोण से हमें परिचित कराती हैं।

बीसवीं सदी के चौथे-पाँचवें दशक में जब राहुल सांकृत्यायन फ़िल्म संबंधी ये टिप्पणियाँ लिख रहे थे, तब हिंदी में फ़िल्म समीक्षा अथवा फ़िल्म संबंधी लेखन अभी अपने शुरुआती दौर में ही था। *रंगभूमि*, *चित्रपट* और *मनोरंजन* जैसी फ़िल्म पत्रिकाएँ थोड़े समय के लिए अस्तित्व में ज़रूर रहीं। साथ ही, *सुधा*, *सरस्वती* और *चाँद* जैसी हिंदी की प्रसिद्ध पत्रिकाओं में भी फ़िल्म संबंधी लेख प्रकाशित होते थे। किंतु हिंदी में फ़िल्म संबंधी अभिरुचियों, उससे जुड़े अनुभवों को आकार देने में जिस *माधुरी* पत्रिका का सबसे अहम योगदान रहा, वह वर्ष 1964 में छपनी शुरू हुई यानी राहुल जी के निधन के साल भर बाद।[32] इसलिए भी हिंदी

[31] *प्रेमचंद रचनावली*, खंड 7 : 464.

[32] रविकान्त (2016).



राहुल जी के साथ आजकल के भूतपूर्व सम्पादक श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार (पीछे सबसे बाएं) प्रसिद्ध फिल्म अभिनेता बलराज साहनी (दाएं) श्रीमती कमला सांकृत्यायन (बाएं)

फ़िल्म अध्ययन की विकास-प्रक्रिया को समझने में राहुल सांकृत्यायन द्वारा की गई फ़िल्म संबंधी इन टिप्पणियों की अहमियत बढ़ जाती है।

वर्ष 1935 से 1947 के बीच संपन्न हुईं अपनी तीन सोवियत-यात्राओं के दौरान राहुल जी ने फ़िल्मों के साथ-साथ रूसी नाटक, बैले और ओपेरा भी देखे और उनसे प्रभावित हुए बिना न रहे। सोवियत रंगमंच और सिनेमा के यथार्थवादी तेवर ने ख़ास तौर पर राहुल सांकृत्यायन का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। इसी तरह सिनेमा संबंधी राहुल जी की टिप्पणियों की दूसरी ख़ासियत ये है कि इनसे हमें बीसवीं सदी के तीसरे-चौथे दशक में सोवियत रूस और हिंदुस्तानी सिनेमा के तुलनात्मक अध्ययन में भी मदद मिलती है।

सोवियत सिनेमा का अनुभव

अपनी सोवियत यात्रा के दौरान राहुल जी ने कई सोवियत फ़िल्में देखीं। भारतीय फ़िल्मों से उनकी तुलना करने पर वे सोवियत फ़िल्मों को तकनीक, प्रस्तुति और विषयवस्तु के मामले में भारतीय फ़िल्मों से कहीं आगे पाते थे। इस संदर्भ में उनकी टिप्पणी ग़ौरतलब है : 'सोवियत फ़िल्म देखने से मुझे उतना वैराग्य नहीं होता था, जितना भारत की फ़िल्मों को। यहाँ तो बरस में कभी एक बार गला दबाने पर यदि जाता भी हूँ तो ऊबकर बीच में ही चले आने की इच्छा हो जाती है। सोवियत की फ़िल्में केवल यौन-आकर्षण को लेकर नहीं बनतीं, इसका यह

मतलब नहीं कि उनमें स्त्री-पुरुषों के प्रेम संबंध को छिपाने की कोशिश की जाती है। तो भी उतना ही रहता है, जितना कि दाल में नमक।'[33]

वर्ष 1927 में सोवियत रूस की यात्रा करने वाले जवाहरलाल नेहरू भी सोवियत फ़िल्मों से प्रभावित हुए बिना नहीं रहे। सोवियत रूस के बारे में लिखी पुस्तक में नेहरू ने सोवियत सिनेमा की जमकर प्रशंसा की है। द *लास्ट डेज़ ऑफ़ पेट्रोग्राद* फ़िल्म देखने के बाद नेहरू ने लिखा था, 'रूसी फ़िल्मकार अपनी फ़िल्मों की ख़ूबसूरती और कलात्मक उत्कृष्टता के लिए जाने जाते हैं। लेकिन दुर्भाग्य से हिंदुस्तान में हमें रूसी फ़िल्मों को देखने का मौक़ा नहीं मिलता। हम तो अमेरिका के हॉलीवुड में बनी भौंडी और बचकाना फ़िल्मों को ही देखने के लिए अभिशप्त हैं।'[34]

राहुल सांकृत्यायन ने सिनेमाघरों की बाबत लिखते हुए भी सोवियत सिनेमाघरों को दर्शकों की सुविधाओं के लिहाज़ से हिंदुस्तानी सिनेमाघरों के मुक़ाबले कहीं बेहतर पाया। उनके अनुसार, जहाँ हिंदुस्तानी सिनेमाघरों में निचले दो दर्जों के दर्शक आँख फोड़ने के लिए बैठाए जाते हैं, सोवियत सिनेमाघरों में वह जगह ख़ाली रहती है। सोवियत रूस की अपनी दूसरी यात्रा के दौरान राहुल जी ने नवंबर 1938 में एक रूसी फ़िल्म *पुगाचेफ़* देखी। पावेल पेत्रोव-बाइतोव द्वारा निर्देशित यह फ़िल्म अठारहवीं सदी के रूस में जारशाही के ख़िलाफ़ वर्ष 1773-75 के दौरान बग़ावत का झंडा बुलंद करने वाले विद्रोही *पुगाचेफ़* के जीवन पर आधारित थी। *पुगाचेफ़* ने जारशाही के अत्याचारों के विरुद्ध हज़ारों किसानों को संगठित कर एक सशस्त्र दल क़ायम किया और जारशाही से लोहा लिया था। हालाँकि बाद में उसे पकड़ कर मौत के घाट उतार दिया गया और जारशाही द्वारा विद्रोह का दमन कर दिया गया था। राहुल जी ने इस फ़िल्म की विषयवस्तु, कथानक और फिल्मांकन की खुलकर प्रशंसा की।

सोवियत फ़िल्मों में भी राहुल सांकृत्यायन विशेष रूप से उज़्बेकिस्तान, क़ज़ाकस्तान, अज़रबैज़ान, मंगोलिया आदि मध्य एशियाई देशों की फ़िल्में पसंद करते थे। ऐसी ही एक उज़्बेक फ़िल्म *ताहिर और ज़ोहरा* देखने का उल्लेख उन्होंने *मेरी जीवन यात्रा* में किया है। मार्च 1946 में राहुल जी द्वारा देखी गई यह फ़िल्म एक ऐतिहासिक प्रेम कहानी पर आधारित थी। फ़िल्म के विषय में राहुल जी का मत है कि 'कथानक और अभिनय की दृष्टि से फ़िल्म बड़ी सुंदर थी, लेकिन सोवियत फ़िल्मों में जो विशाल प्राकृतिक दृश्य देखने को मिलते हैं, वह इसमें नहीं थे – न वह अनंत बयाबान और पर्वतमाला, न नदी की विस्तृत उपत्यका, न नगर के ही हर अंग का प्रदर्शन।'[35]

ताहिर और ज़ोहरा फ़िल्म देखने के ठीक अगले ही दिन राहुल जी ने एक कज़ाक फ़िल्म देखी, *अवाय के गीत* (पीस्ने अबायेफ़)। कज़ाक भाषा के महान साहित्यकार अबायेफ़

---

[33] राहुल सांकृत्यायन (2002), खंड 3 : 101.

[34] जवाहर लाल नेहरू (1949), (1929) : 16.

[35] राहुल सांकृत्यायन (2002) खंड 3 : 101.

(1845-1904) के जीवन पर आधारित यह फ़िल्म *पीस्ने अबायेफ़* कज़ाक समाज और संस्कृति, संगीत और नृत्य का गहन परिचय देती है। अबायेफ़ का विद्याप्रेम उन्हें कज़ाकस्तान के विभिन्न इलाक़ों में बसे हुए रूसी विद्वानों के संपर्क में ले आया, जिनसे उन्होंने रूसी भाषा व साहित्य का गहरा अध्ययन किया। अबायेफ़ ने अपनी सारी रचनाएँ अपनी मातृभाषा में लिखी थीं किंतु कज़ाक समाज उस वक़्त पर्याप्त साक्षर नहीं था, जिसकी वजह से अबायेफ़ को अपने जीवनकाल में समुचित सम्मान न मिल सका। लेकिन सोवियत रूस में दिवंगत अबायेफ़ की कृतियों और उसकी विद्वत्ता को सम्मान मिलना आरंभ हुआ। राहुल जी ने अबायेफ़ की सराहना करते हुए लिखा है कि 'आज वह कज़ाकस्तान का वाल्मीकि और अश्वघोष, कालिदास और बाण है।'

फ़िल्म *पीस्ने अबायेफ़* में न सिर्फ़ कज़ाक कवि अबायेफ़ के जीवन में आने वाले उतार-चढ़ाव को दर्शाया गया था बल्कि कज़ाकस्तान के घुमंतू समाजों, उनके सामाजिक संगठन, उनकी जीवनचर्या को भी बख़ूबी प्रदर्शित किया गया था। अकारण नहीं कि राहुल जी को यह फ़िल्म बड़ी सुंदर और ज्ञानवर्धक लगी। फ़िल्म में दर्शाए गए प्राकृतिक दृश्यों की ख़ूबसूरती पर टिप्पणी करते हुए राहुल जी ने लिखा कि 'प्राकृतिक दृश्य बड़े सुंदर थे, जिनको देखकर घर बैठे कज़ाकस्थली की सैर हो सकती थी। चरागाहों का बड़ा सुंदर दृश्य दिखलाया गया था। कज़ाकस्तान के पहाड़, नदियों की उपत्यकाएँ भी मनोहारिणी थीं।'[36] राहुल जी ने सोवियत फ़िल्मों की चर्चा करते हुए उनमें फ़िल्माए गए प्राकृतिक भूदृश्यों (लैंडस्केप) को बारंबार सराहा है। इस संदर्भ में उल्लेखनीय है कि सोवियत सिनेमा में लैंडस्केप के इस्तेमाल के बारे में रूसी फ़िल्मों की अध्येता एमा विडिस का विचार है कि इसके ज़रिए सोवियत सिनेमा ने सोवियत अस्मिता के निर्माण के साथ-साथ सोवियत रूस की भौगोलिक संकल्पना, स्पेस और क्षेत्र की अवधारणा को भी रचने का काम किया (एमा विडिस, 2003)।

अप्रैल 1946 में राहुल जी ने केंद्रीय लाल सेना के थिएटर में एक और रूसी फ़िल्म *कतुज़ोव* देखी। व्लादिमीर पेत्रोव द्वारा निर्देशित यह फ़िल्म रूसी सेनापति मिखाइल कतुज़ोव (1745-1813) के जीवन पर आधारित थी, जिसने वर्ष 1812 में नेपोलियन की सेनाओं को रूस से खदेड़ने के अभियान का सफल नेतृत्व किया था। यह फ़िल्म नेपोलियन के समकालीन रूस का जीवंत चित्रण प्रस्तुत करती थी। फ़िल्म में दर्शाए गए प्राकृतिक दृश्यों, फ़िल्म के संवाद के बारे में राहुल जी लिखते हैं 'जाड़े की हिमाच्छादित भूमि, पर्वत में दूर-दूर तक बसे गाँव, देवदार और भुर्ज के वृक्ष ही नहीं बल्कि बड़े-बड़े रुई के फाहों जैसी पड़ती बर्फ़ और सनसनाती झंझा को भी इस फ़िल्म में दिखलाया गया था। संवाद और भी कमाल का था। नेपोलियन की परेशानी और कष्ट को दिखलाया गया था लेकिन कहीं भी उसके अभिमानपूर्ण चेहरे को दीन नहीं होने दिया गया।'[37] चूँकि *कतुज़ोव* एक ऐतिहासिक विषय पर बनी फ़िल्म थी, राहुल जी

[36] वही, खंड 3 : 102.

[37] राहुल सांकृत्यायन (2002), खंड 3 : 110.

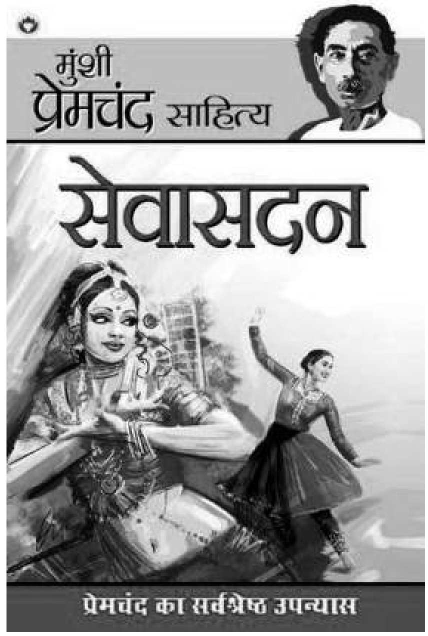
ने लक्षित किया कि फ़िल्म के निर्देशक ने यह सुनिश्चित किया था कि ऐतिहासिक या भौगोलिक अनौचित्य न रह जाए। इसके लिए सैनिकों और सेनापतियों, नागरिकों और ग्रामीणों की पोशाक, फ़िल्म में दिखाए गए अस्त्र-शस्त्र, सभी उस कालविशेष के अनुरूप ही प्रयोग में लाए गए थे।

भारतीय सिनेमा : राहुल सांकृत्यायन की दृष्टि में

अगर भारतीय फ़िल्मों की बात करें तो राहुल सांकृत्यायन ने ऐतिहासिक विषयवस्तु पर बनी भारतीय फ़िल्मों में कालदोष, अनैतिहासिक विवरणों और चित्रण को आड़े हाथों लिया। मसलन, जब राहुल जी नवंबर 1942 से मार्च 1943 के बीच बंबई में थे, तब उन्होंने कई फ़िल्में देखीं। मगर अधिकांश ने उन्हें निराश ही किया। ग़ौरतलब है कि यह समय वैश्विक और राष्ट्रीय परिदृश्य पर व्यापक राजनीतिक उथल-पुथल का समय भी था। द्वितीय विश्व युद्ध के शुरू हुए तीन वर्ष बीत चुके थे। मार्च 1942 में भारत आए क्रिप्स मिशन की असफलता के कुछ महीनों बाद अगस्त 1942 में भारतीय राष्ट्रीय कॉन्ग्रेस ने महात्मा गांधी के नेतृत्व में भारत छोड़ो आंदोलन शुरू करने का निर्णय लिया। किंतु 9 अगस्त, 1942 की सुबह में ही सभी प्रमुख कॉन्ग्रेस नेताओं को गिरफ़्तार कर लिया गया। कॉन्ग्रेसी नेताओं की गिरफ़्तारी के विरुद्ध जनता का गुस्सा सड़कों पर उमड़ पड़ा और भारत छोड़ो आंदोलन ने व्यापक रूप ले लिया। वर्ष 1940-42 के दौरान राहुल सांकृत्यायन को किसान आंदोलन में उनकी भागीदारी के चलते गिरफ़्तार कर हज़ारीबाग जेल और देवली कैंप में रखा गया। किंतु जब जर्मनी ने सोवियत संघ पर आक्रमण किया और सोवियत संघ इसे 'जन-युद्ध' (पीपुल्स वार) क़रार देकर द्वितीय विश्व युद्ध में कूद पड़ा, तब भारत के साम्यवादी दल ने भी युद्ध का समर्थन किया। इसी दौरान राहुल सांकृत्यायन को जेल से रिहा किया गया।

रिहाई के बाद अपने बंबई प्रवास के दौरान राहुल जी द्वारा देखी गई एक ऐसी ही फ़िल्म थी रामेश्वर शर्मा द्वारा निर्देशित *भक्त कबीर* जोकि वर्ष 1942 में रिलीज हुई थी। जनवरी 1943 में यह फ़िल्म देखने के बाद इसकी कमियों का उल्लेख करते हुए राहुल जी लिखते हैं : 'इतिहास और भूगोल के ऊपर दिल खोलकर छुरी चलाई गई है। नीरू को पाजामा पहनाया गया। आज भी बनारस की तरफ़ जुलाहों में बहुत कम ही पाजामा पहनते हैं। रामानंद को घंटा डुलाने वाला मुछंदर बनाया गया। कबीर के समय कहाँ से लाकर काशिराज को बसा दिया। बनारस से पूछने की क्या ज़रूरत? भारतीय थैलीशाहों की राजधानी बंबई सबको काम दे सकती है। गाने-नाचने को दिखाकर जब पैसों के बटोरने में बाधा नहीं, तो मौज़ है और बातों को। तुकाराम के अभंग को राम-रहीम, कृष्ण-करीम कहकर गवाया। गोया कबीरपंथियों की खजड़ीवाली भजन बुरी थी।'[38]

[38] राहुल सांकृत्यायन (2002), खंड 2 : 375.



मगर अपनी इन कमियों के बावजूद भी *भक्त कबीर* को दर्शकों द्वारा काफ़ी पसंद किया गया और तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में भी फ़िल्म की सराहना की गई। यूनिटी प्रोडक्शन द्वारा बनाई गई इस फ़िल्म को पंजाब सरकार ने इस टिप्पणी के साथ मनोरंजन कर से मुक्त कर दिया था कि 'यह अद्वितीय फ़िल्म लोगों में राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा देने का काम करेगी'। *बॉम्बे क्रॉनिकल* के एक संवाददाता ने फ़िल्म पर टिप्पणी करते हुए लिखा था (14 नवंबर, 1942) :

> पिछले शनिवार मैं 'भक्त कबीर' फ़िल्म देखने गया। यह एक विचारोत्तेजक और आनंददायी फ़िल्म है। इसे देखने के बाद हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि हिंदू और मुसलमानों में विभेद बनावटी हैं। ऐसी फ़िल्में हमारे जेहन पर गहरा असर डालती हैं और एकता को बढ़ावा देती हैं। हालाँकि मैंने चार दिन पहले यह फ़िल्म देखी थी, लेकिन मेरे दिमाग़ पर इसकी छाप अब भी ताज़ा है। यूनिटी प्रोडक्शंस ने कबीर पर, जिन्हें हिंदू-मुस्लिम एकता के प्रतीक के रूप में देखा जाता रहा है, यह फ़िल्म बनाकर एक बड़ा महत्त्वपूर्ण काम किया है। कबीर के दोहों को जिस तरह फ़िल्म की कहानी में पिरोया गया है, वह लाजवाब है। यह फ़िल्म उन सभी लोगों द्वारा देखी जानी चाहिए, जो धर्म के वास्तविक स्वरूप और उसकी असली शिक्षाओं से वाबस्ता होना चाहते हैं।[39]

भारतीय फ़िल्मों में दिखने वाले हल्केपन और सिनेमा सरीखे कला के प्रभावशाली स्वरूप के प्रति भारतीय फ़िल्म निर्माताओं की अगंभीरता की प्रवृत्ति की आलोचना करते हुए राहुल सांकृत्यायन ने लिखा कि सोवियत फ़िल्में और नाटक 'हमारे यहाँ की तरह नहीं हैं कि अशोक के समय उस विक्रमशिला का भिक्षु पेश कर दिया जाए, जिस विक्रमशिला का अस्तित्व अशोक से ग्यारह शताब्दियों बाद हुआ। रेडियो नाटकों में कलिंग विजय के समय बारूद का धड़ाका दिखाया जाए, जिसको कि बाबर के आने से पहले हिंदुस्तान के लोग जानते नहीं थे। हमारा ही देश क्या इस विषय में पश्चिमी यूरोप और अमेरिका वाले भी अभी सोवियत रूस से बहुत पीछे हैं।'[40] दिलचस्प बात है कि 1927 में गठित इंडियन सिनेमेटोग्राफ़ कमिटी ने भी भारत में बनने वाली ऐतिहासिक फ़िल्मों की त्रुटियों और अनैतिहासिकता की समस्या पर टिप्पणी की थी।[41] वर्ष 1944 में अपनी दक्षिण भारत की यात्राओं के दौरान राहुल

---

[39] रेचेल डॉयर (2006) : 90 [हिंदी अनुवाद मेरे द्वारा].

[40] राहुल सांकृत्यायन (2002), खंड 3 : 119.

जी को इस बात का भी अहसास हुआ कि हिंदी फ़िल्में अहिंदी भाषी क्षेत्रों में हिंदी का प्रचार करने का एक महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली ज़रिया बन रही हैं।

सोवियत रूस जाने के लिए वीज़ा बनवाने और अपनी किताबों से जुड़े अन्य कार्यों को पूरा करने के लिए जब राहुल जी अप्रैल-मई 1944 में बंबई में ठहरे तब भी उन्होंने दो फ़िल्में देखीं, *शुक्रिया* और *ज़मीन*। उन्होंने इन दोनों फ़िल्मों के कथानक, अभिनय, फ़िल्मांकन का गहरा विश्लेषण किया। *शुक्रिया* फ़िल्म हरनाम सिंह रवैल द्वारा निर्देशित थी।[42] *शुक्रिया* फ़िल्म के बारे में राहुल जी की राय थी कि 'अभिनय अच्छा था इसमें संदेह नहीं, मगर सिर्फ़ गाने-नाचने और सौंदर्य प्रदर्शन के ही बल पर इस फ़िल्म को दर्शकों के मत्थे थोपा गया।' फ़िल्म के कथानक को उन्होंने बिल्कुल विशृंखलित, निर्जीव और निरुद्देश्य बताया।

शुक्रिया के उलट राहुल जी को फ़िल्म *ज़मीन* काफ़ी अच्छी लगी। आनंद कुमार द्वारा निर्देशित इस फ़िल्म की प्रशंसा करते हुए राहुल जी ने लिखा कि 'इतने दिनों बाद यह एक हिंदी फ़िल्म आई है, जिसकी तारीफ़ कर सकते हैं। वार्तालाप कमाल का है, कौरवी उच्चारण लाने की कोशिश की गई है, उसमें सफलता मिली है। कथानक भी सुसंबद्ध है, गहराई है, अभिनय में जो कुछ है, ध्वनि उससे दूर तक जाती है।'[43] उन्होंने फ़िल्म की नायिका दुर्गा खोटे के अभिनय की भी मुक्तकंठ से प्रशंसा की। उल्लेखनीय है कि वर्ष 1931 में बनी फ़िल्म *फ़रेबी जाल* से अपने अभिनय कॅरियर की शुरुआत करने वाली अभिनेत्री दुर्गा खोटे (1905-1991) ने *जीवन नाटक*, *इंकलाब*, *अमर ज्योति*, *पृथ्वी वल्लभ*, *तस्वीर*, *मुसाफ़िर*, *राज तिलक* और *मुग़ल-ए-आज़म* सरीखी फ़िल्मों में अभिनय किया था। समाज-सुधारक अवंतिकाबाई गोखले के विचारों से प्रभावित दुर्गा खोटे भारतीय जन नाट्य मंच (इप्टा) से भी जुड़ी रहीं। फ़िल्म *ज़मीन* में दर्शाए गए किसानों के बर्ताव को भी राहुल जी ने गंभीर और स्वाभाविक माना। फ़िल्म की कुछ सीमाओं के विषय में राहुल जी ने लिखा 'चीरहरण की जगह कोई दूसरी ग्रामीण मनोरंजन की चीज़ ला सकते थे। गाने अच्छे नहीं। फ़ोटोग्राफ़ी भी दोषपूर्ण। योगी के अनुकूल भेष नहीं।'

रूस में रहते हुए राहुल जी को रूसी फ़िल्मों के हिंदी भाषांतर का काम भी सौंपा गया, लेकिन साहित्यिक कार्यों में व्यस्तता के कारण राहुल जी ने इस कार्य को पूरा करने में अपनी असमर्थता जताई थी। इस संदर्भ में वे लिखते हैं '15 अप्रैल, 1947 को एक और भी काम हमारे पास आया। वह था रूसी फ़िल्मों का हिंदी भाषांतर करना। *शपथ* फ़िल्म के सिनारियो को हमारे पास रूसी से हिंदी में तर्जुमा करने के लिए भेजा गया था। इसमें जितना अभिनय था, उतना वार्तालाप नहीं था। कुल 74 पृष्ठ की सामग्री रही होगी। फ़िल्म-विभाग ने इसके अनुवाद के लिए साढ़े चार हज़ार रूबल पारिश्रमिक देने के लिए लिखा था। खैर रूबल बुरे तो नहीं थे, किंतु मुझे उनकी उतनी परवाह नहीं थी।'[44]

---

[41] *रिपोर्ट ऑफ़ द इंडियन सिनेमेटोग्राफ़ कमिटी*, 1927-1928 : 40, 84.

[42] हरनाम सिंह ने अपने सिनेमाई कॅरियर की शुरुआत कोलकाता में निर्देशक केदार शर्मा के सहायक के रूप में की थी. उनके द्वारा निर्देशित कुछ अन्य फ़िल्में हैं : *ज़िद* (1945), *झूठी कसमें* (1948), *दो बातें* (1949), *पॉकेटमार* (1956), आदि. आशीष राजाध्यक्ष व पॉल विल्लमन : 198.

[43] राहुल सांकृत्यायन (2002), खंड 2 : 465.

[44] राहुल सांकृत्यायन (2002), खंड 3 : 182.

राहुल सांकृत्यायन अगस्त 1947 में सोवियत रूस से भारत वापस लौटे। इसी दौरान वे बंबई में आयोजित हुए हिंदी साहित्य सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन के सभापति भी रहे। फ़रवरी 1948 में राहुल सांकृत्यायन ने उदयशंकर की कलात्मक फ़िल्म *कल्पना* लखनऊ में देखी। उल्लेखनीय है कि *कल्पना* प्रसिद्ध भारतीय नर्तक और नृत्य-निर्देशक उदय शंकर (1900-1977) द्वारा निर्मित एकमात्र फ़िल्म है। इस फ़िल्म में उदय शंकर की पत्नी अमला शंकर मुख्य भूमिका में थीं।[45] आज़ादी के ठीक एक साल बाद बनी *कल्पना* जहाँ एक प्रतिभाशाली कलाकार उदयन के जीवन-संघर्षों और 'कला-केंद्र' स्थापित करने की दिशा में उसके प्रयासों को दर्शाती है वहीं उदय शंकर की यह फ़िल्म नृत्य और संगीत के ज़रिए भारत की एकता और विविधता की संकल्पना को भी कलात्मक ढंग से प्रस्तुत करती है। फ़िल्म के आरंभ में दिए विवरण में बताया जाता है कि यह फ़िल्म एक फंतासी है, जिसमें भारत के धर्म, राजनीति, शिक्षा, समाज, कला, संस्कृति, कृषि, उद्योग आदि के विभिन्न पहलुओं को दर्शाया गया है। इस क्रम में, उदय शंकर *कल्पना* के माध्यम से पतनशील सामंती वर्ग, राजे-रजवाड़ों के दकियानूसीपन और उनके आडंबरों का मखौल भी उड़ाते हैं।

साथ ही, उदय शंकर *कल्पना* के द्वारा फ़िल्म उद्योग और निर्माताओं की मनमानी पर भी सवालिया निशान खड़े करते हैं, जब वे एक लेखक को एक फ़िल्म स्टूडियो के मालिक को अपनी कहानी सुनने का हताशा से भरा हुआ आग्रह करते हुए दिखाते हैं। इस दृश्य में 'थंडरस्ट्रक फ़िल्म स्टूडियो' का मालिक जिस कमरे में बैठा होता है, वहीं एक तख़्ती भी टँगी होती है, जिस पर लिखा होता है, 'बॉक्स ऑफ़िस ही हमारा भगवान है' (बॉक्स ऑफ़िस इज़ अवर गॉड)। अंत में, फ़िल्म की पटकथा को सुनकर निर्माता उस प्रस्ताव को ठुकराते हुए लेखक से कहता है कि 'प्यार नहीं, चुम्मा-चाटी नहीं आशिक़ माशूक़ा नहीं, ऐसी पिक्चर बनाकर क्या मुझे कंगाल होना है?' निर्माता की इस टिप्पणी से खिन्न लेखक जवाब में कहता है कि 'वह दिन दूर नहीं है जब हम लोग तुम्हारी चंगुल से बाहर निकलेंगे। अपनी बेईमानी और स्वार्थ से तुमने जो देश का नुक़सान किया है उसका नतीजा अब जल्दी ही भुगतना पड़ेगा।' स्टूडियो मालिक के आदेशानुसार लेखक को स्टूडियो से बाहर निकालते हुए स्टूडियो का दरबान उससे कहता है, 'नाराज़ न हो भैया! अगर इतनी हिम्मत थी तो दस-बीस लाख ख़र्च करके अपना स्टूडियो बनाकर मनचाही तस्वीर निकालते। यहाँ नाक रगड़ते हुए नहीं आते, समझे!' स्पष्ट है कि उदय शंकर ने फ़िल्म उद्योग में निर्माताओं-निवेशकों की मनमानी, लेखकों की उपेक्षा और उनके शोषण पर तल्ख़ टिप्पणी की थी। यह भी दिलचस्प है कि ख़ुद *कल्पना* का निर्माण भी जेमिनी स्टूडियो में हुआ था।

कल्पना और उस जैसी दूसरी समकालीन फ़िल्मों को देखते हुए यह बात साफ़ हो जाती है कि बीसवीं सदी में पचास के दशक में फ़िल्मों और यथार्थवादी सौंदर्यदृष्टि का इस्तेमाल राष्ट्रीय अस्मिता को गढ़ने में भी हुआ। फ़िल्म अध्येता सुमिता चक्रवर्ती लिखती हैं कि फ़िल्मों

[45] इस अतियथार्थवादी (सुर्रियल) फ़ंतासी के निर्माण में उदय शंकर को चार साल लगे थे. फ़िल्म के संवाद लिखे थे मशहूर उपन्यासकार अमृतलाल नागर ने और गीत लिखे थे छायावादी कवि सुमित्रानंदन पंत ने.

में यथार्थवाद का चित्रण धीरे-धीरे एक मूल्य और फ़िल्म-निर्माता की प्रतिबद्धता की कसौटी बनता चला गया। फ़िल्म के यही गुण उस नवस्वाधीन राष्ट्र के लिए आशा की किरण साबित हुए, जो खंडित अस्मिता की चुनौतियों से जूझ रहा था। इस तरह सिनेमा एक ऐसे माध्यम के रूप में तब्दील हो गया, जिसमें वह शक्ति निहित थी जो प्रतीकात्मक रूप से भारत को उसकी अपनी छवि से रूबरू करा सकने में समर्थ थी। उल्लेखनीय है कि यथार्थवाद यहाँ सिनेमाई प्रस्तुति की एक रणनीति के रूप में काम कर रहा था, जिसके ज़रिए 'राष्ट्रीय अस्मिता' को पारिभाषित करने के प्रयास भी हो रहे थे।[46]

यथार्थवाद की यह धारणा कोई अपरिवर्तनशील धारणा नहीं थी। बीसवीं सदी के दूसरे, तीसरे और चौथे दशक में इस धारणा में लगातार बदलाव हो रहे थे और इसमें सामाजिक बदलाव को लेकर दुचित्तेपन का भाव भी शामिल था। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद फ़िल्म उद्योग में कई महत्त्वपूर्ण बदलाव हुए। मसलन, स्टूडियो प्रणाली का पतन, फ़िल्म उद्योग में काले धन का निवेश, नायक-नायिकाओं की लोकप्रियता को भुनाने वाली फ़ॉर्मूला फ़िल्मों का चलन और दर्शक वर्ग में बदलाव। सुमिता चक्रवर्ती उस 'नैतिक और वित्तीय संकट' की ओर भी इशारा करती हैं, जिससे भारतीय फ़िल्म उद्योग गुज़र रहा था। व्ही. शांताराम सरीखे निर्देशक इस दौर में आह्वान कर रहे थे कि विदेशी फ़िल्मों की नक़ल करने की बजाए हमें ऐसी फ़िल्में बनानी चाहिए, जो वर्तमान का आईना हों और जिन्हें एक सामाजिक औज़ार के रूप में आम लोगों के मनोरंजन और शिक्षण के लिए इस्तेमाल किया जा सके।[47]

यद्यपि राहुल सांकृत्यायन उदयशंकर की कलात्मकता और उनकी कला-दृष्टि के प्रशंसक थे, लेकिन *कल्पना* फ़िल्म ने उन्हें निराश किया। फ़िल्म *कल्पना* पर उनकी टिप्पणी है, 'सर्वज्ञता के भ्रम ने इसे समाप्त कर दिया। उदयशंकर ने कलाकार उदयन को फ़िल्म की कथा का आधार बनाया, और कलाकार के लंबे जीवन को छोटी-छोटी झाँकियों से चित्रित करना चाहा। वह झाँकी इतनी कम थी कि जब तक उससे आदमी कुछ निष्कर्ष निकाले, उससे पहले ही वह ख़त्म हो जाती। फ़िल्म साधारण जनता के लिए तो लिखी ही नहीं गई थी, यदि मेरे जैसे दर्शक भी उसे नहीं पसंद कर पाए, तो उसकी असफलता निश्चित थी। यदि उन्होंने नवीन उदयन कथा के मोह को छोड़ नृत्य तथा संगीत की छोटी-छोटी भूमिकाओं को पेश किया होता, तो ज़रूर जनप्रिय होता और आर्थिक दृष्टि से भी बहुत सफल रहता।'[48]

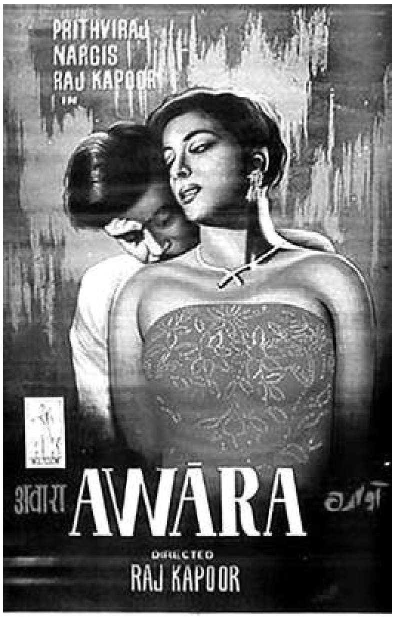
राज कपूर की चर्चित फ़िल्म *आवारा* वर्ष 1951 में प्रदर्शित हुई। *आवारा* की पटकथा लिखी थी ख़्वाजा अहमद अब्बास ने और इसके प्रमुख कलाकारों में राजकपूर के अलावा पृथ्वीराज कपूर, नरगिस, के.एन. सिंह और लीला चिटणीस थे। फ़िल्म का संगीत दिया था शंकर-जयकिशन की प्रसिद्ध संगीतकार जोड़ी ने और गीत लिखे थे शैलेंद्र और हसरत जयपुरी ने। अगले साल जून

---

[46] सुमिता एस. चक्रवर्ती (1989) : 31-48.

[47] वही : 36.

[48] वही : 275.



के महीने में राहुल जी ने यह फ़िल्म मसूरी में देखी और इसकी सराहना करते हुए उन्होंने लिखा कि 'अभी 'आवारा' की ख्याति विदेशों में नहीं हुई थी, तो भी अब तक देखी भारतीय फ़िल्मों में अच्छी है, इसमें संदेह नहीं। सब दृष्टि से अच्छा कहना पड़ेगा।'[49] राहुल जी ने यह भी जोड़ा कि अधिकतर हिंदुस्तानी फ़िल्मों ने उन्हें निराश ही किया है, लेकिन *आवारा* देखकर उन्हें संतोष हुआ।

फ़िल्म *आवारा* सोवियत रूस और चीन में भी वर्ष 1954-55 में प्रदर्शित की गई, जहाँ इसे अपार लोकप्रियता हासिल हुई थी। उल्लेखनीय है कि बीसवीं सदी के पाँचवें दशक में विशेषकर स्तालिन की मृत्यु के बाद हिंदुस्तानी फ़िल्मों, 'आवारा हूँ' जैसे गीतों और राजकपूर सरीखे चर्चित भारतीय अदाकारों ने सोवियत रूस के आम लोगों के मन में अपनी ख़ास जगह बनाई थी। वैसे तो स्तालिन के दौर में भी वर्ष 1949 में *धरती के लाल* और उसके दो साल बाद *छिन्नमूल* जैसी फ़िल्मों का प्रदर्शन सोवियत रूस में हुआ था। लेकिन सोवियत रूस में बड़े पैमाने पर भारतीय फ़िल्मों का प्रदर्शन मार्च 1953 में स्तालिन की मृत्यु के बाद ही हुआ। इसी क्रम में, सितंबर 1954 में सोवियत रूस में पहला भारतीय फ़िल्म समारोह आयोजित किया गया जिसमें *आवारा* , *दो बीघा ज़मीन*, *आँधियाँ* और *राही* सरीखी फ़िल्में दिखाई गईं। साथ ही, इस समारोह में राज कपूर, देव आनंद, नर्गिस, ख़्वाज़ा अहमद अब्बास, निरूपा रॉय जैसे अदाकारों ने भी हिस्सा लिया। भारतीय फ़िल्मों की अध्येता सुधा राजगोपालन ने अपनी पुस्तक में सोवियत रूस में बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में भारतीय फ़िल्मों की लोकप्रियता की इस परिघटना का ऐतिहासिक विश्लेषण किया है।[50]

राज कपूर के सिनेमाई विज़न के बारे में इतिहासकार पार्थ चटर्जी लिखते हैं कि 'नेहरू की राजनीति की तरह ही राज कपूर का सिनेमा भी यूटोपियाई समाजवाद की अवधारणा से गहरे प्रभावित था।' राज कपूर की फ़िल्मों की व्यावसायिक सफलता के पीछे शंकर-जयकिशन के संगीत की भी अहम भूमिका थी। पार्थ चटर्जी बताते हैं कि शंकर-जयकिशन ने हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत के साथ ही रूसी लोकधुनों को भी राज कपूर की फ़िल्मों में स्वरबद्ध किया था। शायद सोवियत रूस में राज कपूर की फ़िल्मों और विशेषकर उसके संगीत की अपार लोकप्रियता के पीछे भी इसकी अहम भूमिका रही हो ।[51]

[49] राहुल सांकृत्यायन (2002), खंड 4 : 84.

[50] सुधा राजगोपालन (2008).

[51] पार्थ चटर्जी (2012).

जनवरी 1955 में जब राहुल सांकृत्यायन राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के आमंत्रण पर व्याख्यान देने के लिए बंबई गए, तभी उनकी मुलाक़ात फ़िल्म जगत में सक्रिय हिंदी लेखक सुदर्शन और प्रदीप से हुई।[52] उनकी यह मुलाक़ात चर्चगेट पर हुई थी, जहाँ राहुल जी हिंदी विद्यार्थी मंडल द्वारा बुलाई गई एक बैठक में शामिल हुए थे। हिंदी के लेखक फ़िल्म जगत में क्यों नहीं जम सके, इसके बारे में राहुल जी कवि प्रदीप की इस राय से सहमत थे कि हिंदी के वे लेखक फ़िल्मों में पंत और प्रसाद की भाषा लाना चाहते थे, जोकि संभव नहीं था क्योंकि वह भाषा आम लोगों की समझ से परे थी। राहुल जी के अनुसार, 'फ़िल्म में एक के नहीं, बल्कि लाखों के खीसों पर हाथ रखना है। गीत की भाषा ऐसी होनी चाहिए जिसे समझने में लोगों को अधिक कठिनाई न हो। मैं पंत-प्रसाद की भाषा और उनकी कविता का प्रशंसक हूँ। ख़ासकर प्रसाद जी को तो भारत के सर्वोच्च कवियों में मानता हूँ। पर जनसाधारण के लिए बच्चन की ही भाषा सबसे अच्छी है और वही इस विषय में सबसे बड़े कवि माने जा सकते हैं। उर्दू कविताओं में भी बहुत से शब्द सुनने वालों के पल्ले नहीं पड़ते, पर चलती भाषा, चलते उर्दू के छंद और उसके साथ सिनेमा के धनी-धोरियों की धींगामुश्ती, सब मिलकर काम बन जाता है।'[53]

अंततः

प्रेमचंद और राहुल सांकृत्यायन दोनों ने ही सिनेमा को एक प्रभावशाली और सशक्त माध्यम के रूप में देखा। प्रेमचंद सिनेमा को समाजोपयोगी और शिक्षाप्रद बनाने के पक्षधर थे, जिससे कि आम लोगों के बीच जागरूकता फैल सके। प्रेमचंद सिनेमा की व्यापक पहुँच और उसके विस्तार से भी अवगत थे। इसलिए उन्होंने मनोरंजन के मूल्यों को सुधारवादी नज़रिए से देखने की कोशिश की और अश्लीलता, हिंसा को बढ़ावा देने वाले सिनेमा का पुरज़ोर विरोध किया। वे साहित्य की पहुँच की सीमा से भी वाकिफ़ थे, इसीलिए वे सिनेमा को अपने विचारों का माध्यम बनाने और उसके ज़रिए आम लोगों तक अपनी बात पहुँचाने की चाहत रखते थे।

प्रेमचंद बंबई फ़िल्म उद्योग के निर्माता-निर्देशकों से असंतुष्ट थे। उनका मानना था कि फ़िल्म निर्माताओं का पूरा ज़ोर जनता की कुत्सित भावनाओं को बढ़ावा देकर ज़्यादा-से-ज़्यादा मुनाफ़ा कमाने पर होता है। जिसकी वजह से सिनेमा की उपयोगिता नष्ट हो जाती है। लेकिन इसी क्रम में प्रेमचंद ने सिनेमा की अभिनेत्रियों के जीवन को 'घृणित और लज्जास्पद' भी बताया, जोकि प्रेमचंद के मन में सिनेमा की अभिनेत्रियों के प्रति बैठे पूर्वाग्रह की झलक तो देता ही है साथ ही अभिनेत्रियों के प्रति तत्कालीन समाज के रवैये की बानगी भी देता है। नरोत्तम नागर ने प्रेमचंद के सिनेमा संबंधी ऐसे विचारों का उचित ही प्रतिवाद किया था। अपनी सीमाओं के बावजूद प्रेमचंद के ये पत्र, उनके सिनेमा संबंधी लेख बंबई फ़िल्म जगत पर निर्माता-निर्देशकों

---

[52] जहाँ कहानीकार सुदर्शन प्रेमचंद के समय में ही बंबई फ़िल्म उद्योग से जुड़े थे. वहीं प्रसिद्ध गीतकार प्रदीप (1915-1998) ने 1939 में बनी *कंगन* से लेकर *नया संसार, झूला, मशाल, पैग़ाम* जैसी फ़िल्मों के गीत लिखे थे.

[53] राहुल सांकृत्यायन (2002), खंड 4 : 200.



के प्रभुत्व, स्टूडियो प्रणाली के व्यापक प्रभाव के साथ-साथ फ़िल्मों के आर्थिक पक्ष और सेंसरशिप जैसे पहलुओं से भी हमें वाकिफ़ कराते हैं। इस ऐतिहासिक प्रक्रिया में दर्शक वर्ग, पूँजी और राज्य, तीनों ही अपनी सक्रिय भूमिका निभाते हैं।

राहुल सांकृत्यायन की फ़िल्म संबंधी टिप्पणियाँ हमें उनकी फ़िल्म संबंधी सोच, कला-दृष्टि से वाबस्ता तो कराती ही हैं साथ ही, ये टिप्पणियाँ हिंदी में एक विधा के रूप में फ़िल्म-समीक्षा के विकास-क्रम को समझने के सूत्र भी मुहैया कराती हैं। सोवियत फ़िल्मों के अनुभव ने राहुल जी की कला-दृष्टि को परिपक्व करते हुए उन्हें सिनेमा के सामाजिक-सांस्कृतिक-ऐतिहासिक आयामों से भी रूबरू कराया। संवाद, पटकथा, संवाद अदायगी, पात्रों के चयन और उनकी वेश-भूषा, फ़िल्म में प्राकृतिक दृश्यों के इस्तेमाल जैसी बारीकियों के प्रति भी राहुल जी सजग थे। फ़िल्मी गीतों की भाषा की सहजता और लोकप्रियता के अंतर्संबंधों को समझने के साथ ही उन्होंने हिंदी के प्रचार-प्रसार में हिंदुस्तानी सिनेमा के योगदान को भी स्वीकार किया।

अभिनय, कथानक, संगीत, फ़िल्मांकन और तकनीक जैसे सिनेमा के महत्त्वपूर्ण अवयवों के साथ-साथ राहुल जी ने ऐतिहासिकता, कालदोष, विषयवस्तु और प्रस्तुति जैसे पक्षों का भी मूल्यांकन किया। इन्हीं कसौटियों पर भारतीय और सोवियत सिनेमा की तुलना करते हुए उन्हें सोवियत फ़िल्में भारत ही नहीं विश्व सिनेमा में भी अग्रणी जान पड़ीं। कहना न होगा कि राहुल सांकृत्यायन की फ़िल्म संबंधी ये अंतर्दृष्टिपूर्ण टिप्पणियाँ और समीक्षाएँ हिंदी फ़िल्म अध्ययन के विकास-क्रम को समझने हेतु अपरिहार्य स्रोत हैं।

स्पष्ट है कि सिनेमा और साहित्य के विश्लेषण के ज़रिए हम उस जटिल ऐतिहासिक प्रक्रिया को समझ सकते हैं, जिसके अंतर्गत बीसवीं सदी के मध्य में इन दोनों इदारों में भारत की 'राष्ट्रीय अस्मिता' गढ़ी जा रही थी। पिछले कुछेक दशकों में इतिहासकारों ने सिनेमा और साहित्य को न सिर्फ़ इतिहास के महत्त्वपूर्ण स्रोत के रूप में इस्तेमाल किया है, बल्कि इससे भी आगे जाकर साहित्य और सिनेमा को बतौर इतिहास देखने-समझने की शुरुआत की है। सामाजिक इतिहास से प्राप्त होने वाले विश्लेषण के औज़ारों के ज़रिए फ़िल्म, साहित्य और समाज के अंतर्गुंफित संबंधों का अध्ययन अतीत की एक समृद्ध तस्वीर प्रस्तुत करता है, जिसमें जेंडर, समुदाय, जाति और राष्ट्र की विविध छवियाँ और विरोधाभासी आवाज़ें भी समाहित होती हैं। कहना न होगा कि प्रेमचंद और राहुल सांकृत्यायन का सिनेमा संबंधी लेखन इस ऐतिहासिक यथार्थ की बानगी देता है।

संदर्भ

अनिरुद्ध देशपांडे (2004), 'फ़िल्म्स ऐज़ हिस्टॉरिकल सोर्सेज़ ऑर आल्टरनेटिव हिस्ट्री', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* 4455-4459.

आशा कसबेकर (2001), 'हिडेन प्लेज़र्स : निगोशियेटिंग द मिथ ऑफ़ द फ़ीमेल आइडियल इन पॉपुलर हिंदी सिनेमा', रेचेल डॉयर व क्रिस्टोफ़र पिन्नी (सं.), *प्लेज़र ऐंड द नेशन*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली : 286-308.

आशीष राजाध्यक्ष और पॉल विल्लेमन (1998), *इसाइक्लोपीडिया ऑफ़ इंडियन सिनेमा*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली.

इरा भास्कर (2019), 'डिज़ायर, डेविएंसी ऐंड डिफ़ाएंस इन बॉम्बे सिनेमा (1930-1950)', शाश्वती सेनगुप्ता व अन्य (सं.), *'बैड' वीमेन ऑफ़ बॉम्बे फ़िल्म्स*, पालग्रेव मैकमिलन, स्विट्ज़रलैंड : 27-44.

एमा विडिस (2003), *विज़न्स ऑफ़ ए न्यू लैंड : सोवियत फ़िल्म फ़्रॉम द रिवोल्यूशन टू द सेकंड वर्ल्ड वॉर*, येल युनिवर्सिटी प्रेस, न्यू हैवन.

कौशिक भौमिक (2001), 'द इमरजेंस ऑफ़ द बॉम्बे फ़िल्म इंडस्ट्री, 1913-1936', अप्रकाशित डी. फ़िल. ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी.

जवाहरलाल नेहरू (1949 [1929]), *सोवियत रसिया : सम रैंडम स्केचेज़ ऐंड इंप्रेशन्स,* चेतन, बंबई.

ज्योतिका विर्दी (2003), द *सिनेमैटिक इमैजिनेशन : इंडियन पॉपुलर फ़िल्म्स ऐज़ सोशल हिस्ट्री*, रूटजर्स युनिवर्सिटी प्रेस, लंदन.

प्रेमचंद (1996), *प्रेमचंद रचनावली*, खंड 20, जाबिर हुसेन (प्रधान सं.), जनवाणी प्रकाशन, नई दिल्ली.

पार्थ चटर्जी (2012), 'इंडियन सिनेमा : देन ऐंड नाऊ', *इंडिया इंटरनैशनल सेंटर क्वॉर्टर्ली*, भाग 39 (2) : 45-53.

मदन गोपाल (1964), *मुंशी प्रेमचंद : ए लिटरेरी बायोग्राफ़ी*, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बंबई.

मार्क फेरो (1983), 'फ़िल्म ऐज़ ऐन एजेंट, प्रोडक्ट ऐंड सोर्स ऑफ़ हिस्ट्री', *जर्नल ऑफ़ कंटेंपररी हिस्ट्री,* खंड 18, 357-364.

रविकान्त (2016), *मीडिया की भाषा-लीला*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली.

राजनारायण चंदावरकर (1994), द *ओरिज़िंस ऑफ़ इंडस्ट्रियल कैपिटलिज़म इन इंडिया : बिजनेस स्ट्रेटजीज़ ऐंड द वर्किंग क्लासेज़ इन बॉम्बे, 1900-1940*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

राहुल सांकृत्यायन (2002), *मेरी जीवन-यात्रा*, खंड 4, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली.

रिपोर्ट ऑफ़ द इंडियन सिनेमेटोग्राफ़ कमिटी, 1927-1928 (1928), गवर्नमेंट प्रेस, मद्रास.

रेचेल डॉयर (2006), *फ़िल्मिंग द गॉड्स : रिलीजन ऐंड इंडियन सिनेमा*, रटलेज, न्यू यॉर्क.

शिवरानी देवी (1944), *प्रेमचंद : घर में*, सरस्वती प्रेस, बनारस.

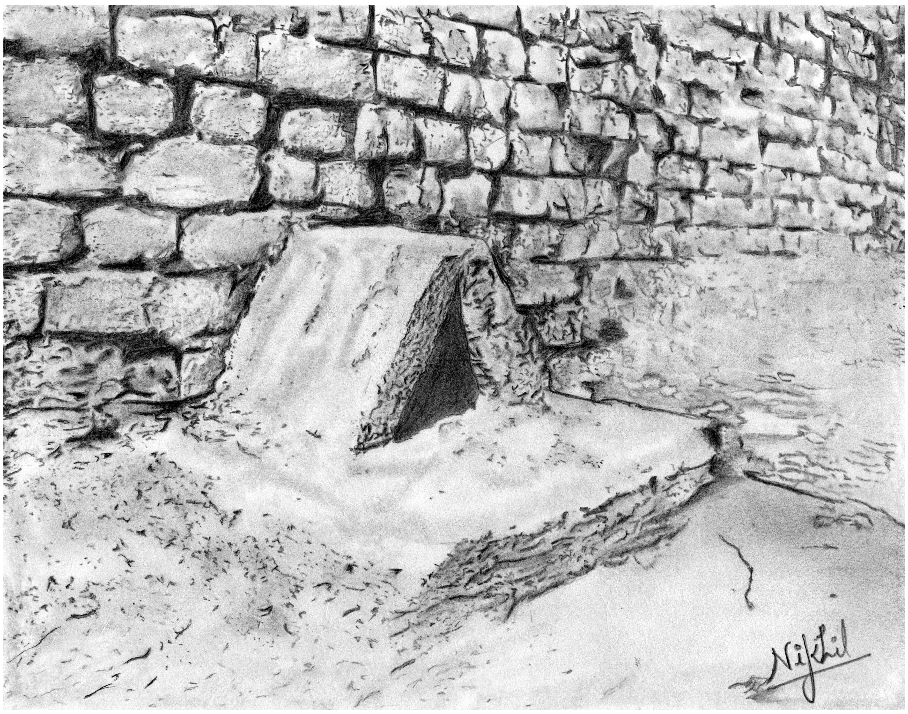
सुधा राजगोपालन (2008), *इंडियन फ़िल्म्स इन सोवियत सिनेमाज़ : द कल्चर ऑफ़ मूवी गोइंग आफ़्टर स्टालिन,* इंडियाना युनिवर्सिटी प्रेस, ब्लूमिंगटन.

सुमिता एस. चक्रवर्ती (1989), 'नैशनल आइडेंटिटी ऐंड द रियलिस्ट एस्थेटिक : इंडियन सिनेमा ऑफ़ द फिफ़्टीज़', *क्वाटर्ली रिव्यू ऑफ़ फ़िल्म ऐंड वीडियो*, 11 : 31-48, 275.

08Joel Li_Layout 1 22-02-2024 15:35 Page 197

कौन-से वाल्मीकि? उपनिवेशवाद, हिंदुत्व और सफ़ाईकर्मी समाज का धार्मिक इतिहास

जोएल ली



उत्तर भारत के विभिन्न क़स्बों-शहरों के चौपालों एवं अड्डों पर, आम जनमानस में, राजनैतिक और सामाजिक आंदोलनों में और दानिशमंदों की किताबों के पन्नों में पिछले कई दशकों से सफ़ाई कामगार समाज के मुद्दे पर एक बहस चल रही है। सफ़ाई कामगार समाज – यानि दलित समाज का वह हिस्सा जो सफ़ाई के पेशे से जुड़ा हुआ है – बाल्मीकि या वाल्मीकि नाम से कब और कैसे पहचाना जाने लगा? इस प्रश्न के साथ-साथ यह भी पूछा जाता है कि इस वाल्मीकि नाम से हिंदुत्व या हिंदू बहुसंख्यकवाद का क्या ताल्लुक़ है? जब संस्कृत रामायण के अंदर इसके रचयिता माने जाने वाले ऋषि वाल्मीकि ब्राह्मण के ही रूप में दिखाए जाते हैं और आधुनिक काल से पहले सफ़ाई कामगार समाज के वाल्मीकि नाम से पहचाने जाने का कोई प्रमाण नहीं है, तो सवाल स्वाभाविक है कि इस पीड़ित समाज से उस संस्कृत कवि के नाम का संबंध कैसे जुड़ गया?

कई लेखकों ने इस मुद्दे पर अपनी राय रखी है। कुछ लोगों का मानना है कि वर्तमान के सफ़ाई कामगार समाज का त्रेता युग के ऋषि वाल्मीकि से एक अटूट, क्रमबद्ध एवं सिलसिलेवार रिश्ता है। ऐतिहासिक प्रमाण के अभाव में यह मान्यता विश्वास पर ही आधारित है। दूसरों का दावा है कि बीसवीं सदी की शुरुआत में आर्य समाज हिंदुओं की संख्या बढ़ाने के मक़सद को लेकर स्वच्छकार समाज के बीच में घुसकर बताने लगा कि आप लोगों का रामायण- प्रणेता ऋषि वाल्मीकि से प्राचीन संबंध है – यानि मौजूदा बाल्मीकियों का जातीय उपनाम आर्य समाज की देन है। इस दावे के सहारे में प्रचुर एवं ठोस प्रमाण उपस्थित हैं। लेकिन तीसरी तरफ़ एक और खेमा है जिसका कहना है कि दरअसल, आर्य समाज की दख़ल-अंदाज़ी से पहले भी सफ़ाई कामगार समाज के कम-से-कम कुछ लोग अपने आप को बाल्मीकि कहते थे। इसमें भी कुछ सच्चाई है। कुल मिलाकर मामला बड़ा पेचीदा है, तभी तो इतने दशकों में बहस ख़त्म नहीं हुई है।[1]

इस लेख में जो पेश किया जाएगा, वह कुछ लोगों को हैरान कर सकता है। शोषितों का अतीत अक्सर दबाया जाता है। उसी तरह सफ़ाई कामगार समाज से संबंधित कई तथ्यों को इतिहास के गड्ढों में दफ़नाने की कोशिश की गई है। मगर यह कोशिश पूरी तरह से कामयाब नहीं रही। कहीं-न-कहीं अभिलेखागार के धूल-भरे कोनों में, बड़े बुज़ुर्गों की याददाश्त की गहराइयों में और गाँव-बस्ती के पिछवाड़े की ख़ाक में दफ़नाए हुए तथ्य अभी भी तलाशने वालों को अपनी झलक दिखला जाते हैं।

विषय की जड़ अगर पकड़नी है तो हमें पहले यह पूछना पड़ेगा कि आर्य समाज के हस्तक्षेप से पूर्व सफ़ाई कामगार समाज की पहचान क्या थी? पहचान बड़ी पेचीदा गाँठ होती है, जिसको खोलने के लिए हमें कई सवाल पूछने पड़ेंगे – उपनिवेशी ब्रिटिश सरकार हिंदुस्तान के सफ़ाई कामगार समाज को कैसे और किस आधार पर वर्गीकृत करती थी? दूसरे समाज और समुदाय के लोग स्वच्छकार समाज को किस नाम से जानते थे और क्या उनको अपना या पराया समझते थे? और सब से महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि सफ़ाई कामगार समाज के लोग ख़ुद क्या सोचते थे – अपने आप को क्या बुलाते थे और धर्म-मज़हब के मामले में अपने आपको किस समुदाय का समझते थे?

इस लेख के पाँच भाग हैं। पहले भाग में हम देखेंगे कि उन्नीसवीं सदी के आख़िर में और बीसवीं सदी की शुरुआत में उपनिवेशी सरकार और हिंदू समाज के लोग स्वच्छकार समाज

[1] उत्तर भारत के स्वच्छकार समाज के इतिहास पर जो शोध एवं अनुसंधान मैं पिछले दस साल से कर रहा हूँ, उसके कुछ पहलू मैं इस लेख में पेश करना चाहूँगा. अनुसंधान का फल किसी एक व्यक्ति की कोशिशों से नहीं बनता बल्कि बहुत शख़्सों की मेहनत से बनता है. इस शोध में अपनी ख़ुद की खोज के साथ साथ मुझे बहुत मदद स्वर्गीय भगवान दास, स्वर्गीय ओमप्रकाश वाल्मीकि, इतिहासकार विजय प्रसाद, और अन्य कई विद्वानों की किताबों से प्राप्त हुई. लखनऊ और दिल्ली के इस समाज के बुज़ुर्गों से भी बेइंतहा क़ीमती जानकारी हासिल हुई. हिंदी मेरी मातृभाषा नहीं है. मेरी भाषागत ग़लतियों को सुधारने में उस्ताद हैदर उस्मान, डॉ. राम चंदर, और *प्रतिमान* के संपादक रविकान्त ने बहुत मदद की. इन नेक शख़्सों की कोशिशों के बावजूद मेरे लेख में अनगिनत भाषागत कमियाँ होंगी जिसके लिए मैं ख़ुद ज़िम्मेदार हूँ, इसलिए पढ़ने वालों से मैं शुरु में ही क्षमा माँगना चाहूँगा. मैं इस अंक के चित्रों के लिए चित्रकार सान्या दारापुरी और निखिल मायुर को धन्यवाद भी देना चाहता हूँ.

को किस समुदाय का समझते थे और कैसे वर्गीकृत करते थे। भाग दो में हम उसी ज़माने के सफ़ाई कामगार समाज के ख़ुद के लोकगीत, लोककथाएँ और कहावतें सुनेंगे ताकि हम समझ सकें कि उनकी आत्मचेतना क्या थी। तीसरे भाग में हम बीसवीं सदी के उन पहले तीन दशकों पर ग़ौर करेंगे जब आर्य समाज ने दलित और ख़ास तौर पर सफ़ाई पेशे से जुड़ी जातियों के हिंदूकरण, यानि उनको हिंदू बनाने की मुहिम, चलाई। हम देखेंगे कि क्यों और किन परिस्थितियों में आर्य समाज ने यह क़दम उठाया। चौथे भाग में हम देखेंगे कि आख़िरकार ऋषि वाल्मीकि को इस झमेले में कैसे शामिल किया गया। पाँचवें भाग में हम सफ़ाई कामगार समाज के धार्मिक स्वत्व या मज़हबी ख़ुद-मुख़्तारी की पुरानी परंपरा और पिछले दस दशकों के हिंदूकरण पर कुछ टिप्पणियों के साथ लेख समाप्त करेंगे।

1.

'हिंदू' एक पुराना शब्द है लेकिन एक धार्मिक क़ौम या समुदाय वाला इसका जो अर्थ आजकल माना जाता है, वह दरअसल आधुनिक काल में ही बड़े पैमाने पर प्रचलित हुआ है। प्राचीन और मध्यकालीन इतिहास में 'हिंदू' का अर्थ अधिकतर 'हिन्द (यानी इंडिया, भारतीय उपमहाद्वीप) से संबंधित' था। मसलन, दिल्ली सल्तनत और मुग़ल काल के दस्तावेज़ों में 'हिंदू तलवार' का मतलब 'तलवार जो हिन्द में बनाई गई' हुआ करता था। सोलहवीं और सत्रहवीं सदी में जब 'हिंदू' सामाजिक समुदाय वाले अर्थ के साथ कुछ एक जगहों में दिखने लगे – मध्यकालीन मराठी लेखक एकनाथ का 'हिंदू-तुर्क संवाद' एक उदाहरण है – यह साफ़ नज़र आता है कि उन दस्तावेज़ों में हिंदू का मतलब है ब्राह्मण या सवर्ण जाति का व्यक्ति, और कोई नहीं।[2] अठारहवीं सदी में मारवाड़ राज्य की राजपूत सरकार ने उस ज़माने की सच्चाई और भी स्पष्ट की। मारवाड़ राजा ने 1785 में फ़रमान चलाया, जिसमें प्रजा दो हिस्सों में वर्गीकृत की गई थी – हिंदुआन (यानि हिंदू) और अच्छेप (यानि अछूत)।[3] फ़रमान में 'अच्छेप' समुदाय की सूची भी दी गई थी – 'तुरक ढेढ़ चमार... हलालख़ोर' – यानि कि उस राजपूत शासन की क़ानूनी व्यवस्था में मुसलमान ('तुरक'), कृषि करने वाले और पशु की खाल उतारने वाली शिल्पकार जातियाँ – (ढेढ़ और चमार), और सफ़ाई पेशे से जुड़ी जातियाँ, (जो उस ज़माने में सब मिलाकर 'हलालख़ोर' नाम से जानी जाती थीं) तीनों अछूत माने जाते थे और हिंदुओं से अलग। अलग ही नहीं, ये तथाकथित अच्छेप समाज हिंदुओं के विपरीत माने जाते थे – फ़रमान में जो कार्य 'हिंदुआन' के लिए अनिवार्य था, वही कार्य 'अच्छेप' के लिए वर्जित था।

अंग्रेज़ी हुकूमत पहली हुकूमत थी, जिसने सफ़ाई कामगार समाज और अन्य दलित जातियों को हिंदुओं के साथ वर्गीकृत किया। ब्रिटिश शासन ने 1881 से शुरू करके हर दस

[2] वसुधा डालमिया और हेनरिक वॉन स्टिटेनक्रोन (सं.), (2007); सिंथिया टैलबोट (1995); एलेनोर ज़ेलियट (1982).

[3] दिव्या चेरियन (2022) : 1-5.

साल की जनगणना में आदेश दिया कि तथाकथित अछूत जाति के लोग अगर अपने आप को मुसलमान या ईसाई न कहें, तो उन्हें हिंदू ही माना जाए और जनगणना में हिंदुओं की संख्या में ही दर्ज किया जाए।[4] यह नियम ज़मीनी स्तर की सामाजिक हक़ीक़त से मेल नहीं खाता था। जनगणना में काम करने वाले कई अंग्रेज़ अफ़सरों ने नियम का पालन करते हुए भी इस बात पर टिप्पणी लगाई। मिसाल के तौर पर जनगणना के मुख्य आयुक्त ई.ए. गेट ने लिखा कि 'यह ज़ाहिरन बेतुकी बात है कि हम उन व्यक्तियों को हिंदू लिखवा रहे हैं जो न हिंदू देवी-देवताओं की पूजा करते हैं और न ही हिंदू मंदिरों में जा सकते हैं, जिनको दूसरे लोग हिंदू नहीं मानते और जो ख़ुद अपने आप को हिंदू नहीं कहते।'[5] 1881 की जनगणना के पंजाब मुख्य आयुक्त डेंज़िल इब्बेटसन ने जब सफ़ाई पेशे से जुड़ी चूहड़ा जाति के साथ हिंदू शब्द पहली बार जोड़ा तो उन्होंने तुरंत स्पष्टीकरण देते हुए लिखा – 'यानि कि एक चूहड़ा जो अपने जातीय मज़हब का पालन करता है और जिसको हमने हिंदू वर्गीकृत कर दिया है।'[6] इस 'हमने' पर ग़ौर किया जाना चाहिए – इब्बेटसन और अन्य अंग्रेज़ अफ़सर जानते थे कि उनकी सरकार का वर्गीकरण प्रजा की मान्यता से दूर था। इब्बेटसन ने उसी रिपार्ट में लिखा कि हालाँकि चूहड़ा जाति के लोग अक्सर अपने मालिक के रीति-रिवाज अपनाते थे – मसलन जहाँ ज़मींदार हिंदू थे, वे हिंदू तरीक़े से शव जलाते थे और जहाँ ज़मींदार मुसलमान थे, दफ़ना देते थे– फिर भी 'उनके मालिक उनको न हिंदू मानते थे और न मुसलमान।'[7] सदी के आख़िरी दशक में प्रशासन कर्मचारी रिचर्ड ग्रीवन और अल्ताफ़ हुसैन ने देखा कि वाराणसी में जब कोई सफ़ाई कर्मचारी अपने आप को हिंदू या मुसलमान कहता भी था तो 'इस बात से हिंदू भी इंकार करते हैं, जो सफ़ाई वालों को मंदिरों से बहिष्कृत करते हैं और मुसलमान भी इंकार करते हैं, जो सफ़ाई वालों को मस्जिदों से बहिष्कृत करते हैं।'[8]

औपनिवेशिक सरकार के नए वर्गीकरण का एक मतलब यह था कि अब हिंदू से जो एकदम विपरीत या विलोम था, वह अचानक शासन के दृष्टिकोण में हिंदू ही माना जाएगा। अर्थात् तथाकथित सवर्ण और तथाकथित अछूत एक ही समुदाय के सदस्य माने जाएँगे। यह बात लोगों को न सिर्फ़ बेतुकी लगी बल्कि बहुत सारे हिंदुओं को नागवार और आपत्तिजनक भी लगी। इनमें से वे हिंदू भी थे जो प्रशासन में कर्मचारी थे और जिनको ख़ुद यह नया वर्गीकरण लागू करना पड़ा था। जनगणना 1881 की रिपोर्ट में एक आयुक्त ने यह टिप्पणी दी कि 'जो जनगणना के प्रगणक या सुपरवाइज़र कट्टर हिंदू हैं, उनमें से बहुत हैं जो ऐसे नीच व्यक्तियों को हिंदू धर्म का लिखने से ऐतराज़ करते हैं। बहुत ऐसी घटनाएँ मेरे सामने आई जिनमें उन [अछूत] लोगों का धर्म ढेढ़, मांग या चांडाल धर्म लिखा गया था... लगता है कि उनसे

[4] पंडित हरिकृष्ण कौल (1911) : 97.; विजय प्रसाद (2000) : 67-68.

[5] ई. ए. गेट (1913) : 114, ; वसुधा डालमिया (2007) : 14.

[6] डेंज़िल इब्बेटसन (1970) : 294.

[7] वही : 268.

[8] रिचर्ड ग्रीवेन (1894) : 7-8, 38.



पूछा ही नहीं गया।'[9] दस वर्ष पश्चात 1891 की जनगणना की रिपार्ट में यह मिलता है कि 'प्रगणकों ने निम्न और अशुभ जातियों – जैसे सफ़ाई कर्मचारी और गाँव के श्रमिक – के सदस्यों के आगे हिंदू शब्द लगाने में सख़्त ऐतराज़ किया।'[10] फिर दस साल बाद, 1901 की जनगणना में पंजाब के आयुक्त ने देखा कि 'चूहड़ों को हिंदू धर्मी लिखने से प्रभुत्वशाली हिंदू प्रगणक आपत्ति जताते हैं, जिस वजह से अक्सर उनके लिए [जनगणना के फ़ॉर्म में, धर्म के ख़ाने में] चूहड़ा या मुसलमान लिखा जाता है।'[11] 1911 की जनगणना में भी इस तरह की टिप्पणियाँ मिलती हैं कि जनगणना के प्रगणक व सुपरवाइज़र जो हिंदू थे, वे सफ़ाई कामगार जातियों को हिंदू लिखने पर ऐतराज़ जताते थे।[12]

बीसवीं सदी के हिंदू बहुसंख्यकवादी आंदोलन से पहले सवर्ण जाति के जो लोग अपने आप को हिंदू कहने लगे थे, वे दलित तबक़े और विशेष रूप से स्वच्छकार समाज के लोगों को अपना सहधर्मी नहीं मानते थे। उत्तर भारत में ही नहीं, यह बात दूसरे इलाक़ों में भी नज़र आती है। तमिलनाडु के संदर्भ में प्रसिद्ध समाचार पत्र 'द हिंदू' ने जून 1891 में यह स्पष्ट किया कि जहाँ तक 'पराइयाँ' या 'परिया' नाम की अछूत जाति का सवाल था, 'हिंदू उनको अपने समाज का हिस्सा नहीं मानते।'[13] या मध्य भारत की मिसाल लें तो जनगणना के अफ़सर एच.वी. रसेल और राय बहादुर हीरा लाल ने लिखा कि 'छत्तीसगढ़ में किसी को हिंदू कहने

---

9 डब्ल्यू. चिचले प्लॉडेन (1883) : 17.

10 जे. ए. बेन्स (1893) : 158.

11 होरेस ऑर्थर रोज़ (1902) : 113.

12 ई. ए. गेट (1913) : 115.

13 रूपा विश्वनाथ (2014) : 1.

का मतलब है कि वह आदमी चमार नहीं है... इन दो वर्गों के बीच एक स्थिर, द्वेषपूर्ण दुश्मनी क़ायम है।'[14] जहाँ देखें, वहाँ यही बात सामने आती है कि बीसवीं सदी तक अंग्रेज़ हुकूमत के नए वर्गीकरण के बावजूद आम जनता के नज़रिये में दलित जातियों के नाम हिंदू समाज के अंदरूनी सदस्य के रूप में नहीं, बल्कि हिंदू के विलोम के अर्थ में लिया जाता था। उस ज़माने की सामाजिक व्यवस्था की ज़मीनी सच्चाई अंग्रेज़ सरकार की जनगणना की तालिकाओं में कम दिखती थी और मारवाड़ के 1785 वाले शाही फ़रमान में ज़्यादा दिखाई देती थी।

जिस ऐतिहासिक सिलसिले पर यह लेख रोशनी डालने की कोशिश कर रहा है, उसमें हिंदू सुधारक संगठन आर्य समाज ने एक बड़ी अहम भूमिका निभाई है। क्या आर्य समाज बीसवीं सदी से पहले तथाकथित अछूत जातियों को अपने हिंदू समाज का एक हिस्सा समझता था? आर्य समाज के ख़ुद के अंग्रेज़ी रिसाले *आर्य पत्रिका* का 8 अगस्त, 1896 का अंक इस रहस्य से परदा उठाता है। *आर्य पत्रिका* के संपादक ने लिखा :

> चूहड़ों का हमारे समाज में प्रवेश कराकर उनका उत्थान जाहिलों को बेतुकेपन का शिखर लगता होगा... फिर भी हमें मानना पड़ेगा कि अब तक किसी ने [आर्य] समाज का रुख़ इन बातों की ओर मोड़ने का नहीं सोचा। ऐसे नीच और दबे हुए लोगों के बीच जाकर धर्म परिवर्तन कराने का विचार ही घृणास्पद लगता है। जिन समाज में हम रहते हैं, उसके लोग हमारा ऐसा करना पल भर को भी बर्दाश्त नहीं करेंगे और हमारी ख़ुद की रूह इससे कराह उठती है। ईसाई भले ही वही करते हों।[15]

इस दस्तावेज़ में *आर्य पत्रिका* के संपादक साफ़-साफ़ दिखाते हैं कि 1890 के दशक में हिंदू सुधारक संगठन आर्य समाज में भी यह विचार कहीं नज़र नहीं आता कि सफ़ाई कामगार जातियों के लोग किसी तरह से हिंदुओं के सहधर्मी हैं। सहधर्मी तो दूर की बात – दलित वर्ग के व्यक्तियों के आर्य समाज में महज़ आने की जब ये आर्य लेखक कल्पना करते हैं तो उनकी रूह घृणा से काँपने लगती है। ग़ौरतलब यह भी है कि 'चूहड़ों का हमारे समाज में प्रवेश' कराने के लिए 'धर्म परिवर्तन' की आवश्यकता होगी – यानि कि आर्य समाजियों के दृष्टिकोण में सफ़ाईकर्मी जातियाँ किसी अन्य धर्म की थीं।

तो फिर उनका धर्म क्या था?

2.

बर्तानवी भारतीय सेना के कप्तान और लोक कथाओं का अध्ययन करने वाले रिचर्ड कार्नाक टेम्पल ने 1884 में छपी हुई अपनी किताब *लेजेंड्स ऑफ़ द पंजाब* में लिखा कि 'मशहूर है

[14] आर. वी. रसेल और राय बहादुर हीरा लाल (1916) : 315.

[15] जेम्स रीड ग्राहम (1943) : 490.

कि स्वच्छकार समाज के लोग या उत्तर भारत में उनमें से बहुतायत लाल बेगी हैं यानि लाल बेग के अनुयायी, और उनका अपना ख़ुद का धर्म है – न हिंदू न मुसलमान – जिसके रीति-रिवाज और गुरु-पुजारी दूसरे धर्म से अलग और स्वायत्त हैं।'[16]

टेम्पल ही नहीं, उस ज़माने के अनेक लेखकों ने – ख़ास तौर पर ज़मीनी स्तर की सच्चाई को नज़दीक से देखने वाले जो लेखक थे – इस तरह का उल्लेख किया कि स्वच्छकार समाज का अपना ख़ुद का मज़हब था, जिसके केंद्र में लाल बेग नामक एक पीर या पैग़म्बर थे। लेखक रडयार्ड किप्लिंग ने 'लाल बेग का बदला' नामक कहानी और फिर *किम* नामक बहुचर्चित उपन्यास में लाल बेगी धर्म का ज़िक्र किया है।[17] उसी तरह सय्यद अहमद देहलवी ने अपने *फ़र्हंग-ए-असफ़िया* नामक प्रसिद्ध विश्वकोश में लाल बेग का इंदराज लिखा, रिचर्ड ग्रीवन ने अपनी किताब 'नाइट्स ऑफ़ द ब्रूम' में लाल बेगी मज़हब का भरा-पूरा विश्लेषणात्मक अध्ययन किया और अन्य कई बुद्धिजीवियों, सरकारी अफ़सरों, पत्रकारों और ईसाई धर्म प्रचारकों ने कमोबेश विवरणात्मक ढंग से इस अनोखी धार्मिक परम्परा पर लिखा।[18]

इन तमाम सूत्रों के अनुसार लाल बेगी धर्म सफ़ाई कामगार समाज में काफ़ी हद तक व्याप्त था। पूर्वी इलाक़ों में जहाँ डोम, हेला और बाँसफोड़ जातियाँ बड़ी तादाद में रहती थीं, उन जातियों का लाल बेग धर्म के अनुयायी होने का कम प्रमाण मिलता है। लेकिन विभाजन-पूर्व संयुक्त पंजाब, दिल्ली, राजस्थान, और यू.पी. तथा दक्षिण और बंगाल के शहरों एवं छावनियों में (पुणे, हैदराबाद, कोलकाता, इत्यादि) – जहाँ चूहड़ा जाति और एक हद तक धानुक भी बड़ी तादाद में रहते थे – इन बिरादरियों को ज़्यादातर लाल बेगी ही माना जाता था। लाल बेगी धर्म यहाँ तक फैला हुआ था कि उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के अधिकतर शब्दकोशों में 'भंगी, चूहड़ा, हलालख़ोर और मेहतर [जातियाँ]' लाल बेगी के इंदराज में परिभाषित मिलते हैं – यानि कि लाल बेगी सफ़ाई कामगार समाज के व्यक्तित्व का पर्याय बन गया था।[19]

लेकिन किस आधार पर यह बात कही जा रही थी कि लाल बेगियों का अपना ख़ुद का धर्म या मज़हब था? धर्म के दायरे में स्वत्व, स्वायत्तता या ख़ुद-मुख़्तारी का आख़िरकार मतलब क्या होता है? यह बड़ा जटिल मुद्दा है। एक तरफ़ औपनिवेशिक सरकार के नए वर्गीकरण के कारण स्वच्छकार समाज का व्यक्ति चाहे कुछ भी कहे, वह सरकारी दस्तावेज़ में हिंदू ही माना जाने लगा था। दूसरी तरफ़ यह बात भी थी कि यह समाज छुआछूत और जातिगत शोषण का शिकार था और तथाकथित ऊँची जातियों पर आर्थिक रूप से निर्भर भी। जातिगत उत्पीड़न की धार कुंद करने की कोशिश करते हुए और अपनी आर्थिक निर्भरता को

---

[16] रिचर्ड कार्नैक टेम्पल (1884) : 529.

[17] रडयार्ड. किम. किप्लिंग (1901, 1887).

[18] आर. बर्न (1902); जेम्स एम. कैंपबेल (1885); सैयद अहमद देहलवी (1879); रिचर्ड ग्रीवेन (1894); पंडित हरिकृष्ण कौल (1911); एच. यू. वीटब्रेख्त (1886); जॉन एफ. डब्ल्यू. यंगसन (1906).

[19] सैयद अहमद देहलवी (1879); अल हज़ मौलवी (1925); कालिका प्रसाद, राजवल्लभ सहाय, और मुकुंदीलाल श्रीवास्तव (सं.), (1953).

देखते हुए सफ़ाई कामगार समाज के लोग काफ़ी हद तक जिन ज़मींदार या दबंग जातियों के यहाँ वे काम करते थे, उनके रीति-रिवाज – चाहे वे हिंदू हों या सिख या मुसलमान – बाहरी तौर पर अपनाते थे।[20] नाम रखना हो, बाल-दाढ़ी कटाना हो या पहनावे-ओढ़ावे को लेकर, जैसा राजा वैसी प्रजा। इस वजह से नए वर्गीकरण के लागू होने के बावजूद जनगणना में स्वच्छकार समाज के धर्म को लेकर काफ़ी भ्रम था।[21] कुछ अधिकारियों ने नए नियम का पालन करते हुए लाल बेगियों को हिंदुओं में गिन लिया, मगर औरों ने उन्हें सिखों या मुसलमानों में जोड़ दिया। 1901 की जनगणना के यू.पी. प्रांतीय आयुक्त आर. बर्न ने लाल बेगी धर्म को इस्लाम का पंथ दर्ज किया, जो आबादी में सुन्नी और शिया के बाद तीसरी जगह पर था।[22] 1911 की जनगणना की पंजाब रिपोर्ट में लाल बेगियों को तीन बार – हिंदू, सिख और फिर मुसलमान पंथों में — गिना गया।[23]

अभी तक हमने जिन ऐतिहासिक स्रोतों पर विचार किया, उनमें एक बड़ी कमी है। या तो ये ऊपर की, ज़ाहिरी चीज़ों पर आधारित थे – नाम, लिबास, बाल काटने का तरीक़ा, जीवन के उस दायरे की चीज़ें, जिनमें स्वच्छकार समाज अपने मालिकों की शैली अपनाता था – या फिर जहाँ वे दूसरों के कहने पर निर्भर थे – जैसे जनगणना के प्रगणक, सुपरवाइज़र या आयुक्त – या फिर किसी सरकारी वर्गीकरण का प्रतिबिम्ब थे। सफ़ाईकर्मी समाज के लोग ख़ुद क्या सोचते या कहते थे, उनकी आत्मछवि क्या थी? शिक्षा से वंचित रखे जाने के कारण उस ज़माने में इस समाज के लोग लेखक बनने से भी वंचित रहे। पर इसका नतीजा यह नहीं निकला कि हम उस ज़माने के स्वच्छकार समाज के लोगों के ख़ुद के ख़यालात के बारे में कुछ नहीं जान सकते। सौभाग्यवश उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के आरंभ में स्वच्छकार समाज के अंदर जो लोकगीत गाए जाते थे और जो लोककथाएँ एवं कहावतें प्रचलित थीं, उनमें से अनेक उन्हीं दशकों में लिखी और बटोरी गईं और कई स्रोतों में मौजूद हैं। कुल मिलाकर ये गीत, क़िस्से-कहानियाँ, कहावतें वग़ैरह ऐसा ख़ज़ाना हैं जिसकी चमक में इतिहास के इस अँधेरे-भरे कोने में भी एक भूली-बिसरी परम्परा नज़र आने लगती है।

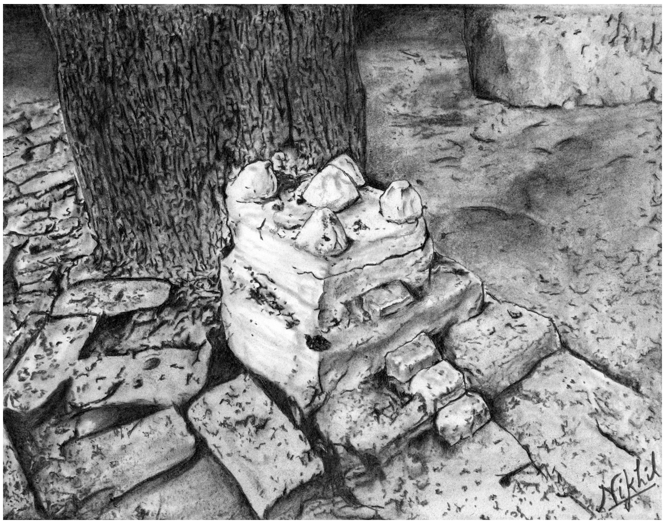
उस वक़्त के सफ़ाईकर्मी समाज में अपनत्व और ग़ैरियत का सामूहिक भाव समझने के लिए इस ख़ज़ाने को टटोलना आवश्यक है। पहले यह देखा जाए कि इन गीतों में धार्मिक स्थलों की क्या चर्चा है। बीसवीं सदी के हिंदूकरण से पहले भारतीय उपमहाद्वीप के भू-दृश्य पर लाल बेग के अनगिनत स्थान (थान या मढ़ियाँ) हुआ करते थे। इन थानों की रूपरेखा अधिकतर तीन प्रकार की होती थी। मिट्टी के छोटे चबूतरे के ऊपर पाँच गुम्बद बने होते थे या फिर ढाई ईंट का तिकोनिया ताक़ होता था, जिसमें बत्ती जलाई जाती थी। तीसरे प्रकार के

[20] हर्वे डेविट ग्रिसवॉल्ड (1921) : 227; हर्बर्ट जॉनसन स्ट्रिक्लर (1926).

[21] ई. ए. गेट (1902) : 435.

[22] आर. बर्न (1901) : 96.

[23] पंडित हरिकृष्ण कौल (1911) : 131-33, 58, 67.



थान में गुम्बद और ताक़ दोनों मिलते थे।[24] दिखने में ये थान सूफ़ी पीरों के छोटे मक़बरों और बंगाल और पंजाब के लोकप्रिय पाँच पीरों के स्मृति-स्थलों से एक हद तक मिलते थे, और कभी-कभार जो लोग सफ़ाई बिरादरी से ताल्लुक़ नहीं रखते थे, लाल बेग के थान को देखकर ग़लतफ़हमी से इसे किसी सूफ़ी बुज़ुर्ग की क़ब्र समझ लेते थे।[25]

स्वच्छकार समाज के लोकगीतों में इन थानों का ज़िक्र है और ये हिंदुओं और मुसलमानों के धार्मिक स्थलों से भिन्न बताए जाते हैं। उदाहरण के तौर पर ग्रीवन ने वाराणसी में 1890 के दशक में यह लोकगीत सुनकर लिखा, जिसमें अली (इस्लाम के संस्थापक पैग़म्बर मुहम्मद साहब के दामाद) लाल बेग से कहते हैं कि :

> हिंदू का देहरा
> मुसलमान की मस्जिद
> मैं सेवूँ तेरी कच्ची मढ़ी[26]

स्कॉटलैंड के जॉन यंगसन ने पंजाब के चूहड़ों में प्रचलित लोकगीतों में से निम्नलिखित गीत सुनके लिप्यंतरित किया :

> जों हिंदू गंगा नु परसन
> जों मक्का मुसलमानान

---

[24] रिचर्ड ग्रीवेन (1894) : 38; हर्बर्ट जॉनसन स्ट्रिक्लर (1926) : 763; हर्वे डेविट ग्रिसवॉल्ड (1921) : 565; जॉन एफ. डब्ल्यू. यंगसन (1907) : 340-55.

[25] मुहम्मद हुसैन आज़ाद (1907/1880) : 394.

[26] रिचर्ड ग्रीवेन (1934) : 43-48.

शाही नाम तेरे नु नुन मन्नान
पिंड पिंड थान बनावान[27]

जिसका आधुनिक हिंदी में मतलब कुछ ऐसा है :

ज्यों हिंदू गंगा नदी परसते हैं
ज्यों मुसलमान मक्का परसते हैं
वैसे शाही लोग तेरा नाम मानते हैं
हरेक गाँव में तेरा थान बनाते हैं

इधर 'शाही' लाल बेगी का पर्याय है, क्योंकि लाल बेग का दूसरा नाम था बाला शाह या बाला शाह नूरी। इन पदों में धार्मिक स्थलों और धार्मिक समूहों का संबंध स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। गंगा व देहरा हिंदुओं का संकेत देते हैं जबकि मक्का व मस्जिद मुसलमानों का। मगर उन दोनों से अलग है लाल बेगियों की पूजा या इबादत करने की जगह – चाहे वह थान कहलाया जाए या कच्ची मढ़ी।

कुछ लोकगीतों में धार्मिक स्थल नहीं बल्कि धार्मिक आचार के माध्यम से इस समाज का हिंदुओं और मुसलमानों से अलग होना दिखाया जाता है। मिसाल के लिए यह सियालकोट से लिया हुआ गीत लीजिए :

शाहियाँ दे बहिश्ती जान दा इह पक्का निशान
ना रोज़ा ना अष्टमी ना तुर मक्का जान[28]

या एक और पद लीजिए :

शाहियों नुन फ़रमाना
ना मैं वर्तों अष्टमी
ना तुर मक्के जाना
अल्लाह अलिफ़ समान दा
सभो इह बयान[29]

इन पदों में अष्टमी व इसका व्रत रखना हिंदू धर्म के चिह्न हैं और रमज़ान का रोज़ा रखना व मक्का जाना इस्लाम के चिह्न हैं। और फिर से लाल बेगी या शाही की अलग राह लेने की

[27] जॉन एफ. डब्ल्यू. यंगसन (1907) : 343.

[28] जॉन एफ. डब्ल्यू. यंगसन (1907) : 27.

[29] वही : 343.

बात साफ़ नज़र आती है – इस समाज के लोग हिंदुओं और मुसलमानों की व्रत-यात्रा न करके और त्यौहार न मनाकर बहिश्त यानि स्वर्ग जाएँगे।

सामूहिक अपनेपन का जो भाव यहाँ दिखाई दे रहा है, वह गीतों में ही नहीं बल्कि उस ज़माने के मुहावरों और आम बातचीत में भी मिलता है। यंगसन ने अपने पंजाब में रिहाइश के दिनों का एक वाक़या याद किया है, जिसमें धर्म के विषय पर एक मुसलमान मौलवी, एक ईसाई धर्म प्रचारक, और एक चूहड़ा बहस कर रहे थे। चूहड़े ने कहा कि – 'हमारा धर्म सबसे अच्छा है... कम-से-कम हिंदू धर्म से तो बेहतर है।'[30] बनारस में 1880 के दशक में एक कहावत प्रचलित थी कि 'जब किसी लाल बेगी से पूछा गया कि क्या कोई मुसलमान जन्नत जा सकता है तो जवाब मिला कि ऐसा कभी सुना नहीं लेकिन हो सकता है कि लाल बेग के पीछे-पीछे चले तो जन्नत पहुँच सकता है।'[31] जब हर्बर्ट स्ट्रिक्लर ने पंजाब के चूहड़ों के बीच शोध किया तो उनसे यह कहा गया कि 'बाला शाह (लाल बेग) के अनुयायी अगर बाबा नानक के पंथ में जाएँ तो वह बहिष्कृत किए जाते हैं।'[32] और कई उदाहरण हैं जिनमें स्वच्छकार समाज के लोग ईसाई धर्म में दिलचस्पी रखते हुए भी ईसाई नहीं बने; इसलिए कि ईसाई धर्मप्रचारक उनको लाल बेग की पूजा करने से मना करते थे।[33] मुख़्तसर में, इस बात के प्रमाण मौजूद हैं कि उस वक़्त के लाल बेगी अपने धर्म को हिंदू, सिख, ईसाई और इस्लाम चारों धर्मों से एकदम अलग समझते थे।

सफ़ाईकर्मी समाज की सामूहिक आत्मछवि की कल्पना की रूपरेखा तब और स्पष्ट हो जाती है जब हम उन शब्दों पर ग़ौर करते हैं, जो उनके लोकगीतों, पदों और कथाओं में अपने समूह के लिए इस्तेमाल किए जाते थे। इन तमाम सूत्रों में जाति, बिरादरी, पंथ और धर्म जैसे अल्फ़ाज़ बहुत कम मिलते हैं लेकिन दो शब्द अक्सर मिलते हैं – क़ौम और उम्मत। बनारस के लाल बेगियों की एक धार्मिक रस्म के दौरान गाए जाने वाले गीत में यह पंक्ति है :

> गायक – मेरे शाह जी की उम्मत बढ़ाया
> बाक़ी लोग – बोलो, मोमिनो, वही एक[34]

उसी तरह पंजाब में जो लाल बेगी कुर्सीनामे रिचर्ड टेम्पल को बताए गए, उनमें से एक में यह पंक्ति उपस्थित है – 'सर्जन उम्मत पाई।'[35] और फिर स्वच्छकार समाज के अनेक क़िस्से-कहानियों में उनके दूसरे समाजों से अलग होने की शुरुआत का जब ज़िक्र होता है तो अक्सर

---

[30] जॉन एफ. डब्ल्यू. यंगसन (1896) : 228.

[31] रिचर्ड ग्रीवेन (1894) : 8.

[32] देखें, हर्बर्ट जॉनसन स्ट्रिक्लर (1926) : चैप्टर. 3.

[33] आर बर्न (1901) : 99; हर्वे डेविट ग्रिसवॉल्ड (1934) : 231; जे.एच. मेसमोर (1903) : 264-65.

[34] रिचर्ड ग्रीवेन (1894) : 42.

[35] रिचर्ड कार्नैक टेम्पल (1884) : 531.

इस तरह की भाषा में घटना बयान होती है कि – 'ते क़ौम होई इह वाखरी' (यानि 'तो एक भिन्न क़ौम उत्पन्न हुई')।[36] इन बिंदुओं पर ध्यान देते हुए हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उस ज़माने के सफ़ाईकर्मी समाज के बहुसंख्य लोग ख़ुद को न सिर्फ़ एक जाति या जातिगत समूह समझते थे बल्कि एक क़ौम या उम्मत – यानि इस्लामी नमूने पर आधारित (लेकिन इस्लाम से अलग) अंदरूनी तरीक़े से एक एकजुट मज़बूत धार्मिक समुदाय।

उस ज़माने के सूत्रों में कई जगह एक लोककथा मिलती है, जिसमें स्वच्छकार समाज के एक ख़्वाजा झोपड़ा नामक पूर्वज अल्लाह से दुनिया के लोगों के बर्ताव की शिकायत करते हुए अपनी ख़ुद की उम्मत स्थापित करने की तमन्ना का इज़हार करते हैं। ख़्वाजा झोपड़ा कहते हैं :

मैनुन हिंदू न नेरे औन देंगे
मुसलमान न पढ़ेंगे जनाज़ा
मेरी कौन शिफ़ाअत भरेगा
तू सुन ख़ुदा राजा
मैं उम्मत रखना चाहुनान[37]

यानि, हिंदू हमको आने ही नहीं देते। जब हमारा कोई व्यक्ति मरता है तो मुसलमान उसका जनाज़ा पढ़ने से इंकार करते हैं। कौन गवाह बनेगा या कौन होगा मेरा साक्षी? सुनो ख़ुदा राजा, मैं एक उम्मत क़ायम रखना चाहता हूँ।

यह सुनकर अल्लाह जवाब देते हुए झोंपड़ा को आश्वासन दिलाते हैं कि :

रोज़ क़यामत वक़्त दे
तैनुन मिलेगी वदिदि
...
राम ते रहीम किआँ
छप छप जाना
सवा नेज़े ते दिन आवेगा
हाऔए दोज़ख पाना
सामने विखाना
उम्मत तेरी भज्जके
बिहिश्त वर जाना[38]

[36] जॉन एफ़. डब्ल्यू. यंगसन (1906) : 345.

[37] वही : 350-51.

[38] वही : 351.

यानि कि क़यामत के दिन तुझे महानता मिलेगी... राम और रहीम के लोग (हिंदू व मुसलमान) इधर-उधर बिखरे होंगे और जब सूरज सवा नेज़े तक डूबेगा तो वे लोग दोज़ख़ (नरक) जाएँगे, लेकिन तुमको दिखाऊँगा बहिश्त (स्वर्ग) और तुम्हारी उम्मत जल्दी वहाँ जाएगी।

इस तरह के गीत व लोककथाएँ स्पष्ट रूप से प्रमाणित करती हैं कि बीसवीं सदी के पहले दशक तक सफ़ाई कामगार समाज के लोग अपने-आपको एक धार्मिक क़ौम या उम्मत समझते थे जो हिंदू, मुसलमान, सिख व ईसाई धर्म से अलग और ख़ुद-मुख़्तार थी। इस क़ौम के लोग हिंदुओं को सहधर्मी समझना तो दूर, उनको (और मुसलमानों को भी) इस लौकिक दुनिया में अपने ऊपर ज़ुल्म और अत्याचार करने वाले समुदाय समझते थे और अपने गीतों में उन शोषक समुदायों के लोगों के नरक में जाने और ख़ुद के स्वर्ग जाने की कल्पना करते थे।

3.

अब तक हम देख चुके हैं कि बीसवीं सदी के आरंभ तक हिंदू समाज के लोग ज़्यादातर सफ़ाईकर्मी समाज और अन्य दलित जातियों को सहधर्मी नहीं समझते थे। परस्पर तरीक़े से स्वच्छकार समाज हिंदुओं को सहधर्मी नहीं मानता था। दोनों थे एक दूसरे से ग़ैर। हमने यह भी देखा है कि हिंदू सुधारवादी संगठन आर्य समाज ने 1896 तक दलित जातियों के बीच जाकर उन्हें अपने धर्म की ओर आकर्षित करने की कोशिश नहीं की थी – बल्कि आर्य समाज के धर्मप्रचारक उस समय तक दलितों के बीच जाने से अपनी घृणा की वजह से हिचकिचाते रहे।

बीसवीं सदी के पहले तीन दशकों में यह सब बदलने लगा। कैसे?

1896 में ही पंजाब की एक दलित जाति – राहतिया – के कुछ लोगों ने जालंधर के आर्य समाज के पास जाकर सदस्य बनने का प्रस्ताव पेश किया।[39] राहतिया जाति उस वक़्त सिख थी, लेकिन सिख धर्म के अंदर जो जातिगत भेद-भाव मौजूद था, उससे परेशान होकर उन्होंने सिखों की सिंह सभाओं में शिकवा पेश किया और जब कई मर्तबा उनकी ये शिकायतें सुनी नहीं गईं तो वे आर्य समाज के पास गए। उनकी माँगें थीं कि उनको मिलना चाहिए कुएँ से पानी लेने का और दरी-क़ालीन पर बैठने का दूसरे सिख व हिंदुओं-जैसा बराबरी का हक़।[40] अक्सर उस ज़माने में जब किसी दलित जाति का परिवार, गाँव या समूह किसी धर्म प्रचारक के पास आता था – चाहे वह धर्म प्रचारक ईसाई हो, मुसलमान या फिर आर्य समाजी – वह कुछ हक़-अधिकार की माँगें लेकर ही आता था। इसका मतलब यह नहीं है कि उनकी उस धर्म में दिलचस्पी बिलकुल नहीं थी, बल्कि धर्म के प्रति उनकी रुचि व नीयत जो भी थी, उनको शोषण से मुक्ति अवश्य चाहिए थी। ज़ाहिर है कि धर्म परिवर्तन सिर्फ़ एक आध्यात्मिक प्रक्रिया न होकर अपनी दुनियावी हैसियत बेहतर बनाने का और अपनी मानवता की पहचान दूसरों से हासिल करने का भी तरीक़ा था।[41] यह एक महत्त्वपूर्ण कारण था कि पंजाब में उन

[39] संन्यासी श्रद्धानंद (1926) : 87-88; सी.एस. एडकॉक (2014) : 120.

[40] सी.एस. एडकॉक (2014) : 120-21.

दशकों में चूहड़ा जाति के लोग बड़ी तादाद में ईसाई धर्म प्रचारकों के पास आकर ईसाई बन रहे थे और एक हद तक मुसलमान और सिख भी बन रहे थे। जो लोग इस तरह से नया धर्म स्वीकार करते थे, वह नया नाम अपनाने के साथ-साथ मैला उठाने का काम भी छोड़ देते थे।[42] इसके अलावा उनको अपने नए सहधर्मियों की तरफ़ से ज़रा-सी इज़्ज़त और ज़मींदारी अत्याचारों से लड़ने की थोड़ी-सी क़ानूनी मदद मिली। साथ ही अपने बच्चों को स्कूल में भेजने का उन्होंने पहला मौक़ा पाया। उस ज़माने के धर्म-परिवर्तन के आंदोलनों की आजकल एक घिसी-पिटी छवि फैली हुई है, जिसमें ईसाई धर्म प्रचारकों ने अपने अनुयायियों की संख्या बढ़ाने के मद्देनज़र लाचार दलितों के बीच में बिन-बुलाए जाकर उन्हें धर्म प्रचार का निशाना बनाया। इतिहास की सच्चाई इस छवि के विपरीत है – ठोस और पर्याप्त प्रमाण उपस्थित हैं कि ईसाई धर्म प्रचारकों ने दलित तबक़े पर नहीं, बल्कि तथाकथित उच्च जातियों पर ही (पढ़े-लिखे सवर्ण हिंदू और मुस्लिम रईस) धर्म-प्रचार का निशाना साधा और जब दलित वर्ग के लोग ख़ुद-ब-ख़ुद अनपेक्षित तरीक़े से मिशनरियों के पास आने लगे तो मिशनरियों को ताज्जुब हुआ।[43] पहला क़दम ईसाई धर्म प्रचारकों ने नहीं, बल्कि ख़ुद दलितों ने उठाया।

1896 में राहतिया जाति का आर्य समाज के पास आना इसी तरह हुआ। उस समय तक आर्य समाज ने किसी दलित समुदाय के बीच में घुसने की कोशिश नहीं की थी। लेकिन राहतियों को अपनी बराबरी का अधिकार हासिल करने के लिए किसी मज़बूत संरक्षक या आश्रयदाता की ज़रूरत थी, इसलिए वे ख़ुद प्रस्ताव लेकर जालंधर के आर्यों के पास गए। आर्य समाज ने उनका यह प्रस्ताव ख़ारिज कर दिया – एक बार नहीं, कई बार।[44] लेकिन एक मुंशी राम नाम के आर्य समाज नेता – जो बाद में 1917 में संन्यास लेकर स्वामी श्रद्धानंद के नाम से मशहूर हो जाने वाले थे – ने राहतियों का पक्ष लिया और उनके सहारे आख़िरकार 1899-1900 में कुछ राहतिया व्यक्तियों की 'शुद्धि' करवाने के बाद उन्हें आर्य समाज में दाख़िला दिया गया। हिंदुओं ने तुरंत प्रतिरोध किया।[45] जिन आर्य समाजियों ने शुद्धि अनुष्ठान में हिस्सा लेकर राहतियों के साथ भोजन किया था, उनको सवर्ण बिरादरियों, यहाँ तक कि अपने ही परिवार वालों ने बहिष्कृत कर दिया। सनातन धर्म सभा के लेखक पंडित गोपीनाथ ने प्रतिरोध का कारण स्पष्ट करते हुए लिखा, 'अब आर्य समाज नीच जात के व्यक्तियों को – चमार, भंगी, वगैरह – अपने धर्म में लेने लगा है, जो काम हिंदू धर्म को अपवित्र करने और हिंदू धर्म की शुद्धता को नष्ट करने से कम नहीं है।'[46]

---

[41] सी. एस. एडकॉक (2014); पी. सनल मोहन (2015); रूपा विश्वनाथ (2014).

[42] *गज़ेटियर ऑफ़ द गुरदासपुर डिस्ट्रिक्ट (1892)* : 66; जे. ए. बाइनेस (1893) : 83; डेंज़िल इब्बेटसन (1970) : 293.

[43] जेम्स पी. ऑल्टर (1986) : 178; एंड्रयू गॉर्डन (1886) : 421-23; जॉन सी.बी. वेबस्टर (1992) : 38; एच.यू. वीटब्रेक्ट (1886) : 763-66; विलियम हेनरिक्स वाइज़र (2000) : चैप्टर 4.

[44] सी. एस. एडकॉक (2014) : 120-21; जेम्स रीड ग्राहम (1943) : 492; जे.टी.एफ. जॉर्डन (1977) : 151-52.

[45] सी. एस. एडकॉक (2014); ग्राहम (1943); संन्यासी श्रद्धानंद (1926); जे.टी.एफ. जॉर्डन (1977).

[46] सी.एस. एडकॉक (2014) : 123-24.



शुरुआती दौर में हिंदुओं ने 'शुद्धिकरण' का तीव्र विरोध किया और उनका यह विरोध स्वाभाविक था। उस वक़्त तक शुद्धि वह अनुष्ठान था जिसके माध्यम से आर्य समाज कभी-कभार किसी ऐसे व्यक्ति को फिर से हिंदू बनाता था जिसने सवर्ण हिंदू जाति में पैदा होने के बाद बड़े होने पर इस्लाम या ईसाई धर्म को अपनाया और फिर वापस आने का संकल्प किया हो।[47] राहतियों की शुद्धि उस अनुष्ठान का नया उपयोग था। अब इतिहास में पहली बार तथाकथित अछूत लोगों को न सिर्फ़ अंग्रेज़ सरकार के काग़ज़ात पर बल्कि बाक़ायदा किसी देसी रस्म या संस्कार के ज़रिये हिंदू बनाया जा रहा था – यानि कि जिस क़ौम के लोगों से कल तक घृणा थी, और जिनसे बग़ैर मज़दूरी के काम करवाया जा सकता था (बेगार प्रथा), वे आज अचानक सहधर्मी बनाए जा रहे थे। यही नहीं, वे सहधर्मी होने के आधार पर कुएँ से पानी लेने का, अपने बच्चों को स्कूल में भेजने का और हर तरह की बराबरी का अधिकार न्यायसंगत ढंग से माँग सकते थे। इसलिए जब शुद्धि के इस नए इस्तेमाल को लेकर हिंदुओं ने आर्य समाजियों का बहिष्कार किया, कई जगह उन पर हमला भी किया और उनके ख़िलाफ़ मुक़द्दमा दर्ज किया तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं थी।[48]

राहतियों की शुद्धि देखकर पंजाब की दो और दलित जातियों – मेग और ओड – के काफ़ी लोग आर्य समाज के पास उसी क़िस्म की माँगें लेकर आने लगे। आर्य समाज के सूत्रों के अनुसार 1900-1910 के बीच राहतिया, मेग और ओड, तीनों को मिलाकर लगभग

---

[47] सी.एस. एडकॉक (2014); जेम्स रीड ग्राहम (1943); केनेथ डब्ल्यू जोन्स, (1968); जे.टी.एफ. जॉर्डन (1977); स्वामी श्रद्धानंद (1981); सतीश कुमार शर्मा (1985).

[48] सी.एस. एडकॉक (2014) : 15-42; जे.टी.एफ. जॉर्डन (1977) : 131; रामनारायण एस. रावत (2011) : 143.

छत्तीस हज़ार दलितों की शुद्धि हुई।[49] ग़ौरतलब है कि शुद्धि की इस शुरुआती लहर में आर्य समाज के नेता लोग अभी तक यह दावा पेश नहीं कर रहे थे कि दलित पहले से ही हिंदू थे। मसलन, आर्य समाज के मारूफ़ नायक लाला लाजपत राय ने 1908 के एक साक्षात्कार में यह कहा कि आर्य समाज में दाख़िल होने के लिए 'हिंदुओं के लिए आस्था के घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर लगाना ही काफ़ी है, मगर ग़ैर-हिंदुओं के लिए शुद्धि की रस्म अनिवार्य है।'[50] जब उन 36,000 दलितों का आर्य समाज में आगमन शुद्धि के माध्यम से हुआ तो यह स्पष्ट है कि उस समय तक राय के दृष्टिकोण में ये दलित जातियाँ ग़ैर-हिंदू ही थीं।

कुछ दर्जन राहतियों के साथ 1899-1900 में पंजाब में जो सिलसिला शुरू हुआ, वह 1920 के दशक तक पहले हज़ारों और फिर लाखों दलितों के साथ पूरे हिंदुस्तान में व्याप्त शुद्धि के आंदोलन का रूप लेने लगा। इस विवादास्पद आंदोलन के सबसे विख्यात प्रवक्ता और प्रचारक वही मुंशी राम उर्फ़ स्वामी श्रद्धानंद निकले जो आर्य समाज के साथ-साथ कॉन्ग्रेस के भी प्रसिद्ध नेता रहे। 1919 की अपनी एक किताब में स्वामी श्रद्धानंद ने शुद्धि आंदोलन के उन सालों में दलितों को हिंदू बनाने के प्रोत्साहन पर यह लिखा :

> पहले चरण में जब पंजाब में अछूतोद्धार का कार्य शुरू हुआ और जब लाहौर में राहतिया शुद्ध किए गए और आर्य समाज में उनकी भर्ती हुई, उस समय हिंदू लोगों का सख़्त विरोध था। सियालकोट में मेगों की और मुलतान व मुज़फ़्फ़रगढ़ में ओडों की शुद्धि भी तीव्र प्रतिरोध के बावजूद हुई। लेकिन अब एक राजनीतिक लहर ने पूरी अवस्था को तब्दील कर दिया है।[51]

यानि कि जिन अवस्थाओं या परिस्थितियों में 1900 में दलितों के हिंदूकरण से आम हिंदू लोगों का प्रतिरोध स्वाभाविक और अपेक्षित था, वे परिस्थितियाँ 1919 तक राजनैतिक घटनाओं की वजह से बदलने लगी थीं। हिंदू लोग जो पहले दलितों को सहधर्मी समझने से घृणा करते थे, वे कुछ ही वर्षों के अंतराल में उन्हीं दलितों को सहधर्मी और भाई भी कहने लगे। बात इस क़दर कैसे पलट गई?

स्वामी श्रद्धानंद ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए तीन राजनैतिक घटनाओं का ज़िक्र किया। पहली घटना थी बंगाल का 1905 में विभाजन, जिसमें अंग्रेज़ सरकार ने अभूतपूर्व तरीक़े से एक प्रांत के, हिंदू-बहुल और मुस्लिम-बहुल दो अलग प्रांत बना दिए। दूसरी, अंग्रेज़ सरकार के लोकतांत्रिक सुधार नियम (इंडियन काउन्सिल्स ऐक्ट 1909 एवं मोंटेग्यू चेम्सफोर्ड रिफ़ॉर्म्स 1918-19) का कार्यान्वयन, जिसमें मतदान का अधिकार रखने वाले हिन्दुस्तानियों का दायरा बढ़ाया गया। तीसरी घटना थी यू. एन. मुखर्जी की *अ डायिंग रेस* नामक किताब का छपना

---

[49] पंडित हरिकृष्ण कौल (1911) : 149-50.

[50] जेम्स रीड ग्राहम (1943) : 465.

[51] स्वामी श्रद्धानंद (1987) : 83.

और उसके मुख्य विचार का उत्तर भारत में फैलना कि मुसलमानों की जनसंख्या में वृद्धि के कारण हिंदू नस्ल विलुप्त होने के कगार पर थी (मुखर्जी की पूरी दलील जनगणनाओं के आँकड़ों की ग़लत समझ पर आधारित थी)। कुल मिलाकर इन तीन घटनाओं का प्रभाव यह रहा कि समूहों की गणना का राजनैतिक महत्त्व तेज़ रफ़्तार से बढ़ गया। उस ज़माने से पहले कोई नहीं पूछता था कि 'कौन बहुसंख्यक है?' इस तरह का सवाल ही बेमानी था। जो राजा या बादशाह था, वही हुकूमत चलाता था, चाहे जनता में इस या उस समुदाय का जो भी अनुपात हो। लेकिन अब इतिहास में पहली बार लोग न सिर्फ़ एक-एक करके गिने जा रहे थे (जनगणना में), बल्कि उनके समूहों के बहु – या अल्प-संख्यक होने के आधार पर प्रांतों का नक़्शा बनाया जा रहा था और राजनैतिक ताक़त संख्या की बुनियाद पर नापी जा रही थी।

इन परिस्थितियों में हिंदू और मुसलमान नेताओं की नज़र में दलितों की अहमियत अचानक बढ़ गई। दलितों की जनसंख्या का भारीपन देखकर वे समझने लगे कि जिस समुदाय के पास दलित समाज है, वही समुदाय बहुसंख्यक हो सकता है। ख़ास तौर पर संयुक्त पंजाब में, जहाँ मुसलमान, सिख व हिंदू तीनों बहुत-बड़ी आबादी में रहते थे। यह स्पष्ट था कि दलितों में से अगर कोई भी बड़ी जाति मुसलमानों के साथ जोड़ ली जाए या सिखों के साथ गिनी जाए तो पंजाब मुसलमान-बहुल प्रांत या सिख-बहुल प्रांत आसानी से बनेगा। इसलिए स्वामी श्रद्धानंद ने अपनी 'हिंदुओं सावधान!' नाम की किताब में लिखा कि 'यदि सारी अछूत जातियाँ मुसलमान हो जाएँगी तो मुसलमानों का दल हिंदुओं के बराबर हो जाएगा।'[52] अपने लेख 'वर्तमान मुख्य समस्या' में स्वामी श्रद्धानंद ने यही बात स्वराज के सपने से जोड़ दी – 'अगर अछूत सब मुसलमान हो जाएँगे तो वे हिंदुओं के बराबर होंगे और फिर जब स्वतंत्रता होगी तब वे हिंदुओं पर निर्भर नहीं होंगे, बल्कि अपने ही पैरों पर खड़े हो पाएँगे।'[53] स्वामी श्रद्धानंद की नज़र में हिंदुओं के लिए तथाकथित अछूतों के आत्मनिर्भर होने की संभावना किसी भयानक दुःस्वप्न से कम नहीं थी। इसी डर को लेकर *चाँद* पत्रिका में एक लेखक ने यह लिखा कि 'यदि अछूत हिंदुओं की शरण छोड़कर दूसरा धर्म अपनाएँ तो क्या आप ख़ुद अपना संडास (लैट्रीन) साफ़ करेंगे? क्या आप ख़ुद दाई, धोबी और चमार का काम करेंगे?'[54]

बीसवीं सदी के पहले और ख़ासकर दूसरे दशक में स्वामी श्रद्धानंद, आर्य समाज के अन्य नेता और प्रचारक इस तरह की चेतावनी और संदेश जगह-जगह देने लगे। अपने लगभग हर लेख और भाषण में स्वामी श्रद्धानंद दलितों की बहुलता की सबको याद दिलाते थे और उनके हिंदुओं पर निर्भर न होने की संभावित आफ़त से आगाह करते थे। आर्य समाजियों को दलितों का मुसलमानों की संख्या बढ़ाने के साथ उनका ईसाई होकर अंग्रेज़ों की मदद करने का भी डर था। स्वामी श्रद्धानंद ने अपने लेख 'जाति के दीनों को मत त्यागो' में लिखा कि 'यदि

---

[52] जे. टी. एफ. जॉर्डन (1981) : 161.

[53] वही : 144.

[54] चारु गुप्ता (2016) : 116.

भारतवर्ष के सात करोड़ अछूत स्त्री और पुरुष सवर्ण के दुर्व्यवहार से तंग होकर ईसाई हो जाएँगे तो हमारे स्वराज्यवादी सनातनधर्मी लीडर पछताने के अलावा कुछ नहीं कर पाएँगे... जब तक हम उन शूद्र भाइयों को अपना ही हिस्सा नहीं समझते और जब तक उनके साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया जाता, तब तक आर्य नस्ल राजनैतिक तौर से ख़त्म होने के ख़तरे में रहेगी।'[55] यहाँ स्वामी श्रद्धानंद दलितों के साथ अत्याचार बंद करने का और अच्छा व्यवहार शुरू करने का हिंदुओं को अपना यह सुझाव देने का कारण साफ़-साफ़ बताते हैं – अल्पसंख्यक बनने का डर। यानि कि आर्य समाज की तथाकथित अछूतोद्धार व दलितोद्धार की जो सारी कोशिशें उन दशकों में की गईं, उनका उद्देश्य अंग्रेज़ों की हुकूमत के नए वर्गीकरण की बुनियाद पर बनाई गई हिंदुओं की बहुसंख्या का संरक्षण करना था।

जैसे-जैसे उन राजनैतिक घटनाओं की वजह से बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक वाली मानसिकता फैलने लगी, वैसे-वैसे हिंदुओं का शुद्धि से विरोध समर्थन में बदलने लगा। जब दलितों के आत्मनिर्भर होने की ख़ौफ़नाक तस्वीर दिखाई गई और उनको हिंदुओं का हिस्सा मानकर हिंदू बहुसंख्या स्थिर बनाने का राजनैतिक लाभ समझाया गया, तो कई हिंदू संगठन जो अब तक शुद्धि का प्रतिरोध करते थे, वे भी शुद्धि की प्रशंसा करने लगे (हिंदू महासभा एक उदाहरण है, जो मदन मोहन मालवीय के नेतृत्व में पहले हिंदू परंपरा के नाम पर अछूतों की शुद्धि की निंदा करती थी, परंतु आख़िरकार 1923 में स्वामी श्रद्धानंद के साथ समझौता करके इसने दलितों की शुद्धि को क़बूल किया और दलितों को सहधर्मी मानने के लिए तैयार होने लगी)।[56]

दलितों की शुद्धि के पहले दौर में (1899-1903) राहतिया, मेग और ओड जातियों ने अनपेक्षित तरीक़े से पहला क़दम उठाया जिसके लिए आर्य समाज पूरी तरह से तैयार नहीं था, लेकिन नई सदी के पहले दो दशक तक शुद्धि के आंदोलन का स्वरूप बदल गया। इस दूसरे दौर में आर्य समाज ख़ुद दलित गाँवों और बस्तियों में प्रचारक भेजने लगा। यह बात किसी से छिपी नहीं थी कि धर्म-प्रचारकों का अब मक़सद ही था हिंदुओं की जनसंख्या बढ़ाना। शुद्धि के आलोचकों और समर्थकों, दोनों ने इस बात को एक तरह से स्वीकर किया – डॉक्टर आंबेडकर ने शुद्धि को 'संख्या बढ़ाने का एक बचकाना तरीक़ा'[57] बताया जबकि शुद्धि आंदोलन को सबसे ज़्यादा आर्थिक मदद देने वाले घनश्याम दास बिड़ला ने लिखा कि 'यदि आर्य समाजी अपने धर्म प्रचार में थोड़ी सी ज़बरदस्ती करके हिंदुओं की संख्या बढ़ाएँ तो क्या हर्ज है।'[58]

शुद्धि आंदोलन के सरासर सियासी चाल होने के इल्ज़ाम से बचने के लिए आर्य समाज ने इस दूसरे दौर में शुद्धि की परिभाषा ही बदल डाली। अब आर्य समाज की पत्रिकाओं, पुस्तिकाओं और भाषणों में यह बात लिखी और कही जाने लगी कि दलित वर्ग के लोग शुद्धि करके हिंदू बन नहीं रहे थे, बल्कि अपने पुराने घर में सदियों बाद वापस आ रहे थे। इस

[55] स्वामी श्रद्धानंद (1987) : खंड-VI, 96.

[56] नंदिनी गुप्तू (2001) : चैप्टर 6 ; जे. टी. एफ. जॉर्डन (1981) : चैप्टर 6.

[57] भीमराव रामजी आंबेडकर (1992) : 425.

[58] घनश्याम दास बिरला (1953) : 5.

नई कहानी के मुताबिक़ दलित वर्ग के लोग सदियों पहले योद्धा क्षत्रिय थे, जिनको आक्रांता मुसलमान राजाओं ने युद्ध में हराकर और ग़ुलाम बनाकर तरह-तरह का गंदा काम करने पर बेबस कर दिया था, जिसके बाद वे वीर क्षत्रिय भूल गए कि वे कौन थे और बाक़ी हिंदू समाज भी भूल गया कि वे लोग कभी हिंदुओं का हिस्सा हुआ करते थे।[59] आर्य समाज ने इस आधुनिक मिथक की सर्जना के माध्यम से चार काम एक साथ निपटाने का प्रयत्न किया – पहला, ग़ैर-हिंदू दलित समुदाय को एक हिंदू वंशावली दिला दी। दूसरा, शोषित और गरिमा से वंचित समाज को वीरता की शौर्य-गाथा के ज़रिये गर्व करके ख़ुश होने का एक तरीक़ा निकाला। तीसरा, छुआछूत स्थापित करने की ज़िम्मेदारी का बोझ हिंदुओं के कंधे से उतारकर उन्होंने ख़ुद को दलितों की दयनीय स्थिति के लिए निर्दोष ठहराया। और चौथा, वही बोझ मुसलमानों पर लादकर दलितों को मुसलमानों से विमुख करने का – और उसके बाद उससे बढ़कर मुसलमानों से लड़वाने का – उपाय तैयार किया। इस मिथक का ज़रा भी ऐतिहासिक सबूत न होने के बावजूद, हिंदू बहुसंख्यकवाद के लिए यह बेइंतहा लाभदायक साबित हुआ।

आर्य समाज ने हर पिछड़ी और दलित जाति के लिए इस मिथक का विशेष रूपांतर तैयार किया। सफ़ाईकर्मी समाज को लेकर रूपांतर इस तरह का था कि हिंदुस्तान में मैला [मल] उठाने की प्रथा मुसलमानों ने ही स्थापित की। आर्य समाज के लेखक और प्रवक्ता 1910 और 1920 के दशक में स्वच्छकार समाज के गाँवों और बस्तियों में जाकर यह बताने लगे कि आपके पूर्वज क्षत्रिय थे और हिंदू धर्म की इतनी दृढ़ रक्षा करते थे कि मुसलमानों ने युद्ध जीतकर सबसे घृणात्मक काम – संडास साफ़ करना – उन्हीं से करवाया।[60] इस आधारहीन मिथ्या को किसी तरीक़े से वास्तविकता से जोड़ने की कोशिश करते हुए यह तर्क भी कभी दिया जाता था कि हिंदू लोग शौच-फ़राग़त करने के लिए खेतों में जाते हैं, जबकि मुसलमानों को पर्दा-प्रथा के कारण घर के अंदर संडास की ज़रूरत पड़ती है और जहाँ संडास होता है, वहाँ मैला उठाने की प्रथा होती है। एन. आर. मलकानी ने, जो स्वामी श्रद्धानंद के अनुयायी, गाँधी के हरिजन सेवक संघ के सक्रिय सदस्य और स्वतंत्रता के बाद सांसद भी रहे, अपनी एक किताब में यह कहानी दोहराकर इसको कट्टर हिंदू बहुसंख्यकवादियों के हाथों कॉन्ग्रेस की राजनैतिक मुख्यधारा में सौंप दिया। और अब प्रोफ़ेसर मलकानी के कहने पर अनेक बुद्धिजीवी इसको तथ्य ही समझते हैं (संजीव ख़ुदशाह, 2005; नारायणदास रतनमल मलकानी, 1965; श्यामलाल, 1992)। लेकिन इस मिथक के पीछे ज़रा भी प्रमाण उपस्थित नहीं है – न स्वच्छकार समाज का किसी पुराने ज़माने में क्षत्रिय होने का, और न ही मुसलमानों द्वारा मैला उठाने की प्रथा को स्थापित करने का। प्रमाण जो वास्तविकता में मौजूद है, वह इस तरह का है कि सूखा संडास (इस प्रकार की लैट्रिन, जिसे पानी से नहीं बल्कि किसी व्यक्ति के

[59] नंदिनी गुप्त (2001) : 196-97; विजय प्रसाद (2000) : 78-79, 107-11; विजय प्रसाद (1996) : 551-59 ; जोएल ली (2021), https://doi.org/10.1080/19472498.2021.1878784, https://www.tandfonline.com/doi/abs/10.1080/19472498.2021.1878784.

[60] चारु गुप्ता (2016) : 59; विजय प्रसाद (2000) : 78.

हाथ से साफ़ कराया जाता है) भारतीय उपमहाद्वीप के पुरातत्त्व में मुग़ल काल या दिल्ली सल्तनत के काल से नहीं बल्कि इसके कई हज़ार वर्ष पहले सिंधु घाटी सभ्यता के ज़माने से ही देखने के लिए मिलता है।[61] और जब हम पुरातात्त्विक प्रमाणों से लिखित प्रमाणों की ओर बढ़ते हैं तो कई धर्मशास्त्रों में लैट्रिन की सफ़ाई और अन्य प्रकार की सफ़ाई चांडालों से और अन्य क़िस्म के अस्पृश्य वर्ग के लोगों से करवाने का नियम स्पष्ट रूप से मिलता है।[62] भारत में मैला उठाने की प्रथा और इसका जाति व्यवस्था से संबंध सिर्फ़ मुसलमानों के आने से पहले ही नहीं, बल्कि इस्लाम की पैदाइश से भी सदियों पहले उपस्थित था।

4.

अब आती है वाल्मीकि की बात।

ऊपर लिखित पृष्ठभूमि में शुद्धि की दूसरी लहर में आर्य समाज ने 1910 और 1920 के दशक में अपने अनेक प्रचारकों को सफ़ाईकर्मी समाज के बीच उनको हिंदू धर्म की तरफ़ खींचने की कोशिश में भेजा। जिस चूहड़ा जाति के लोगों से मेल-मिलाप में आर्य समाज 1896 तक कतराता था, अब उन्हीं की बस्तियों में धर्म-प्रचार के लिए जाने लगा – मानवता के नाम पर नहीं तो बहुसंख्यकवाद के वास्ते ही सही। इस मुहिम का यू.पी. के ब्राह्मण आर्य समाजी अमीचंद शर्मा और उनके साथी साधू योद्धाराम ने लाहौर और दिल्ली में नेतृत्व किया।[63] 'श्री बाल्मीकि प्रकाश' नाम की एक पुस्तिका लिखकर उन्होंने इस शोषित समाज को संदेश दिया कि 'आप लोग हिंदू हैं। ...जनगणना में आप हिंदू लिखे गए थे। आप लोग हिंदू हैं, वेद आपका धर्म ग्रंथ है, बाल्मीकि जी आपके गुरु हैं।'[64]

कोई इत्तेफ़ाक़ नहीं है कि जनगणना का ज़िक्र इस पुस्तिका में कई बार मिलता है – आर्य समाज के बड़े स्तर के नेताओं की तरह अमीचंद शर्मा की निगाह भी दलितों की संख्याओं पर टिकी हुई थी। वह चाहते थे कि सफ़ाईकर्मी जातियाँ अपनी बड़ी से बड़ी तादाद लेकर अपने ख़ुद-मुख़्तार लाल बेगी धर्म को छोड़कर हिंदू ख़ेमे में आ जाएँ। लेकिन इन जातियों के बीच में रहकर शर्मा और योद्धाराम जान गए थे कि ये लोग अपने आपको न हिंदू समझते थे और न मुसलमान। तो फिर उनको कैसे समझाएँ कि उन्हें अपने आप को हिंदू कहना चाहिए? या उनको कैसे और किस तर्क के साथ विश्वास दिलाएँ कि वे शुरू से ही अनजाने में हिंदू ही थे, वही हिंदू जो पीढ़ियों से उनको तिरस्कृत करते रहे? इस असंभव अभियान में अमीचंद

---

[61] भंवर मेघवंशी (2020) : 45-48; जोनाथन एम. केनीयर (1998) : 60.

[62] मिकेल एक्टर (2010) : 45; उमा चक्रवर्ती (2006) : 83; विवेकानंद एन. झा (1975) : 22; रिचर्ड डब्ल्यू लारिवियर (1989) : 108; (1989) : 150.

[63] भगवान दास (2007) : 34-38; विजय प्रसाद (2000) : 91-92; अमीचंद शर्मा (1928) : 7-10; रमा शर्मा (1995) : 137-41.

[64] अमीचंद शर्मा (1928) : 23.

शर्मा ने एक और आधुनिक मिथक रचकर फैलाया और इस मिथक की मुख्य भूमिका अमीचंद शर्मा ने ऋषि वाल्मीकि को दे दी।

कोई विचार शून्य में पैदा नहीं होता। अमीचंद शर्मा का ऋषि वाल्मीकि से स्वच्छकार समाज को जोड़ना भी नीले आकाश से पुच्छल तारे की तरह नहीं टपका। फिर भी इस जुड़ाव ने स्वच्छकार समाज को एकदम नई पटरियों पर डाल दिया। इस संबंध की परिकल्पना करने में अमीचंद शर्मा की चतुराई को समझने के लिए हमें दो क़दम पीछे हटकर इतिहास को दीर्घ दृष्टि से देखना होगा।

वाल्मीकि एक व्यक्ति नहीं, एक नाम होता है। अशोक, राम चंद्र, मुहम्मद या राहुल की तरह यह नाम भारतीय इतिहास के एक नहीं बल्कि अनेक व्यक्तियों से लगाया जा चुका है। यह नाम काल्पनिक जीवों से भी लगाया गया है, जो देवी-देवताओं के संग लोक कथाओं और पुराणों में मिलते हैं, और ऐतिहासिक व्यक्तियों से भी जिनका धरती पर रहने का प्रमाण शिलालेखों और दस्तावेज़ों में मिलता है। संस्कृत विद्वानों के अनुसंधान के अनुसार आधुनिक काल से पहले वाल्मीकि नाम के कम-से-कम सात विभिन्न व्यक्ति रहे हैं, जिनकी शोहरत इतनी थी कि उनको अपने-अपने ज़माने के इतिहास के पन्नों पर जगह मिली।[65] *महाभारत* में वाल्मीकि नाम के एक सुपर्ण – यानि गरुड़-वंश के एक पक्षी का ज़िक्र है।[66] पंद्रहवीं सदी के एक ओड़िआ दस्तावेज़ में उल्लेख है कि हिंदू देवता ब्रह्मा के एक पुत्र वाल्मीकि नाम से जाने जाते थे।[67] चौदहवीं सदी के प्राकृत भाषा के एक दस्तावेज़ में वाल्मीकि नाम के एक प्राकृत वैयाकरण का उल्लेख है।[68] इस तरह कई काल्पनिक और ऐतिहासिक शख़्सियतें वाल्मीकि नाम से जानी गई हैं।

एक मशहूर शख़्स जिनसे यह नाम आम तौर पर वाबस्ता है, वह संस्कृत *रामायण* के माने हुए रचयिता आदिकवि हैं। प्राचीन यूनान के प्रसिद्ध कवि होमर की तरह इन वाल्मीकि का वास्तविक ऐतिहासिक व्यक्ति होना प्रमाणित नहीं किया जा सकता – हो सकता है कि वे वास्तविकता में रहे हों, हो सकता है कि वे काल्पनिक हों। अध्ययन के आधार पर संस्कृत *रामायण* के विशेषज्ञों का कहना है कि *रामायण* का बीच वाला हिस्सा (काण्ड 2-6) शायद एक कवि से लिखवाया गया हो। मगर बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड (काण्ड 1 और 7) कई अलग चरणों में बाद में रचकर बीच वाले हिस्सों के साथ लगाए गए, यानि प्रक्षिप्त हैं। कहा जा सकता है कि *रामायण* अनेक पीढ़ियों के कवियों का फल है, जिसे वाल्मीकि नाम के आदिकवि को प्रदान किया गया।[69] संस्कृत *रामायण* के अंदर इन वाल्मीकि का तुलनात्मक

---

[65] रॉबर्ट पी. गोल्डमैन (1976) : 97-101; जूलिया लेज़्ली (2003); मंजुला सहदेव (1986) : 12-16. मंजुला सहदेव (1997) : 40-41.

[66] जूलिया लेज़्ली (2003) : 85-86.

[67] मंजुला सहदेव (1997) : 40-41.

[68] वही : 40-41.

[69] रॉबर्ट पी. गोल्डमैन (1984) : 15-59.

रूप से कम विवरण मिलता है – लिखा है कि वे एक भार्गव ब्राह्मण थे जिन्होंने सीता, लव और कुश को शरण दी थी और शोकसंतप्त तथा मृत्योन्मुख क्रौंच को देखकर श्लोकों में *रामायण* की रचना की।[70]

स्कंद पुराण में एक और शख़्स से वाल्मीकि नाम जोड़ा गया है। संस्कृत विशेषज्ञों के अनुसार जब *रामायण* 750-500 ई. पू. के बीच में रची गई होगी तो *स्कंद पुराण* इसके लम्बे अर्से बाद, नौवीं सदी ईस्वी के पश्चात ही, रचा जाने लगा और जिन काण्डों में ये नए वाल्मीकि नज़र आते हैं उनके तेरहवीं और चौदहवीं सदी में रचे जाने की संभावना है।[71] मध्यकाल के ये वाल्मीकि एक डाकू थे जो किसी संत से मिलने के बाद अपने पापों से पछताकर दीर्घकालीन तपस्या करके ख़ुद संत बन जाते हैं। दरअसल यह एक लोककथा है, जो प्राचीन काल से ही प्रचलित रही है – बौद्ध साहित्य में इस कथा का मुख्य किरदार अंगुलिमाल नाम से जाना जाता था, फिर बाद में अलग-अलग राज्यों में और परंपराओं में इस कथा के अलग-अलग रूपांतर मिलते हैं, जिनमें अंगुलिमाल की जगह पर कभी नामदेव (महाराष्ट्र में),[72] कभी सुनन कलिदजगा (इंडोनेशिया में)[73] और कभी वाल्मीकि नाम मिलता है। *स्कंद पुराण* और अन्य मध्यकालीन साहित्य में जब डाकू वाले वाल्मीकि का उल्लेख होता है तो कभी यह किरदार स्पष्ट रूप से रामायण-रचयिता वाल्मीकि से अलग व्यक्ति बताए जाते हैं और कभी उन दोनों को एक ही बनाने की कोशिश की जाती है।[74]

अब तक हमने देखा कि एक गरुड़ वंश का पक्षी, हिंदू देव ब्रह्मा के एक पुत्र, प्राकृत भाषा के एक वैयाकरण, प्राचीन काल के एक दयालु ब्राह्मण कवि, और मध्यकाल के एक सुधरे हुए डाकू, अलग-अलग ज़माने में और भिन्न-भिन्न पृष्ठभूमि में वाल्मीकि नाम से जाने जाते थे। उन तमाम ऐतिहासिक और काल्पनिक वाल्मीकियों के अलावा एक और वाल्मीकि उपस्थित हैं, जिनको पिछले एक सौ साल से हिंदू बहुसंख्यकवादी संगठन छुपाने की कोशिश करते रहे। ये शख़्स सफ़ाईकर्मी समाज के उन्नीसवीं सदी के लोकगीतों और क़िस्से-कथाओं में मौजूद हैं और कभी वाल्मीकि, कभी बाल्मीकि तो कभी 'बाल मीक' और कभी 'बाल नेक' नाम से जाने जाते रहे हैं। यह किस तरह की शख़्सियत थे?

याद कीजिए कि स्वच्छकार समाज के गीतों और कथाओं के सागर में लाल बेग अकेले माने जाने वाले नहीं थे, बल्कि उनके संग इस क़ौम के कई और अहम पूर्वजों, गुरुओं और रहबरों का ज़िक्र है। हम ख़्वाजा झोंपड़ा से मिल चुके हैं, जिन्होंने अल्लाह से अपनी अलग क़ौम माँगी। एक सती चूहड़ी या भदली हलालख़ोरी नाम की पुरखिन भी हैं जिनके नियंत्रण में

[70] वही.

[71] जूलिया लेज़्ली (2003) : 140-42..

[72] क्रिश्चियन ली नोवेट्ज़क (2008).

[73] क्लिफ़ोर्ड गीयर्ट्ज़ (1968) : 29.

[74] जूलिया लेज़्ली (2003) :140-50.

ग्रहण होते हैं।[75] एक पुंदरी या जस्तरी नाम की पुरखिन हैं जो सूअर पालती हैं और कुष्ठरोगियों का इलाज करती हैं।[76] जिन वाल्मीकि या बाल्मीकि की बात हम अब कर रहे हैं, वे इन गीतों और क़िस्सों में पुंदरी या जस्तरी के पिता हैं और लाल बेग के पिता जैसे पालक। स्वच्छकार समाज के वाल्मीकि ग़ज़नी (अफ़ग़ानिस्तान) के रहने वाले हैं, जो अपने आप को चांडाल कहते हैं और जिनके पास निःसंतान दंपति औलाद की ख़्वाहिश लेकर दूर से आते हैं। ऐसे दंपतियों की ख़्वाहिश पूरी करके ये वाल्मीकि, लाल बेग की पैदाइश में मदद करते हैं।[77] फिर लाल बेग और लाल बेगी क़ौम के साथ ये वाल्मीकि काबुल, थानेसर, कश्मीर और काशी जाते हैं। काशी में वहाँ के चांडालों पर ब्राह्मणों का ज़ुल्म देखकर ये वाल्मीकि क्रोधित होकर सड़े हुए शव का रूप धरकर ब्राह्मणों के घरों में प्रकट हो जाते हैं, और तब तक इस क़िस्म के भयानक रूप लेते रहते हैं जब तक काशी के ब्राह्मण लोग चांडालों पर अत्याचार बंद नहीं कर देते।[78] एक और कहानी में यह वाल्मीकि चांडाल होने के बावजूद पांडवों के एक यज्ञ में बुलाए जाते हैं, पर उनको भोजन खिलाते वक़्त द्रौपदी को उनका खाना खाने का तरीक़ा देखकर घृणा होती है और द्रौपदी के दुर्भाव की वजह से यज्ञ पूरा नहीं हो पाता।[79]

सफ़ाईकर्मी समाज के लोकगीत और लोककथाएँ जो प्रामाणिक रूप से आर्य समाज के हस्तक्षेप से पहले प्रचलित थीं, उनमें जहाँ वाल्मीकि (या बाल मीक, बाल नेक) नाम के ये शख़्स मौजूद हैं, वहाँ न *रामायण* के रचे जाने की बात है और न सीता, लव-कुश, क्रौंच पक्षी, संस्कृत श्लोक, व भार्गव ब्राह्मण या किसी और प्रकार के ब्राह्मण होने का ज़रा भी उल्लेख है। यानि कि इन गीतों और कथाओं में इन वाल्मीकि का *रामायण* रचने वाले वाल्मीकि से किसी तरह के संबंध रखने का कोई अंदरूनी सबूत नहीं है। इतना ही नहीं, इस बात के सकारात्मक प्रमाण उपस्थित हैं कि उस ज़माने के हिंदू लोग स्वच्छकार समाज वाले इन वाल्मीकि से एक हद तक अवगत थे और वे भी समझते थे कि ये दो अलग वाल्मीकि थे। तभी नाभादास के *भक्तमाल* पर अपनी अठारहवीं सदी में रची गई टीका में प्रियादास ने 'उभै बाल्मीकि' का उल्लेख करके दो भक्तों का विवरण दिया – एक *रामायण* रचयिता और एक 'चांडाल वाल्मीकि', जिन्हें यज्ञ में बुलाया जाता है।[80] तभी सीतारामशरण रूपकला ने *भक्तमाल* पर अपनी 1910 में छपी हुई टीका के सूची पत्र में इन दो वाल्मीकियों को अलग अलग विषय का स्थान दिया – एक 'महर्षि श्रीवाल्मीकिजी' के लिए (पृष्ठ 148-151) और एक 'दूसरे बाल्मीकिजी' के लिए (पृष्ठ 151-158)।[81] स्वच्छकार समाज के अंदर और बाहर भी लोग

---

75 रंजीत गुहा (2010); ख़्वाजा हसन निज़ामी (1923) : 11-12; जेफ़री जी. स्नोडग्रास (2006) : 75-79.

76 रिचर्ड कॉर्नाक टेम्पल (1884); जॉन एफ. डब्ल्यू. यंगसन (1906) : 23-24.

77 रिचर्ड ग्रीवेन (1894) : 28-29; रिचर्ड कॉर्नाक टेम्पल (1884) संख्या 7; सीतारामशरण भगवानप्रसाद रूपकला (1962), (1910) : 148-58.

78 रिचर्ड कॉर्नाक टेम्पल (1884) संख्या 8.

79 सीतारामशरण भगवानप्रसाद रूपकला (1962), (1910) : 148-58; रिचर्ड कॉर्नाक टेम्पल (1884) संख्या 15.

80 सीतारामशरण भगवानप्रसाद रूपकला (1962), (1910) : 148-58.

समझते थे कि इतिहास और पौराणिक कथाओं में अनेक वाल्मीकि रहे हैं और उनमें से *रामायण* के रचयिता अलग थे और ब्राह्मणों के ज़ुल्म के ख़िलाफ़ जद्दोजहद करने वाले ग़ज़नी के बाशिंदे करिश्माकार वाल्मीकि अलग थे।

सफ़ाईकर्मी समाज की लोककथाओं में लाल बेग और ये ग़ज़नी वाले वाल्मीकि, दोनों अपनी दबी हुई क़ौम के लिए ताक़तवरों से लड़ते हैं और इस क़ौम के लोग दोनों को मानते थे। क़ौम के रीति-रिवाजों में इन दो रहबरों का ज़िक्र था। स्वाभाविक था कि इस समाज के लोग ऐसे पीर व गुरु से अपना टाइटल भी लेते थे। हम देख चुके हैं कि ज़्यादातर लोग अपने आपको लाल बेगी कहते थे, मगर पंजाब के कुछ ज़िलों में लोग अपने आप को बाला शाही भी कहते थे – याद कीजिए कि बाला शाह लाल बेग का वैकल्पिक नाम था – और पंजाब के एक-दो ज़िलों में लोग ख़ुद को बाल्मीकि भी कहते थे।

यही स्थिति तब भी क़ायम थी, जब अमीचंद शर्मा और साधू योद्धाराम लाहौर और दिल्ली की सफ़ाईकर्मी जातियों की बस्तियों में जाकर उनको हिंदू धर्म की तरफ़ आकर्षित करने की कोशिश करने लगे। हमने कहा है कि कोई विचार शून्य में पैदा नहीं होता। स्वच्छकार समाज के हिंदूकरण के उपाय के लिए अमीचंद शर्मा ने ऋषि वाल्मीकि (यानि *रामायण*-रचयिता वाल्मीकि) का मनमाने तरीक़े से या निरुद्देश्यता से चयन नहीं किया, बल्कि इसलिए चयन किया कि उस समाज की परंपराओं में एक वाल्मीकि (बाल्मीक, बाल नेक) नाम के महत्त्वपूर्ण और लोकप्रिय गुरु पहले से ही मौजूद थे। अमीचंद शर्मा की आविष्कारशील तरकीब बस इतनी थी कि वह सफ़ाईकर्मी समाज के वाल्मीकि – लाल बेग के पिता-से साथी, सूअर पालने वाली पुंदरी के पिता, अपने आपको चांडाल कहने वाले, काशी के ब्राह्मणों के ज़ुल्म के विरुद्ध लाश का रूप अपनाकर संघर्ष करने वाले ग़ज़नी के करिश्माकार – को किसी तरह से *रामायण* रचयिता वाल्मीकि से जोड़ दिया।

चूँकि ये दो वाल्मीकि एक दूसरे से इतने भिन्न थे, चुनांचे अमीचंद शर्मा के संदेश सुनने वालों को संदेह होता था। अपनी पुस्तिका 'श्री वाल्मीकि प्रकाश' में अमीचंद शर्मा ने लाहौर और दिल्ली के स्वच्छकार समाज के बीच में धर्म प्रचार करने के अपने अनुभव का एक तरह का नाटकीय रूपांतर कर दिया, और इसमें उन लोगों को जो संदेह होता था, वह साफ़ नज़र आता है। 'श्री वाल्मीकि प्रकाश' का मुख्य भाग एक नाटकीय संवाद है, जिसमें एक राम सेवक (जो ख़ुद अमीचंद शर्मा की भूमिका निभाता है) और एक बाल्मीकिया (जो अमीचंद शर्मा को सुनने वाले सफ़ाई पेशे से जुड़ी जाति के व्यक्ति की भूमिका निभाता है) एक दूसरे से वार्तालाप करते हैं। संवाद के आरंभ में ही वाल्मीकि नाम के अनेक ऐतिहासिक और काल्पनिक शख़्सियतों के होने का मुद्दा खड़ा हो जाता है। किसी सुबह राम सेवक वाल्मीकि के नाम का कोई भजन गा रहा होता है और बाल्मीकिया सुनकर पूछता है कि :

---

[81] वही : 2.

> महाराज! आप किस बाल्मीकि जी के भजन गा रहे हैं?
> राम सेवक बोला कि भाई क्या बाल्मीकि जी भी बहुत से हुए हैं?
> बाल्मीकिया—मैं पढ़ा हुआ तो नहीं हूँ, पर सुना है कि भक्तमाल में दो बाल्मीकों की कथा है। ग्रन्थ साहिब वाले कहते हैं कि सात बाल्मीकि हुए हैं, क्या यह असत्य है?[82]

हम देख चुके हैं कि यहाँ बाल्मीकिया का संदेह वाजिब भी है और सबूत पर क़ायम भी। उसके तर्कसंगत शक के बावजूद और विभिन्न ऐतिहासिक और काल्पनिक वाल्मीकियों के होने के तमाम प्रमाणों को नज़रंदाज़ करते हुए राम सेवक आग्रह करता है कि नहीं, एक ही वाल्मीकि रहे हैं – *रामायण*-रचयिता। फिर यह सवाल स्वाभाविक तरीक़े से खड़ा हो जाता है कि जब ऋषि वाल्मीकि को *रामायण* के अंदर कई बार भार्गव ब्राह्मण बताया जाता है तो फिर वह चांडाल भी कैसे हो सकते हैं? इस उलझन को राम सेवक इस तरह सुलझाता है – वह बताता है कि 'श्री बाल्मीकि जी आप लोगों के पिता गुरु नहीं किंतु शिक्षा देने वाले गुरु हैं।'[83] इस उपाय से अमीचंद शर्मा स्वच्छकार समाज को हिंदू गुरु-परंपरा से जोड़कर उनको हिंदू कहने का एक आधार भी तैयार करते हैं और ब्राह्मणवाद को बचाते भी हैं। इस तरह बचाते हैं कि अगर ऋषि वाल्मीकि से इन जातियों का रिश्ता ख़ून का नहीं बल्कि शिष्य का माना जाए, तो फिर एक चांडाल के ब्राह्मण होने की या एक ब्राह्मण के चांडाल होने की संभावना – एक संभावना जो ब्राह्मणवाद के लिए सत्यानाश के बराबर साबित हो सकती है – मिट जाती है।

अमीचंद शर्मा की पुस्तिका में सफ़ाईकर्मी समाज का किरदार राम भक्त की सारी बातें आसानी से स्वीकार नहीं करता। उसको हर बात पर शक है। वह पूछता है – 'इस बात का क्या सबूत है कि हमारे गुरु *रामायण* के लिखने वाले बाल्मीकि हैं, या कोई और?'[84] बाद में यह भी पूछता है कि 'जब हम हिंदू हैं तो फिर हिंदू लोग हमें छूते क्यों नहीं, इसका क्या कारण है और क्या वह छूत-छात कभी दूर भी होगी?'[85] और आख़िर में राम भक्त का सारा प्रचार स्वीकार करने के बाद भी वह पूछता है कि – 'आप की कृपा के लिए मैं आपका बहुत ही शुक्रगुज़ार हूँ, पर फिर मेरे मन में यह सवाल उठता है [कि] आज तक यह सब ज़ाहिर क्यों न हुआ?'[86] इस किरदार का शक और संदेह स्वाभाविक है और उसका बार बार शक-भरा सवाल उठाना दर्पण की तरह दिखाता है कि अमीचंद शर्मा के ख़ुद के वास्तविक अनुभव में इस समाज के लोग आर्य समाज का संदेश क़बूल करने के लिए तुरंत तैयार नहीं थे।

मौखिक स्रोत इस निष्कर्ष को सहारा देते हैं। अमीचंद शर्मा और साधू योद्धानाथ को ख़ुद देखने वाले लोग मेरे शोध कार्य के आरंभ होने से पहले दुनिया से चले गए। लेकिन जब विजय

---

[82] अमीचंद शर्मा (1928) : 11.

[83] वही : 19.

[84] वही : 21.

[85] वही.

[86] अमीचंद शर्मा (1928) : 31.

प्रसाद ने 1990 के दशक में अपने पीएच.डी. अध्ययन में दिल्ली के स्वच्छकार समाज के बुज़ुर्गों का साक्षात्कार लिया, तो जो लोग अपने बचपन में इन घटनाओं के चश्मदीद गवाह रहे थे, उन्होंने विजय प्रसाद को बताया कि शुरू में बिरादरी के लोग अमीचंद शर्मा की बात बिलकुल नहीं मानते थे।[87] दिल्ली में स्वच्छकार समाज के लोग अपने ख़ुद-मुख़्तार मज़हब को छोड़ना नहीं चाहते थे – वे क्यों इस बाहर के धर्म प्रचारक की बात मानें कि उनको अपने लाल बेग, सती चूहड़ी, पुंदरी, ख़्वाजा झोंपड़ा सब को भूल जाना चाहिए? यही नहीं अपने चांडालों के अधिकारों के अलमबरदार ग़ज़नी के बाशिंदे बाल्मीक की जगह पर हिंदुओं के ऋषि वाल्मीकि को ही अपना गुरु अपनाएँ? वे क्यों अपने आपको लाल बेगी न कहें और क्यों उस समुदाय के लोगों को सहधर्मी मानें जो उनसे घृणा करते थे, दूरी बनाकर रखते थे? लेकिन जब अमीचंद शर्मा ने सफ़ाई कर्मचारियों की एक हड़ताल में हिस्सा लिया और सफ़ाई कर्मचारियों के साथ जेलख़ाने में भी गए, तब बिरादरी के कुछ लोग उनके संदेश पर ध्यान देने लगे।[88] जब अमीचंद शर्मा और उनके आर्य समाजी साथियों ने यह दिखाया कि वे दलितों के साथ-साथ हक़-अधिकार प्राप्त करने के लिए कुछ ज़मीनी स्तर पर काम करेंगे, तब उनकी बात संजीदगी से ली जाने लगी।

1920 के दशक में साम्प्रदायिक तल्ख़ियाँ बढ़ गईं और आर्य समाज का शुद्धि आंदोलन अपने शबाब पर था। अमीचंद शर्मा उन वर्षों में सक्रिय रहे और 'श्री बाल्मीकि प्रकाश' 1928 में तैयार हो गई[89], लेकिन सफ़ाईकर्मी समाज में 1930 तक आर्य समाज को कुछ ख़ास सफलता नहीं मिली। आख़िर 1930 में शर्मा की मुहिम रंग लाने लगी, जब लाहौर में स्वच्छकार जातियों के 6,000 से अधिक लोगों की शुद्धि हुई। तीन साल बाद इस समाज के 1,530 और व्यक्तियों ने हिंदू आर्य धर्म अपनाया।[90] दिल्ली में 1930 के दशक में सफ़ाई पेशे से जुड़ी जातियों में मृतकों को पहले क़ब्रिस्तान में दफ़नाते थे, अब श्मशान घाट ले जाकर जलाने लगे, और जहाँ मुहल्ले में लाल बेग के थान होते थे वहाँ अब वाल्मीकि के मंदिर बनने लगे।[91] जोधपुर में उन्ही वर्षों में स्वच्छकार समाज के लोगों ने आर्य समाज के धर्म प्रचार के प्रभाव में आकर गाय का माँस खाने पर प्रतिबंध लगा दिया और 'अपने मुसलमान नाम – अकबर, मुल्तान, दातादीन, आलादीन, वग़ैरह – छोड़कर [हिंदू क़िस्म के] नाम – जगदीश कुमार, गणेश राम, राम चंदर, वग़ैरह – अपना लिए।'[92] सफ़ाई कामगार समाज के हिंदूकरण की प्रक्रिया शुरू हो गई थी ।

इन बिरादरियों में साधुओं का एक पंथ हुआ करता था, जिसके महंत उस ज़माने में ख़ाक शाह बाबा नाम से जाने जाते थे। उनकी समाधि दिल्ली में है और उनके मुरीदों ने कई जगहों

---

[87] विजय प्रसाद (2000) : 90-92.

[88] वही : 90-92.

[89] अमीचंद शर्मा (1928) : 13.

[90] वही : 70.

[91] विजय प्रसाद (2000) : 109-10; रमा शर्मा (1995) : 141.

[92] श्यामलाल (1984) : 29-30.

पर – पुणे, हरियाणा, उ.प्र. के मेरठ और सीतापुर में – आश्रम स्थापित किए। ख़ाक शाह बाबा की समाधि पर लिखा है कि उनका निधन 1924 में हुआ। उन आश्रमों से संबंधित कुछ लोग बताते हैं कि ख़ाक शाह बाबा और अमीचंद शर्मा एक दूसरे को जानते थे और इस बात को लेकर यह सवाल भी उठाया जाता है कि यदि वे एक दूसरे को जानते थे तो क्या ख़ाक शाह बाबा का अमीचंद शर्मा पर या शर्मा का ख़ाक शाह बाबा पर किसी तरह का विचारधारात्मक असर पड़ा था? सवाल अच्छा है लेकिन तत्कालीन प्रमाण के अभाव में इस बिंदु पर टिप्पणी करना फ़िज़ूल होगा। ख़ाक शाह बाबा के पंथ के अनुयायियों द्वारा लिखी अनेक किताबें उपस्थित हैं। लेकिन अभी तक जो मैंने देखी हैं, वे ख़ाक शाह बाबा की मृत्यु के कई दशकों बाद लिखी हुई हैं (नौशेरी लाल बौहट, 1996; पंडित रामाराव बाल्मीकिया गहलोत,1964; जोगेंद्र कुमार, 2011)। उन पुस्तकों के आधार पर बस यह कहा जा सकता है कि उस पंथ पर अमीचंद शर्मा और आर्य समाज का कुछ असर दिखाई देता है – उदाहरण के तौर पर अमीचंद शर्मा की 'श्री बाल्मीकि प्रकाश' के कुछ हिस्से पंथ के अनुयायियों द्वारा लिखी 'महर्षि वाल्मीकि ज्ञान दीपक प्रकाश' नाम की किताब में ऐसे ही बिना स्रोत बताए डाले हुए हैं (नौशेरी लाल बौहट, 1996)।

5.

सफ़ाईकर्मी जातियों के हिंदूकरण की प्रक्रिया की बुनियाद अंग्रेज़ औपनिवेशिक सरकार ने जनगणनाओं में अपने नए वर्गीकरण के साथ तामीर की। फिर आर्य समाज ने अपने धर्मप्रचार और शुद्धि आंदोलन में दूसरा चरण जारी किया। अमीचंद शर्मा की मुहिम को लाहौर, दिल्ली और उत्तर भारत की कई जगहों पर एक हद तक सफलता मिली – 1930 और 1940 के दशक में लाल बेग के थानों की तोड़-फोड़ होने लगी, ऋषि वाल्मीकि के मंदिर बनने लगे, और इन बिरादरियों के काफ़ी लोग अपने आपको हिंदू कहने लगे। लेकिन यह आंदोलन उन दशकों में पूरे हिंदुस्तान में नहीं फैला – अन्य जगहों में आर्य समाज की इस कोशिश का न नाम था और न निशान। मिसाल के तौर पर लखनऊ शहर में स्वच्छकार समाज के बुज़ुर्गों ने मुझको साक्षात्कार में बताया कि उन्होंने अपने 1947 से पूर्व बचपन में वाल्मीकि का नाम तक नहीं सुना था। बुज़ुर्गों ने यह भी बताया कि जब 1950 में लखनऊ छावनी के कुछ आर्य समाज से प्रभावित नौजवानों ने शहर की पहली वाल्मीकि जयंती आयोजित की तो बिरादरी के बाक़ी लोगों को ये नए गुरु और नया त्यौहार अजीब से लगे। बल्कि उन्हें उन नौजवानों के ऋषि वाल्मीकि से संबंधित नारे पर बिरादरी के बहुत लोगों का मज़ाक उड़ाना याद है।[93] वाराणसी में भी ऋषि वाल्मीकि का प्रचार बाद में आया और इसे स्वच्छकार समाज के कम लोगों ने माना।[94]

जब आर्य समाज के प्रयास की कामयाबी आधी-अधूरी रह गई तो स्वतंत्रता प्राप्त होने

[93] जोएल ली (2015), http://samaj.revues.org/3919.

[94] मैरी सर्ले-चटर्जी (1981) : 24, 26-27.

के बाद इस प्रयास को अनपेक्षित कोने से सहारा मिला – हिंदूकरण का तीसरा चरण भारत सरकार ने जारी किया। सरकार ने 'संविधान (अनुसूचित जातियाँ) आदेश 1950' में यह नियम लागू किया कि 'कोई व्यक्ति जो हिंदू धर्म से भिन्न धर्म मानता है, अनुसूचित जाति का सदस्य नहीं समझा जाएगा।' हिंदू बहुसंख्यकवाद के लिए इससे ज़्यादा मज़बूत सहारा नहीं हो सकता था। जिस वक़्त भारत की पहली दलित पीढ़ी को अपने बच्चों को दूसरे बच्चों के साथ स्कूलों में पढ़ाने का बराबर का अधिकार मिला, उसी वक़्त यह अधिकार हिंदू धर्म मानने की शर्त के साथ नत्थी कर दिया गया। व्यावहारिक रूप से इसका मतलब यह था कि दलित माता-पिता जब अपने बच्चों को स्कूल में भर्ती करने जाते थे तो जिस वज़ीफ़े या छात्रवृत्ति के माध्यम से फ़ीस माफ़ की जाती थी, उसको प्राप्त करने के लिए उनको अपने आपको और अपने बच्चों को हिंदू ही कहना पड़ता था। तदनुसार स्वच्छकार समाज के माता-पिता 1950 और 1960 के दशक में बहुत बड़ी तादाद में अपने बच्चों को हिंदू नाम देने लगे और ख़ुद को लाल बेगी न कहकर वाल्मीकि कहने लगे। स्वामी श्रद्धानंद, अमीचंद शर्मा और अन्य आर्य समाजियों का जो बहुसंख्यकवादी सपना पहले अधूरा रह गया था, अब पूरा हो गया। पचास साल पहले जो सोच लगभग सभी को असंगत या बेतुकी लगती थी – कि हिंदू लोग और सफ़ाई कामगार समाज के लोग एक दूसरे के सहधर्मी थे – अब वह सोच देश की क़ानूनी व्यवस्था में स्थिर हो गई थी।

लेख में हमने बीसवीं सदी के इस सवाल पर रोशनी डालने की कोशिश की है कि हिंदू समाज से अलग ही नहीं बल्कि विपरीत भी एक ख़ुद-मुख़्तार धार्मिक क़ौम कैसे हिंदुओं का एक अंदरूनी हिस्सा मानी जाने लगी और इस प्रक्रिया में ऋषि वाल्मीकि की क्या भूमिका थी। इस समूल परिवर्तन का अंतिम अध्याय अब तक तय नहीं हुआ है। 1950 के बाद वर्तमान तक अनेक संभावनाएँ नज़र आती हैं। कम शब्दों में यह कहा जा सकता है कि स्वच्छकार समाज का हिंदूकरण बाहर से मुक़म्मल और हर जगह एक समान दिखाई देता है पर अंदर से ऐसा नहीं है। इन बिरादरियों में कई विभिन्न विचारधाराएँ प्रचलित हैं और धर्म के प्रति विभिन्न प्रकार के दृष्टिकोण। यह सत्य है कि अनेक जगहों में जहाँ आर्य समाज और आर.एस.एस. का लगातार प्रभाव पड़ता रहा है, इन जातियों के कट्टर हिंदू होने की और साम्प्रदायिक दंगे-फ़सादों में शरीक होने की ख्याति हो गई है।[95] लेकिन दूसरी तरफ़ स्वच्छकार समाज में वैसा भी मज़बूत हिस्सा है, जो डॉक्टर आंबेडकर की चेतावनियाँ मानकर हिंदूकरण से बचकर रहता है, ऋषि वाल्मीकि को हिंदुत्व का औज़ार समझता है और अपने बिरादरी वालों को साम्प्रदायिकता से दूर रहने की सलाह देता है।[96] भगवान दास और ओमप्रकाश वाल्मीकि जैसे प्रभावशाली लेखकों ने दलित चेतना और आत्मसम्मान की इस विचारधारा को लोकप्रिय करने में बड़ा योगदान दिया है (भगवान

---

[95] भंवर मेघवंशी (2020) : 223; बद्री नारायण (2009) : 34; विजय प्रसाद (2000) : ix-xv.

[96] निकोलस जौल (2012) : 102-16.

दास, 2009; ओमप्रकाश वाल्मीकि, 2008)। फिर तीसरा खेमा है जिसके सदस्य ऋषि वाल्मीकि को मानते हैं, लेकिन उस तरह से नहीं मानते जो आर्य समाज और आर.एस.एस. वाले चाहते हैं। जहाँ अमीचंद शर्मा जैसे लोगों ने ऋषि वाल्मीकि को राम के भक्त और हिंदुत्व के अलमबरदार के रूप में दिखाया, वहीं दूसरी ओर इस खेमे के लोग ऋषि वाल्मीकि को शिक्षा का प्रतीक एवं पढ़े-लिखे बनने का प्रेरणा स्रोत बनाने की कोशिश करते हैं। इस खेमे में लोग उस बात पर ज़ोर देते हैं कि मूर्तियों व तस्वीरों में हिंदू देवी-देवताओं के हाथ में हथियार हैं, परंतु ऋषि वाल्मीकि के हाथ में क़लम है, जो तालीम का चिह्न होता है।

संक्षेप में इस समाज के एक हिस्से ने हिंदुत्व का रास्ता पकड़ा है, दूसरे ने आंबेडकर की विचारधारा अपनाई है, और बाक़ियों ने ऋषि वाल्मीकि और डॉक्टर आंबेडकर के बीच समझौता करने का भरपूर प्रयत्न किया है। वहीं और भी एक समूह है जो बड़ी संख्या में होने के बावजूद भी एक तरह से अदृश्य है। ये वे लोग हैं जो बाहरी तौर से ऋषि वाल्मीकि का नाम और हिंदू होने की पहचान स्वीकार करते हैं लेकिन बहुसंख्यकवादी हस्तक्षेप करने वालों की निगाहों से दूर अपनी बस्तियों और घरों में अंदरूनी रूप से चुपके से अपनी क़ौम की ख़ुद-मुख़्तार परंपरा निभाते हैं। लाल बेग अभी भी ज़िंदा हैं। ग़ज़नी के करिश्माकार बाल्मीक भी पूरी तरह से भुलाए नहीं गए हैं। बीसवीं सदी की सारी साम्प्रदायिक राजनीति ने लाल बेगी धर्म को दुनिया से मिटाया नहीं, बस पर्दे के पीछे खिसका दिया है। यह एक सोचने वाला मुद्दा है जिस पर एक अलग लेख लिखा जा सकता है।

मानव इतिहास में कुछ भी अपरिहार्य नहीं होता। कोई कह नहीं सकता है कि सौ साल बाद समाज का क्या रूप होगा और बदलाव के किस रास्ते से हम वहाँ पहुँचेंगे। इस लेख में हमने देखा है कि स्वच्छकार समाज के धर्म को लेकर पिछले दो सौ साल में कितने अनपेक्षित मोड़ आए हैं। आगे क्या होगा कोई नहीं बता सकता। वर्तमान में हिंदू बहुसंख्यकवाद राजनैतिक दायरे में अपने शबाब पर है और अभी भी मैदानी स्तर पर अपने पुराने तौर तरीक़ों से – बस शुद्धि को अब 'घर वापसी' का नाम देकर – दलितों को हिंदू कट्टरपन की ओर खींचने की कोशिश में मसरूफ़ है। लेकिन दूसरी तरफ़ डॉक्टर आंबेडकर की विचारधारा हर पल फैल रही है, जो बहुसंख्यकवाद और साम्प्रदायिकता के भयानक सत्य का पर्दाफ़ाश करती है और साथ ही साथ मानवता, धर्मनिरपेक्षता और आत्मसम्मान को बढ़ावा देती है। और फिर उसी इंसानियत और आत्मविश्वास के मूल्य इन बिरादरियों की ख़ुद की धार्मिक परंपराओं में लाल बेग और ग़ज़नी वाले बाल्मीक की कथाओं में पहले से ही मौजूद हैं। भविष्य में कौन-से वाल्मीकि की बात होगी कुछ कहा नहीं जा सकता। संभावनाओं की विभिन्नता देखकर शायद बस इतना कहा जा सकता है कि राह-ए-इमकानात बंद नहीं।

संदर्भ

अमीचंद शर्मा (1928), *श्री बाल्मीकि प्रकाश*, गौतम बुक सेंटर, दिल्ली.

अल हज़ मौलवी, फ़िरोज़ अल-दीन (1925) *फ़िरोज़ अल उर्दू जमा*, फ़िरोज़ संस लिमिटेड, लाहौर.

आर बर्न (1902), *सेंसस ऑफ़ इंडिया*, 1901, एन.डब्ल्यू., प्रोविंसेज़ ऐंड अवध, पार्ट वन, रिपोर्ट, गवर्मेंट प्रेस, भाग xvi, इलाहाबाद.

आर.वी. रसेल और राय बहादुर हीरा लाल (1916), द *ट्राइब्स ऐंड कास्ट ऑफ़ सेंट्रल प्रोविंसिस ऑफ़ इंडिया*, वॉल्यूम-I. मैकमिलन ऐंड कंपनी, लंदन.

इ. ए. गैट (1902), *सेंसस ऑफ़ इंडिया*, 1901, द लोअर प्रोविंसेंज़ ऑफ़ बंगाल ऐंड देयर फ्युदटोरिस, बंगाल सेक्रेटैरियट प्रेस, रिपोर्ट, वॉल्यूम-vi, कलकत्ता.

इ. ए. गैट (1913), *सेंसस ऑफ़ इंडिया*, 1911, सुपरिटेंडेंट गवर्मेंट प्रिंटिंग, रिपोर्ट वॉल्यूम-I, इंडिया, पार्ट-1, कलकत्ता.

उमा चक्रवर्ती (2006), *एवरीडे लाइव्स, एवरीडे हिस्टरीज़ : बियॉन्ड द किंग्स ऐंड ब्राह्मन्स ऑफ़ 'एंसिएंट'* इंडिया, तूलिका बुक्स, नई दिल्ली.

एंड्र्यू गॉर्डन (1886), *अवर इंडिया मिशन : अ थर्टी इयर्स हिस्ट्री ऑफ़ द इंडिया मिशन ऑफ़ द युनाइटेड प्रेस्बिटे-रियन चर्च ऑफ़ नॉर्थ अमेरिका टुगेदर विद प्रर्सनल रेमिनिसेंसेज़*, ए. गॉर्डन, फिलाडेल्फिया.

एच.यू. वीटब्रेक्ट (1886), 'वर्क एमंग द चुहराज़', द *चर्च मिशनरी इंटेलिजेंसर ऐंड रिकॉर्ड,* XI : 763-66.

इलीनॉर ज़ेलियट (1982), 'अ मेडिवल एन्काउन्टर बिटवीन हिंदू ऐंड मुस्लिम – एकनाथ'स हिंदू-तुर्क संवाद' बच्चू.' चैप्टर 7, *इमेजेज़ ऑफ़ मैन : रिलिजन ऐंड हिस्टोरिकल प्रॉसेस इन साउथ एशिया* (सं.), फ्रेड डब्ल्यू. क्लॉथी, न्यू एरा प्रकाशन, मद्रास : 171-195.

ओमप्रकाश वाल्मीकि (2008), *सफ़ाई देवता*, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली.

कालिका प्रसाद, राजवल्लभ सहाय और मुकुंदीलाल श्रीवास्तव (1953) (सं.), *बृहत हिंदी कोश*, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी.

केनेथ डब्ल्यू जोन्स (1968), 'कॅम्युनलिज़म इन द पंजाब : द आर्य समाज कॉन्ट्रीब्यूट.' *जर्नल ऑफ़ एशियन स्टडी,* 28, न.1 : 39-54.

क्रिश्चियन ली नोवेट्ज़के (2008), *रिलिजन ऐंड पब्लिक मेमरी : अ कल्चरल हिस्ट्री ऑफ़ संत नामदेव इन इंडिया*, कोलंबिया युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क.

क्लिफ़र्ड गीयर्ट्ज़ (1968), *इस्लाम ऑब्ज़र्व्ड : रिलिजियस डेवलपमेंट इन मोरक्को ऐंड इंडोनेशिया*, युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, शिकागो.

ख़्वाजा हसन निज़ामी (1923), *हलाहलख़ोर*, हलका-ए-मशाइख़ बुक डिपो, दिल्ली.

गुरदासपुर डिस्ट्रिक्ट ऑफ़ द गज़ेटियर (1892), 1891-92, सिविल ऐंड मिलिट्री गजट प्रेस, लाहौर.

घनश्याम दास बिरला (1953), *इन द शैडो ऑफ़ द महात्मा : ए पर्सनल मेमॉयर*, ओरिएंट लॉन्गमैंस, बॉम्बे.

चारु गुप्ता (2016), द *जेंडर ऑफ़ कास्ट : रेप्रजेंटिंग दलित इन प्रिंट*, युनिवर्सिटी ऑफ़ वॉशिंग्टन प्रेस, सिएटल.

जूलिया लेज़्ली (2003), *अथॉरिटी ऐंड मीनिंग इन इंडियन रिलिजन्स : हिंदुइज़म ऐंड द केस ऑफ़ वाल्मीकि*, हन्ट्स, एशगेट, यूके.

जे. ए. बाइनेस (1893), *सेंसस ऑफ़ इंडिया 1891*, जनरल रिपोर्ट, एयरे ऐंड स्पॉट्टिसवूड, लंदन.

जे. टी. एफ. जॉर्डन (1977), 'रिकन्वर्ज़न टू हिंदुइज़म, द शुद्धि ऑफ़ द आर्य समाज', *रिलिजन इन साउथ एशिया : रिलीजियस कन्वर्ज़न ऐंड रिवायवल मूवमेंट्स इन साउथ एशिया, मेडीवल ऐंड मॉडर्न टाइम्स* (सं.), जेफ़्री ए ओड्डी, एमओ साउथ एशिया बुक्स, कोलंबिया.

जे. टी. एफ. जॉर्डन (1981), *स्वामी श्रद्धानंद : हिज़ लाइफ़ ऐंड कॉज़ेज़*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

जे.एच. मेसमोर (1903), द *लाइफ़ ऑफ़ एडविन वॉलेस पार्कर, डी.डी., मिशनरी बिशप ऑफ़ साउदर्न एशिया, फोर्टी-वन इयर्स अ मिशनरी इन इंडिया*, ईटन ऐंड मेन्स, न्यू यॉर्क.

जेफ़री जी. स्नोडग्रास (2006), *कास्टिंग किंग्स : बार्ड्स ऐंड इंडियन मॉडर्निटी*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क.

जेम्स एम. कैम्पबेल (1885), *गज़ेटियर ऑफ़ द बॉम्बे प्रेसीडेंसी*, गवर्नमेंट सेंट्रल प्रेस, वॉल्यूम xvii, पार्ट 1, पूना, बॉम्बे.

जेम्स रीड ग्राहम (1943), 'द आर्य समाज ऐज़ अ रिफ़ॉर्मेशन इन हिंदुइज़म विद स्पेशल रेफ़रेंस टू कास्ट.' पीएचडी. डेज़रटेशन येल युनिवर्सिटी.

जेम्स. पी. आल्टर (1986) *इन द दोआब ऐंड रोहेलखंड : नॉर्थ इंडियन क्रिश्चियनिटी 1815-1915,* आईएसपीसीके, दिल्ली.

जॉन एफ. डब्ल्यू. यंगसन (1896), *फोर्टी इयर्स ऑफ़ द पंजाब मिशन ऑफ़ द चर्च ऑफ़ स्कॉटलैंड 1855-1895*, आर ऐंड आर क्लार्क, एडिनबर्ग.

जॉन एफ. डब्ल्यू. यंगसन (1906), 'द चुहराज़', द *इंडियन एंटीक्वारी,* 35 : 82-96, 302-10, 37-56.

जॉन एफ. डब्ल्यू. यंगसन (1907), 'द चुहराज़ (कंटीन्यूड)', द *इंडियन ऐंटीक्वारी*, 36 : 19-31, 71-83, 106-16, 35-48.

जॉन सी.बी. वेबस्टर (1992), द *दलित क्रिश्चियन : अ हिस्ट्री,* इंडियन सोसाइटी फ़ॉर प्रोमोटिंग क्रिश्चियन नॉलेज़, दिल्ली.

जोएल ली (2015), 'जगदीश, सन ऑफ़ अहमद : दलित ऐंड रिलिजन ऐंड नॉमिनेटिव पॉलिटिक्स इन लखनऊ', *साउथ एशिया मल्टीडिसप्लिनरी अकेडमिक जर्नल*, 11., http://samaj.revues.org/3919.

जोएल ली (2021), 'डिस्गस्ट ऐंड अन्टचैबिलिटी : टुवर्ड्स ऐन ऐफ़ेक्टिव थियरी ऑफ़ कास्ट', *साउथ एशियन हिस्ट्री ऐंड कल्चर* : 1-18., https://doi.org/10.1080/19472498.2021.1878784. https://www.tandfonline.com/doi/abs/10.1080/19472498.2021.1878784.

जोगेन्द्र कुमार (2011), *सतगुरु कँवलशाह दिग्दर्शन*, महर्षि वाल्मीकि मंदिर सुधार समिति बाबा खाकशाह की समाधि, दिल्ली.

जोनाथन एम. केनीयर (1998), *सिटीज़ ऑफ़ द इंदुस वैली सिविलाइज़ेशन*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, करांची.

डब्ल्यू चिचेले प्लॉडेन (18831), *रिपोर्ट ऑन द सेंसस ऑफ़ ब्रिटिश*, टेकन ऑन 17 फ़रवरी, 1881 वॉल्यूम-I, आयर और स्पॉट्टिसवूड, लंदन.

डेन्ज़िल इब्बेट्सन (1970) पंजाब कास्ट्स बीइंग अ रिप्रिंटिंग ऑफ़ द चैप्टर ऑन 'द रेस, कास्ट्स, ऐंड ट्राइब्स ऑफ़ द पीपल', रिपोर्ट ऑन द सेंसस ऑफ़ द पंजाब, लैंग्वेजेज़ डिपार्टमेंट पंजाब, पटियाला.

दिव्या चेरियन (2022), *मर्चेंट्स ऑफ़ वर्च्यू : हिंदूज, मुस्लिम्स ऐंड अनटचेबल्स इन एटीन्थ सेंचुरी साउथ एशिया*, युनिवर्सिटी ऑफ़ केलिफ़ोर्निया प्रेस, ओकलैंड.

नंदिनी गुप्तू (2001), द *पॉलिटिक्स ऑफ़ द अर्बन पुअर इन अर्ली ट्वेंटिएथ-सेंचुरी इंडिया*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

नारदस्मृति : अ क्रिटिकल एडिशन, पार्ट वन, (1989), (अनु.), रिचर्ड डब्ल्यू लॉरिवियर, पेंसिल्वेनिया विश्वविद्यालय प्रेस, फिलाडेल्फिया.

नारदस्मृति : अ क्रिटिकल एडिशन, पार्ट टू (1989),(अनु.), रिचर्ड डब्ल्यू लॉरिवियर, पेंसिल्वेनिया युनिवर्सिटी प्रेस, फ़िलाडेल्फ़िया.

नारायणदास रतनमल मलकानी (1965), *क्लीन पीपल ऐंड ऐन अनक्लीन कंट्री*, हरिजन सेवक संघ, दिल्ली.

निकोलस जौल (2012), 'द मेकिंग ऑफ़ अ पॉलिटिकल स्ट्रॉन्गहोल्ड : अ दलित नेबरहुड्स एक्ज़िट फ़्रॉम द हिंदू नैशनलिस्ट रायट सिस्टम', *एथ्नॉग्रफ़ी* 13, सं. 1 : 102-16.

नौशेरी लाल बौहट (1996), *महर्षि वाल्मीकि ज्ञान दीपक प्रकाश*, महर्षि वाल्मीकि मंदिर तथा आश्रम मोदीनगर.

पंडित रामाराव बाल्मीकिया गहलोत (1964), *सूक्ष्म प्रचार : बाल्मीकि समाज सुधार*, सर्वोदय प्रेस, मेरठ.

पंडित हरिकृष्ण कौल (1911), *सेंसस ऑफ़ इंडिया 1911*, वॉल्यूम XIV : पंजाब भाग I, रिपोर्ट, सिविल ऐंड मिलिट्री गजट प्रेस, लाहौर.

पी. सनल. मोहन (2015), *मॉडर्निटी ऑफ़ स्लेवरी : स्ट्रगलस अगेंस्ट कास्ट इन्क्वायरी इन कोलोनियल केरला*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली.

बद्री नारायण (2009), *फ़ैसिनेटिंग हिंदुत्व : सैफ़रॅन पॉलिटिक्स ऐंड दलित मोबिलाइज़ेशन*, सेज, नई दिल्ली.

भंवर मेघवंशी (2020), *आई कुड नॉट बी हिंदू : द स्टोरी ऑफ़ अ दलित इन द आरएसएस*, [मैं एक कारसेवक था] (अनु.), निवेदिता मेनन, नवयाना, नई दिल्ली.

भगवान दास (2009) *इन परस्यूट ऑफ़ आंबेडकर* (अनु.), ईशा, नवयाना, नई दिल्ली.

भगवान दास (2007) *बाल्मीकि जयंती और भंगी जातियाँ*, गौतम बुक सेंटर, दिल्ली.

भगवान दास (2009) *सफ़ाई मज़दूर दिवस 31 जुलाई*, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली.

भीमराव रामजी आंबेडकर (1992), *डॉ. बाबासाहब आंबेडकर : राइटिंग ऐंड स्पीचेज़,* एजुकेशन डिपार्टमेंट, गवर्नमेंट ऑफ़ महाराष्ट्र बॉम्बे.

मंजुला सहदेव (1997), *महर्षि वाल्मीकि, व्यक्तित्व एवं कृतित्व*, पंजाब युनिवर्सिटी प्रेस, पंजाब.

मंजुला सहदेव (1986), 'आदि कवि वाल्मीकि, ऐंड द फ़र्स्ट क्लासिकल संस्कृत पोएट, वाल्मीकि', *द डिवाइन लाइफ़, मंथली जर्नल ऑफ़ द डिवाइन लाइफ़ सोसाइटी* 48, न. 1 : 12-16.

मिकेल अक्टोर (2010), 'अनटचेबिलिटी इन ब्रहमनिकल लॉ बुक्स', *फ़्रॉम स्टिग्मा टू एसर्शन : अनटचेबिलिटी, आयडेंटिटी ऐंड पॉलिटिक्स इन अर्ली ऐंड मॉडर्न इंडिया* (सं.), मिकेल अक्टोर ऐंड रॉबर्ट डेलीज़, म्यूज़ियम सुलानम प्रेस, कोपेन्हेगेन : 31-63.

मुहम्मद हुसैन आज़ाद (1907), *आब-ए-हयात*, नवल किशोर, (1880), लाहौर.

मेरी सर्ले-चटर्जी (1981), *रिवर्सिबल सेक्स रोल्स : द स्पेशल केस ऑफ़ बनारस स्वीपर्स*, पेर्गमॉन प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.

रंजीत गुहा (2010), *द स्मॉल वॉइस ऑफ़ हिस्ट्री*, ओरिएंट ब्लैकस्वान, दिल्ली.

रमा शर्मा (1995), *भंगी, स्कैवेंजर इन इंडियन सोसाइटी : मार्जिनैलिटी, आयडेंटिटी ऐंड पॉलिटिसाइज़ेशन ऑफ़ द कॉम्युनिटी*, एमडी प्रकाशन, नई दिल्ली.

रामनारायण एस. रावत (2011), *रिकन्सिडरिंग अनटचेबिलिटी : चमार्स ऐंड दलित हिस्ट्री इन नॉर्थ इंडिया*, इंडियाना विश्वविद्यालय प्रेस, ब्लूमिंगटन.

रिचर्ड कार्नैक टेम्पल (1884), 'अ स्टोरी ऑफ़ लाल बेग – लालबेगी सेक्ट्स', *पंजाब नोट्स ऐंड क्वारिस-I*, संख्या 10 : 109.

रिचर्ड कार्नैक टेम्पल (1884), 'अ स्टोरी ऑफ़ लाल बेग ऐंड वाल्मीकि', *पंजाब नोट्स ऐंड क्वारिस-II*, संख्या 15.

रिचर्ड कार्नैक टेम्पल (1884), 'लाल बेग – लाल बेख - मेहतर इलियास - पीर-आइ दस्तगीर', *पंजाब नोट्स ऐंड क्वारिस-I*, संख्या 7.

रिचर्ड कार्नैक टेम्पल (1884), 'लाल बेग – वाल्मीकि – बनारस – चांडालगढ़', *पंजाब नोट्स ऐंड क्वारिस-I*, संख्या 8.

रिचर्ड कार्नैक टेम्पल (1884), *लेजेंड्स ऑफ़ द पंजाब*, खंड-I, ऐजुकेशन सोसाइटीज़ प्रेस, बॉम्बे.

रिचर्ड ग्रीवेन (1894), द *नाइट्स ऑफ़ द ब्रूम : ऐन अटेम्पट टू कलेक्ट ऐंड टू एक्सप्लेन सम ऑफ़ द सेरेमनीज़ ऑफ़ द स्वीपर्स इन द बनारस*, मेडिकल हॉल प्रेस, बनारस.

रडयार्ड किप्लिंग (1887) 'द वेंज़नेस ऑफ़ लाल बेग', *सिविल ऐंड मिलिट्री गजट*, 3 नवंबर 1887, लाहौर.

रडयार्ड किप्लिंग (1901), *किम*, मैकमिलन ऐंड कंपनी, न्यू यॉर्क.

रूपा विश्वनाथ (2014), द *पारिया प्रॉब्लम : कास्ट, रिलिजन, ऐंड द सोशल इन मॉडर्न इंडिया*, कोलंबिया युनिवर्सिटी प्रेस, न्यू यॉर्क.

रॉबर्ट पी. गोल्डमैन (1976), 'वाल्मीकि ऐंड भृगु कनेक्शन', *जर्नल ऑफ़ द अमेरिकन ओरिएंटल सोसाइटी 96*, न.-1, 97-101.

रॉबर्ट पी. गोल्डमैन (1984), द *रामायण ऑफ़ वाल्मीकि : ऐन एपिक ऑफ़ एंसियंट इंडिया*, खंड-I, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन.

वसुधा डालमिया (2007), 'इंट्रोडक्शन', द *ऑक्सफ़र्ड इंडिया हिंदुइज़्म रीडर* (सं.), वसुधा डालमिया और हेनरीक वॉन स्टीटेंक्रोन, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली : 1-23.

विजय प्रसाद (1996), 'अनटचेबल क्वेश्चन', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली* 31, न. 9 : 551-59.

विजय प्रसाद (2000), *अनटचेबल फ़्रीडम : ए सोशल हिस्ट्री ऑफ़ दलित कॉम्युनिटी*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

विलियम हेनरिक्स समझदार (2000), *बिहाइंड मड वॉल्स : सेवेंटी-फाइव इयर्स इन अ नॉर्थ इंडियन विलेज़*, कैलिफ़ोर्निया विश्वविद्यालय प्रेस, बर्कली.

विवेकानंद एन झा (1975), 'स्टेज़ इन द हिस्ट्री ऑफ़ अनटचेबिलिटी', द *इंडियन हिस्टोरिकल रिव्यू*, खंड 2, संख्या 1 : 14-31.

श्यामलाल (1984), द *भंगीज़ इन ट्रांसलेशन*, इंटर-इंडिया पब्लिकेशन, नई दिल्ली.

श्यामलाल (1992), द *भंगी : अ स्वीपर कास्ट, इट्स सोसियो-इकनॉमिक पोर्ट्रेट्स, विद स्पेशल रेफ़रेंस टू जोधपुर सिटी*, पॉपुलर प्रकाशन, बॉम्बे.

संजीव खुदशाह (2005), *सफ़ाई कामगार समुदाय*, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली.

संन्यासी श्रद्धानंद (1926), *हिंदू संगठन : सेवियर ऑफ़ द डाइंग रेस*, अर्जुन प्रेस, दिल्ली.

सतीश कुमार शर्मा (1985), *सोशल मूवमेंट ऐंड सोशल चेंज़ : अ स्टडी ऑफ़ आर्य समाज ऐंड अनटचेबल्स इन पंजाब*, बी.आर. पब्लिशिंग कॉरपोरेशन, दिल्ली.

सिंथिया टैलबॉट (1995), 'इनस्क्रबिंग द अदर, इनस्क्रबिंग द सेल्फ़ : हिंदू-मुस्लिम आयडेंटिटीज़ इन प्री-कोलोनियल इंडिया', *कॉम्पेरेटिव स्टडी इन सोसाइटी ऐंड हिस्ट्री 37*, संख्या 4 : 692-722.

सी.एस. एडकॉक (2014), द *लिमिट्स ऑफ़ टॉलरेंस : इंडियन सेकुलरिज़म ऐंड द पॉलिटिक्स ऑफ़ रिलीजियस फ़्रीडम*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, न्यू यॉर्क.

सीतारामशरण भगवानप्रसाद रूपकला (1962), *श्री भक्तमाल विद द भक्तिरसबोधिनी कॉमेंट्री ऑफ़ प्रियादास,*

[1910], तेजकुमार प्रेस, लखनऊ.

सैयद अहमद देहलवी (1879), *फ़रहंग-ए-आसफ़िया*, नैशनल अकादमी, (1898-1918), बनारस, मेडिकल हॉल प्रेस, दिल्ली.

स्वामी श्रद्धानंद (1987), *स्वामी श्रद्धानंद ग्रंथावली*, खंड-VI, (सं.) भवानीलाल भारतीय, गोविंदराम हासानंद, दिल्ली.

हर्बर्ट जॉनसन स्ट्रिकलर (1926), 'द रिलिजन ऐंड कस्टम्स ऑफ़ द चुहरा इन द पंजाब प्रोविंस, इंडिया', एम. ए. शोध, युनिवर्सिटी ऑफ़ कैनसस.

हर्वे डेविट ग्रिसवॉल्ड (1921), 'द भंगी प्रीस्टहुड, ऑल्टर ऐंड सैक्रीफ़ाइस', द *इंडियन विट्नेस 52*, संख्या 30, 565-66.

हर्वे डेविट ग्रिसवॉल्ड (1934), *इनसाइट इन टू मॉडर्न हिंदुइज़्म*, हेर्नी हॉल्ट ऐंड कंपनी, न्यू यॉर्क.

होरेस आर्थर रोज़ (1902), *सेंसस ऑफ़ इंडिया 1901*, खंड XVII, रिपोर्ट, पंजाब ऐंड नॉर्थ-वेस्ट फ्रंटियर प्रोविंस, पार्ट-I, सरकारी केंद्रीय मुद्रण कार्यालय, शिमला.

‘कुलटा’ और पीड़िता : औपनिवेशिक उत्तर भारत में सवर्ण लेखन और दलित स्त्री चित्रण

चारु गुप्ता





बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में उत्तर भारत में जाति के सवाल केंद्रीय महत्त्व इख़्तियार कर रहे थे, जिससे हिंदी प्रिंट हलक़े भी कई प्रकार से प्रभावित हुए। यह लेख सवर्ण सुधारवादी-राष्ट्रवादी हिंदी सार्वजनिक क्षेत्र के ज़रिये जाति और लिंग के अंतर्संबंधों के इर्द-गिर्द रचित वर्चस्वशाली अभिलेखों का पुनर्पाठ करने का प्रयास करता है। हिंदू समुदाय और हिंदी प्रिंट संस्कृति के अंदर सवर्ण वर्चस्व बदस्तूर जारी था, जहाँ जाति और लिंग के अंतर्संबंधों में सामाजिक विभेद निर्धारण एक चिरस्थायी तत्व था। औपनिवेशिक काल में सवर्णों द्वारा लिखित उपदेशात्मक, सुधारवादी और राष्ट्रवादी साहित्य में दलित स्त्रियों के मुख्यतः दो तरह के चित्रण सामने आए। एक हिस्से में दलित स्त्रियों और विशेषकर चमार दाइयों को कुलटा, कुटनी, प्रदूषित, अशुद्ध और कामुक के रूप में चित्रित करने के पुराने-नए रूप और मुहावरे विकसित हुए।[1] विशेषकर, सवर्ण विचारधारा और राजनीति से जुड़े उपदेशात्मक साहित्य में

[1] लेख में ‘अछूत’, ‘चमार’, ‘भंगी’ आदि शब्दों का प्रयोग इसलिए किया गया है क्योंकि उस दौर का सवर्ण हिंदी लेखन इन शब्दों का प्रयोग करता था, जिसका दलित विचारकों ने विरोध किया है. उपरोक्त शब्द लेखिका के नहीं हैं.

सवर्ण और दलित स्त्रियों के चित्रण ने कई प्रकार के आचारीय मानक और रूढ़िवादी मानदंड स्थापित किए, जिससे जातिवाद मज़बूत हुआ। दूसरे प्रकार के चित्रण में दलित स्त्री की प्रदूषित, दुष्ट और विकृत छवि की जगह उनकी एक दुखियारी, पीड़िता, अधीनस्थ और अत्याचार बर्दाश्त करने वाली मौन छवि उकेरी गई, जो सहानुभूति की पात्र थी, और जिसका उद्धार सवर्णों द्वारा दिखाया गया।[2] सवर्ण विमर्श, बिंब और भाषावली में वर्णित इस छवि में चुपचाप दुःख झेलने वाली दलित स्त्री छवि को आदर्श बनाया गया। यों तो इस प्रकार के लेखन में दलितों के प्रति उदारवादी सहानुभूति का भाव था, लेकिन इसमें निहित भाषावली और बिंब, नए तरीक़ों से अधिकतर सवर्ण जाति वर्चस्व को ही स्थापित करते थे। मैं यहाँ बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में दलित स्त्री की इन दोनों छवियों की निर्माण-प्रक्रिया, शैली, बिंब आदि का विश्लेषण करूँगी। ये दोनों ही अभिव्यक्तियाँ, अलग-अलग तरीक़ों से दलित स्त्रियों के यथास्थित सवर्ण पूर्वाग्रहों को मज़बूत करती थीं।

दलित स्त्री का (कु) चित्रण : हिंदी उपदेशात्मक साहित्य में जाति-लिंग के साँचे

लेख का यह हिस्सा उस दौर की एक विशेष रचनावली – हिंदी की उपदेशात्मक और घरेलू नियमावलियों पर केंद्रित है, जो विशेषकर मध्यवर्गीय, उच्च जाति की हिंदू स्त्रियों को संबोधित था। विभिन्न इतिहासकारों के अलग-अलग क्षेत्रों पर किए हुए शोधों से पता चलता है कि ऐसी उपदेशात्मक पुस्तकों का अभिप्राय स्त्री और पुरुष के बीच असमान संबंधों को मज़बूत करना था। इनमें अधिकतर स्त्रियाँ हृदय और भावना की प्रतीक थीं, जबकि पुरुष दिमाग़ और बुद्धिमत्ता के वाहक थे। पुरुष स्थल को धर्मशास्त्र, क़ानून और चिकित्सा के सामाजिक रूप से स्वीकृत ज्ञान की धरोहर समझा जाता था, जबकि स्त्री जगत को शिशु-पालन, खाना पकाने और सफ़ाई जैसे कामों में सीमित देखा जाता था[3] (जूडिथ वॉल्श, 2004)। लेकिन साथ ही, अगर हम दलित स्त्रीवादी नज़रिए से इस कालखंड का अवलोकन करें तो स्त्री बनाम पुरुष विश्लेषण पर सवालिया निशान लगते हैं। इस दृष्टिकोण से इन संहिताओं में हमें लिंग, जाति, वर्ग और धार्मिक सत्ता का सक्रिय गठबंधन नज़र आता है। इन उपदेशात्मक नियमावलियों में, जो कथावाचन का काम करती थीं, अक्सर निश्चित जाति पूर्वाग्रह निहित थे। जैसा कि देखा जा सकता है, इन व्यवहार संहिताओं में पुरुषों द्वारा स्त्रियों और साथ ही साथ सवर्णों द्वारा अस्पृश्यों पर नियंत्रण का भी भाव था।

यह कहा गया है कि औपनिवेशिक काल में एक सवर्ण हिंदू स्त्री के आदर्श स्त्रीत्व की बुनावट का वास्तविक संघर्ष घरों के अंदर खेला गया। घरेलू क्षेत्र को राष्ट्रीय, उच्च जातीय

---

[2] उदाहरण के लिए: *चाँद* पत्रिका का 'अछूत अंक', मई 1927. इसमें विशेष तौर पर देखें: संपादकीय, 'पाप की ग्रंथियाँ' : 2-6; 'अछूत नारी की दुर्दशा' : 175-8; 'अछूत नारी का समुद्धार' : 178-80.

[3] मेरी हैनकॉक (2001) : 871-903.

हिंदू संस्कृति के अंतःकरण के रूप में चित्रित किया गया और स्त्री को इस घर और अंतःकरण के आध्यात्मिक सार और वाहक के रूप में देखा गया।[4] साथ-ही-साथ यह भी दावा किया गया कि स्त्रियों और विवाह पर केंद्रित औपनिवेशिक क़ानून और सामाजिक सुधार पितृसत्ता के नए ढाँचे और स्त्रियों के लिए कठोर घरेलू और सामाजिक अनुशासन निर्मित कर रहे थे।[5] यद्यपि ये नज़रिए इस बात की अनदेखी करते हैं कि स्त्रियाँ किस प्रकार सृजनात्मक तरीक़ों से सुधारों और राष्ट्रवाद को अपने हितों के लिए तोड़-मरोड़ रही थीं, फिर भी यह क़तई इनकार नहीं किया जा सकता है कि उपदेशात्मक नियमावलियाँ पितृसत्ता के देशी ढाँचों और उच्च जातीय व्यवहारों को नवजीवन दे रही थीं।

औपनिवेशिक उत्तर भारत में, ख़ासकर उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध के बाद प्रिंट के विकास और भाषाई प्रेस के उभार के कारण, और समाज सुधार के परिप्रेक्ष्य में, काफ़ी संख्या में हिंदी में उपदेशात्मक किताबें और लेख प्रकाशित हुए। हिंदी-हिंदू मध्यम वर्ग के एक मुखर और प्रभावशाली तबक़े ने, जो अधिकतर सवर्ण जातियों से था, इस साहित्य की मुख्य तौर पर रचना की। यह साहित्य एक प्रकार का ऐसा सांस्कृतिक संसाधन बन गया जिससे एक ख़ास पहचान और सम्मानीय घरेलुता को शक्ल देने में मदद मिलती थी।[6] इसके लेखक, उनका उपदेश और इसके औपचारिक-अनौपचारिक प्रबंधन की प्रक्रिया में यह सारा क्रिया-कलाप एक वस्तु या व्यापार-सा बन गया जिसमें छवियों और चित्रणों का सार्वजनिक उपभोग होता था और व्यवहार-विचार की एक ख़ास सिफ़ारिश की जाती थी। इस प्रकार की सचेतन उपदेशात्मक और रीति-रिवाजी नियमावलियों में यौनिकता पर नियंत्रण, शैक्षणिक सुधार, बचत, शिशुपालन और घरेलू व्यवस्था जैसे विषय एक गंभीर सामाजिक सरोकार, वैज्ञानिक छान-बीन और सुधारवादी कोशिशों का हिस्सा बन गए। मुख्यतः मध्यमवर्गीय, उच्च जातीय, सवर्ण हिंदू गृहस्थ स्त्री की स्थितियों, ज़िम्मेवारियों, समस्याओं और ऊहापोह से संबंध रखने का दावा करने वाली इन निर्देशिकाओं के अंतर में विस्तृत और सटीक निर्देश थे। ऐसे लेखन से एक ऐसी स्त्री की छवि निर्मित और मज़बूत हुई जो उत्पादक संसाधनों और गतिविधियों से ज़्यादा-से-ज़्यादा जुदा थी। कई-एक पत्रिकाओं, दिशा निर्देशक पुस्तिकाओं और प्रकाशनों में पुरुषों के नज़रिए से एक आदर्श स्त्री की ऐसी छवि बनाई गई जो पुरुष दुनिया के अधीन थी और आर्थिक रूप से स्वतंत्र नहीं थी। मध्यवर्गीय, उच्च जातीय स्त्री को पतिव्रता, आज्ञाकारी, धार्मिक और घरेलू कामों में पारंगत बनने की सीख दी गई।[7] (चित्र-1)

---

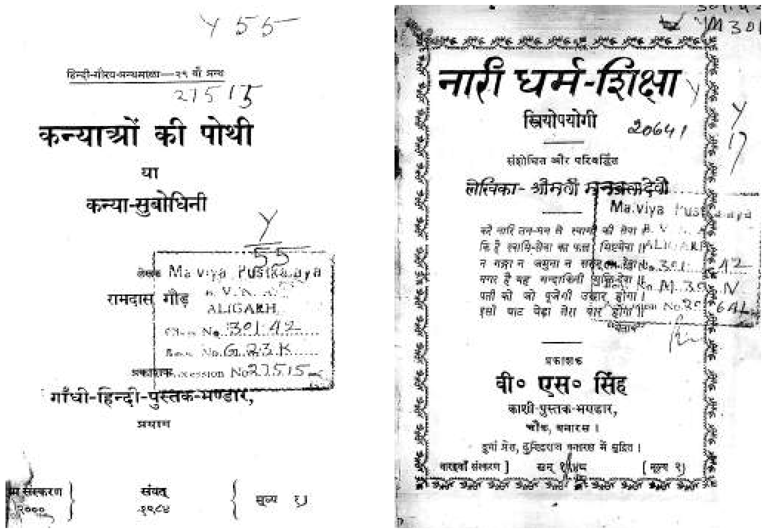
[4] पार्थ चटर्जी (1993) : 120–21.

[5] उमा चक्रवर्ती (1989) : 27-87; ऐनी मैक्लिंटॉक (1995) : 1-4.

[6] चारु गुप्ता (2012) : 100-12.

[7] हनुमान प्रसाद पोद्दार (1929) : 24–5; बालकृष्ण वाजपेई, (1934); गुप्त 'पागल'(1921); जयदयाल गोयनका (1937); महेंदुलाल गर्ग (1930); बाबू सन्नूलाल गिरदावर गुप्त (1922); जर्नादन जोशी (1918); कन्नोमल (1923); चिंतामणि 'मणि' (1935); तोताराम वकील (1925).

चित्र 1 : बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध से नियमावलियों के आवरण



इन पुस्तिकाओं में यह बार-बार ज़ोर दिया गया कि स्त्रियों को अर्थाजन या आर्थिक बेहतरी के बारे में सोचना नहीं चाहिए। इसके बजाय उन्हें अपनी ऊर्जा नैतिक उत्थान में लगानी चाहिए। साथ ही, उन्हें घरों के अंदर शरीर, हृदय और मस्तिष्क के उत्थान पर ध्यान देना चाहिए।[8] इन पुस्तिकाओं में यह सिखाया गया कि उन्हें कैसे व्यवहार करना चाहिए, कैसे समस्याओं का समाधान करना चाहिए, कैसे सोचना-समझना-काम करना चाहिए। इन लेखनों में अधिकतर सवर्ण जाति की सोच और सर्वोच्चता सर्वप्रमुख थी। कभी-कभी इस प्रकार का लेखन लिंग-संवेदना भी दर्शाता था, लेकिन ऐसे में भी उसके पाठक पहले से निश्चित थे।

ये नियमावलियाँ ख़ासकर उच्च जाति और मध्यमवर्गीय स्त्रियों को संबोधित करते हुए भी अपने विशेष प्रकार के चित्रणों से दलित स्त्रियों के बारे में कुछ निश्चित विचार प्रवाहित करती थीं। यद्यपि इस इतिहास में दलित स्त्रियाँ कभी भी मुख्य कर्त्ता या किरदार के रूप में अवतरित नहीं होतीं, फिर भी कई दृश्य-अदृश्य तरीक़ों से उनकी मौजूदगी समाज के प्रभुत्वशाली सांगठनिक ढाँचों को अंकित करने में अहम भूमिका निभाती है। कई बार इन संहिताओं में दलित स्त्रियों को एक स्त्री के रूप में संबोधित ही नहीं किया जाता था। इसके स्थान पर उन्हें प्रायः उनकी जाति और उनके 'लांछित' पेशों से संबोधित किया जाता था। लेख का यह हिस्सा अफ़्रीक़ी-अमेरिकी स्त्रीवादी लेखन से भी प्रेरणा लेता है, जो एक आलोचनात्मक नज़रिए से दर्शाता है कि किस प्रकार अश्वेत स्त्री और उसके शरीर को कई बार प्रभुत्वशाली श्वेत लेखन में असभ्यता, अविवेकता, कुरूपता, निम्नता और 'अतिशय' यौनिकता का प्रतीक बताया गया। इसके विपरीत श्वेत स्त्री और उसके शरीर को सभ्यता,

[8] सेठ विद्यापति (1922) : 339-42.

विवेकता, सुंदरता और विशिष्टता का प्रतीक माना गया (टोनी मॉरिसन 1992; बेल हुक्स 1992; डब्ल्यू. डी. जॉर्डन 1968; मार्गरेट एल. हंटर 2005; पेट्रीशिया हिल कॉलिन्स 2005)।

दलित स्त्रियों के इस प्रकार के चित्रणों को अगर एक साथ देखा जाए तो इसमें अतीत के साथ कुछ निरंतरता है, पर इस दौर में इन चित्रणों में कुछ नए मुहावरे, प्रतीक और आयाम जुड़ते हैं, ख़ासकर आधुनिक, व्यापक प्रिंट संस्कृति के विकास के संदर्भ में। अध्येताओं ने अपने शोधों में यह दिखाया है कि किस प्रकार कई प्राचीन ग्रंथों और महाकाव्यों, जैसे *मनुस्मृति, रामायण* और *महाभारत* में दलित और द्रविड़ स्त्रियों को प्रायः अश्लील, विश्वासघाती, ख़तरनाक, प्रदूषित और 'गंदा' चित्रित किया गया (विजिया भारती 1995; कैथलीन एम. अर्न्डल 1991)। उमा चक्रवर्ती बताती हैं कि दलित स्त्रियों के निरंतर और बार-बार नकारात्मक और झूठे चित्रण की जड़ें प्राचीन सांस्कृतिक परंपराओं में गहरे गुँथी हैं (उमा चक्रवर्ती 2004)। औपनिवेशिक उत्तर भारत में बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कुछ रचनाओं में ऐसे चित्रण नए आकार और अर्थ में पुनर्प्रवेश करते हैं।

इन नियमावलियों के लेखकों और पाठकों द्वारा निम्न जाति की स्त्रियों की सामाजिक हैसियत, जीवन पद्धति, कपड़े, प्रवृत्ति और व्यवहार को एक अलग साँचे में ढाला गया। उच्च जाति की हिंदू स्त्री के विपरीत दलित स्त्री की एक प्रति-छवि निर्मित करने की कोशिश की गई। इससे 'स्व' और उससे अलग 'दूसरे' के निर्माण को मान्यता मिली। यद्यपि उच्च जाति के पुरुष लेखकों ने ही ज़्यादातर ऐसे चित्रण किए, पर उच्च जाति की स्त्रियों ने भी कई बार दलित स्त्रियों के ऐसे (कु)चित्रण और एक ख़ास छवि के निर्माण में योगदान किया।[9]

इन संहिताओं में उच्च जाति की स्त्रियों को अपने शरीर को ढाँपकर रखने, सुघड़ गृहिणी बनने, ज़्यादा ऊँची आवाज़ में नहीं बोलने, लड़ाई-झगड़ा और कानाफूसी न करने और दूसरी स्त्रियों से ज़्यादा बातचीत नहीं करने की हिदायत दी गई। साथ ही, इन्हीं सब कार्यवाहियों को दलित स्त्रियों की पहचान के साथ जोड़ा गया। नैतिक रूप से पवित्र, गुणवान और आदर्श हिंदू स्त्री की छवि को दलित स्त्रियों के नकारात्मक चित्रण के आमने-सामने स्थापित किया गया। दलित स्त्रियों को कई बार फूहड़, कर्कश, कुलटा, स्त्रीहीन, नग्न, बेशर्म और असांस्कृतिक घोषित किया गया। एक ऐसी नियमावली – *कन्याओं की पोथी या कन्या सुबोधिनी* – जो लड़कियों और स्त्रियों को संबोधित थी और सवर्ण स्त्रियों के सही व्यवहार को विस्तार से रेखांकित करती थी, का मानना था कि सवर्ण स्त्रियों की यही पहचान है कि वे एक-दूसरे से झगड़ा नहीं करतीं, किसी की चुगली और बुराई नहीं करतीं, गाली नहीं देतीं और गंदे और अभद्र शब्दों का इस्तेमाल नहीं करतीं।[10] एक नियमावली में कहा गया :

> आपस में झगड़ा-लड़ाई, गाली-गलौज भलेमानुसों के घरों में नहीं होता। पढ़े-लिखे लोग

---

[9] रुक्मणी देवी (1919); यशोदा देवी (1910); हुक्मा देवी (1932); मनव्रता देवी (1948).

[10] बालकृष्ण वाजपेई (1934) : 62.

> झगड़ा नहीं करते और बुरी बातें मुँह से नहीं निकालते। नीचों-ऊँचों में यही भेद है। नीच लोग लुगाई आपस में लड़ते हैं, गालियाँ बकते हैं, नंगपन करते हैं।[11]

'अश्लील' भाषा निम्न जाति की स्त्रियों का लक्षण माना गया। उनकी निम्नता दूसरी स्त्रियों के साथ नित लड़ाई-झगड़े में व्यक्त होती थी। दलित स्त्रियों के हाव-भाव, चाल-चलन और चित्रण में कुछ बातों को आम माना गया, जैसे चढ़ी हुई त्योरियाँ, पैर पटकना और फुसलाना। इस प्रकार के साहित्य में 'स्त्री' की निर्मिति के दो पहलू थे : सवर्ण – जैसी स्त्री है और होनी चाहिए; दलित – जैसी स्त्री होती है और जैसी कदापि नहीं होना चाहिए। कई बार सुधारवादी धाराएँ भी ऐसे जातिवादी साँचों में ढल गईं। उदाहरण के लिए, मल्लाह जाति पर एक प्रायः सहानुभूतिपरक लेख में उस जाति की स्त्रियों के बारे में यह कहा गया :

> मल्लाह स्त्रियाँ गाली आदि बकने व लड़ाई-झगड़ा करने में बहुत ही तेज़ होती हैं। ज़रा सी बात पर ये आपको सात पुश्तों तक का स्मरण दिला देती हैं। इनकी ज़बान पर लगाम लगाने में अभी तक कोई भी सफल नहीं हो सका।[12]

औपनिवेशिक भाषा भी कभी-कभी इसी प्रकार के सूचकों से भरी होती थी। उनमें भी कहीं-कहीं दलित स्त्रियों को भद्दा, अश्लील और मोटे रहन-सहन वाली चित्रित किया गया। एक ब्रिटिश अधिकारी के शब्दों में :

> निम्न जाति की ग्रामीण स्त्री जब एक बार उत्तेजित होती है, तो उसके फेफड़े की लगातार ताक़त विश्वास से परे है। उसकी आवाज़ कर्कश और मोटी होती है। वह चीख-चीख कर गाली-गलौज करती है। कभी ऐसा लगता है कि वह अपने चरम पर पहुँच गई है, लेकिन उसका यह उत्कर्ष भी आख़िरी नहीं होता। इसके तत्काल बाद ही विरोधी स्त्री भी इसी प्रकार चीखना-चिल्लाना शुरू करती है, जो तेज़-से-तेज़ होते चरम पर पहुँचने लगता है, ऐसे जैसे कि किसी एक की रक्त की शिराएँ फटकर बाहर आ जाएँगी। इसकी निरंतरता असाधारण है।[13]

एक नियमावली में तुकबंदी, क़िस्से और पत्रों के ज़रिए विभिन्न स्त्रियों को विस्तृत निर्देश दिए गए। इसमें विशेषकर निम्न जाति की स्त्रियों को ठगनी, चटोरी और कुटनी कहा गया (लाला बांकेलाल, 1909)। फिर, और भी 'विशेषताएँ' जोड़कर उनको फूहड़, गँवार, कपटी, दुष्ट, ख़तरनाक और घर-तोड़क भी क़रार किया गया (लक्ष्मीधर वाजपेई, 1941)। एक नियमावली ने अपने सबसे अंतिम और महत्त्वपूर्ण अध्याय 'जोखिमों से चेतावनी' शीर्षक के अंतर्गत मुख्यतः सवर्ण हिंदू मध्यमवर्गीय लड़कियों और स्त्रियों को संबोधित करते हुए कहा :

---

[11] रामदास गौड़ (1927) : 19.

[12] 'राजा' महेंद्र (1952) : 106.

[13] जूडिथ वॉल्श (1929) : 98-9.

> गिरस्तों के घर में तरह तरह की कुटनियाँ भी आती जाती रहती हैं। मालिन, नाईन, कहारिन, चमाइन, धोबिन, बरइन, पिसनहारिन, मनिहारिन, दाई आदि अनेक तरह की औरतों से नित्य काम पड़ता है। यही सब कुटनपन भी करती हैं। बसे घर में लड़ाई लगा देती हैं। इधर की उधर शिकायतें करती फिरती हैं। पति की कुचाल की बातें कहकर बहू का मन बिगाड़ती हैं। पुरुष स्त्री में झगड़े करा देती हैं। सास-पूतोह, ननद भौजाई, देवरानी-जेठानी को लड़ा देती हैं। किसी बहू को... घर में सबसे लड़ाकर... भगा ले जाती हैं। ...यह कुटनियाँ बदमाशों से मिली रहती हैं।... प्यारी बेटी! होशियार रहो। ऐसी लुगाइयाँ आकर के बैठें तो उनका काम है इधर उधर की बुरी कहानियाँ कहना। तुम उनसे साफ़ कह दो कि यह बातें बुरी हैं। मुझे इन बातों की फ़ुर्सत नहीं है। *रामायण, महाभारत* की कथा हो तो सुनो भी। ...यही कुटनियाँ खाने-पीने की चीज़ें बाज़ार से लाकर बहू-बेटियों की ज़बान बिगाड़ती हैं। ...इनके सारे काम झूठे होते हैं। लड़ाई एक कराती है, दूसरी मेल कराती, तीसरी टोटके करती, इस तरह कभी-कभी कई-कई कुटनियाँ देखने में अलग-अलग पर असल में मिली-जुली हुआ करती हैं। इनसे बचो।[14]

स्त्रियों के बीच ऐसी विषमता से 'दूसरेपन' की विचारधारा मज़बूत हुई। दो विपरीत ध्रुवों पर खड़ी सवर्ण और दलित स्त्री को बतौर 'सही-ग़लत' और 'अच्छा-बुरा' के ढाँचे में ढालने का प्रयास किया गया। एक अन्य नियमावली *हमारी पारिवारिक व्यवस्था* में बताया गया कि 'दाई' और 'भंगन' विशेष रूप से सवर्ण स्त्रियों को बिगाड़ने के लिए ज़िम्मेवार हैं और उनके कारण कई परिवारों में ईर्ष्या, द्वेष और कलह बढ़ रही है।[15]

चित्र 2 : एक कुटनी का चित्रण



व्यंग्य चित्रावली, इलाहाबाद: चाँद कार्यालय, 1930.

---

[14] रामदास गौड़ (1927) : 222-24.

[15] जगपति चतुर्वेदी (1946) : 68-9.

यह भी लिखा गया कि सवर्ण इलाक़ों में ऐसी ख़तरनाक, 'नीच' और 'भ्रष्ट' स्त्रियों की 'सफ़ाई' कर देनी चाहिए क्योंकि उनसे गंभीर चरित्र स्खलन होने का ख़तरा होता है।[16] एक अन्य नियमावली में सवर्ण स्त्री को चेताया गया :

> नाईन, मनिहारिन, कहारिन – इन स्त्रियों से ज़्यादा सतर्क रहो। इनके द्वारा बड़े-बड़े अनर्थ अब तक हो चुके और हो रहे हैं।... इनकी संगति से तुम्हारे पवित्र मन में पिशाच प्रवेश कर जाएगा।[17]

इस दौर की एक महत्त्वपूर्ण नियमावली थी *स्त्री शिक्षा,* जिसे संयुक्त प्रांत के एक आर्य समाजी ने लिखा और जिस पर बाद में प्रतिबंध भी लगा था। इसमें सवर्ण हिंदू स्त्रियों को काफ़ी बारीकी से मुस्लिम मर्दों और 'मुस्लिम' प्रतीकों और संस्कृति से दूर रहने के विस्तृत निर्देश दिए गए थे।[18] साथ ही, विधवाओं के लिए दिशा-निर्देश वाले अध्याय में उन्हें यह भी चेतावनी दी गई कि 'कहारिन, नाईन, धोबिन, पिसनहारिन, मनिहारिन और भंगन से... मंसूबे गाँठ कर बाहर निकलने का यत्न न करें'।[19] ऐसी चेतावनियाँ धर्मांतरण के डर से भी जुड़ी हुई थीं। पश्चिमी मिशनरी स्त्रियों पर तो काफ़ी कुछ निगरानी रखी जाने लगी थी, लेकिन कुछ निम्न जाति की स्त्रियाँ ईसाई या इस्लाम धर्म ग्रहण कर रही थीं। इसलिए यह डर था कि वे सवर्ण स्त्रियों, विशेषकर विधवाओं को धर्मांतरण के लिए प्रेरित कर सकती हैं। सवर्ण स्त्रियों के साथ निम्न जाति की स्त्रियों के मेल-जोल को आसानी से नियंत्रित नहीं किया जा सकता था, क्योंकि वे कई कामों के लिए सवर्ण घरों के अंदर आती थीं और सवर्ण स्त्रियों से अनौपचारिक बातचीत भी करती थीं। सबसे ज़्यादा डर था कि निम्न जाति की स्त्रियाँ विधवाओं को घर से भाग जाने, धर्मांतरण और पुनर्विवाह के लिए उत्साहित कर सकती हैं (शिव शर्मा 1927; नारायण दत्त शर्मा 1927/1929/1931)। मिशनरी और मुसलमानों के अलावे दलित स्त्रियों को धर्मांतरण कराने वाली एक अदृश्य उत्प्रेरक के रूप में देखा जा रहा था। किसी-किसी लेख में भी यह चेताया गया कि 'भोली-भाली' हिंदू स्त्रियों को चुरिहारिन, पनिहारिन और भंगिन से विशेष सावधान रहना चाहिए क्योंकि वे मेलों, तीर्थ-स्थानों या घरों से स्त्रियों को भड़का कर भगा ले जाती हैं।[20]

ये 'बेशर्म' स्त्रियाँ तथाकथित गुणवान सवर्ण हिंदू स्त्रियों से विपरीत थीं। इन नियमावलियों में दलित स्त्रियों को 'स्त्री' का दर्जा भी नहीं दिया गया; यह दर्जा केवल सवर्ण स्त्री के लिए सुरक्षित था। दलित स्त्रियों का ऐसा चित्रण, जो उनके 'बदबूदार' पेशों से जुड़ा था, वास्तव में पारिवारिकता की संकीर्ण विचारधारा से भी जुड़ा हुआ था जिसमें नारीत्व की अवधारणा को

[16] केशवकुमार ठाकुर (1932) : 70.

[17] रामतेज पाण्डे (1931) : 38; जयदयाल गोयनका (1937) : 21-22; 34.

[18] शिव शर्मा (1927); चारु गुप्ता (2012) : 269-78.

[19] शिव शर्मा (1927) : 12.

[20] एक प्रत्यक्षदर्शी (1930) : 87-9.

श्रम के योगदान और घर में स्त्री श्रम के आर्थिक पहलू जैसे तत्त्वों से पूरी तरह जुदा कर दिया गया था। अभिजात स्त्री के श्रम के भौतिक और सामाजिक पहलुओं की अनदेखी से काफ़ी संख्या में श्रम और उपार्जन करने वाली दलित स्त्रियों के काम को हीन दृष्टि से आँका गया।[21]

इन नियमावलियों में मध्यमवर्गीय स्त्रियों के घर के काम को एक विशिष्ट, पुरस्कृत दर्जा और शिशुपालन को एक ख़ास प्रतिष्ठा दी गई। इसके विपरीत दलित स्त्री को, जो घर के बाहर भी काम करती थी और अपना जीवन विशिष्ट तौर पर पत्नीत्व और मातृत्व के लिए समर्पित करने में असमर्थ थी, कमतर दिखाया गया। यह टिप्पणी की गई कि ये निम्न जाति की स्त्रियाँ, जो अपने घरों के बाहर काम करती हैं, अक्सर दूषित आचरण की होती हैं, अपने बच्चों का भली-भाँति लालन-पालन नहीं करती हैं, अपने पतियों को पूरी तरह प्रसन्न और सुखी नहीं रख सकती हैं और उनके सारे कोमल गुण नष्ट हो जाते हैं; उनके 'नारीपन' और स्त्रीत्व का नाश हो जाता है।[22] यह भी कहा गया कि दलित स्त्रियाँ घरों के बाहर लंबे घंटों तक काम करने के लिए अपने बच्चों को कभी-कभी अफ़ीम खिला देती हैं। इस प्रकार इस साहित्य में स्त्रियों के बारे में दो तरह के साँचे बनाए गए। पहले प्रकार में जो स्त्रियाँ घर से बाहर काम नहीं करने की स्थिति में थीं, उन्हें 'आदर्श' स्त्री बताया गया, जबकि दलित स्त्रियाँ, जिन्हें अपने श्रम के लिए मज़दूरी मिलती थी, उनके शारीरिक श्रम और उसके मूल्य का अवमूल्यन किया गया। सवर्ण और दलित स्त्री के बीच के भेद को अंकित करने के लिए इस साँचे के इस्तेमाल से निजी और सार्वजनिक का विरोधाभास भी परिभाषित, पुनर्परिभाषित और मज़बूत हुआ। दलित स्त्रियों में नारीत्व और सौंदर्य कमतर बताया गया, जोकि उनके यौनिक चरित्र को भी इंगित करता था। दलित स्त्री के शरीर की छलकती और सवालिया यौनिकता के बरअक्स सवर्ण स्त्री के शरीर को शांत और एकांत चित्रित किया जाता है। दलित स्त्रियों को कई बार निर्लज्ज और रंडी क़रार दिया गया।[23]

अंग्रेज़ों के सांस्कृतिक पूर्वाग्रहों से भी इस प्रकार के चित्रण को बढ़ावा मिला। औपनिवेशिक शासन के दौरान भारतीयों के यौनिक व्यवहारों को कई बार 'आवेशी अप्रयोजन', 'अनियमन' और 'दुराचारी' सेक्स के आईने से देखा गया (फिलिपा लेविन 2003)। यह समझ कभी-कभी दलित स्त्रियों की निर्मिति में और भी उभर कर आई। यौनिकता के बारे में मेडिकल इतिहास और सिद्धांत कहीं-कहीं उन शरीरों के साथ गुँथे हुए थे जो दरअसल दलित और स्त्री देह के थे। इन शरीरों को नग्नता और अपेक्षाकृत अधिक काली चमड़ी से जोड़ा गया। यौनिक स्वछंदता को गर्म जलवायु और सार्वजनिक स्थलों में खुले विचरण के साथ भी जोड़ा गया, जिसे दलित स्त्रियाँ प्रतिबिंबित करती थीं। दलित स्त्रियों को कभी-कभी यौनिकता के स्तर पर अनैतिक, आवारा और सुलभ समझा गया, जो खुलेआम व्यभिचार और विवाह से पहले सेक्स के लिए तैयार रहती थीं। उनके नैतिक चरित्र को कमज़ोर और उनकी शादियों को अस्थाई क़रार देते हुए उनपर यह आरोप लगाया गया कि वे बार-बार

---

[21] आचार्य चतुरसेन (1999) : 8-9.

[22] हनुमान प्रसाद पोद्दार (1929); विद्यापति सेठ (1922) : 339-42.

[23] बालकृष्ण वाजपेई (1934) : 76; रुक्मणी देवी (1919) : 28.

विवाह संबंध तोड़ती और छोड़ती हैं। इन सबको उनमें प्रचलित वेश्यावृत्ति और उनकी सहज उपलब्धता से जोड़ा गया।[24] इस प्रकार दलित स्त्रियों के विवाह-पूर्व सेक्स जीवन, विवाह-विच्छेद, विधवापन और सार्वजनिक उपस्थिति की चर्चा करके उन्हें उच्च जाति से अलग अंकित किया गया।[25] प्राच्य लेखनों में 'अशुद्ध' पेशों में संलग्न समूहों को उनकी स्त्रियों की यौनिक उपलब्धता से भी आँका जाता था।[26] विरोधाभासी रूपों में एक ओर दलित स्त्री के शरीर को स्त्रीहीन चित्रित किया गया, तो दूसरी ओर उसे कामुकता से पूर्ण देखा गया। दलित स्त्री का शरीर एक साथ ही अनाकर्षक और लुभावना, वितृष्णापूर्ण और आकर्षक, अस्पृश्य और उपलब्ध, कुरूप और सुंदर, उत्पादक और प्रजनक रूपों में चित्रित किया गया। दलित स्त्रियों के शरीर पर होने वाली रोज़ाना की जाति हिंसा को उनके कथित ओछे चरित्र का नाम देकर अक्सर छिपाया गया।[27] विलियम क्रूक जैसे संवेदनशील अधिकारी ने भी कभी-कभी सवर्णों का नज़रिया अपनाते हुए दलित स्त्रियों के लैंगिक व्यवहारों, विवाह रीतियों और यौनिकता का आकलन किया :

> यह कहने की ज़रूरत नहीं है कि हमारे कोर्ट के रेकॉर्ड राजपूत वर्ग के पुरुषों के साथ निम्न जाति की स्त्रियों के संबंधों के उदाहरणों से भरे हुए हैं, और ग्रामीण समाज के इस निचले तबक़े में इस बात को लेकर तनिक भी नैतिक आग्रह नहीं है। इस प्रकार की चीज़ों का प्रभाव सर्वज्ञात है और इसकी व्याख्या की कोई ज़रूरत नहीं है।[28]

एक अन्य जगह क्रूक लिखते हैं : 'नियम के तौर पर भंगी स्त्रियाँ चरित्रहीन ही होती हैं।'[29] दलित स्त्रियों के चरित्र और शरीर का ऐसा तिरस्कृत सार्वजनिक आकलन कई बार और भी अधिक वृहद इसलिए हो जाता था क्योंकि दलित स्त्रियाँ अधिकतर पुरुषों के साथ-साथ कृषि मज़दूरी में संलग्न थीं। इसलिए एक पुस्तिका में कहा गया :

> यदि मज़दूरिनियों के अंदरूनी जीवन पर आप ज़रा दृष्टि डालें तो आप भी हमारे साथ यही कहेंगे, कि उनमें 100 में 80 स्त्रियों के चरित्र हद दर्जे के ख़राब होते हैं। इन मज़दूरिनों के चरित्र के बारे में सेंसस के सुपरिंटेंडेंट ने लिखा है कि मज़दूरिनों में से बहुत-सी तो सचमुच वेश्याएँ हैं। दुकानों पर बैठने वाली, तरकारी बेचने वाली और पान आदि बेचने वालिओं के बारे में अभी हम कुछ नहीं कह सके हैं जोकि डंके की चोट पर अपना सर्वनाश करती हैं। यहाँ तो 1000 में केवल 2-4 सदाचारी होती हैं।[30]

---

[24] *सेंसस ऑफ़ इंडिया* : पंजाब (1911) : 293-94.

[25] पौलिन कोलेंडा (1987) : 289-356.

[26] सुसन बेली (1999) : 196.

[27] ओलिवर मेंडलसोहन और मारिका विक्जियानी (1998) : 11.

[28] डब्ल्यू क्रूक (1974) [1896] : xxiv.

[29] वही : 291.

[30] रामरख सिंह सहगल (1922) : 77.

उस दौर के आयुर्वेदिक प्रकाशनों में भी कई बार निम्न जातियों को विभिन्न बीमारियों के संभावित वाहक के रूप में देखा गया और सवर्णों को चेतावनी दी गई कि वे उन्हें अपने घरों में ध्यानपूर्वक ही घुसने दें। गृहस्थ जीवन के सुसंस्कृत परिवेश पर ज़ोर देते हुए एक संहिता ने लिखा कि निम्न जाति की स्त्रियों से निकटता घर के माहौल को गंदा, रोग्य और अस्वस्थ बना सकती थी (केशवकुमार ठाकुर 1932)। इस संदर्भ में यह भी ग़ौरतलब है कि कई संहिताओं में सवर्ण स्त्रियों को निम्न जाति की स्त्रियों और घरेलू नौकरों का व्यवहार सुधारने, उन्हें स्वच्छता का पाठ पढ़ाने और सही रास्ते पर लाने की ज़िम्मेवारी दी गई (स्वप्ना बनर्जी 2004)। इस बात को एक व्यापक संदर्भ में देखना होगा, जहाँ कई प्रकार की घरेलू ज़िम्मेदारियों को घरेलू 'अभिशासन' के साथ जोड़ा गया। एक ओर सवर्ण स्त्रियों को अपने बच्चों को शिक्षित करना था, तो दूसरी ओर उन्हें अपने साथ जुड़ी हुई निम्न जाति की स्त्रियों को भी 'सही' व्यवहार और सफ़ाई सिखानी थी। यह तर्क दिया गया कि सवर्ण स्त्रियों की सोहबत में निम्न जाति की स्त्रियाँ साफ़-सफ़ाई और संस्कृति के कुछ गुर सीख सकती हैं। कई संहिताओं में यह निर्देश दिए गए कि अस्पृश्य स्त्रियों और नौकरों के साथ कैसे व्यवहार करना चाहिए और उनसे किस प्रकार काम करवाना चाहिए। सवर्ण स्त्रियों को यह हिदायत दी गई कि वे निम्न जाति की स्त्रियों से पूरा-पूरा काम कराएँ, उनके काम पर लगातार नज़र रखें और जब वे घरों के अंदर आएँ, तो उन पर विशेष नज़र रखें।[31] इस दौर में शिशु पालन और 'उत्तम संतान' से संबंधित साहित्य भी 'संतति शास्त्र' के नाम से बड़ी मात्रा में प्रकाशित हो रहा था।[32] इन ग्रंथों में कई बातों के अलावा यह भी कहा गया कि अगर किसी सवर्ण स्त्री को अपने बच्चे को दूध पिलाने के लिए धाय की ज़रूरत पड़े तो वह हमेशा सवर्ण जाति की ही होनी चाहिए। साथ ही, वह स्वस्थ, पुष्ट, सुडौल, सच्चरित्र, सुशील और नम्र होनी चाहिए।[33] इस प्रकार जाति विशेषताओं को स्तनपान के माध्यम से स्थानांतरित किया गया।

इसके साथ-ही-साथ कभी-कभी सवर्ण पुरुषों और निम्न जातीय स्त्रियों (और सवर्ण स्त्रियों तथा दलित पुरुषों) के बीच संभावित सेक्स संबंधों और आपसी छेड़-छाड़ का भी डर ज़ाहिर किया गया।[34] सवर्ण स्त्रियों को इन 'निम्न' स्त्रियों से सावधान रहने की हिदायत दी गई जो उनके पतियों को रिझा सकती हैं।[35] इसके अलावा, पुरुषों को संबोधित उपदेशात्मक साहित्य में, विशेषकर ब्रह्मचर्य और देश की सेवा के लिए वीर्य संरक्षण से संबंधित संहिताओं में, यौनिक रूप से दबंग निम्न जाति की स्त्री को इंद्रियों के आवेश और अत्यधिक सेक्स का कारण बताया गया (चारु गुप्ता 2012)। उदाहरण के लिए एक संहिता में उल्लेखित है कि वीर्य नुक़सान के बचाव और सेक्स उकसाने वाले विचारों से दूर रहने के लिए सवर्ण पुरुषों को इन

[31] गुप्त 'पागल'(1921) : 83; चन्द्रिकानारायण शर्मा (1938) : 234.

[32] लुजिया सेवेरी (2014) : 381-97.

[33] अयोध्या प्रसाद भार्गव (1923); गणेशदत्त शर्मा गौड़ 'इंद्र' (1928) : 489-91.

[34] हनुमान प्रसाद पोद्दार (1929) : 25.

[35] केशवकुमार ठाकुर (1930) : 105–6.

स्त्रियों से विशेषकर दूर रहना चाहिए : तंबोलिन, मालिन, कुंजरी, भटियारिन, पनिहारिन, धोबिन, नाईन, ग्वालिन और तेलिन।[36]

कभी-कभी, यद्यपि ऐसा बिरले ही होता था, दलित स्त्रियाँ पारंपरिक ज्ञान, दिव्य शक्ति संपन्न बेहतर स्वस्थ शरीर और क्षमता के साथ चित्रित होती थीं। उदाहरण के लिए, पर्दा प्रथा के ऊपर विचार-विमर्श में एक तर्क यह था कि सवर्ण स्त्रियाँ अस्वस्थ होती थीं क्योंकि वे हमेशा अपने को परदे में क़ैद रखती थीं। या, ऊँची जाति की स्त्रियों को घरेलू काम-काज का औचित्य बताने के लिए यह तर्क दिया जाता था कि निम्न जाति की स्त्रियों का स्वास्थ्य बेहतर था क्योंकि वे ज़्यादा शारीरिक श्रम, जैसे कुएँ से पानी निकालना, अनाज पीसना और अन्य घरेलू काम करती थीं।[37] इस प्रकार दलित स्त्री के श्रमिक शरीर का कभी-कभी सुगठित और स्वस्थ शरीर के रूप में रूमानीकरण किया जाता था, जो लगातार कठोर शारीरिक श्रम कर सकता था। निश्चित तौर पर इसकी यह भी व्याख्या की जा सकती है कि यह दलित स्त्रियों के शरीर से और ज़्यादा श्रम कराने और घरों-खेतों में उनके श्रम को ज़्यादा रोपित करने के मक़सद से भी प्रेरित था। अंग्रेज़ों की समझदारी, जो वितृष्णा और आकर्षण की जटिलताओं से भरी थी, इतिहास, यात्रा वृत्तांत और 'वैज्ञानिक' नस्लवाद की पगडंडियों से चलकर दलित स्त्रियों के ऐसे चित्रण को और मज़बूत कर रही थी।[38] यह कहा गया कि दलित स्त्री शारीरिक श्रम के कारण बच्चा जनने के दौरान दर्द नहीं अनुभव करती है। एक नियमावली के अनुसार :

> जहाँ बहुत-सी स्त्रियों को प्रसव-काल में असह्य वेदना होती है वहाँ गाँवों की छोटी जातियों की स्वस्थ स्त्रियों को बच्चा पैदा होने के घंटे-आध घंटे पहले तक खेतों में काम करते देखा गया है। उन्हें प्रसव में कोई कठिनाई नहीं होती और उन्हें दाई की आवश्यकता भी नहीं होती।[39]

स्त्रीवादी विचारकों का मानना है कि दर्द का अनुभव – और इस प्रकार शरीर की मूर्तता – संकट की घड़ी से गुज़र रहे समाज की एक प्रकार की वास्तविकता और निश्चितता का बोध कराती है।[40] सवर्ण स्त्रियों की प्रसव पीड़ा का अनुभव इतना संजीदा और सत्य था कि प्रसव पीड़ा का अनुभव कम या नहीं करने वाली स्त्रियों को कभी-कभी स्वाभाविक रूप से डाईन होने का प्रमाण माना जाता था। ऐसे चित्रणों में ऊँची जाति की स्त्रियाँ 'सहानुभूति' का पात्र होती थीं। दलित स्त्रियों को सक्षम और समर्थ बताते हुए सवर्ण स्त्रियों की सत्ताविहीन और वंचना का शिकार होने की मिथ्या छवि भी प्रचारित की जाती थी। इसके अलावे, ऐसी छवियों के ज़रिये दलित स्त्री को डर और ख़ौफ़ की मूर्ति के रूप में दिखाना ज़्यादा संभव हुआ। दलित

[36] गणेशदत्त शर्मा गौड़ 'इंद्र' (1929) : 10.

[37] *स्त्री समाज* (1929) : 659.

[38] *अबला हितकारक* (1887) : 88.

[39] रामनाथ लाल 'सुमन' (1933) : 264.

[40] ऐलेन स्कारी (1985) : 185-91.

स्त्रियों को अशुभ और डाईन बनाने-मानने का चलन कई बार अफ़वाह से भी शुरू हुआ, जिसमें उन्हें बच्चाखोर के रूप में चित्रित किया गया। उदाहरण के लिए, अगस्त 1924 में कानपुर में अफ़वाह उड़ी कि एक कहारिन को अपने खाने के लिए एक मृत बच्चे को पकाते हुए पकड़ा गया। यह आरोप लगाया गया कि उसने नवजात बच्चे की हत्या की थी। यह भी रिपोर्ट किया गया कि बच्चे के पिता ने इस सारे मामले को अपने हाथों में ले लिया था और 24 अगस्त को शहर के तीन सार्वजनिक स्थलों में से एक में उस डाईन की जीते-जी चमड़ी उतारी जाएगी। इस कारण कई जगहों पर कोई 7000 लोग जमा हो गए। इसी बारे में एक अन्य रिपोर्ट में यह कहा गया कि डाईन को ज़मीन के अंदर कमर तक गाड़ दिया गया और फिर दो पागल कुत्तों ने उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिए। इसी प्रकार की अफ़वाह कोई एक साल पहले लखनऊ में भी उड़ी थी।[41]

इस प्रकार कई बार दलित स्त्री को कुटनी के रूप में चित्रित किया गया – आक्रामक, प्रतिशोधात्मक और डरावनी, जिससे सवर्ण स्त्री और पुरुष को दूर रहना चाहिए। वे सवर्णों की सामंजस्यता के बिखराव की एक सूचक थी। ऐसे नकारात्मक चित्रणों से वर्चस्वशाली सवर्ण संस्कृति से दलित स्त्रियों के अलगाव का लैंगिक कैनवास तैयार हुआ। इस साहित्य से साँचेवादी सोच और व्यवहार की ज़मीन मज़बूत हुई।

चमार दाई का निर्माण और अर्थ

औपनिवेशिक उत्तर भारत में दलित स्त्रियों की सबसे ज़्यादा निंदा दाई के चित्रण के ज़रिए देखी जा सकती है। दाईयों पर काफ़ी संख्या में शोध कार्य हुए हैं। कई अध्ययनों में दर्शाया गया है कि पश्चिमी आधुनिकता और उद्योगीकरण के आगमन के साथ दाईयों द्वारा घरों में बच्चा जनने का काम अस्पताल, मेडिकल सेवा और डॉक्टर से विस्थापित हो गया (ऐन ओकले 1984; बारबरा ऐरेनरेइच और डीर्डे इंग्लिश 1973; चार्लोट जी. बोर्स्ट 1995; जूडिथ डब्ल्यू. लेविट 1986; फ्लोयड रॉबी डेविस और एफ. सार्जेंट कैरोलिन 1997; वेंडी पर्किन्स 1996)। भारत के संदर्भ में भी यह तर्क दिया गया कि उपनिवेशवाद और पश्चिमी मेडिकल व्यवस्था के आगमन से स्वदेशी और पारंपरिक दाईयों के काम पर काफ़ी हमला हुआ।[42] यद्यपि यहाँ पर बच्चा जनने का काम अभी भी ज़्यादातर घरों में और स्त्रियों के हाथों में रहा। लेख के इस हिस्से में मैं यह दिखाना चाहती हूँ कि किस प्रकार दाईयों का बदलता हुआ चित्रण जाति के साथ नज़दीकी से जुड़ा था, किस प्रकार दाई के सवाल पर औपनिवेशिक आवाज़ों की संगति सवर्ण सुधारकों और राष्ट्रवादियों के साथ बैठ रही थी, और किस तरह भर्त्सनाओं

[41] *पुलिस एब्स्ट्रैक्ट्स ऑफ़ इंटेलिजेंस*, यूपी (पीएआई), 6 सितंबर, (1924) : 287.

[42] सेसिलिया वैन होलेन (2003) : 36-56; कल्पना राम और मार्गरेट जॉली (1998); पेट्रीशिया जेफ़री, रोजर जेफ़री और एंड्रू ल्योन (1989); सेंटी रोज़ारियो और सैमुअल जेफ़्री (2002); सुप्रिया गुहा (1998) : 145-61; जेनेट चावला (2006); अंशु मल्होत्रा (2003) : 229-59; गेराल्डिन फोर्ब्स (1994) : 152-72.

के बावजूद दलित दाईयाँ कुछ अधिकारों की माँग करते हुए अपने लिए एक स्वतंत्र क्षेत्र बनाने की कोशिश कर रही थीं और इस प्रकार 'नियंत्रण से बाहर' साबित हो रही थीं।

पूर्व औपनिवेशिक उत्तर भारत में गर्भधारण और प्रसव को एक प्रकार का प्राकृतिक, सहज कृत्य समझा जाता था, जिसकी कमान दाईयों के हाथों में होती थी। प्रसव का काम करने वाली स्त्री को अशुद्ध और प्रदूषित माना जाता था। वे मुख्यतः 'अस्पृश्य', ख़ासकर चमार जाति की स्त्रियाँ होती थीं।[43] वे एक प्रकार से हिंदू धर्म के अंदर और बाहर, दोनों रहती थीं। अंदर, क्योंकि उनका श्रम सामाजिक ढाँचे के निर्वाह के लिए अनिवार्य था। बाहर, क्योंकि उन्हें हिंदुओं के सभी विशेषाधिकारों से वंचित किया गया था।[44] यह पेशा प्रायः वंशानुगत था और इसमें निहित श्रम और कुशलता का स्तर काफ़ी उत्तम था। एक लोक कथन इस प्रकार था : 'चमाइन से पेट न छिपेले'।[45]

दलित दाईयों को आम तौर पर क़िस्तों में भुगतान किया जाता था और उनकी मज़दूरी काफ़ी कम थी।[46] पर 'चमारिन' दाई को आम तौर पर भूस्वामी को जागीरी शुल्क के रूप में साल में आधा रुपया देना पड़ता था।[47] लेकिन साथ ही ऐसी शोषणकारी व्यवस्था के बावजूद इनके कुछ इख़्तियार भी थे। वे गर्भवती स्त्री के साथ बेहद अंतरंग और नज़दीक होकर काम करती थीं, विशेषकर सूतिका गृह और अंतर घर में, और सवर्ण घरों का एक निर्णायक हिस्सा बन जाती थीं। उनका ज्ञान और कौशल अपरिहार्य था और इस कारण उन्हें कई बार असाधारण और अलौकिक जादुई ताक़तों से भी संपन्न समझा जाता था, और कम-से-कम जन्म के समय वे सम्मान और भय की प्रतीक होती थी। उत्तर प्रदेश में अंग्रेज़ी शासन के शुरुआती सालों में कन्या भ्रूणहत्या के मामलों में दाईयों का हाथ देखा गया।[48] साथ ही, उन्हें एक महत्त्वपूर्ण पर अनौपचारिक देशी भेदिए के रूप में भी देखा गया, जो अभिजात घरों के निजीखानों के बारे में ज़रूरी सूचनाएँ दे सकती थीं।[49] उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में, जब औपनिवेशिक शासन जम गया और पश्चिमी, एलोपैथी चिकित्सा प्रणाली का चलन बढ़ गया, तब चिकित्सा विमर्शों में, और वैज्ञानिकों तथा डॉक्टरों द्वारा इन दाईयों को उनके पारंपरिक पेशे से विस्थापित करने की गंभीर कोशिशें शुरू हुईं। इन्हें मंदबुद्धि, अज्ञानी, गंदी, फूहड़ और बेकार चित्रित किया जाने लगा, जो नए तौर-तरीक़े सीखने में असमर्थ थीं।[50] दलित स्त्रियों के प्रसव और गर्भावस्था संबंधी कई व्यवहारों और पद्धतियों पर निगरानी रखने का काम शुरू हुआ।[51] शिशु मृत्यु दर को अकुशल दाई से जोड़ा जाने लगा।[52]

---

[43] जी. डब्ल्यू. ब्रिग्स (1920) : 24-26, 53-54; ई.ए. एच. ब्लंट (1931) : 242; जे. सी. नेसफ़ील्ड (1885) : 22.

[44] लुईस औवेर्कर्क (1945) : 8-9.

[45] सतनाम सिंह (2011) : 195.

[46] एस. सी. चतुर्वेदी (1947) : 16.

[47] ए. टी. ऐटकिनसन (1879); एच. आर. नेविल (1904) : 134-35.

[48] मालविका कस्तूरी (2002); राधिका सिंघा (1998) : 130-37.

[49] सुसन बेली (1996) : 54, 92, 164-65, 177.

[50] गेराल्डिन फ़ोर्ब्स (1994) : 163-68.

[51] सीन लैंग (2005) : 357–78.

बीसवीं शताब्दी के शुरुआती दौर में उत्तर भारत में हिंदुओं के जागरूक मध्यवर्गीय सुधारकों और राष्ट्रवादियों के साहित्य में भी दाई की निंदा प्रकट होने लगी। यह बार-बार ज़िक्र किया गया कि गर्भावस्था के दौरान सवर्ण हिंदू स्त्रियाँ पूरी तरह से दाई के रहमो-करम पर रहती हैं, जबकि इन दाईयों को कोई नियमित प्रशिक्षण नहीं मिला होता और उनकी आदतें बेहद गंदी होती हैं (केशवकुमार ठाकुर, 1932)। प्रसिद्ध *चाँद* पत्रिका के एक लंबे लेख में 'नैतिक और लैंगिक रूप से प्रदूषित' दाई को प्रगतिशील भारत में गंदी, भयावह और ख़तरनाक डाईन के रूप में चित्रित करने की कोशिश की गई, जिनका शरीर 'रोग और कीटाणु' से भरा होता है; वह 'चुड़ैल' जैसी दिखती है, उसके 'बाल जुओं से भरे' होते हैं, 'हाथ गंदे होते हैं' और उसके 'लंबे नाखूनों से कई बार जच्चा के मांस के चीथड़े-चीथड़े हो जाते हैं'।[53] *चाँद* के ही एक अन्य अंक में एक रंगीन तस्वीर छपी, जिसका शीर्षक था 'हमारी दाईयाँ'। यह चित्र न केवल उन्हें पूर्वाग्रहग्रस्त साँचे में रखता था, बल्कि उन्हें स्पष्ट तौर पर अपराधी नज़र से देखता था। चित्र के नीचे एक संदेश द्वारा पाठकों को संप्रेषित करने का भी यही मक़सद था।

चित्र 3 : हमारी दाइयाँ



चाँद, दिसंबर 1924, 144-45 पृष्ठों के बीच.

निम्न जाति की दाईयों के (कु)चित्रण के साथ जाति का विमर्श और आधुनिकता, सभ्यता और संस्कृतीकरण का तर्क भी जुड़ गया। यह सत्ता और ज्ञान की बदलती हुई परिभाषाओं के साथ लिंग, जाति और वर्ग की श्रेणीबद्धता को मज़बूत करने की कोशिश थी। इसमें वर्चस्वशाली

[52] *सेंसस ऑफ़ इंडिया* (1911)', (1912) : 193; *सेंसस ऑफ़ इंडिया* (1921) (1923) : 87; एम. आई. बालफोर और रूथ यंग (1929) : 126.

[53] भवानीदयाल संन्यासी (1928) : 650-55.

जातियों द्वारा निर्मित, प्रचारित और आरोपित जटिल सामाजिक और सांस्कृतिक विश्वासों की भी भूमिका थी। इन चित्रणों की दलित स्त्रियों के पूर्व की छवियों से भी एक निरंतरता थी, पर अब इन्हें विज्ञान और संस्कृतीकरण की भाषा से ज़्यादा मज़बूती मिली।

औपनिवेशिक और सुधारवादी साहित्य में दाई की तीखी आलोचना के रास्ते प्रसव की दुनिया में, जहाँ अब तक दाई का ज़ोर था, अभिजात हस्तक्षेप को सही ठहराया गया। दोनों धाराओं में दाईयों में पेशेवरता की ज़रूरत पर ज़ोर दिया गया जिसके दो पहलू थे – एक तो निम्न जातीय परंपरागत पेशारत दाईयों को हाशिये पर डालना, और दूसरा देशी दाईयों को आधुनिक मानकीकृत तौर-तरीक़ों में प्रशिक्षित और अनुशासित करना।[54] भारत में 1885 में काउंटेस ऑफ़ डफ़रीन फ़ंड की स्थापना की गई, जिसका एक उद्देश्य अस्पतालों और घरों के लिए नर्सों और दाईयों को प्रशिक्षित करना था। उत्तर प्रदेश सरकार ने स्त्रियों और बच्चों की सुरक्षा के नाम पर कई नियम लागू किए जो काफ़ी विस्तृत थे।[55] उत्तर प्रदेश में 1933 में 'नर्सेज़, मिडवाइव्स, असिस्टेंट मिडवाइव्स ऐंड हेल्थ विज़िटर्स रेगुलेशन बिल' प्रस्तावित किया गया।[56] इस अधिनियम में 'दाई' का मतलब था, वह व्यक्ति जो मेडिकल काउंसिल द्वारा मान्यता प्राप्त हो या सरकार द्वारा पंजीकृत संस्था से दाई पेशे में डिप्लोमाधारी हो। उत्तर प्रदेश विधान सभा ने अंततः 20 फ़रवरी, 1934 को यह अधिनियम पारित कर दिया।[57]

नए राष्ट्रवादी हिंदू अभिजात वर्ग और सुधारकों ने ऐसी कार्यवाहियों का समर्थन किया और उसे अंगीकार भी किया। *स्त्री दर्पण* में छपे एक लेख 'अच्छी दाईयों की आवश्यकता' में दाई के पेशे में 'सम्मानीय', शिक्षित स्त्रियों, ख़ासकर 'अच्छे' परिवारों की विधवाओं के प्रवेश की ज़रूरत पर ज़ोर दिया गया।[58] लेख में यह भी कहा गया कि इन 'अच्छे' घरों की स्त्रियों को नगरपालिका, मेडिकल कॉलेज और सरकारी अस्पताल के ज़रिए, जिन्हें समुचित लाइसेंस मिला हो, बाज़ाब्ता औपचारिक प्रशिक्षण लेना चाहिए। ऑल इंडिया वीमेंस कॉन्फ्रेंस के 1934 के प्रस्ताव में सभी दाईयों के अनिवार्य पंजीकरण के लिए एक अधिनियम की माँग की गई।[59] बीसवीं शताब्दी की शुरुआत तक कुछ शहरी मध्यवर्गीय परिवार पेशेवर स्त्री डॉक्टर और प्रशिक्षित दाईयों की सेवाएँ लेने लगे थे।[60] लेकिन यह मुख्यतः उत्तर प्रदेश के बड़े शहरों

[54] *रिव्यू : रिपोर्ट ऑफ़ द रॉयल कमिशन ऑन लेबर इन इंडिया*, (1931) : 54; एम. आई. बालफोर और रूथ यंग (1929) : 38; प्रताप सिंह (1936) : 330.

[55] फ़ाइल 68-69/1900, जून, मेडिकल, ए, होम डिपार्टमेंट, नैशनल आर्काइव्स ऑफ़ इंडिया.

[56] फ़ाइल 25-26/1919, अक्टूबर, लेजिस्लेटिव डिपार्टमेंट, नैशनल आर्काइव्स ऑफ़ इंडिया, साथ ही देखें फ़ाइल 1248/19333, जुडीशियल, होम डिपार्टमेंट, नैशनल आर्काइव्स ऑफ़ इंडिया.

[57] *प्रोसीडिंग्स ऑफ़ यू. पी. लेजिस्लेटिव काउंसिल* (1934), 20 फ़रवरी; फ़ाइल 124-II /1934, पब्लिकेशन, लेजिस्लेटिव डिपार्टमेंट, नैशनल आर्काइव्स ऑफ़ इंडिया.

[58] प्रसादीलाल झा (1923) : 476-78; बासुदेव शर्मा (1916) : 182.

[59] ए. आई. डब्ल्यू. सी (1934) : 150; गेराल्डिन फोर्ब्स (1994) : 169-71.

[60] गेराल्डिन फोर्ब्स (1994) : 169-71.

में केंद्रित था। एक अच्छी अंग्रेज़ी प्रशिक्षित प्रसव करवाने वाली नर्स को सरल प्रसव के लिए रोजाना 8 से 9 रुपये का शुल्क देना पड़ता था। इसके अलावा, अन्य ख़र्चे, जैसे धोबी और आवागमन इत्यादि भी होते थे। इसके अलावे प्रशिक्षित दाई प्रसव से पहले कई तरह की तैयारियों की माँग करती थी और वह एक पारंपरिक दाई की तरह कई प्रकार के घरेलू काम नहीं करती थी।[61] शहरी क्षेत्रों की ग़रीब स्त्रियाँ और महिला औद्योगिक मज़दूर भी देशी पारंपरिक दाई ही रखना चाहती थीं क्योंकि वे उनके तौर-तरीक़े समझती थीं और 'बहुत ज़्यादा स्वच्छता की भी चिंता नहीं करती थीं'।[62] दाईयाँ प्रशिक्षण और पंजीकरण की मुखर विरोधी थीं।[63]

साथ-ही-साथ, दाईयाँ प्रसव के लिए उनके श्रम पर निर्भरता के महत्त्व का अहसास करते हुए, अपने वजूद की आवाज़ भी उठाने लगीं – उन्होंने नग़द में भुगतान और अपनी सेवाओं के लिए फ़ीस की माँग उठाई।[64] दलित संगठनों और एसोसिएशनों ने दाईयों के सवाल पर दो प्रकार की प्रतिक्रियाएँ व्यक्त कीं। कुछ ने, ख़ासकर जिन्होंने आर्थिक बेहतरी हासिल कर ली थी, यह प्रस्ताव पारित किया कि उनकी स्त्रियाँ दाई का कमतर और निम्न चिन्हित काम करना बंद करें।[65] दाईयाँ नग़द भुगतान की माँग कर रही थीं, हर रोज़ 1.40 रुपये से कम नहीं तथा प्रसव के दौरान बच्चे की नाल काटने के लिए 5 रुपये से कम नहीं मिलना चाहिए। यह जानकारी भी मिलती है कि इस क्षेत्र में एक 'चमार' दाई ने प्रसव कराने से मना कर दिया, जब तक उसे 5 रुपये नहीं मिल जाते।[66] बीसवीं शताब्दी के शुरुआती दशकों में राज्य के अन्य क्षेत्रों से भी ऐसी 'शिकायतें' मिल रही थीं कि जब तक चमार दाईयों को अच्छा भुगतान नहीं दिया जाए, उनकी प्रसव संबंधी सेवाएँ अब आसानी से उपलब्ध नहीं होती हैं। चमार स्त्रियों के लिए दाईगिरी तुलनात्मक रूप में शायद एक लाभकारी पेशा था और इस दौर में उनकी मज़दूरी में कुछ इज़ाफ़ा हुआ।

भारत में उन्नीसवीं शताब्दी के अंत और बीसवीं शताब्दी की शुरुआत में प्रकाशित होने वाले उपदेशात्मक साहित्य की तर्ज़ पर इस दौर में दलित दाईयों की छवि को और भी मलिन किया गया। लेकिन साथ-ही-साथ दलित दाईयाँ एक सक्रिय किरदार भी थीं, जो तत्कालीन स्थिति का लाभ लेने की भी कोशिश कर रही थीं और इस दौर में आम तौर पर दलितों के विकसित हो रहे आंदोलनों और विरोधों से भी ताक़त अर्जित कर रही थीं। दलित दाईयों की निरंतर निंदा और निगरानी में मुश्किलें पड़ रही थीं।

---

[61] ई. एच. व्याट (1918) : 5-28.

[62] एम. आई. बालफोर (1932) : 12.

[63] *सेंसस* (1911) : 199; एम. आई. बालफोर और रूथ यंग (1929) : 130-35; एम. आई. बालफोर (1916): 19.

[64] जी. डब्ल्यू ब्रिग्स (1920) : 54, 65.

[65] *पुलिस आब्स्ट्रॅक्ट्स ऑफ़ इंटेलिजेंस*, पी. ए. आई, 9 अक्टूबर, (1926) : 544; पी. ए. आई. 20 मई (1922) : 880.

[66] पी. ए. आई, 7 अगस्त, (1926) : 417.

हिंदी प्रिंट, सवर्ण सुधारवादी और दलित स्त्री

अब तक हमने देखा कि उपदेशात्मक हिंदी लेखन में प्रायः दलित स्त्री की एक नकारात्मक छवि प्रस्तुत की गई — एक कुलटा और कुटनी के रूप में। लेकिन इसके साथ ही हिंदी सुधारवादी लेखन में दलित स्त्री की एक और छवि भी निर्मित की जा रही थी। यह पीड़िता, अधीनस्थ और अत्याचार बर्दाश्त करने वाली मौन छवि थी, जो सहानुभूति की पात्र थी।[67] सवर्ण सुधारवादी विमर्श, बिंब और भाषावली में वर्णित इस चित्रण में चुपचाप दुःख झेलने वाली दलित स्त्री छवि को आदर्श बनाया गया।

बीसवीं सदी की शुरुआत में गांधी और आंबेडकर जैसे अग्रणी व्यक्तियों के उदय के साथ-साथ, हिंदू सुधारवादी और राष्ट्रवादी लेखनों में जाति और ख़ासकर 'अछूतों' का वर्णन एक व्यापक विषय बन गया। इन लेखनों में आम तौर पर अछूतों को पुरुष के रूप में ही दिखाया गया। फिर भी, अछूत स्त्रियाँ कई-कई प्रकार से चित्रित होना शुरू हुईं। उपदेशात्मक नियमावलियों में जिस प्रकार सवर्ण और दलित स्त्रियों के बीच विभेद की जो गहरी खाई खींची जा रही थी, उससे कई सुधारवादी और राष्ट्रवादी असहमत हो रहे थे, क्योंकि वे 'अछूतों' को एक गर्वित हिंदू समुदाय और राष्ट्र के भीतर पुनर्वासित करने के गंभीर प्रयास भी कर रहे थे। साथ-ही-साथ धर्मांतरणों और दलितों के बढ़ते विरोध तथा जुझारूपन को लेकर भी चिंताएँ थीं। इन कई कारणों ने सवर्ण सुधारकों को सतर्कता और तत्परता के साथ जवाब देने के लिए मजबूर किया। इस संदर्भ में अछूत स्त्री का एक 'पीड़िता' के रूप में चित्रण विशेष रूप से उनके लिए काफ़ी संगत साबित हुआ।

प्रगतिशील, सवर्ण लेखन, जैसे प्रेमचंद की कहानियों में दलित स्त्रियों के लिए सहानुभूति जताने का प्रयास किया गया, जहाँ दलित स्त्रियाँ जातिगत शोषण, बेरोज़गारी, ग़रीबी, अपमान और बहिष्कार की शिकार बनकर उभरीं। पर सहानुभूति की भाषा और बिंब में अक्सर कई पूर्वधारणाएँ और विरोधाभास भी निहित थे। दलित स्त्रियाँ यहाँ आमतौर पर मूक शोषिता और 'अच्छी' आज्ञाकारिणी के रूप में नज़र आती थीं। उनकी जीवन स्थिति में 'सुधार' की भाषा आरोपित की गई थी। सुधारवादी विमर्श मौक़ा-ए-ज़मीन पर उभर रहे तनावों के संदर्भ में काफ़ी सीमित, विरोधाभासी और अस्पष्ट दीख रहे थे। जैसा कि मैंने पहले कहा, औपनिवेशिक भारत में अछूत की प्रायः एक पुरुष के रूप में अधिक कल्पना की गई।

सवर्ण और दलित : संबंध और खिंचाव

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के उत्तर प्रदेश में जातिगत असमानताएँ हिंदी लोकप्रिय लेखन – पुस्तिकाओं, पत्रिकाओं और समाचारपत्रों – में चर्चा का विषय बन गईं। अछूतों पर उपन्यास,

[67] उदाहरण के लिए: चाँद पत्रिका का 'अछूत अंक' (1927).

नाटक और कहानियाँ भी लिखी जाने लगीं।[68] विमर्श के कई मुद्दे थे – अछूत हमसे 'भिन्न' हैं या 'समान' हैं; उनसे सहानुभूति बरती जाए या उनका विरोध किया जाए; उन्हें रिझाया जाए या अपने से दूर किया जाए। इस विषय में सनातनी हिंदू पंडितों और आर्य समाज के बीच तीखे मतभेद थे : सनातनी हिंदू सवर्णों और दलितों में बुनियादी भेद बरतने के मुखर हिमायती थे, तो आर्य समाजी जाति विभेदों को पाटकर एक व्यापक हिंदू एकता पर ज़ोर दे रहे थे। पर दोनों धड़ों में एक मुद्दे पर अनायास ही सहमति बन रही थी : वह था धर्मांतरण का डर और कथित रूप से हिंदू संख्या में गिरावट की समझ। दोनों के ही विचारों में दलितों को लेकर कई असंगतियाँ भी थीं।

सवर्ण सुधारवादियों द्वारा खींची गई तस्वीरों ने दलितों के बारे में वर्चस्वशाली विचारों, मान्यताओं और प्रवृत्तियों को आकार देने में एक प्राथमिक भूमिका निभाई। यह एक प्रकार का अप्रत्यक्ष जातिवाद था लेकिन इस प्रकार के छवि निर्माण को केवल 'कपटी' और 'पाखंडी' कहकर ख़ारिज नहीं किया जा सकता है। इस चर्चा में अंतर्निहित चुनौती यह भी थी कि कैसे दलितों के चित्रण को प्रदूषित और लांछित से परिवर्तित करके एक पीड़ित हिंदू की छवि में ढाला जाए। यह एक प्रकार से 'अस्पृश्यता' को पुनर्भाषित करने की चुनौती भी थी। हिंदू सुधारवादी, विशेष तौर पर आर्य समाजी, इस दौर के दलित आंदोलनों और दावों के बरअक्स भी अभिव्यक्ति कर रहे थे, जिसने उन्हें एक मानवीय भाषा अपनाने के लिए मजबूर किया।[69] सुधारवादियों के इन प्रयासों को हिंदी साहित्य के एक उल्लेखनीय हिस्से से भी मदद मिली जो अपनी भाषा में लेखन करते हुए और अपनी सीमाओं में, आंशिक रूप से अछूतों के अतीत और पारंपरिक चित्रण पर सवाल उठा रहे थे। वे दलितों के प्रति क्रूरता और दमन की भर्त्सना कर रहे थे, जो प्रायः मौन स्वीकार्य और निर्विवाद रूप से चला आ रहा था (शिवकुमार शास्त्री 1916)। सुधारवादियों ने अछूतों के लिए सहानुभूति पैदा की और उन्हें अभिजात्य जातियों के सदियों के शोषण के शिकार के रूप में चित्रित किया। यह एक ऐसा मिलन बिंदु था जिस पर राष्ट्रवादी और हिंदू सवर्णों के धार्मिक-सामाजिक व्यवहारों की आलोचना करने वाले सुधारवादी, ख़ासकर आर्य समाजी, एक साथ खड़े होते थे। इस संदर्भ में सुधारवादियों के एक तबक़े द्वारा ब्राह्मणों पर सांस्कृतिक हमला बोला गया और ब्राह्मण पुजारी और पंडित को 'अछूत' के बरअक्स दुष्ट और बदमाश घोषित किया गया (आचार्य चतुरसेन, 1930)। (चित्र 4, 5, 6, 7)

[68] उदाहरण के लिए, ये उपन्यास देखें: पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', *बुधुआ की बेटी*; सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', *कुल्ली भाट* और *चतुरी चमार*; प्रेमचंद, *प्रेमाश्रम, रंगभूमि* और *गोदान*. इन पर चर्चा के लिए देखें: मेघवाल (1989); उपाध्याय (2002) : 51-79); इसके अलावा, कई लेखकों ने, जो इतने जाने-माने नहीं थे, 'अछूतों' पर निबंध और नाटक लिखे. उदाहरण के लिए देखें : आनंदी प्रसाद श्रीवास्तव (1928); रामेश्वरी प्रसाद 'राम' (1926); पुरुषोत्तम दास गौड़ 'कोमल' (1934); नंदलाल जायसवार 'वियोगी' (1943).

[69] रामनारायण रावत (2012) : 136-44.

चित्र 4 और 5

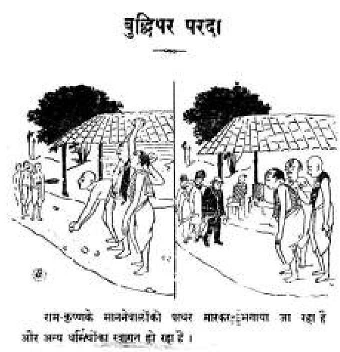




बैजनाथ केडिया, व्यंग चित्रावली, कलकत्ता : हिंदी पुस्तक एजेंसी, 1933 : 35; चाँद, मई 1927 : 77.

चित्र 6 और 7

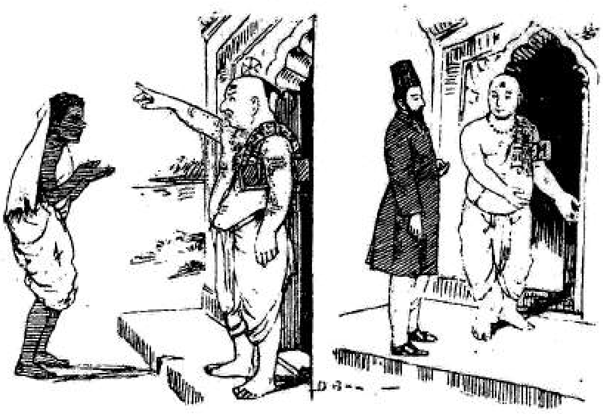




चाँद, मई 1927 : 133; केडिया, व्यंग चित्रावली : 33.

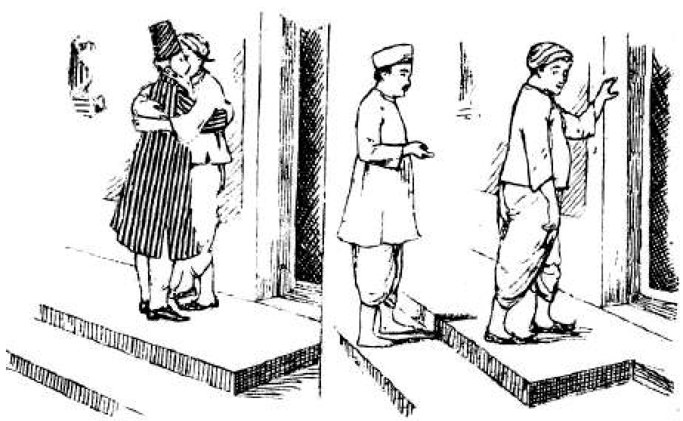
ब्राह्मण पुजारी पर पैरोडी और व्यंग्य को अक्सर एक अलग तरह की ऊँच-नीच की परिकल्पना के साथ जोड़ा गया जिसमें अछूतों को मुसलमानों की तुलना में बहुत बेहतर दिखाया गया। इस प्रकार ब्राह्मणों की विशेष रूप से इस बात के लिए आलोचना की गई कि वे मुसलमानों को मंदिरों और घरों में प्रवेश करने की अनुमति देते हैं, पर 'हमारे अपने अछूत' भाइयों को नकार देते हैं। (चित्र 8 और 9)

चित्र 8 और 9



शूद्रों के दर्शन करने से, प्रभु का होता है उपहास !
दूर-दूर चाण्डाल ! धर्म का, हो जावेगा सत्यानास !!

आवें मौलाना साहब, हाँ, जूता पहने ही आवें !
बड़े भाग्य हैं शिवजी के, जो चरणों के दरशन पावें !!



गले मिल रहे मुल्ला जी से, कहते हैं, रह दूर अछूत !
चढ़ा हुआ है हम पर कैसा, भारी भेद-भाव का भूत !!

चाँद, मई 1927 : 61; *व्यंग चित्रावली*, इलाहाबाद : 1930.

इसके साथ ही, सुधारवादियों और राष्ट्रवादियों ने अछूतों को अपने साथ लाने, उनका विश्वास हासिल करने और उन्हें 'सुधारने' के व्यापक और गंभीर प्रयास शुरू किए, जिसमें 'उनका ध्यान रखना, उन्हें सही रास्ता दिखाना और नियंत्रित करना', आदि शामिल थे। मंदिर प्रवेश, सह भोज, त्योहार, विवाह और कुएँ इसके लिए महत्त्वपूर्ण स्थल बन गए।[70] अग्रणी

[70] फ़ाइल एम-3, हिंदू *महासभा पेपर्स, जनरल करेस्पॉन्डेन्स*, नेहरू मेमोरियल म्यूज़ियम ऐंड लाइब्रेरी (एन एम एम एल); फ़ाइल 22, *बाबा रामचंद्र पेपर्स*, एन.एम. एम. एल; फ़ाइल 10/1922, *ए आई सी सी पेपर्स*, एन.एम. एम. एल; संपादकीय, 'पाप की ग्रंथियाँ', (1927) : 2-6; 'समाचार संग्रह' (1927) : 188-92; गंगा प्रसाद उपाध्याय (1916) : 38; दयाशंकर दुबे (1925):

आर्य समाजी स्वामी श्रद्धानंद ने हिंदू महासभा को प्रस्ताव दिया कि पिछड़े वर्गों को सामान्य सार्वजनिक कुओं से पानी खींचने की अनुमति दी जाए; सवर्ण हिंदुओं के समान अछूतों को सार्वजनिक पेयजल स्थलों से निःशुल्क पीने का पानी दिया जाए; अछूत जातियों के सभी सदस्यों को सार्वजनिक सभाओं और अन्य समारोहों में अन्य जातियों के साथ एक ही कालीन पर बैठने की अनुमति दी जाए; और अछूतों के बच्चों को सरकारी, राष्ट्रीय और धार्मिक शिक्षा संस्थानों में हिंदू और ग़ैर-हिंदू बच्चों की तरह आज़ादी से प्रवेश करने और अध्ययन के समय सबके साथ बैठने की सुविधा दी जाए।[71]

जून 1922 में बुलंदशहर में चमारों द्वारा आयोजित एक सहभोज में स्वामी विश्वानंद गए।[72] 1928 में होली के दौरान, आर्य समाज ने पीलीभीत में अछूतों की एक बैठक की और उपस्थित मेहतरों को मिठाई बाँटने का मौक़ा दिया।[73] अलीगढ़ और बनारस में होली के दौरान सार्वजनिक जुलूसों में अछूतों के भाग लेने की ख़बरें आईं।[74] मुरादाबाद में कुछ आर्य समाजियों ने चमारों को अपने कुओं से पानी खींचने की अनुमति दी और उनके बर्तनों से पानी भी पिया।[75] 1924 में इलाहाबाद में अर्ध कुंभ मेले के अवसर पर हिंदू महासभा कुछ भंगियों और डोमों को संगम में स्नान कराने ले गई और स्नान के बाद उनके फ़ोटो भी प्रसारित किए।[76] इस बात पर ज़ोर दिया गया कि सवर्ण कभी भी दलितों से घृणा नहीं कर सकते और यही कारण है कि उन्होंने 'दलितों के होली के त्योहार को पूरी तरह से अपनाया है'।[77] मुरादाबाद में होली के दौरान कॉन्ग्रेस सदस्यों ने चमारों के साथ चिलम लगाया।[78] दलितों को विशेष रूप से मुस्लिमों के बरअक्स लुभाने की कोशिशें हुईं। उदाहरण के लिए, पीलीभीत में स्थानीय आर्य समाजियों ने मेहतरों के विवाह समारोह में भाग लिया। उन्होंने भाषण दिया कि भंगी वास्तव में बाल्मीकि मुनि के वंशज थे जिन्हें मुसलमानों की विजय के बाद भंगी बनने के लिए मजबूर किया गया![79] सहारनपुर में 18 मई, 1923 को एक कुएँ में एक ढोल रखा गया और उसे 'चमारों के लिए हिंदू ढोल' का नाम दिया गया, जिससे मुसलमान नाराज़ हुए।[80]

सुधारवादी पत्रिकाओं ने कार्टून प्रकाशित किए, जिसमें दावा किया गया कि सवर्ण हिंदुओं और अछूतों के बीच सापेक्ष समानता हासिल की गई है। उदाहरण के लिए कैसे दोनों एक ही

146-53.

[71] जे. टी. एफ़. जॉर्डन (1981) : 137.

[72] (पी.ए. आई.), 1 जुलाई, (1922) : 1087.

[73] पी.ए.आई., 31 मार्च, (1928) : 124.

[74] 'सार्वजनिक जुलूसों में अछूत', *चाँद*, मई (1927): 189.

[75] पी.ए.आई., 21 अप्रैल, (1923) : 265.

[76] पी.ए.आई., 23 फ़रवरी, (1924) : 75.

[77] *चाँद* (1926) : 36.

[78] पी.ए.आई., 25 मार्च, (1922) : 597.

[79] पी.ए.आई., 26 मई, (1928) : 193.

[80] पी.ए.आई., 26 मई, (1923) : 309.

चित्र 10 और 11





केडिया, *व्यंग चित्रावली* : 34 ; *स्त्री दर्पण,* अगस्त 1924 : 453.

नदी तट पर स्नान कर रहे हैं और साथ-साथ एक ही कुएँ से पानी खींच रहे हैं। (चित्र 10 और 11) सुधारवादी साहित्य में नए सार्वजनिक स्थलों जैसे रेलवे स्टेशन, प्लेटफ़ॉर्म, जेल, रेस्तराँ, संपादकीय कक्ष और प्रकाशन गृह को समानता लाने वाले महत्त्वपूर्ण पड़ाव के रूप में देखा गया, जहाँ ब्राह्मण और भंगी एक ही बेंच पर बैठते हैं और एक ही नल से पानी पीते हैं (चित्र 12)। जाति की दूरियों को पाटने के लिए सहभोज की भी प्रशंसा की गई (चित्र 13)।[81]

सभी हिंदुओं की समानता का दावा करते हुए एक लेख में कहा गया है कि विभिन्न वर्ण एक हाथ की पाँच उंगलियों की तरह हैं जिन्हें एक साथ मिलाकर कोई भी काम कुशलतापूर्वक कर सकते हैं।[82] एक और तर्क दिया गया :

> ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, गाय, भैंस और वृक्ष की तरह, कोई अलग-अलग जातियाँ नहीं हैं। इन प्राचीन संस्कृत नामों को यदि हम आजकल की भाषा में कहें, तो इनका नाम अध्यापक, सिपाही, व्यापारी और मज़दूर होगा। ये सब भाई हैं, एक ही जाति के हैं। इनको जाति-पाँति के छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँटकर हिंदू-समाज का सत्यानाश न कीजिए।[83]

ऐसे विचारों और चित्रों में अस्पृश्यता की आलोचना तो की गई, लेकिन साथ ही कई प्रकार के व्यावसायिक भेद और दूरियाँ भी सायास बनाए रखी गईं। कई और अंतर्विरोध भी सामने आए। उदाहरण के लिए, दलितों के प्रति सहानुभूति की भाषा कृपा से भरी थी जिसमें दलितों को

---

[81] उदाहरण के लिए देखें : हीरालाल (1927) : 73.

[82] *अभ्युदय*, 21 नवंबर, (1925) : 6.

[83] संतराम (1927) : 222.

चित्र 12 और 13

पानीकी प्यास



गाड़ी छूटनेमें दो मिनटकी देरी है, पंडितजी और घिसुवा साथ-ही-साथ नलसे पानी ले रहे हैं ।



केडिया, *व्यंग चित्रावली*: 34 ; *चाँद,* मई 1927: कवर के पीछे की तस्वीर.

प्रदूषित, मलिन और मूल्यविहीन के रूप में दिखाया गया। *चाँद* पत्रिका में लिखा गया :

> शताब्दियों के निरंतर अभ्यास ने उनमें [अछूतों में] – स्त्री-पुरुष दोनों में बहुत से ऐसे बुरे स्वभाव उत्पन्न कर दिए हैं, जिनके कारण शिष्ट-मंडल के अनेक सभ्य उनके प्रति एकांत सहानुभूति रखते हुए भी उनसे निःसंकोच संसर्ग रखने में संकोच का बोध करते हैं।... उदाहरण के लिए हम एक ही बात पाठक-पाठिकाओं के सम्मुख समुपस्थित करते हैं। वह है व्यक्तिगत स्वच्छता की ओर से उनकी एकांत उदासीनता। वे महीनों तक स्नान नहीं करते हैं; उनके

> केश-वन जुओं के विहार-स्थल होते हैं। उनके वस्त्र संचित मैल के कोष होते हैं और उनके दाँतों पर तो कदाचित आध-इंच मोटी मैल जमी रहती है। गंदगी उनकी नस-नस में प्रवृष्ट हो गई है; यों कहिए कि अस्वच्छता को उन्होंने अपनी चिर-सहचरी बना लिया है।[84]

साथ-ही-साथ, इसमें सवर्ण जातियों के वर्चस्व की सोच भी निहित थी जो कई संवेदनशील मुद्दों पर लागू होती थी। सवर्ण जातियों की सामाजिक प्रथाओं और व्यवहारों के 'विशिष्ट गुणों' पर ज़ोर देते हुए कहा गया कि अछूतों को उन्हें समझना और अपनाना चाहिए। सुधारवादियों का मानना था कि अछूत उच्चतर सभ्यता और संस्कृति में तभी प्रवेश कर सकते हैं जब उन्हें कुछ 'बुराइयों' से मुक्त कराया जाए और कुछ ख़ास सवर्ण तौर-तरीक़ों में ढाला जाए। जैसे, उन्हें गोमांस खाने और मदिरा सेवन से रोका जाए, उन्हें शाकाहारी बनाया जाए, उन्हें स्वच्छता, स्वास्थ्य और परिष्कृत धार्मिक व्यवहारों में प्रशिक्षित किया जाए।[85]

प्रदूषण और अस्पृश्यता से मुक्ति दिलाने के विमर्श में स्वच्छता एक प्रमुख मानदंड बन गया।[86] स्वच्छता और स्वास्थ्य को प्रायः उच्च-जाति और मध्यम-वर्ग के मूल्यों के प्रतीक के रूप में देखा गया, और उन्हें आक्रामक रूप से निचली जातियों के लिए परोसा गया, जिसमें दलितों के सामने प्रस्तुत गहरी संरचनात्मक, पेशागत और भौतिक बाधाओं की कोई आलोचना नहीं होती थी। हिंदू महासभा ने उच्च जातियों को निचली जातियों को मुफ़्त साबुन वितरित करने और उपहार देने का आग्रह किया।[87] एक सुधारक ने कहा :

> जो साफ़ व सुथरे हो तो होगी किसे घृणा।
> ख़ुश्बू से महक जाएगी तेरी दिशा दसों।।[88]

हरिजन सेवक संघ द्वारा प्रकाशित एक कविता में दलितों के खान-पान और मद्य सेवन की आदतों में बदलाव की ज़ोरदार हिमायत की गई :

> मांस खाना बिल्कुल छोड़ो, इसमें सब कल्याण है।
> गौ न बेचो हाथ कसाई, यही धर्म सिखलाता है।
> शराब पीना हराम समझो, ताड़ी-ताड़ कटाना है,
> भांग-चरस की बिक्री रोको, इनसे तो बच जाना है।

---

[84] संपादकीय, 'शिक्षा और कुसंस्कार' (1927) : 11-12.

[85] देखें *चाँद*, जनवरी (1932) : 387; *अभ्युदय*, 21 नवंबर, (1925) : 5; *द इंडियन सोशल रिफ़ॉर्मर*, 28 जनवरी, (1933): 341.

[86] 'हिंदू समाज की उन्नति के साधन', *चाँद*, अगस्त (1926) : 386-7; 'दलितोद्धार सम्मेलन', *चाँद*, मार्च, (1930) : 874-5; 'समाज सुधार', *सुधा*, जनवरी (1930): 699-707.

[87] फ़ाइल 52/1939, *बी. एस. मूंजे पेपर्स जनरल करेस्पॉन्डेन्स*, एन. एम. एम.एल.

[88] प्रसाद सिंह संत (1933) : 10.

हुक्के कि अब रसम मिटा दो, गर हिंदू कहलाना है।[89]

इस क्षेत्र में सुधारवादियों की उपलब्धियों का गौरव गान करते हुए कहा गया :

> पिछड़े वर्ग देखेंगे कि वे अब एक ऐसे ऐतिहासिक दौर से गुज़र रहे हैं, जब वे हिंदू रीति-रिवाजों को समझ और अपना रहे हैं... वे लोग अब स्नान करते हैं, साफ़ कपड़े पहनते हैं और धार्मिक भक्ति के प्रतीक चिह्न पहनते हैं, और यह सब परिष्कृत हिंदू धर्म के प्रभावों का परिणाम है।[90]

स्वच्छता, पवित्रता, और अछूतों की खान-पान की आदतों में 'सुधार' पर ज़ोर ने उच्च जातियों की सत्ता और आधिपत्य को सही ठहराने में मदद की। साथ ही, इससे अछूतों को धार्मिक और सामाजिक पवित्रता के विमर्श में शामिल किया गया। ऊँची जाति के मानदंड निर्विवाद मानकों की तरह थे जिसके सामने निचली जातियों को मापा जाना था। इसलिए सहानुभूति का पात्र होते हुए भी सुधारवादियों की दृष्टि में दलित केवल एक 'अंतरीय समानता' और अधिकारों के हक़दार हो सकते थे।[91] यह वर्चस्वशाली संस्कृति के साझा अवचेतन में दलितों के प्रति गहरे पूर्वाग्रह दर्शाता था (ज्ञानेंद्र पांडे, 2013)। अपने तमाम प्रगतिवाद के बावजूद, उदारवादी सुधारक अपने पूर्वाग्रहों को देखने में विफल रहे, जो उनके सवर्ण मूल्यों की सर्वव्यापकता का सूचक थे। सनातनधर्मियों ने इसे और अधिक धमाके से रखा। सनातनधर्मी दामोदर शास्त्री ने *चाँद* में अपने एक लेख में तर्क दिया कि जिन लोगों को अछूत कहा जाता है, वह इसलिए कि वे हमारे घरों को साफ़ रखते हैं, वे अपने 'निजी रहन-सहन को सदा गंदा बनाए रखते हैं'।[92] सहानुभूति से लबलबाते हुए वैचारिक दायरे के ढाँचे में एक और काँटेदार सवाल यह था कि जाति की शुद्धता को कैसे बनाए रखा जाए।[93] एक वक्तव्य देखिए :

> छुआछूत की मर्यादा वहाँ तक स्थित करनी चाहिए कि जिससे हिंदू समुदाय को कोई हानि न पहुँचे। यह बात स्वयं सिद्ध है कि हम पवित्र और उच्च वर्ण के हिंदू, डोम, चमार आदि अपवित्र जातियों के हाथ का भोजन नहीं कर सकते व उससे घृणा पैदा होना स्वाभाविक है।[94]

यद्यपि सुधारकों ने दलितों के लिए कुछ जगह बनाई, पर इससे अंतर्निहित तनाव दूर नहीं किए जा सके। कई प्रकार के द्वंद्व और विवाद सामने आते रहे।[95] 1938 में कुओं के उपयोग

---

[89] सुखनंदन प्रसाद दुबे (1933) : कवर.

[90] *द इंडियन सोशल रिफ़ॉर्मर*, 16 नवंबर, (1935) : 169.

[91] सुमित सरकार (1997) : 368-9.

[92] दामोदर शास्त्री (1928) : 572-8; गोपाल दामोदर तामस्कर (1934) : 440-6.

[93] राय बहादुर लाला बैजनाथ (1905) : 45.

[94] कृष्णानंद (1922) : 156.

[95] 25/मई (1923), होम पॉलिटिकल, नैशनल आर्काइव्स ऑफ़ इंडिया (एन ए आई); पी ए आई , 21 अप्रैल, (1923) : 265; पी. ए. आई, 5 में (1923) : 279; *अभ्युदय,* 20 मार्च, (1926): 5; *द इंडियन सोशल रिफ़ॉर्मर,* 22 अगस्त, (1925).

को लेकर दलितों और सवर्णों के बीच बिजनौर में दंगे हुए।[96] आगरा ज़िले के एक गाँव में एक अछूत ने हलवाई की दुकान से कुछ पूड़ी ख़रीदी और उन्हें दुकान पर ही खाने लगा। हलवाई ने उसकी पिटाई करते हुए कहा कि उसे दुकान के बाहर सड़क के किनारे नाले के पास पूड़ी खानी चाहिए थी।[97] होली का त्योहार, जिसे प्रायः अछूतों के साथ सामंजस्य स्थापित करने के अवसर के रूप में देखा जाता था, मतभेद का कारण बन गया। उदाहरण के लिए, 11 मार्च, 1922 को होली मनाने के लिए मथुरा में मेहतरों ने एक जुलूस निकाला पर उसे शहर में प्रवेश नहीं करने दिया गया और उन पर हमला किया गया। कहा गया कि 'मेहतरों' ने मिठाइयों की दुकानों को अशुद्ध करने की योजना बनाई थी।[98] जब डॉ. बाबू राम ने होली के दौरान एक सभा में मेरठ के लोगों से अछूत जातियों के पुरुषों को गले लगाने का आग्रह किया, तो कई हिंदू जल्दबाज़ी में बैठक से बाहर चले गए और जल्द ही सभा पूरी तरह से टूट गई।[99] वर्णाश्रम सुधार सभा ने यह प्रस्ताव पारित किया कि कोई ब्राह्मण निम्न जाति के लोगों का जनेऊ संस्कार नहीं करेगा।[100] जब मेसुरियादन पासी ने इलाहाबाद में जनेऊ पहनने का फ़ैसला किया तो ब्राह्मणों ने उन पर और दो अन्य पासियों पर शारीरिक हमला किया।[101] बनारस के पंडितों ने पिछड़े वर्गों द्वारा वेदों के पढ़ने पर कड़ी आपत्ति जताई।[102] जब धर्मांतरित सवर्ण हिंदुओं को वापस लाने की कोशिशें हुईं, तो प्रायः जाति विभिन्नता का तर्क पेश किया गया।[103] सनातन धर्म के प्रचारकों ने विशेष रूप से तर्क दिया :

> छुआछूत पवित्रता का द्योतक है, घृणा का नहीं।... हमें दलितों को उठाना है किंतु इसका मतलब यह कदापि न होना चाहिए कि दलितोद्धार का ढोल पीटकर उनके साथ सहभोज किया जाए, उन्हें जनेऊ पहनाया जाए, उनका रोटी-बेटी से संबंध किया जाए। अन्त्यजों से उन्हीं का पेशा कराने में हमारा कल्याण है।[104]

उच्च जातियों की श्रेष्ठता और शुद्धता के मिथकों का उपयोग लगातार दलितों की संसाधनों और स्थानों तक पहुँच को सीमित करने के लिए किया गया। इस तरह से सम्मति और सहानुभूति के वैचारिक फ्रेम के अंतर्गत ही अंतर और वैमनस्य की भाषा बसी हुई थी। इस तरह के विरोधाभास कुछ अन्य लक्षणों के साथ दलित स्त्रियों के प्रति सवर्ण सुधारवादी नज़रिए और उन पर लेखन में भी व्यक्त हुए, जिसकी चर्चा मैं अगले हिस्से में करूँगी।

---

[96] एमएसएस यूरो. ई 251/1, हैलेट कलेक्शन, इंडिया ऑफ़िस रिकॉर्ड्स, ब्रिटिश लाइब्रेरी.

[97] मुकुल बिहारी वर्मा (1971) : 11.

[98] पी.ए.आई., 18 मार्च, (1922) : 350; पाई, 25 मार्च, (1922) : 597.

[99] पी.ए.आई., 10 मार्च, (1923) : 155.

[100] पी.ए.आई., 10 जून (1922) : 967.

[101] संपादकीय, चाँद, अगस्त (1934) : 450.

[102] पी.ए.आई., 5 मई, (1928) : 165; गणपत राय के साथ साक्षात्कार, ओरल हिस्टरी ट्राँस्क्रिप्ट : 28-9, एन एम.एम. एल; पी.ए. आई., 15 सितंबर (1923) : 483.

[103] फ़ाइल 42/1935, *बी.एस. मुंजे पेपर्स*, एन.एम.एम. एल; 66/बी/1924, होमे पोल; शर्मा (1983) : 70-77.

[104] लज्जाराम (1928) : 704.

संवेदना, सहानुभूति और सहकारिता का स्वांग

> यह रात-दिन के उपवास की कहानी है; यह उन माताओं की कहानी है, जो अपने प्राण-प्रिय बच्चों की लाश अपनी टूटी झोपड़ी में छोड़ कर नर-पिशाच ज़मीदारों और तालुक़ेदारों की बेगार करने जाती हैं; यह उन पत्नियों की कहानी है, जो अपने सर्वस्व, अपने पतिदेव तथा अपने जीवन-धन को मृत्यु-शय्या पर छोड़, अत्याचार की नंगी तलवार के सम्मुख अपना शीश झुका कर बेगार करने जाती हैं; यह उन बहिनों की कहानी है, जो अपने माता-पिता और भाइयों के सम्मुख रात-दिन अत्याचारियों की काम-वासना का शिकार होती हैं; ... यह सतीत्व के नष्ट किए जाने की भयानक कहानी है;... यह हिंदू धर्म एवं हिंदू समाज के लोमहर्षक नाश की करुण कहानी है और साथ ही भारतवर्ष में यह ईसाई तथा इस्लाम धर्म के विकास की भी कहानी है; *यह मूक अश्रुपात, अव्यक्त रोदन तथा गूँगे कष्टों की मर्मभेदी कहानी है*...। (इटैलिक मेरा)[105]

जब सवर्ण सुधारवादी लेखन के एक बड़े हिस्से में दलित स्त्री पीड़िता और दुखी व्यक्तित्व के रूप में चित्रित की जाने लगी तो एक नई अवधारणा के इर्द-गिर्द अछूत स्त्रियों के उत्पीड़न की यादें सँजोयी गईं।[106] वहाँ पीड़ा और पीड़िता की भाषा में एक प्रकार की संवेदना और करुणा की भावना थी, जिसमें दलित देह पर बरते जाने वाले दर्द को लेकर एक नया संकोच, विक्षोभ, नफ़रत और विकर्षण प्रदर्शित किया गया। इस तरह की बयानबाज़ी कई मायनों में उस समय की ऐतिहासिक ज़रूरत थी। जिस शोषण पर पहले सवाल नहीं उठाया जाता था, उसकी सुधारवादियों ने अब तीव्र निंदा शुरू की। ऐसे लेखन में सवर्ण हिंदुओं का अनुनय-विनय करते हुए, और उनके 'सहज' और 'आंतरिक' गुणों को उभारते हुए, उनसे भावनात्मक अपील की गई कि वे अछूतों के प्रति एक 'नरम' और सहानुभूतिपूर्ण नज़रिया अपनाएँ।

इस तरह के लेखन के साथ कभी-कभी कार्टून भी शामिल किए गए जो अछूत पुरुष और स्त्री की दयनीय वेदना बताते थे। मंदिरों और कुओं जैसे सार्वजनिक स्थल, जिनके इर्द-गिर्द कुछ महत्त्वपूर्ण संघर्ष हो रहे थे, विशेष रूप से दलित स्त्रियों के साथ नज़दीकी संपर्क की जगहों के रूप में देखे गए, क्योंकि स्त्रियाँ ही ज़्यादातर कुएँ से पानी लाती थीं (चित्र 14 और 15)।

सवर्णों, विशेषकर ब्राह्मणों के ख़िलाफ़ नाराज़गी की भावना जताते हुए, ऐसी छवियों ने जातिगत क्रूरता का मार्मिक चित्रण किया, और दया तथा सहानुभूति के प्रदर्शन की एक नई सांस्कृतिक भाषावली प्रचलित की (चित्र 16)।

इन छवियों में बसी थी चुपचाप, निष्क्रिय रूप से यातना झेलने वाली अछूत स्त्री दासी, जो केवल अपनी शारीरिक भाव-भंगिमाओं और संकेतों से अपनी भावनाएँ और दयनीय स्थिति ज़ाहिर करती थी, लेकिन जो प्रतिकार और विरोध की भाषावली से दूर थी। इस प्रकार इन छवियों में दलित स्त्रियों को मूक धीरज के रूपक में दिखाया गया। इसके साथ ही, दलितों के व्यापक राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक संघर्ष को एक 'घरेलू त्रासदी' और 'अंदरूनी

---

[105] संपादकीय, 'पाप की ग्रंथियाँ' (1927) : 5.

[106] सनल मोहन (2011) : 537.

चित्र 14 और 15





केडिया, *व्यंग चित्रावली* : 32 ; *व्यंग चित्रावली*, इलाहाबाद: चाँद कार्यालय: 1930.

चित्र 16



चाँद, मई 1927 : 40

पीड़ा' बना दिया गया, जिसे हिंदू धर्म की कुछ बुराइयों से निजात हासिल करके समाप्त किया जा सकता है। कई मायनों में, भावुकता के इस सामाजिक उछाल ने जातिगत प्रश्न और दलित जीवन की भौतिक वास्तविकताओं के साथ राजनीतिक सरोकार जोड़ने के सवाल को हाशिये पर धकेल दिया। जैसे की वेंडी ब्राउन कहती हैं :

> जब पीड़ा को एक व्यक्तिगत अनुभूति की समस्या के रूप में सीमित कर दिया जाता है, तो राजनीतिक संघर्ष और राजनीतिक परिवर्तन के क्षेत्र की जगह व्यवहार, प्रवृत्ति और भावनात्मक क्रियाकलापों का एजेंडा हावी हो जाता है।[107]

कुरूपता से विनीतता : शूर्पणखा से शबरी तक

इस तरह की भावुक राजनीति के साथ अक्सर एक प्रकार की रूमानियत भी जुड़ी हुई थी। इसीलिए सुधारकों ने दलितों के प्रति एक पितृसुलभ और संरक्षणवादी रवैया अपनाया। यह तर्क दिया गया कि हिंदू समुदाय अछूतों के कारण ही शक्तिशाली है, क्योंकि वही सवर्ण हिंदुओं को सेठ-साहिब, बाबू-साहिब और माई-बाप कहकर संबोधित करते हैं। भले ही अछूतों को हिंदू समुदाय के साथ घोषित किया गया, लेकिन कई सुधारक उन्हें समाज के 'पैर' के रूप में ही मानते थे।[108] सवर्णों की सेवा करना अछूतों के 'स्वाभाविक' और 'प्राकृतिक' गुण के रूप में देखा गया और यह सबसे अधिक व्यावहारिक और अच्छी तरह से शबरी की एक सेविका और समर्पित व्यक्तित्व की छवि द्वारा दर्शाया गया। फिलिप लुटजेंडोर्फ़ ने शबरी के चित्रण के बारे में कहा है कि 'भीलनी के बेर' एक ऐसे सप्रेम, विनीत और लौकिक अर्पण का प्रतीक है जो भगवान को प्रसन्न करता है। यह एक अत्यंत भावनात्मक झाँकी की तरह है जो प्रायः लोकप्रिय धार्मिक कलाकृतियों में व्यक्त होती है।'[109] लुटजेंडोर्फ़ यह भी दिखाते हैं कि शबरी प्रसंग की आधुनिक विवेचनाएँ आमतौर पर रूढ़िवादी या सुधारवादी हिंदू आग्रहों से प्रभावित हैं, जिनके बीच एक प्रकार का तनाव दिखता है :

> ज़्यादा लोकप्रिय और उदारवादी तथा ज़्यादा अभिजात और संकीर्ण धाराओं के बीच; सामूहिक भक्ति के मीठे, 'रसपूर्ण' और उत्साही प्रशंसकों तथा समतावादी आवेगों को अप्राप्य और अपचनीय मानने वाले खट्टे नज़रियों के बीच।[110]

इस विश्लेषण से सहमत होते हुए मैं इस तर्क को और आगे बढ़ाना चाहती हूँ कि कैसे शबरी के मानवीय चित्रण में भी कुछ असंगतियाँ थीं, जिनमें सुधारवादी रुझानों की गाँठें नज़र

---

[107] वेंडी ब्राउन (2006) : 16.

[108] हज़ारीलाल जैन (1931) : 62-66.

[109] फिलिप लुटगेंडॉर्फ (2001) : 120.

[110] वही : 120.

आती हैं। बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में सवर्ण सुधारवादी साहित्य के एक हिस्से में कुटिल शूर्पणखा की पिछली छवि हाशिए पर चली गई और उसकी जगह शबरी की छवि ने ले ली, जिसे निम्न जाति की स्त्री का एक 'आदर्श' प्रतीक माना गया। इस निष्काम, निःस्वार्थ भक्ति और सेवा की मूर्ति का अनुसरण और अनुकरण करने के लिए अनुरोध किया गया। एक सुधारवादी कविता में शबरी के आदर्श की इस प्रकार चर्चा की गई :

> बेर शबरी के भक्ति भील की भूली कैसे।
> राम के भक्तों से क्या आपने व्यवहार किया।।[111]

खान-पान और सहभोज की वर्जनाओं और पूर्वाग्रहों की काट के लिए शबरी की छवि विशेष रूप से उपयोगी थी, क्योंकि शबरी और राम दोनों ने एक ही खाना साझा किया था। पर साथ ही, खान-पान की इस साझेदारी में पदानुक्रम और भेद-विभेद बरक़रार था। शबरी एक निम्न जाति की स्त्री का प्रतिनिधित्व करती थी जो ईश्वर की सेवा और पूजा करती है, जिसमें प्रकारांतर में सभी सवर्णों की चुपचाप, विनम्रतापूर्वक और निःसंकोच सेवा करने का संदेश निहित था। शबरी के गुणी और श्रद्धालु व्यक्तित्व में अतिशय भावुकता थी। उसके चरित्र ने एक निष्ठुर नैतिकता को उकसाया, जिसमें यह घोषित किया गया कि उसके जैसे अछूतों को प्यार करना भगवान को प्यार करने जैसा है। उसकी जैसी प्रेममय अछूत एक अनुरागी ईश्वर की तरह है।[112] यह भी कहा गया :

> रामचंद्र जी ने भीलनी के बेर खाए, कृष्णचंद्र जी ने कुब्जा से प्रीति जोड़ी। रामायण और महाभागवत पढ़ने से ज्ञात होगा कि जो तिरस्कार अछूत जातियों का अब है, वह पहले कदापि नहीं था। यह सब आधुनिक लीला है।[113]

बाह्य रूप से प्रदूषित होने के बावजूद, शबरी को आंतरिक रूप से शुद्ध और पवित्र दर्शाया गया। सवर्ण जातियों को धिक्कारते हुए, उनसे दलित स्त्रियों के साथ मानवीय व्यवहार करने की अपील की गई। शबरी के प्रति राम का व्यवहार एक संदर्भ बिंदु बन गया, और सवर्णों को उनके समान व्यवहार करने का सुझाव दिया गया।[114] एक कविता के अनुसार :

> शबरी कर से खाए प्रभु ने, वन में झूठे बेर,
> 'गंगा' कवि क्यों पड़ा तुम्हारी, मति में अब है फेर।[115]

[111] प्रसाद सिंह संत (1933) : 4.

[112] 'अछूतोद्धार', *सुधा*, फ़रवरी (1931) : 33-40.

[113] लाला कन्नोमल (1927) : 55.

[114] चंडीप्रसाद (1927) : 552-62.

[115] सुखनंदन प्रसाद दुबे (1933) : 5.

राम की इस उदारशीलता में निम्न जाति की स्त्री के प्रति एक विनीतता और अनुग्रह का भाव था। *चाँद* द्वारा प्रकाशित 'अछूत अंक' के पहले पृष्ठ के पीछे छपी एक तस्वीर ने इसे प्रभावी ढंग से उभारा (चित्र 17)।

शबरी को स्वीकार करना और पसंद करना ज़रूरी था, क्योंकि यह दावा किया गया कि उसके माध्यम से राम का क़द और ऊँचा होता है। इस प्रकार अपने उत्कर्ष के लिए दलितों को गले लगाना ज़रूरी था। दलित स्त्री अब पापी और 'कुलटा' नहीं थी, बल्कि वह एक धर्मपरायण स्त्री थी, जिसके ज़रिए सवर्णों को स्वर्ग पहुँचना था।[116] ऐसे कई चित्रणों में दलित स्त्रियों को सवर्णों पर आश्रित और कमज़ोर दिखाया गया। उनके प्रति एक संरक्षणवादी, अधिकारवादी और पितृसत्तात्मक रवैया था। वह कृतज्ञता, अहसान और विनम्रता से भरी हुई थी, और कई बार उसे ऊपर उठाने के लिए ऊँची जाति को अपने को नीचे गिराना पड़ता था।[117]

शबरी की छवि इस समय के सुधारवादी साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण पहचान थी जिसमें सहानुभूति के साथ अधीनता का संयोग था। शबरी आध्यात्मिक अखंडता, श्रद्धा, तपस्या और हार्दिक भक्ति का एक प्रतीक बनकर उभरी, जो हिंदू ढाँचे के अंतर्गत ही साकार होती थी। शबरी ने हिंदू सुधारकों को एक भावनात्मक और व्यक्तिगत शब्दावली मुहैया कराई जिसमें जातिगत असमानताओं के संरचनात्मक, राजनीतिक और सामाजिक ढाँचे को अनदेखा किया जा सकता था। पीड़ा और सहानुभूति की भाषा और शब्द दलितों को नियमित और संचालित करने के एक माध्यम भी थे। सवर्ण सुधारकों के लिए शबरी दलित स्त्री की सबसे प्रामाणिक प्रतिनिधि, चौखटा और चिह्न बन गई।

उत्पीड़न की सीमा रेखाएँ : ज़मीनी तनाव और अंतर्जातीय विवाह

अछूत स्त्रियों के प्रति भावुक सहानुभूति की कई दुविधाएँ थीं। दलित स्त्रियों के दुखद और यातना भरे चित्रण से उनकी एक दानपात्र जैसी छवि तैयार हुई, जिनके उत्थान के लिए उदार सवर्णों के परोपकारी हस्तक्षेप की ज़रूरत थी। सवर्ण और आर्य समाजी स्त्रियों को यह नेतृत्वकारी ज़िम्मेदारी सौंपी गई कि वे अछूत स्त्रियों में सुधार प्रेरित करें और उनमें स्वच्छता, सफ़ाई और अच्छाई के ऐसे तत्व और मूल्य विकसित करें जिससे वे 'सवर्णों के सान्निध्य' के क़ाबिल हो सकें :

> ...यह एकांत रूप से आवश्यक है कि अछूत-नारियों के इस पुनरुद्धार के पवित्र प्रयास में हमारी उच्च जाति की बहिनें पूर्ण रूप से सहयोग एवं सहायता प्रदान करें।... सबसे पहले हमारी उच्च

---

[116] रामचरित उपाध्याय (1927) : 75.

[117] शोभाराम 'धेनु-सेवक'(1927) : 15.

चित्र 17



चाँद, मई 1927: आवरण पृष्ठ अंदर.

> जाति की बहिनों को उसे वहाँ से हाथ पकड़ कर, अपने हाथ का अवलंबन देकर उठाना होगा; उसके शरीर में जो धूल लग गई है, उसके रोम-रोम में अस्वच्छता एवं मलिनता का जो प्रवेश हो गया है, उसे अपनी सहानुभूति और संवेदना की पुण्य धाराओं से प्रक्षालन करना होगा।... अछूत देवी का पुनः संस्कार उच्च जाति की देवियों से ही हो सकता है![118]

स्त्री दर्पण ने सवर्ण जाति की हिंदू स्त्रियों की अछूत स्त्रियों के सुधार और शिक्षित करने के प्रयासों की सराहना की।[119] आगरा में 26 मार्च, 1928 को अछूत स्त्रियों की एक बैठक हुई , जिसमें आर्य समाज की स्त्रियों ने स्वच्छता और शिक्षा पर भाषण दिए।[120] आर्य समाज ने अछूत स्त्रियों के बीच काम के लिए मेरठ में पुष्पा देवी, विष्णु देवी और शकुंतला देवी जैसी सवर्ण जाति की स्त्रियों की भूमिका की सराहना की (गंगा प्रसाद उपाध्याय,

[118] 'अछूत नारी का समुद्धार' (1927) : 178-79.

[119] 'नीच जातियाँ', *स्त्री दर्पण,* नवंबर (1919) : 273-4.

[120] पी.ए.आई., 21 अप्रैल l, (1928) : 135.

1930)। 'हम' (सवर्ण स्त्री सुधारकों) की इस बुनावट में 'वे' (दलित स्त्रियों) का भाव था, जो सवर्णों के विशेषाधिकार की शर्तों को दोहराता था। सहानुभूति की वैचारिकता और शब्दावली के बावजूद स्त्रीत्व का मॉडल उच्च जाति के फ्रेम में ही सीमित रहा और इसने ब्राह्मणवादी पितृसत्तात्मक नैतिकता और संहिता को मजबूत ही किया। इस संदर्भ में ही इतिहासकार उमा चक्रवर्ती का कहना है कि दलित स्त्रियों को सवर्णों के नज़रिए से ही आँका गया।[121] सांप्रदायिकता के उभार के साथ, दलित स्त्रियों को मुसलमानों पर तरजीह दी गई (चंद करण शारदा, 1925)। इस तरह के संकेतों और भाषा की ख़ासकर मध्यम वर्गों में व्यापक अपील थी, क्योंकि वे बिना किसी आमूल परिवर्तन के, ऊपर से आरोपित कुछ सुधार लाना चाहते थे। इससे व्यापक हिंदू एकता के तर्क को भी मदद मिलती थी। इन प्रतीकात्मक मुद्राओं से जाति, कामुकता और पितृसत्ता के बीच के गहरे संबंधों की पड़ताल पीछे छूट गई।

सुधारवादी अलंकारों में कई अन्य ज़मीनी तनाव और दबाव भी थे, जो सतह पर उभरते रहते थे। उदाहरण के लिए, आगरा में एक हिंदू स्त्री का एक अछूत स्त्री के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करने के लिए बहिष्कार किया गया।[122] कानपुर के एक नगर निगम के स्कूल में एक मेहतर की बेटी का दाख़िला हुआ। इसने एक सनसनी पैदा कर दी और कई अभिभावकों ने अपनी बेटियों को स्कूल से निकाल लिया। इसके बाद स्कूल में हरिजन लड़कियों के दाख़िले पर एक प्रकार की रोक लग गई।[123]

'डोला-पालकी' आंदोलन में ये तनाव और स्पष्ट हो गए। गढ़वाल क्षेत्र में सवर्ण पारंपरिक रूप से शिल्पकारों या डोमों को अपनी नवविवाहिता पत्नी को डोला-पालकी में गाँव में लाने की अनुमति नहीं देते थे। ऐसा करने की कोशिश करने पर उन्हें बुरी तरह पीटा जाता था। ग़ौरतलब है कि डोला-पालकी का निर्माण अधिकतर शिल्पकारों द्वारा ही किया जाता था, और वे ही उसे उठाते भी थे, लेकिन वे स्वयं उसका प्रयोग नहीं कर सकते थे। इसे लेकर नाराज़गी बढ़ रही थी। बीसवीं सदी की शुरुआत में यह मुद्दा काफ़ी गंभीर हो गया। 1924 में दलितों के एक विवाह दल ने बिजनौर के पास एक गाँव में डोला-पालकी के साथ जाने का फ़ैसला किया। उन पर हमला किया गया और पालकी में आग लगा दी गई। 1940-41 में ऐसी कई घटनाएँ रिपोर्ट की गई जिसमें सवर्णों ने दलितों के विवाह दलों पर हमला किया, उनकी पिटाई की और पालकियों को तहस-नहस कर दिया।[124]

---

[121] उमा चक्रवर्ती (2003) : 109-11.

[122] पी.ए.आई., 1 जुलाई, (1933) : 333

[123] *दैनिक जागरण,* 12 सितंबर, (1938) : 4; पी.ए. आई, 17 मार्च, (1923) : 170.

[124] डोला-पालकी आंदोलन के लिए देखें : बलदेव सिंह आर्य, 'सवाल डोला पालकी'; और जसपालसिंह खत्री और शन्तन सिंह नेगी, 'शिल्पकारों का ऐतिहासिक संघर्ष: डोला पालकी आंदोलन'. दोनों इसमें शामिल : चमन लाल प्रद्योत, प्रवीण कुमार भट्ट और अरुण कुकसाल (सं), (2012): 143-7; 177-89; नवल वियोगी और म. अनवर अंसारी (2010): 477-8; अजय स. रावत (2002) : 270-1.

सहानुभूति की भाषावली की सीमाएँ सबसे अधिक रोटी-बेटी, सह-भोज और अंतर्जातीय विवाह – के विवादास्पद मुद्दों पर उभरकर आईं। रोटी-बेटी संबंध और सगोत्रीय विवाह जाति के स्थान और शरीर की वर्जनाओं को बनाए रखने का एक केंद्रीय आधार है जो स्त्री के शरीर पर जाति का घनघोर दबदबा दिखाता है। आंबेडकर ने सगोत्रीय विवाह की निरंतरता को जाति प्रथा की जकड़न का एक मूल कारण माना है। वे अंतर्जातीय विवाह को जाति के उन्मूलन और दलितों की बेहतरी का एक प्रमाण चिह्न मानते हैं, क्योंकि यह जाति 'पवित्रता' की अनवरता और स्त्री यौनिकता पर नियंत्रण के बीच के संबंधों के कटु यथार्थ को बदलता है।[125]

उत्तर प्रदेश में आदि हिंदू आंदोलन के नेता स्वामी अछूतानंद ने दलितों के बीच उप-जातियों को समाप्त करने के लिए अंतर्जातीय विवाह का आह्वान किया, और प्रस्ताव दिया कि इस उपक्रम में मुस्लिम और ईसाई की भी मदद ली जा सकती है। जात-पात तोड़क मंडल के संस्थापक संतराम और उनके जैसे कुछ अन्य समाज सुधारकों ने भी अंतर्जातीय विवाह की वकालत की। संतराम ने अंतर्जातीय विवाहों पर अपने विमर्श में जाति, लिंग, यौनिकता, प्रेम और कामना को एक साथ जोड़कर इसे जाति-विरोधी अभिव्यक्तियों के लिए एक महत्त्वपूर्ण वाहक बनाया।[126] बी.एस. मूंजे को लिखे एक पत्र में, किसी सुरेंद्रनाथ माहे ने सवाल किया :

> क्या हरिजन उत्थान में कोई वास्तविकता हो सकती है जब लोगों को नीच जातियों के साथ स्वतंत्रता से मिलने के अधिकार से वंचित किया जाता हो?... इसका एक ही समाधान है, वो है क़ानून में बदलाव – नागरिक विवाह अधिनियम की कमियों से परे अंतर्जातीय विवाह को पूरी तरह वैध बनाया जाए।[127]

दलित धर्मांतरणों को लेकर बढ़ती चिंता के कारण आर्य समाज और हिंदू महासभा बाहरी तौर पर अंतर्जातीय विवाह का समर्थन करने के लिए मजबूर हुए। इसके अलावा, 1932 का प्रस्तावित सांप्रदायिक अधिनियम दलितों को अलग प्रतिनिधित्व देने का वादा करता था जो हिंदू महासभा और सवर्ण राष्ट्रवादी राजनीति के लिए ख़तरे का संकेत था। इसी परिप्रेक्ष्य में हिंदू महासभा ने 1935 में पुणे में अपने 17वें सत्र में हिंदू समुदाय के सभी वर्गों के बीच, हरिजन समेत, अंतर्जातीय विवाह की पूरी आज़ादी के पक्ष में प्रस्ताव पारित किया।[128]

पर इसको लेकर ज़मीन पर गहरा विवाद और बेचैनी व्याप्त थी, क्योंकि ज़्यादातर सुधारक यौनिकता और विवाह के सवाल पर संकीर्ण नज़रिया ही रखते थे।[129] अंतर्जातीय विवाह के मुद्दे

---

[125] शर्मिला रेगे (2013) : 59-64; अनुपमा राव (2009) : 232-3.

[126] संतराम (1929) : 596-608; संतराम (1959) : 23; चारु गुप्ता (2018) : 295-324.

[127] फ़ाइल 37/वॉल. ई/1934, *बी.एस. मुंजे पेपर्स*, एन. एम. एम. एल., दिल्ली.

[128] फ़ाइल म-3, *हिंदू महासभा पेपर्स, जनरल करेस्पॉन्डेंस फ़ाइल*, एन. एम. एम. एल.

[129] चारु गुप्ता (2016) : 77-83.

से रोजाना का पुलिसिया पहरा और हिंसा उजागर हुई, जिसे 'लैंगिकता का गठजोड़ मॉडल'[130] कहा जा सकता है — शादियों की ऐसी व्यवस्था जिसमें धर्म एवं जाति की सीमाओं का पहरा लगा होता है। प्रेम चौधरी दिखाती हैं कि अंतर्जातीय विवाह का मुद्दा औपनिवेशिक काल में कई नए रूपों में सामने आया और अधिक विवादास्पद हुआ (प्रेम चौधरी, 2007)। जातीय और लैंगिक असमानता ने एक दूसरे को पोषित किया। स्त्रियों की गतिविधियों और आचरण पर नियमन और यौनिक अनुशासन जाति और समुदाय की विशिष्टता को बनाए रखने के शक्तिशाली साधन बने (चारु गुप्ता, 2001)। दलित स्त्री के जीवन और सोच को पुनर्गठित करने के प्रयासों में वैवाहिक संबंधों के नए मानक गढ़े गए, जो सगोत्रीय विवाह की मज़बूती और यौनिकता के नियंत्रण पर आधारित थे। जाति सगोत्रीयता पर काफ़ी अमल होने लगा और यह अछूत जातियों में भी, जिनके काफ़ी भिन्न मानक थे, क़ानूनी तौर पर लागू होने लगी। सनातनी हिंदू बड़े पैमाने पर और आक्रामक रूप से यह तर्क दे रहे थे कि अंतर्जातीय विवाह विनाशकारी है और उसमें प्रजनन या हिंदू सभ्यता को विकसित करने की पर्याप्त क्षमता नहीं है।[131]

सुधारवादियों ने तर्क दिया कि हमें अछूतों को हमारे मंदिरों में प्रवेश करने और हमारे कुओं से पानी भरने की अनुमति देनी चाहिए। यह अपने आप में पर्याप्त है और वे इससे ज़्यादा कुछ नहीं चाहते हैं। वो रोटी-बेटी संबंध की इच्छा नहीं रखते हैं।[132] इसी सुर में गांधी ने कहा :

> यद्यपि वर्णाश्रम में अंतर्जातीय विवाह और अंतर खान-पान पर कोई बंदिश नहीं है, पर इसकी कोई बाध्यता नहीं हो सकती... यदि वर्णाश्रम के नियम का पालन किया जाए, तो जहाँ तक विवाह का संबंध है, स्वाभाविक रूप से लोगों में यही प्रवृत्ति होती है कि वे वैवाहिक संबंधों को उनके अपने वर्ण में ही सीमित रखें।[133]

कई सुधारकों ने द्विज जातियों के बीच तो अंतर्जातीय विवाह को बढ़ावा दिया, लेकिन सवर्णों और दलितों के बीच उन्हें प्रस्तावित करने की बात से बच गए। वास्तव में भंगियों और चमारों के साथ अंतर्जातीय विवाह को हतोत्साहित किया गया (परमेशीदास जैन, 1937)। या, ऐसा कहा गया कि कायस्थ और वैश्य को आपस में विवाह करना चाहिए, जैसा कि मालियों और धोबियों को करना चाहिए। इस प्रकार अंतर्जातीय विवाह के नाम पर क्षैतिज विवाह ही प्रोत्साहित किए जा रहे थे।[134]

अंतर्जातीय विवाहों को लेकर दुविधाएँ तत्कालीन लेखों, कहानियों, पत्रों और उपन्यासों में भी परिलक्षित हो रही थीं। प्रतिष्ठित हिंदी लेखक निराला ने अपना ब्राह्मणवादी रुझान

[130] मिशेल फूको (1978) : 106-11.

[131] शिरोमणि शर्मा (1927) : 100-2.

[132] आचार्य चतुरसेन (1930) : 171-72; शर्मा (1927) : 417-9; *इंडियन सोशल रिफ़ॉर्मर*, 23 नवंबर, (1935) : 179.

[133] *इंडियन सोशल रिफ़ॉर्मर*, 23 नवंबर, (1935) : 186.

[134] संपादकीय, *चाँद*, नवंबर (1926) : 121; 'अंतर्जातीय विवाह-प्रथा की व्यवस्था', *चाँद*, सितंबर (1934): 525-26.

दिखाते हुए एक लंबे लेख 'वर्णाश्रम धर्म की वर्तमान स्थिति' में संतराम द्वारा जात-पाँत तोड़क मंडल की स्थापना पर गहरा दुःख व्यक्त किया, संतराम पर कटु प्रहार किया, अंतर्जातीय विवाह तथा अंतर खान-पान की तीखी आलोचना की और जाति विभाजन और वर्णाश्रम धर्म का पुरज़ोर समर्थन किया :

> दोषों में संस्पर्श-दोष भी एक माना गया है।... म्लेच्छों के राज्य में रहने से उनके संस्पर्श से द्विजातीयत्व भी नष्ट होता है, दुराचरण फैलते हैं, समाज में अधोगति होती है, वर्णाश्रम-धर्म नहीं रह जाता।... शूद्रों के प्रति केवल सहानुभूति प्रदर्शन कर देने से ब्राह्मण-धर्म की कर्तव्यपरता समाप्त नहीं हो जाती, न जाति-पाँति तोड़क मंडल के मंत्री संतरामजी के क़रार देने से इधर दो हज़ार वर्ष के अंदर संसार का सर्वश्रेष्ठ विद्वान महामेधावी त्यागीश्वर शंकर शूद्रों के यथार्थ शत्रु सिद्ध हो सकते हैं।... जाति-पाँति तोड़क मंडल को मैं किसी हद तक सार्थक समझता, यदि वह 'जाति-पाँति-योजक मंडल' होता।... अछूतों के साथ रोटी-बेटी का संबंध स्थापित कर उन्हें समाज में मिला लिया जाए या इसके न होने के कारण ही एक विशाल संख्या हिंदू-राष्ट्रीयता से अलग है, यह एक कल्पना के सिवा और कुछ नहीं। दो मनों की जो साम्य-स्थिति विवाह की बुनियाद है और प्रेम का कारण, इस तरह के विवाह में उसका सर्वथा अभाव ही रहेगा। और, जिस यूरोप की वैवाहिक प्रथा की अनुकूलता संतरामजी ने की है, वहाँ भी यहाँ की तरह वैषम्य का साम्राज्य है। किसी लार्ड-घराने की लड़की के साथ किसी निर्धन और निर्गुण मज़दूर का विवाह नहीं हुआ।... बी.ए. पास करके झींगुर लोध अगर ब्राह्मणों को शिक्षा देने के लिए अग्रसर होंगे, तो संतरामजी की ही तरह उन्हें हास्यास्पद होना पड़ेगा।[135]

अंतर्जातीय रोमांस का चित्रण आमतौर पर एक त्रासदी के रूप में समाप्त होता था। उदाहरण के लिए, *चाँद* में प्रकाशित एक पत्र में एक चमारिन की कहानी बयान की गई जो एक सवर्ण पुरुष के साथ एक आध्यात्मिक रोमांस का जीवन जी रही थी। अंततः यह संबंध उसके लिए बेहद अभागा साबित हुआ जिसमें उसकी मृत्यु हो गई।[136] दलितों के कुछ विवरणों में अंतर्जातीय विवाहों के उदाहरण के ज़रिये सवर्णों के मानदंडों की कड़ी आलोचना की गई। 1943 में नंदलाल जायसवार 'वियोगी' द्वारा एक सशक्त नाटक *अछूतों का इंसाफ़* लिखा गया।[137] जायसवार आदि हिंदू आंदोलन के एक सक्रिय सदस्य थे। उनके नाटक में एक चमार लड़के विमल और एक ब्राह्मण पुजारी की बेटी मलीना के बीच एक अंतर्जातीय रोमांस को दर्शाया गया जिसमें आख़िरकार दोनों आत्महत्या कर लेते हैं। इस विवरण में सवर्णों के पाखंड और कपट की तीखी आलोचना की गई। इसके अलावा, कई सवर्ण लेखकों के कथा साहित्य में दलित उत्पीड़न और दलित स्त्री पीड़िता के वर्णन विरोधाभासी रूप में सामने आए। शायद यह प्रेमचंद के साहित्य में सबसे अधिक अभिव्यक्त हुआ।

---

[135] सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' (1929) : 836-42 [836-43].

[136] *स्मृति कुञ्ज* (1927) : 339-42.

[137] नंदलाल जायसवार 'वियोगी' (1943).

पीड़िता से परे? प्रेमचंद की कहानियों में दलित स्त्री

प्रेमचंद (1880-1936) के लेखन में, शायद पहली बार, हिंदी के प्रतिष्ठित साहित्य में दलित नायकों की उल्लेखनीय और व्यापक उपस्थिति दर्ज हुई। प्रेमचंद के साहित्य में दलित चित्रण पर गहन विचार-विमर्श हुआ है और इस विषय पर कई किताबें प्रकाशित हुई हैं।[138] इस विमर्श में एक तरफ़ तो प्रेमचंद की एक लेखक के रूप में भरपूर प्रशंसा की गई है और कहा गया है कि उन्होंने गहरी संवेदनशीलता के साथ दलितों का चित्रण किया है, तो दूसरी तरफ़ कई अग्रणी दलित पुरुष लेखकों ने उनके लेखन की तीखी आलोचना करते हुए उसे पूरी तरह ख़ारिज किया है। दलित लेखकों, जैसे ओमप्रकाश वाल्मीकि, मोहनदास नैमिशराय और श्योराज सिंह 'बेचैन' ने प्रेमचंद की कहानी 'कफ़न' की विशेष रूप से कड़वी आलोचना की है।[139] प्रेमचंद के लेखन में स्त्रियों के चित्रण पर भी काफ़ी समृद्ध समीक्षात्मक साहित्य है जो जाति, वर्ग और धर्म की सीमाओं को लाँघता है, लेकिन आमतौर पर इसमें दलित नारीवादी परिप्रेक्ष्य की संवेदनशीलता का अभाव है।[140] ख़ुद मेरे एक शुरुआती शोध में भी इस नज़रिए की कमी रही।[141] दलितों और स्त्रियों के लेखन का संदर्भ लेते हुए, साथ ही उसे और सघन बनाते हुए, इस भाग में मैं प्रेमचंद की कुछ लघु कहानियों में दलित स्त्रियों के चित्रण का विश्लेषण करूँगी। इनमें से अधिकांश चित्रणों में पीड़िता की तस्वीर है, जिसके साथ है एक रूमानी आदर्शवाद का मिश्रण। इस प्रकार की तस्वीर अधिकतर सवर्ण सुधारवादियों के नज़रिए की पुष्टि करती है। फिर भी, प्रेमचंद कहीं-कहीं दलित स्त्रियों की उभरती विद्रोही आवाज़ों को दर्ज करते हुए अपने पारंपरिक चित्रणों से परे जाते हैं। और शायद यहीं वे सुधारवादियों की प्रमुख अवधारणाओं में कुछ दरारें पैदा करते हैं। हालाँकि ऐसे चित्रण कभी भी बेहद भिन्न या अलग से उभरकर नहीं आते हैं और कई और चीज़ों के साथ घुले-मिले रहते हैं। प्रेमचंद की कहानियों में दलित स्त्री की प्रताड़ना का चित्रण सबसे सशक्त नज़र आता है। कहानी 'मंदिर' (मई 1927) में एक चमारिन विधवा सुखिया अपने बेहद बीमार बेटे के लिए पूजा करने मंदिर जाती है, लेकिन ब्राह्मण पुजारी उसे मंदिर प्रवेश से मना कर देता है। अधूरी इच्छा और दुर्व्यवहार के दुःख में बेटा और माँ, दोनों प्राण त्याग देते हैं।[142] यह कहानी काफ़ी हद तक मंदिर प्रवेश आंदोलन से प्रेरित है, जो उस समय अपने चरम पर था। कहानी इस आंदोलन की कई अस्पष्टताओं और उलझनों से घिरी हुई है : प्रेमचंद ने कहानी के किरदार के रूप में एक पुरुष नहीं, बल्कि एक दलित स्त्री को केंद्र में रखा है; सुखिया हिंदू प्रतिमान और दायरे में ही सोचती-समझती है; यहाँ उसके मूक दर्द और बलिदान का कारुणिक चित्रण है; ब्राह्मण पुजारी की कठोरता का उपहास है; साथ ही ऊपर से आरोपित सुधार का सुझाव है, जो गांधीवादी साँचे में है।

---

[138] कांतिमोहन (2010); जाधव बलवन्त साधु (1992); कल्पना गवाली (2005); सदानंद शाही (2000); रतनकुमार सम्भारिया (2011); शशि भूषण उपाध्याय (2002) : 51-79; लॉरा र. ब्रुएक (2014) : 43-60; तोरल जतिन गजरावाला (2013) : 32-67.

[139] साथ ही देखें, प्रदीप क. शर्मा (2006) : 88-92; व. ब. रावत (2006); लॉरा र. ब्रुएक (2014) : 43-60.

[140] गीता लाल (1965); ओम अवस्थी (1962); गीतांजलि पांडे (1996): 2183-87; एन. जैन (1986) : 40-44.

[141] चारु गुप्ता (1991) : 88-113.

[142] प्रेमचंद (1984), *मानसरोवर :* भाग 5 : 5-13.

प्रेमचंद ने उस दौर के एक बेहद ज्वलंत मुद्दे – दलितों द्वारा सभी कुओं से पानी खींचने – पर अपनी कहानी 'ठाकुर का कुआँ' (अगस्त 1932) में फिर से इस समस्या के जेंडर पक्ष पर ध्यान दिया, और यहाँ भी दलित स्त्री को मुख्य भूमिका में रखा। अपने बेहद बीमार पति जोखू के लिए ठाकुर के कुएँ से पानी खींचने की कोशिश में दलित गंगी विफल रहती है और घर लौटकर वह अपने पति को बर्तन से गंदा पानी पीते हुए देखती है।[143] एक अन्य कहानी 'दूध का दाम' एक भंगिन के बारे में है, जो सवर्ण ज़मींदार के बेटे की दाई भी है और दूध पिलाने वाली भी। वह अपने मालिक के बेटे के लिए अपने ख़ुद के बच्चे को भूखा रखती है, लेकिन इसकी एवज में उसे या उसके बेटे को बचे-खुचे भोजन के अलावा कुछ नहीं मिलता है।[144] प्रचलित रीति-रिवाजों और विश्वासों के ख़िलाफ़ पाठकों को प्रेरित करते हुए इन कहानियों में दलित स्त्री के धीरज और सहन-शक्ति के प्रति एक सहानुभूति जताई जाती है। लेकिन यहाँ सामूहिक प्रतिकार या विद्रोह के लिए बहुत कम जगह बचती है। ये कहानियाँ आम तौर पर प्रताड़ना और पीड़िता के दायरे में आती हैं जिनमें पीड़ा, संवेदना, दुख, भावुकता, सहानुभूति और समर्पण के भाव रहते हैं, और जो पिछले हिस्सों में उल्लेख किए गए सुधारवादी विमर्श का ही विस्तार लगता है।

उपरोक्त कहानियों में प्रेमचंद ने पुजारियों और ज़मींदारों के हाथों दलित स्त्रियों की जाति वंचना का सशक्त चित्रण किया है, लेकिन उसकी कई सीमाएँ हैं। अपनी कुछ एक कहानियों में उन्होंने दलित स्त्रियों और पुरुषों के बीच संबंधों पर भी टिप्पणी की है। शोधकर्ताओं ने यह दर्ज किया है कि कैसे प्रेमचंद की कुछ कहानियों में दलित स्त्रियों के चित्रण को लेकर एक प्रकार की रूमानियत है – उन्होंने घर के अंदर और बाहर हाड़-तोड़ मेहनत करने के 'गुणों' के कारण सवर्ण घरेलू स्त्रियों की तुलना में दलित स्त्रियों को कहीं ज़्यादा स्वच्छंद, स्वतंत्र और दलित पुरुषों के साथ समानता का स्तर रखने वाली दिखाया है।[145] कुछ अध्येताओं और दलित स्त्रीवादी अकादमिक कर्मियों ने ऐसे चित्रण पर सवालिया निशान खड़े किए हैं, क्योंकि वह कई बार दलित पितृसत्तात्मकता से हमारा ध्यान हटाता है। वहीं, घरेलू हिंसा के ख़िलाफ़ निम्न-जाति की स्त्रियाँ अधिक मुखर दिखाई देती हैं। उदाहरण के लिए कहानी 'अभिलाषा' (अक्टूबर 1928) एक पानवाले द्वारा अपनी पत्नी की पिटाई से शुरू होती है।[146] स्त्री क्रोधित होकर कहती है: 'बस, मारोगे तो ठीक न होगा। आज से मेरा तुझसे कोई संबंध नहीं। मैं भीख माँगूंगी, पर तेरे घर न आऊँगी'।[147] दलित जातियों में सेक्स के अपेक्षाकृत कम कठोर आचारों की बात करते हुए कहानी 'बालक' (अप्रैल 1933) में गंगू एक 'चरित्रहीन' क़रार की गई निम्न-जाति की विधवा से शादी करता है। गंगू अपनी पत्नी को बेहद प्यार करता

[143] वही : भाग 1 : 141-4.

[144] वही : भाग 2 : 204-14.

[145] शशि भूषण उपाध्याय (2002) : 55-58.

[146] प्रेमचंद (1984), *मानसरोवर :* भाग 4 : 93-9.

[147] वही : 93.

है और उसके साथ बहुत ख़ुश है। कुछ समय बाद गंगू को पता चलता है कि उसकी पत्नी किसी और के बच्चे के साथ गर्भवती है।[148] गंगू को उस बच्चे को अपना मानने में कोई हिचक नहीं होती है। वह कहता है :

> मैंने तुमसे इसलिए विवाह नहीं किया कि तुम देवी हो; बल्कि इसलिए कि मैं तुम्हें चाहता था और सोचता था कि तुम भी मुझे चाहती हो। यह बच्चा मेरा बच्चा है।... मैंने एक बोया हुआ खेत लिया, तो क्या उसकी फसल को इसलिए छोड़ दूँगा कि उसे किसी दूसरे ने बोया था?[149]

हालाँकि, प्रेमचंद ने प्रायः दलित स्त्रियों को 'आदर्श', चरित्रवान पत्नी के रूप में चित्रित किया। उदाहरण के लिए, उनकी कहानी 'सती' (मई 1932) में एक निम्न-जाति की सुंदर मुलिया की शादी बदसूरत कल्लू से होती है। मुलिया की सुंदरता के कारण कुरूप कल्लू उस पर भरोसा नहीं करता है, जबकि उसकी पत्नी वफ़ादार है। मुलिया अपनी तरफ़ से अपने अविश्वासी पति की पूरी निष्ठा से सेवा करती है और बीमारी के दौरान पति का पूरा ध्यान रखती है लेकिन कल्लू मर जाता है। उसका चचेरा भाई राजा, मुलिया पर डोरे डालने की कोशिश करता है पर मुलिया पर इसका कोई असर नहीं पड़ता है। दूसरी शादी उसके लिए नहीं है। उसने सती की तरह जीने का फ़ैसला किया है।[150] एक अन्य कहानी है 'देवी' (अप्रैल 1935), जिसमें एक अछूत स्त्री तुलिया का पति परदेस से कभी वापस नहीं लौटता, जहाँ वह पैसा कमाने के लिए गया था। तुलिया हमेशा के लिए अकेले रहती है।[151] ये कहानियाँ कई प्रकार से व्याख्यायित की जा सकती हैं : सवर्ण स्त्रियों की तरह अछूत स्त्री की एक 'पवित्र' और वफ़ादार पत्नी की छवि जो पुनर्विवाह से इनकार करती है; या दलित स्त्रियों की सेक्स अराजक, कच्चे और ग़ैर वफ़ादार के रूप में प्रचलित संकीर्ण छवि से अलग एक पहचान। दलित स्त्रियों द्वारा सवर्णों के मानदंडों और आचार-विचार-व्यवहार का व्यक्तीकरण और अनुकरण भी कभी-कभी संभावित चुनौती और प्रतिकार की भूमिका बना सकता है। दलित स्त्री को शुद्ध और पवित्र के साँचे में ढालते हुए प्रेमचंद कुछ गृहित और कथित सवर्ण मूल्यों को तरजीह दे रहे थे, पर साथ ही दलित स्त्री की प्रचलित और स्थापित छवि को भी एक रूप में चुनौती दे रहे थे।

प्रेमचंद की कलम से अंतर्जातीय रोमांस, संबंध और शादी का भी चित्रण हुआ। 'सुभागी' कहनी एक आदर्श, निम्न-जाति की बाल विधवा के बारे में है, जिसकी अंततः एक सवर्ण पुरुष से शादी होती है।[152] 'सौभाग्य के कोड़े' कहानी में एक ब्राह्मण स्त्री रत्ना एक भंगी से

[148] वही : भाग 2 : 215-24.

[149] वही : 223.

[150] वही : भाग 4 : 145–53.

[151] अमृत राय (1978) : 61-2.

[152] प्रेमचंद, *मानसरोवर:* भाग 1 : 258–67.

शादी करती है जो एक अति-प्रतिष्ठित आचार्य और धर्म का शिक्षक है। यद्यपि भंगी अपनी पत्नी से अपनी जाति छिपाता है, वह उसे तुरंत पहचान लेती है और सब कुछ जान-समझकर भी अंतर्जातीय विवाह की ओर अपने क़दम बढ़ाती है। साथ ही, वह अपने भंगी पति से अनुरोध करती है कि वह उसके पिता को कभी अपनी जाति का पता न चलने दे।[153] ऐसा प्रतीत होता है कि प्रेमचंद अंतर्जातीय विवाह को जातिगत पूर्वाग्रहों की जकड़ ढीली करने के एक उपाय के रूप में अप्रत्यक्ष स्वीकार करते हैं, पर फिर भी प्रायः अपनी आवाज़ मंद रखते हैं। सुधारकों के लिए सबसे द्वंद्वपूर्ण मुद्दे – अंतर्जातीय विवाह – पर प्रेमचंद अपने क़दम बड़े सँभलकर और बचकर रखते हैं, ख़ासकर जहाँ प्यार और आकर्षण का मिश्रण हो।

यद्यपि प्रेमचंद आम तौर पर यौनिकता के सवाल पर असहज थे, पर उनकी एक-दो कहानियों में लिंग, जाति और यौन शोषण के अंतर्संबंध, ख़ासकर दलित स्त्री के संदर्भ में, झकझोरने वाले रूप में प्रस्तुत होते हैं। प्रेमचंद यहाँ दलित स्त्री को न केवल नतमस्तक पीड़िता के रूप में बल्कि एक आक्रोशपूर्ण आंदोलनकारी के रूप में प्रदर्शित करते हैं। ये आवाज़ें दलित स्त्री की होने के कारण और अधिक प्रभावी हो जाती हैं। 'घासवाली' (दिसंबर 1929) एक विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण कहानी है। इस कहानी में मुलिया एक ग़रीब चमार स्त्री है, जिसे सवर्ण ज़मींदार चैन सिंह यौनिक उत्पीड़न का शिकार बनाना चाहता है। उसके लिए यह मान लेना 'स्वाभाविक' है कि दलित स्त्रियों के बीच एक सुंदर चेहरा सवर्ण पुरुषों के लिए केवल खेल की चीज़ है।[154] उसने कई बार ऐसे खेल खेले हैं, पर मुलिया उसके प्रस्तावों को ठुकरा देती है। वह अपनी पूरी ताक़त से आरोप लगाती है :

> फिर भी अगर मेरा आदमी तुम्हारी औरत से इसी तरह बातें करता, तो तुम्हें कैसा लगता?... मुझसे दया माँगते हो, इसलिए न कि मैं चमारिन हूँ, नीच जाति हूँ और नीच जाति की औरत ज़रा-सी घुड़की-धमकी या ज़रा से लालच से तुम्हारी मुट्ठी में आ जाएगी। कितना सस्ता सौदा है! ठाकुर हो न, ऐसा सस्ता सौदा क्यों छोड़ने लगे?[155]

इस पर चैन सिंह दावा करता है : '... मैं तो तेरे चरणों पर सिर रखने को तैयार हूँ'। मुलिया जवाब देती :

> इसलिए न कि जानते हो, मैं कुछ नहीं कर सकती। जाकर किसी खतरानी के चरणों पर सिर रखो, तो मालूम हो कि चरणों पर सिर रखने का क्या फल मिलता है! फिर यह सिर तुम्हारी गर्दन पर न रहेगा।[156]

---

[153] वही : भाग 3 : 220–33.

[154] प्रेमचंद, *मानसरोवर* : भाग 1 : 305–17.

[155] वही : 309.

[156] वही.

मुलिया न केवल प्रचलित और स्वीकृत मानदंडों के ख़िलाफ़ विद्रोह करती है, बल्कि यौन हिंसा की गहरी जातिगत श्रेणीबद्ध प्रकृति की भी काट करती है। वह सचेतन, जुझारू, मुखर और मज़बूत इरादों वाली है, और उसका प्रतिकार केवल औपनिवेशिक शासन के नहीं बल्कि सवर्ण सामंती यौन उत्पीड़न और दमन के ख़िलाफ़ भी है।[157]

प्रेमचंद की इन कहानियों के दलित स्त्री पात्रों को दलित आत्म-कथात्मक लेखन के साथ रखकर तुलनात्मक रूप से अध्ययन करना एक भिन्न प्रस्थान-बिंदु हो सकता है। अलग-अलग समय, स्थान और संदर्भ के कारण ऐसी तुलना अर्थहीन है। फिर भी, ऐसे मूल्यांकनों से प्रेमचंद के बारे में कहीं ज़्यादा बारीक समझ विकसित हो सकती है जो केवल महिमामंडन या मर्दन के नज़रिए से बाध्य नहीं है। यह बिंदु जिस विस्तार की अपेक्षा रखता है, वह इस आलेख में संभव नहीं लेकिन हम इतना तो कह सकते हैं कि दलित पुरुषों की कई रचनाओं में दलित पितृसत्ता प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप में काम करती है।[158] यद्यपि इन रचनाओं में जाति और वर्चस्व के सवालों पर एक गहरी संवेदनशीलता है, पर पितृसत्ता के प्रति एक उदासीनता है, और ये अक्सर केवल प्रताड़ित नारीत्व की अवधारणा को ही पोषित करती है। इस प्रकार के ज्ञानात्मक अंधेपन के कारण दलित पुरुष लेखनी में कई व्यावहारिक दृष्टिकोणों और लोकाचार के बावजूद एक प्रकार का दलित पुरुषत्व नज़र आता है जो लिंग के सवाल पर अव्यक्त तौर पर विरोधाभासों से घिरा है।

दलित स्त्री पात्रों के इर्द-गिर्द प्रेमचंद की कहानियाँ उस तत्कालीन सामाजिक परिवेश की शिनाख़्त करती हैं, जब सुधारवादी विमर्श दलित स्त्रियों की प्रदूषित देह की छवि से गुज़रते हुए उनकी पीड़िता छवि पर अपना ध्यान केंद्रित कर रहा था। अगर हम प्रेमचंद की कहानियों के दलित स्त्री पात्रों को बीसवीं शताब्दी के आरंभिक परिष्कृत हिंदी साहित्य के संदर्भ में रख कर देखें, जिसमें दलित चित्रण न केवल पुरुष प्रधान था, बल्कि बहुत सी सीमाओं में क़ैद था, तो प्रेमचंद कुछ और ज़्यादा करते हुए नज़र आते हैं। उनकी कहानियाँ एक ओर उस दौर के सवर्ण सुधारवादियों के डाँवाँडोल, विरोधाभासी और अस्थाई रुख को दर्शाती हैं, जो उस समय की सीमाओं में आबद्ध था और एक प्रकार के बवंडर में फँसा हुआ था। लेकिन दूसरी ओर उनमें कहीं-कहीं हमें दलित स्त्री के प्रतिरोध की चिंगारी भी नज़र आती है। इन कहानियों में दलित स्त्रियों की बहुआयामी संवेदनाओं, भावनाओं, मूल्यों और विचारों की क्रिया-प्रक्रिया को किसी सीधी, स्याह-सफ़ेद श्रेणी में क़ैद नहीं किया जा सकता है।

निष्कर्ष

उपदेशात्मक साहित्य के एक हिस्से में, और ख़ासकर चमार दाई के चित्रण में, दलित स्त्रियों को कई प्रकार से भ्रष्ट, दुराचारी, गंदी और बिकाऊ प्रस्तुत किया गया। यहाँ अशुभ, अनैतिक,

[157] देखें, अनिता भारती (2013) : 107.

[158] दलित आत्मकथाओं में अनुपस्थित दलित स्त्री के लिए देखें, सारा बेथ (2007) : 545–74, ख़ासतौर से : 562.

पुरातन, प्रदूषित और गंदे स्त्री शरीर के सिद्धांत नए मुहावरों, प्रतीकों, साहित्यों और विमर्शों के ज़रिए पुनर्अवतरित हुए। इससे हिंदू सवर्णों के व्यवहारों, मूल्यों और विचारों को, विशेषकर स्त्रियों के बारे में, मज़बूती मिली। साथ-ही-साथ इससे सवर्ण पुरुषों के डर, वितृष्णा और दुश्चिंता की झलक मिलती है, जिसने दलित स्त्रियों की एक सामूहिक छवि निर्मित करने में योगदान किया। इस सबको एक साथ देखा जाए तो वर्चस्वशाली सवर्ण जातियों द्वारा इस प्रकार के चित्रण से दलित स्त्रियों के बारे में एक ख़ास मिथक मज़बूत करने और उनकी निम्नता को स्वाभाविक बनाने की ज़मीन तैयार हुई। इन चित्रणों को कई प्रकार से सृजित और निर्मित किया गया जिससे सवर्ण जातियों के हित और गहरे रूप से स्थापित हो सकें। इनसे सभ्यता और अराजकता, कामना और भय पर विचार करने के रास्ते तैयार हुए। इससे न केवल जाति का श्रेणीकरण मज़बूत होता था बल्कि स्त्रियों के बीच सवर्ण और दलित का विभेद गहराता था। स्त्रियों के बीच इस प्रकार के सामाजिक और सांस्कृतिक ध्रुवीकरण और क़िलेबंदी के कारण एक ही लिंग के आपसी द्वंद्व उभरकर सामने आए। इस प्रकार की संहिताओं से दलित स्त्री का रूपांतरण एक दुष्ट, गंदे, यौनिकता से भरपूर और ख़तरनाक समूह के रूप में हुआ। दूसरी तरफ़ सवर्ण स्त्रियाँ शुद्ध, संपूर्ण और एकज बनी रहीं। इससे यथार्थ और सत्य चित्रित करने का एक भ्रम पैदा और स्थापित हुआ, जिसकी एक मुख्य ताक़त थी, 'दूसरे' पर कमान कसना। लेकिन इसके साथ-ही-साथ, दलित स्त्रियाँ केवल बेज़ुबान दर्शक नहीं थीं, बल्कि जैसाकि चमार दाईयों की गतिविधियों से ज़ाहिर होता है, वे अपनी छवि और उसके चित्रण का खंडन भी कर रही थीं।

साथ ही हम यह भी पाते हैं कि औपनिवेशिक उत्तर भारत में हिंदी-हिंदू सुधारवादियों का एक तबक़ा यह सृजनात्मक प्रयास कर रहा था कि सवर्ण हिंदू जातियों में उनके अछूतों के प्रति व्यवहारों को लेकर एक प्रकार की अपराध बोध, नैतिकता का भाव जगाया जाए। दलित स्त्रियों के संदर्भ में जहाँ एक ओर उपदेशात्मक लेखन के एक हिस्से में उनकी 'प्रदूषित' देह का चित्रण था, वहीं दूसरी तरफ़ सुधारवादी लेखन में उनके पीड़ित और दुखदाई शरीर के प्रति एक गहरी चिंता और एक संवेदनात्मक-भावनात्मक संबंध पर ज़ोर दिया जाने लगा। पीड़िता और दुःख के दृश्य उसकी छवि के मुख्य रंग बन गए, जिसके द्वारा सवर्णों की 'आंतरिक' और 'उन्नत' भावनाओं, जैसे सहानुभूति, करुणा और हमदर्दी, को संबोधित किया गया। पर इसमें निहित भाषा, बिंबों और अभिव्यक्तियों में कई समस्याएँ थीं। यहाँ दलित स्त्रियाँ अक्सर शक्तिविहीन थीं और असहाय तथा चुपचाप रहकर अपनी दयनीय स्थितियों को झेल रही थीं। सवर्ण सुधारवादियों के अपराध बोध की कई सीमाएँ थीं। दलित स्त्रियों की दासवत देह; उनकी सामाजिक और सांस्कृतिक आदतों में 'सुधार' के लिए सवर्ण स्त्रियों का आह्वान और नेतृत्व, तथा सवर्णों के तौर-तरीक़ों और मानदंडों का अनुसरण; और अंतर्जातीय विवाह के प्रति वैचारिक असंगतियाँ – इन सबसे जाति की आलोचना कमज़ोर और धूमिल हुई। दुःख, पीड़िता और प्रताड़ना की भाषा ने दलित स्त्री के सवाल का अराजनीतिकरण किया; उसे राजनैतिक और

आर्थिक प्रश्न से परे केवल एक सहानुभूतिपूर्ण सामाजिक प्रश्न के रूप में देखा। नैतिकता के अपराध बोध और करुण रस के बीच शोषण की गहरी जड़ों की खोज शिथिल हो गई। संस्थागत और व्यवस्थित जातीय शोषण की सच्चाई कुछ प्रतीकात्मक व्यंजकों में सिमट गई। इसका नतीजा यह था कि व्यापक वर्चस्वशाली विमर्श बदस्तूर जारी रहे।

हिंदी में प्रकाशित उपदेशात्मक पुस्तकों और जाति नियमावलियों में आम तौर पर निम्न और सवर्ण स्त्रियों के बीच *अंतर* साबित करने की कोशिश हुई। अन्य प्रकार के सुधारवादी साहित्य ने आमतौर पर अछूत और सवर्ण स्त्रियों के बीच की *समानता*, समरूपता और सामूहिकता पर ज़ोर दिया। इस प्रक्रिया में ये दोनों ही विचारफलक हमेशा पारस्परिक रूप से जुदा और अलग नहीं थे, बल्कि कई बार अछूत स्त्रियों की आदतों-व्यवहारों के बारे में समान राय रखते थे। प्रदूषण की जगह पीड़ा, भर्त्सना की जगह रूमानियत, चरित्रहीन की जगह प्रताड़िता – इस प्रकार का प्रतिस्थापन एक-दूसरे के अंदर गुँथा हुआ था। ये चित्रण अलग-अलग रूप में और संदर्भों में साथ जुड़कर भी काम करते थे, और उनका जुड़ाव प्रायः सहज और समरूप होता था। औपनिवेशिक उत्तर भारत में दलित स्त्री संबंधी संकीर्ण और उदारवादी विमर्श और प्रस्तुति का विरोधाभास यही था, जिसमें दोषारोपण और भर्त्सना तथा प्रताड़ना और सहानुभूति, दोनों हाथ में हाथ डालकर चल रहे थे। इस तरह के चित्रण के विरोध में वर्तमान समय में दलित स्त्रियाँ अपने अतीत को चुनौती देती हुई नए बिंब और नई पहचान निर्मित कर रही हैं।

संदर्भ

'अछूत अंक' (1927), चाँद, मई.

'अछूत नारी का समुद्धार' (1927), चाँद, मई : 178-180.

'अछूत नारी की दुर्दशा' (1927), चाँद, मई : 175-178, 'अछूतोद्धार' (1931), *सुधा*, फ़रवरी : 33-40.

अजय एस. रावत (2002), *गढ़वाल हिमालयाज़ : ए स्टडी इन हिस्टॉरिकल पर्स्पेक्टिव*, इंडस पब्लिशिंग.

'अंतर्जातीय विवाह-प्रथा की व्यवस्था' (1934), चाँद, सितंबर : 525-526.

अनिता भारती (2013), *समकालीन नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध,* स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली.

अनुपमा राव (2009), द *कास्ट क्वेश्चन : दलित्स ऐंड द पॉलिटिक्स ऑफ़ मॉडर्न इंडिया,* पर्मानेंट ब्लैक, दिल्ली.

अबला हितकारक (1887), अमेरिकन मिशन प्रेस, 15 अक्टूबर, लखनऊ.

अभ्युदय (1925), 21 नवंबर.

अभ्युदय (1926), 20 मार्च.

अमृत राय (सं.) (1978), *गुप्त धन, भाग 2*, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद.

अंशु मल्होत्रा (2003), 'ऑफ़ दाईज़ ऐंड मिडवाइव्स: "मिडिल क्लास" इंटरवेंशंस इन द मैनेजमेंट ऑफ़ रिप्रोडक्टिव हेल्थ इन कोलोनियल पंजाब', *इंडियन जर्नल ऑफ़ जेंडर स्टडीज़* 10 (2).

अयोध्या प्रसाद भार्गव (1923), *संतति शास्त्र: अर्थात मनुष्य जाति की उत्तम संतान उत्पन्न करने के नियमों का संग्रह*, भार्गव बुक डिपो, बनारस.

आचार्य चतुरसेन (1930), *धर्म के नाम पर*, इलाहाबाद.

आनन्दी प्रसाद (1927), 'उपहार', चाँद, मई : 133.

आनंदी प्रसाद श्रीवास्तव (1928), *अछूत : एक समाज नाटक*, विश्व ग्रंथावली, इलाहाबाद.

आर. के. क्षीरसागर (1994), *दलित मूव्मेंट इन इंडिया ऐंड इट्स लीडर्स (1857-1956)*, एम.डी. पब्लिकेशंस, क्षीरसागर, दिल्ली.

ओम अवस्थी, (1962), *प्रेमचंद के नारी पात्र,* नैशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली.

ओलिवर मेंडेलसोहन, और मारिका विक्जिआनी (1998), द अनटचेबल्स : सबऑर्डिनेशन, पॉवर्टी ऐंड द स्टेट इन मॉडर्न इंडिया, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज, ई. ए. एच. ब्लंट (1931), द *कास्ट सिस्टम ऑफ़ नॉर्दर्न इंडिया : विद स्पेशल रेफ़रेंस टू यूपी*, लंदन.

ई. एच. व्याट (1918), *मेटरनिटी : ए सिंपल बुक फ़ॉर मदर्स ऐंड मेटरनिटी नर्सेज़ इन इंडिया,* इलाहाबाद.

ईश्वरदत्त शर्मा (1916), 'आत्म-त्याग', *सरस्वती*, 17 (2, 3), सितंबर : 182.

उमा चक्रवर्ती (1989), 'व्हाटएवर हैपेन्ड टू द वेदिक दासी? ओरिएन्टलिज़म, नैशनलिज़म, ऐंड द स्क्रिप्ट फ़ॉर द पास्ट', कुमकुम संगारी और सुदेश वैद (सं.), *रिकास्टिंग वूमेन: एसेज़ इन कोलोनियल हिस्ट्री*, काली फ़ॉर वूमेन, दिल्ली.

उमा चक्रवर्ती (2003), *जेंडरिंग कॉस्ट थ्रू अ फ़ेमिनिस्ट लेंस,* स्त्री, कलकत्ता.

उमा चक्रवर्ती (2004), 'वीमेन, मेन ऐंड द बीस्ट्स : द जातकास एज पॉपुलर ट्रेडिशंस', अलोका पाराशर-सेन (सं.), *सबऑर्डिनेट ऐंड मार्जिनल ग्रुप्स इन अर्ली इंडिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली : 210-42

ए. आई. डब्लू. सी. (1934), *एनुअल रिपोर्ट*, कलकत्ता.

ए. टी. ऐटकिनसन (1879), *बदायूँ : स्टॅटिस्टिकल, डिस्क्रिप्टिव ऐंड हिस्टॉरिकल अकाउंट ऑफ़ द नॉर्थ वेस्टर्न प्रॉविंस ऑफ़ इंडिया*, भाग V, खंड एक, गवर्नमेंट प्रेस, इलाहाबाद.

एक प्रत्यक्षदर्शी (1930), 'सतीत्व रक्षा के प्रति', *दम्पति* 1, 1 अगस्त.

एच. आर. नेविल (1904), *बाराबंकी : ए गजेटियर, डिस्ट्रिक्ट गजेटियर ऑफ़ यू.पी और ओ*, भाग : XLVIII, गवर्नमेंट प्रेस, इलाहाबाद.

एन. जैन (1986), 'वीमेन इन प्रेमचंद्'स राइटिंग्स', *जर्नल ऑफ़ साउथ एशियन लिटरेचर*, 21 (2) : 40-44.

एम.आई. बालफोर (1916), 'द ट्रेनिंग ऑफ़ दाईज़', *जर्नल ऑफ़ द एसोसिएशन ऑफ़ मेडिकल वीमेन इन इंडिया* 5(9), फ़रवरी: 19.

एम.आई. बालफोर (1932), 'इंडियन वीमेन इन इंडस्ट्री', द *जर्नल ऑफ़ द एसोसिएशन ऑफ़ मेडिकल वीमेन इन इंडिया* XX(4), नवंबर : 5-18.

एम. आई. बालफोर और रूथ यंग (1929), द वर्क ऑफ़ मेडिकल वीमेन इन इंडिया, लंदन., एस. सी. चतुर्वेदी (1947), *रूरल वेजेज़ इन द यूनाइटेड प्रोविंसेस (ए स्टडी ऑफ़ द मेटेरियल कलेक्टेड ड्यूरिंग द सेवेंथ क्वीनकेनियल इन्क्वायरी इंटू रूरल वेजेज कंडक्टेड इन दिसंबर 1944),* गवर्नमेंट ऑफ़ द यू. पी., डिपार्टमेंट ऑफ़ इकनॉमिक्स ऐंड स्टटिस्टिक्स, इलाहाबाद.

एस.एस. गौतम (संकलित) (2007), *भारतीय साहित्य में महिलाओं पर अभद्र कहावतें*, गौतम बुक सेंटर, दिल्ली.

ऐन ओकले (1984), द *कैप्चर्ड वुम्ब: ए हिस्ट्री ऑफ़ द मेडिकल केयर ऑफ़ प्रेग्नेंट वीमेन,* बेसिल ब्लैकवेल, न्यू यॉर्क.

ऐनी मैक्लिंटॉक (1995), *इम्पीरियल लेदर: रेस, जेंडर ऐंड सेक्सुअलटी इन द कॉलोनियल कॉन्टेस्ट*, रटलेज, न्यू यॉर्क.

ऐलेन स्कारी (1985), द *बॉडी इन पेन: द मेकिंग ऐंड अनमेकिंग ऑफ़ द वर्ल्ड*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, न्यू यॉर्क.

कँवल भारती (2000), 'दलित साहित्य और प्रेमचंद', शाही (सं.), *दलित साहित्य*.

कँवल भारती (2011), *स्वामी अछूतानंदजी 'हरिहर' और हिंदी नवजागरण*, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली.

क. ओ. वौघन (1916), 'शुड द दाई बी ट्रेंड ओर सूपरसीडेड?', *जर्नल ऑफ़ द एसोसियेशन ऑफ़ मेडिकल वूमन इन इंडिया* 5(9), फ़रवरी.

कन्नोमल (1923), *महिला सुधार,* महावीर ग्रंथ कार्यालय, आगरा.

कल्पना राम और मार्गरेट जॉली राम (सं.) (1998), *मैटर्निटीज़ ऐंड मॉडर्निटीज़ : कोलोनियल ऐंड पोस्ट कोलोनियल एक्सपीरियेन्सज़ इन एशिया ऐंड द पैसिफ़िक,* केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

कल्पना गवाली (2005), *प्रेमचंद तथा शैलेश मटियानी की कहानियों में दलित विमर्श,* चिंतन प्रकाशन, कानपुर.

कुमारी सत्यवती (1932), *स्त्री दर्शन,* ज्ञानोदय प्रकाशन, छपरा.

कुसुम मेघवाल (1989), *हिंदी उपन्यासों में दलित वर्ग,* संघी प्रकाशन, जयपुर.

कृष्णानंद (1922), 'अनुचित छुआछूत', *स्त्री दर्पण*, सितंबर : 155-157.

केशवकुमार ठाकुर (1930), *विवाह और प्रेम*, चाँद कार्यालय, इलाहाबाद.

केशवकुमार ठाकुर (1932), *गृहस्थ जीवन*, प्रयाग.

कैथलीन एम. अर्न्डल, (1991), 'द मुटिलिएशन ऑफ़ सूर्पनखा', पाउला रिचमैन (सं), *मेनी रामायना'ज़, द डाइवर्सिटी ऑफ़ ए नैरेटिव ट्रेडिशन इन साउथ एशिया,* कैलिफ़ोर्निया विश्वविद्यालय प्रेस, बर्कले.

'कॉन्ग्रेस और अछूत' (1930), चाँद, जनवरी : 638-641.

कांतिमोहन (2010), *प्रेमचंद और दलित विमर्श,* स्वराज प्रकाशन, दिल्ली.

गंगा प्रसाद उपाध्याय (1916), *जाति भेद*, आर्य प्रतिनिधि सभा, बुलंदशहर.

गंगा प्रसाद उपाध्याय (1928), *महिला व्यवहार चन्द्रिका*, प्रयाग.

गंगा प्रसाद उपाध्याय (1930), द *आर्य समाज ऐंड डिप्रेस्ड क्लासेज़,* आर्य समाज, इलाहाबाद.

गणेशदत्त शर्मा गौड़ 'इंद्र' (1929), *स्वप्न दोष रक्षक*, बनारस.

गणेशदत्त शर्मा गौड़ 'इंद्र' (1928), *संतान शास्त्र*, चाँद कार्यालय, इलाहाबाद.

गीता लाल (1965), *प्रेमचंद का नारी चित्रण,* हिंदी साहित्य संसार, पटना.

गीतांजलि पांडे (1996), 'हाउ ईक्वल? वूमन इन प्रेमचंद'स राइटिंग्स', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, XXI (50), 13 दिसंबर : 2183-2187.

गेराल्डिन फ़ोर्ब्स (1994), 'मैनेजिंग मिडवाइफरी इन इंडिया', डगमार एँगेल्स और शुला मार्क्स (सं.), *कॉन्टेस्टिंग कॉलोनियल हेजेमनी : स्टेट ऐंड सोसाइटी इन अफ़्रीक़ा ऐंड इंडिया,* ब्रिटिश एकेडमी प्रेस, लंदन : 152-172.

गुप्त 'पागल' (1921), *गृहिणी भूषण*, पन्नालाल गुप्त, काशी.

गोपाल दामोदर तामस्कर (1934), 'सनातनधर्म का सनातनत्व', चाँद, फ़रवरी : 440-446.

चंद्रावती लखनपाल, (1941), *स्त्रियों की स्थिति,* गंगा ग्रंथकार, लखनऊ.

चंडीप्रसाद (1927), 'देवी शबरी', चाँद, सितंबर : 552-562.

चंद करण शारदा (1925), *दलितोद्धार,* अज़मेर.

चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु (1960), *आदि हिंदू आंदोलन के प्रवर्तक श्री 108 स्वामी अछूतानंदजी 'हरिहर',* हिंदू समाज

सुधार कार्यालय, लखनऊ.

चन्द्रिकानारायण शर्मा (1938), *मानवोत्पत्ति विज्ञान*, काशी.

चमन लाल, प्रद्योत, प्रवीण कुमार भट्ट और अरुण कुकसाल (सं.) (2012), *उत्तराखंड के शिल्पकार,* विनसर पब्लिशिंग, देहरादून.

चिंतामणि 'मणि' (1935), *मनु और स्त्रियाँ*, इंडिया बुक एजेंसी, इलाहाबाद.

चारु गुप्ता (1991), 'पोट्रेयल ऑफ़ वूमन इन प्रेमचंद'स स्टोरीज़ : अ क्रिटीक', *सोशल साइंटिस्ट*, 19 (5-6), मई-जून : 88-113.

चारु गुप्ता (2001), *सेक्सुअलिटी, अब्सेनिटी, कम्यूनिटी : वूमन, मुस्लिम्'स ऐंड द हिंदू पब्लिक इन कॉलोनियल इंडिया,* परमानेंट ब्लैक, दिल्ली.

चारु गुप्ता (2012), *स्त्रीत्व से हिंदुत्व तक : औपनिवेशिक उत्तर भारत में यौनिकता और साम्प्रदायिकता,* राजकमल प्रकाशन, दिल्ली.

चारु गुप्ता (2016), द जेंडर *ऑफ़ कॉस्ट : रेप्रेज़ेंटिंग दलित्स इन प्रिंट,* पर्मानेंट ब्लैक, रानीखेत.

चारु गुप्ता (2018), 'रहबर से अपनी राह जुदा : संतराम, जाति और लिंग', *प्रतिमान : समय, समाज, संस्कृति*, 6 (12), जुलाई-दिसंबर : 295-324.

चारु गुप्ता (2019), 'कजरारी 'कुलटा' : हिंदी प्रिंट, सवर्ण लेखन और दलित स्त्री का (कु)चित्रण', *तद्भव* , 39 (7), जून : 39-59.

चार्लोट जी. बोर्स्ट (1995), *कैचिंग बेबीज़: द प्रोफ़ेशनलाइज़ेशन ऑफ़ चाइल्डबर्थ, 1870-1920*, केम्ब्रिज, युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

जगपति चतुर्वेदी (1946), *हमारी पारिवारिक व्यवस्था*, मात्री भाषा मंदिर, प्रयाग.

ज्योतिर्मयी ठाकुर (1932), *घरेलू विज्ञान,* प्रयाग.

जयदयाल गोयनका (1937), *नारीधर्म*, गोरखपुर : गीता प्रेस, गोरखपुर.

बलवन्त साधु जाधव (1992), *प्रेमचंद साहित्य में दलित चेतना,* अलका प्रकाशन, कानपुर.

जी. डब्ल्यू. ब्रिग्स (1920), द *चमार्स*, कलकत्ता.

जे.टी.एफ. जॉर्डन (1981), *स्वामी श्रद्धानंद : हिज़ लाइफ़ ऐंड कॉज़,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

जेनेट चावला (सं.) (2006), *बर्थ ऐंड बर्थगिवर्स: द पावर बिहाइंड द शेम*, हर-आनंद प्रकाशन, दिल्ली.जनार्दन जोशी (1918), *गृह प्रबंध शास्त्र*, प्रयाग.

जूडिथ डब्ल्यू लेविट (1986), *ब्राउट टू बेड: चाइल्ड-बियरिंग इन अमेरिका, 1750-1950,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क.

जूडिथ वॉल्श (2004), *डोमेस्टिसिटी इन कोलोनियल इंडिया: व्हाट वीमेन लर्न्ड व्हेन में गेव देम एडवाइस,* रौमैन ऐंड लिटिलफ़ील्ड, न्यू यॉर्क.

जे. सी. नेस्फ़ील्ड (1885), *ब्रीफ व्यू ऑफ़ द कास्ट सिस्टम ऑफ़ द नॉर्थ वेस्टर्न प्रोविंस ऐंड अवध,* गवर्नमेंट प्रेस, इलाहाबाद.

टोनी मॉरिसन (1992), *प्लेइंग इन द डार्क: व्हाइटनेस ऐंड द लिटररी इमेजिनेशन*, हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

डब्ल्यू. क्रुक (1974[1896]), द *ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स ऑफ़ द नॉर्थ वेस्टर्न इंडिया*, कॉस्मो, दिल्ली.

डब्ल्यू. डी. जॉर्डन (1968), *व्हाइट ओवर ब्लैक: अमेरिकन एटिट्यूड टुवर्ड्स द नीग्रो (1550-1812)*, युनिवर्सिटी ऑफ़ नॉर्थ कैरोलिना प्रेस, चैपल हिल.

तोताराम वकील (1925), *स्त्री धर्म बोधिनी*, भारत बुक डिपो, अलीगढ.

तोरल जतिन गजरावाला (2013), *अनटचेबल फिक्शन्स : लिटरेरी रियलिज़म ऐंड द क्राइसिस ऑफ़ कास्ट,* फ़ोर्डहम युनिवर्सिटी प्रेस, न्यू यॉर्क.

द इंडियन सोशल रिफ़ॉर्मर (1935), 16 नवंबर : 169.

'दलितोद्धार सम्मेलन' (1930), चाँद, मार्च : 874-875.

दयाशंकर दुबे (1925), 'भारत में हिंदुओं की दशा', *माधुरी*, अगस्त : 146-153.

दामोदर शास्त्री (1928), 'कुछ विचारणीय बातें', चाँद, मार्च : 572-578.

धर्मवीर (2005), *प्रेमचंद : सामंत का मुंशी,* वाणी प्रकाशन, दिल्ली.

नंदलाल जायसवार 'वियोगी' (1943), *अछूतों का इंसाफ़,* जायसवार सेवा सदन, इलाहाबाद.

नवल वियोगी और म. अनवर अंसारी (2010), *हिस्टरी ऑफ़ द लेटर हरप्पन्स ऐंड शिल्पकार मूव्मेंट, भाग –II*, कल्पाज़ पब्लिकेशन, दिल्ली.

नारायण दत्त शर्मा 'कश्यप' (1927/1929/1931), भारतीय विधवाओं की करुणापूर्ण कथाएँ अर्थात हिंदू विधवाओं पर अत्याचार, भाग 1-2-3, विधवा सहायक ग्रंथमाला कार्यालय, आगरा. '

नीच जातियाँ' (1919), *स्त्री दर्पण*, नवंबर : 273-274.

परमेशीदास जैन (1937), *विजातीय विवाह मीमांसा,* इलाहाबाद.

पार्थ चटर्जी (1993), *नेशन ऐंड इट्स फ्रैगमेन्ट्स: कॉलोनिअल ऐंड पोस्ट कॉलोनिअल हिस्टोरीज़*, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन.

पुलिस ऐब्स्ट्रैक्ट्स ऑफ़ इंटेलिजेंस (पी. ए. आई), 1922-40), यू.पी.

पेट्रीशिया हिल कॉलिन्स (2005), *अफ़्रीकन अमेरिकन्स, जेंडर ऐंड द न्यू रेसिज़म*, रटलेज, न्यू यॉर्क.

प्रेम चौधरी (2007), *कॉन्टेंसियस मैरिज, एलोपिंग कपल्स,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

प्रदीप कु. शर्मा (2006), *दलित पॉलिटिक्स ऐंड लिटरेचर,* शिप्रा पब्लिकेशंस, दिल्ली.

प्रसादीलाल झा (1923), 'अच्छी दाईयों की आवश्यकता', *स्त्री दर्पण*, 29(3), सितंबर : 476-478.

प्रसाद सिंह संत (1933), *हरिजन गान,* हरिजन सेवक संघ, आज़मगढ़.

प्रताप सिंह (सं.) (1936), *अखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद महामंडल का रजत जयंती ग्रंथ,* महाशक्ति प्रेस, बनारस.

प्रेमचंद (1984), *मानसरोवर* : भाग 1-8, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद.

पौलिन कोलेन्द, (1987), *रीजनल डिफ़रेंसेज़ इन फैमिली स्ट्रक्चर इन इंडिया*, रावत पब्लिकेशंस, जयपुर.

फ़ाइल 10/1922, *ए.आई.सी.सी.पेपर्स*, एन.एम.एम.एल (नेहरू मेमोरियल म्यूज़ीयम ऐंड लाइब्रेरी).

फ़ाइल 1248/1933, जुडिशियल, होम डिपार्टमेंट, नैशनल आर्काइव्स ऑफ़ इंडिया.

फ़ाइल 124-ईई/1934, प्रोसीडिंग्स ऑफ़ यू. पी लेजिस्लेटिव काउन्सिल, 20 फ़रवरी, नैशनल आर्काइव्स ऑफ़ इंडिया, लेजिस्लेटिव डिपार्टमेंट.

फ़ाइल 22, *बाबा रामचंद्र पेपर्स*, एन.एम.एम.एल.

फ़ाइल 25-26/1919, अक्टूबर, लेजिस्लेटिव डिपार्टमेंट, नैशनल आर्काइव्स ऑफ़ इंडिया.

फ़ाइल 37, वॉल. ई /1934, *बी. एस. मूंजे पेपर्स*, एन.एम.एम.एल.

फ़ाइल 68-69/1900, जून, ए . मेडिकल, होम डिपार्टमेंट, नैशनल आर्काइव्स ऑफ़ इंडिया.

फ़ाइल म-3, *हिंदू महासभा पेपर्स, जनरल करेस्पॉन्डेन्स*, (एन.एम.एम.एल).

फ़िफ़्टी-सेवंथ रिपोर्ट ऑफ़ द डायरेक्टर ऑफ़ पब्लिक हेल्थ ऑफ़ यू. पी (1925), इलाहाबाद.

फिलिप लुटगेंडॉर्फ (2001), 'डाइनिंग आउट एट लेक पम्पा: द शबरी एपिसोड इन मल्टीपल रामायण', पाउला रिचमैन (सं.) *क्वेश्चनिंग रामायण : ए साउथ एशियन ट्रेडिशन,* युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, बर्कले : 119-136.

फिलिपा लेविन (2003), *प्रॉस्टिट्यूशन, रेस ऐंड पॉलिटिक्स: पुलिसिंग वेनेरियल डिजीज़ इन द ब्रिटिश एम्पायर,* रटलेज, न्यू यॉर्क.

बलदेव सिंह आर्य (1935), 'सवाल डोला पालकी', *इंडियन सोशल रिफ़ॉर्मर*, 23 नवंबर.

बाबू सन्नूलाल गिरदावर गुप्त (1922), *स्त्री सुबोधिनी*, लखनऊ.

बारबरा एेरनरेइच और डीर्ड्रे इंग्लिश (1973), *विच्स, मिडवाइव्स ऐंड नर्सेज़ : ए हिस्ट्री ऑफ़ वीमेन हीलर*, फ़ेमिनिस्ट प्रेस, न्यू यॉर्क.

बालकृष्ण वाजपेई (1934), *स्त्री सर्वस्व*, रत्नाश्रम, आगरा.

बासुदेव शर्मा (1916), *अग्रवाल जाति प्रबंध*, आगरा.

बेल हुक्स (1992), *ब्लैक लुक्स: रेस ऐंड रिप्रेज़ेंटेशन*, साउथ ऐंड प्रेस, बोस्टन.

भवानीदयाल संन्यासी (1928), 'स्त्री और सेवा', *चाँद*, अक्टूबर : 650-655.

मंगलदेव शर्मा (1927), 'भ्रान्ति की लहर', *माधुरी*, अक्टूबर : 414-419.

मनव्रता देवी (1948), *नारी धर्म शिक्षा,* काशी पुस्तक भंडार, बनारस.

महेंदुलाल गर्ग (1930), *कलावती शिक्षा*, प्रयाग.

मालविका कस्तूरी (2002), *इम्बट्ल्ड आयडेंटिटीज़ : राजपूत लीनियेज़ेज़ ऐंड द कॉलोनियल स्टेट इन नाइंटींथ सेंचुरी नॉर्थ इंडिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

मार्गरेट एल हंटर (2005), *रेस, जेंडर, ऐंड द पॉलिटिक्स ऑफ़ स्किन टोन,* रटलेज, न्यूयॉर्क.

मिशेल फूको (1978), *द हिस्ट्री ऑफ़ सेक्सुअलटी, भाग-1*, रॉबर्ट हर्ले द्वारा अनुवादित, विंटेज, न्यू यॉर्क.

मुकुल बिहारी वर्मा (1971), *हिस्टरी ऑफ़ हरिजन सेवक, 1932-1968*, हरिजन सेवक संघ, दिल्ली.

मेरी हैनकॉक (2001), 'होम साइंस ऐंड द नैशनलाइज़ेशन ऑफ़ डोमेस्टिसिटी इन कॉलोनियल इंडिया', *मॉडर्न एशियाई स्टडीज* 35(4) : 871-903.

यशोदा देवी (1910), *नारी नीति शिक्षा*, इलाहाबाद.

रुक्मणी देवी (1919), *मेम और साहिब*, दुर्गा प्रसाद, बनारस.

रतनकुमार सम्भारिया (2011), *मुंशी प्रेमचंद और दलित समाज,* अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली.

राधिका सिंघा (1998), *ए डेस्पटिज़म ऑफ़ लॉ: क्राइम ऐंड जस्टिस इन अर्ली कॉलोनियल इंडिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

'राजा' महेंद्र (1952), 'भारत की मल्लाह जाति', *विशाल भारत*, अगस्त : 106.

रॉबी डेविस-फ्लोयड और कैरोलिन एफ. सार्जेंट (सं.) (1997), *चाइल्डबर्थ ऐंड ऑथरेटिव नॉलेज : क्रॉस-कल्चरल पर्सपेक्टिव्स*, युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, बर्कले.

रामगोपाल शुक्ला 'प्रकाश', (1934), *अछूतोद्धार अर्थात कट्टर पंथियों की चिल्लपों*, कानपुर.

रामचरित उपाध्याय (1927), 'परिरम्भ', *चाँद*, मई : 74.

रामतेज पाण्डे (1931), *नारी धर्म शास्त्र*, भार्गव पुस्तकालय, काशी.

रामदास गौड़ (1927), *कन्याओं की पोथी या कन्या-सुबोधिनी*, गाँधी हिंदी पुस्तक भण्डार, प्रयाग.

रामनाथ लाल 'सुमन' (1933), *भाई के पत्र : विवाह समस्या और नारी जीवन*, सस्ता साहित्य मंडल, अज़मेर.

रामनारायण स. रावत, (2012), *रीकन्सिडरिंग अनटचेबिलिटी : चमार्स ऐंड दलित हिस्टरी इन नॉर्थ इंडिया,* परमानेंट ब्लैक, रानीखेत.

रामेश्वरी प्रसाद 'राम' (1926), *अछूतोद्धार नाटक,* नागरी प्रचारिणी सभा, बनारस.

रामरख सिंह सहगल (1922), *समाज दर्शन अर्थात सामाजिक कुरीतियों का दिग्दर्शन*, चाँद कार्यालय, इलाहाबाद.

राय बहादुर लाला बैजनाथ (1905), *हिंदूइज़म : एन्सीएंट ऐंड मॉडर्न*, वैश्या हितकारी ऑफ़िस, मेरठ.

'रिव्यू : रिपोर्ट ऑफ़ द रॉयल कमीशन ऑन लेबर इन इंडिया, 1929-30' (1931), द *जर्नल ऑफ़ द एसोसियेशन ऑफ़ मेडिकल वूमन इन इंडिया*, XIX(4), नवंबर : 51-55.

लज्जाराम (1928), 'समाज सुधार', *सुधा*, जनवरी : 704.

लक्ष्मीधर वाजपेई (1941), *धर्मशिक्षा*, तरुण भारत ग्रंथावली, प्रयाग.

लॉरा आर. ब्रुएक (2014), *राइटिंग रेज़िस्टेन्स : द रेटॉरिकल इमैज़िनेशन ऑफ़ हिंदी दलित लिटरेचर*, कोलंबिया युनिवर्सिटी प्रेस, न्यू यॉर्क.

लुज़िया सेवरी (2014), 'वर्नाक्युलर यूजीनिक्स? संतति-शास्त्र इन पॉपुलर हिंदी एडवाइज़री लिटरेचर (1900-1940)', *साउथ एशिया : जर्नल ऑफ़ साउथ एशियन स्टडीज़* 37(3) : 381-397.

लुईस औवेर्कर्क (1945), द *अनटचेबल्स ऑफ़ इंडिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, लंदन.

लाला कन्नोमल (1927), 'हिंदू धर्म में अछूतों का स्थान'. *चाँद*, मई : 55-56.

लाला बांकेलाल (1909), *कन्या मनोरंजन*, लक्ष्मीनारायण प्रेस, मुरादाबाद.

व. ब. रावत (2006), 'लिटरेचर : दलित्स इन प्रेमचंद'स स्टोरीज़, *मनूस्की*, 13 मई.

विजिया भारती (1995), 'हिंदू एपिक्स : पोरट्रायल ऑफ़ दलित वीमेन', पी. जी. जोगदंड (सं.), *दलित वीमेन इन इंडिया : इश्यूज ऐंड पर्सपेक्टिव्स,* ज्ञान पब्लिशिंग हाउस, पुणे : 93-104.

वेंडी पर्किन्स (1996), *मिडवाइफ़री ऐंड मेडिसिन इन अर्ली मॉडर्न फ्रांस*, लुईस बुर्जुआ, एक्सेटर.

वेंडी ब्राउन (2006), *रेगुलेटिंग एवर्सन : टॉलरेंस इन द एज ऑफ़ आयडेंटिटी ऐंड एम्पायर,* प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन.

संपादकीय (1926), 'भारत के कलंक', *चाँद,* नवंबर : 121.

संपादकीय (1927), 'पाप की ग्रंथियाँ', *चाँद*, मई : 2-6.

संपादकीय (1927), 'शिक्षा और कुसंस्कार'. *चाँद*, मई : 11-12.

संपादकीय (1934), *चाँद*, अगस्त.

संतराम (1927), 'समाज सुधार: जाति-पाँति के दुष्परिणाम', *सुधा*, सितंबर : 219-222.

संतराम (1929), 'अंतर्जातीय विवाह'. *सुधा*, जुलाई : 596-608.

संतराम (1959), *अंतर्जातीय विवाह ही क्यों?* जात-पाँत तोड़क मंडल, होशियारपुर.

सदानंद शाही (2000) (सं.), *दलित साहित्य की अवधारणा और प्रेमचंद,* प्रेमचंद साहित्य संस्थान, गोरखपुर.

सतनाम सिंह (2011), *चमार जाति का गौरवशाली इतिहास,* सम्यक प्रकाशन, दिल्ली.

सतीश कुमार शर्मा (1983), 'शुद्धि : ए केस स्टडी ऑफ़ रोल ऑफ़ ए रिलिजियस मूव्मेंट इन द स्टेटस इंप्रूव्मेंट ऑफ़ अनटचबल्स', *इंडियन जर्नल ऑफ़ सोशल रिसर्च,* 24 (1), अप्रैल : 70-77.

सनल मोहन (2011), 'नररातिविज़िंग द हिस्टरी ऑफ़ स्लेव सफरिंग', सूज़ी थारु और क. सत्यनारायया (सं.), *नो आल्फबेट इन साइट: न्यू दलित राइटिंग्स फ्रॉम साउथ इंडिया*, पेंग्विन, दिल्ली : 534-555.

'समाचार संग्रह' (1927), चाँद, मई : 188-192.

'समाज सुधार' (1930), *सुधा*, जनवरी : 699-707.

सर सेसिल वॉल्श (1929), *इंडियन विलेज क्राइम्स विद एन इंट्रोडक्शन ऑन पुलिस इन्वेस्टिगेशन ऐंड कन्फेशंस*, अर्नेस्ट बेन लिमिटेड, लंदन.

समिता सेन (1999), *वीमेन ऐंड लेबर इन लेट कॉलोनियल इंडिया इन द बंगाल जूट इंडस्ट्री*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

'स्त्री समाज' (1929), *सुधा*, जुलाई : 659.

'स्मृति कुञ्ज' (1927), चाँद, जनवरी : 339-342.

स्वप्ना बनर्जी (2004), *मेन, वीमेन ऐंड डोमेस्टिक्स : आर्टिकुलेटिंग मिडिल-क्लास आयडेंटिटी इन कोलोनियल बंगाल*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

सारा बेथ, (2007), 'हिंदी दलित ऑटोबायोग्रफ़ी : ऐन एक्सप्लोरेशन ऑफ़ आयडेंटिटी', *मॉडर्न एशियन स्टडीज़* 41 (3).

सिक्स्टी-थर्ड एनुअल रिपोर्ट ऑफ़ द डायरेक्टर ऑफ़ पब्लिक हेल्थ ऑफ़ यू.पी. (1931), इलाहाबाद.

सिक्स्टी-सिक्स्थ रिपोर्ट ऑफ़ द डायरेक्टर ऑफ़ पब्लिक हेल्थ ऑफ़ यू.पी. (1934) इलाहाबाद.

सीन लैंग (2005), 'ड्रॉप द डेमन दाई : मैटरनल मॉर्टेलिटी ऐंड द स्टेट इन कॉलोनियल मद्रास, 1840-1875', *सोशल हिस्ट्री ऑफ़ मेडिसिन*, 18(3).

सी. ए. बेली (1996), *एम्पायर ऐंड इंफ़ॉर्मेशन : इंटेलिजेंस गैदरिंग ऐंड सोशल कम्युनिकेशन इन इंडिया, 1780-1870,* केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

सेंटी रोज़ारियो और सैमुअल जेफ़्री (सं.) (2002), *डॉटर्स ऑफ़ हरिटी : चाइल्डबर्थ ऐंड फीमेल हीलर इन साउथ ऐंड साउथईस्ट एशिया*, रटलेज, लंदन.

सुप्रिया गुहा (1998), 'फ़्रॉम डाइस टू डॉक्टर्स : द मेडिकलाइजेशन ऑफ़ चाइल्डबर्थ इन कॉलोनियल इंडिया', लक्ष्मी लिंगम (सं.) *अंडरस्टैंडिंग वूमेन हेल्थ इश्यूज : ए रीडर*, काली फ़ॉर विमेन, दिल्ली.

सुखनंदन प्रसाद दुबे (1933), *छुआ-छूत का भूत अर्थात हिंदुओं की दशा,* अवस्थी पुस्तकालय, लखनऊ.

सुमित सरकार (1997), *राइटिंग सोशल हिस्टरी,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

सुसन बेली (1999), *कास्ट, सोसायटी ऐंड पॉलिटिक्स इन इंडिया फ्रॉम दी एटीन्थ सेंचुरी टू दी मॉडर्न एज*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' (1929), 'वर्णाश्रम-धर्म की वर्तमान स्थिति', *माधुरी*, दिसम्बर : 836-843.

सूसी थारू और के. सत्यनारायण (सं.) (2011), *नो अल्फाबेट इन साइट: न्यू दलित राइटिंग्स फ्रॉम साउथ इंडिया,* पेंगुइन, दिल्ली.

सेठ विद्यावती (1922), 'प्राचीन और नवीन भारत की महिलाएँ', *माधुरी*, 1 (4), अक्टूबर : 339-342.

सेंसस ऑफ़ इंडिया, 1911, *यू. पी, भाग. XV, खंड I* (1912), इलाहाबाद.

सेंसस ऑफ़ इंडिया, 1921, यू. पी, भाग. XVI, खंड I (1923), इलाहाबाद.

सेसिलिया वैन होलेन (2003), *बर्थ ऑन द थ्रेशोल्ड: चाइल्डबर्थ ऐंड मॉडर्निटी इन साउथ इंडिया*, युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, बर्कले.

श्योराज सिंह बेचैन (2000), 'दलित साहित्य की अवधारणा और प्रेमचंद का चमार चिंतन', शाही (सं.), *दलित साहित्य*.

शर्मिला रेगे (2013), *अगेन्स्ट द मैडनेस ऑफ़ मनु : बी.आर. आंबेडकर'स राइटिंग्स ऑन ब्राहमानिकल पेट्रियार्की,* नावायणा, दिल्ली.

शशि भूषण उपाध्याय, (2002), 'रेप्रेज़ेंटिंग द अंडरडॉग्स : दलित्स इन द लिटरेचर ऑफ़ प्रेमचंद', *स्टडीज़ इन हिस्टरी* 18 (1).

शोभाराम 'धेनु-सेवक' (1927), 'अछूत-निवेदन', *चाँद*, मई : 13-15.

शिरोमणि शर्मा (1927), 'समाज सुधार', *सुधा*, अगस्त : 100-102.

शिवनारायण मिश्र (1922), *बहिष्कृत भारत,* प्रताप पुस्तकालय, कानपुर.

शिव शर्मा 'महोपदेशक' (1927), *स्त्री शिक्षा*, किंग प्रेस, बरेली.

शिवकुमार शास्त्री (1916), *वर्ण व्यवस्था पर विचार,* विश्व प्रचारक महामंडल, अलीगढ़.

श्रद्धानंद संन्यासी (1919), *जाति के दीनों को मत त्यागो अर्थात 7 करोड़ दीनों की रक्षा,* धर्म प्रचारक प्रेस, दिल्ली.

हजारीलाल जैन (1931), 'सनातन धर्म और अछूत', *चाँद*, मई : 62-66.

हनुमान प्रसाद पोद्दार (1929), *समाज सुधार*, गीता प्रेस, गोरखपुर.

हीरालाल (1927), 'छुआ-छूत', *चाँद*, मई : 72-74.

'हिंदू समाज की उन्नति के साधन' (1926), *चाँद*, अगस्त : 386-387.

'हिंदू महासभा रेज़ल्यूशंस ऑन रिमूवल ऑफ़ अनटचैबिलिटी'. बी. एस. मूंजे पेपर्स, फ़ाइल 18/1931, एन.एम.एम.एल, दिल्ली.

हुक्मा देवी (1932), *महिला मनोरंजक प्रश्नावली*, लखनऊ.

ज्ञानेंद्र पांडे (2013), *ए हिस्ट्री ऑफ़ प्रेजुडिस : रेस, कास्ट ऐंड डिफ़रेंस इन इंडिया ऐंड द यूनाइटेड स्टेट्स,* केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

दलित नृत्यांगनाएँ : अपराधीकरण, उत्कंठा और सुधार

नीता कोली

'जाति' और 'लैंगिकता' सामाजिक विभेद की इकाई है, जिन्हें परस्पर पृथक समझा गया है। जाति को धर्मानुमोदित सामाजिक स्तरीकरण की भारतीय इकाई के संदर्भ में देखा जाता है और लैंगिकता को पितृसत्ता के उत्पादन और पुनरुत्पादन के कारक के रूप में समझा गया है।[1] दलितों के क्षेत्रीय इतिहास[2] ख़ासतौर पर औपनिवेशिक महाराष्ट्र[3] पर जो काम है उसमें 'दलित' का अर्थ मुख्य रूप से पुरुष से है और औपनिवेशिक काल में महिलाओं पर जो नारीवादी लेखन[4] है उसके केंद्र में उच्च जातीय मध्यमवर्गीय महिलाएँ हैं। यह लेखन मुख्यतः समाज सुधार पर है, जोकि उच्च जातीय मध्यमवर्गीय महिला के मुद्दों से जुड़े थे। स्वयं चारु गुप्ता जिन्होंने जाति और लैंगिकता के अध्ययन[5] में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है अपने आरंभिक कार्य[6] में इन मुद्दों पर बात नहीं करती हैं। अपने इस शोध निबंध में, मैं उपरोक्त पूर्वाग्रहों से हटकर जाति और लैंगिकता के संबंधों को उजागर करने का प्रयास करूँगी। जातीय व परंपरागत तौर पर नृत्य संगीत करने वाली स्त्रियाँ जिज्ञासा और अकादमिक हस्तक्षेप का विषय बनी हुई हैं। इसका एक कारण इनका परंपरागत स्त्री की भूमिका से भिन्नता तथा इनकी यौनता है। इस संदर्भ में शर्मीला रेगे का काम महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह न केवल लावणी और कोलाहाटी महिलाओं के इतिहास को समझने में मदद करता है बल्कि जाति और लैंगिकता के परस्पर संबंधों को समझने में भी लाभदायक है। रेगे अपने कार्य में लावणी महिलाओं को दास बनाने से लेकर उनकी यौनिकता को लगातार मर्दवादी विचारधारा द्वारा नियंत्रित किए जाने की प्रक्रिया की बात करती हैं।[7]

---

[1] अनुपमा राय (2012) : 239.

[2] देखें, शेखर बंद्योपाध्याय (1997); सौरभ दुबे (1998); मार्क जुएर्गेन्समेयर (2009).

[3] देखें, रोज़लिंड ओ (1985); गेल ऑम्वेट (1994).

[4] देखें, एम. स्वप्न बनर्जी (2004) (सं.), कुमकुम संगारी और सुदेश वैद (1989); तनिका सरकार (2001); एच. गेरल्डिन फ़ोर्ब्स (1996).

[5] देखें, चारु गुप्ता (2016).

[6] देखें, चारु गुप्ता (2001).

[7] शर्मिला रेगे (1995) : 23-38.

अंजलि अरुंदेकर देवदासी अस्मिता को 'समरूप' समझे जाने की प्रक्रिया को दर्शाती हैं। वह गोवा और महाराष्ट्र के गोमंतक मराठा समाज का अध्ययन करती हैं और यह तर्क पेश करती हैं कि देवदासी समुदाय और इसका इतिहास बहुस्तरीय है। वह देवदासी समाज को एक समरूप समाज के रूप में देखने को 'मिथ्या एकता' की संज्ञा देती हैं। अंजलि कहती हैं कि देवदासियों को ब्राहमणवादी निरंकुशतावाद के अंतर्गत रख कर इन्हें जाति और श्रम के आयाम में ही बाँध दिया गया। उन्होंने इस विषय के 'सांस्कृतिक संग्रह' बनाम 'सामाजिक बुराई' पर आधारित विमर्श को भी खोलने का प्रयास किया है।[8]

प्रियदर्शिनी विजयश्री धार्मिक वेश्याओं के मंदिरेतर रूपों का उद्घाटन करती हैं। इनमें जाति, आनुष्ठानिक भूमिका, पारिश्रमिक आदि के स्तर पर भारी विषमताएँ हैं। वह कहती हैं इससे पितृसत्तात्मक जाति व्यवस्था के भीतर विद्यमान वैकल्पिक 'स्थल' की संरचना का खुलासा होता है। इसके साथ ही, उन पेंचों को समझने का अवसर भी उत्पन्न होता है जिनके तहत जाति सभी मानवीय संबंधों के बीच कार्यरत है।[9] देवेश सोनेजी तमिलनाडु में देवदासी प्रथा का ख़ासतौर पर उनकी नृत्यकला के संदर्भ में अध्ययन करते हैं। वह कहते हैं सुधारक देवदासियों की जीवनशैली का उनकी अवैवाहिक यौनिकता के आधार पर अपराधीकरण कर रहे थे और उनके उन्मूलन के लिए एकजुट थे। सुधारक उनकी सामाजिक वास्तविकताओं पर ध्यान नहीं दे रहे थे, जो उनका हाशियाकरण करता है।[10]

अनुजा अग्रवाल बेड़िया समुदाय का अध्ययन करती हैं, जोकि आमतौर पर आर्थिक रूप से स्त्री की वेश्यावृत्ति पर निर्भर था। अनुजा कहती हैं उनका यह अध्ययन वेश्यावृत्ति से ज़्यादा उस आचार/व्यवहार पर है, जिसमें 'सामान्य समाज' के संस्थान और व्यवहार एक विशेष समूह के लोगों के बीच वेश्यावृत्ति के प्रचलन को उत्पादित, पुनरुत्पादित कर रहे थे तथा आकार दे रहे थे। अनुजा बेड़िया स्त्री की वेश्यावृत्ति को ख़ासतौर पर स्त्री के श्रम और पारिवारिक संबंधों के संदर्भ में देखती हैं। वह पितृसत्ता के मुद्दे पर ख़ास ध्यान देती हैं।[11] एंड्रू आल्टर गढ़वाल में ढोलवादन की बात करते हैं जोकि गढ़वाल में संगीतकार जातियाँ बजाती हैं। वह बाजगी, दास, औजी, ढोली, हुड़किया जातियों की, उनके ढोलवादन के पेशे के संदर्भ में बात करते हैं। लेकिन एंड्रू की दिलचस्पी इन जातियों के विषय में बात करना नहीं बल्कि गढ़वाल में ढोलवादन के ज्ञान की प्रकृति की पड़ताल करना है। वह ख़ासतौर पर ढोल के इतिहास, ज्ञान और प्रचलन के ग्रंथ *ढोल सागर* का अध्ययन करते हैं।[12] वसुधा पांडे ब्रिटिश औपनिवेशिक काल में कुमाऊँनी संस्कृति के 'उच्च' और 'निम्न' में निर्धारण के संदर्भ में कहती हैं कि दास, ढोली और दमाई को हाशिए पर लाने में आधुनिक बुद्धिजीवी वर्ग की

[8] अंजली अरुन्देकर (2012), (सं.) एनिया लूम्बा और रिटी ए. लुकोज़ : 244-263.

[9] प्रियदर्शिनी विजयश्री (2010) : 173.

[10] देखें, देवेश सोनेजी (2012).

[11] अनुजा अग्रवाल (2008) : 7.

[12] ऐंड्रू ऑल्टर (2003) : 63-76.

महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। इन्होंने लोक प्रस्तुतियों पर प्रहार किया जिन्हें घटिया और अभद्र समझा गया। इस वर्ग ने संस्कृत के प्रयोग को प्रोत्साहित किया तथा स्थानीय परंपराओं का अवमूल्यन किया।[13]

मैं जिन नृत्यांगनाओं की बात करने जा रही हूँ वह उत्तराखंड के हिंदू वर्ण व्यवस्था के चौथे पायदान डोम वर्ण से हैं। डोम में भी ये जातियाँ चौथे स्थान पर आती है कोल्टा, ढाकि, कुमरिया, बेड़ा, बादी, हुड़किया, बाजगी, ढोली आदि ऐसी जातियाँ थीं जो जातीय व परंपरागत तौर पर नाचने व गाने का कार्य कर रही थीं। अन्य डोम जातियों के साथ इन्हें सामूहिक रूप से हरिजन[14] व शिल्पकार[15] भी कहा जाता है। एटकिंसन ने इन्हें पेशेवर भिखारी और घुमक्कड़ संगीतकार बताया है। बादी गाँव के संगीतकार थे जो विभिन्न वाद्ययंत्र बजाते थे और उत्सवों पर गाते थे। वह गाँव-गाँव, घर-घर माँगने के लिए जाते थे। एटकिंसन कहते हैं कि बादी जिसकी अपेक्षा करते थे यदि उन्हें नहीं मिलता था तो वह उस घर के लोगों की निंदा करते थे, अपशब्द बोलते थे। इस प्रकार वह कुछ हद तक स्वयं को बनाए रखने में समर्थ थे। हुड़किया अपने छोटे से वाद्य यंत्र, 'हुड़का' जिसे वह अपने साथ रखते थे, के कारण हुड़किया कहलाए। वह कृषि नहीं करते थे, अपनी स्त्रियों के साथ घूमते थे जो गाती और नाचती थी। इसी गजेटियर के दूसरे भाग में कुमाऊँ के संदर्भ में एटकिंसन कहते हैं कि हुड़किया स्त्रियाँ वेश्यावृत्ति भी करती थीं। ढोली 'ढोलक' बजाने के कारण ढोली कहलाए। ढोलक आत्मा को किसी व्यक्ति में प्रवेश करने या व्यक्ति से बाहर आने के लिए बजाया जाता था। इसकी एवज़ में ढोली को पैसा मिलता था।[16] बाजगी ढोल बजाते थे, बेड़ा संगीतकार थे, ढाकी नर्तक थे और कोल्टा जातीय तौर पर हल चलाने वाले थे।[17] हालाँकि यह दलित जातियाँ उत्तराखंड में सभी स्थानों पर हैं, किंतु मैं यहाँ पर टिहरी गढ़वाल रियासत के विशेष संदर्भ में बात करूँगी।

इन नृत्यांगनाओं को विवाह, बच्चे के जन्मोत्सव, अतिथियों के मनोरंजन आदि पर बुलाया जाता था। कुछ बड़े सामंत व राजा स्वयं का हुड़किया परिवार रखते थे, जो पैतृक संपत्ति के रूप में पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित होता था।[18] ये नृत्यांगनाएँ होली व जश्न के समय में दरबार में नृत्य संगीत प्रस्तुत करती थीं। गाने-बजाने का प्रशिक्षण बचपन से ही शुरू हो जाता था। ये नृत्यांगनाएँ 10-12 साल की उम्र से ही दरबार में तथा अन्य स्थानों में प्रस्तुतियाँ देने लगती थीं। लड़कियों को छोटी उम्र में ही गाने बजाने के प्रशिक्षण के लिए पेशेवर नृत्यांगनाओं, जो कि आमतौर पर उनकी रिश्तेदार हुआ करती थीं, के पास छोड़ दिया जाता था। एडविन टी एटकिंसन अपनी

[13] वसुधा पांडे (2014) : 8.

[14] गाँधी जी ने 1930 से दलितों को हरिजन कहना शुरू किया, जिसका अर्थ है ईश्वर की संतान.

[15] लाला लाजपत राय ने उत्तराखंड के दलित जिन्हें डोम कहा जाता था को, 1913 में उनके शिल्प कार्यों के कारण शिल्पकार नाम दिया.

[16] एडविन टी. एटकिंसन (2002, 1881) वॉल्यूम 3, पार्ट-1 : 279.

[17] बनारसी दास, उत्तर प्रदेश डिस्ट्रिम्स गज़ेटियर टिहरी गढ़वाल : 45.

[18] मनमोहन शर्मा (1977) : 40.

किताब *हिमालयन डिस्ट्रिक्ट ऑफ़ नॉर्थ वेस्ट प्रोविन्स* में लिखते हैं कि हुड़किया लड़कियाँ वेश्यावृत्ति करती थीं तथा ब्रिटिश सैनिक उनके पास आते थे।[19]

1904 में तिब्बत में यंग हसबैंड अभियान[20] के बाद उत्तराखंड तथा तिब्बत के मध्य व्यापार को बढ़ावा मिला। ग्रीष्म ऋतु में काफ़िले यहाँ से गुज़रते थे। ये हुड़किया स्त्रियों के लिए बहार के दिन थे। इनका मुख्य कार्य धनी भोटियाओं का मनोरंजन करना था। कुछ भोटिया स्वयं का हुड़किया परिवार रखते थे और उनकी सेवाओं पर प्राथमिक अधिकार रखते थे।[21] स्त्रियाँ प्रातः व्यापारियों के मार्च से पूर्व तथा संध्या में विराम के बाद नृत्य करती थीं। वह अपने स्वामी को प्रातः मार्ग तक विदा करती थी तथा लौटने पर उनका स्वागत करती थी। प्रतिष्ठित व्यक्ति के विदाई समारोह के दौरान हुड़किया स्त्रियाँ जुलूस यात्रा में लगातार नृत्य करती थीं तथा व्यक्ति को गाँव के बाहर तक विदा करती थीं।[22] व्यापारिक ऋतु के पश्चात् भी नृत्य संगीत जारी रहता था। गीत पीढ़ी-दर-पीढ़ी मौखिक रूप से हस्तांतरित होते थे। कई प्रकार के गीत गाए जाते थे गीतों की विषयवस्तु राजा राजकुमारों की प्रशंसा से लेकर लोकदेवताओं के भजन, प्रेमियों के गाथागीत, मालू साही और राजुला तथा भूदृश्यों के प्रेरणादायक विवरण होते थे।[23]

20वीं सदी में ही कोल्टा, बाजगी, ढाकी, बेड़ा, हुड़किया आदि दलित जातियाँ, जो परंपरागत व जातीय तौर पर नृत्यांगनाएँ थीं यौनकर्म के लिए शहरों की ओर उन्मुख होने लगी तथा सहारनपुर, देहरादून, दिल्ली, अमृतसर, लाहौर, करांची इनके आकर्षण केंद्र थे। देहरादून में बाबूगंज और मोती बाज़ार प्रसिद्ध वेश्यालय थे।[24] जिससे इनकी यौनिकता पर विमर्श उपजा और राज्य तथा सिविल सोसाइटी में उत्कंठा ने जन्म लिया। आख़िर क्यों ये विशिष्ट जाति की स्त्रियाँ यौन कर्म के लिए पहाड़ी क्षेत्र से मैदानों की ओर, गाँव से शहरों की ओर जा रही थीं? विषय की बोधगम्यता के लिए इस बात की तफ़तीश आवश्यक है।

भौगोलिक, सामाजिक व आर्थिक स्थिति

ये नृत्यांगनाएँ मुख्यतः रंवाई जौनपुर क्षेत्र से थीं। रंवाई का क्षेत्र उत्तरकाशी ज़िले के पुरौला तथा राजगढ़ी खंड़ों में स्थित हैं। जौनपुर टिहरी गढ़वाल ज़िले का भाग है। यह समस्त क्षेत्र हिमालय पर्वतमाला क्षेत्र में स्थित है तथा जौनसार बावर की अपेक्षा कहीं अधिक ठंडा है। इसका अधिकांश भाग सर्दियों में बर्फ़ में दबा रहता है और अधिकांश गाँव नदी घाटियों में

[19] मनमोहन शर्मा (1977) : 40.

[20] 1904 में ब्रिटिश सरकार ने दलाई लामा पर दबाव डालने के लिए कि वह ब्रिटिश भारत के साथ व्यापारिक संबंध बनाए तिब्बत में सेना भेजी. यह सैन्य आक्रमण मध्य एशिया में रूस के प्रभाव के भय की वजह से भी था.इस सैन्य अभियान का प्रमुख फ्रांसिस यंगहसबैंड था.

[21] मनमोहन शर्मा (1977) : 40.

[22] वही : 41.

[23] वही.

[24] फ़ाइल एम, बॉक्स 22, केस न. 4 उत्तराखंड स्टेट आर्काइव, देहरादून.

बसे थे। इस समस्त क्षेत्र में जहाँ कहीं संभव हो खेती व्यापक रूप से की जाती थी। पर्वत खंडों को काटकर सीढ़ीनुमा खेत बनाए जाते थे। इसमें कुछ की चौड़ाई कभी-कभी सहारा देने वाली दीवारों, जो साधारणतः चार से दस फ़ीट तक होती है, से भी कम होती थी। इन खेतों को बनाने में पर्याप्त श्रम, समय तथा धन लगता है। पहाड़ी किसान अपने श्रम व खाद से निरंतर इन खेतों में सुधार करता रहता है। सीढ़ीनुमा खेतों के अतिरिक्त नदी घाटियों में स्थित समतल भूमि पर खेती की जाती थी। ऐसी भूमि को सिंचाई की सुविधा प्राप्त थी। मिट्टी की संरचना की दृष्टि से यह भूमि अत्यंत उच्च कोटि की होती है।[25]

ऐसी कठोर भौगोलिक परिस्थितियों में जीविकोपार्जन के साधन बहुत सीमित थे और जो कुछ उपलब्ध भी थे, उन पर 'उच्च जातियों' का एकाधिकार था। गाँव व खेत पंचायतों, पंचायती अदालतों, नौकरी व नीचे की सेवाओं में सभी जगह 'उच्च जातियों' का एकाधिकार था। कुंताराम जिस के ख़िलाफ़ 1949 में अपनी पत्नी से यौनकर्म करवाने का मुक़दमा चल रहा था, सेक्रेटरी टिहरी गढ़वाल को अपनी भूमिहीनता और ऋणग्रस्तता को ज़ाहिर करता है :

> मैं कुंताराम बेटा जमनू मौजा देबडूगा पेटी रामसेराई रंवाई वाला निवेदन करता हूँ कि फ़िदवी का बाप दादा मौजा देबडूगा में रहते थे जिनकी ज़िंदगी ठाकुरों का काम करते-करते गुज़री ग़रीबी के रुपये के बावत लेकिन रुपया फिर भी अदा न हो सका दादा तो गुज़र चुके थे परंतु फिर मेरे पिता जमनू ने उनकी बागडोर सम्भाली यानी उन्हीं रुपया पर फिर मेरे पिता ने काम करा परंतु जब वो भी काम करते-करते आधी आयु हो गई तब उन्होंने एक दिन सोचा कि इस गाँव से कहीं जाए जहाँ पेट भर रोटी तो खा सके। यहाँ तो दिनभर काम करने पर भी रोटी नसीब नहीं हो सकती। उस का कारण यह था कि कमाने वाले तो पिता जी और माता जी थीं और पीछे खाने वाले चार बच्चे एक भांजा और दूसरी बात यह थी कि अपनी ज़मीन भी नहीं थी। पिता जी ग़रीबी में काम करता था और माता जी इसलिए काम करती थी कि शायद मेरे बच्चों के लिए थोड़ा बहुत ख़ाना दे देंगे। इस प्रकार दिन काट-काट कर गुज़ारा किया करते थे। लेकिन जब हर हालत से तंग आ गए तब लाचार हो कर एक रात को अपने बच्चे और भाँजा समेत भाग निकले, भागने को तो भाग आए पर जाना कहा था यह उन्हें नहीं पता था।[26]

कुंताराम का विवरण बताता है कि कैसे दादा के द्वारा लिए गए ऋण पर उसके पिता बँधुआ काम कर रहे थे तथा माँ भी बिना मज़दूरी के सिर्फ़ भोजन की उम्मीद में काम कर रही थी। ऋणग्रस्तता इस समस्त क्षेत्र के कोल्टा हरिजनों की मुख्य समस्या तथा आर्थिक दासता का प्रधान कारण थी। ऋण देते समय साहूकार सवा छह प्रतिशत गाँठ खुलाई पहले ही ले लेता था और ब्याज़ पच्चीस प्रतिशत लेता था।[27] कोल्टा समिति की जाँच[28] में पाया गया कि कई

---

[25] कोल्टा जाँच समिति, 1956-60 का प्रतिवेदन (1969) : 3-12.

[26] फ़ाइल एम, बॉक्स 22, केस न. 4 उत्तराखंड स्टेट आर्काइव, देहरादून.

[27] एच. जी. वॉल्टन (1994, 1910) : 75.

जगह ब्याज़ 75 प्रतिशत तक लिया जाता था। जीविका उपार्जन तथा आय के अन्य साधनों के सर्वथा अभाव में कोल्टा व अन्य हरिजन कभी ब्याज़ व कभी मूल नहीं दे पाते थे। और स्वयं अपनी आगामी पीढ़ी को साहूकार के पास बंधक रख देते थे।[29]

एच. जी. वाल्टन डोम द्वारा दिए जाने वाले बेगार की बात करते हैं। वह कहते हैं कि गढ़वाल की सामाजिक व्यवस्था का मुखिया थोकदार था, जोकि इंग्लिश सामंती व्यवस्था की याद दिलाता है। इसके बाद प्रधान, हिस्सेदार और अंतिम चरम में डोम था। मोरले स्मिथ 1836 के अपने लेखन *स्लेवरी इन कुमाऊँ* में डोम को हाली कहते हैं। वास्तव में ब्राह्मण और अन्य जिन्हें प्रथागत तौर पर खेतों पर व्यक्तिगत श्रम से बाहर रखा गया था, वे हाली लोगों से खेतों में श्रम लेते थे। यह उसी प्रकार था जैसे पशुओं को खेतों में जोता जाता है। ज़मींदार उसे किसी तीसरे व्यक्ति को हस्तांतरित या बेच भी सकता था। वाल्टन कहते हैं कि 1910 में डोम को किसी एक व्यक्ति या भूमि से बाँधा नहीं गया था। लेकिन दास प्रथा अब भी अस्तित्व में थी।[30] कुंताराम का निम्नलिखित विवरण साहूकार के शोषण और दमनकारी जाल को समझने में मदद करता है :

> मेरी बूढ़ी माता ने चिट्ठी भेजी की बेटा तुम एकदम घर चले आवो नहीं तो जो हमारे रहने की झोपड़ी है और बर्तन है वह भी जाते रहेंगे। इस ख़बर के बाद माता जी ने अपने हाथ राजगडी की तारिक खेलती रही। इधर मैं बीमार पड़ गया और घर जाता भी कैसे जाता जब की मेरे ऊपर इस समय कम से कम 1500 रुपये घर पर क़र्ज़ा है। इसमें से मैं या मेरे पिता ने क़रीबन 229 रुपये नक़द लिया होगा और सब ब्याज़ के और खाने के हुए है और बातर पर लिया अगर छः माह तक बातर या मूल न दिया गया तो बातर की बातर देनी पड़ती और मूल की बातर तो देनी ही है इस तरह से देने को अनाज तो हुआ नहीं फिर एक साल दो साल साहूकारों ने तमसुख बना लिया फिर जो भाव दुकान पर हुआ उस हिसाब से जोड कर रुपये बना लिया और हम उस समय यह बोलते है कि तुम्हारी कुडी कुल 10 या 12 छटाक की है या तुम छः महीने पहले का भाव जोड़ना तब कहते हैं की हमे तमसुख नहीं चाहिए हमारा अनाज लाओ चाहे कही से भी लाओ लेकिन हम अनाज कहा से ला सकते है जब खाने के लिए मोल खाते थे तो उन्हें कहा से देते फिर उन की खुशामद कर के तमसुख लिखते थे यह बात बहुत दिन की नहीं बल्कि यहा तक हमारा ऐसा ही हिसाब चल रहा है। इस की बजाय मैं आप को पहले पेज पर लिख चूका हूँ जो कुछ हो रहा और होगा यह सब ज़मीन न होने की वजह से हो रहा है। और ऐसा क्या हमारे हाथ पैर थोड़े टूट रहे थे।[31]

[28] देहरादून ज़िले के जौनसार बावर क्षेत्र के निवासी कोल्टाओं तथा अन्य पिछड़े समुदायों और टिहरी गढ़वाल ज़िले के रंवाई-जौनपुर क्षेत्र के हरिजनों की दशा की जाँच के संबंध में निर्मित कोल्टा जाँच समिति का गठन फ़रवरी 1959 में हुआ। उत्तरप्रदेश के उपमंत्री श्री बलदेव सिंह आर्य समिति के सभापति थे.

[29] कोल्टा जाँच समिति, 1956-60 का प्रतिवेदन (1969) : 26.

[30] एच.जी. वॉल्टन (1994, 1910) : 66-67; बद्रीदत्त पांडे (1990) : 620.

[31] फ़ाइल एम, बॉक्स 22, केस न. 4 यू.ए.

कुंताराम अपनी ग़रीबी और लाचारी के लिए भूमिहीनता को ही कारण मानता है। किंतु इस क्षेत्र में दलित समुदाय की इस स्थिति के पीछे एक पूरा तंत्र काम कर रहा था। बहुत ही नियोजित ढंग से उनके अंतःकरण में क़ब्ज़ा करके उन्हें सभी अधिकारों से वंचित किया गया था। जब विजेता आर्यों अथवा दूसरी शक्तिशाली जाति ने इस क्षेत्र में प्रवेश किया तो उन्होंने कोल्टा हरिजन को पराजित कर अपना दास बना लिया और और उन्हें सम्पत्ति के समस्त साधनों से च्युत कर दिया। कालान्तर में दासता को विजेताओं ने सामाजिक सांस्कृतिक रूप प्रदान कर दिया। विजेता और विजित को पृथक करने के लिए पराजित लोगों पर अनेक प्रकार की अयोग्यता लाद दी गई। इन अयोग्यताओं के अनुसार कोल्टा हरिजन भूमि के मालिक नहीं हो सकते थे, 'उच्च जातियों' की उपस्थिति में घोड़े की सवारी नहीं कर सकते और जूता नहीं पहन सकते थे, सड़क छोड़ कर चलते थे और कोल्टा हरिजन महिलाओं के लिए स्वर्ण पहनना वर्जित था। इसके अतिरिक्त इनका मंदिर में प्रवेश भी वर्जित था। स्थापित स्वार्थों की रक्षा करने तथा कोल्टा हरिजनों को कभी न उठने देने के लिए यह भी विश्वास प्रचारित किया गया कि कोल्टा, हरिजनों को 'उच्च जातियों' की बराबरी नहीं करनी चाहिए अन्यथा उन का नाश हो जाएगा।[32]

धार्मिक विश्वास, 'उच्च जातियों' का भय, अंधविश्वास के कारण कोल्टा व अन्य दलित अत्यधिक सूद पर लिए गए ऋण की अदायगी कभी अस्वीकार नहीं करते। कोल्टा हरिजनों में विश्वास प्रचलित था कि एक बार सूर्य और चन्द्रमा ने ऋण लेकर देने से इंकार कर दिया था जिसका फल उन्हें अब तक ग्रहण के रूप में भोगना पड़ता है।[33] इस तरह, विचारधारा या धारणा के स्तर पर जाति व्यवस्था असमान भौतिक संबंधों को आचार-व्यवहार और रुतबे के पदों में प्रस्तुत करने की ज़रूरत के प्रति सचेत रही है ताकि समाज के एक हिस्से का पीढ़ी-दर-पीढ़ी शोषण होता रहे और उसे वैधता भी मिलती रहे। यह युक्ति दासप्रथा वाली व्यवस्था में प्रयोग की जाने वाली दमनात्मक युक्ति से जुदा और ज़्यादा प्रभावी है।[34]

क्षेत्र में कन्या मूल्य की प्रथा थी। विवाह के लिए सभी हरिजन ऊँची ब्याज़ की दरों पर साहूकार से ऋण लेते थे। इस ऋण के कारण गृहस्थ में प्रवेश करने वाला व्यक्ति साहूकार की दासता तथा गृहस्थ धर्म का उत्तरदायित्व साथ-साथ ग्रहण करता था। हरिजनों की भूमिहीनता, ऋण ग्रस्तता के अतिरिक्त क्षेत्र के प्राचीन कुटीर उद्योगों के ह्रास का भी इन लोगों पर अत्यंत प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। इन क्षेत्रों में पहले सूती, ऊनी कपड़ा बुनने, तेल निकालने, लोहे के बर्तन बनाने आदि के काम में अनेक कोल्टा हरिजन लगे रहते थे और इन कार्यों से अपनी जीविका अर्जन करते थे। मीलों की स्थापना से सूती कपड़ा बुनने तथा तेल निकालने का व्यवसाय लगभग समाप्त हो गया। क्षेत्र का समस्त व्यापार मैदानी इलाक़े के लोगों के अधिकार में था। वन सम्पत्ति के विदोहन एकाधिकार अधिकांशतः मैदानी क्षेत्र से आने वाले ठेकेदारों

[32] कोल्टा जाँच समिति, 1956-60 का प्रतिवेदन (1969) : 26.

[33] वही.

[34] उमा चक्रवर्ती (2011) : 24.

के हाथों में था जो बाहर के ही प्रशिक्षित कर्मचारी चिरान, कटान, बहान लाना पसंद करते थे। इस क्षेत्र में आर्थिक दृष्टिकोण से लाभदायक कोई खनिज पदार्थ भी नहीं था।[35]

कोल्टा जाँच समिति के अनुसार समिति के सम्मुख कई स्थानों पर यह कहा गया कि साहूकार तथा कुछ स्थानों पर सयाने व अन्य तथाकथित प्रतिष्ठित पुरुष आर्थिक लाभ के लिए हरिजनों को अपनी महिलाओं व लड़कियों को वेश्यावृत्ति में लगाये जाने को उत्साहित करते थे, तथा इस कार्य के लिए ऋण भी प्रदान करते थे। इस प्रकार इन लोगों की ऋण ग्रस्तता वेश्यावृत्ति को जन्म दे रही थी।[36] कोल्टा जाँच समिति के उपरोक्त कथन को रंवाई निवासियों का 10 जून, 1948 का पत्र पुख़्ता करता है :

> श्रीमान् मंत्री जी
> महोदय
> सेवा में नम्र निवेदन है के इलाक़ा रंवाई जौनपुर से जो लड़कियाँ नीचे देश में जाकर व्यभिचार कर रही है वे अब ऊपर आना चाहती है। परंतु सरकार के कानूनों के डर से ऊपर नहीं आ रही है इसलिए इनके लिए 5 महीने तक इनको रियासत में आने की खुली आज्ञा प्रदान कि जाय।[37]
> प्रार्थना पर ग़ौर हो ये लड़कियाँ शिल्पकार लोगों की है क्योंकि उनके पास अपनी आजीविका का कोई साधन न होने से ऐसा कर्म करती है। दूसरा शामंत शाही के...की चाल बाजे है उनकी माफिक से भी ये लड़कियाँ दीगर देश जाकर व्यभिचार करती है। और कई लोग ऐसे है जो ख़ुद लड़कियों को रुपया देकर आधे हिस्से पर व्यभिचार करवाते है। कितने लड़कियों को शामंतशाही ने हुक्म दिया की तुम दुसरे देश जाकर नाचगान किया करे।[38]

उपरोक्त विवरण दलित नारीवादियों के विचार को मजबूती प्रदान करता है कि दलित स्त्री एक साथ तिहरे शोषण का शिकार होती हैं, दलित होने की वजह से ऊँची जातियों के द्वारा, दूसरा श्रमिकों के रूप में भूपतियों द्वारा और तीसरा, स्त्री के रूप में अपनी ही जाति के पुरुषों द्वारा।[39] उपरोक्त विवरण से जो बातें उभरकर सामने आई हैं उससे अनुमान लगाया जा सकता है कि भूमिपति इन दलित स्त्रियों का न केवल यौन शोषण कर रहे होंगे बल्कि आर्थिक लाभ के लिए उनकी यौनिकता का प्रयोग भी कर रहे थे। चीफ़ मिनिस्टर टिहरी गढ़वाल को दलित नृत्यांगनाएँ अपने 30 मार्च, 1949 के स्मृतिपत्र (मेमोरियल) में बताती हैं कि वह पेशेवर नृत्य संगीत करती है, तथा यह परंपरा है कि वह इस प्रकार से अपने बच्चों व निर्भरों का पालन-पोषण करें। वह आगे बताती हैं कि टिहरी गढ़वाल में उनका सामाजिक जीवन

---

[35] कोल्टा जाँच समिति,1956-60 का प्रतिवेदन, लखनऊ: राजकीय मुद्रण एवं लेखन सामग्री, 1969 : 28.

[36] वही.

[37] फ़ाइल एम, बॉक्स 22, केस न. 4 उत्तराखंड स्टेट आर्काइव, देहरादून.

[38] वही.

[39] उमा चक्रवर्ती (2011) : 16.

अस्पृश्यों का है। अतः अन्य कोई पेशा करने का अवसर उन्हें उपलब्ध नहीं है :

> याचिकाकर्ता पेशेवर नर्तकियों और गायकों के एक वर्ग से संबंधित हैं और यह उनके लिए प्रथागत है कि वे अपने बच्चों और आश्रितों को उक्त व्यवसायों से पालते हैं।[40]
> टिहरी गढ़वाल में, प्राचीन काल से उनका सामाजिक जीवन 'अस्पृश्यों' का रहा है और इस अक्षमता के कारण उन्हें किसी अन्य व्यवसाय में नेतृत्व या संलग्न होने की संभावना से दूर कर दिया गया।[41]

कहा जा सकता है कि अस्पृश्यता के कारण जीविकोपार्जन के सीमित अवसर की उपलब्धता की वजह से भी ये नृत्यांगनाएँ यौन कर्म को अपना रही थी। भारतीय समाज में उच्च जातीय पुरुष के लिए सम्भोग के समय जाति और अस्पृश्यता ढह जाती है।[42] साथ ही वेश्याओं की कोई जातीय अस्मिता नहीं होती।

निगरानी, नियंत्रण और अनुशासन

यह नृत्यांगनाएँ जो जातीय और परंपरागत तौर पर नृत्य संगीत द्वारा जीविकोपार्जन कर रही थीं राज्य द्वारा इनकी जातीय पहचान व परंपरा के आधार पर वेश्यावृत्ति के संदेह पर इन्हें क़ानूनी निगरानी व नियंत्रण में रखा गया था, क्योंकि वेश्यावृत्ति अपराध की श्रेणी में था इसलिए ये महिलाएँ भी अपराधी थीं और इनके साथ इनके अभिभावक (प्रायः पुरुष ही) भी। इन जातियों के व्यवस्थित नियंत्रण की व्यवस्था दरबार सरक्युलर ऑर्डर न. 15 सन् 1928 में की गई। जोकि इन जातियों के जीवन में निर्णायक परिवर्तन लाता है।

इस सरक्युलर के अनुसार ढाकी आदि कुछ जातियों के लोग अपनी स्त्रियों को बाहर देश, देहरादून आदि स्थानों में ले जा कर पेशा कराते हैं इसलिए इसे रोकने के लिए इस सरक्युलर द्वारा कुछ जातियों को नियमों के आबद्ध किया गया। इसमें कहा गया कि ढाकी, कुमरिया, वेड़ा, हुड़किया और ऐसी जाति जिनमें औरतों के नाचने-गाने व पेशा कराने का रिवाज़ है या ऐसी जाति या ख़ानदान जिसको दरबार समय-समय पर औरतों से पेशा कराने वाला मुसाहर करे, अगर अपनी लड़की या स्त्री या अपने कुनबे की किसी भी स्त्री को जो 50 वर्ष से अधिक उम्र की न हो इलाक़े रियासत के बाहर सिवाय ब्रिटिश गढ़वाल के ले जाना चाहे तो उसको पहले इलाक़े के सब डिविज़नल ऑफ़िसर या अन्य कर्मचारी से जिसको दरबार इस काम के लिए नियुक्त करे इजाज़त लेनी होगी। उक्त कर्मचारी यदि इस बात से संतुष्ट हो जाए कि उस लड़की या स्त्री आदि के ले जाने में उस मनुष्य का अभिप्राय उससे पेशा या बदचलनी कराना नहीं हो तो वो किसी ख़ास वक़्त के लिए जो उस मनुष्य को साफ़ तौर पर

[40] फ़ाइल एम, बॉक्स 22, केस न. 4 उत्तराखंड स्टेट आर्काइव, देहरादून.

[41] वही.

[42] अनुपमा राव, (सं.) सुमित सरकार और तनिका सरकार (2014) : 187.

बतलाना होगा उसको बाहर ले जाने की इजाज़त दे देगा और पटवारी को इस की इत्लाह करेगा। अगर निश्चित वक़्त के दरमियान वह व्यक्ति उस स्त्री को लेकर वापस न आए तो पटवारी का फ़र्ज़ होगा कि वह इस की रिपोर्ट सब डिविज़नल ऑफ़िसर के पास करेगा। उस व्यक्ति का उस स्त्री से पेशा बदचलनी कराना साबित होने पर उसको दो वर्ष तक का कारावास या 1000 रुपए तक का अर्थ दंड या दोनों सज़ा दी जाएगी तथा गाँव के प्रधान का भी यह ख़ास काम था कि यदि उपरोक्त जाति में से कोई व्यक्ति अपने घर की स्त्री को बिना इजाज़त परदेश ले जाए तो पटवारी के पास उसकी रिपोर्ट देगा।

यह निगरानी और नियंत्रण का पूरा उपकरण जाति विशिष्ट है। अश्विनी ताम्बे बंबई में वेश्यावृत्ति के संदर्भ में कहती हैं कि कॉन्टैजियस डिजीज़ ऐक्ट नए अर्थों को जन्म दे रहा था। यह उन महिलाओं को भी लक्ष्य बना रहा था, जिन्हें पहले वेश्या के तौर पर वर्गीकृत नहीं किया गया था, जैसे मन्दिर में नाचने वाली स्त्रियाँ। अश्विनी आगे बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात कहती हैं – चाहे सरकार का लक्ष्य वेश्यावृत्ति में नियंत्रण लाना ही क्यों न हो, लेकिन क़ानून स्त्री को 'निगरानी' की 'वस्तु' बना रहा था।[43] 3 सितम्बर, 1947 को पुलिस कांस्टेबल उदय सिंह भंडारी द्वारा उन औरतों की सूची पेश की गई जिन्होंने सरक्युलर नम्बर 15 सन् 1928 का उल्लंघन किया था।[44]

ये औरतें अपने मूल स्थान के बजाय टिहरी राज्य से बाहर देहरादून में थी, इसके अतिरिक्त अन्य औरतें सहारनपुर, मुज़फ़्फ़रनगर, दिल्ली, लुधियाना, लाहौर, कराची, अम्बाला में थी जिनकी लिस्ट बनाना बाक़ी था। एक सरकारी मुलाज़िम सब डिविजन ऑफिसर रंवाई को एक मुक़दमे की जानकारी देता है :

> अदालत में तहक़ीक़ात की गई तो मुदायान जमनु और मधु को जुर्म से इंकार है कि उन्होंने मुस्मात केली को इलाक़ा दीगर पेशे में नहीं ले गए। मुदायान जैपालू मुस्मात केली को इलाक़े दिगर ले जाना क़बूल है पर पेशा करवाने से इंकार है और बयान करता है कि इलाज़ के लिए ले गया था इस जुर्म मुलजिमो के ये आमवरियल है और कोई तवजह और वजन इन बयानों पर नहीं दिया जा सकता स.अ.न. 15, 1928 में साफ़ है कि इस क़ौम के लोग अगर कोई अपनी नौजवान औरत को इलाज के लिए इलाक़ा दीगर ले जाए तो उसे हाक़िम इलाक़ा से इजाज़त हासिल करनी ज़रूरी है जोकि जैपालू ने नहीं की लिहाजा उस जुर्म जेर स.अ.न.15 सन् 1928 का करना साबित है और हम उस पर इस जुर्म 300 रुपये जुर्माने की सजा देते है।[45]

सब डिविज़न ऑफ़िसर रंवाई, दलित नृत्यांगना श्यामप्यारी द्वारा डांसर का प्रमाण पत्र

---

[43] अश्विनी ताम्बे (2009) : 124.

[44] फ़ाइल एम, बॉक्स 22, केस न. 4 उत्तराखंड स्टेट आर्काइव, देहरादून.

[45] वही.

प्रदान करने की दरख़्वास्त पर चीफ़ सेक्रेटरी टिहरी गढ़वाल को दलित नृत्यांगनाओं के संदर्भ में अपने विचार कुछ इस प्रकार व्यक्त करता है :

न.	नाम मुस्मात	नाम वारिशान	पूरी सकूनत	इलाका
1	जानकी	वारिश नही बताया	पजाड़ी सितूर पर्वत	रंवई
2	बिजली	जौ.दिवदास	कोटगाऊँ अढोर	,,
3	फूलकंवर	जौ.बालादत्त	,, ,,	,,
4	मुनी	भाई बालमदास	जखोल पंचगाई	,,

न.	नाम मुस्मात	नाम वारिशान	पूरी सकूनत	कौम	सर्किल
1	देवकी	बेटी खातू	पुरोला रामसिराई	डोम	राजगढ़ी रंवई
2	शंकरी	बेटी खुमानू	रतगाऊँ रामसिराई	,,	,,
3	नकटी	जौ. प्यारु	,,	,,	,,
4	सोवनी	वे. प्यारदास	कुमोला	,,	,,
5	सिंघी	जौ. मसरीया	टडूगा रामसिराई	,,	,,
6	लछमी	जौ.पतू	खुरमोला रामसिराई	,,	,,
7	नागी	वे. शैशू	,, ,,	,,	,,
8	रामप्यारी	जौ.शिताबू	कबखू अढोर	,,	,,
9	तारा	वे. फगडू	खुपा अढोर	,,	,,
10	मुस्मात नकटी उरफ रामकली	जौ.नकटू	कोटगाऊँ पंचगाई पर्वत	रशाई	,,
11	बिजली	जौ. बचू	कोटना वनाल	,,	,,
12	जमुना	जौ.उदमु	गमोल गाई वनाल	,,	,,
13	दुरगीर	वारिश नही बताया	मुराड़ी मुगरसंती	,,	,,
14	रामी	जौ. रुशनु	विगसारी गढ़ूगाड	,,	,,
15	तारा	जौ.चंदनु	कजोड़ी पंचगाई	,,	,,

इन लोगों का ख़ासकर इलाक़ा ग़ैर में पेशा कराने की ख़्वाहिश रहती है और कराने में जिस

बाबत इनको इजाज़त नहीं मिलती है इसलिए इस तरह ही ये लोग तवायफ़ के बहाने से सर्टिफ़िकेट हासिल करते हैं और तब पेशा का काम करते हैं ऐसी दरख़्वास्तें इनकी बहाने बाजी ही है।[46]

न.	नाम	नाम वारिशन	पूरी सकूनत	सर्किल
1	गुमानी	जौ.दिलदास	कोटगाऊँ पंचगाई	राजगढ़ी रंवई
2	चंदा	जौ.जशंदु	विन्गसारी गढ़ूगाड	,,
3	1 औरत और नाम मालूम नहीं		,,	,,
4	नाबालिग लड़की	जशंदु के लड़के की औरत	विन्गसारी गढ़ूगाड	
5	पघी	जौ.शिशु	कोटगाऊँ अढोर	,,
6	किड़ी	जौ. रति लुहार	धामपुर रामसिराई	,,
7	देवशी	जौ.बालमदास	जखोल पंचगाई पर्वत	,,
8	अशरफ़ी	बेटी जरबी	कोटी अगोड़ा रामसिराई	,,
9	तारा	जौ. बेलखू	अगोड़ा रामसिराई	राजगढ़ी रंवई
10	जानकी	मुस्मात तारा के लड़के की बहू	,,	,,
11	चंदा उर्फ़ पंचमी	बहेन ठेडीयातु	आराकोट रामसिराई	,,
12	गुलाबी	जौ.रामसिंह मुतवफ़ी	गोंदियात गाऊँ रामसिराई	,,
13	दुरगा	जौ. रती	खाजाड़ी रामसिराई	,,
14	रतनी	जौ. हरी	,, ,,	,,
15	जमुना	बेटी दलपत	खिसबाड़ी पंचगई पर्वत	,,
16	शगरी	वे.फगडू	अमोला रामसिराई	,,
17	तारा	जौ. आल्मु	,, ,,	,,

[46] वही.

न.	नाम मुस्मात	नाम वरीशान	पूरी सकूनत	कौम	सर्किल
1	मुस्मात चन्द्रकला	बैन जमनू की	स्यालकू रामसिराई	तमांज्ञा	राजगढ़ी रवई
2	4 औरते	वारिशो का नाम पता नही	,, ,,	,,	,,
3	पारवती	वारिश का पता नही	टडूगा रामसिराई	ढाकी	,,
4	अशरफ़ी उर्फ़ तारा	बेहेन बलू की	,, ,,	,,	,,
5	1 लड़की अशरफ़ी के साथ	,,	,, ,,	,,	,,
6	हिमानी	बेटी दलजीत	सिंदरी अढोर रामसिराई	,,	,,
7	इंदरी	बेटी साधु बालादत	कोटगाऊँ अढोर	,,	,,
8	बिजली	जौ भगता	अगोड़ा रामसिराई	ढाकी	,,
9	अशरफ़ी भगाई हुई	जौजियत में भगता की	,,	,,	,,
10	तारा	जौजा चंदनु	पंचगाई पर्वत खितवाड़ी	,,	,,
11	शीता	जौ.जालमु	,,	,,	,,
12	गोपाली	जौ. रनी मुतवफ़ी	कोटीया रामसिराई	तमांज्ञा	,,
13	जानकी	,,	,,	,,	,,
14	रामकली	वे. रती मुतवफ़ी	,, ,,	,,	,,
15	रामी नाबालिग	,, ,, ,,	,, ,,	,,	,,
16	कीड़ी	जौ. रति	धामपुर रामसिराई	,,	,,
17	जानकी	बेटी रुशनू	कुमोला रामसिराई	,,	,,
18	राधा	जौजा बिजु	वगासु मुगरशन्ति	,,	,,
19	बिजली	वारिश का नाम मालूम नहीं	किश्ना मुगरशन्ति	,,	,,
20	1 औरत		पुरोला रामसिराई	,,	,,
21	पती	जौ. नकटू	कोटगाऊँ पंचगाई	,,	,,

उपरोक्त बयान और एक विशेष जाति पर ये जो इल्ज़ाम है वह उस वर्चस्वप्राप्त नज़रिए को उन रूढ़ छवियों को दर्शाता है कि वेश्यावृत्ति करना इनका स्वभाव ही नहीं बल्कि शौक़ भी है। अतः ये जातियाँ स्वभाव से ही अपराधी हैं। इसलिए इनके किसी भी बयान पर, दरख़्वास्त पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है तथा इस क़ौम के किसी भी मामले के लिए तर्क व तफ़्तीश की कोई ख़ास ज़रूरत नहीं है। इन दलित जातियों पर बिना किसी ठोस सबूत के जाँच और क़ानूनी कार्यवाही चल रही थी राज्य से बाहर जाने पर उनके ख़िलाफ़ कार्यवाही की जा रही थी। राज्य द्वारा यह निष्कर्ष निकाला गया कि इन जातियों की गतिशीलता पर नियंत्रण द्वारा ही इनके द्वारा किए जा रहे अपराध पर विराम लगाया जा सकता है।

राज्य द्वारा दलित महिलाओं को, जोकि राज्य से बाहर थी और 1928 के सरक्युलर को ध्यान में रखते हुए एक निश्चित समय में राज्य में वापिस नहीं आई थीं, उनको राज्य में वापस आने के लिए मोहलत दी गई। टिहरी गढ़वाल रियासत से बाहर जाकर वेश्यावृत्ति कर रही शिल्पकार लड़कियाँ रियासत में वापस आना तो चाहती थीं, लेकिन दरबार सरक्युलर ऑर्डर नम्बर 15 सन् 1928 के उल्लंघन की वजह से मुक़दमें से डरी हुई थीं। 25 अगस्त, 1948 के अपने पत्र में चीफ़ सेक्रेटरी ने इन शिल्पकार लड़कियों को 30 सितम्बर, 1948 तक वापस आने की मोहलत दी। उन्हें यह आश्वासन भी दिया गया कि ऐसा करने पर उनके, उनके वारिसों और रिश्तेदारों के ख़िलाफ़ उक्त सरक्युलर का उल्लंघन करने के लिए कोई कार्यवाही नहीं की जाएगी। बाद में इसकी अवधि 30 अप्रैल, 1949 तक बढ़ा दी गई।[47] वास्तव में यह मोहलत उन सभी दलित महिलाओं तथा पुरुष जोकि अपनी स्त्री संबंधी के साथ राज्य से बाहर थे, के लिए थी। क्योंकि सरक्युलर ऑर्डर नम्बर 15 सन् 1928 के अधीन सभी दलित आते थे केवल दलित वेश्याएँ नही।

सरक्युलर ऑर्डर नंबर 15 सन् 1928 में साफ़ तौर पर कहा गया था कि टिहरी गढ़वाल राज्य कि दलित जातियों को राज्य से बाहर जाने के लिए संबंधित अधिकारी से अनुमति लेना तथा अनुमति मिलने पर निश्चित अवधि में वापस आना अनिवार्य है। ऐसा न होने पर कठोर कार्यवाही व दंड का प्रावधान था। कुंताराम पर राज्य से बाहर जाने और अपनी बीवी से वेश्यावृत्ति करवाने के संदेह पर अदालत में मुक़दमा चल रहा था, किंतु कुंताराम अदालत में पेश न हो सका। अतः राज्य द्वारा उसकी संपत्ति ज़ब्त कर ली गई। कुंताराम अपनी आप बीती कुछ इस प्रकार बयाँ करता है :

> हम तो ऐसे हैं जैसे खानाबदोश होते हैं लेकिन खानाबदोश तो भी हमारे से लाख दर्जे अच्छे है... न कोई रोक टोक और ना ही उस के घर वालों को कोई मारता है और न कोई रिश्वत

---
[47] वही.

> माँगता है न उसका झोपड़ा कुढ़क होता है... मेरी तो यह मिसाल है कि धोबी का कुत्ता ना घर का ना घाट का अगर घर रहता हूँ तो भी चैन नहीं और बन रहू तो बूढ़ी माँ और छोटे-छोटे भाई-बहन उनकी दसा नहीं देखी जाती। मैंने सुना है कि घर पर आजकल पुलिस बड़ी तंग कर रही है और मारती भी है और रिश्वत भी 40 या 50 रुपये से कम नहीं लेती है... जब मैंने पूछा कि मेरी बाबत अदालत ने क्या करा तब उस ने कहा कि भाई तुम्हारे जो कुछ भाड़े बर्तन थे वे कुड़की में लिख दिए है। बर्तन तो मालगुज़ार प्रलाद सिंग के सुपुर्द कर दिए और मकान की बोली होने वाली है।[48]

राज्य से बाहर जो दलित नृत्यांगनाएँ थीं, उनके लिए भी नृत्य संगीत का प्रमाणपत्र अनिवार्य कर दिया गया। बहुत सी नृत्यांगनाएँ प्रमाणपत्र के लिए प्रार्थना कर रही थीं। श्यामप्यारी जोकि रंवाई की मूलनिवासी है तथा 1947 में बाबूगंज देहरादून में रह रही थीं गाँव के पटवारी द्वारा परेशान किए जाने को व्यक्त करती हैं :

> आदरणीय, आपको जान कर ख़ुशी होगी की आपने मुझे देहरादून ज़िले में रह कर नृतक और गायक के तौर पर काम शुरू करने की अनुमति दी है। मैं आप को यह भी बताना चाहती हूँ कि मेरे पिता को गाँव के पटवारी द्वारा परेशान किया जा रहा है।[49]

नृत्यांगना चन्द्रकला जोकि दिल्ली में नृत्य संगीत कर रही थी, तथा रंवाई की रहने वाली है, 1 अप्रैल, 1946 के अपने पत्र में महाराजा नरेंद्रशाह से क्षेत्र से बाहर नृत्य संगीत की इजाज़त की दरख़्वास्त करती है और कहती है :

> अत्यंत नम्रता से प्रार्थना करम है कि ख़ादिम कुछ अर्से से इलाक़े-ए-ग़ैर में गाना बजाना सीखने के सिलसिले में रहती है और मगर हर साल अपनी हाज़री इलाक़ा हाक़िम के पास और गाँव रंवई में पहुँच कर देनी पड़ती है ऐसी सूरत में गुलामन को ज्योर हर्जा ख़र्चा देना पड़ता है।[50]

प्रमाण पत्र वाली यह व्यवस्था स्वयं में दिक़्क़त तलब थी। कारण, एक तो सर्टिफिकेट दलित नृत्यांगना की वास्तविक छवि या जीवन-शैली में कोई परिवर्तन नहीं लाता और दूसरा नृत्यांगनाएँ अपनी नैतिकता के लिए राज्य की मुहर की मोहताज थीं।[51] सन् 1871 में ब्रिटिश सरकार द्वारा कुछ जातियों के रज़िस्ट्रेशन, निगरानी और नियंत्रण के लिए क्रिमिनल ट्राइब ऐक्ट जारी किया

---

[48] वही.

[49] वही.

[50] वही.

[51] प्रियदर्शिनी विजयश्री (2010) : 63.

गया। शुरुआत में इसे नॉर्थ वेस्ट प्रोविन्स, अवध और पंजाब में लागू किया गया, बाद में पूरे ब्रिटिश भारत में लागू किया गया।[52] इसके तहत कुछ जातियों को 'अपराधी जाति' घोषित किया गया। इसमें इन जातियों के रजिस्ट्रेशन, उपस्थिति दर्ज कराना, सीमित आवाजाही, पास की व्यवस्था, सुधारक कार्यशाला, बच्चों को माता-पिता से अलग करना, पुनर्स्थापन आदि नियम थे।[53] आनंद यंग कहते हैं कि अंग्रेज़ों द्वारा 'जाति' को प्रत्येक समुदाय के आर्थिक, सामाजिक व व्यावहारिक गुणों के स्थायी निर्धारक के तौर पर समझा गया। वह आगे कहते हैं भारतीय समाज के सामाजिक और आर्थिक आयाम की पर्याप्त समझ के बिना और उक्त जाति के इतिहास को जाने बग़ैर पूरे जातीय समूह को दोषी क़रार किया जा रहा था।[54]

हम देखते हैं कि यह दलित नृत्यांगनाएँ मुख्यतः टिहरी रियासत से हैं, इन्हें क्रिमिनल ट्राइब के तौर पर वर्गीकृत भी नहीं किया गया था। किंतु इनके विषय में जो पूर्वाग्रह और रूढ़ छवियाँ थीं वह 'अपराधी जाति' के समान ही थी। दलित नृत्यांगनाओं पर निगरानी और नियंत्रण का तंत्र था वह जाति विशेष था। उनकी 'जाति' उनके व्यवहार और गुणों की 'स्थायी निर्धारक' थी। सरक्युलर के नियम और प्रमाण पत्र की व्यवस्था स्पष्ट करती है कि राज्य के लिए ये दलित जातियाँ संदेहजनक थीं। इन्हें राज्य वेश्यावृत्ति करने वाली जाति के रूप में देखता है।

इसी प्रकार का अध्ययन रामनारायण एस रावत उत्तर प्रदेश में चमार जाति के संदर्भ में करते हैं। वह कहते हैं कि 19 वीं सदी के अंत में बड़ी संख्या में मवेशियों की मृत्यु पर चमार को मवेशियों को ज़हर देने का दोषी ठहराना आम नौकरशाही प्रतिक्रिया थी। हालाँकि चमार को मवेशियों को ज़हर देने का दोषी ठहराना आज़ादी के बाद भी ख़त्म नहीं हुआ। यह दोषारोपण उस वर्चस्व प्राप्त नजरिए को पेश करता है जो चमार को स्वाभाविक अपराधी मानता है, इसे उनका परंपरागत व्यवसाय मानता है। रावत कहते हैं औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक दोनों ही अधिकारी मानते थे कि चमार का मवेशियों को ज़हर देने में आर्थिक उद्देश्य है। जैसा कि चर्म शोधन और जूते बनाना वंशानुगत व्यवसाय है, मरे हुए मवेशियों पर उनके अधिकार को उनके द्वारा गाँव में दी जाने वाली सेवाओं का भुगतान समझा जाता था। औपनिवेशिक राज्य द्वारा सर्वप्रथम 1854 में मवेशियों को ज़हर देना 'पेशेवर और नियोजित अपराध' घोषित किया गया। बाद में चमार जाति पर इस दोष का विस्तार कर दिया गया और मवेशियों से संबंधित अन्य अपराधों को भी जैसे चोरी, मवेशियों में बीमारियों का फैलना भी चमार जाति से जोड़ दिए गए। रावत कहते हैं कि अहीर और जाट की तरह चमार को 1871 के क्रिमिनल ट्राइब ऐक्ट में अपराधी के तौर पर वर्गीकृत नहीं किया गया था, लेकिन पूरी 19वीं सदी के दौरान उनका वर्णन और निर्धारण अपराधी जाति के तौर पर किया गया।[55]

---

[52] आनंद ए. यंग (1985) : 109.

[53] संजय निगम (1990) : 257.

[54] आनंद ए. यंग (1985) : 126.

[55] रामनारायण एस. रावत (2011) : 24-25.

समाज का रवैया

यहाँ पर मैं मुख्य रूप से उच्च जातीय हिंदू सुधारकों व पुरुषों की बात करूँगी। जिसमें हम उनकी असलियत, विडंबना और उत्कंठा को देखेंगे। निम्नलिखित पत्र अशोक आश्रम के प्रमुख धर्मदेव शास्त्री ने टिहरी गढ़वाल के महाराजा को भेजा :

> श्रीमान महाराजा महोदय
> आशी,
> मैं दो आवश्यक बातों की ओर आपका ध्यान आकर्षित करने के लिए यह पत्र लिख रहा हूँ 1 आप के राज्य के अंतर्गत रामा सरभू इलाक़ा से कोल्टा डोम जाति की अनेक (सैकड़ों) स्त्रियाँ पेशा करने के लिए मैदानी शहरों में जा रही हैं मुझे पता चला है कि आप ने क़ानून द्वारा इस इस बुराई को बंद किया हुआ है परंतु आप के कर्मचारी कुछ पैसे लेकर इस बुराई को बढ़ाते जा रहे हैं। कृपया इस ओर कड़ाई का व्यवहार करके इस बुराई को बंद कीजिये आपके राज्य की बड़ी बदनामी हो रही है। हमारे पहाड़ तथा जाति का अपमान हो रहा है। मैं चाहता हूँ कि अशोक आश्रम पड़ोसी राज्य की भी कुछ सेवा करें...[56]

उपरोक्त पत्र में नैतिकतावादी पुट है। बुराई की भाषा में प्रकट किया गया है। दलित स्त्रियों को सुधार योग्य पात्र माना गया है तथा इस सुधार का बोझ उच्च जातीय पुरुषों ने ख़ुद पर ले लिया है। चारु गुप्ता भी सुधारकों और राष्ट्रवादियों के इस प्रकार के दृष्टिकोण की अनुबंधित मज़दूर महिलाओं के संदर्भ में बात करती हैं। यह महिलाएँ मुख्यतः दलित थीं। सुधारक और राष्ट्रवादी इन्हें अबोध पीड़ित और दोषी प्रवासी के रूप में प्रदर्शित कर रहे थे। चारु गुप्ता कहती हैं कि अनुबंधित मज़दूरी तथा वेश्यावृत्ति में आम और संकीर्ण संबंध क़ायम किया गया। श्रम की परिस्थितियाँ जाने बग़ैर सहमति से किए गए एवं शोषक और जबरन प्रवास के बीच अंतर को ख़त्म कर दिया गया। सुधारक पेश कर रहे थे कि प्रवासी मज़दूर महिला की ख़तरनाक यौनिकता को नियंत्रित करने की आवश्यकता है।[57] इन दलित नृत्यांगनाओं का बीड़ा उच्च जातीय पुरुषों को ही उठाना है इसके उदाहरण अन्य पत्रों में भी मिलते हैं। कुंवर सिंह भंडारी 1949 में अपने पत्र में कहता है :

> निश्चय हुआ है कि वेश्यावृति का पेशा टिहरी गढ़वाल स्टेट में न्याय विरुद्ध घोषित कर दिया जाए। इस के अतिरिक्त यह भी निश्चय हुआ है कि दलित जातियों की औरतें जो वेश्यावृत्ति द्वारा पेट के लिए टिहरी गढ़वाल स्टेट से बाहर भारत के विभिन्न स्थानों में जाती हैं वे क़ानून इस पेशे में जाने के लिए रोक दी जाएँ।[58]

---

[56] फ़ाइल एम, बॉक्स 22, केस न. 4 उत्तराखंड स्टेट आर्काइव, देहरादून.

[57] देखें, चारु गुप्ता (2016).

[58] फ़ाइल एम, बॉक्स 22, केस न. 4 उत्तराखंड स्टेट आर्काइव, देहरादून.

इस विमर्श में गढ़वाल के पंचों का भी हस्तक्षेप था। वह 1949 में टिहरी गढ़वाल मिनिस्टर को पत्र में कहते हैं :

> श्रीमान जी निवेदन है के टिहरी गवर्मेंट से जो औरतें पेशे के लिए आती हैं उनमें बहुत-सी नाबालिग और कुछ फरारी इलाक़े में दीगर इस वक़्त ज़्यादा सुनने में आ रहा है के मिनिस्टर साहेबानो ने कुछ नाबालिग लड़कियों जोके पेशे में रहती हैं देहरादून से गीराफ़दार करवाई। हम लोगों को बहुत ख़ुशी हुई कि आप इन लोगों को इस बुरे काम से बचाने के लिए कोसिस कर रहे हैं। आप के लिए हमारा बड़ा धन्यवाद है।[59]

इन पंचों का भी पूरा ज़ोर 'बुराई' को मिटाने में है। अपने-अपने स्तर पर ये सभी उच्च जातीय पुरुष राज्य को इस संदर्भ में सुझाव दे रहे थे। धर्मदेव शास्त्री कहता है :

> टिहरी राज्य में कृपया रचनात्मक कार्यों को प्रोत्साहन दीजिये, यदि आप इस कार्य के लिए अशोक आश्रम को अपने राज्य में कार्य के लिए सुविधा और सहायता दे तो कुछ कार्य हो सकता है। ऊन का उत्पादन, हरिजन-प्रचार और स्त्री जाति सुधार यह तीन कार्य यदि आप के राज्य में हो जावे तो जनता को और राज्य को लाभ होगा। इस दिशा में कार्य की रूपरेखा और नीति संबंधी बाते पीछे हो सकती है।[60]

कुंवर सिंह भंडारी भी इसी प्रकार का प्रस्ताव दृढ़ता से रखता है :

> उनकी (दलित जातियों) की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए उनको खेती बाड़ी की सुविधाएँ दी जाएँ तथा कला-कौशल के कामों में लगाया जाए। सरकार इस प्रस्ताव को अविलम्ब कार्य रूप में प्रस्तावित करे।[61]

धर्मदेव शास्त्री और कुंवर सिंह भंडारी दलितों की आर्थिक सुदृढ़ता का सुझाव देते हैं तो गढ़वालियान पंच क़ानूनी सख़्ती की बात करते हैं। क्षेत्र से बाहर जाने की किसी भी प्रकार की गुंज़ाइश पर पूर्ण पाबंदी की तरक़ीब बताते हैं :

> अर्ज यह है के इस तरीक़े से अर्सा मुधत तक यह काम बंद होगा बल्के आसान तरीक़ा यह है कि जहाँ से इन लोगों की ख़ास आमद .... यानि सुवाखोली मसूरी चकराता चाडपुर हो कर ये निकलते हैं इन दो जगहों के लिए कोई मुक्तिफ इंतेजाम कोई जजिंदा सख़्स रखा जाए ताकि हम वह उनको वापिस करें। तीसरा अलग-अलग सरक्युलर एस.डी.ओ सर्कल व एस. ओ पुलसाहेबानो को सख़्त हुक़्म दिया जाए की ओ हरेक मौजा में मालगुजारो को.... कर दे और उनसे मुचलके के लिए जावें.... अर्ज है की आप हमारी अर्जी पर ज़रूर ग़ौर करेंगे।[62]

---

[59] वही.

[60] वही.

[61] वही.

[62] वही.

वर्चस्व चाहे जाति आधारित हो, उपनिवेशवाद के रूप में हो या पूँजीवाद के रूप में विजित या वर्चस्व प्राप्त तबक़ा न केवल स्त्री यौनता पर दृढ़ नियंत्रण रखता है बल्कि इस क्रम में पराजितों या पराधीनों की यौनिकता के क़ायदों का निर्धारण भी करता है।[63] ब्राह्मणों की आचार संहिता में विभिन्न जाति की स्त्रियों के आचरण के लिए अलग-अलग कठोर निर्देश थे। जाति के आधार पर भिन्नता के बावजूद जो एक बात सामान्य थी वह यह कि जातियों के पदानुक्रम में किसी जाति की स्थिति के लिए उस जाति की 'स्त्री' का आचरण निर्धारक था।[64] यहाँ पर आचरण का सीधा संबंध स्त्री की यौनिकता से है। इस प्रकार राज्य के स्तर पर सामूहिक रूप से सभी स्त्रियों पर राज्य की इज़्ज़त को बरक़रार रखने या उसे ढोने की ज़िम्मेदारी थी। सिविल सोसाइटी इसी 'इज़्ज़त' या 'सम्मान' के प्रति चिंताग्रस्त थी। जिसे नृत्यांगनाओं की अनियंत्रित यौनिकता चोट पहुँचा रही थी।

उपरोक्त उच्च जातीय पुरुषों की चिंता के दोहरे आयाम थे। एक ओर नृत्यांगनाओं की अनियंत्रित यौनिकता राज्य की इज़्ज़त के लिए ख़तरा पैदा कर रही थी, सिविल सोसाइटी में उत्कंठा पैदा कर रही थी। वहीं दूसरी ओर इसी अनियंत्रित यौनिकता के माध्यम से सिविल सोसाइटी समाज में 'अच्छी स्त्री' और 'अच्छे जीवन' के मापदंड निर्धारित कर रही थी अथवा पहले से स्थापित मापदंडों को मज़बूती दे रही थी। चारु गुप्ता भी उत्तर प्रदेश के संदर्भ में कहती हैं कि ऊँची जाति के सुधारकों ने निम्न जाति के उन लोकप्रिय सांस्कृतिक व्यवहारों में सुधार लाने की कोशिश शुरू की जो ख़ासकर महिलाओं से संबंधित थे। इसका कथित मक़सद था निम्न जातियों को ऊपर उठाना और उन्हें कई बुराइयों और ढीले-ढाले और 'हीन' सांस्कृतिक पैमानों से मुक्ति दिलाना। इसका असर उच्च जातीय वर्चस्व बनाये रखने पर भी पड़ा और उच्च जातीय आदर्श और व्यवहार पहले से ज़्यादा मजबूत हुए।[65] इस प्रकार उपरोक्त उत्कंठा के द्वारा समाज में प्रसारित हो रहा था कि अनियंत्रित यौनिकता एक सामाजिक बुराई है तथा इसे तुरंत रोका जाना अनिवार्य है।

दलित जाति : स्त्री- पुरुष संबंध

इस बिंदु पर आकर अब यह जानना ज़रूरी है कि स्वयं दलित समाज में स्त्री-पुरुष संबंध का स्वरूप क्या था? काँचा इलैया का मत है कि ऊँची जाति की स्त्रियों और निम्न जाति की स्त्रियों के बीच मूलभूत अंतर भौतिक संसाधनों पर अधिकार होने या न होने में है। कई और भी दलित चिंतक हैं जो यह मानते हैं कि दलित स्त्रियाँ अपेक्षाकृत कम शोषित हैं। कारण, न तो उनको पतिव्रता बने रहने का निर्वाह करना पड़ता है और न ही वे अपने पतियों को पूज्य मानने के

---

[63] प्रियदर्शिनी विजयश्री (2010) : 14.

[64] उमा चक्रवर्ती (2011) : 104.

[65] चारु गुप्ता (2012) : 31.

लिए बाध्य हैं। ऊँची जाति की स्त्रियों का सम्मान उनके पुरुष के सम्मान पर निर्भर करता है। जबकि दलित स्त्रियाँ अपने सम्मान के लिए इस भाँति 'अन्य' आश्रित नहीं है। इसके साथ ही इज़्ज़त, आदर, मर्यादा, लाज का ख़याल ऊँची जाति की स्त्रियों को अपना दर्द ज़ाहिर करने से रोकते हैं लेकिन दलित स्त्रियाँ इस तरह की किसी बंदिश से नहीं बँधी हैं। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि दलितों में पितृसत्ता[66] नहीं है।[67] बल्कि पितृसत्ता घर के बाहर और भीतर दोनों ही जगहों पर विद्यमान है, लेकिन इनसे कौन स्त्री कितनी प्रभावित होगी यह उसकी जाति पर निर्भर करता है।[68] और एक दलित स्त्री घर के बाहर और भीतर दोनों ही क्षेत्रों में पितृसत्ता को झेलती है। क्योंकि अपने पुरुष (दलित पुरुष) के अतिरिक्त समाज के सभी पुरुष उस पर अपने अधिकार का दावा करते हैं। मसलन, बिहार में डोला प्रथा का प्रचलन था। डोला का अर्थ उस पालकी से है जिसमें नव वधू को बैठाकर अपने पति के घर लाया जाता था दमनकारी जाति व्यवस्था और आर्थिक शोषण के कारण ज़मींदार या भूस्वामी वर्ग इस पर अपना जन्म अधिकार समझते थे और परवर्ती समय में यह उनकी संस्कृति बन गई जिस के अनुसार दलित नव वधू को अपने विवाह के पश्चात पहली रात स्थानीय उच्च/मध्य जातीय/वर्गीय ज़मींदार के साथ बितानी होती थी।[69] इसी तरह का अन्य उदाहरण उमा चक्रवर्ती देती हैं कि राजस्थान में, राजपूतों में यह रिवाज़ था कि नववधू एक दारोगा स्त्री के साथ ही ससुराल में गृह प्रवेश करे। उस दारोगा स्त्री को उसी गाँव में दारोगा पुरुष से ब्याह दिया जाता था। घर में काम-काज़ करने के साथ-साथ वह स्त्री घर के मर्दों की यौन तुष्टि भी करे, उससे यह अपेक्षा की जाती थी।[70]

हीरा : एक दलित नृत्यांगना

14 मई, 1947 को हीरा नाम की दलित स्त्री टिहरी राज्य के महाराजा को ख़त लिखती है कि :

> मैं एक जवान स्त्री हीरा पिता का नाम लक्ष्मणदास और गोहाना की निवासी हूँ। अपने दुर्भाग्य के कारण मैं एक लंबे समय से वेश्या हूँ लेकिन अब मैं इस पेशे को छोड़ना चाहती हूँ तथा

---

[66] चूँकि नारीवादी अध्ययन एक नया क्षेत्र है इसलिए नारीवादी विमर्श का लगभग पहला काम यही था कि महिलाओं को अधीन करने वाली जटिल संरचना को पहचाना जाए और उसे एक उचित नाम दिया जाए इस प्रकार, बीसवीं सदी के आठवें दशक के मध्य से नारीवादी विशेषज्ञों ने पितृसत्ता शब्द का प्रयोग और उसे विशिष्ट अर्थ में परिभाषित करना शुरू किया. गर्डा लर्नर के अनुसार, पितृसत्ता, परिवार में महिलाओं और बच्चों पर पुरुषों के वर्चस्व की अभिव्यक्ति और संस्थागतकरण तथा सामान्य रूप से महिलाओं पर पुरुषों के सामाजिक वर्चस्व का विस्तार है.

[67] उमा चक्रवर्ती (2011) : 82.

[68] प्रियदर्शिनी विजयश्री (2010) : 16.

[69] सुमित एस. श्रीवास्तव, 'वायलेंस ऐंड दलित वीमेंस रेसिस्टेंस इन रूरल बिहार', इंडियन एंथ्रोपॉलॉज़िकल ऐसोसिएशन, वॉल्यूम 37, न.2, जुलाई-दिसंबर, 2007.

[70] उमा चक्रवर्ती (2011) : 82.

> मोहम्मद अशरफ़ ख़ान सरकारी ठेकेदार, हौज़ मुज़फ्फर खान, तुर्कमान गेट पुरानी दिल्ली के साथ शादी करना चाहती हूँ, जिससे मैं बहुत प्रेम करती हूँ। मैं अनुरोध करती हूँ कि मुझे ऐसा करने की अनुमति दी जाए।[71]

इस पत्र के पश्चात हीरा का पिता लक्ष्मन दास ढाकी 27 अगस्त 1947 को लिखित तौर पर अपना बयान देता है कि :

> मुस्मात हीरा बेटी लक्ष्मनदास मौजा गवाना यही बराहाट वाली इस वक़्त देहरादून में है। जोकि गाने-बजाने का काम करती है। मैं सोनकू उर्फ़ लक्ष्मनदास गवाना वाला ज़ाहिर करता है कि मेरी लड़की की कोई दरख़्वास्त शादी बावत पेश नहीं की है। और न उसका शादी करने का विचार है। यह दरख़्वास्त किसी दुश्मन ने झूठी... पेश कराई है।[72]

उपरोक्त बयान दलित पितृसत्ता के पेचों को खोलता है, दलित स्त्री को घर से बाहर निकलने, आर्थिक श्रम करने की स्वतंत्रता है, किंतु वह अपना प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती। स्त्री का वजूद सदैव उसके परिवार के पुरुष से है, जो कि यहाँ पर उसका पिता है स्त्री की इच्छा अनिच्छा का घोषक पुरुष है। स्त्री को अपने जीवन का विवाह जैसा महत्त्वपूर्ण निर्णय लेने का भी अधिकार नहीं है। तथा क़ानून भी पुरुष को स्त्री का प्रतिनिधि मानकर पितृसत्ता को मज़बूती प्रदान करता है। हीरा का 20 अप्रैल, 1949 का चीफ़ मिनिस्टर टिहरी गढ़वाल को पत्र उसके पिता के उपरोक्त बयान की तहों को और खोलता है। हीरा के शब्दों में :

> गुजारिश है की सायलक की उमर 26/27 साल की है। और मेरे माता पिता ने मुझे गाने बजाने के काम से 14/15 साल की उमर से रख लिया था। जिससे मुझे टिहरी दरबार से अजाजत शुला का सर्टिफिकेट मिला हुआ है। और इस अरसे के अंदर मैंने इन को अपने माता पिता को हजारों रुपये कमा कर दिए। साल गुबिरखा में जो घर गई। मुझे अपनी कमाई का कुछ नजर नहीं आया दिल को सदमा हुआ। इस वक़्त तो जवानी है, बुढ़ापे में कहा जाऊँगी।[73]

उपरोक्त कथन से अनुमान लगाया जा सकता है कि कैसे दलित पुरुष द्वारा दलित स्त्री की यौनिकता और श्रम का दोहन किया जा रहा था। निम्न जातीय स्त्री को उच्च जातीय स्त्री की तुलना में स्वतंत्रता प्राप्त थी किंतु यह सीमित स्वतंत्रता थी। कह सकते हैं कि दलित स्त्री की स्थिति कठपुतली के समान थी, जो नृत्य तो कर सकती थी, किंतु कैसे करेगी और कब तक करेगी इसका पूर्ण संचालन पुरुष के हाथ में था। स्त्री को घर से बाहर कार्य करने की स्वतंत्रता तो प्रदान की गई थी, किंतु जैसे ही उसकी आज़ादी पुरुष के हित के विरुद्ध जाती है, उसकी

---

[71] फ़ाइल एम, बॉक्स 22, केस न. 4 उत्तराखंड स्टेट आर्काइव, देहरादून.

[72] वही.

[73] वही.

डोरियो को खींच लिया जाता है।

उपरोक्त उदाहरण में हम देखते हैं कि हीरा 14/15 वर्ष की उम्र से ही नृत्य संगीत द्वारा(आगे चलकर यौन कार्य द्वारा भी) धनार्जन कर रही थी। तथा अपने परिवार की आर्थिक सहायता कर रही थी, किंतु जब अपने यौवन के चरम बिंदु में आकर वह अशरफ़ ख़ान नामक व्यक्ति से विवाह करना चाहती है तो उसका पिता साफ़तौर पर उसे नकार देता है। इस बात का अनुमान लगाया जा सकता है, कि हीरा के विवाह के पश्चात उसकी सम्पत्ति पर उसके पिता का अधिकार ख़त्म हो जाने का भय ही था जिसकी वजह से वह क़ानून के समक्ष हीरा द्वारा शादी की दरख़्वास्त को नकारता है। दूसरी बात स्त्री की यौनिकता आज भी पितृसत्ता और जाति के अधीन है और उसे केवल उसका पति/अभिभावक ही भावी पति को सौंप सकता है।[74] एक अन्य उदाहरण बालमदास बाजगी का है जो टिहरी सरकार से अपनी बहन को वापस घर भेजने की प्रार्थना करता है :

> अर्ज है कि फिदवी बाजगी कौम का आदमी है। अपना बाजगी पेशा कर गुज़र बसर करता है फरीकसानी मु. राजकुंवर तवायफ़ फिदवी की ख़ास मौसी है फिदवी की माता ने अपनी लड़की मु. विद्या उर्फ़ बालमी ह्स्व रजामन्दी के मु. राजकुंवर के साथ गाने बजाने का काम सीखने के लिए देशावर में भेजा था मगर अब वह उसको वापिस नहीं भेज रही है। फिदवी उसकी शादी अपने पहाड़ में हमकौम के साथ करना चाहता है और देशावर में रखकर उसको तवायफ़ का पेशा नहीं कराना चाहता।[75]

जहाँ हीरा का पिता उसे विवाह करने से रोक रहा है अनुमानतः वह नहीं चाहता की हीरा नृत्य-संगीत व वेश्यावृत्ति का कार्य छोड़े, वही बालमदास अपनी बहन का विवाह करना चाहता है वह नहीं चाहता कि उसकी बहन तवायफ़ का कार्य करे। हालाँकि दोनों ही वृत्तांत एक दूसरे के विपरीत लगते हैं किंतु दोनों एक ही कड़ी से जुड़े हैं। दोनों ही मामलात में स्त्री की स्वयं की आवाज़ अदृश्य है। शादी और रोज़गार के संदर्भ में उनके स्वयं के फ़ैसले कोई मायने नहीं रखते तथा स्पष्ट होता है कि स्त्री की यौनिकता पर पुरुष का पूर्ण नियंत्रण था। चारु गुप्ता कहती हैं कि दलितों ने अकसर घरेलू क्षेत्र में पितृसत्तात्मक मूल्यों को अंगीकार किया, भले ही यहाँ नियंत्रण का तर्क दलित स्त्रियों को ज़्यादा सम्मान दिलाने के साथ जुड़ा था।[76]

विरोध के स्वर

राज्य द्वारा इन दलित नृत्यांगनाओं की जो छवि बनाई जा रही थी उसमें इन नृत्यांगनाओं के पत्र और प्रतिक्रियाएँ दरार पैदा करती हैं। राज्य इन्हें पीड़िता के रूप में प्रस्तुत कर रहा था जो

---

[74] उमा चक्रवर्ती (2011) : 144.

[75] फ़ाइल एम, बॉक्स 22, केस न. 4 उत्तराखंड स्टेट आर्काइव, देहरादून.

[76] चारु गुप्ता (2013), *प्रतिमान : समय समाज संस्कृति*, खंड 1, जनवरी-जून : 121.

सदैव निष्क्रिय अवस्था में थी, जिसके दोषी को सज़ा देना अनिवार्य था। किंतु कई महिलाएँ थीं जो स्वयं के अतीत, वर्तमान व भविष्य के प्रति जागरूक थीं तथा अपने अधिकार व इच्छा के लिए आवाज़ उठा रही थी। ऐसी ही एक स्त्री थी पसंदी उर्फ़ हीरा जो ढाकी जाति से थी। हीरा चीफ़ मिनिस्टर टिहरी गढ़वाल को पत्र लिखती है। उसका पत्र उसकी जागरूकता व सक्रियता को दर्शाता है :

> श्रीमान जी,
> गुजारिश है की सायला की उमर करीबन 26/27 साल की है और मेरे माता पिता ने मुझे गाने बजाने के काम से 24/25 साल की उमर से रख लिया था। जिसमें मुझे टिहरी दरबार से अजाजत शुला का सटिफिकेट मिला हुआ है। और इस अरसे के अंदर मैंने इन को अपने माता पिता को हज़ारो रुपए कमा कर दिए। साल गुबिरखा में मैं जो घर गई। मुझे अपनी कमाई का कुछ नजर नहीं आया दिल को सदमा हुआ। इस वक़्त तो जवानी है। बुढ़ापे में कहाँ जाऊँगी। इसलिए मैं ख़ुद मुख़्तार हूँ और मैंने इन के साथ में रहना ठीक नहीं समझा अब अपना अलग हूँ। और अपना भला बुरा ख़ुद सोच समझ सकती हूँ। मुझे कोई भगा कर नहीं लाया मैं ख़ुद आई हूँ और बालिग हूँ। अब यही अरज है कि मैं अपना अलग रहना चाहती हूँ और इन के साथ मैं नहीं रहूँगी। पहाड़ जा कर भी इन से अलाहिदा रहूँगी। और मुझ को मजाज होगा कि जिस को चाहूँ उस को अपने पास रखूँगी। इन का कोई उजर यानी मेरे माता पिता का समाअत ना होगा। मैं जो चाहूँ वह करूँगी। लिहाजा इतलाह के लिए खिदमत में पेश है। इस वक़्त मैं जवान हूँ। अपने बुढ़ापे के लिए ज़रूर किसी को अपनी शोहरी परवरिश के लिए रक्खूँगी, चूँकि मैं शादीशुदा तो हूँ ही नही, और कुमारी हूँ। 30 अप्रैल, 1949.[77]

हीरा बाई पितृसत्ता को चुनौती देती है, स्त्री की यौनिकता पर पुरुष के नियंत्रण पर चोट करती है तथा एक वेश्या के सदैव एक 'पीड़िता' होने की विचारधारा को चुनौती देती है। अपनी स्वायत्तता, इच्छा तथा स्वतंत्रता का दावा करती है। दलित नृत्यांगनाएँ जाति चेतना का भी उदाहरण प्रस्तुत करती हैं, मिसाल के तौर पर कुछ दलित नृत्यांगनाएँ 30 मार्च, 1949 में चीफ़ मिनिस्टर टिहरी गढ़वाल को सामूहिक स्मृतिपत्र (मेमोरियल) भेजती हैं :

> जैसाकि विदित है संस्मरण लेखक टिहरी गढ़वाल प्रांत के मूल निवासी हैं तथा अपने जीवन यापन के लिए नाचने-गाने के पेशे में वर्षों से संलग्न हैं।[78] याचिकाकर्ता पेशेवर नर्तकियों और गायकों के एक वर्ग से संबंधित हैं और यह उनके लिए प्रथागत है कि वे अपने बच्चों और आश्रितों को उक्त व्यवसायों से पालते हैं।[79] टिहरी गढ़वाल में, प्राचीन काल से उनका सामाजिक जीवन 'अस्पृश्यों' का रहा है और इस अक्षमता के कारण उन्हें किसी अन्य व्यवसाय में नेतृत्व या संलग्न होने की संभावना से दूर कर दिया गया।[80]

[77] फ़ाइल एम, बॉक्स 22, केस न. 4 उत्तराखंड स्टेट आर्काइव, देहरादून.

[78] वही.

[79] वही.

उपरोक्त पंक्तियों से स्पष्ट होता है कि इन महिलाओं में जातीय चेतना थी। वह यह नहीं मानती की उनके द्वारा जातीय तौर पर नृत्य संगीत द्वारा जीविकोपार्जन करने की व्यवस्था ईश्वर ने बनाई है। वह इस बात पर भी विश्वास नहीं करती कि यह पेशा ही उनकी नियति है या कर्मों का फल है। वह इस तथ्य से भली-भाँति परिचित हैं कि जाति व्यवस्था में उन्हें अस्पृश्य श्रेणी में रखने के कारण उनके जीविकोपार्जन के साधन सीमित हैं। अस्पृश्यता के कारण ही रोज़गार के अन्य अवसर उन्हें उपलब्ध नहीं हैं, किंतु इस व्यवस्था का कोई विकल्प उन के पास नहीं है। इन दलित नृत्यांगनाओं का संघर्ष केवल जीविकोपार्जन के साधन व राज्य में आवागमन की आज़ादी तक ही नहीं था बल्कि सामाजिक स्तर पर रचे गए अर्थों, परिभाषाओं और अस्मिताओं के बरअक्स भी था :

> भारत में विदेशी शासन के अंधकार के दिनों में अकेले मेमोरिलिस्ट और उनके पूर्वाधिकारी ही नृत्य और संगीत को इस देश में जीवित रखने के लिए ज़िम्मेदार है।
> मेमोरिलिस्ट्स की विशेषताओं में आपत्तिजनक केवल यौनिक आकर्षण है जोकि उनके पेशे के मूल में अंतर्निहित है।
> यहाँ तक की सुदूर अतीत में भी लगभग सभी राजाओं के पास पेशेवर संगीतज्ञ और नर्तक हुआ करते थे, विक्रमादित्य और भोज इस कला के प्रबल पूजक थे तथा सर्वोच्च प्रतिभा को राज नर्तक एवं संगीतज्ञ के रूप में रखते थे।
> मेमोरिलिस्ट नृत्य और संगीत के उसी स्कूल का प्रतिनिधित्व करते हैं, बल्कि उन प्रतिष्ठित संगीतज्ञ और नर्तक के उत्तराधिकारी हैं। हालाँकि आर्थिक और अन्य कारणों से जोकि उनके नियंत्रण से बाहर हैं मेमोरिलिस्ट ने बदनामी को प्राप्त किया है।
> मेमोरिलिस्ट दावा करते हैं कि प्रतिकूल परिस्थितियों में कला की मशाल को जलाये रखने के मेमोरिलिस्ट के प्रयास की वजह से ही देशवासियों ने कला को अपने घर, स्कूल और अकादमिक जगत में पुनर्जीवित करने के योग्य हो पाएँ।[81]

ये नृत्यांगनाएँ इतिहास में दावा करते हुए, अपनी अस्मिता का निर्माण करती हैं नाचने गाने वाली के तौर पर उनकी जो निम्नतर की छवि है, वेश्यावृत्ति की आशंका पर उन पर जो प्रतिबंध हैं, ये उस हीन/नकारात्मक छवि को चुनौती देती हैं तथा स्वयं की 'कला के रक्षक' की अस्मिता का निर्माण करती है। वह 'हीन' से 'श्रेष्ठ' की छवि का निर्माण करती हैं जिसके लिए न केवल सभ्य समाज में नृत्य संगीत के महत्त्व व उसके सराहे जाने का हवाला देती है बल्कि राजा भोज और विक्रमादित्य के दरबार के संगीतज्ञ और नर्तक से अपनी वंशावली जोड़ती हैं। ये नृत्यांगनाएँ उन नर्तकों तथा उस कला का प्रतिनिधि होने का दावा करती हैं जिसके राजाभोज एवं विक्रमादित्य जैसे यशस्वी राजा प्रशंसक थे।

---

[80] वही.

[81] वही.

अंजलि अरुन्दिकर भी गोमंतक मराठा समाज (जो अपने अंदर विभिन्न जातियों को समाए हुए था) द्वारा नई अस्मिता के निर्माण की बात करती है। गोमंतक मराठा समाज अपने अतीत और यौनिकता के प्रति शर्म या पतन का नज़रिया नहीं रखते बल्कि उसके प्रति आशावादी रवैया रखते हुए एक बेहतर भविष्य की कामना करते हैं।[82] यह नृत्यांगनाएँ उस तर्क को ही उल्टा कर देती हैं जिसके अनुसार वह समाज की नैतिकता में खलल डालती हैं। इसके विपरीत वह समाज में नैतिकता को बनाए रखने में अपने योगदान की बात करती हैं। वह कहती हैं :

> याचिकाकर्ता के पेशे को लोक नैतिकता को भ्रष्ट करने से जुड़ा-कलंक समझना, पूरी तरह से निराधार है। वास्तव में यह याचिकाकर्ता हैं, जो महिलाओं के बीच एक उच्च नैतिक स्तर को बनाए रखने में सफल हुए हैं। जोकि देश में अच्छी तरह से सुव्यवस्थित और सामाजिक जीवन में उसका कोई छोटा योगदान नहीं है।[83]

इसी प्रकार अनुपमा राव महाराष्ट्र में मुरली की बात करती हैं। मुरली, में महार, माँग, कुंबी और तथाकथित घुमंतू समुदाय से थीं, जिनका जेजूरी में भगवान खंडोबा से विवाह कर दिया जाता था। किसी व्यक्ति से उनके विवाह पर प्रतिबंध था, भगवान खंडोबा की सांकेतिक पत्नी होने के नाते वह पुरुषों को यौनिक सेवा देने के लिए प्रतिबद्ध थीं। 1908 में सोमवंशीय मित्रम् ने शिवुबाई वलाड जोकि एक मुरली थी, का पत्र प्रकाशित किया। शिवुबाई का पत्र उन सुधारकों के विरोध में था जोकि कलंकित प्रथाओं ख़ासकर धार्मिक अर्पण और यौन दासत्व को मिटाने का भरसक प्रयास कर रहे थे। शिवुबाई महार पंच के उस पत्र पर प्रतिक्रिया देती हैं, जिसमें मुरली को सामाजिक बुराई तथा दलित पुरुषों एवं उनके घर को बर्बाद करने वाला बताया गया था। शिवुबाई का कहना था कि उसके समुदाय के पुरुषों द्वारा उसे इस पेशे में आने के लिए बाध्य किया गया है और कई औरतें इससे बचने के लिए इस्लाम व ईसाईयत में धर्मांतरित हो गईं। वह इस प्रथा को क़ायम रखने के लिए अपने समुदाय के पुरुषों को ज़िम्मेदार ठहराती है और ऐसे पिताओं के ख़िलाफ़ अभियान की बात करती हैं जो अपनी बेटियों का अर्पण करते हैं।[84] शिवुबाई महार पंच का विरोध अवश्य करती हैं तथा स्वयं की स्थिति के लिए पुरुषों को ज़िम्मेदार ठहराती हैं, वह पितृसत्ता पर चोट करती हैं किंतु समाज में मुरली की 'घर तोड़ने वाली', 'बुरी स्त्री' की जो छवि है उसके संदर्भ में वह कुछ नहीं कहती, उसके पत्र से ऐसा आभास होता है कि वह मुरली प्रथा के नकारात्मक पक्षों को स्वीकार करती है तथा स्वयं को पुरुषों का 'शिकार' मानती है।

---

[82] अंजलि, अरुन्देकर, (सं.) ऐनिया लूम्बा और रिटी ए. लुकोज़ (2012) : 247.

[83] फ़ाइल एम, बॉक्स 22, केस न. 4 उत्तराखंड स्टेट आर्काइव, देहरादून.

[84] अनुपमा राय (2012) : 256-257.

निष्कर्ष

परंपरागत तौर पर नृत्य संगीत का पेशा करने वाली न केवल दलित नृत्यांगनाओं बल्कि दलित जातियों का उनकी जातीय अस्मिता के आधार पर अपराधीकरण किया जा रहा था। नृत्यांगनाओं के नाचने-गाने व उनकी अनियंत्रित यौनिकता के कारण राज्य को उन पर वेश्यावृत्ति का संदेह था। राज्य समय-समय पर इन जातियों के विषय में रूढ़छवियों को दर्शाता है कि वेश्यावृत्ति करना इनका स्वभाव ही नहीं बल्कि शौक़ भी है। राज्य का मानना था कि इन जातियों के किसी भी बयान और दरख़्वास्त पर ध्यान देने की ज़रूरत नहीं है और न ही इस क़ौम के किसी मामले के लिए तर्क और तफ़्तीश की कोई ख़ास ज़रूरत है। इन जातियों की सामाजिक, आर्थिक वास्तविकताओं पर ग़ौर किए बग़ैर राज्य नृत्यांगनाओं की 'जाति' को उनके व्यवहार और गुणों का 'स्थायी निर्धारक' मान रहा था। राज्य की निगरानी, नियंत्रण और अनुशासन का पूरा उपकरण जाति विशेष था जो इन जातियों के रोज़मर्रा के जीवन को प्रभावित (कुप्रभावित) करता था। राज्य नियंत्रण, निगरानी और अनुशासन की पूरी प्रक्रिया में उपरोक्त दलित जातियों को वेश्यावृत्ति करने वाली जाति के तौर पर चिह्नित कर रहा था।

नृत्यांगनाओं की अनियंत्रित यौनिकता न केवल राज्य के लिए बल्कि उच्च जातीय सुधारकों के लिए भी चिंता का विषय बनी हुई थी। इस चिंता और उत्कंठा के दोहरे आयाम थे। एक ओर नृत्यांगनाओं की अनियंत्रित यौनिकता राज्य की इज़्ज़त के लिए खतरा पैदा कर रही थी, जिसे उच्च जातीय पुरुष बुराई की भाषा में प्रकट कर रहे थे। वहीं दूसरी ओर इसी अनियंत्रित यौनिकता के माध्यम से सिविल सोसाइटी समाज में 'अच्छी स्त्री' और 'अच्छे जीवन' के मापदंड निर्धारित कर रही थी अथवा पहले से स्थापित मापदंडों को मज़बूती दे रही थी।

किंतु ये दलित नृत्यांगनाएँ निष्क्रिय नहीं थीं। राज्य इन्हें 'पीड़िता' के रूप में प्रस्तुत कर रहा था, जो सदैव निष्क्रिय अवस्था में थीं, जिसके दोषी को सजा देना अनिवार्य था। और यह दोषी दलित पुरुष था जो उनसे वेश्यावृत्ति करवा रहा था। लेकिन इन नृत्यांगनाओं के पत्र और प्रतिक्रियाएँ राज्य द्वारा उकेरी गई उपरोक्त तस्वीर में दरार पैदा करते हैं। यह महिलाएँ स्वयं के अतीत, वर्तमान और भविष्य के प्रति जागरूक थी तथा अपने अधिकार और इच्छा के लिए आवाज़ उठा रही थीं। यह नृत्यांगनाएँ न केवल पितृसत्ता को चुनौती देती हैं, स्त्री की यौनिकता पर पुरुष के नियंत्रण पर चोट करती है, बल्कि 'कला के रक्षक' के तौर पर स्वयं की नई अस्मिता की रचना भी करती हैं। वह अपने पेशे के संबंध में सकारात्मक विचार रखती हैं तथा समाज में नैतिकता को बनाए रखने में स्वयं के योगदान की बात करती हैं।

संदर्भ

अंजली अरुन्देकर (2012) 'सब्जेक्ट टू सेक्स : अ स्मॉल हिस्ट्री ऑफ़ द गोमांतक मराठा समाज', एनिया लूम्बा और रिटी ए. लुकोज़ (सं.), *साउथ एशियन फ़ेमिनिज़्म्स*, ड्यूक युनिवर्सिटी प्रेस, लंदन : 244-263.

अनुजा अग्रवाल (2008), *चेस्ट वाइव्स ऐंड प्रोस्टीट्यूट सिस्टर्स : पैट्रिआर्की ऐंड प्रोस्टीट्यूशन एमंग द बेडियाज़*

ऑफ़ इंडिया, रटलेज, नई दिल्ली.

अनुपमा राय (2012), 'कास्ट कॉलोनियलिज़्म ऐंड द रिफ़ॉर्म ऑफ़ जेंडर : प्रस्पेक्टिव फ़्रॉम वेस्टर्न इंडिया', (सं.) चारु गुप्ता, *जेंडरिंग कोलोनियल इंडिया : रिफ़ॉर्म्स, प्रिंट, कास्ट ऐंड कम्युनिलिज़म*, ओरिएंट ब्लैक स्वान, नई दिल्ली : 256-257.

अनुपमा राव (2014), 'द सेक्सुअल पॉलिटिक्स ऑफ़ कास्ट वायलेंस ऐंड द रिचुअल आर्काइव', सुमित सरकार और तनिका सरकार (सं.), *कास्ट इन मॉडर्न इंडिया*, परमानेंट ब्लैक, नई दिल्ली.

अश्विनी ताम्बे (2009), *कोड्स ऑफ़ मिसकंडक्ट : रेगुलेटिंग प्रोस्टीट्यूशन इन लेट कोलोनियल बॉम्बे*, ज़ुबान, नई दिल्ली.

आनंद ए. यंग (1985), 'डैंजरस कास्ट ऐंड ट्राइब्स : द क्रिमिनल ट्राइब्स ऐक्ट ऐंड द मगहिया डोम्स ऑफ़ नॉर्थ ईस्ट इंडिया', आनंद ए. यंग (सं.), *क्राइम ऐंड क्रिमिनेलिटी इन ब्रिटिश इंडिया*, द युनिवर्सिटी ऑफ़ अरिज़ोना प्रेस, टक्शन : 109.

उमा चक्रवर्ती (2011), *जाति समाज में पितृसत्ता*, ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली.

एच. गेरल्डिन फ़ोर्ब्स (1996), *वीमेन इन मॉडर्न इंडिया*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस.

एडविन टी. एटकिंसन (2002), द *हिमालयान गज़ेटियर ऐंड द हिमालयान डिस्ट्रिम्ट्स ऑफ़ द नॉर्थ वेस्टर्न प्रोविन्स ऑफ़ इंडिया*, लो प्राइस पब्लिकेशंस.

एम. स्वप्न बनर्जी (2004), *मेन, वीमेन ऐंड डोमेस्टिक्स : आर्टिकुलेटिंग मिडिल क्लास आयडेंटिटी इन कोलोनियल बंगाल*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

ऐंड्रू ऑल्टर (2003), *ढोल सागर : आस्पेक्ट्स ऑफ़ ड्रम नॉलेज़ एमंगेस्ट म्यूजीशियन इन गढ़वाल,* नॉर्थ इंडिया ई. बी. एच. आर. 24 : 63-76.

कुमकुम संगारी और सुदेश वैद (सं.) (2001), *रिकास्टिंग वीमेन : एसेज़ इन कोलोनियल हिस्ट्री*, काली, दिल्ली.

गेल ऑम्वेट (1994), *दलित ऐंड द डेमोक्रेटिक रेवोल्यूशन : डॉ. आंबेडकर ऐंड द दलित मूवमेंट इन कोलोनियल इंडिया*, सेज़, दिल्ली.

चारु गुप्ता (2012), *स्त्रीतत्व से हिंदुत्व तक: औपनिवेशिक भारत में यौनिकता और साम्प्रदायिकता*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली.

चारु गुप्ता (2001), *सेक्सुअलिटी, ऑब्सीनिटी, कम्युनिटी : वीमेन, मुस्लिम, ऐंड द हिंदू पब्लिक इन कोलोनियल इंडिया*, परमानेंट ब्लैक, दिल्ली.

चारु गुप्ता (2016), द *जेंडर ऑफ़ कास्ट : रेप्रेजेंटिंग दलित इन प्रिंट*, परमानेंट ब्लैक, रानीखेत.

तनिका सरकार (2001), *हिंदू वाइफ़, हिंदू नेशन : कम्युनिटी रिलीज़न ऐंड कल्चरल नैशनलिज़म*, परमानेंट ब्लैक, दिल्ली.

देवेश सोनेजी (2012), *अनफ़िनिश्ड जेस्चर्स : देवदासीज़, मेमोरी ऐंड मॉडर्निटी इन साउथ इंडिया*, युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, शिकागो.

प्रियदर्शिनी विजयश्री (2010), *देवदासी या धार्मिक वेश्या? एक पुनर्विचार*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली.

मार्क जरगेन्समेयर (2009), *रिलिजियस रेबेल्स इन पंजाब : द एडी धर्म चैलेंज़ टू कास्ट*, नवयाना,नई दिल्ली.

रामनारायण एस. रावत (2011), *रिकन्सिडरिंग अनटचैबिलिटी : चमार्स ऐंड दलित हिस्ट्री इन नॉर्थ इंडिया*, इंडियाना युनिवर्सिटी प्रेस, ब्लूमिंग्टन.

रोज़ालिंड ओ'हानलॉन (1985) *कास्ट कॉन्फ़िलक्ट ऐंड आइडियोलॉजी : महात्मा जोतिराव फुले ऐंड लो-कास्ट*

प्रोटेस्ट इन नाइन्टींथ सेंचुरी इंडिया, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

वसुधा पांडे (2014), *मेकिंग कुमायूँ मॉडर्न : बिलीफ़ ऐंड प्रैक्टिसेज़, 1815-1930,* नेहरू मेमोरियल म्यूज़ियम ऐंड लाइब्रेरी, नई दिल्ली.

शर्मिला रेगे (1995), 'द हेज़ेमोनिक ऐप्रोप्रिएशन ऑफ़ सेक्सुअलिटी : द केस ऑफ़ द लावनी परफ़ॉर्मर्स ऑफ़ महाराष्ट्र', *कॉन्ट्रीब्यूशंस टू इंडियन सोसियोलॅजी*, 29 : 1 और 2 : 23-38.

शेखर बंद्योपाध्याय (2004), *कास्ट, कल्चर ऐंड हेज़मनी : सोशल डोमिनेंस इन कोलोनियल बंगाल*, सेज़, दिल्ली.

शेखर बंद्योपाध्याय (2011), *कास्ट, प्रोटेस्ट ऐंड आयडेंटिटी इन कोलोनियल बंगाल : द नामशूद्रा 'ज़ ऑफ़ बंगाल, 1872-1947,*ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

संजय निगम (1990), 'डिस्पिलिनिंग ऐंड पुलिसिंग द 'क्रिमिनल बाईबर्थ', पार्ट-2 : द डिवलपमेंट ऑफ़ ए डिस्पिलिनरी सिस्टम, 1871-1900', द *इंडियन इकॉनॉमिक ऐंड सोशल हिस्ट्री रिव्यू*, 27, 3 : 257.

सौरभ दुबे (1998), *अनटचैबल पास्ट : रिलीज़न, आयडेंटिटी ऐंड पॉवर एमंग ए सेंट्रल इंडियन कॉम्युनिटी, 1780-1950*, सनी प्रेस, अल्बनी.

हिंदी नवजागरण और 'अछूत समस्या'

सुरेश कुमार



वास्तव में साहित्य और इतिहास के आलोक में देखा जाए तो औपनिवेशिक भारत की बीसवीं सदी का तीसरा और चौथा दशक साहित्यिक और सामाजिक सुधारवादी आंदोलन की गतिविधियों से भरा रहा है। जहाँ एक तरफ़ स्वराजवादी आंदोलन का मसौदा अंगड़ाई ले रहा था, वहीं अछूत समस्या एक ज्वलंत मुद्दा बनकर उभर रही थी। दरअसल, सन् 1911 और 1921 की जनगणना के आँकड़े जब प्रकाशित हुए तो उसमें लगभग नौ लाख हिंदू घट गए थे। अछूत हिंदुओं की जाति-प्रथा के अत्याचारों से तंग होकर धर्मांतरण की ओर अपना रुख करने लगे थे। हिंदी नवजागरणकालीन लेखकों और संपादकों ने हिंदू धर्म में हो रही घटोतरी को हिंदुओं के भीषण ह्रास के तौर पर देखा था। सन् 1922 में उत्तर भारत में स्वामी अछूतानंद 'हरिहर' की अगुवाई अछूतों के एक नए आंदोलन का उदय हुआ। जो साहित्य और इतिहास में 'आदि-हिंदू' आंदोलन के नाम से जाना गया। स्वामी अछूतानन्द हरिहर के अछूत आंदोलन और साइमन कमीशन के आगमन की हलचलों ने हिंदी पट्टी के संपादकों, लेखकों और सुधारकों को अछूत समस्या की ओर ध्यान देने के लिए विवश कर दिया था। सन् 1927 में

साइमन कमीशन का गठन सामाजिक सुधार संबंधी बातों का जायज़ा लेने के लिया हुआ। *माधुरी चाँद*, *सुधा*, *त्यागभूमि* सरीखी साहित्यिक पत्रिकाओं ने साइमन कमीशन के आगमन का बहिष्कार बड़े दमखम के साथ किया। हिंदी संपादकों का तर्क था कि अंग्रेज़ अफ़सरों का दल हिंदुओं की परीक्षा कैसे ले सकता है। जहाँ हिंदी संपादक और सुधारक साइमन कमीशन के आगमन को पराधीनता का कठोरतम दंड बताकर बहिष्कार कर रहे थे, वहीं अछूत नेताओं ने साइमन कमीशन के आगमन के स्वागत का ऐलान कर हिंदू नेताओं और सुधारकों को चकित कर दिया था। ध्यातव्य है कि अभी1930 का घटनापूर्ण दशक नहीं आया था, न तो लन्दन में गोलमेज़-सम्मेलन हुआ था और न ही पूना पैक्ट लेकिन डॉ. भीमराव आंबेडकर 25 दिसम्बर 1927 को मनु के विधान का दहन कर चुके थे। वे तालाबों और कुओं में सार्वजनिक हिस्सेदारी के लिए अछूतों को गोलबंद कर भी कर रहे थे। उन्होंने अछूत मसले पर सिर्फ़ सवर्ण सुधारकों की आलोचना नहीं की, बल्कि ब्रिटिश शासन को भी आड़े हाथों लिया। सन् 1930 में नागपुर में आयोजित 'अखिल भारतीय दलित सम्मेलन' में सभापति की हैसियत से डॉ. आंबेडकर अपने भाषण में ब्रिटिश सरकार की तीखी आलोचना करते नज़र आए।[1] इन्हीं साहित्यिक, सामाजिक और राजनीतिक गतिविधियों के बीच बीसवीं सदी का वह महत्त्वपूर्ण दशक आकार ले रहा था जिसमें गोलमेज़ और पूना-पैक्ट जैसी ऐतिहासिक घटनाएँ घटित होने वाली थीं।

इस लेख के केंद्र में मूलत: हिंदी नवजागरणकालीन लेखकों और संपादकों का साहित्य और विचार है। हिंदी नवजागरणकालीन अग्रदूतों का 'गोलमेज़ सम्मेलन','पूना-पैक्ट' और 'अछूत समस्या' पर नज़रिया क्या था? इन ऐतहासिक परिघटनाओं ने हिंदी नवजागरण कालीन सवर्ण संपादकों और लेखकों के समक्ष ऐसी कौन सी चुनौतियाँ और मजबूरियाँ पेश कर दीं कि उन्हें अछूत समस्या पर ध्यान देना पड़ा। इन्हीं कड़ियों की पड़ताल करने का प्रयास इस लेख में किया जाएगा। इस लेख की शोध सामग्री के स्रोत *चाँद*, *माधुरी*, *सुधा*, *सरस्वती*, *विश्वमित्र*, *त्यागभूमि*, *महारथी*, *युगान्तर*, *ब्राह्मण सर्वस्व* आदि नवजागरणकालीन पत्रिकाएँ हैं।

साइमन कमीशन ने जैसे ही अपनी रिपोर्ट 10 और 24 जून 1930 को प्रस्तुत की वैसे ही ब्रिटिश सरकार ने लंदन में गोलमेज़ कॉन्फ्रेंस का आयोजन किया। सन् 1930 के नवंबर महीने में आयोजित प्रथम गोलमेज़ सम्मेलन का कॉन्ग्रेसी लीडरों ने बहिष्कार किया था। इस प्रथम गोलमेज़ सम्मेलन में कॉन्ग्रेस की ओर से कोई प्रतिनिधि शामिल नहीं हुआ था। इधर, 5 मार्च 1931 को गांधी और इरविन समझौता हो चुका था। सन् 1931के सितम्बर महीने में दूसरी

[1] डॉ. आंबेडकर अपने विद्वत्तापूर्ण भाषण में बड़े ज़ोरदार शब्दों में पूछते हैं कि वे कौन से प्रश्न हैं, जो ब्रिटिश गवर्नमेंट ने अपने डेढ़ सौ वर्षों के शासन में अछूतों के उद्धार के लिए किए हैं? अंग्रेज़ों के आने के पहले अछूत लोग सार्वजनिक कुओं से पानी नहीं भर सकते थे; क्या अंग्रेज़ों ने अछूतों का यह दुःख दूर कर दिया? अंग्रेज़ों के आगमन के पूर्व अछूत लोग मन्दिरों में नहीं प्रवेश कर सकते थे, क्या अब उन्हें यह अधिकार मिल गया है? अंग्रेज़ी राज्य से पूर्व अछूत लोग पुलिस में नहीं भर्ती किए जाते थे; क्या अंग्रेज़ी राज्य में वे पुलिस में भर्ती किए जाते हैं? अंग्रेज़ी शासन के पहले सेना में अछूतों का प्रवेश निषिद्ध था, क्या अंग्रेज़ी शासन में, उन्हें यह अधिकार मिल गया? नहीं! नहीं!! नहीं!!! फिर किस बात के लिए हम अंग्रेज़ी राज्य को अछूतों का हितैषी समझें? देखें, अछूत की समस्या और स्वराज, संपादकीय (1930), *चाँद* : नवंबर : 5 .



स्रोत : *सुधा* : मार्च 1929, वर्ष : 2, खंड : 2, संख्या : 2.

गोलमेज़ कॉन्फ्रेंस का आयोजन लंदन में किया गया। महात्मा गांधी दूसरी गोलमेज़ कॉन्फ्रेंस में भाग लेने के लिए तैयार थे। इस दूसरी गोलमेज़ कॉन्फ्रेंस पर हिंदू नेताओं और लेखकों की निगाहें टिकी हुई थीं, क्योंकि इस कॉन्फ्रेंस से भारत का संघीय ढाँचे के साथ हिंदू, मुसलमानों और अछूतों का भविष्य निर्धारित होने वाला था। इस गोलमेज़-परिषद में कॉन्ग्रेस की ओर से महात्मा गांधी और डॉ. आंबेडकर अछूतों की ओर से नुमाइंदगी कर रहे थे। भारत के तत्कालीन उद्योगपति और कॉन्ग्रेस समर्थक घनश्यामदास बिड़ला फ़ेडरेशन ऑफ़ चैम्बर्स कॉमर्स ऐंड इंडस्ट्री की ओर से नुमाइंदी कर रहे थे। पंडित मदन मोहन मालवीय और श्रीमती सरोजनी नायडू भी इस कॉन्फ्रेंस में शामिल थे। मुहम्मद अली जिन्ना संघीय कमेटी के सदस्य के तौर पर गोलमेज़ सम्मेलन में शरीक हुए थे। इस दूसरी गोलमेज़ कॉन्फ्रेंस में बिटिश-सदस्य कुल 14 थे। इनमें विशेष उल्लेखनीय प्रधानमंत्री रैम्जे मैकडोनेल्ड, लार्ड सैंकी, सर सैमुअल होर, कर्नल वेजवुड बेन, अर्ल पील आदि थे।[2]

प्रथम गोलमेज़ सम्मेलन से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण दूसरी गोलमेज़ सभा थी। इस बार महात्मा गांधी कॉन्ग्रेस की ओर से नुमाइंदगी कर रहे थे। सभी प्रतिनिधियों की निगाहें उन पर

[2] नरसिंहराम शुक्ल (1932) : 51.

टिकी थी। महात्मा गांधी, पंडित मदन मोहन मालवीय, घनश्याम दास बिड़ला तथा अन्य प्रतिनिधियों के साथ 12 सितम्बर को महात्मा गांधी अपने साथियों के साथ लंदन पहुँच गए। सात सितम्बर को सेंट जेम्स पेलैस में लार्ड सैकी के सभापतित्व में गोलमेज़ कॉन्फ्रेंस का सत्र आरंभ हुआ। लार्ड सैकी ने भारत के सभी दलों के प्रतिनिधियों को विश्वास दिलाते हुए अपने भाषण में इस बात पर ज़ोर दिया कि भारत में शांति और सुख की स्थापना करना एक ऐसा कार्य है, जिसके लिए जितना भी व्यक्तिगत त्याग करना पड़े, अधिक न होगा। भारत राष्ट्र-पद प्राप्त कर विश्व के सामाजिक और राजनीतिक विचारों के विकास में उचित रूप से योग देने के अपने युग-युगान्तर के स्वप्न को सफल करते हुए देखे। यही हमारी सबसे बड़ी आकांक्षा है।[3] 13 सितम्बर को महात्मा गांधी ने गोलमेज़ कॉन्फ्रेंस की बैठक में भाग लिया पर मौनव्रत होने के कारण वह कुछ बोले नहीं। इसके दूसरे दिन महात्मा गांधी ने प्लेनरी सत्र में भाग लेते हुए कहा कि संघ योजना समिति में जितनी बातें हो रही हैं, वे एक भी मेरे काम की नहीं। सरकार को यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि वह कितना अधिकार देना चाहती है।

इस गोलमेज़ कॉन्फ्रेंस में महात्मा गांधी, डॉ. आंबेडकर और मुहम्मद अली जिन्ना की मुखर आवाज़ प्रत्येक प्लेनरी सत्र में गूँज रही थी। इस पूरी कॉन्फ्रेंस में अछूतों के पृथक निर्वाचन का मुद्दा प्रमुख बनकर उभरा था। 24 सितंबर को अल्पसंख्यक प्रश्नों के उचित समाधान के लिए आगाख़ान और महात्मा गांधी के बीच सभा हुई। जिन्ना दल अपनी पिछली चौदह सूत्री माँगों पर अड़ा रहा। जिसके चलते कोई समाधान नहीं निकाला जा सका। जिन्ना यह बात अच्छी तरह महसूस कर रहे थे कि महात्मा गांधी की उपस्थिति में अल्पसंख्यक समुदाय को कुछ भी मिलने वाला नहीं है। महात्मा गांधी को लेकर जिन्ना का मत था कि 'अंग्रेज़ उन्हें उल्लू बनाएँगे और वे अंग्रेज़ों को उल्लू बनाएँगे।'[4] 2 अक्टूबर को गांधी की अध्यक्षता में एक कमेटी बैठी। इस कमेटी में डॉ. आंबेडकर ने प्रांतीय परिषद में अछूतों के लिए 15 प्रतिशत जगह सुरक्षित रखने का प्रस्ताव प्रस्तुत किया। डॉ. आंबेडकर जैसा प्रखर राजनीतिज्ञ और विचारक जानता था कि यदि अछूतों को पृथक निर्चाचन का अधिकार नहीं दिया गया तो अछूत राजनीतिक दृष्टि से पॉवरलेस हो जाएँगे। जब डॉ. आंबेडकर ने अपनी माँग में अछूतों के लिए पृथक निर्वाचन का प्रस्ताव रखा तो गांधी दल के बीच हड़कंप मच गया। महात्मा गांधी ने अछूत पृथक निर्वाचन के प्रस्ताव को कॉन्ग्रेस के वसूलों के ख़िलाफ़ बताया। 5 अक्टूबर को अल्पसंख्यक मसले के समाधान पर फिर से बैठक हुई। इस बैठक में पृथक निवार्चन और अल्पसंख्यक मसले का कोई नतीजा नहीं निकल सका।

अल्पसंख्यक समिति ने अपनी रिपोर्ट प्रधानमंत्री रेम्जे मैकडोनेल्ड को सौंप दी। इस रिपोर्ट का गांधी जी ने प्रबल विरोध किया। उन्होंने अछूतों के पृथक निर्वाचन का न सिर्फ़ विरोध किया बल्कि अछूतोद्धार का श्रेय कॉन्ग्रेस के खाते में डाल दिया। महात्मा गांधी का कहना था कि :

[3] वही : 51.

[4] स्टेनली वोलपर्ट (2009) : 185.

> मैं बहुत ही असमंजस और लज्जा के साथ अल्पसंख्यकों के इस विवाद में पड़ा हुआ हूँ। मुख्य प्रश्न साम्प्रदायिक समस्या नहीं, वरन शासन-विधान है। 'कॉन्ग्रेस उस समझौते को मानने को तैयार है जो हिंदू-मुसलमान और सिक्ख आपस में तय कर लें, पर वह अन्य किसी अल्प-संख्यक समुदाय को विशेषाधिकार दिलाने की बात को स्वीकार न करेगी। मुझे दुख है कि कमेटी में एकमत नहीं हुआ। मैं फिर इस बात पर ज़ोर देना चाहता हूँ कि भारतीय शासन-विधान स्थापित करने की ओर बढ़ने का अधिकार साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व साम्प्रदायिक अधिकार तथा साम्प्रदायिक संरक्षण आदि ही हैं। अतः हमें और भी दुःख है कि इसी प्रश्न को हम न सुलझा सके। अन्यान्य सम्प्रदायों के लिए जो दावे पेश किए जाते हैं उन्हें तो मैं समझता भी हूँ, पर अछूतों के लिए जो दावे पेश किए जाते हैं वे दावे अत्यंत क्रूर हैं। उन्हें स्वतंत्र निर्वाचन देने का मतलब यही है कि उन्हें सार्वजनिक हेल-मेल से रखने का प्रयत्न किया जा रहा है। मैं भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक फिरूँगा। और इस बात की घोषणा करूँगा कि पृथक निर्वाचन में उनका हित नहीं है। इससे अछूतों का प्रश्न कभी भी हल नहीं हो सकता। कॉन्ग्रेस ही अछूतों का सच्चा प्रतिनिधि है। कॉन्ग्रेस ने जितना अछूतोद्धार के लिए किया है उतना और किसी ने नहीं किया है।[5]

अब कॉन्फ्रेंस में सबसे गर्म मुद्दा अछूतों के पृथक निर्वाचन का बन गया था। महात्मा गांधी ने अछूतों के पृथक निर्वाचन का विरोध करने के बाद ख़ुद को अछूतों का सबसे बड़ा हितैषी और प्रतिनिधि घोषित किया। महात्मा गांधी ने ब्रिटिश प्रधानमंत्री से कहा :

> कॉन्फ्रेंस को तुमने पिट्ठुओं से भर दिया है। अगर तुम मुझे अपना प्रतिनिधि बनाकर हिंदुस्तान भेजो, तो मैं तुम्हें सौ ऐसे आदमी ला दूँ जो किसी प्रकार का समझौता न होने दे। तुम्हारी कॉन्फ्रेंस में जो अछूतों का प्रतिनिधि है, उसे किसने अपना प्रतिनिधि चुना है? मेरा दावा है कि अछूतों का सच्चा प्रतिनिधि मैं हूँ।[6]

जब अन्य प्रतिनिधि अछूत मसले पर अपनी बात रखते तो गांधी उन पर झल्ला जाते थे। गांधी जी अपने को अछूतों का मुखिया सिद्ध करने का कोई अवसर नहीं जाने देना चाहते थे। उन्होंने अछूतों का प्रतिनिधि होने का दावा किस हद तक किया था, इसका अंदाजा घनश्याम दास बिड़ला के इस कथन से लगाया जा सकता है :

> 'कोई अछूतों की सिफ़ारिश करने आता है, तो महात्मा जी गरम हो जाते हैं। और कह देते हैं कि तुमको अछूतों की क्या ख़बर! अछूतों का मुखिया तो मैं हूँ।'[7]

---

[5] वही : 59.

[6] घनश्यामदास बिड़ला (1958) : 44.

[7] वही : 73-74.

गांधी जी के अछूत प्रतिनिधित्व वाले दावे से तंग आकर डॉ. आंबेडकर को गोलमेज़ सभा में कहना पड़ा कि 'महात्मा को तो झूठा दावा करने की आदत है। छह करोड़ अछूत तो मुझे ही मानते हैं, इनको तो कोई पूछता भी नहीं हैं।'[8] सच बात यह है कि इस गोलमेज़ कॉन्फ्रेंस में डॉ. आंबेडकर ही अछूतों के प्रतिनिधि थे। नतीजतन, अछूत प्रश्न पर कोई समझौता नहीं हो सका। सभी प्रतिनिधियों की दलीलें सुनने के बाद प्रधानमंत्री ने कहा कि यदि भारतीय नेता इस मसले का जल्द ही निपटारा नहीं करेंगे तो अछूत और अल्पसंख्यक समुदाय के समाधान का निर्णय ब्रिटिश सरकार अपने कंधे पर ले लेगी।

2.

अब इस बात की पड़ताल की ओर बढ़ा जाए कि दूसरी गोलमेज़ कॉन्फ्रेंस पर हिंदी लेखक और संपादकों का रुख और रवैया क्या था? औपनिवेशिक दौर में आयोजित इस गोलमेज़ सभा में डॉ. आंबेडकर तमाम तनाव और अवरोधों के बीच अछूतों की सामाजिक और आंतरिक समस्या को वैश्विक पटल पर उठाने में सफल रहे। हिंदी नवजागरण कालीन साहित्यिक अग्रदूतों ने अपने विमर्श में डॉ. आंबेडकर की विशेष अधिकारों की माँग को उपनिवेश विरोधी दौर में, औपनिवेशिक महकमों में लाना राष्ट्र और हिंदू विरोध के तौर पर देखा था। ऐसे संपादकों की दलील थी कि पृथक निर्वाचन की माँग अछूतों को हिंदू धर्म से तोड़कर उसकी जड़ों पर प्रहार करना है। हिंदी नवजागरणकालीन संपादकों ने गोलमेज़ सभा, लंदन की कार्यावाहियों में गहरी दिलचस्पी दिखाई थी। *सरस्वती* पत्रिका के तत्कालीन संपादक देवीदत्त शुक्ल ने गोलमेज़ सभा की विफलता का सारा ठीकरा अल्पसंख्यक प्रतिनिधियों के सिर पर डाल दिया। देवीदत्त शुक्ल का दावा था कि :

> अल्प-संख्यकों के प्रतिनिधियों ने अपने-अपने सम्प्रदाय की हितरक्षा करने में यहाँ तक हठधर्मी की है कि उनकी यह मनोवृत्ति प्रधानमंत्री राम्सेमैकडोनेल्ड को भी अच्छी नहीं लगी। इसी से उन्होंने अपने भाषण में यह बात स्पष्ट कर दी है कि यदि भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय आपस में समझौता नहीं करेंगे तो अन्त में यह काम सरकार को करना पड़ेगा। सरकार भारत के लिए संघ शासन का जो विधान बनाना चाहती है वह अपने उस महत्त्वपूर्ण कार्य को स्थगित नहीं कर सकती और जब यह कार्य सरकार करेगी तब अधिक से अधिक वह वर्तमान अवस्था में कुछ उपयोगी सुधार करके उसे अपने अनुकूल बना लेगी। इसके सिवा वह और क्या कर सकेगी? तब न तो मुसलमानों को पंजाब और बंगाल में बहुमत प्राप्त होगा, न सौ में तीस जगहें सिक्ख पाएँगे और न हिंदुओं का संयुक्त निर्वाचन ही प्राप्त होगा। इस सांप्रदायिक दुराग्रह का यही परिणाम होगा और इससे राष्ट्रीय भावना के उन्नत होने में बाधा पड़ेगी।[9]

[8] वही : 77.

[9] संघ शासन की व्यवस्था का आयोजन, संपादकीय (1932) : 189.

अछूत पृथक निर्वाचन को लेकर देवीदत्त का विचार था कि अब तक हिंदू-मुसलमानों में सिर-फुटौव्वल हो रही थी लेकिन अब हिंदुओं और अछूतों के बीच संघर्ष शुरू हो जाएगा। देवीदत्त शुक्ल को यह ख़याल नहीं रहा कि उच्च श्रेणी के हिंदू जाति और वर्ण के दंभ में सदियों से अछूतों पर अत्याचार होते आए हैं। बड़े मज़े की बात है कि देवीदत्त शुक्ल ने उच्च श्रेणी वाली जातिगत क्रूरता पर कोई भी प्रकाश नहीं डाला, उलटे पृथक निर्वाचन के मसले पर गांधी के साथ खड़े नज़र आए।

प्रसिद्ध लेखक प्रेमचंद (1880-1936) जितने श्रेष्ठ कथाकार थे, उतने ही श्रेष्ठ संपादक भी थे। हिंदी नवजागरण की श्रेष्ठ पत्रिकाओं में शुमार *माधुरी* का संपादन कई वर्षों तक किया था। प्रेमचंद ने साहित्य और संस्कृति को धार देने के लिए *हंस* पत्रिका निकाली थी, जिसके संपादक और प्रकाशक वे ख़ुद थे। *हंस* का प्रथम अंक मार्च,1930 को काशी से निकला था। *हंस* के संपादक रहते हुए उन्होंने जागरण जैसे श्रेष्ठ पत्र का भी संपादन किया। हिंदी पत्रकारिता का उनके पास अच्छा ख़ासा अनुभव था। प्रेमचंद ने *हंस*, अक्टूबर 1931 के अंक में गोलमेज़ कॉन्फ्रेंस पर एक लंबा संपादकीय लिखा था। इस संपादकीय में उन्होंने अल्पसंख्यक प्रतिनिधियों को अड़ंगेबाज और अंग्रेज़ों से दोस्ती निभाने वाले बता डाला। प्रेमचंद का कहना था कि :

> हमारे मुसलमान भाइयों ने आख़िर वह कर ही डाला, जिसकी हमें शंका थी; पर यह समझकर कि शायद युरोप के नए वातावरण में वह कुछ उदार हो जाएँ, हम उस शंका को बहलाते रहे थे। महात्मा गांधी भी यही समझकर गोलमेज़ में सम्मिलित हुए थे। अगर उन्हें यह मालूम होता, कि मुसलिम मेम्बर वहाँ अड़ंगा लगाएँगे, तो वह जाते ही क्यों। हालाँकि अभी महात्माजी निराश नहीं हुए हैं और हमारी ईश्वर से प्रार्थना है, कि उनकी आशावादिता प्रवंचना न निकले कि पर हमें संदेह अवश्य है।[10]

बड़ी दिलचस्प बात यह कि प्रेमचंद ने युरोप के वातावरण में उदार होने की अपेक्षा केवल अछूत और अल्पसंख्यक प्रतिनिधियों से ही करते हैं। उन्होंने अल्पसंख्यक प्रतिनिधियों के संबंध में कहा कि गोलमेज़ के मुस्लिम प्रतिनिधियों को हिंदुओं पर विश्वास नहीं है, अंग्रेज़ों पर विश्वास है। जिनसे उनका चोली-दामन का साथ है, जिनके साथ उनका भाईचारा है, उन पर उन्हें विश्वास नहीं है। अंग्रेज़ों पर उन्हें विश्वास है, जो उन पर शासन करते हैं।[11] प्रेमचंद इस गोलमेज़ सम्मेलन को सिर्फ़ गांधी के नज़रिये से देख रहे थे। वे गांधी की हर माँग को उचित ठहरने की क़वायद करते दिखाई देते हैं। वह गांधी के इस कदर वशीभूत थे कि इस संपादकीय में उन पर एक भी सवाल उठाना उचित नहीं समझा। फिर भी प्रेमचंद पर अस्मितावादी विमर्शकार यह सवाल तो करेंगे कि क्या कॉन्ग्रेस समर्थित दल को अल्पसंख्यक प्रतिनिधियों पर विश्वास था? क्या गांधी पृथक निर्वाचन का विरोध कर अछूत

[10] प्रेमचंद (1931) : 61.

[11] वही : 61.

प्रतिनिधि के समाने अड़ंगा नहीं लगा रहे थे? अछूतों के पृथक निर्वाचन का विरोध करना क्या गांधी जी की हठधर्मिता नहीं थी?

अब हम इस बात पर आते हैं कि डॉ. आंबेडकर को लेकर प्रेमचंद का नज़रिया क्या था? क्या प्रेमचंद गोलमेज़ कॉन्फ्रेंस में अछूतों की माँगों का समर्थन कर रहे थे? वैसे देखा जाए तो प्रेमचंद गांधी की तरह ही अछूत पृथक निर्वाचन के विरोधी के तौर पर सामने आते हैं। हिंदी के मुख्यधारा के आलोचकों की आम समझ यह है कि प्रेमचंद प्रगतिशील विचारों के थे पर गोलमेज़ और पूना-पैक्ट पर उनके विचार देख कर लगता है कि वह दलित मसले पर बहुत प्रगतिशील नहीं थे। वह हिंदू दायरे या गांधी के विचारों में ही दलित समस्या का समाधान खोज रहे थे। लेख के आने वाले हिस्से में मेरी यह बात सिद्ध होती दिखाई देगी कि औपनिवेशिक दौर नवजागरणकालीन अग्रदूतों के विमर्श में, अछूतों के सामाजिक-आंतरिक सवाल को बहुलतावादी राजनीति के केंद्र में लाना राष्ट्र के साथ हिंदू विरोधी के तौर पर देखा गया। प्रेमचंद का तर्क था कि इस गोलमेज़-परिषद में सरकार के पिट्ठू और हिंदू विरोधियों को आमंत्रित किया गया। प्रेमचंद ने अपने संपादकीय लेख में डॉ. आंबेडकर की अछूत पृथक निर्वाचन की माँग को कॉन्ग्रेस और हिंदू वसूलों के विपरीत बताया। इनकी दलील थी कि जब तक भारत को स्वराज नहीं मिल जाता, तब तक डॉ. आंबेडकर को अछूतों के लिए विशेष अधिकार की बात नहीं करनी चाहिए थी । प्रेमचंद का मत था कि, 'अछूत भाई अभी ऊँची जातियों से बराबरी नहीं कर सकते, क्योंकि वह शिक्षा और सभ्यता में बहुत पिछड़े हुए हैं; पर क्या यह बात स्वराज हो जाने पर नहीं कहीं जा सकती। उस वक़्त अगर यहाँ की स्वराज्य सरकार उनके साथ अन्याय करती तो उन्हें शिकायत करने का, आंदोलन करने का मौक़ा था।' प्रेमचंद की दृष्टि में डॉ. आंबेडकर पृथक निर्वाचन माँगकर हिंदुओं के दुश्मनों का साथ दे रहे थे। प्रेमचंद ने अपना अभिमत प्रकट करते हुए लिखा था कि :

> 'इस वक़्त तो वह पृथकता का राग अलाप कर हमारे शत्रुओं का साथ दे रहे हैं। हिंदू अब इतने नादान नहीं हैं, कि वह अपने ही देह के एक अंग को अपंग करके संसार में अपना अस्तित्व बनाए रखने का स्वप्न देख सकें। हजारों साल की ग़ुलामी ने अब उन्हें सुझा दिया है, कि अपने ही कुछ भाइयों को नीच बनाकर उन्होंने अपना ही जीवन संकट में डाल लिया है, और उनका उद्धार अब इसी में है, कि उन भाइयों को बराबर के अधिकार दें और उन्हें वास्तव में अपना भाई समझें। वे दिन अगर इस वक़्त डॉक्टर साहब ने मुसलमानों, ईसाइयों, एंग्लो इंडियनों के साथ विशेष अधिकार पर ज़ोर दिया, तो यह राष्ट्र क्या होगा, लड़ैतियों का अखाड़ा होगा। भारत का उद्धार इसी में है कि हम राष्ट्र-धर्म के उपासक बनें, विशेष अधिकारों के लिए न लड़कर, समान अधिकारों के लिए लड़ें।'[12]

डॉ. आंबेडकर का अछूतों के लिए राजनीतिक अधिकार माँगना प्रेमचंद की दृष्टि में असज्जनता प्रकट करना था। प्रेमचंद ने गांधी जी की पक्षधरता में लिखा कि :

---

[12] वही : 62.

हिंदू-जागृति



स्रोत : *सरस्वती* , जून 1931, खंड : 1, संख्या : 6, भाग : 32 : 774.

> क्या यह समझने के लिए किसी सूक्ष्म बुद्धि की ज़रूरत है कि नौकरशाही ने यह चुनाव इसी इरादे से किया था कि गोलमेज़ में विघ्न पड़े और कोई बात तय न हो सके। पर महात्मा जी ने यह कह दिया, तो सभी भन्ना उठे। सर शफ़ी गरज उठे, मैकडोनल्ड साहब तड़प उठे, यहाँ तक कि अछूतों के प्रतिनिधि कहलाने वाले डॉ. आंबेडकर भी चीख पड़े। एक अमेरिकन पत्र के संवाददाता ने तो यहाँ तक लिखा, कि मुसलिम और अन्य अल्पमतों के नेता महात्मा गांधी से विरोध भी करते हैं, तो सम्मान के साथ, पर डॉ. आंबेडकर तो असज्जनता कर बैठते हैं। क्यों न हो! हिंदुओं से बदला लेने का इससे अच्छा कौन-सा अवसर आवेगा। अंग्रेज़ जाति उनका उद्धार करने पर आमादा हो गई है। हिंदुओं से सारी पुरानी कसर आज ही निकाल लो।[13]

प्रेमचंद आगे डॉ. आंबेडकर को आदेश देने की मुद्रा में लिखते हैं कि :

> डॉक्टर साहब (आंबेडकर) तो विद्वान आदमी हैं, क्या वह यह नहीं जानते, कि विजेताओं ने हमेशा कमज़ोरों को दबाया है, यहाँ तक कि वही अंग्रेज़ जाति जिन्हें वह अपना उद्धारक समझ रहे हैं।[14]

[13] वही : 62.

[14] वही : 62.

प्रेमचंद ने डॉ. आंबेडकर को हिंदू विरोधी सिद्ध करने की क़वायद में भूल गए कि यदि हिंदुओं ने अछूतों को सामाजिक और राजनीतिक अधिकार दिया होता; तो डॉ. आंबेडकर को अंग्रेज़ों से अधिकार क्यों माँगने पड़ते? फिर, गांधी भी तो हिंदुओं के लिए अंग्रेज़ों से ही अधिकार माँग रहे थे।

3.

गोलमेज़ कॉन्फ्रेंस की समाप्ति के कुछ महीनों बाद ब्रिटिश प्रधानमंत्री रेम्जे मैक्डोनल ने अछूतों को पृथक निर्वाचन का अधिकर दे दिया। इसे लेकर हिंदू नेताओं और लेखकों के बीच हड़कंप सा मच गया। हिंदी के संपादकों ने ब्रिटिश प्रधानमंत्री रेम्जे मैक्डोनल के पृथक निर्वाचन वाले फ़ैसले का ज़ोरदार विरोध किया। *माधुरी* संपादक मातादीन शुक्ल ने अछूतों के पृथक निर्वाचन वाले फ़ैसले को राष्ट्र विरोधी और हिंदुओं में विभेद पैदा करने वाला क़रार दिया। इस संपादक की दृष्टि में अछूत पृथक निर्वाचन का फ़ैसला हिंदुओं के लिए बड़ा ही घातक साबित होगा। *माधुरी* के संपादक ने अछूत पृथक निर्वाचन को हिंदुओं के साथ अन्याय के तौर पर रेखांकित करते हुए संपादकीय में लिखा :

> भारत के अभाग्य के कारण जो सुयोग शासकों को प्राप्त हुआ उसका उन्होंने वही उपयोग किया, जैसा वे सदा से करते आए हैं। इसमें हिंदू जाति के लिए सबसे हानिकर बात यह की गई कि लगभग 7 करोड़ अछूतों को पृथक-निर्वाचन दिया गया। इसके यह अर्थ स्पष्ट होते हैं कि वे लोग हिंदुओं से अलग कर दिए गए। देखने में यह बात चाहे साधारण सी ही जान पड़ेगी, लेकिन इसका फल महान् विषाक्त है। और हिंदू जाति का कोई भी शुभ चिंतक इसे अच्छी दृष्टि से नहीं देख सकता। इसके अतिरिक्त प्रांतों में हिंदुओं के साथ सीटें देने में जो अन्याय हुआ है, के बारे में कहना व्यर्थ है।[15]

दरअसल,अछूत पृथक निर्वाचन सामाजिक और राजनीतिक हलक़ों में अछूतों के अधिकार और अस्मिता का सबसे बड़ा औज़ार था। उच्च श्रेणी की मानसिकता वाले हिंदी की साहित्यिक पत्रिकाओं के संपादक और लेखक नहीं चाहते थे कि अछूतों को किसी तरह के विशेष सामाजिक और राजनीतिक अधिकार प्राप्त हों। *माधुरी* के संपादक ने कहा कि उच्च श्रेणी के हिंदू पृथक निर्वाचन जैसी मुसीबत सहन नहीं कर सकते हैं। क्योंकि पृथक निर्वाचन के हवाले से अछूतों को हिंदू धर्म से तोड़ा जा रहा है। इस तरह की सोच रखने वाले संपादकों और लेखकों को भय था कि यदि अछूतों को विशेष राजनीतिक अधिकार हासिल हो गए, तो उनकी सेवा और ग़ुलामी कौन करेगा। कहीं अछूत उनके हाथों से निकल गए तो हिंदू धर्म बलशाली कैसे कहा जाएगा। यहाँ तक हिंदी संपादकों ने अछूत

[15] अछूत समस्या, संपादकीय (तुलसी संवत 1986) *माधुरी, कार्तिक* : 252.

पृथक निर्वाचन को हिंदू जाति के 'विनाशक' के तौर पर देखा। *माधुरी* संपादक ने अपने संपादकीय में लिखा :

> अछूतों के पृथक् निर्वाचन की समस्या ने तो अखिल भारतीय रूप धारण कर लिया है। हिंदू जाति के हितैषी इस प्रहार को सहने के लिए तैयार नहीं हैं, जो उनकी जाति को विभक्त और नष्ट कर देने के लिए किया गया है। महात्माजी तो इस प्रश्न से इतने दुःखित और विचलित हो उठे हैं कि अपने प्राणों की बाज़ी लगा दी है। उनका कहना है कि हिंदू-जाति का ऐसा विनाश द्वार वे अपनी आँखों नहीं देखना चाहते। जिन अछूतों के उद्धार के लिए उन्होंने अपने जीवन का बहुत बड़ा भाग अर्पण किया है उनको वे हिंदू-जाति से पृथक होते क्षण भर भी नहीं देख सकते। राष्ट्र के सामने बड़ी कठिन समस्या है। प्रयत्न हो रहे हैं और सफलता की आशा भी है। अब तक जो समाचार मिले हैं, उनसे यही ध्वनि निकलती है कि वर्तमान संकट तो समझौता होकर टल सकता है।[16]

माधुरी ने अछूत पृथक निर्वाचन के पीछे हिंदुओं की जातिवादी मानसिकता को ज़िम्मेदार माना था। इसके संपादक का कहना था कि कुलीन वर्ग अपने माथे में जाति और धर्म का टीका लगाकर चलता है। इस जातिवादी टीके के चलते हिंदुओं पर पृथक निर्वाचन जैसी भरी आफ़त आ पड़ी है। पृथक निर्वाचन जैसी मुसीबत को टालने के लिए *माधुरी* के संपादक का सुझाव था कि, हिंदू-जाति के सिर पर अछूतों का कलंक बहुत काल से लगा हुआ है और जब तक उच्च जाति के हिंदू सच्चे हृदय से प्रायश्चित्त करके अपने बिछुड़े हुए भाइयों को गले से नहीं लगाते, तब तक क्षणिक अभिनय से कोई लाभ नहीं है। मिस्टर आसफ़ अली के शब्दों में यही कहना ठीक होगा कि पत्थर के मंदिर या कुएँ खोल देने से तब तक कोई लाभ नहीं, जब तक हिंदू लोग अपने हृदय अछूतों के लिए न खोल दें।[17]

4.

'अछूतों के पृथक निर्वाचन की कल्पना से ही उच्च श्रेणी के हिंदुओं का हृदय काँप उठा था। महात्मा गांधी ने इस संकट को टालने के लिए पृथक निर्वाचन के विरुद्ध आमरण अनशन की भीष्म-प्रतिज्ञा की घोषणा कर डाली। महात्मा गांधी ने अछूत पृथक निर्वाचन के विरोध में 20 सितंबर 1932 को यरवदा जेल में दोपहर के बाद उपवास आरंभ कर दिया। यह गांधी जी का आठवाँ उपवास था। इसके पहले गांधी जी ने सातवाँ उपवास 1925 में सत्याग्रह आश्रम में एक कंलकी घटना को लेकर किया था। अब इस बात की पड़ताल करना उचित रहेगा कि गांधी जी के इस आमरण अनशन पर हिंदी नवजागरणकालीन कुलीन अग्रदूतों का नज़रिया क्या था? नवजागरणकालीन सुधारक पंडित मदन मोहन मालवीय, बाबू राजेन्द्र प्रसाद, बाबू

[16] वही : 252.

[17] वही.

भगवान दास, श्रीरामगोपालाचार्य, हरिविलाश शारदा, डॉ. मुंजे, घनश्यामदास बिड़ला, पी. बालू और तेजबहादुर सप्रू सरीखे सुधारक और नेता गांधी के समर्थन में खड़े नज़र आए। पंडित मदन मोहन मालवीय का तर्क था कि गांधी जी से बढ़कर अछूतोद्धार का बीड़ा किसी ने नहीं उठाया। पंडित मदन मोहन मालवीय की यह मनोवृत्ति न सिर्फ़ अछूत नेताओं के कार्यों की अनदेखी करती बल्कि अछूतोद्धार का श्रेय गांधी, के खाते में डाल देती है। पंडित मालवीय जी का विचार था कि महात्मा गांधी अछूत पृथक निर्वाचन के हवाले से अछूतों और हिंदुओं के बीच जो चौड़ी खाई खोदने की नींव डाली जा रही है, उसके विरुद्ध वे अपने प्राणों की आहुति देने के लिए तैयार हैं। गांधी जी के समर्थन में मालवीय जी ने कहा कि :

> कोई हिंदू ऐसा नहीं है, जिसने अछूतोद्धार के लिए महात्मा गांधी से बढ़ कर उद्योग किया हो। वे प्रायः कहा करते हैं कि पृथक चुनाव का अधिकार अछूतों और ऊँची जाति के हिंदुओं – दोनों के लिए समान रूप से, हानिकारक है। अपने इस विश्वास का प्रत्यक्ष प्रमाण उन्होंने इस निर्णय द्वारा दिया है कि अछूत जातियों को पृथक करने और उनके तथा ऊँची जाति के हिंदुओं के बीच गहरी खाई खोदने के प्रतिकार में वे अपने प्राण दे देंगे। यह दुःख का विषय है कि अछूतों के प्रतिनिधित्व के विषय में हम आपस में समझौता नहीं कर सके। पर यदि इस अवसर पर इस महान हानि को देखते हुए भी अछूतों और अन्य हिंदुओं के नेता इस प्रश्न का निबटारा न कर सकें, तो यह एक महान राष्ट्रीय दुर्घटना और लज्जा की बात होगी।[18]

बाबू राजेंद्र प्रसाद ने इस अछूत पृथक निर्वाचन को हिंदुओं की कठिन परीक्षा क़रार दिया। इस सुधारक का कहना था कि अगर गांधी जी के प्राणों को बचाने का एक ही उपाय है कि अछूत समस्या का प्रश्न हल कर; ब्रिटिश सरकार पर संयुक्त निर्वाचन का दबाव बनाना होगा। तभी गांधी जी के प्राणों की रक्षा हो सकेगी। इस पृथक निर्वाचन के विकट संकट से निकलने के लिए बाबू राजेंद्र प्रसाद का सुझाव था कि अछूतों को मंदिर प्रवेश, और कुओं से पानी भरने का अधिकार देकर इस राष्ट्रव्यापी मुसीबत से बचा जा सकता है। गांधी जी के आमरण अनशन पर बाबू राजेंद्र प्रसाद ने *चाँद* पत्रिका से कहा :

> अगर भारत और संसार के लिए महात्मा जी के प्राणों की रक्षा करनी है, तो हिंदू-समाज को अछूत-समस्या को हल करना पड़ेगा। इस प्रश्न के सामाजिक धार्मिक दो पहलू हैं। हिंदुओं को साहसपूर्वक यह कार्य हाथ में लेना चाहिए और हिंदू-धर्म पर से इस धब्बे को मिटा देना चाहिए। अछूत कहे जाने वालों को मन्दिरों में दर्शन करने, कुओं से पानी भरने, स्कूली शिक्षा प्राप्त करने और सड़कों पर चलने आदि का अधिकार दिया जाना चाहिए। इस प्रश्न का हल करना एकमात्र हिंदू जाति के ही हाथ में है। यह कार्य ऐसे ढंग से होना चाहिए, जिससे असंदिग्ध रूप से प्रकट हो जाए कि अछूत कहे जाने वाले किसी तरह हिंदुओं से भिन्न नहीं

[18] मदन मोहन मालवीय, *चाँद, अक्टूबर* (1932) : 687.

हिंदू धर्म की छुआछूत



स्रोत : *विश्वमित्र*, जनवरी 1933

हैं। यह हिंदू जाति की परीक्षा का समय है और यदि उसमें जीवन है तो उसे कोई महान और दर्शनीय कार्य कर दिखलाना चाहिए।[19]

औपनिवेशिक भारत के महान सुधारक डॉ. भगवान दास अछूत के पृथक निर्वाचन के समर्थक नहीं थे। इनकी शंका थी कि अछूत पृथक निर्वाचन से हिंदू समाज के दो फाड़ हो जाएँगे। भगवान दास का कहना था कि हिंदू समाज के एक बड़े अंग को अछूत और दलित कहने की चाल चल पड़ी है। पर, अपने को उच्च श्रेणी कहलाने वाले कौन से व्यक्ति अछूत और पद-दलित नहीं हैं। जिस देश में स्वराज्य नहीं है, वहाँ का प्रत्येक नागरिक पद-दलित ही रहे हैं। डॉ. भगवानदास अपने तर्क में इस बात को भूल गए कि अछूतों के साथ जो अत्याचार होता है। वह क्या उच्च श्रेणी के हिंदुओं के साथ हुआ? इस विचारक का दावा था कि महात्मा गांधी का आमरण अनशन ही हिंदू समाज को खंडित होने से बचा सकता है। महात्मा गांधी आमरण अनशन पर डॉ. भगवान दास का विचार था कि इस महाभेदबुद्धि, दुर्बुद्धि का परिमार्जन हुए बिना भारतवर्ष का जीर्णोद्धार यथा संभव नहीं है। और इस परिमार्जन का और कोई उपाय नहीं, सिवाय इसके कि महात्मा जी के ऐसा महापुरुष ऐसे आत्यंतिक अनशन का व्रत लेकर सब हिंदू कहलाने वालों के हृदय में आग लगा दें, जिससे दुर्भाव भेद-भाव जल जाएँ, और भेदभाव सजाव का सोना रह जाए। यदि हिंदू समाज ने अपने भीतर की इस छूत-अछूत की फूट को मिटा दिया, तो और सब फूटों को यह सहज में मिटा लेगा, और बाद में

[19] बाबू राजेंद्र प्रसाद, *चाँद, अक्टूबर* (1932) : 687.

हिंदू समाज के और दूसरे नाम वाले समाजों के भेद और फूट को मिटा ले सकेगा, और तब मानव-समाज का सुंदर रूप अवतार लेगा। यदि यह न भया समाज भी नहीं रहेगा।[20] श्री रंगा अय्यर ने अछूत पृथक निर्वाचन को हिंदू जाति और धर्म में फूट डालने वाले अमिट धब्बे के तौर पर देखा था। महात्मा जी ने अपने प्राणों की बाज़ी लगाकर ब्रिटिश सरकार के इस विभेदकारी निर्णय के विरुद्ध आमरण अनशन की भीषण प्रतिज्ञा की है। इस सुधारक का यह भी कहना था कि यदि गांधी जी जीवित हैं तो सब जीवित हैं। यदि इस अनशन के दौरान गांधी जी की मृत्यु कहीं हो गई तो भारत और इंग्लैंड के संबंधों की मृत्यु होना निश्चित है। श्री रंगा अय्यर ने गांधी जी के आमरण अनशन की पक्षधरता में अपने विचार प्रकट करते हुए कहा कि :

> महात्मा जी ने जिस निर्णय के विरुद्ध विद्रोह किया है, वह हमारे धर्म और जाति में फूट डालने वाला और हमारे धर्म पर एक अमिट धब्बा लगाने वाला है। महात्मा जी ने अपने प्राण देकर इस निर्णय का विरोध करने की प्रतिज्ञा की है। अगर गांधी जी जीवित रहेंगे तो सब जीवित हैं और यदि वे मरते हैं तो शेष लोगों को भी मृत समझना चाहिए। उन्होंने इसलिए अपने प्राण देने का निश्चय किया है, जिससे अछूत लोग जीवित रह सकें। एक विदेशी जाति का प्रधानमंत्री, जिसके विचार और दृष्टिकोण भिन्न हैं और जिसकी बुद्धि भी परिमित है, इस भेद-भाव उत्पन्न करने वाले निर्णय का औचित्य सिद्ध करता है। इस विष का प्रवेश बीस वर्ष के लिए कराया जा रहा है, जिससे हमारा धर्म, हमारे देवता और हमारी जाति के ब्रिटिश साम्राज्यवाद के लाभ के लिए टुकड़े-टुकड़े हो जाएँ। क्या प्रधानमंत्री अछूतों के संबंध में महात्मा गांधी की अपेक्षा अधिक ज्ञान रखते हैं?[21]

घनश्याम दास बिड़ला अछूतोद्धार समिति के प्रमुख थे। और, दूसरी गोलमेज़ सभा में शरीक भी हुए थे। इनका कहना था कि अछूत पृथक निर्वाचन ने बड़ी भीषण स्थिति पैदा कर दी है। इन्होंने दावा किया कि गांधी से बड़ा अछूतों का शुभचिंतक कोई दूसरा व्यक्ति नहीं है। इस सुधारक का यह भी दावा था कि यदि जनमत संग्रह कराया जाए तो 99 प्रतिशत अछूत गांधी जी को अपने नेता मानते हैं। इनका हवा-हवाई मत था कि गांधी ही अछूतों के सच्चे प्रतिनिधि हैं। गांधी के आमरण अनशन पर इनका विचार था कि, निस्सन्देह हमारे सामने बड़ी भयंकर परिस्थिति उत्पन्न हुई है, पर ईश्वरेच्छा से बदी से भी नेकी उत्पन्न होना संभव है। ...अछूतों का कर्तव्य स्पष्ट है। गांधी जी से बढ़ कर उनका शुभचिन्तक कौन है? चाहे इंलैण्ड वाले इस बात को न जानते हों, पर भारत में कोई भी गांधी जी के अछूतों का असली प्रतिनिधि होने से इन्कार नहीं कर सकता। अगर जनमत ग्रहण किया जाए, तो मुझे पूर्ण विश्वास है कि 99 प्रति सैकड़ा अछूत गांधी जी के पक्ष में राय देंगे।[22]

---

[20] बाबू भगवान दास, *चाँद, अक्टूबर* (1932) : 688.

[21] श्री रंगा अय्यर एम. एल. ए., *चाँद, अक्टूबर* (1932) : 688.

[22] श्री घनश्यामदास बिड़ला, *चाँद, अक्टूबर* (1932) : 690.

जहाँ सवर्ण अग्रदूत हिंदूवाद की रक्षा के लिए अछूत पृथक निर्वाचन का विरोध कर रहे थे, वहीं कुछ अछूत नेता भी गांधी के आमरण अनशन के समर्थन में खड़े दिखाई दिए। रावबहादुर एम.सी. राजा अछूत नेता थे। यह अखिल भारत वर्षीय अछूत एसोसिएशन के सभापति भी थे। अछूत पृथक निर्वाचन को लेकर इनका कहना था कि हिंदू व्यवस्था में दलित सामाजिक तौर पर अछूत थे पर ब्रिटिश सरकार के पृथक निर्वाचन ने अछूतों को राजनीतिक तौर पर अछूत बना दिया है। इनका मत था कि गांधी ने संयुक्त निर्वाचन का मुद्दा उठाकर सब का ध्यान अछूतों की ओर आकर्षित किया है। गांधी जी समस्त हिंदुओं के लिए संयुक्त निर्वाचन की माँग करते हैं पर अछूतों की संख्या के अनुसार प्रतिनिधित्व के हामी भी हैं। रावबहादुर एम.सी. राजा पृथक निर्वाचन के मुद्दे पर अपनी राय प्रकट करते हुए कहा था :

> हम ब्रिटिश सरकार से सहायता की आशा रखते थे, पर राउंडटेबिल कॉन्फ्रेंस ने हमारी आशाओं पर पानी फेर दिया और प्रधानमंत्री के निर्णय के पश्चात् हमको ऐसा प्रतीत होने लगा कि हमारे हित को ऐसा धक्का लगा है, जिसका प्रतिकार हो सकना संभव है। अगर हिंदुओं ने हमको सामाजिक दृष्टि से बिना रक्खा था जो अंग्रेज़ी सरकार ने राजनीतिक दृष्टि से अछूत बना दिया। गांधी जी समस्त हिंदुओं के लिए संयुक्त निर्वाचन की व्यवस्था चाहते हैं और अछूतों को उनकी संख्या के हिसाब से अधिक प्रतिनिधित्व का अधिकार देने को तैयार है। ...मेरा विश्वास है कि हमारी जाति का प्रत्येक व्यक्ति इस बात के लिए गांधी जी का कृतज्ञ होगा कि उन्होंने इस प्रश्न को उठाया और ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी कि समस्त संसार का ध्यान इस ओर आकर्षित होगा।[23]

औपनिवेशिक भारत के अछूत क्रिकेटर पी. बालू ने आमरण अनशन के मुद्दे पर गांधी जी का पक्ष लिया था। वह भले अछूत थे लेकिन गांधी के आमरण अनशन का पूरा समर्थन किया था। पी. बालू का मानना था कि गांधी का आमरण अनशन कोरी धमकी नहीं है। यह आमरण अनशन गांधी अछूत समाज की सहायता करने के लिए कर रहे हैं। पृथक निर्वाचन वाले आमरण अनशन पर पी. बालू का मत था कि,महात्मा गांधी ने जिस उद्देश्य से अछूतों के लिए अपने प्राण अर्पित कर देने की घोषणा की है, उसकी मैं प्रशंसा करता हूँ। महात्मा गांधी का यह निर्णय कोरी धमकी नहीं है। इससे प्रकट होता है कि उनके हृदय में अछूतों की सहायता की अभिलाषा कहाँ तक मौजूद है।[24]

5.

अब इस पड़ताल की ओर बढ़ा जाए कि जब गांधी जी ने अछूत पृथक निर्वाचन के विरोध में यरवदा जेल में आमरण अनशन आरंभ किया तो हिंदी के लेखकों और संपादकों का नज़रिया

---

[23] रावबहादुर एम.सी. राजा, *चाँद, अक्टूबर* (1932) : 690.

[24] श्री पी. बालू, *चाँद, अक्टूबर* (1932) : 691.

क्या था? इस अछूत पृथक निर्वाचन के मसले पर सवर्ण अग्रदूतों से हिंदी लेखकों की राय ज़ुदा नहीं थी। हिंदी लेखक और संपादक गांधी जी के पक्ष में खड़े दिखाई दिए। ऐसे हिंदी संपादकों ने गांधी के आमरण अनशन को 'भीषण-प्रतिज्ञा', 'भीष्म प्रतिज्ञा','महानत-तप' और 'महाव्रत' बताया था। *सरस्वती* पत्रिका के संपादक ने गांधी जी के आमरण अनशन पर अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा कि :

> अल्पसंख्यकों के संबंध में जो निर्णय प्रधानमंत्री मिस्टर राम्से मैकडोनल्ड ने किया है उसमें अन्य अल्पसंख्यकों के साथ-साथ अछूतों को भी निर्वाचन का अधिकार दिया गया है। यद्यपि इस निर्णय का विरोध देश में प्रायः एक-स्वर से किया गया है, तथापि इस निर्णय से यरवदा-जेल में बन्दी महात्मा गांधी को ऐसी मार्मिक वेदना हुई है कि उन्होंने उसे रद्द कराने के लिए आमरण निराहार रहने की घोषणा की है। महात्माजी का कहना है कि पृथक निर्वाचन से अछूत सदा के लिए हिंदू-जाति से अलग होते जाएँगे। और यह बात राष्ट्र के हित की विघातक होगी। उन्हें इस व्यवस्था में हिंदू-जाति का भविष्य भयपूर्ण दिखाई दिया, अतएव उसकी रक्षा के लिए उन्होंने अपने आपको बलिदान कर देने का निश्चय किया। उन्होंने कहा है कि अछूत लोग अपने स्वत्वों की रक्षा के लिए और जो चाहें अधिकार ले लें, पर पृथक निर्वाचन स्वीकार कर हिंदू-जाति से अलग न हों, नहीं तो वे निराहार रहकर अपने प्राण दे देंगे। बस, महात्माजी की उक्त भीषण प्रतिज्ञा का समग्र हिंदू जाति पर जो आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ा है उससे उसके मनोभाव में विलक्षण परिवर्तन हुआ है। व्रत प्रारंभ करने की बात के प्रकट होते ही सारा भारत हिल गया और कोई तीन दिन के भीतर ही एक मदरास और आसाम को छोड़ कर सभी प्रांतों के सभी प्रधान स्थानों में अपने आप ही छोटी-बड़ी तरह-तरह की अनेक सभाएँ हो गईं और अछूतों को साग्रह बुलाकर उनका अछूतपन दूर किया गया।[25]

हिंदी नवजागरणकालीन अधिकांश संपादक और लेखक गांधी को अछूतों का सर्वश्रेष्ठ सुधारक सिद्ध करने की क़वायद में जुट गए। हिंदी संपादकों ने अछूतों को यह दिवास्वप्न दिखाया कि अछूतों का भला सिर्फ़ संयुक्त निर्वाचन के भीतर ही निहित है। गांधी जी के आमरण अनशन पर हिंदी लेखकों और संपादकों ने डॉ. आंबेडकर के विरुद्ध अपनी पत्र-पत्रिकाओं में मोर्चा खोल दिया था। नवजागरणकालीन हिंदी साहित्य के अग्रदूतों ने डॉ. आंबेडकर की पृथक निर्वाचन की माँग को हिंदुओं के विरुद्ध साजिश क़रार दिया। *चाँद* के संपादक ने डॉ. आंबेडकर का विरोध करते हुए लिखा कि :

> महात्मा गांधी के उपवास के फल-स्वरूप देश भर में अछूतों के पृथक निर्वाचन के संबंध में जो चर्चा चल पड़ी है, उससे भी यह पता चलता है कि अछूतों के पृथक निर्वाचन के प्रधान समर्थक डॉ. आंबेडकर के पीछे कोई बड़ी सम्पत्ति और प्रभाव रखने वाली शक्ति है, जिसका उद्देश्य है अछूतों के इस प्रकार हिंदुओं से पृथक हो जाने पर उन्हें अपने में मिला लेना। यह

[25] महात्मा गांधी और अछूतोद्धार, सामयिक प्रसंग, सरस्वती, अक्टूबर (1932) : 477.

> बतलाना अनावश्यक है कि उक्त बयान में जिस शक्ति की तरफ़ इशारा किया गया है, वह मुसलमानों की है।[26]

चाँद के संपादकीय में इस बात पर बल दिया गया कि अछूतों का उद्धार सिर्फ़ संयुक्त निर्वाचन में है। *चाँद* के संपादक ने गांधी का समर्थन और डॉ. आंबेडकर का विरोध करते हुए लिखा कि गांधी की महान प्रतिज्ञा ने देश को बिजली का सा धक्का पहुँचाया और उससे व्यथित होकर छूत और अछूत सभी जातियों के हिंदू-नेता इस प्रश्न के निर्णय में संलग्न हो गए। देश भर के अछूत-नेताओं ने महात्मा गांधी के कथन को सत्य बतलाया और संयुक्त निर्वाचन का समर्थन किया। इस एक सप्ताह के भीतर सैकड़ों व्यक्तियों की रायें जिनमें बीसियों प्रमुख अछूत कार्यकर्त्ता हैं – समाचार-पत्रों में प्रकाशित हुईं, पर उनमें से एक भी डॉ. आंबेडकर को छोड़कर संयुक्त निर्वाचन के विरोध में नहीं थी। अछूतों की जो सार्वजनिक सभाएँ देश भर में की गईं, उनमें भी किसी ने इसका विरोध नहीं किया। क्या इन बातों से सिद्ध नहीं होता कि भारत के अछूत ऊँची जाति के हिंदुओं के अन्यायों को सहते हुए भी उनसे पृथक् होना अपने लिए लाभ जनक नहीं समझते, वरन् उनके साथ रह कर ही अपने अधिकार प्राप्त करना चाहते हैं।[27]

कथाकार प्रेमचंद ने गांधी के इस आमरण अनशन को 'महान् तप' और 'अभूतपूर्व' तपस्या बताया था। प्रेमचंद का दावा था कि अछूतों की प्रगति का मूलमंत्र संयुक्त निर्वाचन है। गांधी जी के आमरण अनशन पर प्रेमचंद का मत था :

> कल यरवदा जेल में वह महान् तप आरम्भ होगा, जिसकी कल्पना से ही रोमांच हो जाता है। भारत की तपोभूमि में इससे पहले भी बड़ी-बड़ी कठिन तपस्याएँ की गई हैं, लेकिन यह तपस्या अभूतपूर्व है। भारत के इतिहास में ही नहीं, संसार के इतिहास में भी इसकी नज़ीर न मिल सकेगी। जान के लिए, मोक्ष के लिए, प्रभुता के लिए, औरों ने भी तप किए हैं, पर राष्ट्र के लिए प्राणों की आहुति देने का संकल्प महात्मा गांधी ही की कीर्ति है। वह सेवा-यज्ञ जो आज से चालीस वर्ष पहले दक्षिण अफ्रीका में हुआ था, उसकी यह पूर्णाहुति है। धन्य हो महात्मा! राष्ट्र की सेवा में तुम पहले ही अपना सर्वस्व अर्पण कर चुके थे। एक प्राण ही रह गया था। उसे भी राष्ट्र ही की भेंट करने जा रहे हो।[28]

प्रेमचंद गांधी जी को अछूतों का सबसे बड़ा उद्धारक सिद्ध करने का उपक्रम करते नज़र आए। इसी क़वायद में उन्होंने पृथक निर्वाचन का विरोध तो किया ही, साथ में गांधी जी को अछूतों का सबसे बड़ा उद्धारक सिद्ध कर डाला। प्रेमचंद लिखते हैं कि :

---

[26] संपादकीय, *रंगभूमि, चाँद,* अक्टूबर (1932) : 699.

[27] वही : 699.

[28] *प्रेमचंद रचनावाली,* खंड आठ (1932) : 133.



हंस : अगस्त, 1933 का कवर पृष्ठ



हंस : अप्रैल, 1933 का कवर पृष्ठ

हिंदू-समाज के लिए निर्वाचन की जितनी कड़ी शर्तें चाहे लगा दो, पर अछूतों को हिंदुओं से अलग न करो, क्योंकि इससे केवल हिंदू समाज की ही क्षति न होगी, अछूतों का अस्तित्व ही न रहेगा। हम कल्पना नहीं कर सकते कि इससे ज़्यादा न्याय और क्या किया जा सकता है। ऐसा विचार उसी आत्मा से निकल सकता है, जो अछूतों की सेवा चिंतन करते-करते स्वयं अछूत भावना से ओत-प्रोत हो गया है। हम किसी ऐसे दूसरे व्यक्ति का नाम नहीं जानते, जिसने इस एकाग्रता, इस प्रेम और इस उत्साह से दलित-समाज की सेवा की हो। महात्मा उन व्यक्तियों में से हैं, जो दलितों के उद्धार में ही हिंदू जाति के उत्थान और उत्कर्ष का रहस्य छिपा हुआ देखते हैं, जो हिंदू जाति के मुख से अन्याय के इस कलंक को मिटा देने के लिए अपने प्राणों को भी अर्पण कर देने को तैयार रहते हैं।[29]

इसके बाद प्रेमचंद शूद्रों को हिंदू धर्म का पाँव बताते हैं –

भारतीय राष्ट्र का आदर्श मानव शरीर है जिसके मुँह, हाथ, उदर और पाँव ये चार अंग हैं। इनमें से किसी एक अंग के विच्छेद हो जाने से देह अपंग या निर्जीव हो जाएगी। हमारे शूद्र भाई इस देह रूपी राष्ट्र के पाँव ही कट जाएँ, तो देह की क्या गति होगी?[30]

[29] वही : 134.

[30] वही : 133.

प्रेमचंद जाने-अनजाने में वर्ण-व्यवस्था का समर्थन कर रहे थे। प्रेमचंद कथाकार थे। वे अपनी कल्पना में कोई दूसरा रूपक बाँध सकते थे लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया। प्रेमचंद इस संपादकीय में डॉ. आंबेडकर से गांधी के लिए याचना करते हैं :

> हमें विश्वास है डॉ. आंबेडकर और मि. श्रीनिवासन् भी राष्ट्र की इस याचना को अस्वीकार न करेंगे। हमारी नौका को भँवर से निकालकर पार ले जाने वाला अकेला गांधी है। उसी में वह सामर्थ्य है, वह देवत्व है, वह ऐश्वर्य है। हमें विश्वास है यह ईश्वर के दरबार से हमारे उद्धार का बीड़ा लेकर आया है, हम उस दिन का इन्तजार कर रहे हैं, जब वह स्वाधीनता का वरदान लाकर जीर्ण और निराश माता की भेंट करेगा। क्या सामर्थ्यवान भी गांधी विधि की इस गति को टाल सकता है? नहीं, नहीं नहीं।

यह बड़ी दिलचस्प बात है कि जब पूना-पैक्ट हो गया और डॉ. आंबेडकर ने संयुक्त निर्वाचन स्वीकार कर लिया तो जश्न में एक साल बाद प्रेमचंद ने *हंस* के कवर पृष्ठ पर डॉ. आंबेडकर का चित्र छापा था। मैंने तमाम पुस्तकालयों की ख़ाक छानने के बाद *हंस* का वह अंक खोजा, जिसके कवर पृष्ठ पर डॉ. आंबेडकर का चित्र छपा था और अपनी फेसबुक आईडी से इस कवर पेज़ को पोस्ट कर दिया। जहाँ से यह कवर पेज़ काफ़ी वायरल भी हुआ। प्रेमचंद ने *हंस*, अगस्त 1933 के अंक में कवर पृष्ठ पर डॉ. आंबेडकर का चित्र ज़रूर छापा था पर हंस के भीतर उन पर एक शब्द भी नहीं लिखा था। जबकि इसके पहले प्रेमचंद ने आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की 70वीं वर्षगांठ पर *हंस*, अप्रैल 1933 के अंक में पूरे कवर पृष्ठ पर महावीर प्रसाद द्विवेदी का चित्र छापा था। प्रेमचंद ने केवल चित्र ही नहीं छापा बल्कि *हंस* के इस अंक में प्रचुर मात्रा में उन पर सामग्री भी थी और ख़ुद प्रेमचंद ने आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के योगदान पर संपादकीय भी लिखा था। कहने का अर्थ है कि प्रेमचंद को डॉ. आंबेडकर की फ़ोटो तो स्वीकार थी पर उन्हें गांधी के सामने अछूतोद्धार का श्रेय देने की हिचक थी।

विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' हिंदी नवजागरण के प्रसिद्ध कथाकार और संपादक थे। चाँद, *माधुरी*, *सरस्वती*, *मनोरमा* आदि नवगाजरणकालीन पत्रिकाओं के स्टार लेखक थे। विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' की तमाम कहानियाँ हिंदी की पत्र-पत्रिकाओं में बिखरी पड़ी हैं। विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' की एक ख़ूबी यह भी थी कि वह विजयानंद दुबे के छद्म नाम से भी लिखते थे।[31] विश्वम्भर नाथ शर्मा 'कौशिक' *चाँद* पत्रिका में 'दुबे जी की चिट्ठी' नामक कॉलम विजयानंद दुबे के नाम से लिखा करते थे। जब गांधी जी ने पृथक निर्वाचन के विरोध में आमरण अनशन किया तो विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' ने विजयानंद दुबे के नाम से डॉ. आंबेडकर को जमकर खरी-खोटी सुनाई। बड़ी मज़े की बात यह है कि विश्वम्भरनाथ शर्मा ने दो-तीन कहानियाँ अछूत समस्या पर लिखी थीं और अपनी कहानियों में अछूतों को अधिकार देने और सवर्णों को अछूतों के प्रति नजरियाँ बदलने की हिमायत करते थे।[32] जब

---
[31] नरेशचंद्र चतुर्वेदी (1957) : 231; राम स्वरूप चतुर्वेदी (2010) : 155 और डॉ. सत्येन्द्र (2005) : 89.

अछूतों को वास्तविक जीवन में अधिकार देने की बात आई तो उन्होंने डॉ. आंबेडकर जैसे महान चिंतक और सुधारक का सिर्फ़ विरोध ही नहीं किया बल्कि उच्च श्रेणी की मानसिकता के दंभ में उनका मज़ाक भी उड़ाया। डॉ. आंबेडकर को लेकर विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' ने लिखा था :

> मौलाना ने मैदान छोड़ा तो डॉ. आंबेडकर खम ठोंक कर आ डटे। कसम भंग भवानी की, उन्होंने वह अड़ंगा लगाया है कि सारा हिंदुस्तान थर्रा गया। मौलाना बुड्ढे थे यह अभी जवान पट्ठा है। राउंडटेबुल कॉन्फ्रेंस में विलायती गौओं का मक्खन खा-खाकर तैयार हुआ है। देखिए न, तमाम हिंदुस्तान भर के नेता ज़ोर लगा रहे हैं, मगर वह टस से मस नहीं होता। यहाँ तक कह डाला कि महात्मा जी मरते हों तो मर जाएँ, मैं इन राजनीतिक धमकियों में नहीं आता। यह दम-खम भला किसी दूसरे में है? लोग कहते हैं कि बछड़ा सदैव खूँटे के बल पर रहता है। सो जनाब, जिस खूँटे से डॉक्टर साहब बँधे हैं, वह खूँटा कोई कमज़ोर खूँटा नहीं है, शेषनाग की खोपड़ी तक पहुँचा हुआ है। उस खूँटे के बल पर डॉक्टर साहब आसमान तक छू सकते हैं। कुछ लोग कह रहे हैं कि यह डॉ. आंबेडकर है कौन? सन् 1930 के पहले तो इनको कोई जानता भी नहीं था। अपने राम इस लचर दलील को रुपये में सत्रह आने भी मानने के लिए तैयार नहीं। मदारी लोग देखते-देखते आम का पेड़ पैदा कर देते हैं, साँप निकाल देते हैं। तब यदि डॉ. आंबेडकर पैदा कर दिए गए, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? कमाल इसी को कहते हैं। वल्लाह! क्यों बोलता-चालता पुतला पैदा किया है, जो सिवाय 'नहीं के' हाँ करना जानता ही नहीं। इसी से कहना पड़ता है कि आजकल के वैज्ञानिक ईश्वर के भी कान कतरते हैं। ऐसे मायावी वैज्ञानिकों से जीतने की आशा रखना अगर ख़ामख़याली नहीं है, तो फिर है क्या? और जनाब, एक कमाल हो तो कहा जाए। यहाँ तो कमाल पर कमाल और उस पर भी कमाल का परदादा सवार है। तमाम हिंदुस्तान और हिंदुस्तान के अधिकांश अछूत गला फाड़-फाड़ कर चिल्ला रहे हैं कि हमारे नेता महात्मा गांधी हैं, डॉ. आंबेडकर नहीं, मगर फिर भी वह नेता बने ही हुए हैं। किसकी मजाल है, जो उन्हें अछूत नेता के सर्वोच्च आसन से हटा सके। लोग बका करें, नेता झख मारा करें, महात्मा जी उपवास करके मर जाएँ मगर डॉक्टर साहेब नेता बन बैठे सो बन बैठे।[33]

इतना लिखने के बाद विश्वम्भरनाथ शर्मा का मन नहीं भरा। इसके बाद विश्वम्भरनाथ शर्मा ने डॉ. आंबेडकर को लेकर एक मनगढ़ंत कहानी गढ़ी। इस कहानी में दिखाया कि अछूत अपना उद्धारक डॉ. आंबेडकर को नहीं बल्कि गांधी को मानते हैं। यह कहानी कुछ इस तरह थी :

> हमारे मेहतर ने अपने राम से प्रश्न किया कि बाबू जी, यह डॉ. आंबेडकर कउन हैं। अपने राम बोले – हमें तो ठीक-ठीक पता नहीं है। तुम्हारी ही जाति-बिरादरी के होंगे।
> इतना सुनते ही वह बिगड़ कर बोला – अरे बाबू, हमरी बिरादरी मा ऐसा कौनो नहीं है, होत

[32] विश्वम्भरनाथ शर्मा, 'कौशिक' (1922) : 66; विश्वम्भरनाथ शर्मा, 'कौशिक' (1928) : खंड-1, संख्या : 2, वर्ष : 1 : 67.

[33] विजयानन्द (दुबे जी) मूलनाम विश्वम्भरनाथ शर्मा, 'कौशिक' (1932) : 694-95.

तो हम ओहका हुक्का पानी बन्द करवा देइत। यौ तो हमें जान परत है कौनो इरिट्टान-कि-रिहान है।
अपने राम ने पूछा – क्या भई, हुक्का-पानी क्यो बन्द करवा देते?
वह बोला – जो गांधी बाबा की बात न मानै वह हमरी जाति का आदमी कैसे होई सकत है, यौ कौनों अमार-चमार, बौरिया, धानुक होई।
इसी समय एक दूसरा मेहतर उधर से निकला। वह हम लोगों की बातें सुन कर खड़ा हो गया और बोला काहे बाबू जी, यौ आंबेडकर ससुर कौने मुलक का मनई है?
अपने राम बोले – घबरायो नहीं, वह यहीं का है। आस्ट्रेलिया या अफ्रीका से पकड़ कर नहीं आया है।
वह – तब फिर गांधी बाबा के परान काहे लीन्हे न लेत है?
अपने राम – तुम्हीं लोगों के भले के लिए।
अपने राम का मेहतर बोला – बाबू जी की बातें। अबही लग कौने बिलुका मा घुसे रहे जो आज हम लोगन का भला सोचै ख़ातिर निकरे हैं। हम तो गांधी बाबा की बात मान सकित है। ऐसे ऐरन गैरन नाथू खैरन को पूछत को है?
दूसरा मेहतर बोला – बाबू जी हम सुन यौ विलायत की कौंसिल मा गा रहै।
अपने राम – हाँ, गया तो था! वह – यौ हुवाँ कैसे पहुँचिगा?
अपने राम – सरकार ने भेजा था?
वह- तो पढ़ा-लिखा होई?
अपने राम – हाँ, अगरेजी पढ़ा है।
अपने राम का मेहतर बोला – बाबू जी, खता माफ कीन्हौ, इन चमार-गडरियन का पढ़ाए यहै दसा होत है। ई जहाँ चार अच्छर पढ़ लिहिन तहाँ अपने का लाट साहब का नाती ही समझे लागत हैं।
अपने राम – भई, वह तुम लोगों को भी पढ़ाने लिखाने और लाट साहब की कौन्सिल में भेजने की कोशिश कर रहा है।
दूसरा मेहतर बोला – हमरे उपर दया राखैं। कुछ अपना पढ़िके पूरा किहिन है – अब कुछ हम लोगन का पढइ है। उनकी तो धजा(ध्वजा) फहराय रही है – सारी दुनिया मा थुड़ी-थुड़ी होइ रही है। सरमदार होय तो चुलुवा भर पानी माँ डूबि मरैं।
अपने राम का मेहतर बोला – और बदनाम हम लोगन का करत-फिरत है – यौ मजा देखौ। ओहसे कोनौ पूछै कि हम लोग कब ओहके हाथ ज़ोरन गै रहन कि हमरे ख़ातिर तू गांधी बाबा से लड़ाई लड़।
दूसरा मेहतर बोला – अरे भइया की बातें, गांधी बाबा से अधिक हम लोगन का हितू और कोनौ नहीं होइ सकत। एहिमाँ कुछ उनही का मतलब होई।
अपने राम ने कहा – यह तो भगवान जाने। हम कैसे कहें।
दूसरा मेहतर आपन कहौ, मुदा हम तो छाती ठोंक के काहित हैं। गांधी बाबा का छोड़िके और कोनौं जो यह कहै कि वह हम लोगन का हिमायतदार है तो वह ...[34]

[34] वही : 695-96.

6.

हिंदू सुधारकों और लेखकों की ओर से डॉ. आंबेडकर पर संयुक्त निर्वाचन को स्वीकार करने का चौतरफ़ा दबाव बनाया जाने लगा था। डॉ. आंबेडकर को पता था कि संयुक्त निर्वाचन यदि उन्होंने स्वीकार कर लिया तो अछूत राजनीतिक तौर पर पंगु हो सकते हैं। डॉ. आंबेडकर तीन-चार दिन तक अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहे और संयुक्त निर्वाचन स्वीकार करने से साफ़ इनकार कर दिया। इधर, हिंदू नेताओं और लेखकों की तरफ़ से उन पर गांधी के प्राण रक्षा के नाम पर इमोशनल दबाव लगातार बनाया जाता रहा। गांधी के आमरण अनशन को लेकर तीन दिन तक डॉ. आंबेडकर और हिंदू नेताओं के बीच रस्साकशी चलती रही। अंततः डॉ. आंबेडकर ने 24 सितम्बर 1932 को सुबह संयुक्त निर्वाचन का प्रस्ताव स्वीकार करते हुए गांधी के साथ एक समझौता किया। जिसे इतिहास में 'पूना-पैक्ट' समझौता का नाम दिया गया।

पंडित मदन मोहन मालवीय, श्री सी.राजगोपालाचार्य, सर तेजबहादुर 'सप्रू', श्री एम. पिल्ली, सर सी.बी. मेहता, श्री घनश्यामदास बिड़ला, श्री राजा, श्री देवधर, श्री पी. बालू, श्री कपरुलाकर, श्री राजभोज, श्री वारवले, राजेन्द्र प्रसाद आदि नेताओं ने हस्ताक्षर कर समझौता की कॉपी ब्रिटिश प्रधानमंत्री को भेज दी। 26 सितम्बर, 1932 को ब्रिटिश प्रधानमंत्री की ओर से पूना-पैक्ट समझौते को स्वीकार करने का तार आ गया। इस समझौते के स्वीकृत होने की ख़बर से गांधी दल के नेताओं और लेखकों के बीच ख़ुशी की लहर छा गई। गांधी जी को शाम चार बजकर पंद्रह मिनट पर ब्रिटिश प्रधानमंत्री द्वारा समझौते को स्वीकृत करने की सूचना दी गई। गांधी जी ने ब्रिटिश प्रधानमंत्री के समझौते को पढ़ने के बाद शाम पाँच बजे आमरण अनशन तोड़ने की घोषणा कर दी। इस अवसर पर रवींद्रनाथ टैगौर ने *गीतांजलि* का पाठ किया। इसके बाद उपस्थित नेताओं और लेखकों ने गांधी जी के प्रिय भजन का गान किया। श्रीमती कमला नेहरू ने नींबू-पानी का गिलास तैयार किया। गांधी जी ने कस्तूरबा बाई के हाथों से नींबू पानी पीकर अपना आमरण अनशन तोड़ दिया।

वैसे, देखा जाए तो यह समझौता गांधी और आंबेडकर दोनों की नज़रों में इसके मायने एक जैसे नहीं थे। गांधी के लिए सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक से ज़्यादा मसला, अछूतों को हिंदू धर्म के दायरे में समाहित कर लेने का था। औपनिवेशिक भारत बाबा साहेब ने इसे सामाजिक, राजनीतिक, शैक्षिक और आर्थिक परिधि के भीतर दलित चिंतन की स्वतंत्रता और हिंदुओं से अलग राजनीतिक पहचान बनाने के तौर पर परिभाषित किया था। इस ऐतिहासिक समझौते में भले ही विजय गांधी और उनके समर्थकों को मिली थी पर गांधी जी इस बात को महसूस कर चुके थे कि इस जीत की बुनियाद क्षणभंगुर और कमज़ोर है। पूना-पैक्ट समझौते में मिली गांधी की विजय पर डी.आर. नागराज ने ठीक ही लिखा है कि, 'परिस्थिति पूरी तरह राष्ट्रपिता के पक्ष में थी, लेकिन सौभाग्य से, वे इतिहास के लंबे दौर में क्षणभंगुर जीतों पर ख़ुश होने वाले नहीं थे। गांधी के लिए सत्य ज़्यादा महत्त्वपूर्ण था और दिल ही दिल में वे जान गए थे कि उनकी जीत की बुनियाद कमज़ोर है।[35]

[35] डी.आर. नागराज (2002) : 68.

जब गांधी जी ने आमरण अनशन तोड़ा तो हिंदी संपादकों की ख़ुशी का ठिकाना नहीं रहा। उन्होंने गांधी जी के उपवास तोड़ने वाले क्षणों को दैवी दृश्य की संज्ञा दे डाली। *सुधा* पत्रिका के संपादक ने अपनी ख़ुशी प्रकट करते हुए लिखा :

> 5 बजे महात्मा जी ने उपवास तोड़ा। उपवास तोड़ते समय वहाँ दैवी दृश्य उपस्थित था। महात्माजी ने प्रधानमंत्री के समझौते की स्वीकृति का संदेश खाट पर पड़े-पड़े पढ़ा। कुछ देर तक उस पर विचार किया। बिना कुछ कहे हुए उसे मित्रों को पढ़ने को दिया। उन्होंने उसे पढ़ा, और आपस में विचार परिवर्तन-किए। गांधीजी भी बीच-बीच में भाग लेते थे। महात्माजी ने तब उन लोगों से प्रधानमंत्री के वक्तव्य का मतलब समझाने को कहा। उन सबने एकमत से उस पर पूर्ण संतोष प्रकट किया, और उपवास को समाप्त करने की राय दी। गांधीजी ने उन सब लोगों की बातें सुनीं, और उपवास तोड़ने के लिए सब सामग्री प्रस्तुत करने को कहा। कवींद्र रवींद्र आदि वहाँ उपस्थित थे। उन्होंने गीतांजलि से मंद-मंद स्वर में एक गाना गाया। शांति का साम्राज्य छा गया, और हर्षातिरेक से शरीर रोमांचित हो उठे। उसी समय वहाँ एक 'सी' श्रेणी का बंदी मौजूद था। उसने भी एक गाना गाया। तदनंतर सभी उपस्थित व्यक्तियों ने मिलकर महात्मा गांधी का अत्यंत प्रिय भजन 'वैष्णवजन तो तेणे कहिए, जे पीर पराई जाणे रे' गाया। फिर बच्चों को फल बाँटे गए। श्रीमती कमला नेहरू ने एक गिलास में दो मीठे नींबुओं का रस निचोड़ा। श्रीमती कस्तूरीबाई ने काँपते हुए हाथ से गिलास महात्माजी को दिया। महात्माजी ने खाट पर बैठे हुए धीरे-धीरे एक-एक घूँट करके पिया। सरदार पटेल और श्री महादेव देसाई महात्माजी को सहारा दे रहे थे। यह उपवास, जो दो अभिन्न मित्रों की उपस्थिति में प्रारंभ किया गया था, ऐसे अवसर पर समाप्त हुआ, जब उनके परिवार के लगभग 100 निकट संबंधी और इष्ट-मित्र मौजूद थे।[36]

अब यह जाना जाए कि संतराम बी.ए. की 'पूना-पैक्ट' समझौता पर प्रतिक्रिया क्या थी? 'पूना-पैक्ट' समझौते पर संतराम बी.ए. की राय हिंदी लेखकों से जुदा न थी। संतराम बी.ए. का मानना था कि गांधी के महाव्रत ने हिंदू समाज को छिन्न-भिन्न होने से बचा लिया। उन्होंने अपने जीवन की जमानत पर कुछ ही क्षणों में अछूतपन को मिटा डाला। संतराम बी.ए.ने 'पूना-पैक्ट' प्रकरण को लेकर लिखा :

> महान तपस्वी के इस घोर तप का परिणामस्वरूप आज समूचे भारत मंडल में, कश्मीर से कुमारी अंतरीप तक और कराची से लेकर कलकत्ता तक शिक्षित हिंदू समाज ने अपने हृदय-मंदिर दलित भाइयों के लिए खोल दिए हैं। इन हरिजनों को कुआँ पर चढ़ाया गया है, उनके साथ भोजन बनाकर खाया गया है, और देवालयों में प्रवेश कराया गया है। अहा महात्मा का कैसा पुण्य-प्रताप है! जिस काम के वर्षों में होने की आशा न थी, वह केवल पाँच दिन में हो गया।[37]

इसके बावजूद संतराम बी.ए. का मानना था कि जब तक वर्णधारी रोटी-बेटी की बेड़ियाँ नहीं तोड़ेंगे तब तक जात-पाँत रोग का स्थाई तौर से समूल नाश नहीं हो सकता है।

---

[36] *सुधा, अक्टूबर* (1932) : 412.

[37] संतराम बी.ए. (1932) : 350.

7.

गोलमेज़ कॉन्फ्रेंस से लेकर पूना-पैक्ट समझौता होने के बाद हिंदी की साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं में अछूत समस्या पर कहानी, कविता और संपादकीय लेखों की बाढ़ आ गई। हिंदी के लेखक गांधीवादी कसौटी के मुताबिक़ अपनी कहानियों के पात्र गढ़ने लगे थे। डॉ. धनीराम प्रेम (1904-1979) हिंदी नवजागरण काल के प्रसिद्ध कथाकार थे। *चाँद* पत्रिका के स्टार लेखक हुआ करते थे।[38] डॉ. धनीराम प्रेम ने अछूत शीर्षक से एक कहानी लिखी थी। यह कहानी *चाँद* पत्रिका के जून 1932 के अंक में 'पूना-पैक्ट' समझौता होने के दो महीने पहले प्रकाशित हुई थी। डॉ. धनीराम प्रेम की यह कहानी धर्मांतरण और मंदिर प्रवेश की समस्या को सामने लाती है। इस कहानी का पात्र श्यामलाल जो जाति से ब्राह्मण है जिसे कथा लेखक ने अछूत हितैषी के तौर पर प्रस्तुत किया है। श्याम लाल पेशे से गायक है। वह एक दिन संध्या के समय राय साहेब के यहाँ से गाकर लौट रहा था, तभी एक चौदह वर्ष की चमारिन गंगा ने उसे गुलाब का गुच्छा भेंट किया। गंगा ने श्यामलाल से कहा कि वह अछूत होने के कारण राय साहेब की महफ़िल में गाना सुनने नहीं आ सकती थी। यह सुनते ही श्यामलाल ने गुलाब का गुच्छा ज़मीन पर फेंक दिया। गंगा बोली :

> मैं नहीं जानती थी कि आप भी ऐसे ही होंगे। क्यों आप अपना गाना बाहर निकलते ही भूल गए? वह एकता और समानता का राग केवल महफ़िल के ही लिए था? मैं समझती थी कि आप ही संसार में ऐसे हैं, जो ऊँच-नीच का भेद नहीं मानते। मैं आप ही को भगवान समझने लगी थी। नित्य नियम से इस कोने पर आकर उस गाने को सुनती थी और नित्य मेरी भक्ति कुल आप में बढ़ती जाती थी। परंतु मुझे क्या मालूम था कि वह केवल एक गान था! ख़ैर! मेरी धृष्टता को क्षमा करना।

यह सुनने के बाद श्यामलाल के हृदय में परिवर्तन हुआ, उसने गंगा से पूछा कि मेरा कौन-सा गाना तुम्हें याद है। गंगा गाना गाकर सुनाती है –

> एक पिता के सब संतान, कोई बड़ा न छोटा हममें, सब हैं एक समान।
> वैश्य, ब्राह्मण, चमार, नाई, हिंदू, मुस्लिम या ईसाई;
> यह सब कृत्रिम भेद-भाव है, इनमें तत्व न जान।
> लग जा सबके गले प्रेम से, तज झूठा अभिमान।

[38] इनकी बहुत सी कहानियाँ, लेख, यात्रावृत्तांत नवजागरणकालीन पत्रिकाओं में बिखरे पड़े हैं. डॉ.धनीराम प्रेम ने *चाँद* पत्रिका का पाँच-छह वर्षों तक संपादन भी किया था. सन् 1921 में मेडिकल कालेज बंबई से डॉक्टरी की डिग्री प्राप्त करने के बाद सन् 1931 में डॉक्टरी की पढ़ाई करने के लिए इंग्लैंड चले गए. वहाँ से एम.आर.सी.एस.और एल.आर.सी.पी. की डिग्री प्राप्त करने के बाद भारत लौट आए थे. भारत में कुछ वर्षों तक रहने के बाद सन् 1938 में अपनी पत्नी रतन प्रेम के साथ लंदन चले गए और वहीं स्थाई तौर पर बस गए थे. इन्होंने वल्लरी, वेश्या का हृदय, वीरांगना का पन्ना, प्रेम गीतांजलि और प्राणेश्वरी आदि किताबें लिखी थीं. डॉ. धनीराम प्रेम का *देवी जोन* (1934) नामक उपन्यास काफ़ी प्रसिद्ध हुआ था.



स्रोत : सुधा, नवंबर, 1933, वर्ष : 4, खंड : 1, संख्या : 4

सबका एक वही भगवान। एक पिता के सब सन्तान।।
कोई बड़ा न छोटा हममें, सब हैं एक समान ।।

डॉ. धनीराम प्रेम कहानी के अगले हिस्से में दिखाते हैं कि गंगा मंदिर में प्रवेश करने की कोशिश करती है पर उच्च श्रेणी के हिंदू उसे घसीट कर मंदिर परिसर से बाहर खदेड़ देते हैं। मंदिर प्रवेश को लेकर गंगा कहती है कि गिरजे घर के महादेव हिंदुओं के महादेव की तरह अछूतों से घृणा करने वाले नहीं होते हैं। चर्च के भगवान बड़े दयालु होते हैं और सबको समान दृष्टि से देखते हैं। चर्च के भगवान की प्रशंसा गंगा इन शब्दों में करती है :

> गिरजे के महादेव जी दयालु हैं, सबको एक दृष्टि से देखने वाले हैं। हमारे पड़ोस का मुरली जब से क्रिस्तान हुआ है, तब से वह सबके साथ जाकर गिरजे में बैठता है। सब ईसाई उससे हाथ मिलाते हैं। जो पादरी साहब हमारे यहाँ आया करते थे, वे कभी-कभी उसके साथ खाना खाया करते हैं। यही नहीं, जब कभी वह यहाँ आता है तो रायसाहब की कुर्सी पर बैठता है। एक दिन वह कह रहा था – 'हिंदू अपने भगवान से ईसाइयों के भगवान की ज़्यादा इज़्ज़त करते हैं। क्योंकि जब मैं हिंदू था तो कोई मेरी ओर देखता भी नहीं था और जब से ईसाई हुआ हूँ, बड़े-बड़े हिंदू हाथ मिलाते हैं और पास बिठाते हैं। 'पुजारी जी के महादेव जी से तो ईसाइयों के महादेव जी अच्छे हैं।

बड़ी दिलचस्प बात यह है कि गंगा चमारिन उच्च श्रेणी के हिंदुओं द्वारा अत्याचार किए जाने पर भी वह ईसाई बनने से इंकार कर देती है। इस कहानी के अंत में एक उच्च श्रेणी का ब्राह्मण श्यामलाल अछूतोद्धार की ख़ातिर चमार बन जाता है। डॉ. धनीराम प्रेम अपनी इस कहानी का समाहार इन शब्दों में करते हैं –

> 'गंगा अब मेरी है। वह ब्राह्मणी है या मैं चमार हूँ, कह नहीं सकता। परंतु इतना मैं जानता हूँ कि हम दोनों एक-दूसरे के साथ बड़े सुखी हैं। मूर्ख उसे चमारी कहें, अछूत कहें या कुछ भी कहें, वह चंद्र – ज्योत्स्ना के समान विमल है, वसंत के समान सौरभमयी है और इस अनन्त विश्व के समान विशाल-हृदया है।'[39]

इलाचंद्र जोशी हिंदी नवजागरण काल के प्रसिद्ध लेखक और संपादक थे। इन्होंने *विश्वमित्र* जैसी बड़ी पत्रिका का संपादन भी किया था। इलाचंद्र जोशी गांधीवादी दृष्टि के कायल थे। इन्होंने *विश्वमित्र*, जून 1933 के अंक में अछूत समस्या पर *बरेठन* शीर्षक से कहानी लिखी थी। कथा लेखक ने कहानी में दिखाया है कि सवर्ण समाज के युवक अछूतोद्धार की ख़ातिर चमार-धोबी तक बनने के लिए तत्पर हैं। इस कहानी की पात्र रधिया है। वह धोबी जाति से है जिसकी शादी हो चुकी है पर उसके पति ने छोड़ दिया है। रधिया का पिता बुद्धन सवर्णों के कपड़े धोने का काम करता है। रधिया सवर्णों के घर कपड़े लेने और धुले कपड़े देने जाया करती थी। इलाचंद्र जोशी कहानी की कथा में दिखाते हैं कि भगवतीचरण नाम का बी.ए.पास उच्च कुलीन लड़का रधिया पर मोहित हो जाता है। इलाचंद्र जोशी ने भगवतीचरण का परिचय देते हुए लिखा कि भगवतीचरण बहुत पहले बी.ए.पास कर चुका था और तबसे बेकार बैठा था। उसके पिता कॉन्ट्रेक्टर थे और उनकी आर्थिक दशा काफ़ी अच्छी थी। इसलिए भगवती अपनी बेकारी के कारण अधिक चिन्तित नहीं था, और अछूतोद्धार के आंदोलन में जी-जान से लग गया था अर्थात् अछूतोद्धार के संबंध में नगरवासियों की सभाओं में बड़ी जोशीली वक्तृताएँ दिया करता था।

एक दिन रधिया धुले कपड़े देने भगवतीचरण के घर गई। भगवतीचरण ने रधिया का हाथ पकड़ कर बोला कि यदि तुम मेरे प्रेम प्रस्ताव को स्वीकार नहीं करोगी तो अफ़ीम खाकर अपनी ज़िंदगी स्वाहा कर लूँगा। इलाचंद्र जोशी कथा के अगले हिस्से में दिखाते हैं कि भगवतीचरण रधिया को लेकर फ़रार हो जाता है पर वह एक महीने बाद रधिया के पिता बुद्धन के घर आ खड़ा हुआ। भगवती ने बुद्धन को बताया कि रधिया को भगा ले गया था लेकिन अब उससे शादी करना चाहता हूँ। इस बात को लेकर अछूतों की पंचायत बैठी जिसमें भगवतीचरण ने कहा कि :

> 'मैं भी आप लोगों की जाति में शरीक होना चाहता हूँ, इसका जो उपाय आप लोग बताएँ वह करने के लिए तैयार हूँ। कल से मैं भी आप लोगों के साथ घाट पर कपड़े धोऊँगा'

इसके बाद उच्च कुलीन भगवतीचरण रधिया से विवाह कर धोबी बन गया। इस घटना

[39] डॉक्टर धनीराम प्रेम (1932) : 130

के बाद गाँव के सवर्णों ने अछूतोद्धार के लिए बड़ा तप और त्याग बताया। इलाचंद्र जोशी कहानी का समापन इसी मोड़ पर नहीं करते हैं। वे कहानी की कथा में आगे दिखाते हैं कि रधिया वेश्या बन जाती है। जबकि इस कहानी की कथा में ऐसी कोई गुंजाइश नहीं थी कि रधिया वेश्या बना दी जाए। चूँकि इलाचंद्र जोशी को भगवतीचरण के धोबी बनाने का बदला अछूतों से लेना था। इसलिए उन्होंने अछूत समाज की बेटी को वेश्या बना डाला। इलाचंद्र जोशी इस कहानी का समापन इन शब्दों करते हैं –

> पता लगाने पर मालूम हुआ है कि रधिया आजकल किसी बड़े शहर के एक वेश्यालय में है। भगवतीचरण इस समय भी घाट पर कपड़े धोता है। उसने एक दूसरी बरेठन से विवाह कर लिया है। सुना जाता है कि वह इस नये विवाह से अत्यंत संतुष्ट है।[40]

इंद्र. यू. वसावड़ा हिंदी नवजागरणकालीन लेखक थे। इन्होंने *घर की राह* (1935) शीर्षक से एक उपन्यास अछूत समस्या पर केंद्रित कर लिखा था। इंद्र यू वसवाड़ा की *हंस* अगस्त 1933 के अंक में 'रामू भंगी' शीर्षक से एक कहानी छपी थी। इस कहानी के पात्र बाबू रघुबर दयाल हैं, जो म्युनिसिपैलिटी के प्रेसिडेंट हैं। गाँव के अधिकाश भंगी म्युनिसिपैलिटी साफ़ सफ़ाई का काम करते हैं। रामू भंगी प्रेसिडेंट बाबू रघुबर दयाल का घरेलू नौकर है। इस कहानी पर भी गांधीवादी अछूतोद्धार की छाप दिखाई देती है। बाबू रघुबर दयाल का एक बेटा विमल है। जो शांति निकेतन में पढ़ता है और गांधी के अछूतोद्धार से प्रभावित है। कथा लेखक ने विमल के परिचय में लिखा कि, विमल, बाबू रघुबर दयाल जी का इकलौता पुत्र था। शांति निकेतन, बोलपुर में पढ़ता था। गर्मी की छुट्टियों में अपने घर पर आया था। उसकी नसों में यौवन का जोश था। उसका हृदय दया और प्रेम से पूरित था। भारत की हीनदशा देखकर, भाव की अधिकता में वह अधीर हो उठता – शोकाकुल हो जाता। भारत के निर्धन,कंगाल, किसान, मज़दूर लोग और अस्पृश्य जातियों का ख़याल आते ही, उसकी नसों में ख़ून अधिक वेग से दौड़ने लगता। महात्माजी का, उनके सिद्धांतों का, वह पक्का अनुयायी था। कहानी की कथा में आगे दिखाया गया है कि बाबू रघुबर दयाल जी के बगीचे को कुछ सुअर नष्ट कर डालते हैं। इस बात पर रघुबर दयाल आग बबूला होकर रामू भंगी और उसकी पत्नी मथुरिया को ख़ूब प्रताड़ित करता है। बड़ी ताज्जुब की बात है कि कथा लेखक ने इसके लिए बाबू रघुबर दयाल को दोषी नहीं मानता है। इंद्र यू वसावड़ा लिखते हैं :

> बाबू रघुबर दयाल जी को हम निर्दय नहीं कह सकते। उनका चरित्र अपने आसपास के वातावरण से बना था। भंगियों या चमारों को गालियाँ देना, उन पर क्रोधित होना, और उन्हें जूते लगवाना – उनके लिए कोई नई बात न थी। इस कृत्य से उनके हृदय में कोई ख़ास भाव भी न पैदा होता था।[41]

[40] इलाचंद्र जोशी (1933) : 351.

[41] इंद्र. यू. वसावड़ा (1933) : 13.



स्रोत : *युगांतर*, मार्च 1933

इस कहानी का मंतव्य सिर्फ़ इतना था कि सवर्ण पृष्ठभूमि की युवा पीढ़ी अपने घर-परिवार का विरोध सहकर अछूतों की ख़ातिर आहुति देने के लिए तैयार है।

रामनारायण 'यादवेंदू' ने *चाँद*, अक्टूबर 1933 के अंक में इंदुकला शीर्षक से अछूत समस्या पर एक कहानी लिखी थी। लेखक की इस कहानी में गांधीवादी विचारों की छाप दिखाई देती है। इस कहानी का पात्र चंद्रगुप्त जो अछूतों में से जाटव जाति का है। कथा लेखक रामनारायण 'यादवेंदू' ने उसका परिचय इन शब्दों में दिया हैं – 'चंद्रगुप्त एक सुंदर युवक है। आयु पच्चीस से अधिक नहीं है। उसका जन्म हुआ जाटव कुल में – 'जाटव' जिन्हें महात्मा गांधी प्रेम और भक्ति के भाववेश में *हरिजन* नाम से पुकारते हैं और गर्वोन्मत्त जात्याभिमानी उन्हें दलित कहकर अपने पतन का परिचय देते हैं।' कहानी के अगले हिस्से में दिखाया गया है कि चंद्रगुप्त शिक्षा प्राप्त करने के बाद 'हरिजन' पत्र के संपादकीय विभाग में नौकरी करने लगता है। थोड़े समय में ही चंद्रगुप्त अपने त्याग और परिश्रम से नगर में प्रसिद्ध हो जाता है। कथा लेखक कहानी के दूसरे हिस्से में दिखाता है कि कन्या-गुरुकुल से स्नातिका उच्च कुल की स्त्री इंदुकला गांधी के सितंबर महीने वाले उपवास से प्रभावित होकर हरिजन सेवा को अपने जीवन का ध्येय बना लेती है। ग़ौरतलब है कि गांधी जी ने सितम्बर महीने में अछूतों के पृथक निर्वाचन के ख़िलाफ़ अनशन किया था। इंदुकला चंद्रगुप्त के अभूतपूर्व व्यक्तित्व पर मुग्ध हो जाती है। एक दिन चंद्रगुप्त को इंदुकला अपने यहाँ भोजन पर आमंत्रित करता है। वह इंदुकला के प्रति अपना प्रेम प्रकट करते हुए कहता है कि 'कला, मैं आज अपना हृदय तुम्हारे

सामने खोलकर रख देना चाहता हूँ। क्या तुम उसकी स्वामिनी बनना स्वीकार करोगी?' इंदुकला उसके प्रणय निवेदन को स्वीकार कर अपने अछूतोद्धार के व्रत को पूरा करती है। रामनारायण 'यादवेंदू' लिखते हैं – 'आज उसकी साध पूरी हुई जब से उसने सेवा व्रत लिया, तब से उसकी एकमेव कामना यही थी कि वह किसी हरिजन व्यक्ति को आत्म समर्पण कर सेवा मार्ग को परिष्कृत करे।'[42]

भदंत आनंद कौसल्यायन ने *युगांतर*, जुलाई 1934 के अंक में मंदिर-प्रवेश शीर्षक से एक कहानी लिखी थी। यह कहानी बताती है कि गांधी की अपील के बाद भी अछूतों को लेकर पुरोहितों का नज़रिया नहीं बदला था। पुरोहित और पोथाधारी अछूतों को मंदिर में घुसने नहीं देते थे। भदंत आनंद कौसल्यायन कहानी की कथा में दिखाते हैं कि अछूत रामू मंदिर की सीढ़ियों पर बैठा है। पुजारी रामलाल उससे प्रेम प्रदर्शित करते हुए पूछता है – 'किधर आए रामू!' रामू ने पुजारी से कहा – 'मालिक! भगवान के मंदिर में हमें भी जाने दीजिए।' रामू मंदिर प्रवेश के लिए तमाम दलीलें देता है लेकिन मंदिर का पुरोहित सनातनी परम्पराओं का हवाला देकर रामू की मंदिर-प्रवेश वाली मनोकामना पर पानी फेर देता है। मंदिर का पुजारी कहता है – '*रामू ! एउ तो मेरा भी है कि किसी तरह तुम लोगों के लिए मंदिर का द्वार खुल जाए; लेकिन देखते हो, यह अकेले मेरे बस कि बात नहीं। तुम जाकर भगवान से प्रार्थना करो कि किसी तरह लोगों का मन फेर दें और लोग तुम्हारे मंदिर–प्रवेश पर राजी हो जाए ना*'[43] गांधी के अछूतोद्धार की ज़मीनी हक़ीक़त का यह हाल था। सवर्णों का नज़रिया अछूतों के प्रति बदल नहीं रहा था। कभी-कभार हिंदू सुधारकों के दबाव में आकर सवर्ण अछूतों को मंदिर और कुआँ पर चढ़ा लेते पर उनके चले जाने पर सवर्णों द्वारा मंदिर और कुआँ का शुद्धीकरण किया जाता था।

साहित्यिक लिहाज़ से भले ही 'अछूत' नायक-नायिकाओं का हिंदी कहानियों के केंद्र में आना एक नई बात ज़रूर थी। देखा जाए तो सवर्ण पृष्ठभूमि से आए कथाकारों ने अछूत समस्या को केंद्र बनाकर जो कहानियाँ लिखीं उनके सौंदर्यशास्त्र में कोई नयापन दिखाई नहीं दिया। मसलन, इन कहानियों में किसी अछूत पात्र को अछूतोद्धार के नायक के तौर पर पेश नहीं किया गया। नवजागरणकालीन हिंदी कथा लेखक जातिभेद से संचालित सौंदर्यशास्त्र से अलग दलितों की छवि पेश करने में असमर्थ रहे। मसलन,अछूत पात्रों का हिंदू धर्म के प्रति कोई उग्र भाव उभर कर सामने नहीं आया। हिंदू धर्म में उनकी बड़ी गहरी आस्था है, दिखाने का प्रयास किया गया। इन कहानियों में अछूत प्रतिरोध की नहीं अनुरोध की भाषा में बोलते हैं। अछूत केंद्रित कहानियों में सुधारक की आत्म छवि अछूत के सहयोगी की नहीं उपकारी के तौर पर उभर के सामने आती है। जैसे, सवर्ण नायक का डिकास्ट होना,अछूतोद्धार के लिए बड़ा त्याग बताया गया। इन कहानियों की एक दिलचस्प बात है यह भी है कि सवर्ण तो चमार-धोबी बनते नज़र आएँ पर चमार-धोबी का विकास ब्राह्मण और ठाकुर के तौर पर दिखाई नहीं दिया।

[42] श्री रामनारायण, 'यादवेंदू' (1933) : 603.

[43] भदंत आनंद कौसल्यायन (1934) : 603.

वास्तव में औपनिवेशिक भारत में साइमन कमीशन, गोलमेज़ कॉन्फ्रेंस और पृथक निर्वाचन जैसी ऐतिहासिक घटनाओं के दबाव में हिंदी नवजागरणकालीन लेखकों को अछूतोद्धार का आंदोलन चलाना पड़ा था। सवर्ण पृष्ठभूमि से आए लेखकों ने गांधीवादी पद्धति में अछूत समस्या का समाधान देखा था,उनकी दृष्टि में अछूतों की हर मर्ज़ की दवा गांधी थे। नवजागरणकालीन लेखकों और संपादकों ने डॉ. आंबेडकर की नज़र से अछूत समस्या को देखने-समझने का प्रयास नहीं किया और न तो अछूत मुद्दों पर उनका समर्थन किया। प्रेमचंद जैसे दृष्टि संपन्न लेखक और संपादक ने भी अछूत समस्या का समाधान केवल गांधी के आंदोलन में देखा। वह भी अछूत मसले पर गांधीवादी घाट के पार नहीं जा सके। यह हिंदी नवजागरणकालीन लेखकों की अपनी दुविधाएँ थीं या फिर उनका सवर्णपन आड़े आ गया जो डॉ. आंबेडकर जैसे अछूत विचारक की अगुआई को स्वीकार नहीं कर पा रहा था। इस बात का भी दावा नहीं किया जा सकता है कि गांधी जी के अछूतोद्धार से अछूतों का सामाजिक और जातिगत मसला हल हो गया था, उनका अछूतोद्धार भी सवर्णों का नज़रिया और आचरण अछूतों के प्रति नहीं बदल सका। पूना-पैक्ट के बाद सवर्णों के अछूतोद्धार का कोई ख़ास मतलब नहीं रह गया था क्योंकि अछूतों के सवाल दीगर थे और सवर्ण लेखकों के इस मसले पर जवाब दीगर थे।

संदर्भ

अछूत समस्या, संपादकीय, *माधुरी*, भाद्रपद, 306 तुलसी संवत, 1989, वर्ष : 11, खंड : 1,संख्या : 2.

इंदुकला, श्री रामनारायण 'यादवेंदू' बी.ए., *चाँद*, अक्टूबर 1933, वर्ष : 11, खंड : 2, संख्या : 6.

गोलमेज़ कॉन्फ्रेंस की दूसरी बैठक, नरसिंहराम शुक्ल, *सरस्वती*, जनवरी, 1932, भाग : 33, खंड : 1, संख्या 1 : 51.

गोलमेज़-परिषद् में गोलमाल, हंसवाणी, प्रेमचंद, *हंस*, अक्टूबर 1931, वर्ष : 2, अंक : 4 : 61.

घनश्यामदास बिड़ला (1958), *डायरी के कुछ पन्ने,* सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली.

डॉ. धनीराम प्रेम (1932), *चांद*, अछूत अंक, जून, वर्ष : 10, खंड : 2, संख्या 2 : 130.

डॉ. सत्येन्द्र (2005), *निबंध निलय*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली.

डी. आर. नागराज (2002), 'आत्म-शुद्धि बनाम आत्म-सम्मान : दलित आंदोलन के स्रोतों की ख़ोज', अभय कुमार दुबे (सं.) *आधुनिकता के आइने में दलित*, सीएसडीएस, वाणी प्रकाशन, दिल्ली : 68.

दुबे जी की चिट्ठी, विजयानन्द (दुबे जी), *चाँद*, अक्टूबर 1932, वर्ष : 10, खंड : 2, संख्या 6 : 694-695.

नरेशचंद्र चतुर्वेदी (1957) *हिंदी साहित्य का विकास और कानपुर*, कानपुर इतिहास समिति.

पूना-पैक्ट और व्रत समाप्ति, संपादकीय, *सुधा*, अक्टूबर 1932, वर्ष : 6, खंड : 1, संख्या : 3 : 412.

पूने का समझौता, संपादकीय, *माधुरी*, आश्विन 309, तुलसी संवत, 1989, वर्ष : 11, खंड : 1,संख्या : 3.

पूने का समझौता, संपादकीय टिप्पणियाँ, संतराम बी. ए. *युगान्तर*, अक्टूबर1932 : 350.

बरेठन, इलाचंद्र जोशी, *विश्वमित्र*, जून 1933, भाग : 1, खंड : 2, वर्ष : 1.

महान् तप-1, संपादकीय, *जागरण* 19 सितबंर 1932, *प्रेमचंद रचनावली*, खंड-आठ, जनवाणी प्रकाशन प्रा. लि.

दिल्ली : 133.

महात्मा गांधी और अछूतोद्धार, सामयिक प्रसंग, *सरस्वती*, अक्टूबर 1932, संख्या : 4, खंड : 2, भाग : 33 : 477.

महात्मा गांधी की भीष्म-प्रतिज्ञा, रंगभूमि संपादकीय, चाँद, अक्टूबर 1932, वर्ष : 10, खंड : 2, संख्या 6 : 699.

माननीय मालवीय जी, बाबू राजेंद्रप्रसाद, बाबू भगवान दास, विश्ववीणा, श्री रंगा अय्यर, एम.एल.ए., श्री घनश्यामदास बिड़ला, रावबहादुर एम.सी. राजा, श्री. पी. बालू, विश्ववीणा, चाँद, अक्टूबर 1932, वर्ष : 10, खंड : 2, संख्या : 6 : 687.

मंदिर-प्रवेश, भदंत आनंद कौसल्यायन, लंका. *युगान्तर*, जुलाई 1934 : 603.

राम स्वरूप चतुर्वेदी (2010), *हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास*, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.

रामू भंगी, इंद्र. यू वसवाड़ा,बी. ए. (आनर्स) *हंस*, अगस्त 1933, वर्ष : 3, संख्या 11 : 13.

विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' (1928), *विशाल भारत,* फ़रवरी, खंड 1, संख्या 2, वर्ष 1 : 67.

सम्पत पासी, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'(1928) : *विशाल भारत* : फ़रवरी, खंड : 1, संख्या : 2, वर्ष : 1 : 66.

संघ शासन की व्यवस्था का आयोजन, संपादकीय, *सरस्वती*, जनवरी, 1932, भाग : 33, खंड : 1, संख्या : 1 : 189.

स्टेनली वोलपर्ट (2009), *जिन्ना मुहम्मद अली से क़ायद-ए-आज़म तक,* (अनु.) अभय कुमार दुबे, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली.

भीमगीत : भोजपुरी लोक में बहुजन अस्मिता का हस्तक्षेप

धनंजय सिंह



भूमंडलीकरण के दौर में नई प्रौद्योगिकी के आगमन से संस्कृति उद्योग का बड़े पैमाने पर उभार हुआ। यह उभार इतना हुआ कि संस्कृति के मौलिक स्वभाव में ह्रास की बात की जाने लगी। उस ह्रास के साथ भारत में बहुजन की आवाज़ भी उभरी। भोजपुरी संस्कृति के संदर्भ में यह बात अक्षरशः लागू होती है। भोजपुरी की दृश्य संस्कृति को अश्लील समझा गया और आज भी समझा जा रहा है जबकि उसमें बहुजन की स्वस्थ परंपराओं को भी पर्याप्त जगह मिली है। पिछले एक दशक के दरम्यान भोजपुरी की दृश्य संस्कृति में भीमगीत एक नए अध्याय के रूप में जुड़ा है। भीमगीतों के माध्यम से पहचान और अस्मिता का यह संघर्ष आकर्षक हो गया है,

क्योंकि इसमें रचनात्मक संघर्ष की झलक दिखती है, अश्लीलता या हिंसा को बढ़ावा नहीं। ऐसे समाज में जहाँ जातीय एवं धार्मिक अपमान को प्रतिष्ठित करते मुहावरे प्रचलित हों, वहाँ अस्मिता के लिए भीमगीतों का विकास होना अत्यंत ज़रूरी है। प्रस्तुत अध्याय भोजपुरी लोकगीतों की बदलती परंपरा में भीमगीत[1], डिजिटल दुनिया की दृश्य-संस्कृति और शिवचर्चा बनाम भीमचर्चा जैसे लोक-संस्कृति के विविध पक्षों के साथ विश्लेषित कर समाज, संस्कृति और बहुजन अस्मिता के समकालीन सामाजिक इतिहास को उनकी क्षेत्रीयता के साथ व्याख्यायित करने का प्रयास है।

आभासी दुनिया में यूट्यूब जन समाज के लिए सर्वसुलभ अभिलेखागार है। यह अध्याय यूट्यूब पर उपलब्ध ऑडियो-वीडियो भोजपुरी भीमगीतों को बतौर प्राथमिक स्रोत से बहुजन अस्मिता की पड़ताल करता है और उन भीमगीत के गीतकारों एवं गायकों से टेलीफ़ोनिक वार्त्ता को भी अपने अध्ययन के दायरे में लाता है।

बाबा भीम अइलें हो // भीमगीत : एक परिचय

भीमगीत महाराष्ट्र में 'आंबेडकर के बाद की परिघटना के रूप में पोवादास/शाहिरी, लोक भजन से लेकर बड़े पैमाने पर तैयार किए गए कैसेट्स से विकसित हुआ है और अब रैप और पॉप गीतों तक पहुँच गया है।'[2] महाराष्ट्र में बहुजन समुदाय में नामकरण, मृत्यु और उत्सवों के अवसर पर गाए जाने वाले भीमगीतों की अद्वितीय परंपरा है। भीमगीतों ने आंबेडकर के संघर्षों और उनके चिंतन को सरलतम ढंग से वंचित समुदायों के मानस में पहुँचाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। महाराष्ट्र के बहुजन समुदाय की परंपराओं में आंबेडकर गुँथे हुए हैं, जिन्होंने जाति विभेदकारी समाज के मुँह पर आंबेडकर की मौजूदगी का हर रोज़ दावा किया है। आंबेडकर की मौजूदगी का दावा जाति-विरोधी आंदोलन के इतिहास में महाराष्ट्र और दक्षिण के राज्यों से लेकर उड़ीसा-बंगाल तक फैल चुका है।

वहीं पंजाब में आंबेडकर की पूर्ववर्ती परंपरा रविदास डेरों की सामाजिक आंदोलनों से बनी है। पिछले आठ-दस सालों में यू-ट्यूब पर रविदास, आंबेडकर या फिर चमार समुदाय को लेकर बने भीमगीत काफ़ी लोकप्रिय हुए हैं। पंजाब में 'आंबेडकर फ़ोक' या 'चमार पॉप' उभरकर आया है और गिन्नी माही उसकी झंडाबरदार हैं। उनके अल्बमों में प्रमुख हैं – 'फ़ैन बाबा साहिब दी' (2016), डेंजर चमार 1 और 2 (2016), डाउन 2 अर्थ और डॉलर इत्यादि। भीमगीत गायक परमजीत सिंह पम्मा का कहना है कि 'दूसरी जातियों के गाने पर क्यों नाचें जबकि हम अपनी जाति के ऊपर बने हुए गानों पर भी नाच सकते हैं। उन्हें सुन सकते हैं।'[3]

---

[1] भोजपुरी भीमगीत भारत की अन्य भाषाओं में गाए जाने वाले भीमगीतों से इस अर्थ में भिन्न हैं, जो दलित शब्द का प्रयोग न करके बहुजन पद का प्रयोग करता है.

[2] https://hindi.newsclick.in/Ambedkarite-Protest-Music-D alit-Panthers-Cultural-Protest

[3] https://www.newsplatform.in/big-news/dalit-pop-culture-political-assertion/

पंजाबी भीमगीतों में आलीशान गाड़ियाँ एवं भव्य महलनुमा मकान दीखते हैं। पंजाबी बहुजनों के उभार में कनाडा, अमेरिका, युरोप में प्रवसन की बड़ी भूमिका है और प्रवसन ने उनकी आर्थिक समृद्धि में चार चाँद लगा दिए हैं, फलस्वरूप भीमगीत एवं अन्य कलाएँ समृद्ध हुईं। हालाँकि, 'पंजाब में दलित समुदाय में प्रतिरोध की परंपरा रही है, लेकिन इन गीतों में यह प्राइड नए तेवर और नए सौंदर्य-शास्त्र के साथ सामने आया है। मसलन, डेंजर चमार गाने में हथियारों से तुलना, दृश्य में बॉडी बिल्डर युवा, जलती आग, धातुओं के सामान आदि नया सौंदर्य-शास्त्र रचते हैं।'[4] भारत के अन्य क्षेत्रों की अपेक्षाकृत पंजाबी दलित ज़्यादा समृद्ध हैं। इसलिए उनके भीमगीतों का सौंदर्य अलग रूप में दिखता है।

भीमगीत के अतिरिक्त बहुजन चेतना से संपन्न दृश्य-संस्कृति में फ़िल्मों ने भी अपनी उपस्थिति दर्ज की है। सवर्ण फ़िल्मकारों में शेखर कपूर की *बैन्डिट क्वीन* (1994), जगमोहन मुंदड़ा की *बवंडर* (2000), आनंद पटवर्धन की *जय भीम कॉमरेड* (2012), संजीव जायसवाल की *शूद्रा : द राइजिंग* (2012), केतन मेहता की *माँझी द माउंटेनमैन* (2015), अनुभव सिन्हा की *आर्टिकल 15* (2019) इत्यादि फ़िल्में बहुजन के उत्पीड़न पर केंद्रित हैं। लेकिन बहुजन फ़िल्मकारों में दक्षिण भारतीय तमिल के पा. रंजीत की फ़िल्म *काला* (2018) और मराठी के नागराज मंजुले की *फंड्री* (2013), *सैराट* (2016) एवं झुंड (2022), योगेश पगारे की शॉर्टफ़िल्म *मुलाकरम्*[5] (2020), ज्ञानवेल की *जय भीम* (2021), इत्यादि फ़िल्मों की विषय-वस्तु से लेकर उनकी प्रस्तुति के सौंदर्य तक बहुजन सौंदर्य-बोध से सराबोर हैं।

भीमगीत के इतिहास की शुरुआत महाराष्ट्र से होती है। भीमगीत भी लोकगीत बन चुके हैं। लेकिन दोनों में फ़र्क़ भी है। जहाँ ज़्यादातर लोकगीत हिंदू पौराणिक कथाओं एवं किसानी जीवन का उत्सव मनाते हैं, वहीं भीमगीत में बाबा साहब आंबेडकर एवं महात्मा बुद्ध की जीवन कथाओं का उल्लेख मिलता है। आंबेडकर महाराष्ट्र के सबसे पिछड़ी जातियों में से एक महार जाति से ताल्लुक रखते थे, जो एक अस्पृश्य जाति मानी जाती थी। शिक्षित होकर उन्होंने दमनकारी जाति-व्यवस्था पर हमला किया, आज़ादी मिलने पर भारत का संविधान लिखा, अपने समाज को आधुनिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए जागरूक किया। 9 दिसंबर, 1956 में देहांत से पूर्व उन्होंने हिंदू धर्म त्यागकर दलित-पिछड़ी जाति के लाखों लोगों के साथ बौद्ध धर्म अपना लिया। उनकी जीवन-यात्रा से लेकर भारतीय संविधान निर्माण तक की कहानी पहले पहल मराठी में भीमगीतों का विषय बनी। लेकिन 'भीमगीतों में से सबसे बड़ी बात है – स्त्री मुक्ति। आंबेडकर ने जाति-व्यवस्था के ख़िलाफ़ अपने संघर्षों में स्त्री समानता और उनके अधिकारों को सबसे ज़रूरी माना था। उनका कहना था कि किसी समुदाय की उन्नति का आकलन उस समुदाय की स्त्रियों की दशा को देखकर किया जाना चाहिए। आंबेडकरवादी आंदोलन में स्त्रियों की भूमिका बढ़-चढ़कर रही है। बहुजन स्त्रियों ने भीमगीतों

[4] वही.

[5] https://youtu.be/Bg0h7XM_7zA.

को नए आयाम दिए। जिसका सबसे प्रमुख उदाहरण पालना गीत हैं। पालना गीतों को बच्चों के जन्म के मौक़े पर गाने की परंपरा है। पालना गीतों की शुरुआत इसलिए हुई ताकि दलित स्त्रियाँ अपने बच्चों को बाबा साहेब के जीवन-आदर्शों पर चलने की प्रेरणा दें। यह आदर्श समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व के आदर्श हैं। महाराष्ट्र के विदर्भ क्षेत्र में पालना गीत गाए जाते हैं। पालना गीतों की तरह ओबी भी हैं। पालना तो लिखित है लेकिन ओबी सिर्फ़ वाचिक माध्यम से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को मिला है। दूसरा, ओबी गीत महिलाएँ उस वक़्त गाती हैं जब समूह में काम कर रही होती हैं। ये मराठी साहित्य के उन ओबी गीतों से अलग हैं जिन्हें अक्सर पुरुष गाते हैं। स्त्रियों द्वारा गाए जाने वाले ये गीत इसलिए भी मौखिक रह गए क्योंकि ये उन बहुजन स्त्रियों के बीच प्रचलित थे जो शिक्षा से वंचित थीं। भीमगीतों में लिखित और मौखिक दोनों तरह की परंपराएँ आती हैं। जिनमें भक्ति गीतों से लेकर वैज्ञानिक चिंतन और राजनीतिक विचारों पर आधारित गीत भी शामिल हैं। बहुजन स्त्रियों के बीच भक्ति गीतों का प्रचलन ज़्यादा है। बहुजन पुरुषों के बीच राजनीतिक विमर्श पर आधारित गीत ज़्यादा रुझान में हैं। इसी तरह भीमगीतों की परंपरा चली आ रही है और एक के बाद एक नए गीत इससे जुड़ते जा रहे हैं।'[6] पहले-पहल यह भीमगीत मात्र मराठी भाषा तक सीमित रहा लेकिन धीरे-धीरे भीमगीत भारत-वर्ष की हर क्षेत्रीय भाषा में गाया जाने लगा है।

बाप दादा के अइसन कहानी रहे // बहुजन वैचारिकी की परंपरा

> चरथ भिक्खवे चारिकं
> बहुजन हिताय बहुजन सुखाय
> लोकानुकंपाय
> अत्थाय हिताय[7] (*विनयपिटक: महावग्ग*)

अर्थात हे भिक्षुओ! बहुजन के हित के लिए, बहुजन के सुख के लिए, लोगों को मदद पहुँचाने के लिए निरंतर भ्रमण करते रहो। ढाई हज़ार साल पहले बुद्ध द्वारा दिया गया यह पहला लोकतांत्रिक नारा था, जो एक ऐसे दर्शन पर आधारित था जो जनहित में जनता और अच्छे कामों के लिए समृद्धि और शांति चाहता है। यह केवल संदेश नहीं है बल्कि विज्ञान आधारित दृष्टिकोण है। यह बहुजन के लिए उपलब्ध होना चाहिए, जिन्हें वंचित रखा गया था। बुद्ध उच्च वर्गों जैसे राजाओं, धार्मिक शक्तियों, पुजारियों और अमीर लोगों के ख़िलाफ़ नहीं थे, बल्कि वे उनसे आमजन के लिए काम करने का आग्रह करते हैं। 'बहुजन हिताय-बहुजन सुखाय' के बाद उनके शिष्यों ने भारत के भीतर और बाहर उनकी शिक्षा का प्रसार किया और सहज ही

---

[6] https://www.aajtak.in/podcast/best-podcasts-in-hindi/audio/why-bheem-geet-historical-tradition-is-so-important-1052639-2020-04-14.

[7] https://hi.wikipedia.org/wiki/बहुजन_हिताय_बहुजन_सुखाय.



दुनिया के प्रमुख हिस्सों में फैल गया और स्थानीय संस्कृति के साथ मिश्रित हो गया। बहुजन बौद्धिकी की शुरुआत यहीं से होती है और यहीं से बहुजन अस्मिता में दो महत्त्वपूर्ण पहलू जुड़ते हैं – बुद्ध दर्शन का स्वीकार तथा *मनुस्मृति* का नकार।

सातवीं से नौवीं सदी में द्रविड भक्ति आंदोलन में आलवारों-नयनारों ने जाति-पाँति और ऊँच-नीच के भेद भाव को मिटाकर सबको समान रूप से भक्ति करने की वकालत की थी। भक्ति का अधिकार सबके लिए घोषित किया था। केवल घोषणा से नहीं बल्कि अपने स्वयं के जीवन के आदर्शों से उन्होंने ऐसी सामाजिक चेतना का निर्माण किया कि कोई उच्च वर्ण के कारण श्रेष्ठ नहीं होता है। बल्कि भगवत भक्ति से वह श्रेष्ठ हो सकता है और तब यह क़िस्सा भी लोकप्रिय था कि ऊँची जाति के भक्त निचली जाति के भक्तों को जब तक गले नहीं लगाएँगे, अपने बराबर का नहीं समझेंगे, तब तक भगवान उनकी पूजा और प्रसाद को स्वीकार नहीं करेंगे। हालाँकि, इस आंदोलन में जाति व्यवस्था का पूरी तरह से नकार नहीं था। यह केवल शैव संतों के विशेष रूप से तिरुनावुक्करकर (अप्पार नाम से प्रसिद्ध) के भजनों में है।[8] इसके ठीक सौ साल बाद उत्तर भारत में समतामूलक समाज के लिए प्रतिबद्ध सिद्धों-नाथों ने तो बहुत बड़े पैमाने पर वर्णाश्रम-व्यवस्था के विरोध में संग्राम ही छेड़ा हुआ था। चौरासी सिद्धों में सर्वाधिक प्रसिद्ध सरहपाद अपने विचारों में बहुत तार्किक थे।[9] सिद्ध-नाथों ने निर्गुण भक्ति-आंदोलन की जबर्दस्त पृष्ठभूमि बना दिया था, जिसकी देन थे – कबीर,

---

[8] आर. चम्पकलक्ष्मी (1996) : 145, 153-163.

[9] कहा जाता है कि जिस तेवर के साथ सरहपाद ब्राह्मणवाद का विरोध करते थे, ब्राह्मण उससे इतना विचलित हुए कि सरहपाद को जाति और देश निकाला के लिए वे सम्राट के पास प्रस्ताव लेकर गए थे. यह भी कहा जाता है कि अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए सरहपाद को खौलता हुआ घी पीना पड़ा था और खौलते तेल में हाथ डालना पड़ा था.

कमाल, रैदास, धर्मदास, गुरु नानक, दादू दयाल, सुंदरदास, रज़्ज़ब, मलूकदास, नाभादास, अक्षर अनन्य, जंभनाथ, हरिदास निरंजनी, नामदेव, गोरा, सांवता, नरहरि, सेना, राका, त्रिलोचन, सदन, चरणदास, पलटूसाहब, बुलासाहब, सिंगाजी इत्यादि। ये सभी सामाजिक रूप से दलित, स्त्री, मुस्लिम या पिछड़े समाज से थे और जिन्हें मध्यकालीन बहुजन चेतना के संत भी कहते हैं। इन सबने अपनी भजन गायकी में वर्णवादी व्यवस्था के ख़िलाफ़ समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व पर आधारित समाज का काल्पनिक चित्र प्रस्तुत किया।

औपनिवेशिक भारत के विभिन्न हिस्सों में एक से बढ़कर एक बहुजन बौद्धिक हुए, जिसकी शुरुआत महाराष्ट्र में महात्मा ज्योतिबा फुले से हुई। पहली बार इन्होंने बहुजन चेतना को ज़मीनी रूप दिया और इन्हें साथ मिला – पत्नी सवित्रीबाई फुले और फ़ातिमा शेख पर फुले के सत्यशोधक समाज का बहुत प्रभाव था। उन्होंने जाति व्यवस्था के ख़िलाफ़ जनता में शाहिरी संगीत को एक औज़ार के रूप इस्तेमाल किया। लेकिन 1930 तक आते-आते 'सत्य-शोधक जलसा' में शाहिरी की आवाज़ धीमी पड़ गई थी, लेकिन बदले में तब एक फिर नई शक्ति उभर आई – 'आंबेडकरी जलसा'। इस जलसे ने डॉ. आंबेडकर की शिक्षाओं और दर्शन का प्रतिनिधित्व भीमगीतों में मौखिक रूप से किया। अर्थात शाहूजी महाराज के आर्थिक सहयोग से डॉ. आंबेडकर पढ़-लिखकर भारत के एक ऐसे महानायक बने, जिन्होंने बहिष्कृत भारत के मूकनायकों (बेज़ुबान बहुजन) को भी प्रबुद्ध भारत में बदलने के लिए ब्लूप्रिंट तैयार किया। जिसका सबूत भारतीय संविधान है।

उन्हीं दिनों केरल में अयंकली (त्रावणकोर में छुआछूत के ख़िलाफ़ समाज-सुधार), तमिलनाडु में पेरियार (द्रविड़ आंदोलन के संस्थापक एवं सच्ची *रामायण* के लेखक), पंजाब में माँगूराम (मनुवादी व्यवस्था के ख़िलाफ़ बहुजन कल्याण के लिए संघर्ष), उत्तर प्रदेश में स्वामी अछूतानंद (आदि हिंदू के प्रवर्तक एवं बहुजन नवजागरण के अगुवा) से लेकर ललई सिंह यादव जैसे बहुजन चिंतकों ने भारत के अभिजन समाज एवं संस्कृति के बरअक्स बहुजन की बेहतरी के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया। इस कड़ी में रामस्वरूप वर्मा द्वारा स्थापित 'अर्जक संघ' की भूमिका भी वैज्ञानिक रूप से सामाजिक परिवर्तन के लिए उल्लेखनीय है।

प्रसिद्ध एवं विवादित बहुजन चिंतक कांचा इल्लैया का तर्क है कि 'दलित-बहुजनों की स्थिति उस काली और ख़ूबसूरत भैंस की तरह है, जो भारत की गायों की तुलना में सबसे ज़्यादा और सफ़ेद दूध देती है, लेकिन नागरिक समाज में न तो उनकी कोई पवित्र स्थिति है, और न उनको संविधान में कानूनी संरक्षण मिला हुआ है। यह स्थिति हमें यह सोचने के लिए मजबूर करती है कि आख़िर यह किसका भारत है? (कांचा इलैया, 2018)'। बेशक बहुजन साहित्य अधिकांश का साहित्य है, लेकिन इसका आधार संख्या बल नहीं, बल्कि इसके विपरीत सामाजिक और सांस्कृतिक वंचना के पक्ष में, जिस सामूहिक-सामुदायिक-सांप्रदायिक चेतना का निर्माण मनुवाद करता है, बहुजन साहित्य उसके ख़िलाफ़ विभिन्न सामाजिक समुदायों की प्रतिनिधि आवाज़ है। यह साहित्य समाज के उस अंतिम जन का

साहित्य है, जो किसी भी प्रकार की वंचना झेल रहा है। यह न सिर्फ़ आर्थिक वंचना और अस्पृश्यता के सवाल को उठाता है, बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक शोषण के विविध रूपों को भी चिह्नित करता है।[10] इस मामले में शरण कुमार लिंबाले से सहमत हुआ जा सकता है कि 'सत्यं, शिवं और सुंदरम' भेदभाव की कल्पनाएँ हैं – जिसके आधार पर आम आदमी का शोषण हुआ है। दरअसल सत्यं, शिवं और सुंदरम की धारणा तो सवर्ण समाज के स्वार्थ-साधना के लिए रची गई साज़िश है।... विश्व में मनुष्य जैसी 'सत्य और सुंदर' दूसरी कोई चीज़ नहीं है। इसीलिए तो मनुष्य की समता, स्वतंत्रता, न्याय और बन्धुत्व की चर्चा होनी आवश्यक है।'[11] इसी सौंदर्य दृष्टि पर बहुजन साहित्य को परखा जाना चाहिए।

निःसंदेह अभिजन का सौंदर्यशास्त्र 'आनंद' पर आधारित है जबकि बहुजन का पीड़ा व वेदना पर। आनंद का सौंदर्यशास्त्र बहुजन के सौंदर्यशास्त्र का निर्माण नहीं कर सकता क्योंकि दोनों के मूल्य, मान्यताएँ एवं अवधारणाएँ एक-दूसरे के विपरीत हैं। बहुजन चेतना सामाजिक परिवर्तन की चेतना है। यह चेतना बहुजन के अधिकारों एवं न्याय दिलाने के लिए किए गए प्रयासों की प्रतिबद्ध चेतना है। जो घृणा, विद्रोह एवं अमानवीय यातनाओं से पैदा हुई है।

भीम रहिया प बहुजन चलत नइखे // भोजपुरी लोक एवं बहुजन अस्मिता

भोजपुरी लोक की बहुजन अस्मिता की शुरुआत कबीर से होती है। कबीर स्पष्ट कहते हैं – 'जात पात पूछे न कोई/ हरि को भजे सो हरि का होई।' ईश्वर प्राप्ति के लिए जाति-धर्म को कोई नहीं पूछता है। ख़ुद ईश्वर भी नहीं। भक्तिकालीन कबीर सरीखे सभी निर्गुणवादी संत बहुजन चेतना से लबरेज थे। सभी को अपने समाज और अपने पेशे पर गर्व था। भोजपुरी लोक में आधुनिक बहुजन कवियों में मारकंडे दास, रसूल मियाँ, भिखारी ठाकुर, हीरा डोम, जगरदेव, बिहारी राम, नारायण महतो, कुंजन, परगन राम, जनकवि बावला इत्यादि चर्चित रहे हैं। इनमें से भिखारी ठाकुर, रसूल मियाँ और हीरा डोम से हिंदी जगत परिचित होगा लेकिन शेष अज्ञात हैं। राहुल सांकृत्यायन ने अपने हिंदी साहित्य की तरह भोजपुरी नाटक *जोंक* में भी बहुजन चेतना को स्वर दिया है :

> स्वारथ के जोड़ी-जोड़ी पोथिया बनवलस बभना गइल सतनासी
> झूठ तोर सधुआ करमवा झूठ ब्रह्मा के कासी।[12]

1934 में जन्मे कथनथ (सासाराम) के आशु कवि परगन राम ने अपनी भोजपुरी में बहुजन विमर्श का गीत गाया है :

---

[10] प्रमोद रंजन और आयवन कोस्का (सं.), (2017) : 14.

[11] शरण कुमार लिंबाले (2005) : 116.

[12] राहुल सांकृत्यायन (1943) : 73.

अपना मतलब से वेदशास्त्र बनावल गइल बा।
देके ईश्वर के नाम डेरावल गइल बा।
सत चित आनंद मिलल त सच्चितानंद कहाइल।
अइसन ईश्वर के सृष्टि में दुःख कहाँ से आइल?[13]

रामजियावन दास 'बावला' ने भी पूछा कि वास्तव में किसे आज़ादी मिली :

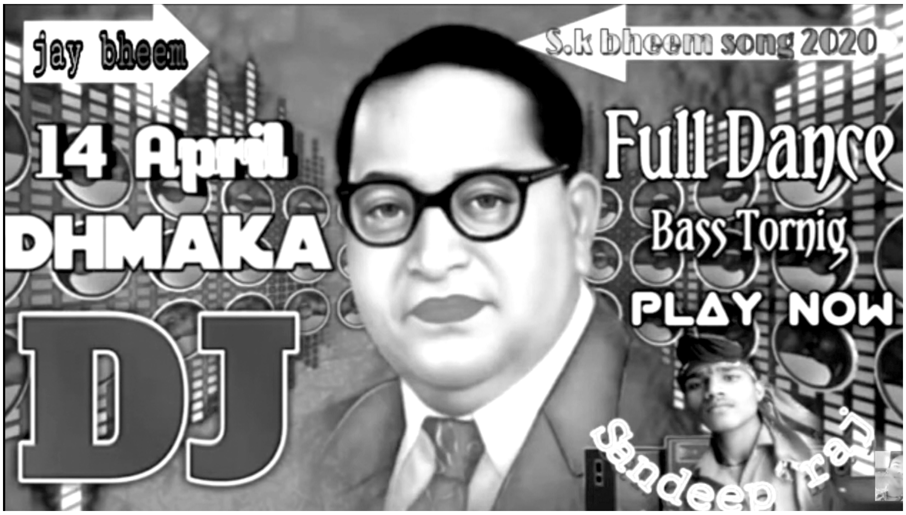
के के आपन खून बहावल/के आपन सर्वस्य लुटावल/केकरे लड़िका बने कलेक्टर,/ई ओस्तादी पउलस के/ सोचा, आज़ादी पउलस के?[14]

भोजपुरी के दलित कवियों को लेकर डॉ. राजेंद्र प्रसाद सिंह ने 'आधुनिक भोजपुरी के दलित कवि और काव्य' नामक किताब लिखा है। इन्होंने इन कवियों के लिए जिन विशेषणों से मूल्यांकन किया है, वह उल्लेखनीय है, मसलन, 'व्यंग्य बोध के विराट कवि कुंजन', 'जनता की याददाश्त में जीवित कवि परगन राम', वयस्क श्रृंगार के अकुंठ कवि जगरदेव, 'सामंतों की तनी तोपों के बीच मुसहर कवि बिहारी राम', 'भोजपुरी के तथाकथित नक्सली कवि नारायण महतो' और 'विंध्याचल घाटी के घुमंतू जनकवि बावला' मुख्य हैं।' ये सभी कवि बहुजन समाज में सूचना प्रौद्योगिकी के आगमन से पहले के हैं।

जिस रफ़्तार से नई टेक्नॉलॅजी तकनीकि का विकास हो रहा है, उसी रफ़्तार से दृश्य संस्कृति में अश्लील, जातिवादी, सांप्रदायिक कथ्य बहुजन युवकों को अपनी चपेट में ले रहा है। इतिहासकार सुभाषचंद्र कुशवाहा की फ़ेसबुक पर ग्रामीण बहुजन युवाओं पर की गई पोस्ट इस संबंध में चिंतित करती है – 'गाँव की पूरी की पूरी युवा आबादी, घोर लंपटई की गिरफ़्त में है। पढ़ाई-लिखाई से नाता टूट चुका है। देश-दुनिया की कुल समझ व्हाट्सएप से बनी है। वहाँ पाकिस्तान माफ़ी माँगता है और चीन थरथर काँपता है। दहेज़ में बाइक मिली है, भले ही पेट्रोल महँगा है, धान-गेहूँ बेच, एक लीटर भरा ही लेते हैं और गाँव में एक बार फटफटा लेते हैं। गँवई माफ़िया उनका इस्तेमाल करते हैं। उन्हें आखेट कर किसी-न-किसी धार्मिक सेनाओं के पदाधिकारी बना कर, अपनी गिरफ़्त में रखते हैं। हमारे गाँव के उत्तर में बढ़ई टोला है। वहाँ से अक्सर कुछ युवाओं के फ्रेंड रिक्वेस्ट आते हैं। उनकी हिस्ट्री देखिए तो सिर पर रंगीन कपड़ा बाँधे, जयकारा लगाते, मूर्ति विसर्जन में दारू पीते फ़ोटो मिलेगी। यह है नई पीढ़ी! इसी पर है देश का भविष्य। एक बीमार समाज। ऐसी पीढ़ी अपने बच्चों को कहाँ ले जा रही है? ज़मीन-जायदाद इतनी नहीं कि ठीक से घर चला सकें या बीमारी पर इलाज हो। तो इनके लिए बेहतर जीवन क्या है? ये किसी औघड़ सेना के सचिव हैं तो किसी धार्मिक संगठनों में फँसा दिए गए हैं। इनकी पीढ़ियाँ अब उबरने वाली नहीं। दास बनने को अभिशप्त हैं ये।... इनका कोई स्वप्न

[13] *भोजपुरी ज़िंदगी* (2014) : 12.

[14] वही :13.



नहीं।... अब ऐसे मर रहे समाज में जान फूँकना आसान काम नहीं है? अब सवाल उठता है कि जिस समाज को सचेतन ढंग से बर्बाद किया गया हो, शिक्षा से वंचित किया गया हो तो यह सचेतन ग़ुलाम बनाने का कृत्य है। यह अमानवीय भी है और शातिराना भी।'[15] और जो पढ़-लिख कर अपनी शारीरिक मज़बूती की बदौलत किसी सुरक्षाबल में सरकारी नौकरी करते हुए जो धन कमाया उसने तीर्थ यात्रा कर, प्रचार किया कि सब भगवान की कृपा है। इस बात से अनपढ़ समाज भगवान की भक्ति से पैसा कमाने की बात करता है। इसीलिए वे सोचते हैं कि बिना भगवान के कुछ होने वाला नहीं है। भगवान के नाम पर समाज को बीमार बना दिया है। हालाँकि बहुजन समाज की तस्वीर का यह एक पहलू है, इसके दूसरे पहलू में बहुजन सामाजिक रूप से जागरूक हैं। भीमगीत गायक उसी जागरूकता के शीर्ष हैं। जिनके लिए गुमराह बहुजन नौजवानों को राह पर लाना, सांप्रदायिक दिमाग़ को सेकुलर बनाना, चमत्कारी एवं अंधविश्वासी मन में वैज्ञानिक चेतना भरना इत्यादि यह सब बेहद चुनौती भरा काम है। यह कठिन काम कैसे संभव होगा, जब भोजपुरी लोक का बहुजन सामाजिक-सांस्कृतिक रूप से ही नहीं, बल्कि राजनैतिक रूप से भी दिशाहीन है। पत्रकार जितेंद्र कुमार लिखते हैं – 'उत्तर प्रदेश और बिहार में दलित, बहुजन और अल्पसंख्यकों ने मिलकर बीजेपी को सत्ता से कमोबेश बाहर ही रखा, लेकिन तथाकथित सामाजिक न्याय की ताक़तें हर दिन कमज़ोर होती गईं जबकि बीजेपी सत्ता से दूर रहकर भी सामाजिक-राजनीतिक रूप से मज़बूत होती चली गईं इसी का परिणाम हुआ कि पिछले तीस वर्षों में वे ताक़तें न केवल जीर्ण-शीर्ण अवस्था में पहुँच गईं बल्कि हिंदुत्व के फ़ोर्स को कोई चुनौती देने की स्थिति में भी नहीं रह गया है।'[16] सामाजिक न्याय की राजनीति करने वालों ने सत्ता के वैकल्पिक मॉडल की बात ही नहीं

[15] https://m.facebook.com/story.php?story_fbid=3534775746541397&id=100000270181351.

[16] https://junputh.com/column/raag-darbari-on-decay-of-social-justice-politics-in-up-and-bihar/.

सोची। उन्हें आज भी यही लगता है कि सत्ता मिलते ही सब कुछ नियंत्रित किया जा सकता है जबकि हक़ीक़त यह है कि कुर्सी सत्ता तंत्र का एक पुर्जा मात्र है जिसमें अन्य कई पुर्ज़े लगे होते हैं। अपने सत्ता काल में इन ताक़तों ने वैकल्पिक मीडिया बनाने की बात नहीं सोची। लालू, मुलायम, मायावती और हेमंत सोरेन जैसे नेताओं के पास अपनी पार्टी का एक रेगुलर मुखपत्र तक नहीं रहा है जिसके द्वारा वे अपने समर्थकों से संवाद स्थापित कर सकें।[17] बावजूद इसके भीमगीत के गायकों ने इंटरनेट की दुनिया में अपने बहुजन समाज में जागृति के लिए जिस तत्परता से कमर कसा है, वह आंदोलन का रूप ले चुका है।

जाति-पाति के भेदवा मिटवल हो // भोजपुरी भीमगीतों की सामाजिकता

आज भारत का ग्रामीण समाज भी आभासी दुनिया में जीने लगा है। इसमें हर कोई अपनी वैयक्तिक से लेकर सामाजिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक छवि की निर्मिति के साथ उपभोग भी कर रहा है। डिजिटल दृश्य संस्कृति हमारे ध्यान को सिनेमा और आर्ट गैलरी के बजाए रोज़मर्रा के जीवन के दृश्य अनुभव पर केंद्रित करती है। यह संस्कृति हमारी रोज़मर्रा की ज़िंदगी की हिस्सा बन चुकी है अर्थात हमारे जीवन में सब कुछ स्क्रीन पर घटित हो रहा है। हमारा जीवन अब निरंतर वीडियो के साथ और उसकी निगरानी में चल रहा है। वर्चुअल दृश्य संस्कृति हमारे निजी जीवन से लेकर सामाजिक और आर्थिक जीवन में भी अहम भूमिका निभा रही है। इसने हमारे दैनिक जीवन के व्यवहार को बदल दिया है। दृश्य संस्कृति भी ज्ञाना-नुशासनों के स्थापित स्रोतों, विशेष रूप से लिखित दस्तावेज़ों के समानांतर एक सशक्त स्रोत बन चुकी है। यह स्रोत अपने पूर्ववर्ती स्रोतों की अपेक्षा लोकतांत्रिक है क्योंकि यह सर्वसुलभ है और इसने हरेक के लिए अभिव्यक्ति से लेकर इस्तेमाल का मौक़ा दिया है।

आभासी दृश्य संस्कृति में आंबेडकर को सहेजने से पूर्व आंबेडकरवादियों ने सृजनात्मक तरीक़ों से मूर्तियाँ बनाकर, आंबेडकर जयंती से लेकर महापरिनिर्वाण दिवस मनाकर और मौखिक परंपरा से लेकर लिखित परंपरा में भीमगीत रचकर ज़िंदा रखा। भीम मेला और भीमचर्चा में गाँव-गाँव से बहुजन स्त्री-पुरुषों का झुंड टेंपो-ट्रैक्टर पर सवार होकर भीमगीत गाते हुए आने लगा है। लेकिन उससे सशक्त आभासी दुनिया में सबसे सहज एवं सर्वसुलभ रूप में आंबेडकर की प्रतिदिन सर्जना हो रही है। इस मिशन में भीमगीत गायक अपनी बदहाली में भी हमेशा कमर कसे रहता है।

भोजपुरी भीमगीत का फ़लक बहुआयामी है। लेकिन यहाँ भीमगीतों के केंद्र में बहुजन नायकों के जीवन का चित्रांकन, परंपरागत मिथकों की बहुजनवादी व्याख्या, मनुवाद से वैचारिक संघर्ष, सामाजिक कुरीतियों पर चोट, अतीत से लेकर वर्तमान की घटनाओं पर रचनात्मक टिप्पणी एवं रोज़मर्रा के जीवन में होनेवाली हलचल इत्यादि के बारे में चर्चा करने की कोशिश की गई है।

---

[17] वही.

भोजपुरी भीमगीतों में बाबा भीम की अनगिनत छवियाँ हैं। कहीं भीम हर बहुजन के घर पैदा होने वाले बालक बन गए हैं, कहीं किसी मनुवादी को बौद्धिक चुनौती दे रहे हैं, कहीं नीला सूट-बूट पहने हाथ में संविधान लिए खड़े हैं, कहीं बहुजन समाज के खेवइया रूप में हैं, कहीं विश्वरत्न तो कहीं देशरत्न हैं, कहीं भारतरत्न हैं तो कहीं बहुजन के शरीर रूप में हैं,[18] कहीं पूरे देश के नेता हैं,[19] कहीं देश के मसीहा[20] हैं। इसी तरह महात्मा बुद्ध, जोतिराव फुले, पेरियार, ललई सिंह यादव, कांशीराम जैसे लोकप्रिय बहुजन नायकों की जीवन छवियों को भीमगीत दृश्यांकित करता है।

डॉ. आंबेडकर की विरासत को सहेजने वाले भीमगीत गायकों से टेलीफ़ोनिक बातचीत सृजनशील बहुजन की सामाजिकता को सामने लाता ही है, इसके साथ डॉ. आंबेडकर इन गायकों के पास कैसे पहुँचते हैं जैसे प्रश्न भी दिलचस्पी पैदा करते हैं। अनुभवी भीमगीत गायक पहले से ही हिंदू पौराणिक कथाओं का गायन करते रहे हैं लेकिन भीमचर्चा ने उनके गायन की दिशा ही बदल दिया। बिरहा-शैली के भीमगीत गायक राजकुमार यादव बताते हैं कि 'बचपन से संगीत से लगाव था। शुरू में अपनी बिरहा गायकी में *रामायण*, *महाभारत* जैसी पौराणिक कहानियाँ गाता था लेकिन जब बाबा भीम राव आंबेडकर के जीवन के बारे में जानने-सुनने को मिला तो पता नहीं कब मेरे विचार बदल गए। आज आंबेडकर के आगे सब फ़ेल है। आंबेडकर के अलावे उनके धारा के जितने भी संत-विचारक थे, उनके बारे में पढ़ना-सुनना मन को भाता गया और धीरे-धीरे मेरी बिरहा गायकी में कहानियों की दिशा बदलती गई। शोर गीतों (जो भीमगीत नहीं हैं) को छोड़कर अपने बिरहा गायकी में मुझे भीमगीत गायकी से काफ़ी सुकून मिलता है।'[21] राजकुमार भीमगीतों के बारे में फ़ख्र से बताते हैं जबकि ढाई-तीन वर्षों से भीमगीत लिखने वाले 26 वर्षीय मनोज कुमार, जो दलित समुदाय से ताल्लुक़ रखते हैं, फ़ोन पर पहले सशंकित थे, इन पंक्तियों के लेखक द्वारा अपने बारे में विस्तार से बताए जाने पर भी डरते-डरते बताते हैं – 'मैं मैट्रिक तक पढ़ा हूँ। घर के हालात ठीक नहीं थे, इसलिए बेल्डिंग का काम करके घर चलाता हूँ। स्कूल टाइम में मैंने बाबा साहब का नाम सुना था लेकिन उनके बारे में ठीक से जानकारी देने वाला कोई नहीं था। बाबा साहब के बारे में 6-7 साल पहले जानकारी मिलनी शुरू हुई तो सोचा कि भीमगीत लिखकर अपने समाज में जागरूकता लायी जाए। पहले भोजपुरी गीत लिखता था, लेकिन बाबा साहब का जीवन और विचार जानने के बाद बाबा साहब के मिशन से जुड़ना जीवन का लक्ष्य बना लिया।'[22] इस मिशन में मनरेगा मज़दूर गुलशन कुमार[23] भी दो सालों से अपने गीतों के माध्यम से सहयोग

[18] https://youtu.be/kSK80pQZn9Y.

[19] https://youtu.be/wfDkkXaaJIM.

[20] https://www.youtube.com/watch?v=XK_M_Ai9WhY&list=RDXK_M_Ai9WhY&start_radio=1.

[21] 22 अगस्त, 2020 को फ़ोन पर बातचीत.

[22] 22 अगस्त, 2020 को फ़ोन पर बातचीत.

[23] 21 अगस्त, 2020 को फ़ोन पर बातचीत.

दे रहे हैं। जबकि ग्यारहवीं क्लास के विद्यार्थी सुधीर यादव को भोजपुरी के अन्य गीतों की अपेक्षा भीमगीत गाने पर इज़्ज़त मिलती है।[24] समाजशास्त्री अंतोनियो ग्राम्शी ने कहा था कि किसी भी आंदोलन का आधार एक सांस्कृतिक विचारधारा होती है। यह सांस्कृतिक विचारधारा ही किसी बड़ी राजनीतिक शक्ति का आधार होती है। बहुजन महासंघ, रिपब्लिकन पार्टी ऑफ़ इंडिया (आरपीआई) और बहुजन समाज पार्टी (बीएसपी) से लेकर अन्य हाशिये के लोगों के लिए (भीमचर्चा इत्यादि) कई सांस्कृतिक दस्ते भी इन गीतों के माध्यम से आंबेडकरवादी विचारों का प्रचार रैलियों में करते रहे हैं।

सांस्कृतिक विचारधाओं में मिथक की उपस्थिति सबसे ताक़तवर रूप में प्रवाहित होती है। आंबेडकरवादी विचारणा मानती है कि स्थापित और आदर्श के रूप में प्रस्तुत की गई सांस्कृतिक संरचनाओं को तोड़े बिना स्थापित प्रभुत्व को तोड़ा नहीं जा सकता। हिंदी क्षेत्र में स्वामी अछूतानंद, चंद्रिकाप्रसाद जिज्ञासु और ललई सिंह द्वारा शंबूक, *नाग यज्ञ और एकलव्य* पर लिखे गए नाटकों को पढ़कर ब्राह्मणवाद के ख़िलाफ़ बहुजन में जागरण हुआ था। जिनके प्रभाव से बिरहिया नसुड़ी यादव[25] *रामायण*, *महाभारत* से लेकर प्रभुत्वशाली स्थानीय मिथकों को भी तार्किकता से प्रस्तुत करते थे। बिरहा गायकी में वे इतने लोकप्रिय थे कि बिरहा गाने जहाँ भी पहुँचते, वहाँ मिथकों और कर्मकांडों का धुर्रा उखाड़ देते। बिरहा का सबसे रूढ़ और पोंगा पक्ष यह था कि इनके अखाड़े को छोड़कर तीनों अखाड़े भले ही भक्ति, सौंदर्य और वीरता की गायकी की अपनी विशेषताओं से चारों ओर चमक बिखेर रहे हों लेकिन उनका मूल चरित्र एक ही था। तीनों बनी-बनाई सांस्कृतिक मान्यताओं और धारणाओं को कोई चुनौती नहीं देते थे। लेकिन नसुड़ी तर्क से मिथकीय व्यक्तित्व का साधारणीकरण कर देते और लोक की निगाह में उनका मुलम्मा उतार देते। 'ब्रह्मा मुँह से बच्चा पैदा होने वाली कहानी को नसुड़ी अपने देसी अंदाज़ में पूछते थे – 'हम तो बच्चा पैदा होने का एक ही रास्ता जानते-सुनते हैं भिया। का इहाँ बैठे लोग किसी और रस्ते के बारे में जानते हैं क्या? जनता के बीच से शोर उठता– नाहीं! तब? नसुड़ी फिर उस बिरहिया से पूछते– तब तू कवन दूसर रस्ता देख लेहला कनचोदऊ। बताव। बताव जल्दी नाहीं त रम्मा लाल हौ!' इतने पर तो जनता नसुड़ी पर अपने को लुटा देती और बाजी ही पलट चुकी होती। 'रम्मा लाल हौ'! नसुड़ी का तक़ियाकलाम था। हालाँकि यह केवल एक मज़ाक़िया जुमला भर था लेकिन इसका अर्थ बहुत व्यापक और चिंतनीय है। लाल रम्मा यानी आग में तपाया गया सब्बल जिसको छूकर कोई भी अपने साहस और सफ़ाई का परिचय दे सकता है। जलता हुआ सब्बल किसी को जला देने के लिए है। यहाँ इसका अर्थ अग्निपरीक्षा है यानी नसुड़ी अपने मुक़ाबले में खड़े गायक से कहते हैं कि जो तुम बात कह रहे हो वह झूठ

---

[24] 21 अगस्त, 2020 को फ़ोन पर बातचीत.

[25] नसुड़ी यादव (सन 1948-2001), भोजपुरी पट्टी में भीमगीत के पहले गायक हैं. उन्हें सुनने के लिए इतने लोग आते थे कि बिरहा का मंच अररा जाता. बीच में जगह न मिलती और भीड़ चारों ओर फैलती जाती. मुक़ाबला जितने बड़े कलाकार से होता, उतना ही नसुड़ी का जलवा अधिक होता. कहा जाता है कि उनके गायन के समय अक्सर मार हो जाती थी क्योंकि अपने बिरहा के माध्यम से वे मनुवाद का बखिया उधेड़ते रहते थे. इसलिए अपनी सुरक्षा के लिए साथ में पिस्तौल भी रखते थे.



है। तर्क से उसे साबित करो अन्यथा अग्नि परीक्षा दो।'[26] नसुड़ी की भाँति परंपरागत मिथकीय गाथाओं की बहुजनवादी पाठ करने वालों में काशीनाथ यादव, पारसनाथ यादव, बेचन राजभर, राजकुमार यादव, कंचन काजल बौद्ध, सरोज त्यागी इत्यादि का नाम उल्लेखनीय है। इन गायकों की मज़बूत, तीखी और सुरीली आवाज़ जाति-विरोधी आंदोलन और उसके चुनौतीपूर्ण वर्तमान और अतीत को एक साथ रखती है। बिरहा या अन्य शैली के भीमगीत गायकों में कोई मुस्लिम या पसमांदा गायक नहीं हैं। यह हैरानी हो सकती है लेकिन किसी मुस्लिम गायक के लिए भीमगीत गाना आफ़त मोल लेने से कम नहीं होगा। उसकी भीमगीत गायकी सांप्रदायिकता की भेंट चढ़ जाएगी। फिर सवाल बहुजनवाद का न होकर हिंदू बनाम मुस्लिम हो जाएगा। परंतु भोजपुरी भीमगीतों में मुस्लिम समुदाय के प्रति भाईचारे की अभिव्यक्ति ज़बर्दस्त हुई है। इसका बेहतरीन उदाहरण है – नसुड़ी यादव का बिरहा 'ग़ाज़ी मियाँ और राजा बन्नार' की कहानी। यह मात्र हिंदू-मुस्लिम एकता की दास्तान भर नहीं, बल्कि गाज़ी मियाँ के वक़्त बनारस-बहराइच का इतिहास भी रचती है।

बहुजन चेतना एक प्रति सांस्कृतिक चेतना है और एक वैकल्पिक चेतना भी। इसलिए विद्रोही है। इस चेतना की जड़ में भारतीय हिंदू समाज की वह संरचना है जो न केवल जाति-आधारित है बल्कि इसे धार्मिक वैधता भी मिली है। भीमगीत गायकों को अतीत या वर्तमान में घटित घटनाओं को सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक संदर्भों में व्याख्यायित करने का विवेक अपने बहुजन नायकों से मिला है। इसलिए भीमगीत अतीत में हुए स्त्री उत्पीड़न को बड़ी बारीकी एवं पैनी दृष्टि से देखता है :

[26] विस्तार से जानने के लिए रामजी यादव का लेख देखिए- https://junputh.com/column/gaahe-bagaahe-nasudi-yadav.

दलित नारियन के हाल सुन एही देसवा में।
बाटे मनुवदियन से सवाल एही देसवा में।
सभा बीच द्रोपदी होत रही उघारी।
सुनि के पुकार दउरल अइले बनवारी।
साड़ी बनके कइले कमाल एही देसवा में।[27]

गायिका सरोज त्यागी का कहना है कि यह बात मनुवादी कहते हैं लेकिन डेढ़ सौ साल पूर्व केरल के त्रावणकोर में दलित स्त्रियों को स्तन ढँकने पर स्तन के बराबर वजन का टैक्स देना (मुलाकरम) देना पड़ता था।

सामने पड़े जो पुरुष अउर बड़की जाति।
दलित नारी खोल के देखावे आपन छाती।
तोपला प पापी खींचे खाल एही देसवा में।[28]

इस मुलाकरम प्रथा के ख़िलाफ़ नांगेली नामक दलित स्त्री ने टैक्स चुकाने के लिए अपने स्तन काटकर प्रतिरोध किया था। भीमगीत अपनी वर्तमानता को दर्ज करते हुए प्रतिरोध कर रहा है कि आज भी दलित स्त्री को सम्मान नसीब नहीं है। हाथरस हो या बलरामपुर या देश में कहीं और की घटना। हर जगह दलित-बहुजन स्त्री का बलात्कार होता है, रीढ़ की हड्डी तोड़ी जाती है, जीभ काट ली जाती है, मर भी गई तो घर वालों को दाह-संस्कार का हक़ भी नहीं मिला। और तो और, अब हत्यारों के समर्थन में पंचायत ही नहीं, जुलूस भी निकालने लगा है मनुवादी समाज।[29] अक्सर मनुवादी कुंठा में बाबा भीम की मूर्तियाँ तोड़ता है, उस कुंठा को भीमगीत चेतावनी देता है :

बाबा साहेब के मूर्ति के तुरबे जे जबरी,
कि हमार वादा बा कि नीला झंडा तोरा छाती प फहरी।
ढेर अब कइले अत्याचार मनुवादी
हरदम करेले काहे के जातिवादी, ...
पहिले से ज़्यादा अब जागल मोर समाज बा।[30]

इधर गायक बेशक मनुवादी वर्चस्व को चुनौती देते हुए अपने समाज को जागरूक बता रहा है परंतु उसका समाज आज भी दारू के नशे में सोया ही है। लोकगीतों में नशाखोरी[31] बहुत पहले से उठाया जाता रहा है। भिखारी ठाकुर का इस समस्या पर 'कलजुग प्रेम' (*पिया निसइल*) नाटक लोकप्रिय हुआ था। लोकगायक मुन्ना सिंह का 'मिलल बा शराबी सैया,

[27] https://youtube/Ls0LFnLO2hM.

[28] वही.

[29] https://youtu.be/s5n0z9FvGBU.

[30] https://youtu.be/z0qCeV5td0Q.

[31] बिहार में पिछले पाँच वर्षों से शराबबंदी ग्रामीण क्षेत्रों के लिए अपने शुरुआती दौर में वरदान साबित हुई थी.

नसवे में चूर हे अरे'[32] बहुत चर्चित था। भीमगीत के चर्चित गायक तारकेश्वर राव टंडन ने अभिनय करते हुए नशाखोरी पर व्यंग्य किया है। बहुजन पत्नी पति से शिकायत कर रही है –

बेंचि दिहले लोटा बरतनवा, सखी मोर पियक्कड़ सजनवा।
बेंचि दिहले सगरो गहनवा, सखी मोर सराबी सजनवा।

पत्नी समझाती भी है कि यह तो भीमजी की देन है कि उसका पति अच्छा कपड़ा पहनता है, अंग्रेज़ी दारू पीता है। वो आग्रह करती है कि पति भीमचर्चा में चले। वहाँ अच्छी-अच्छी बातें सीखने को मिलती हैं। 'सोचली इनिके लिया जाइ भीमचर्चा में, जाई के लुका गइले लाला के बगइचा में।/ डर लागे नास दीहें मिसनवा, सखी मोर सराबी सजनवा।' बेबस होकर बोलती है कि बाबा साहेब इतना समझा गए हैं, फिर भी इन्हें कुछ भी समझ नहीं आ रहा है। एक तो मनुवाद हमारा दुश्मन रहा है, ऊपर से पति की नशाखोरी परिवार को बर्बाद करने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ती है। पीना ठीक नहीं है। घर की मर्यादा चली जाती है, मान-सम्मान चला जाता है, घर लुट जाता है।[33]

वहीं दूसरी ओर बहुजन शिक्षित हो कर भारतीय संविधान के तहत आरक्षण से नौकरी पाता है, जिसे कामयाबी के रूप में बाबा भीम की इस देन को भीमगीत बखूबी स्वीकारता है – 'भीमजी के दिहल ह नौकरिया'।[34] लेकिन बहुजन समाज के कुछेक लोग संस्कृतीकरण के बहाव में आकर बाबा भीम के एहसान को सरेआम नहीं स्वीकारते :

जय भीम कहे में, काहे लाज लाग ता।
तनी कर सरम, तोहार फूटल करम, बाङ कवना भरम, बुझ बाबा के मरम।
तोहरा जेबवा में आज जवन पेन बा, उ हमरा भीम बाबा के देन बा।[35]

यह ऑटो ट्यून का ऑडियो गारी भीमगीत आत्मगौरव के बोध के साथ अतीत में हुए दलित उत्पीड़न की दृश्यावली भी प्रस्तुत करता है। झाड़ू कमर में बँधा होता था, दर-दर ठोकर खाते थे। मर-मरके गुलामी सहते थे, आँखों से अँसुवा झर-झर गिरता था, आज भीमजी की वजह से फ़ेसबुक चलाते हो, गोबर गणेश की पूजा करते हो, फिर भी महेश ख़ुश नहीं होते, हमेशा कलेस में ही रहते हो। अब तो अपना परिवेश बदलो। तुम्हारे तन पर जो कपड़ा है, इन सबके लिए बाबा भीम ने कितना पापड़ बेला था! हमारे पूर्वजों की यही कहानी थी, उन्हीं के लिखे भारतीय संविधान में हमें मान-सम्मान मिला है। नौकरी मिली है और आरो का पानी पीने को मिल रहा

[32] https://www.youtube.com/watch?v=5l4_rjypuuQ.

[33] https://www.youtube.com/watch?v=_F8p3XZa1gs.

[34] https://www.youtube.com/watch?v=3cLsKaQL22k&list=RD8GSQJ5lsRLY&index=5.

[35] https://www.youtube.com/watch?v=x0M9S9dCE6s&list=RDhYV4w2qD9a8&index=4.

है।'[36] बाबा भीम या फिर मंडल कमीशन के बदौलत दलित-ओबीसी श्रेणी में छोटी-बड़ी सरकारी नौकरी पाने वालों में अधिकांश ऐसे लोग हैं जो डॉ. आंबेडकर या मंडल कमीशन का नाम लेना ख़ुद को तौहीनी समझते हैं। उपर्युक्त गीत इसी हीनभावना से ग्रस्त बहुजन को लक्षित करता है।

परिवार में स्त्री सशक्तीकरण का विमर्श भोजपुरी भीमगीतों में मुखर नहीं है। मिशन गायिका मालती बौद्ध की टेलोफ़ोनिक वार्त्ता दलित स्त्री की स्थिति पर प्रकाश डालती है – 'मैं पिछले बारह सालों से भीमगीत गा रही हूँ। मेरे घर में सभी बाबा भीम की विचारधारा को मानते ही नहीं बल्कि समाज में जागृति लाने के लिए सक्रिय भी हैं। हम सभी पढ़े-लिखे हैं और नौकरीशुदा भी। मैं नर्स हूँ। हमने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया है। जब मैं ब्याह के आयी तो गीतों के माध्यम से बाबा भीम के विचारों को अपने लोगों तक पहुँचाने के लिए घर में प्रस्ताव रखा। मेरे ससुर ने, वेल एजूकेटेड होने के बावजूद, सार्वजनिक रूप से गाने की अनुमति नहीं दी। कहा कि गाना है तो घर में गाओ, बाहर जाने की क्या ज़रूरत। इसके लिए मुझे और मेरे पति को घर से निकाल दिया गया।'[37] जब जागरूक एवं मध्यवर्गीय बहुजन घर में स्वावलंबित स्त्री के प्रति यह व्यवहार है तो फिर आम बहुजन स्त्री के प्रति किए जाने वाले बर्ताव के बारे में समझा जा सकता है। अपनी रोज़मर्रा की ज़िंदगी में भीमगीत की स्त्री अपने पति पर ही आश्रित दिखती है, वह ख़ुद स्वावलंबित नहीं है, वह पति से ही पंचशील[38] साड़ी की माँग कर रही है। भले ही शादी से पूर्व युवक ऐसी ही आंबेडकरवादी जीवनसाथी की चाहत रखता हो और जो बौद्ध धर्म की रस्म से विवाह करना चाहता हो – 'लड़की चाहीं आंबेडकरवादी।'[39] ऑडियो भीमगीतों में पंचशील साड़ी की चर्चा मुख्यतः स्त्री के बारे में है, लेकिन दृश्यों में स्त्री-पुरुष दोनों पंचशील टाई को गले में पहने हुए दीखते हैं :

> सईंया पंचशील के साड़ी हमें मंगाई द, कि जय भीम लिखवाई द।
> धनिया का तू करबू हो कि हमके समझाई द नू हो।
> जाइम हम भीम चरचा करे, मत जा तू रह घरे।[40]

पंचशील चिह्न भीमगीतों में एक नैतिक मूल्य बनकर आता है। जिसका पालन सभी को करना चाहिए।

जैसे कोरोना महामारी ने संवेदनहीन भारतीय समाज को बेपर्द कर दिया है, भीमगीत गायकों के लिए यह महामारी संदेश के एक बहुत बड़े माध्यम के रूप में भी उभरी है मतलब

---

[36] वही.

[37] 5 सितंबर, 2020 को टेलीफ़ोनिक बातचीत.

[38] बौद्ध धर्म में पंचशील चिह्न पाँच ऐसे नैतिक वादों का एहसास दिलाता है कि आप — एक, अकारण किसी पर हिंसात्मक कार्रवाई नहीं करेंगे. दूसरे, बिना किसी को कुछ दिए नहीं लेंगे. तीसरे, नैतिक रूप से कोई अनैतिक कर्म नहीं करेंगे. चौथे, झूठ नहीं बोलेंगे और पाँचवें, ऐसी किसी वस्तु का सेवन नहीं करेंगे, जिससे मस्तिष्क में विकार पैदा हो.

[39] https://youtu.be/1CVTN7Sco6M बहुजन डीजे भीमगीतों में यह सबसे अधिक बजने वाला गीत है, जिस पर लड़के डांस करते हैं.

[40] https://www.youtube.com/watch?v=PjwNKrkzCcQ.

कहें कि भीमगीत ने भी 'आपदा में अवसर खोज'[41] लिया है! बिरहा भीमगीत गायक पूछ रहा है कि कोरोना के कहर में भारत के छप्पन हज़ार देवी-देवता कहाँ लुका (छुप) गए? मंदिर, मस्जिद से लेकर गुरुद्वारों में ताला लग चुका है। जहाँ खुला है, वहाँ के देवता को भी कोरोना बीमारी ने अपनी चपेट में ले लिया है। जो ख़ुद अपनी रक्षा नहीं कर सकते हैं, वो हम मनुष्यों की रक्षा कैसे कर पाएँगे।[42]

बेशक दलितों की तुलना में पिछड़ा समुदाय मनुवादी संस्कारों में ज़्यादा जकड़ा हुआ है। निम्नलिखित गीत में दलित-पिछड़ा में एका नहीं होने का दर्द छलक रहा है :

> ओबीसी त बतिया बुझत नईखे।
> नजरी से देखला सूझत नइखे।...
> रोजे जियते नीलाम होइहें।
> घरे में पंडा बोलाव ताटे,
> कर्मकांड करवा ताटे,
> देले गठरी में पइसा बाँधी के हो।
> इहे करे मज़बूत मनुवादी के हो।[43]

इस ऑटो ट्यून वीडियो गीत में खड़ी कार प्राइड के रूप में उभरती है और कार के आगे डांस करता जोड़ा कर्मकांडी संस्कार पर कटाक्ष करते हुए ओबीसी समुदाय को जागरूक करने के लिए एहसास कराता है कि घर में बिना पंडा बुलाये, बिना कर्मकांड के, बिना दान-दक्षिणा दिए भी हम ख़ुद को समृद्ध कर सकते हैं।

इस तरह भोजपुरी लोकवृत्त में भीमगीत न केवल बहुजन चेतना को जागरूक करने में बल्कि मनुवादी समाज को हर मोर्चे पर चुनौती देने में बहुआयामी है, जो उत्पीड़न की आह से लेकर विद्रोह के स्वर के ऐतिहासिक छवियों को दृश्यांकित करता है।

भीमजी अइले अब नेट पर // भीमगीतों की प्रस्तुति-शैली

कहना न होगा कि बहुजन प्रतिभा, कौशल और आंतरिक-बल आदिकला के विभिन्न स्वरूप, साहित्य, संगीत, कविता इत्यादि की उत्पत्ति शूद्रों एवं आदिवासियों के जन-जीवन से हुई है। अपने आविष्कारशील प्रतिभा और प्रदर्शन के उत्साह में बहुजन ने अपनी त्रासदियों को संगीत में पिरोया ही नहीं अपितु ख़ुद अस्पृश्य होने की यातनाओं को भी अपनी संस्कृति में संरक्षित किया है। भारत के लगभग सभी शास्त्रीय कलाओं का उद्भव बहुजन के जन-जीवन में दिखता है। बहुजन संस्कृति की नक़ल और संस्कृतिकरण के बहाने उसके ब्राह्मणीकरण की प्रक्रिया भी कम नहीं हुई है या यूँ कहें कि बहुजन कलाओं को वर्चस्ववादियों ने ख़ूब हथियाया है।

---

[41] प्रस्तुत नारा अपने प्रकृति में कितना अमानवीय है! ऐसा विचार पूंजीवादी तानाशाही तंत्र के भीतर से ही पैदा हो सकता है.

[42] https://youtu.be/Ml6Kr4teF4U.

[43] https://youtu.be/o19SS3Ru_Vc

जबकि बहुजन को विभिन्न कलाओं में भाग लेने और अभ्यास करने से रोका जाता रहा है। दो हज़ार साल पहले लोकवादी भरतमुनि को भी बहुजन के लिए वर्जित मनुवादी संस्कृति अमानवीय लगी थी। जिसमें बहुजन को पढ़ने का अधिकार नहीं था। इसी विचार से प्रेरित होकर उन्होंने *नाट्यशास्त्र* की रचना की। *नाट्यशास्त्र* के प्रथम अध्याय में ही उन्होंने लिखा कि 'वेद का व्यवहार एवं उसका श्रवण करना शूद्र जाति के लिए निषेध है। इसलिए पंचम वेद के रूप में ऐसे वेद का सृजन किया जा रहा है, जो सभी के लिए है' (नाट्यशास्त्र, 2023)। अर्थात भरतमुनि ने *नाट्यशास्त्र* के माध्यम से नृत्य और संगीत की ऐसी सरिता बहाई, जिसमें अवतरित होते ही व्यक्ति ऊँच-नीच, जाति-धर्म से मुक्त हो जाता है।'[44] यही वजह है कि आज भी कई उत्कृष्ट और प्रतिष्ठित कलाओं में बहुजन की भागीदारी नहीं है।

बावजूद इसके भोजपुरी लोक का बहुजन समाज परंपरागत रूप से पीढ़ी-दर-पीढ़ी जिन लोकविधाओं में गायन करता रहा है, उनकी सर्जना की पहचान अधिकांशतः जातीय एवं स्त्री समुदाय के गीतों में है अर्थात भोजपुरी गीत-संगीत की पहचान जातिवादी खाँचों से जाती रही है। मसलन, यादवों का लोरिकायन एवं बिरहा, धोबियों का धोबीगीत, कहारों का कहरवा एवं लाचारी, चमारों का चमरउ, तेलियों का कुँवर विजयी एवं शोभनायक बंजारा, नट एवं नोनिया का आल्हा, स्त्रियों का जँतसारी, कजरी इत्यादि तमाम संस्कारगीत सामाजिक सोपानों की निर्मिति की बदौलत हैं। लेकिन इन जातीय या अन्य लोकगीतों से भीमगीत इस मायने में भिन्न हैं कि जहाँ परंपरागत बहुजन लोकगीतों में वर्चस्ववादियों अर्थात ब्राह्मणवादी किसान संस्कृति प्रवाहित होती है, वहीं भीमगीतों में समानता, स्वतंत्रता एवं बंधुत्व जैसे मूल्यों की सांगीतिक धारा प्रवाहित होती है। भीमगीत बहुजन नायकों के जीवन से प्रेरित हैं और अपनी पहचान के लिए अभिजन संस्कृति का प्रति-सांस्कृतिक चेतना के साथ विकल्प के रूप में भी उभरता है। लेकिन यहाँ आभासी दुनिया में मौजूद भोजपुरी भीमगीतों की दृश्यात्मकता और उसका तकनीकी रिश्ता बताता है कि भोजपुरी भीमगीत को आभासी दुनिया से अलग करके मूल्यांकन नहीं किया जा सकता है। भीमगीत को यूट्यूब पर जो मंच मिला है, वह भारतीय संस्कृति में लोकतांत्रिक मूल्यों को बहाल करता है।

वस्तुतः भीमगीतों का मूल मक़सद बाबा साहब एवं बहुजन चिंतकों के विचारों को बहुजन तक पहुँचाना है, न कि शिल्प-सौंदर्य के लिए कलाकारी करना। बहुजन सौंदर्य को लेकर पहले चर्चा हो चुकी है कि भीमगीतों की सौंदर्य चेतना को उनकी प्रस्तुति के तेवर में देखना होगा। इसलिए यहाँ लोक की अभिजन-संस्कृति वाला आनंद का सौंदर्य नहीं मिलेगा। इसका अलग सौंदर्य-बोध है। बेशक लोक परंपरा में इनकी लंबी विरासत दिखती है। लेकिन पहले बहुजन अपनी लोक विधाओं में अभिजन का इतिहास गाता था, जबकि भीमगीतों में अब लोकविधा भी अपनी और चेतना भी अपनी। लेकिन चयनित लोकविधा के आधार में कोई बहुत बड़ा अंतर नहीं है अर्थात यादव बिरहा या लोरिकायन में ही भीमगीत गाता है जैसे धोबी अपने धोबीगीत में। उदाहरण के लिए नसुड़ी यादव के प्रसिद्ध बिरहों में 'मरखहवा

[44] चंद्रभान सिंह यादव (2020) : 17.

दूल्हा', 'नौ दिन की महाभारत', 'कृष्ण का पाप', 'बनारस में चुंगी', 'मकरध्वज की सच्चाई', 'भीष्म पितामह की शादी', 'बांग्लादेश की उत्पत्ति', 'बचऊबीर', 'चार गिलास चार बेवकूफ', 'गाजी मियाँ और राजा बन्नार', 'दालमंडी कांड' और 'ज्ञानवापी कांड' प्रमुख भीमगीत हैं। वहीं राजकुमार यादव के बिरहों में कोरोना की मार ग़रीब हुए लाचार, रामायण की खुली पोल, बिलखता लोकतंत्र इत्यादि प्रमुख भीमगीत हैं। परंतु भोजपुरी के इतर संस्कृति से आए विधा में भीमगीत की गायकी जातीय ढाँचे को ढहाती हुई दिखती है। इस बाबत मुख्य रूप से ऑटो ट्यून वाले डीजे गीतों को यूट्यूब पर देखा जा सकता है।

यूट्यूब पर प्रतिदिन सैकड़ों जो भोजपुरी भीमगीत अपलोड किए जा रहे हैं और जिन्हें कुछ ही दिनों में लाखों दर्शक मिल जाते हैं, उनकी निर्माण प्रक्रिया की कहानी काफ़ी रोचक है। आजमगढ़ के बिरहिया राजकुमार यादव बताते हैं – 'मेरे गीतकार हैं- रामपलट मास्टरजी। हालाँकि कभी-कभार हम दोनों लोग मिलकर भीमगीत लिखते हैं, विषय-वस्तु की प्रामाणिकता से लेकर विधा रूप से लेकर प्रस्तुति तक विचार करते हैं। फिर पहुँचते हैं – हरि ओम रिकॉर्डिंग सेंटर। मेरे गीतों की रिकॉर्डिंग के समय सेंटर के मालिक पर इतना असर हुआ कि रिकॉर्डिंग सेंटर के नाम-परिवर्तन से लेकर स्टूडियो की कायापलट तक के लिए हमारे सुझावों को माना जाने लगा। मेरे ही प्रयास से रिकॉर्डिंग सेंटर का नाम बहुजन म्यूज़िक मंच हो सका, जो यूट्यूब चैनल का भी नाम है। स्टूडियो के अंदर दीवारों पर टँगे हिंदू देवी-देवताओं के कैलेंडरों को हटवाया। वहाँ मेरा बहुत आदर है। रिकॉर्डिंग के लिए मुझे कोई भुगतान नहीं करना पड़ता है। लेकिन संगीत निर्माता को मानदेय देना पड़ता है। बहुजन म्यूज़िक मंच ने ही मेरा अपना यूट्यूब चैनल बना दिया – मूलनिवासी म्यूज़िक मंच नाम से।'[45] इस क्रम में गीतकार मनोज कुमार की वार्त्ता एक भिन्न पहलू को सामने लाती है – 'मेरे लिखे गीत नीलम बौद्ध गाती हैं। नीलम बौद्ध अभी दसवीं क्लास की छात्रा हैं। गीत रिकॉर्डिंग के लिए नीलम के साथ मैं भी कुशीनगर में रिकॉर्डिंग सेंटर जाता हूँ। ऑटो ट्यून रेडीमेड ट्रैक में एक गाने की रिकॉर्डिंग के लिए हमें पंद्रह सौ देने पड़ते हैं और नए ट्रैक में उसका दोगुना देना पड़ता है। यह दुःखद बात है कि कुशीनगर में एक भी रिकॉर्डिंग सेंटर किसी बहुजन का नहीं है। सौभाग्य से ले देकर एक सेंटर मुस्लिम का है, जिसका नाम बीएमजी रिकॉर्डिंग सेंटर है, जहाँ हम अपना गाना गवाकर रिकॉडिंग कराते हैं और फिर उसे अपने यूट्यूब चैनल एमकेजी कुशीनगर पर अपलोड कर देते हैं। हमारे चैनल को अभी दो ही साल हुए हैं।'[46] यहाँ ग़ौरतलब है कि संगीत रिकॉर्डिंग सेंटर आमतौर पर व्यावसायिक हैं अर्थात जो भुगतान करने में सक्षम है, वो अपने गीत-संगीत का ऑडियो-वीडियो तैयार करवा सकता है। बावजूद इसके सवर्णों के रिकॉर्डिंग सेंटर में भीमगीत गायन के लिए मौक़ा नहीं दिया जाता है। मतलब भारत का जातिवादी समाज अपनी व्यावसायिकता से भी समझौता कर जाता है। भोजपुरी भीमगीत के जिन गायकों के लोकप्रिय यूट्यूब चैनल हैं, उनमें किशोर कुमार 'पगला', रविराज बौद्ध, राजकुमार यादव, मालती बौद्ध, प्रो.

[45] 22 अगस्त, 2020 को टेलीफ़ोनिक बातचीत.

[46] 22 अगस्त, 2020 को टेलीफ़ोनिक बातचीत.

सरोज त्यागी इत्यादि प्रमुख हैं। इस तरह यह समझने के लिए एक अच्छा उदाहरण है कि तकनीक और इंटरनेट का उपयोग करके आंबेडकरवादी विचारधारा को कैसे प्रसारित किया जा सकता है। वहीं दूसरी ओर लोकप्रिय भीमगीतों के वीडियो को हज़ारों लोगों द्वारा साझा किया जा रहा है।[47] भीमगीत वीडियो के अंतर्गत दर्शकों की टिप्पणियाँ वास्तविक प्रतिक्रियाएँ हैं, जो ज़्यादातर भावनाओं से भरी हुई हैं। ये प्रतिक्रियाएँ भोजपुरी सवर्ण हिंदू समाज की हैं। भीमगीतों की मज़बूत, तीखी और सुरीली आवाज़ जाति-विरोधी आंदोलन और उसके चुनौतीपूर्ण वर्तमान के साथ अतीत को रखती हैं। जैसा कि इस लेख का पूरा विमर्श ही डिजिटल दुनिया में भीमगीत की मौजूदगी पर आधारित है। भोजपुरी भीमगीत की पहचान तकनीकी की वजह से है। बहुजन अब भीम जयंती या रविदास जयंती मोबाइल पर भी मनाने लगा है –

> इतने बा अरजी मानी मोर बात हो, दीक्षा भूमि लोग बाटे जात हो।
> फोर जी मोबाइल प सेटिंग कर सेट पर,
> बाबा भीम अप्रैल में अइहें अवसों नेट पर।
> टह टह लागल बाड़े लड़ी बाबा के, सर्च करके देखल जाइ जियो के डाटा से।
> बाटे अवेलेबल पिया सारा इंटरनेट पर, बाबा भीम अप्रैल में अइहें अवसों नेट पर।[48]

डीजे भीमगीत गायक गुलशन गौतम बताते हैं कि 'मेरे गाँव, मेरे समाज में मेरे जोड़ापारी के लड़के भीम जयंती हो, चाहे रविदास जयंती, शादी-विवाह हो चाहे घर में बच्चे का जन्मदिन, मेरा गाना मोबाइल को स्पीकर (ब्लूटूथ) से जोड़कर बजता है, उस पर डांस करते हैं।... दूसरे भीमगीत भी बजते हैं। यह गीत अपना है। लोग इमोशन से सुनते हैं, उस पर नाचते हैं।'[49]

डिजिटल दुनिया का भीमगीत हमें संगीत की भाषिक विशेषता और उसके प्रभाव की प्रकृति को समझने में मदद करता है, क्योंकि संगीत एक भाषा में बातचीत करता है, जो लोगों के साथ ध्वनि के भीतर विरासत में मिली है, जिसके परिणामस्वरूप लोगों को यह महसूस होता है कि वे समुदाय का हिस्सा हैं।

यूट्यूब पर मौजूद भीमगीतों की दृश्यात्मकता का अध्ययन कई आधारों पर किया जा सकता है – एक, भीमगीतों की प्रस्तुति में विधात्मक प्रयोग; दूसरे, रंग प्रतीकों का प्रयोग; तीसरे, यूट्यूब चैनलों की लोकप्रियता; पाँचवें, समकालीन लोकप्रिय गायकों की छवियों का इस्तेमाल; छठे, बहुजन रैलियों के विजुअल्स; सातवें, नृत्य प्रस्तुतियाँ इत्यादि।

भीमगीत भोजपुरी लोक परंपरा के बेहद अनुकूल ही नहीं, बल्कि लोक गीत या गाथाओं की प्रस्तुति शैली के पूरक भी हैं। नसुड़ी यादव, काशीनाथ यादव इत्यादि बिरहा-शैली के

---

[47] https://m.facebook.com/story.php?story_fbid=2225025254412295&id=1394175487497280 'बाबा भीम राव हो रहले, देस के महानवा'.

[48] https://youtu.be/g7rUfj5YvfM

[49] 23 अगस्त, 2020 को टेलीफ़ोनिक बातचीत.

भीमगीत गायकों ने भोजपुरी की नौटंकी से लेकर बिदेसिया शैली का प्रयोग के साथ लोकनाट्य रूपों में डोमकच, जोगिरा, नेटुआ नाच, हुड़का नाच, पखावज की धुनों, गीति-कथाओं में सोरठी-बृजभार, गोपीचंद, सतीविहुला, कौआ-हँकनी, कुँवर विजयीमल और आल्हा-ऊदल इत्यादि की संवेदना और प्रस्तुति गायन शैली तथा असंख्य संस्कार एवं लोकगीतों में सोहर, खिलौना, परिछावन, कोहवर, संझा-पराती, चुमावन, विदाई, पूरबी, झूमर, कवित्त, जँतसारी, निरगुन, सुमिरन, बिरहा, पचरा, खेमटा, लचारी, होरी, फाग, चैती, भजन, फ़िल्मी धुन, डीजे गीत, छठगीत, कजरी और बारहमासा आदि तथा उनकी धुनों का भीमगीतों की प्रस्तुती-शैली में भरपूर उपयोग किया जा रहा है।

ऑडियो-वीडियो भीमगीतों की प्रस्तुति में सिर्फ़ और सिर्फ़ नीले रंग[50] का साम्राज्य दिखता है। यह नीला रंग[51] कहीं शांति का संदेश दे रहा है, कहीं आक्रोश बनकर हुंकार भर रहा है अर्थात संघर्ष का प्रतीक है, कहीं यह आकाशधर्मा अनंतता को दर्शा रहा है, कहीं वह समानता का संदेश दे रहा है, और सबसे बड़ी बात यह है कि नीला रंग दलित-बहुजन अस्मिता के प्रतीक रूप में है। इसके साथ भीमगीतों में एक ओर महात्मा बुद्ध और बाबा भीम के माल्यार्पित तस्वीरों के समक्ष नृत्यात्मक गायन होता है तो दूसरी ओर महात्मा बुद्ध की जन्मस्थली से लेकर ज्ञानस्थली होते हुए निर्वाणस्थली तक के दृश्य दिखाए जाते हैं। ऑडियो रूप में प्रतिरोधी भीमगीतों में अमूमन नीला झंडा लिए मार्च करते हज़ारों-लाखों लोग होते हैं, जो 'जय भीम' के नारे से लेकर तमाम बहुजन नारे लगाए जाते हैं। संख्या बल की दृश्यात्मकता भीमगीत को दमदार बनाती है।

यूट्यूब पर भोजपुरी के लोकप्रिय गायकों से लेकर और टीवी पर कॉमेडी धारावाहिक 'भाभी जी घर पर हैं' की अंगूरी भाभी की छवियों के साथ भीमगीतों को अपलोड किया गया है और लोकप्रिय यूट्यूब के सब्सक्राइबर्स काफ़ी होने के कारण भीमगीतों को अपलोड करने पर दर्शकों की संख्या बढ़ जाती है।

दलित जाति से ताल्लुक़ रखने वाले भीमगीत गायकों की परंपरागत लोकधुनों में वैसी आक्रामकता नहीं है, जैसी आक्रामकता पिछड़ी जाति के भीमगायकों में। दलित भीमगायकों

---

[50] डॉ. आंबेडकर ने अपनी एक पार्टी बनाई थी, जिसका नाम था—*इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी*, अपनी इस पार्टी के झंडे का रंग नीला रखा था. कहा जाता है कि उन्होंने यह रंग महाराष्ट्र की सबसे बड़े दलित वर्ग महार के झंडे से लिया. विस्तार से देखें- बेनसॉन राजन और श्रेया वेंकटरमन का लेख, *फैब्रिक रेनडेरेड आइडेंटिटी : अ स्टडी ऑफ़ पा. रंजीत 'स अट्टाकठी, मद्रास ऐंड कबाली*, अर्थ जर्नल ऑफ़ सोशल साइंस, (2017), वॉल्यूम- 16, संख्या 3 : 17-37.

[51] ज्योतिष विज्ञान रंगों के प्रयोग पर भविष्यवाणी करके लोक समझ तैयार करता है. ज्योतिष में नीला रंग शनि और राहू से संबंधित है. इससे सम्मोहन और आकर्षण पैदा होता है. यह रंग ज़हर और मृत्यु का भी है. यह रंग नींद को गहराता है. नीले रंग के बारे में कुछेक बातें इस रूप में भी कही जाती हैं – एक, संपूर्ण जगत में नीले रंग की अधिकता है. धरती पर 75 प्रतिशत फैले जल के कारण नीले रंग का प्रकाश फैला हुआ है. इसलिए आसमान नीला दीखता है और चूँकि नीला रंग जल तत्व का प्रतिनिधित्व करता है. नीला रंग पानी की ही तरह चंचल, गतिमान और जीवनदायिनी शक्ति प्रदान करता है. दूसरे, कहते हैं कि नीले रंग से बैक्टीरिया और मच्छर दूर रहते हैं. भारत में कई घरों के बाहर नीले रंग की पुताई संभवत: इसीलिए की जाती होगी. तीसरे, नीला रंग अध्यात्म और भाग्य से संबंध रखता है. एशिया में यह पवित्रता का भी बोधक रहा है.

में पीड़ित स्वर ही मुखर है। लेकिन जो संगीत भोजपुरी के न होकर कहीं और से आयातित हैं, उनमें दलित भीमगीत गायकों में भी आक्रामकता आ गई है। बिरहा शैली के भीमगीतों में मनुवाद से लेकर तमाम सामाजिक कुरीतियों के प्रतिरोध में स्वर बेहद बुलन्द है और इस बिरहा गायकी में अधिकांशतः पिछड़ी जाति के लोग हैं।

भीमगीत गायकों में सबसे अधिक बिरहा गायकों ने कथा के माध्यम से अपनी प्रस्तुति दिया है। कथा की भूमिका के लिए गायक हिंदी भाषा का प्रयोग करता है, हिंदी सिनेमा से लिए गए फ़िल्मी धुन हिंदी में रखता है, तर्क-वितर्क की भाषा को हिंदी में रखता है लेकिन संवेदनशील पहलू के चुनौती को गायक भोजपुरी में ही अभिव्यक्त करता है।

कहना न होगा कि भोजपुरी बेल्ट में भीमचर्चा किशोरावस्था में पहुँचने वाला है। लेकिन इससे पहले इस बेल्ट में शिव चर्चा[52] काफ़ी लोकप्रिय हो चुका है। शिव चर्चा के दौरान घटित घटनाओं को समाचारपत्रों में अंध-विश्वास[53] फैलाने की ख़बर भी छपी। फिर भी लोग उस अंध-विश्वास के समंदर में पवित्र स्नान करते हैं। लेकिन भीमचर्चा[54] में सामाजिक स्तरीकरण से लेकर बहुजन इतिहास पुरुषों के जीवन एवं संघर्ष की गाथा पर चर्चा की जाती है। भीमचर्चा का नेतृत्व करने वाले आंबेडकरवादी बौद्धिक बहुजन धारा के नायकों के जीवन और लेखन के बारे में व्याख्यान देते हैं और तत्कालीन बहुजन की ज्वलंत समस्याओं पर प्रकाश डालते हैं। भीम चर्चा मुख्य रूप से अभी संत रविदास के जन्मोत्सव और आंबेडकर की जन्म तिथि एवं पुण्य तिथि के अवसर पर आयोजित होती है।

निष्कर्ष

भीमगीतों के अवलोकन से अफ़्रीक़ी साहित्यकार चिनुआ अचेबे का वो मशहूर कथन साकार हो रहा है, जिसमें उन्होंने कहा था कि जब तक हिरण अपना इतिहास ख़ुद नहीं लिखेंगे, तब तक हिरणों के इतिहास में शिकारियों की शौर्यगाथाएँ गाई जाती रहेंगी। आज लगभग संपूर्ण

[52] शिव, हिंदू धर्म के प्रमुख देवताओं में से एक हैं. वे शैव धर्म में प्रमुख हैं, शिव के शिष्यों ने दुनिया भर में शिव चर्चा के छोटे छोटे समूह बना रखे हैं. शिव चर्चा में तीन सूत्रों की बात की जाती है. पहला – दया माँगना अर्थात जब आप शिव को सच्चे मन से याद करेंगे तो शिव गुरु आपकी भावनाओं को देखकर आप पर दया करने पर विवश हो जाएँगे और हम ये भी जानते हैं कि हर कार्य शिव गुरु की दया से ही शुरू होता है. 'हे शिव! आप जन जन के गुरु हैं, मैं आपका भक्त हूँ और मैं आपके अधीन हूँ. हे प्रभु! अपने इस भक्त पर दया करें.' दूसरा – चर्चा करना अर्थात यह सबसे मुख्य सूत्र है, जब दो या दो से ज़्यादा मनुष्य शिव गुरु को याद करते हैं तो उसे शिव गुरु की चर्चा कहते हैं. इससे अपने गुरु का ध्यान करते हैं. तीसरा सूत्र- नमन करना अर्थात जब शिव को गुरु बना लिया तो नमन करना ही है. इसके दो तरीक़े हैं, पहला – माला विधि और दूसरा – अजपा-जाप. इन दोनों तरीक़ों में से किसी भी जाप से शिव गुरु को प्रणाम कर सकते हैं. 'नमः शिवाय' – यह मंत्र पढ़ने से, कुछ ही दिनों में शिष्य महसूस कर पाएगा कि उसके जीवन में कुछ अच्छे बदलाव आ रहे हैं. शिव गुरु उसके सारे दुःख और कष्ट दूर कर लेंगे.

[53] https://www.amarujala.com/uttar-pradesh/deoria/Deoria-49616-68

[54] https://www.youtube.com/watch?v=Hmb4Y8VMqdk&t=471s इस वीडियो में भीमचर्चा का नेतृत्व करने वाली डॉ. इंदु चौधरी (अपने हर भाषण में) कहती हैं – 'गुड मॉर्निंग बोलते हैं तो सुबह की पहचान होती है, गुड ईवनिंग बोलते हैं तो शाम की पहचान होती है, कुछ लोग राम राम कहते हैं तो शायद भगवान की पहचान होती है, कुछ वालेकुम सलाम कहते हैं तो उनको उनके भगवान/अल्लाह की पहचान होती है, पर हम कहते हैं 'जय भीम' बोलने से इंसान से इंसान की पहचान होती है'.

भारत में हिरण रूपी बहुजन उद्भव के भीमगीत गाए जा रहे हैं। जिनमें दलित अपने जातीय नामों का उल्लेख करते हुए समाज में एक सम्मानित स्थान पाने का प्रयास कर रहे हैं। यह प्रयास उस जातीय अपमान के लिए स्थापित मुहावरों को चुनौती दे रहा है। जो बहुजन पहले अपने लोक आख्यानों में अपने प्रभुत्वशाली समाज का इतिहास गाते आ रहा था, अब वह ख़ुद की दृष्टि से अपनी परंपरागत विधा में अपना इतिहास गाने लगा है। इस इतिहास की रचना उत्पीड़न, उपेक्षा एवं विकृतीकरण के बरअक्स हुई है।

बेशक आंबेडकरवाद को भोजपुरी लोकवृत्त में काफ़ी देर से लाया गया। अभी भी भोजपुरी बेल्ट भीमगीतों को एक समुदाय विशेष के गीत से ज़्यादा कुछ नहीं समझता है। यह बिडंबना ही है कि भीमगीतों में मौजूद भारतीय संवैधानिक मूल्यों – स्वतंत्रता, समानता एवं भाईचारे, को सुने बगैर ही प्रभुत्व वर्ग सीमित कर देता है।

पंजाबी के साथ गुजराती, मराठी, हरियाणवी, भोजपुरी भाषाओं में ऐसे अनेक भीमगीत लिखे जा रहे हैं, जिन्हें ऑडियो-वीडियो के रूप में रिकॉर्ड करके यूट्यूब पर पोस्ट किया जा रहा है। वहाँ इन्हें बख़ूबी देखा-सराहा जा रहा है और साथ ही भद्दी एवं जातिसूचक गाली के रूप में टिप्पणियाँ भी आ रही हैं। ये टिप्पणियाँ भोजपुरी समाज में दिन-प्रति-दिन के जीवन में हो रही गतिशीलता को समझने में मददगार हैं। डिजिटल दुनिया की यह हलचल बहुजन समाज के सशक्तीकरण को दर्शाती है। इस प्रक्रिया में आभासी संसार को अराजकता के बजाय लोक-तांत्रिकता के रूप में देखना ज़्यादा उचित होगा।

संदर्भ

बहुजन हिताय बहुजन सुखाय : https://hi.wikipedia.org/wiki/बहुजन_हिताय_बहुजन_सुखाय.

आंबेडकरवादी विरोध गीत और 'काउन्टर पब्लिक' का निमार्ण : https://hindi.newsclick.in/Ambedkarite-Protest-Music-Dalit-Panthers-Cultural-Protest

गाहे बगाहे : कहु धौं छूत कहां सों उपजी, तबहि छूत तुम मानी : https://junputh.com/column/gaahe-bagaahe-nasudi-yadav.

राग दरबारी : कमंडल और मंदिर के बीच दम तोड़ता सामाजिक न्याय : https://junputh.com/column/raag-darbari-on-decay-of-social-justice-politics-in-up-and-bihar/.

अंबेडकर जयंती के दिन सुनिए भोजपुरी में इस गीत को! इसे भाकपा माले के कैमूर ज़िले के साथियों ने रचा और गाया : https://m.facebook.com/story.php?story_fbid=2225025254412295&id=1394175487497280'.

इतिहासकार सुभाषचंद्र कुशवाहा की फ़ेसबुक पोस्ट : https://m.facebook.com/story.php?story_fbid=3534775746541397&id=100000270181351.

इतनी ख़ास क्यों है भीम गीत की ऐतिहासिक परंपरा? : https://www.aajtak.in/podcast/best-podcasts-in-hindi/audio/why-bheem-geet-historical-tradition-is-so-important-1052639-2020-04-14.

अमर उजाला : https://www.amarujala.com/uttar-pradesh/deoria/Deoria-49616-68.

भीमगीत गायक परमजीत सिंह पम्मा : https://www.newsplatform.in/big-news/dalit-pop-culture-political-assertion/

तारकेश्वर राव टंडन : https://www.youtube.com/watch?v=_F8p3XZa1gs.
भीम जी के दिहल ह नौकरिया : https://www.youtube.com/watch?v=3cLsKaQL22k&list=RD8GSQJ5lsRLY&index=5.
मारे मरदा के मेहरिया : https://www.youtube.com/watch?v=5l4_rjypuuQ.
जय भीम बोलने से इंसान को इंसान की पहचान होती है - श्रीमती इंदु चौधरी : https://www.youtube.com/watch?v=Hmb4Y8VMqdk&t=471s.
भीमगीत : https://www.youtube.com/watch?v=PjwNKrkzCcQ.
आ गया नीलम बौद्ध का शानदार शादी विवाह भीम गीत, काहे जय भीम बोले में लाज लगता : https://www.youtube.com/watch?v=x0M9S9dCE6s&list=RDhYV4w2qD9a8&index=4.
भीम गीत, भले अईला भीम बाबा : https://www.youtube.com/watch?v=XK_M_Ai9WhY&list=RDXK_M_Ai9WhY&start_radio=1.
लड़की चाही आंबेडकरवादी : https://youtu.be/1CVTN7Sco6M
योगेश पगारे की शॉर्टफिल्म 'मुलाकरम्' : https://youtu.be/Bg0h7XM_7zA.
बाबा अइहें नेट पर : https://youtu.be/g7rUfj5YvfM
आईडल बहुजन सॉन्ग 4 : https://youtu.be/kSK80pQZn9Y.
कहाँ देवी देवता लुकईले : https://youtu.be/Ml6Kr4teF4U.
भीमगीत : https://youtu.be/o19SS3Ru_Vc
बलात्कारियों को फाँसी दो : https://youtu.be/s5n0z9FvGBU.
राष्ट्रीय बहुजन गायक का जबरदस्त भीमगीत : https://youtu.be/wfDkkXaaJIM.
नीला झंडा तोहरा छाती पे फहरी : https://youtu.be/z0qCeV5td0Q.
भीमगीत : https://youtube/Ls0LFnLO2hM.
आर. चम्पकलक्ष्मी (1996), 'फ्रॉम डीवोसन ऐंड डिसेंट टू डोमिनांस : द भक्ति ऑफ़ द तमिल अल्वार्स एंड नयनार्स, ट्रेडिशन, डिसेंट ऐंड आइडियोलॉजी', *एसेज इन ऑनर ऑफ़ रोमिला थापर*, (सं.) आर. चम्पकलक्ष्मी और एस. गोपाल, ऑक्सफ़ोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली : 145, 153-163.
कांचा इलैया (2018), *बफैलो नैशनलिज़म*, सेज, दिल्ली.
चंद्रभान सिंह यादव (2020), *हिन्दी साहित्य में दलित चिंतन*, सामयिक प्रकाशन, दिल्ली.
नाट्यशास्त्र (2023) (सं.), राधावल्लभ त्रिपाठी, बानी प्रकाशन, भोपाल.
प्रमोद रंजन और आयवन कोस्का (सं.), (2017), *बहुजन साहित्य की प्रस्तावना*, द मार्जिनलाइज्ड पब्लिकेशन, दिल्ली.
बेनसॉन राजन और श्रेया वेंकटरमन (2017), 'फैब्रिक रेनडेरेड आइडेंटिटी : अ स्टडी ऑफ पा. रंजीत'स अट्टाकठी, मद्रास ऐंड कबाली', *अर्थ जर्नल ऑफ सोशल साइंस*, खंड 16, संख्या 3 : 17-37.
तैयब हुसैन पीड़ित (2014), 'भोजपुरी जिंदगी' *त्रैमासिक पत्रिका*, अगस्त : 12.
राहुल सांकृत्यायन (1943), *तीन नाटक*, किताब महल, इलाहाबाद.
शरण कुमार लिंबाले (2005), *दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र* (अनु.), रमणिका गुप्ता, वाणी प्रकाशन, दिल्ली.

स्वच्छता की सामाजिकी और रेलवे के स्वच्छकार

सुमित उज्जैनवाल

> पहले दिन जब मैं शौचालय और नाली साफ़ कर रही थी, मेरा पैर फिसल गया और पिंडली तक मल में डूब गई। मैं चीख़ उठी और भाग गई। उसके बाद मैं घर आई और रोती रही। मैं जानती थी कि मेरे लिए सिर्फ़ यही काम है।
>
> – सोना, भरतपुर शहर, राजस्थान

सामाजिक संबंध और स्वच्छता के बीच अंतर्संबंधों के अध्ययन में शामिल सबसे महत्त्वपूर्ण मुद्दा मल या मल-व्ययन का है। कई संक्रामक रोगों के प्रसार में मानवीय मल को प्रधान कारक समझा जाता है। भारत में मल को अशुद्ध समझा जाता है। पारंपरिक प्रथाएँ मल के वैज्ञानिक निपटारे के साथ सामंजस्य नहीं रख पाई हैं, जिसका परिणाम विचित्र प्रणालियों में हुआ है, ख़ास कर हमारे बाद किसी के सफ़ाई के लिए तैनात होने के रूप में।[1] इसी क्रम में दूसरी ओर नैमित्तिक कर्म के तौर पर मल से दूरी बनाए नहीं रखी जा सकती। यानि मल-व्ययन के कार्य हेतु किसी न किसी को तो रखना ही होगा। मल-व्ययन को लेकर विकृत मानसिकता और मान्यताओं को लेकर समाज विज्ञान में वाद-विवाद हमेशा होता रहा है।[2]

इस आलेख में स्वच्छता और समाजशास्त्र को भारतीय रेलवे के विशेष संदर्भ में देखने की कोशिश की गई है। रेलवे परिसर पर स्वच्छता प्रबंधन नीति के असर के साथ ही इस सवाल पर भी बात होगी कि मशीनीकरण पर आधारित स्वच्छता प्रबंधन का अस्थाई श्रमिकों की वर्किंग कंडीशन, वेतन और सामाजिक सुरक्षा पर क्या प्रभाव पड़ा? इस संदर्भ में पूरी चर्चा दिल्ली तथा जयपुर मंडल की केस स्टडीज़ के मद्देनज़र की गई है। इस पर भी चर्चा की गई है कि शुचिता का प्रश्न और जातिगत व्यवसाय, कैसे एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। हालाँकि रेलवे में 1990 के उपरांत लागू निजी स्वच्छता प्रबंधन के बाद से सवर्ण जाति के लोग भी

[1] गीता रामास्वामी (2005) : 14.

[2] श्रम व्यक्ति विशेष के प्रमुख उद्देश्य को पूरा करने की गतिविधि है। इसके माध्यम से व्यक्ति विशेष प्राकृतिक वस्तु को प्राप्त कर उस पर श्रम लगाकर अपनी बुनियादी आवश्यकताओं को पूरा करता है। किसी भी प्रकार की श्रम प्रकिया में व्यक्ति विशेष अपनी शारीरिक और मानसिक शक्ति लगाता है. श्रम करने का परिणाम प्रयोग में लाई जाने वाली वस्तु के रूप में उसे मिलता है। एक स्थिति (कंडीशन) का परिणाम है। इसका अध्ययन भिन्न-भिन्न वैज्ञानिक अध्ययनों में किया गया है. जहाँ एक तरफ़ प्राकृतिक विज्ञान (नेचुरल साइंस) के अंतर्गत श्रम का अध्ययन मनोवैज्ञानिक पहलुओं के मद्देनज़र रखते हुए किया जाता है। वहीं दूसरी तरफ़ सोशल साइंस में लेबर का अध्ययन श्रम की सामाजिक-आर्थिक अवधारणाओं के मद्दे नज़र किया जाता है.

साफ़-सफ़ाई के रोज़गार में आए हैं परंतु मैला साफ़ करने का काम आज भी दलित जातियों से ही करवाया जा रहा है।

रेलवे के इतिहास में निजीकरण या पी.पी.पी. (यानि पब्लिक प्राइवेट पार्टनरशिप) का प्रारंभ से ही विशेष महत्त्व है।[3] इस दृष्टि से यह शोध कार्य संगठित तथा असंगठित क्षेत्र के मज़दूरों यानि दोनों क्षेत्रों के विश्लेषण की दृष्टि से विशेषकर रेलवे सेवा नियम एवं श्रम संहिता 1994 में सरकारी मुलाज़िमों को विशेष सुरक्षा दिए जाने से संबंधित विषयों के तुलनात्मक अध्ययन और ग़ैर सरकारी झाड़ूकशों के लिए किए गए प्रयोगात्मक मॉडल के इर्द-गिर्द ही रहेगा।

शुचिता और जाति

फिलिप कल्लेट अपनी पुस्तक *सैनिटेशन लॉ ऐंड पॉलिसी इन इंडिया* में शोधपरक दस्तावेज़ों, तथ्यों के माध्यम से खुलासा करते हुए कहते हैं– भारत में शुचिता/स्वच्छता की अवधारणा को अर्थपूर्ण रूप में तभी समझ सकते हैं या अभिव्यक्त कर सकते हैं, जब उसमें स्वच्छता के सामाजिक, आर्थिक तथा श्रम संबंधित आयामों को मद्देनज़र रखा गया हो।

आत्मदर्शन के ज्ञान पर आधारित भारतीय विचार का बुनियादी आधार आध्यात्मिकता है, वहीं दूसरी ओर श्रम यानि स्वच्छकारों की दयनीय स्थिति सीवरों में होती मौत की ख़बरें, मैला साफ़ करने की प्रथा इत्यादि गंभीर विषय हैं। योग-सूत्रकार पतंजलि ने शुचिता के दो स्थूल और पाँच सूक्ष्म, कुल सात नतीजे बताए गए हैं। लेकिन इनमें कहीं भी सार्वजनिक स्थानों पर पड़े मल को ठिकाने लगाने की ज़िम्मेदारी तय नहीं की गई। परिणामस्वरूप मल को उठाने वाले को अशुद्ध और खुले में मल या गंदगी फ़ैलाने वालों को शुद्ध मान लिया गया।

जब-जब भारत में जानलेवा प्लेग, हैज़ा, कोविड-19 इत्यादि संक्रमण फैले, तब-तब इन्हीं स्वच्छकारों ने अपने प्राण संकट में डालकर हिंदुओं और अन्य देशवासियों की जान बचाई। इसके बावजूद दुर्भाग्यवश स्वच्छता सैनिकों से देश में घृणा की जाती रही। मुस्लिम समाज में भी इन जातियों के लोगों की हालत कोई बहुत बेहतर नहीं है। उनके साथ भी छुआछूत बरती जाती है। उनकी मस्जिद अलग होने तक का उल्लेख मिलता है।[4] सिख समाज के भीतर भी जातिवाद होता है। भारत में बसने वाले विभिन्न ईसाई समाज भी इससे अछूते नहीं हैं। कुछ

---

[3] पब्लिक-प्राइवेट पार्टनरशिप या सार्वजनिक साझेदारी एक ऐसी अवधारणा है जिसका महत्त्व राज्य के बदलते कार्यों के संदर्भ में और भी बढ़ जाता है. उपरोक्त अवधारणा के अंतर्गत राज्य का लोकसेवा सामाजिक सुधार एवं आर्थिक विकास के मोर्चे पर अपने कार्य का सफलतापूर्वक निष्पादन करना एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न बन गया है. इसका प्रचालन 1970 के दशक से ही शुरू होता है. विशेषकर अमेरिका एवं इंग्लैंड में आज विकसित और विकासशील दोनों प्रकार के राज्यों में लोक-नीति से संबंधित विभिन्न प्रकार की योजनाओं में साझेदारी का व्यावहारिक प्रयोग किया जा रहा है. सार्वजनिक के क्षेत्र में निजी साझेदारी एक नए समाजशास्त्र के तौर पर प्रकट होती है. इसका उद्देश्य निजी क्षेत्र को सामुदायिक कार्यों हेतु प्रबंधीय ज़िम्मेदारी सौंपते हुए सार्वजनिक को ज़्यादा उत्पादक बनाना है.

[4] शबनम बेग (2008) : 24.

जातियों के हज़ारों-लाखों लोगों को मैला उठाने में झोंकने की ज़िम्मेदारी हिंदू समाज की तो निश्चित ही है, परंतु इसकी जवाबदेही से कोई धर्म, कोई संप्रदाय अछूता नहीं रहा है।

स्वच्छता का विज्ञान, श्रम संबंध तथा औपनिवेशिक विमर्श

'स्वच्छता का ज्ञान' हमारी स्वास्थ्य सुरक्षा की ज़रूरत के सवाल से जुड़ा हुआ है। महामारियों, हैज़ा, प्लेग इत्यादि से बचने के लिए नागरिक समाज में दलितों के श्रम का इस्तेमाल किया जाता रहा है। यद्यपि इस स्वच्छता के ज्ञान की अवधारणा का विकास ब्रिटिश सरकार के आगमन के उपरांत ही हुआ। इसके बावजूद दूसरी तरफ़ सच्चाई यह भी है कि ब्रिटिश सरकार का ध्यान दरअसल इसके प्रबंधन पर ही था। यानि ऐसी कौन-सी व्यवस्था हम स्थापित करें जिसमें म्युनिसिपल कॉरपोरेशन उस पर उचित ख़र्च कर सके?

भारतीय संदर्भ में सामाजिक संरचना तथा रेलवे के विकास संबंधित सूचनाएँ हमें राष्ट्रीय अभिलेखागार से मिलती हैं। इनका बारीकी से अध्ययन करने वाले विद्वानों में निवेदिता मेनन, संजय पलशीकर, आदित्य निगम (*क्रिटिकल स्टडीज़ इन पॉलिटिक्स : 2014*) और विजय प्रसाद (*ए सोशल हिस्ट्री ऑफ़ ए दलित कम्यूनिटी : 2000*) शामिल है। भारत की राजधानी की शहरी संरचना निर्मित होने से पहले स्वच्छकार (भंगी) गली-कूचों या मोहल्लों में निजी कर्मचारी के रूप में कार्य करना प्रारंभ करते हैं।

वीना ऑल्डेनबर्ग का तर्क है कि 1857 के विद्रोह के उपरांत अंग्रेज़ी के हुकूमतकारों ने शहरी पुनर्संरचना की शुरुआत की।[5] निवेदिता मेनन का मानना है कि औपनिवेशिक काल में इस प्रकार के मेडिकल इंटरवेंशन, ख़ासकर हैज़ा जैसी महामारियों के इर्द-गिर्द अंग्रेज़ी सरकार द्वारा की गई गतिविधियाँ राजनीतिक तार्किकता का परिणाम थीं।[6] इस पूरी प्रकिया के संदर्भ में स्वच्छकार समाज के बुद्धिजीवी ओमप्रकाश वाल्मीकि, विलियम जॉन्स के लेख का ज़िक्र करते हुए कहते हैं कि यदि भारतीय समाज में क़ायम भेद-भाव, विषमता, जातीय वैमनस्य, अस्पृश्यता का समान रीति से अनुसरण किया जाए तो 'करोड़ों हिंदू प्रजा' का सुनिर्दिष्ट श्रम ब्रिटेन की श्रीवृद्धि में सहायक होगा। ठीक इसी तरह के विचार उषा राव ने भी व्यक्त किए हैं। अंग्रेज़ों के आगमन के पश्चात् सफ़ाई का काम संगठित पेशा बन गया। सैनिक छावनियों तथा नगरपालिकाओं की स्थापना के बाद भंगियों की आवश्यकता तेज़ी से महसूस की गई।[7]

यूरोप और अमेरिका आधुनिकीकरण की ओर तेज़ गति से बढ़ रहे थे। उस समय भारत एक पिछड़ा हुआ देश था। ब्रिटिश उपनिवेश की स्थापना से पहले भी भारत में उन तत्त्वों का अभाव था जो भारत को आधुनिकीकरण की दिशा में ले जाते। मसलन यहाँ जाति-प्रथा का

---

[5] वीना ऑल्डेनबर्ग : (1989).

[6] श्रीरमण तरगंगिन : (2014).

[7] एन. जे. उषा राव (1999) : 62.

कठोर ढाँचा मज़बूत था।[8] अब ऐसे में स्वच्छकार भंगी को अपनी स्थिति में सुधार कर सामाजिक सम्मान पाने का अवसर मिल जाए और उसके परंपरागत व्यवसाय में परिवर्तन हो जाए, इसका सवाल ही नहीं उठता था। इससे डी. एल. सेठ के इस विचार पर तर्क करना सही होगा कि 'औपनिवेशिक राज्य ने दो भूमिकाएँ अख़्तियार कीं – प्रथम उसने पारंपरिक श्रेणीक्रम में जातियों की विवादित स्थितियों को स्थापित किया और दूसरा, एक न्यायपूर्ण और आधुनिक शासक के रूप में उसने अपनी कमज़ोर और ग़रीब जनता के अधिकारों को चिह्नित करना चाहा। डी.एल. सेठ के प्रथम तर्क से मैं सहमत हूँ लेकिन दूसरे तर्क के संदर्भ में मुझे लगता है कि स्वच्छकारों के अधिकारों और न्याय के संदर्भ में ब्रिटिश सरकार कोई ख़ास मुक्तिपरक रास्ता खोज नहीं पाई।[9]

ब्रिटिश सेना को सुरक्षित बचाए रखने के लिए सैनिक छावनियों में साफ़-सफ़ाई रखना ज़रूरी था इसलिए वे भंगियों को अपने साथ रखते थे। अकील अहमद अपने लेख 'द मेकिंग ऑफ़ साइंस ऐंड टेक्नोलॉजी प्लान' में बताते हैं कि दरअसल ब्रिटिश शासनकाल में भारत में वैज्ञानिक और तकनीकी विकास के लिए नीति-निर्माण नहीं किया गया, वास्तव में उन्होंने अपने शासन काल में महामारियों से बचने हेतु जन्म-दर और मृत्यु-दर से संबंधित गणना और शोध-कार्यों का आयोजन किया (अक़ील अहमद, 1993)।

ब्रिटिश शासकों ने 'स्वच्छता पर आधारित ज्ञान' और जाति-आधारित व्यवस्था से लाभ उठाया और स्वच्छकारों को इस व्यवस्था में शामिल किया। इस प्रकार औपनिवेशिक अर्थतंत्र में दलितों को कुछ हद तक रोज़गार तो मिला, पर साथ ही छुआछूत की दीवार भी मज़बूत हुई। इसके कारण शुद्ध और अशुद्ध जातियों के बीच का विभाजन नए सिरे से रचा गया जिसमें उन्हें तरह-तरह से नुक़सान और लाभ हुआ (ओवेन एच. लिंच, 1969, नंदिनी गुप्ता, 2001)। कई अध्ययन हमारा ध्यान औपनिवेशिक दौर में दो परस्पर विरोधी प्रक्रियाओं की ओर आकर्षित करते हैं। एक ओर जातियों का नकार हुआ तो दूसरी ओर

[8] इस संदर्भ में रामशरण जोशी अपने लेख जाति, वर्ग, टेक्नोलॉजी, और आधुनिकता में स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि ग्रामीण भारत की कृषि-श्रम शक्ति और दस्तकारी के आधार लुहार, बढ़ई, मोची, मैला-ढोने वाला वाल्मीकि समाज रहा, लेकिन उत्पादन के साधनों पर उनका कभी नियंत्रण नहीं रहा.

[9] दलित वर्ग सम्मेलन नागपुर, 1930 में डॉ. आंबेडकर द्वारा दिया गया भाषण एम.पी गुंजार (सं.) डॉ. बाबा साहेब हाशने खंड-2, 1978 : 780-90 उन्नीसवीं शताब्दी के पहले चौथाई वर्षों में, जब ब्रिटिश शासन यथार्थ रूप ले चुका था. पाँच भीषण अकाल पड़े, जिसमें लाखों लोगों की जान गई थी। आगे के पच्चीस वर्षों में दो अकाल पड़े जिसमें चार सौ हज़ार लोगों की मृत्यु हो गई थी. आगे के पच्चीस वर्षों में 6 अकाल पड़े और मृतकों की संख्या 25 लाख हो गई. साफ़ शब्दों में कहें तो यह ब्रिटिश सरकार की नीतियों का परिणाम था. उनका उद्देश्य हमेशा देश में व्यापार तथा उद्योग को सीमित करना था. यह कोई ग़लती नहीं थी, बल्कि जानबूझकर ब्रिटिश यह चाहते थे कि भारत हमेशा ब्रिटिश सामान का ग्राहक बना रहे. यह ब्रिटिश राज्य की मान्य नीति थी. यह वही नीति थी जिस कारण भारत सदियों तक ग़रीब ही रहा। ग़रीबी के प्रसार के इस कार्यक्रम से प्रभावित कौन हुआ? इन प्रभावित लोगों में सबसे अधिक दलित थे. ...सज्जनों, आप ब्रिटिश नौकरशाही की प्रशस्ति मात्र इस बात के लिए जारी नहीं रख सकते क्योंकि उन्होंने सड़कों और नहरों को सुधार, रेल लाइन बनाई और स्थिर शासन दिया. क़ानून व्यवस्था को बनाए रखने के लिए भी उनकी प्रशंसा करने का पर्याप्त आधार है, लेकिन कोई भी आदमी, जिनमें दलित शामिल है ख़ाली क़ानून व्यवस्था के कारण ज़िंदा नहीं रह सकता.

ये जातियाँ शहरीकरण, कोर्ट-कचहरी तथा हिंदू धर्म के साथ जुड़कर और मज़बूत हुईं (निकोलस बी. डर्क्स, 1987)।

औपनिवेशिक काल में सफ़ाई कामगारों की स्थिति

विजय प्रसाद का शोध कार्य इस बात का खुलासा करता है कि शुरुआत में मोहल्ले स्तर की सफ़ाई का अस्तित्व दिल्ली शहर में था लेकिन राज्य ने म्युनिसिपल कॉरपोरेशन स्थापित किया। यही कॉरपोरेशन बाद में नव-औपनिवेशिक सरकार की मध्यवर्ती सत्ता के रूप में उभरे। दिल्ली तथा गुजरात के अन्य हिस्सों में कामगार समुदाय के लोगों की ड्यूटी राज्य में सफ़ाई व्यवस्था करने की मानी जाती है। समान रूप से इसी प्रकार शहरी सफ़ाई व्यवस्था का विस्तार राजस्थान की म्युनिसिपल /रेलवे व्यवस्था में भी हुआ होगा। इस सफ़ाई व्यवस्था की शुरुआत निजी घरों में साफ़-सफ़ाई के पेशे और बदले में सेवा देने वाले घरों से रोटी, कपड़े तथा ख़ुशी के अवसरों पर उपहार इत्यादि प्राप्त करने से हुई। इस अवस्था में कस्टमरी राइट्स दिल्ली में तथा वतनदारी सिस्टम गुजरात में लागू किया गया। इसको लेकर सफ़ाई कामगार तबका राज्य का विरोध करता है। विजय प्रसाद का कहना है कि बहुत से सफ़ाई कर्मचारी राज्य के नियंत्रण से पहले अपने अनुसार कार्य (रिलेटिव इंडिपेंडेंस) किया करते थे, लेकिन इसका मतलब यह क़तई नहीं है कि वे आत्मनिर्भर थे।[10] जैसा कि रॉबर्ट डेलिज का कहना है कि अधिकाधिक मामलों में अछूत, औपनिवेशिक काल में राज्य के अर्द्ध सेवक के रूप में देखे जाते थे।[11] यह जानना आवश्यक है कि आख़िर राज्य ने ऐसी कौन सी (आधुनिक ज्ञान पर आधारित) व्यवस्था अपनाई जिसने सफ़ाई कामगारों को आत्मनिर्भर बनाने के बजाय मैला ढोने की संरचना में फँसा दिया। आरंभिक दिनों में ईस्ट इंडिया कंपनी के पास विकसित नौकरशाही नहीं थी। अंग्रेज़ मुख्यतः अपने अधीनस्थ भारतीय कर्मचारियों से काम चलाते थे। इतिहासकार इस संदर्भ में कहते हैं कि 'औपनिवेशिक सरकार ने साफ़-सफ़ाई विभागों में विशेषकर एक ही जाति के लोगों को काम पर रखा।'[12] इसी जाति के लोग पंजाब में चूहड़ा जाति के नाम से जाने गए।

दिल्ली म्युनिसिपल कॉरपोरेशन तथा सफ़ाई कर्मचारी (1863-1912)

ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत में सन 1872 में म्युनिसिपल ऐक्ट लाया गया। इसके तहत शहरों, क़स्बों, छावनियों व महानगरों की सफ़ाई को प्रशासनिक अधिकार के रूप में लिया गया (रत्न रावण दर्शन, 2010)। इस दौरान प्रभावी प्रणालियाँ अपनाई गईं। प्रथम-शुष्क शौचालयों से मानव-मल को भरकर ठेला गाड़ियों के माध्यम से फेंकने ले जाया जाता था। दूसरा, सफ़ाई कामगारों द्वारा मल से भरी टोकरी को सिर पर ढोकर दूरस्थ इलाक़ों में फेंकना सफ़ाई व्यवस्था

[10] विजय प्रसाद (2000) : 1.

[11] रॉबर्ट डेलिज (1999) : 119.

[12] विजय प्रसाद (2000) : 25.

का हिस्सा था। इसमें झाड़ू लगाना, गलियों से मल साफ़ करना, कीचड़ साफ़ करना, शुष्क शौचालय की सफ़ाई शामिल थे।

इस पूर्व आधुनिक शहरी स्वच्छता संरचना के आने से पहले कूड़ा-करकट और मल-व्ययन हेतु ठेला गाड़ियों तथा झाड़ू जैसे तौर-तरीक़ों का प्रयोग होता था। मल-व्ययन या संग्रहण की ग़ैर-मशीनीकृत प्रणाली के कारण ही नालियों की कीमतों में भारी बढ़ोतरी हुई। इसके साथ-साथ मैला ढोने वालों के सस्ते श्रम शक्ति का इस्तेमाल किया गया। इस औपनिवेशिक काल में मैला-ढोने जैसी प्रथा के दो रूप थे। पहली-सार्वजनिक और दूसरी घर से बाहर और निजी घरों में मैला ढोने की प्रथा (विद्या रवीन्द्रनाथन, 2000)।

टी. आर. भास्करन की रपट एवं उनका अध्ययन बताता है कि भारत में स्वतंत्रता से पूर्व *ऑल इंडिया इंस्टीट्यूट ऑफ़ हाईजिन ऐंड पब्लिक हेल्थ* के जुड़ाव के परिणामस्वरूप बोर-होल लैट्रिन को विकसित किया गया। सर्वप्रथम बंगाल में इसका प्रयोग किया गया। बोर होल लैट्रिन/शौचालय का व्यास 40 सेमी होता था। ये बोर होल लैट्रिन पक्की ज़मीन पर बनाई जाती थी। इनकी गहराई 6-8 मी. होती थी। यह सत्य है कि इस प्रकार के प्रयासों में कुछ हद तक सफलता मिली। इसके साथ ही व्यवहार में बड़ी चुनौतियों का सामना भी करना पड़ा। इन चुनौतियों में विशेषकर बोर होल पाखानों को घरों के बाहर कैसे लगाया जाए; पहले से लगाए गए पाखानों को साफ़ कैसे किया जाए; इन पाख़ानों का मानव-मल से लबालब भरने पर भिनभिनाते मक्खियों के जत्थे से कैसे निज़ात पाई जाए आदि शामिल थीं। परिणामस्वरूप विस्तृत स्तर पर इसे स्वीकार नहीं किया गया। 1949-50 में पश्चिम बंगाल में गड्ढ़ा खोदकर बनाए गए पाख़ानों की गहराई 10 से 20 मी. रहती। इसके साथ-साथ इनके व्यास 3 मी. के रखे जाते थे। व्यावहारिक दृष्टि से इस प्रकार के पाखाने उन स्थानों पर निर्मित करना मुश्किल था जहाँ पर जल स्तर उच्च हो। अतएव इस प्रकार के प्रयोगात्मक उदाहरण भले ही सिविलाइज़ेशन या शहरीकरण और विकास के नव प्रतिमान के सबूत हो सकते थे, परंतु सफ़ाई कामगारों के मन में बनी मैला ढोने की चिंता का कोई समाधान न तो राज्य का आधुनिक तकनीकी ज्ञान निकाल पाया, और न ही शहरीकरण की प्रक्रिया इसका कोई हल निकाल सकी। स्वतंत्रता के उपरांत राज्य तथा केंद्रीय सरकारों ने इस समस्या से मुक्ति हेतु कार्य आरंभ किए। सरकार द्वारा केन्द्र और राज्य स्तर पर समितियों का निर्माण किया गया। इसमें से कुछ महत्त्वपूर्ण समितियाँ – सफ़ाई कामगारों की जीवन परिस्थिति जाँच समिति (बर्वे समिति) 1949, सफ़ाई कामगारों की परिस्थिति जाँच समिति (मलकानी समिति)1960, सफ़ाई के प्रथागत अधिकारों पर समिति (मलकानी समिति) 1966 थीं।

जहाँ तक मलकानी समिति का सवाल है, स्वच्छकारों के पारंपरिक अधिकारों के बारे में उसका कहना था : मल उठाना परिवार की ज़िंदगी का एक भाग है। शिक्षा की कमी और रोज़गार के अवसरों की ग़ैर-मौजूदगी के चलते एक तरह का नियतिवादी रुझान लोगों में व्याप्त रहता है। अब वर्तमान में एक नया विमर्श पैदा हुआ है जो एक जटिल सवाल के रूप में है। आख़िर कौन

असंगठित मज़दूर है? किन मज़दूरों को इस श्रेणी में रखा जाए? इस मान्यता के अनुसार कुछ अन-औपचारिक क्षेत्र है, इसका पता इस बात से चलता है कि उन क्षेत्रों पर राज्य के नियंत्रण या नियम क़ानूनों के सांस्थानिक ढाँचे की कितनी अनुपस्थिति है। इसके पीछे दरअसल दो धारणाएँ काम करती हैं– एक तो यह कि अन-औपचारिक क्षेत्र के श्रमिक स्वरोज़गार में लगे लोग होते हैं। दूसरी यह कि वे ग़ैर-क़ानूनी तौर पर काम करते हैं। नैशनल लेबर कमीशन की मानें तो देखा जा सकता है कि असंगठित क्षेत्र में श्रम के सवाल के घेरे में कॉन्ट्रैक्ट लेबर, कंस्ट्रक्शन लेबर, जबरन ठेका मज़दूर प्रथा और सफ़ाई कर्मचारी आते हैं (थॉमस पोग और लुईस कबोरा, 2013)। 1981 की जनगणना के अनुसार असंगठित क्षेत्र की मज़दूरी लगभग 90 प्रतिशत भारतीय मज़दूरों की कार्य-शक्ति को प्रदर्शित करती है, जिसकी सकल घरेलू उत्पाद में 66.5 प्रतिशत की भागीदारी है। इसके बावजूद आज तक असंगठित क्षेत्र में लगे 'लेबर' की कोई निश्चित परिभाषा नहीं है (अनुराधा बनर्जी, 2013)। पिछले कुछ दशकों में सामाजिक-आर्थिक क्षेत्र में परिवर्तन ख़ासकर प्राथमिक रूप से वैज्ञानिक तकनीकी क्षेत्र और अर्थव्यवस्था में बदलाव ने कामगारों के एक समहू को ख़ासा प्रभावित किया है। आम तौर पर इसकी व्याख्या निजीकरण की प्रक्रिया के संदर्भ में की जाती है और इसे 'इनफ़ॉर्मल'(अन-औपचारिक) क्षेत्रों में काम करने वाले संगठित और असंगठित श्रमिकों के रूप में देखा जाता है। निजीकरण के बढ़ते इस दौर में दलित श्रम का एक बड़ा हिस्सा कार्यरत है इसलिए निजीकरण से पनपे निजी क्षेत्रों और उनमें आरक्षण की माँग भी बुलंद हुई है।

प्रकाश लुईस के अनुसार 1948 के औद्योगिक अधिनियम के अनुसार 18 सेक्टर निजीकरण का रूप ले रहे थे। ये अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के रोज़गार का कारण बने थे (प्रकाश लुईस, 2004)। भूमंडलीकरण, उदारीकरण, निजीकरण ने भारत के दलितों को आर्थिक रूप से कमज़ोर किया है (विवेक कुमार, 2001)। उपरोक्त नीतियों के तहत दलितों के बचे-खुचे रोज़गार के अवसर भी जाते रहेंगे। विवेक कुमार का तर्क है कि इस दौर में सबसे पहले सरकारी नौकरियों में दलितों के आरक्षित पदों पर गाज गिरेगी क्योंकि इन नीतियों के तहत सरकार अपने कर्मचारी तंत्र का आकार कम करने के लिए कर्मचारियों के पदों में कटौती करेगी। भारतीय रेलवे में बढ़ता स्वच्छता का काम और ऊपर से प्राइवेट कंपनियों को ठेका देने के कारण कर्मचारियों के तंत्र का आकार छोटा यानि 15-20 कर्मचारियों तक का होता जा रहा है जिससे असंगठित मज़दूरी बढ़ी है।

अनुभव का सच

दिनांक 5 सितम्बर, 2020 को चीफ़ हेल्थ इंस्पेक्टर से अनुमति के उपरांत स्टेशन पर सर्वे करने हेतु आगे की कार्यवाही पूरी हो सकी। फ़ील्ड स्टडीज़ के दौरान यानि नई दिल्ली स्टेशन पर सर्वे रिसर्च के दौरान काम से थक कर बैठे बाबू (सफ़ाई कर्मचारी) से मेरी मुलाक़ात हुई। बाबू ने बताया– मैं बिहार के बाँका ज़िले का रहने वाला हूँ। मैंने पूछा कि, क्या कभी कार्यस्थल पर काम

के दौरान आप अपमानित किए गए? जवाब देते हुए बाबू बोले कि बहुत बार नई दिल्ली स्टेशन पर हज़ारों यात्रियों की आवाजाही की दौड़-भाग के दौरान जब-जब हम फुट ओवर ब्रिज की सफ़ाई करते हैं, तब-तब गाड़ी पकड़ने के लिए भागते यात्री हम से टकरा जाते हैं। ऐसे में उनके मुँह पर हमारे लिए, भंगी परे हट जा जैसे शब्द रटे-रटाए रहते हैं। दीपक (ज़िला सोनीपत) पिछले 4 वर्षों से नई दिल्ली रेलवे स्टेशन पर अस्थाई सफ़ाई कर्मचारी के रूप में कार्यरत हैं। जब दीपक बालगुहेर से पूछा गया कि क्या आप कार्यस्थल पर काम के दौरान अपमानित किए गए तो दीपक ने बताया कि बहुत बार हमें स्वच्छता प्रबंधन के दौरान सुपरवाइजर द्वारा अपमानित किया जाता है। जब-जब हम सीवरेज सफ़ाई के लिए आना-कानी करते हैं, तब-तब हमें सुपरवाइजर द्वारा नौकरी से निकाल देने की धमकी दी जाती है। इस अमानवीय कार्य के लिए न तो हमें उचित वेतन दिया जाता है और न ही सामाजिक सुरक्षा। प्रवीण वाल्मीकि (उत्तराखंड, ज़िला हरिद्वार) भी दीपक बालगुहेर की भांति नई दिल्ली रेलवे स्टेशन पर अस्थाई स्वच्छता श्रमिक है। प्रवीण वाल्मीकि ने अपमानित किए जाने से जुड़े अनुभव को साझा किया। उन्होंने बताया कि कार्यस्थल पर काम के दौरान अपमानित किए जाने जैसी घटना आम बात है। कार्यस्थल पर पोंछा लगाते समय जब मैंने यात्री को चिप्स का ख़ाली पैकेट कूड़ेदान में न फेंकने पर जुर्माना भरने को बोला तब उसके अंदर की जातिवादी मानसिकता बाहर आ गई। यात्री ने मुझे धमकाते हुए कहा– अरे अनपढ़ भंगी मुझे नियम मत सिखा।

लंच के समय मैंने सभी सफ़ाई कर्मचारियों के साथ इकट्ठा होकर लंच करने की गुजारिश की लेकिन अधिकांश सफ़ाई कर्मचारी हिचकिचाते हुए बोले – अरे भइया! आप हमारे साथ कैसे भोजन कर सकते हैं। यात्री तो हमें देखते ही नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं। मैं सुपरवाइजर के स्टोर रूम की तरफ़ जा पहुँचा जहाँ सभी अस्थाई स्वच्छता श्रमिक दोपहर का भोजन करते हैं। इस बीच बेंच पर खाने का सामान रखकर बैठी गीता बहोत दिखाई दीं। गीता बहोत मुझे देखते ही असहज सी महसूस करने लगीं परंतु आर. महावेश्वरण (जो नई दिल्ली स्टेशन पर सुपरवाइजर हैं) के साथ होने से बातचीत करने को तैयार हो गईं। गीता बहोत से मैंने पूछा क्या आप कार्यस्थल पर काम के दौरान अपमानित हुईं? इस बारे में कुछ बताइए? गीता बोली भइया! इस प्रकार से तो अपमान कई बार सहन करना पड़ता है। सिर्फ़ इतना ही नहीं, कई बार तो मर्दों की बुरी नज़र से भी अपना आँचल बचाना होता है परंतु कर भी क्या सकते हैं? मेहनत करके अपने बच्चों का पेट भरना है। इसी कारण अपमान और शोषण सहन करना पड़ता है। कार्यस्थल पर अपमानित किए जाने वाले प्रश्न के संबंध में कविता थापा ने दो टूक शब्दों में बताया – सर! अपमान से ज़्यादा मजबूरी है। ऐसे में कई बार शारीरिक शोषण और ज़ुबान से किए जाने वाले अपमान का कोई मोल नहीं रह जाता।

अस्थाई स्वच्छता श्रमिकों की दयनीय स्थिति के साथ-साथ काम के हालात से जुड़े तथ्य भी इन साक्षात्कारों के दौरान सामने आए। उत्तर-पश्चिमी रेलवे में शामिल बांधी कुई स्टेशन पर कार्यरत सोना ने साक्षात्कार में बताया – 'पहले दिन जब मैं शौचालय और नाली साफ़

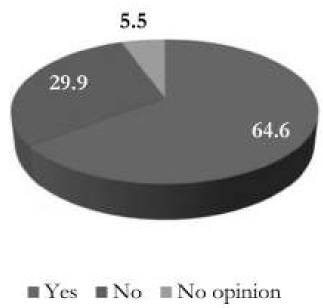
कर रही थी, मेरा पैर फ़िसल गया और मेरा पैर पिंडली तक मल में डूब गया। मैं चीखी और भाग गई। उसके बाद मैं घर आई और रोती रही। मैं जानती थी कि मेरे लिए सिर्फ़ यही काम करने को है'(सोना : भरतपुर शहर, राजस्थान)। अनित कुमार (अलीगढ़ निवासी, उत्तर प्रदेश) पिछले 5 वर्षों से साफ़-सफ़ाई, मल-व्ययन के साथ-साथ सीवरेज की सफ़ाई कर रहे हैं। कार्यस्थल पर अपमान के संबंध में बोलते हुए उन्होंने कहा कि हमारी तो न जाने कितनी पीढ़ियाँ मैला ढोने में गुज़र गईं। अपमानित होना तो आम बात है। उन्होंने बताया कि उनके पिता भी दिहाड़ी मज़दूर रहे। आज भी वे सफ़ाई के इस पेशे में लगे हुए हैं। जहाँ तक सवाल कार्यस्थल पर होते अपमान का है, अनित ने बताया कि जुलाई माह (2016) का समय था। सी.एच.आई. साहब और हम तमाम अस्थाई सफ़ाई कामगार उनके निर्देश पर रेलवे कॉलोनी में साफ़-सफ़ाई के लिए पहुँच गए। इस दौरान गर्मी और तापमान चरम पर था। अब प्यास लगने पर सी.एच. आई साहब ने कहा कि आप किसी भी स्टाफ के घर से पीने का पानी मंगवा लीजिए। साहब के कहने पर हम स्टाफ़ के घर से पीने का पानी लेने पहुँच गए। वहाँ जो भी हुआ उसके बाद जान पड़ा कि हम जातिगत संरचना का ऐसा हिस्सा हैं, जहाँ मात्र पानी की बोतल छू लेने मात्र से वह अन्य लोगों के लिए व्यर्थ हो जाती है। पानी पीने के उपरांत ख़ाली बोतल को जब मकान मालिक की कुंडी पीटकर वापिस लौटना चाहा तभी उन्होंने कहा – अरे ये बेकार हो गई है हमारे लिए। इस बोतल को अब तुम ही रख लो। इससे बड़ा अपमान शायद ही जीवन में मुझे झेलना पड़ा हो।

23 मार्च, 2019 को 28 वर्षीय नवीन कुमार (जो राजस्थान में अलवर शहर के निवासी हैं) के साथ किए गए इंटरव्यू के माध्यम से स्टेशन पर सफ़ाई कामगारों के साथ होते दुर्व्यवहार का पता चला। नवीन कुमार ने बताया कि हमें बार-बार यात्रियों और प्रबंधकों द्वारा कठोर व्यवहार सहते हुए अपमानित होना पड़ता है। सिर्फ़ इतना ही नहीं ट्रैक्स की सफ़ाई के दौरान अधिक श्रम करने के बाद भी सुपरवाइजर हमें आलसी कहकर बदनाम करता है। इस संबंध में अपना व्यक्तिगत अनुभव साझा करते हुए उन्होंने कहा कि जैसाकि आपने देखा ही है कि हमारा मुख्य लक्ष्य 'स्वच्छ रेलवे' के उद्देश्य को पूरा करना है। इसके चलते कई बार शोषण की प्रवृत्ति देखने को मिलती है। दो सप्ताह पहले रोज़ की तरह मैं तेज़ बारिश में रेलवे पटरियों पर बने जाम ड्रेन में नंगे हाथों को डालकर सफ़ाई कर ही रहा था तभी सुपरवाइजर ने ऊँची आवाज़ में आदेश जारी कर दिया कि 'अरे ओ नाजुक कली, तेज़ी से काम ख़त्म कर दे।' आगे के ड्रेस भी तुम्हें ही साफ़ करने हैं। तुम सब आलसी हो, तुम्हें तो नौकरी पर रखना ही नहीं चाहिए। इस प्रकार से दिन भर में न जाने कितनी बार हमें बेइज़्ज़त कर दिया जाता है।

अलवर रेलवे स्टेशन पर किए गए साक्षात्कार के दौरान नरेश, अलवर राजस्थान के निवासी (जो अस्थाई सफ़ाई कर्मचारी के रूप में स्टेशन पर कार्यरत हैं) ने बताया कि मैं इस जंक्शन पर पिछले 9 सालों से कार्य कर रहा हूँ। इस दौरान बहुत सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। उन्होंने काम के दौरान कार्यस्थल पर किए जा रहे दुर्व्यवहार को ऊँची श्रेणी का

बतलाया। नरेश ने व्यक्तिगत रूप से हुए अपमान से संबंधित तथ्यों को साझा किया। उन्होंने बताया कि मैं अलवर स्टेशन पर खड़े पानी के टैंक तथा निर्मित सीवरों की सफ़ाई करता हूँ। सीवरेज़ की सफ़ाई के दौरान आँखों में जलन के कारण कई बार बैठ जाता हूँ क्योंकि सीवर में जहरीली गैसें होती हैं। कहीं-कहीं सीवरों पर काफ़ी भारी ढक्कन ढके होते हैं। उन्हें उठाने में चोट तक लग जाती है। इन सीवरों के ढक्कन खोलने मात्र से ही काफ़ी थकान हो जाती है। इस कड़े परिश्रम के दौरान हाथों से मल-व्ययन, थूक, खँखार, गारा इत्यादि को हाथों से साफ़ करना पड़ता है। टैंक से जुड़े सीवरेज़ की सफ़ाई के दौरान पानी पीने के लिए आते लोग हमें अछूत मानकर घृणा करते हैं और नाक-मुँह सिकोड़ने लगते हैं। सुकेश (अस्थाई सफ़ाई कर्मचारी) ने बताया – शौचालयों के प्रयोग से पहले रेलवे प्रशासन की ओर से यात्रियों को सूचित करते हुए कहा गया कि जहाँ स्वच्छता होती है, वहाँ ईश्वर का वास होता है। बापू के इस सन्देश में यात्रियों की कोई ख़ास रुचि नहीं। शौचालयों के मानव मल से भरे होने के बाद भी यात्री इतनी अनदेखी करते हैं कि शौचालय का पुनः प्रयोग कर डालने से भी नहीं हिचकते। मल-मूत्र लबालब भर जाने के कारण शौचालयों से बाहर गिरता है। आप बताएँ कि कैसे बिना नागरिकों की भागीदारी के रेलवे स्वच्छ बन सकेगा। जैसा कि नीचे दिए हुए ग्राफ़ से समझा जा सकता है कि जाति और सफ़ाई का आपसी संबंध बहुत गहरा है। उत्तरदाताओं में ज़्यादातर ने बताया कि जाति और जाति से जुड़े पेशे के कारण उन्हें नीचे देखा जाता है।

क्या आपको लगता हैं क्योंकि आप भंगी/ सफाई कर्मचारी हैं इस लिए अन्य आपको नीचा देखते हैं।



दिल्ली तथा जयपुर मंडल की केस स्टडीज़ : मुख्य निष्कर्ष

फ़ील्ड स्टडीज़ से प्राप्त अनुभव ने सिखाया कि सरकारी तंत्र की मनमानी किसी तानाशाही व्यवहार से कम नहीं। प्रत्येक स्तर पर स्टेशन सर्वे रिसर्च हेतु अनुमति पत्र की प्राप्ति या सरकारी दस्तावेज़ों को देखना मेरे लिए बिल्कुल ऐसा ही था जैसे अस्थाई स्वच्छता श्रमिकों के लिए रोज़मर्रा की ज़िंदगी में वेतन प्राप्ति का संघर्ष।

फ़ील्ड स्टडीज़ के दौरान स्वच्छता प्रबंधन से जुड़े व्यक्तिगत पहलुओं को देखने के उपरांत कहा जा सकता है कि स्वच्छता एक सतत प्रक्रिया है। एक तरफ़ जहाँ स्टेशनों, प्लेटफ़ॉर्म तथा रेलगाड़ियों को उचित रूप से स्वच्छ स्थिति में रखने का यथासंभव प्रयास तेज़ गति पकड़े हुए है, वहीं दूसरी तरफ़ नियमित रूप से प्लेटफ़ॉर्म, फुट ओवरब्रिज की सफ़ाई, ट्रैक्स की सफ़ाई, एप्रेन की सुचारु व्यवस्था जैसी चुनौतियाँ बरक़रार हैं। कई जंक्शंस पर मैनपॉवर की कमी भी देखने को मिली जिसके चलते अस्थाई स्वच्छता श्रमिकों को कम वेतन पर अधिक कार्य करना पड़ रहा है।

भारतीय रेलवे में स्टेशनों और गाड़ियों की सफ़ाई में सुधार की दिशा में कार्य हेतु भारतीय रेलवे द्वारा की गई पहलक़दमियाँ इस प्रकार हैं – लगभग 950 स्टेशनों पर यंत्रीकृत सफ़ाई ठेकों की शुरुआत और लगभग 1,300 स्टेशनों पर कचरा उठाने और कचरा निपटाने हेतु ठेका प्रबंधन का आरम्भ किया गया है। वाटर जेट से धोने की सुविधा के लिए प्लेटफ़ॉर्म, ट्रैक्स पर कंक्रीट धोने योग्य एप्रेन की व्यवस्था करना, लगभग 700 स्टेशनों पर सफ़ाई गतिविधियों की निगरानी के लिए सी.सी.टी. वी. का उपयोग तेज़ कर दिया गया है। गाड़ियों के शौचालयों सहित सवारी डिब्बों की सफ़ाई दोनों छोरों पर की जाती है। यह यंत्रीकृत होती है।

लेकिन दूसरी तरफ़ स्वच्छता प्रबंधन के क्षेत्र में इस दौरान रेलवे स्टेशनों पर निर्मित ट्रैक्स के साथ में बनी नालियों की सफ़ाई सबसे बड़ी चुनौती है। परिणामस्वरूप रेलवे में आज भी बारिश के समय जाम नालियों को हाथों से खोलना पड़ता है। सामान्यरूप से प्लेटफ़ॉर्म पर छोटे बच्चों को मलत्याग करवाने पर अस्थाई सफ़ाई कर्मचारी इसे सुपड़ी की सहायता से साफ़ करते हैं। इन हालातों के बीच कानून के उल्लंघन की समस्या साफ़ नज़र आती है।

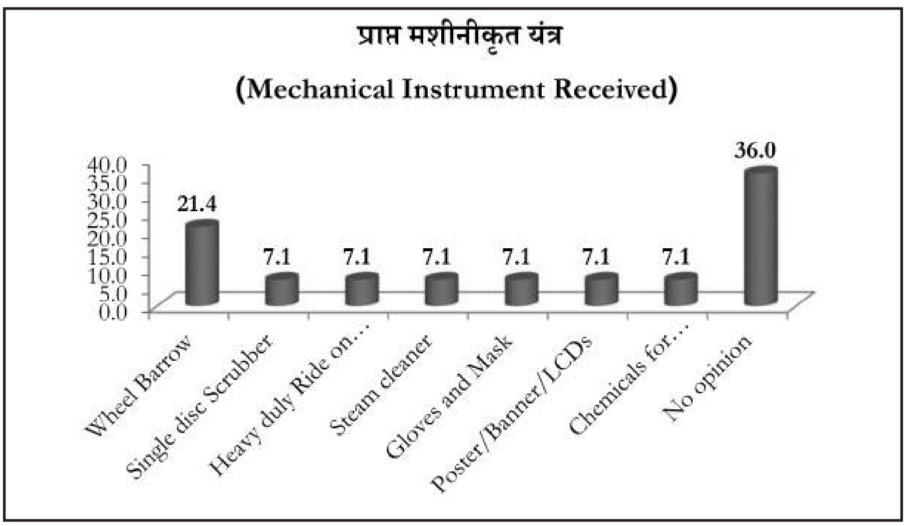
स्वच्छ भारत मिशन की क़वायद

स्वच्छता के लिए सबसे बड़ा अभियान स्वच्छ भारत मिशन है। ख़ासकर एक इकाई के रूप में सुचारु रूप से चलाए जाने के लिए इसके विभिन्न घटकों को मिलाकर अनुमानित लागत 62,009 करोड़ रुपये तय की गई। इसमें केंद्र सरकार का अंशदान 4623 करोड़ रुपयों का रहा। इसके अतिरिक्त एक राशि 48,274 करोड़ रुपये की भी है। इसमें राज्य सरकार का अंशदान 25 प्रतिशत वित्तपोषण तय किया गया है।

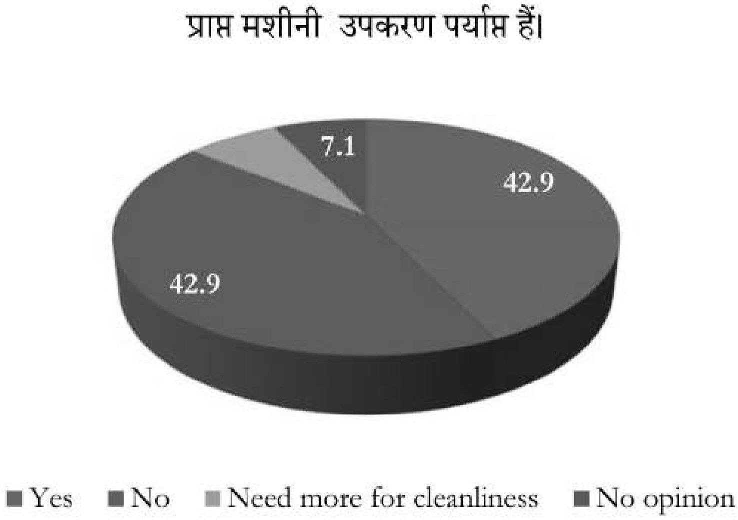
इस अभियान में कहीं भी शुष्क शौचालयों, खुली नालियों, रेलवे लाइनों से मैला उठाने वालों, सेप्टिक टैंक की सफ़ाई करने वालों का कोई ज़िक्र नहीं। इस अभियान के तहत जो शौचालय बन रहे हैं, वे भी परंपरागत हैं। इस अभियान के साथ मैनुअल स्कैवेंजिंग जैसी बड़ी समस्या को अनदेखा न करके बल्कि साथ जोड़कर विश्लेषण किया जाना चाहिए। परंपरागत शौचालयों के स्थान पर जैव शौचालयों के निर्माण पर अधिकाधिक बल दिया जाना चाहिए, ताकि अपशिष्ट पदार्थों के निपटान हेतु पुनः स्कैवेंजर्स की ज़रूरत न पड़े और स्वच्छता की ओर क़दम बढ़ाते हुए स्वच्छता के सच्चे सिपाहियों की ज़िंदगी बेहतर बन सके। सिर्फ़ इतना

ही नहीं आज भारत में सतत (टिकाऊ) स्वच्छता व्यवस्था के विकास की आवश्यकता है। सतत स्वच्छता व्यवस्था के विकास से अभिप्राय है जो सामाजिक-आर्थिक रूप से स्वीकार्य हो तथा जातीय रूप से भी इस व्यवस्था को स्वीकार किया जा सकता हो। उत्तर तथा उत्तर-पश्चिमी रेलवे मंडल की केस स्टडीज़ के दौरान स्टेशनों पर कार्यरत चीफ़ हेल्थ इंस्पेक्टरों तथा स्वच्छता श्रमिकों से साक्षात्कार के उपरांत स्वच्छ भारत अभियान एवं स्वच्छता नीति का ज़मीनी स्तर पर कितना और क्या प्रभाव पड़ा, इस संबंध में कुछ अनूठे तथ्य सामने आए। फ़ील्ड पर जाने से पहले निर्मित प्रश्नावली की शृंखला में कुछेक सवाल स्वच्छता – नीति से भी जुड़े थे जिनके भिन्न-भिन्न उत्तर भी उत्तरदाताओं की तरफ़ से मिल सके। स्वच्छ भारत अभियान के उपरांत किस प्रकार के मशीनीकृत यंत्र दिए गए, जैसे सवालों का भी जवाब मिला।

स्वच्छता श्रमिकों व चीफ़ हेल्थ इंस्पेक्टरों द्वारा दी गई जानकारियाँ नीचे की सारणियों में दी गई हैं। सारणी में सभी प्राप्त यंत्रीकृत उपकरणों का प्रतिशत दर्शाया गया है। सारणी की प्रथम कॉलम में प्राप्त रेडियों की कुल संख्या का 21.4 प्रतिशत हिस्सा स्वच्छ भारत अभियान के बाद यंत्रीकृत स्वच्छता प्रबंधन ये जुड़ता दिखाई दे रहा है। इस प्रकार से सिग्नल डिस्क स्क्रबर का 7.1 प्रतिशत हिस्सा यंत्रीकृत स्वच्छता प्रबंधन का हिस्सा दिखाता है।



हैवी ड्यूटी राइट ऑन स्वीपर मशीन का कुल 7.1 प्रतिशत हिस्सा मशीनीकृत सफ़ाई प्रबंधन का हिस्सा है। सामान्य रूप से कुल स्वच्छता मशीनीकृत व्यवस्था में स्टीम क्लीनर का 7.1 प्रतिशत, गल्वस और मॉस्क का 7.1 प्रतिशत, पोस्टर, बैनर, एल.सी.डी. का 7.1 प्रतिशत, साफ़-सफ़ाई के केमिकल रसायन का 7.1 प्रतिशत हिस्सा है। इस सारणी में किसी भी प्रकार की प्रतिक्रिया न देने वालों में कुल 36.0 प्रतिशत लोग शामिल हैं।



इस प्रकार से प्रश्नावली में शामिल अन्य प्रश्नों की सहायता से स्वच्छ भारत अभियान के दौरान मशीनों के आवंटन की जानकारी और तथ्य हासिल हुए, जब चीफ़ हेल्थ इंस्पेक्टरों के साथ साक्षात्कार किया गया। प्रस्तुत सारणी के माध्यम से समझ सकते हैं कि स्वच्छ भारत अभियान के उपरांत कितने प्रतिशत चीफ़ हेल्थ इंस्पेक्टरों को लगता है कि मशीनीकृत यंत्र पर्याप्त मात्रा में हैं। सारणी में उत्तरदाताओं के जवाब को कुल प्रतिशत में प्रस्तुत किया गया है।

सारणी के अनुसार मशीनीकृत सफ़ाई यंत्र पर्याप्त हैं। इस प्रश्न के उत्तर में 42 प्रतिशत मानते हैं – हाँ, दिए गए मशीनीकृत यंत्र पर्याप्त हैं। जहाँ पर्याप्त नहीं है, वहाँ का प्रतिशत 42.9 है। 7.1 प्रतिशत चीफ़ हेल्थ इंस्पेक्टों का मानना है कि अभी मशीनीकृत यंत्रों की ज़्यादा ज़रूरत है ताकि रेलवे स्टेशन पर सफ़ाई व्यवस्था को दुरुस्त किया जा सके। इसके अलावा 7.1 प्रतिशत ऐसे चीफ़ हेल्थ इंस्पेक्टर हैं जिन्होंने कोई प्रतिक्रिया नहीं दी।

प्रश्नावली में शामिल स्वच्छता नीति-नियोजन से जुड़े प्रश्न की सहायता से या स्टेशनों पर

क्या स्वच्छ भारत अभियान के उपरांत डस्टबिन्स पर्याप्त हैं?

विकल्प	**(%)**
100 तक	50.0
100-200	28.6
200-400	21.4

कूड़ेदान के प्रर्याप्त होने संबंधित जानकारी के कई आँकड़े हुए। 50 प्रतिशत उत्तरदाताओं का मानना है कि स्टेशनों पर 100 तक कूड़ेदान पर्याप्त हैं। वहीं टेबल का दूसरे कॉलम के अनुसार 28 प्रतिशत उत्तरदाताओं का मानना है कि स्टेशन पर कूड़ेदानों की पर्याप्तता 100-200 तक है। इसके अलावा तृतीय कॉलम के अनुसार 21.4 प्रतिशत उत्तरदाताओं का मानना है कि 200-400 संख्या तक कूड़ेदान स्टेशन पर पर्याप्त हैं।

निष्कर्ष

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि शुचिता का विचार सीधा-सरल नहीं है। इसे सफ़ाई कर्मचारी की नज़र से समझना होगा जिसे अपने हाथों से दूसरों के मलत्याग को साफ़ करना पड़ता है। सवाल ये भी सोचने लायक़ है कि इतने सरकारी प्रयासों के बाद भी भारत आज तक मैला प्रथा से मुक्त क्यों नहीं हो पाया है? सरकारों द्वारा जब भी मैला साफ़ करने वालों से संबंधित आँकड़े सर्वे के माध्यम से प्राप्त किए जाते हैं, तब-तब उन आँकड़ों को कम दिखाकर सरकारों द्वारा ज़िम्मेदारी से पल्ला झाड़ लेने की क़वायद नज़र आती है। उत्तर प्रदेश का नाम इस संबंध में सबसे ऊपर है। जब स्वतंत्र रूप से मैला साफ़ करने वालों के संबंध में आँकड़े एकत्रित किए जाते हैं, तब उनमें इनकी संख्या अधिकाधिक में नज़र आती है।

इस प्रकार से स्वच्छता प्रबंधन व्यवस्था पर लगे इस बदनुमा दाग़ को बनाए रखते हुए



शीर्ष 10 राज्यों में मैला ढोने वालों की संख्या

राज्य	सर्वे के लिए चुने गये जिलों की संख्या	मैनुअल स्कैवेंजर्स के लिए रजिस्ट्रेशन कराने वालों की संख्या	राज्य सरकार द्वारा चिन्हित मैनुअल स्कैवेंजर्स
उत्तर प्रदेश	47	41068	19712
मध्य प्रदेश	14	8572	562
उत्तराखंड	4	7440	6033
राजस्थान	20	7381	2590
महाराष्ट्र	14	7378	7378
बिहार	16	4757	0
आंध्र प्रदेश	5	2024	1982
कर्नाटक	6	1803	1754
तमिलनाडु	6	1433	62
पश्चिम बंगाल	6	1329	637

स्रोत: नेशनल सफाई कर्मचारी फाइनेंस एंड डेवलपमेंट कॉरपोरेशन (एनएसकेएफडीसी) के सर्वे अगस्त 2019 पर आधारित आंकड़े

सरकारें सुधार की गुंजाइश को समाप्त कर देना चाहती हैं। अतएव हमें समझ लेना होगा कि न्याय की राजनीति करने वालों ने भी अभी तक अति दलित जातियों की सुध नहीं ली। वैज्ञानिक दृष्टि से शौचालयों की रचना, सफ़ाई का समय और उसकी पद्धति आदि के बारे में वस्तुनिष्ठ और वैज्ञानिक तरीक़ा अपनाने की ज़रूरत अभी भी बनी हुई है।

संदर्भ

अक़ील अहमद (1993), 'द मेकिंग ऑफ़ साइंस ऐंड टेक्नोलॉजी : हिस्टोरिकल पर्सपेक्टिव', (सं.), आर. एस. गणपति और स्मेनुअल पंत, *पब्लिक पॉलिसी इन इंडिया*, सेज पब्लिकेशंस, नई दिल्ली.

अनुराधा बनर्जी (2013), 'डिस्क्रिमिनेशन ऑफ़ दलित ऐंड मुस्लिम इन अर्बन हाउसिंग मार्किट : ए स्टडी बेस्ड ऑन नेशन कैपिटल रीजन', *वर्किंग पेपर सीरीज*, खंड vii, नम्बर-2, इंडियन इंस्टिट्यूट ऑफ़ दलित स्टडीज़.

अब्दुल माज़िद (2000), *लीगल प्रोटेक्शन टू अन-ऑर्गेनाइज़ लेबर*, दीप पब्लिकेशन्स प्राइवेट लिमिटेड.

इशिता बनर्जी दुबे (2010) (सं.), *कास्ट इन हिस्ट्री*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस.

उषा एन. जे. राव (1999), *डिप्रेस्ड कास्ट इन इंडिया*, युग पब्लिकेशन, इलाहाबाद.

एफ. जी. बेली (1957), *कास्ट ऐंड इकनॉमिक फ्रंटियर*, मैनचेस्टर युनिवर्सिटी प्रेस, मैनचेस्टर.

एस. महाजन बख़्तावर (2000), *माइक्रोब्स ऐंड डिज़ीज़*, होमी भाभा कल्चर फ़ॉर साइंस एजुकेशन, टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ़ फंडामेंटल रिसर्च, बॉम्बे.

ओमप्रकाश वाल्मीकि (1999), *जूठन*, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली.

ओमप्रकाश वाल्मीकि (2008), *सफ़ाई देवता : वाल्मीकि – समाज की ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, सामाजिक पृष्ठभूमि*, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली.

ओवेन एच. लिंच (1969), द *पॉलिटिक्स ऑफ़ अनटचेबिलिटी : सोशल मोबिलिटी ऐंड सोशल चेंज इन ए सिटी ऑफ़ इंडिया*, कोम्लबिया युनिवर्सिटी प्रेस, न्यू यॉर्क

के. एस. चलम (2017), *आर्थिक सुधार और सामाजिक अपवर्जन : भारत में उपेक्षित समूहों पर उदारीकरण का प्रभाव*, सेज पब्लिकेशन.

के. बी. वर्मा (2015), *इंडियन रेलवे स्ट्रेटेजी फ़ॉर रिफ़ॉर्म*, फ़ाउंडेशन बुक, नई दिल्ली.

गीता रामास्वामी (2005), *इंडियन स्टिंकिंग मैन्युअल स्कैवेंजर्स इन आंध्र प्रदेश ऐंड देयर वर्क्स*, नवयाना प्रकाशन चेन्नई.

तरंगिनी श्रीरमण (2014), 'असॉल्ट ऐंड अस्सुऐज, रैशनलिटीज़ ऐंड एपिडेमिक कंट्रोल इन ब्रिटिश इंडिया', एन. मेनन (सं.), *क्रिटिकल स्टडीज़ इन पॉलिटिक्स एक्सप्लेन साइट्स पावर*, ओरिएंटल ब्लैक स्वान.

नंदिनी गुप्तू (2001), द *पॉलिटिक्स ऑफ़ दि अर्बन पुअर इन अर्ली ट्वेन्टिएथ सेंचुरी इंडिया*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

निकोलस बी. डर्क्स (1987), द हॉलो क्राउन : एथनो हिस्ट्री ऑफ़ दि इंडियन किंगडम, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

पॉल सव्चेंको (1987), *व्हाट इज लेबर*, प्रोग्रेस पब्लिशर, सोवियत यूनियन.

पोलिन कोलंडा (1964), 'रिलीजियस एंग्जायटी ऐंड हिंदू फ़ेथ', ई. बी. हार्पर (सं.), *रिलिजन इन साउथ एशिया*, युनिवर्सिटी ऑफ़ कोलंबिया प्रेस, कोलंबिया.

प्रकाश चन्द्र जैन दोषी (1996), *समाजशास्त्रीय अध्ययन*, रावत पब्लिकेशन, नई दिल्ली.

प्रकाश लुइस (2004), 'अफ़रमेटिव ऐक्शन इन प्राइवेट सेक्टर', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, अगस्त 14,

2004.
प्रभु महापात्र (2004), 'श्रम और पूँजी संबंधों में राज्य का हस्तक्षेप', रमेश उपाध्याय (सं.) *श्रम का भूमंडलीकरण*, शब्द-संधान प्रकाशन.
बर्ट्रेंडल रसेल, https://underconsumed.medium.com/authority-and-the-individual-bertrand-russell-2a0bd8d4246a .
भाषा सिंह (2012), *अदृश्य भारत : मैला ढोने के बजबजाते यथार्थ से मुठभेड़*, पेंगुइन इंडिया, दिल्ली.
महेंद्रनाथ चतुर्वेदी और संजीव मल्होत्रा (1994), *रेलवे सेवा नियम एवं श्रम संहिता*, बिहारी ब्रदर्स.
रामविलास शर्मा (1982), *भारत में अंग्रेज़ी राज और मार्क्सवाद*, खंड (1), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली.
रामशरण जोशी (2013), 'जाति, वर्ग, टेक्नोलॉजी और आधुनिकता', डॉ. रणजीत (सं.), *जाति का जंजाल*, मानवीय समाज प्रकाशन, लोक भारती पुस्तक विक्रेता तथा वितरक, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद.
रामा शर्मा (1995), *भंगी स्कैवेंजर इन इंडियन सोसाइटी : मार्जिनलाइज़्ड आइडेंटिटी ऐंड पॉलीटिसाईजेशन ऑफ़ द कम्युनिटी*, एम. डी. पब्लिकेशन्स प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली.
रॉबर्ट डेलीज़ (1999), द *अनटचैबल्स ऑफ़ इंडिया*, बर्ग पब्लिशर्स, द युनिवर्सिटी ऑफ़ मिशिगन.
विजय प्रसाद (2000), *अनटचैबल फ्रीडम : ए सोशल हिस्ट्री ऑफ़ दलित कम्युनिटी*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली.
विनोबा (1960), *शुचिता से आत्मदर्शन*, अखिल भारतीय-सेवा संघ वर्धा.
विवेक कुमार (2001), 'दलित राजनैतिक संघर्ष : बसपा के बाद', डॉ. प्रकाश लुईस और प्रेम कपाड़िया'(सं.), *नई सदी भी तोड़ नहीं पाई उत्तर प्रदेश में अछूतपन को*, भारतीय सामाजिक संस्थान, नई दिल्ली.
वेब पता : http://articles.economictimes.indiatime.com/2014-11-17/news/561744601clean-india-indian-diaspora-prime-minister-narender-modi देखें : 9 दिसम्बर, 2014
www.bbc/news/word-asia-india-27639735 देखें : 1 जून, 2014
www.thehindu.com/news/national/social-sector-fund-slashed/article6637180.ec.alsosee:www.thehindu.com/news/national/modi-wanted-infrastructure-funding-protected/article6637184.ec.e देखें : 1दिसम्बर, 2014
शबनम बेग (2008), *मुस्लिम समुदाय में छुआछूत : बिरादरी के संदर्भ में*, नॉर्दन बुक सेंटर, नई दिल्ली.
शियर स्टिफ़न (2001), द *इंडियन रेलवेज़ स्ट्राइक 1974 : ए स्टडी ऑफ़ पॉवर ऐंड ऑर्गेनाइजेशन लेबर*, रूपा पब्लिकेशन, नई दिल्ली.
सुसन इ. चैपलिन (2002), 'स्कैवेंजर स्टिल मार्जिनलाइज़्ड', घनश्याम शाह (सं.), *दलित* ऐंड द स्टेट, कॉन्सेप्ट पब्लिशिंग कंपनी, नई दिल्ली.
सोपान जोशी (2018), *जल थल मल*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली.

वाजिद अली शाह की इल्मी योग्यता और सरपरस्ती

तिमसाल मसूद



अवध के आख़िरी बादशाह वाजिद अली शाह एक उच्च श्रेणी के साहित्यकार, कवि, अनुवादक, संगीतकार होने के साथ नृत्य और ड्रामा के भी फ़नकार थे। इस के साथ ही वह साहित्य और कला के सच्चे सरपरस्त भी थे यानी अवध की सल्तनत के पतन के बाद मौत होने तक वह कलाकारों को वज़ीफ़े देते रहे। वाजिद अली शाह के इन पहलुओं को प्रमाणित और विश्वसनीय स्रोतों के साथ मसूद हसन रिज़वी अदीब ने अपनी उर्दू पुस्तक *सुल्ताने आलम वाजिद अली शाह* (1977) में पेश किया था। यह लेख इसी पुस्तक के कुछ हिस्सों की मदद से लिखा गया है।

अवध के आख़िरी बादशाह वाजिद अली शाह की प्राथमिक शिक्षा के बारे में ज़्यादा कुछ नहीं मिलता। स्वयं वाजिद अली शाह का बयान है कि जब उम्र के पाँच बरस गुज़रे तो

बाप ने मक़तब के हवाले कर दिया। वाजिद अली शाह की इल्मी योग्यता के सबसे ज़्यादा विश्वसनीय सबूत ख़ुद उन की अपनी लिखी हुई तहरीरें हैं। बादशाह की ख़िदमत में जो अर्ज़ियाँ पेश होती थीं और बादशाह की तारीफ़ में जो फ़ारसी क़सीदे कहे जाते थे, उनकी भाषा इतनी जटिल होती थी कि आम लोग तो उन को समझ भी नहीं सकते लेकिन बादशाह उन पर मुनासिब आदेश देते, उनसे आनंद उठाते, उनकी दाद देते और इनाम अता फ़रमाते थे। इस से उनकी इल्मी योग्यता का सुराग़ मिलता है।

बादशाह की फ़ारसी की मिसाल के लिए उस जवाब को देखा जा सकता है जो उन्होंने ज़हीर बिलग्रामी को कलकत्ता से लिखा था। शाही दारुल-इंशा के मीर मुंशी ज़हीरउद्दीन ज़हीर बिलग्रामी ने माज़ूल बादशाह की ख़िदमत में एक फ़ारसी कविता और एक अर्ज़ी मटियाबुर्ज भेजी थी, जिसमें बादशाह की जीवनी लिखने के लिए बादशाह की किताबें और रोज़नामचा और उनकी ज़िंदगी के हालात माँगे गए थे। बादशाह उस वक़्त फ़ोर्ट विलियम में नज़रबंद थे और जिस्मानी और रूहानी तकलीफ़ में ग्रस्त थे। उन्होंने क्षमायाचना के साथ तक़रीबन तीन हज़ार रुपये ज़हीर बिलग्रामी को नक़द इनायत फ़रमाया और साथ ही ज़हीर बिलग्रामी की पचास रुपये माहवार तनख़्वाह भी मुक़र्रर कर दी। इसके अलावा वाजिद अली शाह के फ़ारसी ज्ञान की मिसाल के लिए उनकी *ज़हीरुल इंशा* और *नसाए अख़्तरी* किताबें देखी जा सकती हैं। बादशाह की बाज़ किताबें उनकी अरबीदानी का भी सबूत पेश करती हैं जैसे – *हिदायतुस्सुलतान* और *इरशादुस्सुलतान*।

बादशाह ने फ़ारसी और उर्दू शायरी का अध्ययन किया था। अपनी एक किताब में उन्होंने भांडों के लिए उम्दा नक़लें लिखी हैं उन में एक क़िस्सा मुशायरे का है, जिसमें फ़ारसी और उर्दू के 26-26 शायर आते हैं और अपना एक-एक शेर सुनाते हैं। वाजिद अली शाह ने उन के लिए 52 ग़ज़लों के शेर लिखे हैं, और अपने लिए यह शेर लिखा है :

> एक हसरत तूर पर भी बहरे मूसा रह गई
> ऐसा कुछ देखा कि आँखों को तमन्ना रह गई

बादशाह को अवध की देहाती बोलियों पर काफ़ी उबूर था। उनके गीत ज़्यादातर उन्हीं बोलियों में हैं। उन्होंने ख़्याल रागनी भटयार की मिसाल में अपने गीत *बनी* नामक पुस्तक में पेश किए हैं :

> आज मोरे घर काज मंदीला बाजे माई री
> गलियों गलियों हुन बरसत है धुलकत है नग्गारा
> अख़्तर प्यारा मुल्क अवध पर राजे माई री

एक गीत की आस्ताई है :

इतना जाये कहो हमरी ओर से
हर सूँ कर जोर जोर बेग दरस दीजिए
बिरहन ब्याकुल तरपत
सहू न जात बिछरन को दुख भारी

एक मौक़े पर रामचेरा कन्हैया से पूछता है :

राजन के राज अधिराज महाराज शिवप्रधान छत्रपती बताओ तो क्या हुआ
बसे न देहूँ तुहार पुरवा जो मोर बस्ती उजाड़ हुई

वाजिद अली शाह को लेखन और उसके संकलन का स्वाभाविक शौक़ था। उन्होंने दो दीवान और तीन मसनवियाँ 18 बरस की उम्र में ही लिख ली थीं और तमाम उम्र लेखन और संकलन जारी रखा। यहाँ तक कि उर्दू-फ़ारसी, गद्य-पद्य में उनकी किताबों की संख्या सौ से ऊपर पहुँच गई। कौन कल्पना कर सकता है कि इस बदनाम बादशाह को किताबें लिखने की फ़ुर्सत मिली होगी। फिर किताबें भी दो चार नहीं दस बारह नहीं, सौ से ज़्यादा। सिर्फ़ मसूद हसन रिज़वी अदीब की तन्हा तलाश के नतीजे में वाजिद अली शाह की 60 से ऊपर किताबें दस्तयाब हो गई थीं जो आज तक उनके संग्रह में मौजूद हैं। कई लेखकों ने बादशाह के लेखन और संकलन का ज़िक्र किया है। अब्दुल हलीम 'शरर' *हुज़्ने अख़्तर* के मुक़दमे में बादशाह की फ़ारसी तहरीरों और नज़्मों का ज़िक्र करने के बाद लिखते हैं :

हज़रत जाने आलम ने सैकड़ों मरसिए और सलाम कह डाले और इतनी किताबें नज़्म और नस्र में लिख दीं कि उन का शुमार भी शायद आज किसी को मालूम नहीं होगा।

राजा दुर्गा प्रसाद संदेलवी लिखते हैं : (फ़ारसी से तर्जुमा)

इन दिनों अगरचे सल्तनत के ख़ात्मे, आमदनी की क़िल्लत और ख़र्चों की कसरत से बादशाह तरह-तरह की फ़िक्रों से दो-चार रहते हैं, लेकिन इंतिहाई शौक़े सुख़न की वजह से अपना वक़्ते अज़ीज़ बेश्तर इल्मी तज़किरों में गुज़ारते हैं और अपनी ताज़ा-ब-ताज़ा किताबों से हाशिया नशीनों को बे-इंतिहा फ़ैज़ पहुँचाते हैं (बोस्ताने अवध, 1892)।

हिंदुस्तानी ज़बान के मशहूर फ़्रांसीसी आलिम और शिक्षक गार्सियाँ द तासी ने बादशाह की माज़ूली के चंद महीने बाद 4 दिसंबर 1856 को अपने सालाना व्याख्यान में कहा :

मुझको वाजिद अली शाह से इस बिना पर दिलचस्पी है कि वह एक अच्छे लेखक और अच्छे शायर हैं। उनका तख़ल्लुस 'अख़्तर' है और वह हिंदुस्तानी शायरी के आसमान

> पर चंद रौशन सितारों में से एक हैं। वह अपने ख़ानदान की शाहाना रिवायतों के हामिल और उनके लायक़ वारिस हैं। उनका सारा ख़ानदान हिंदुस्तानी साहित्य का मोहसिन था और उसके अक्सर अफ़राद ख़ुद भी अदबी ज़ौक़ रखते थे।

वाजिद अली शाह के लेखन से साहित्य के कामों में उनकी व्यस्तता का पता चलता है। वह अपनी एक बेगम मुम्ताज़ जहाँ नवाब इकलील महल को 1858 में लिखे अपने एक ख़त में लिखते हैं :

> अपनी कविताओं को जमा कर रहा हूँ। इसलिए मुझे फ़ुर्सत नहीं है। मगर जवाब तुम्हारे मुहब्बत-नामे का ज़ुलफ़िक़ारुद्दौला से लिखवा दिया है, ख़ुद सुन लिया है। अगर कविताओं के जमा होने तक मैं अपने हाथ से न लिखूँ तो कुछ और ख़्याल न करना, कम मुहब्बती तसव्वुर न करना। इंशाअल्लाह जब इससे फ़राग़त होगी बदस्तूर नज़्म ओ नस्र लिखूँगा।[1]

एक दूसरी जगह मलका ग़ज़ाला को एक ख़त में लिखते हैं :

> मैं अपनी कविताओं को जमा करने में मसरूफ़ हूँ। लिहाज़ा जवाब ज़ुलफ़िक़ारुद्दौला से लिखवा कर ख़ुद सुन कर भिजवा दिया। कम मुहब्बती की वजह से यह बात नहीं है। इंशाअल्लाह बाद फ़राग़त अपने हाथ से लिख कर तुम्हारे हस्बे दिलख़्वाह भिजवाऊँगा। ख़ातिर जमा रखो (तारीख़े ग़ज़ाला)।

वाजिद अली शाह ने अपनी किताब *बनी* में एक जगह अपनी 46 किताबों के नाम बताने के बाद लिखा है :

> ये सब फ़क़ीर के कुतुबख़ाने में मौजूद हैं और जो किताबें सल्तनत के ख़ात्मे में बर्बाद हुईं वे इसमें शामिल नहीं हैं।

इससे मालूम होता है कि जो किताबें वह उस वक़्त तक लिख चुके थे उनकी संख्या 46 से ज़्यादा थी। यह बादशाह की बताई हुई उनकी किताबों की फ़ेहरिस्त है :

(1) अख़्तर मिलक (2) अफ़साना ए इश्क़ (3) इरशादे ख़ाक़ानी (4) ईमान (5) बहरुलहिदायत (6) बहरे उल्फ़त (7) बहरे मुख़्तलिफ़ (8) बनी (9) तारीख़े मुज़्हहब (10) तारीख़े मुम्ताज़ (11) तारीख़े ख़ास (12) तारीख़े फ़िराक़ (13) तारीख़े मशग़ला (14) तारीख़े ग़ज़ाला (15) तारीख़े नवाज़ (16) तारीख़े जमशेदी (17) तारीख़े दहर (18) तजल्लिए इश्क़

[1] तारीख़े मुमताज़, https://www.rekhta.org/ebooks/detail/tareekh-e-mumtaz-ebooks.

(19) जौहरे उरूज़ (20) हुज़्ने अख़्तर (21) दरयाए इश्क़ (22) दस्तूरे वाजिदी (23) दफ़्तरे हुमायूँ (24) दीवाने मुबारक (25) दफ़्तरे परेशान (26) दुलहन (27) सुख़ने अशरफ़ (28) शुयुए फ़ैज़ (29) सहीफ़ए सुल्तानी (30) सौतुलमुबारक (31) इश्क़नामा (32) क़मरे मज़मून (33) कुल्लियाते अख़तरी (34) कुल्लियाते सोम (35) गुलदस्तए आशिक़ाँ (36) मुसव्विदाते हरसिया (37) माही नामा (38) मुरक़्क़ए फ़रख़ (39) मुबाहिसए बैनुलनफ़्सुलअक़्ल (40) नाजो (41) नज़्मे नामवर (42) नसाए अख़तरी (43) हैबते हैदरी (44) लुग़ते हफ़्त ज़बान (45) पाँच चार किताबें मरसियों की (46) मजमूए वाजिदिया।

वाजिद अली शाह की जो हक़ीक़त के ख़िलाफ़ छवि आम तौर पर बन गई है उससे यह संदेह पैदा हो सकता है कि अपने फ़ायदे के लिए दूसरों ने किताबें लिख कर बादशाह को नज़र कर दी होंगी और ये किताबें वाजिद अली शाह ने अपने नाम से छपवा लीं, लेकिन यह संदेह बिल्कुल बे-बुनियाद है। उनकी जिस किताब के भी चंद पृष्ठ पढ़ लिए जाएँ वह ख़ुद बता देंगे कि इसका लेखक कौन है। वाजिद अली शाह जिस बेतकल्लुफ़ अंदाज़ में अपना ज़िक्र करते हैं और जिस सफ़ाई और बेबाकी से अपने हर तरह के निजी हालात बयान कर देते हैं वह कोई दूसरा नहीं कर सकता। मौलाना 'शरर' *हुज़्ने अख़्तर* के मुक़दमे में लिखते हैं :

> वाजिद अली शाह का कलाम बुरा भला जो कुछ है ख़ास उनका है। उसमें एक शब्द भी किसी और का नहीं। बादशाहों के यहाँ आम तौर पर बड़े-बड़े शायर और लेखक मुलाज़िम हुआ करते हैं और उन्हीं का लेखन बादशाहों के नाम से प्रकाशित भी हुआ करता है। मगर इस के विपरीत वाजिद अली शाह के लेखन में जो कुछ भी है उनका है और किसी का एक शब्द भी उसमें शामिल नहीं है।

बादशाह की शायरी और शायरों की क़द्रदानी

वाजिद अली शाह की तबियत में मौज़ूनियत और शायरी का शौक़ फ़ितरी था। बादशाह अक्सर फ़रमाया करते थे कि लखनऊ का नाम अख़्तरनगर भी है और इसी मुनासिबत से मैंने चाहा कि अपना तख़ल्लुस अख़्तर रखूँ। मगर जब मालूम हुआ कि अख़्तर किसी दूसरे का तख़ल्लुस है तो बादशाह ने उनसे तख़ल्लुस मोल ले लिया। मालिकुद्दौला 'सौलत' का यह शेर देखिए जिसमें अख़्तरनगर आया है :

> ये दिल में मानी है हम ने मन्नत वतन में किस को दिखाएँ सूरत
> बग़ैर शाहे अवध के 'सौलत' कभी न अख़्तरनगर को चलिए

वाजिद अली शाह को शायरी से जो ग़ैरमामूली दिलचस्पी थी और आख़िरी उम्र तक यह दिलचस्पी क़ायम रही, ख़ुद फ़रमाते हैं :

शेर गोई में मज़ा ऐसा मिला है 'अख़्तर'
मरते-मरते न कभी शौक़े ग़ज़ल जाएगा

ज़ईफ़ी में भी लिपटी है शायरी हम से
न छूटेगी कभी अख़्तर क़लम से मश्क़े तिफ़्लाना

वह लड़कपन में भी कुछ न कुछ नज़्म करते रहे होंगे लेकिन 17 बरस की उम्र में उन्होंने शायरी बाक़ायदा शुरू की और एक साल में दो दीवान और तीन मसनवियाँ कह ली थीं : *अफ़्सानए इश्क़*, *दरयाए इश्क़*, और *बहरे उल्फ़त*। बादशाह अपनी बादशाही के ज़माने में भी गद्य के साथ-साथ नज़्में भी कहते और उनका संकलन करते रहे। ज़मानए शाही का अधिकतर लेखन बादशाह के कलकत्ता चले जाने के बाद ग़दर में लुट गया। बादशाह अपनी जीवनी और रोज़नामचा भी लिखा करते थे। यह दोनों चीज़ें भी ग़दर में नष्ट हो गईं। बादशाह की शायरी का ज़िक्र बहुतों ने किया है। उनके बाज़ समकालीन और कुछ बाद के लोगों के बयान यहाँ पेश किए जा रहे हैं। 'सफ़ीर' लखनवी बादशाह की माज़ूली के बहुत दिन बाद अपनी मसनवी *गुलशने इश्क़* में कहते हैं :

क्या करूँ उनकी शायरी का बयाँ
कहते हैं अपने वक़्त के सहबाँ
जितने अहले ज़बाँ हैं मानते हैं
बल्कि उस्ताद अपना जानते हैं
बादशाहे ज़मन वह हज़रत हैं
शाहे मुल्के सुख़न वह हज़रत हैं
चश्मे बद्दूर क्या तबीयत है
सीना गंजीनए फ़साहत है

'सफ़ीर' बिलग़रामी *बोस्ताने ख़याल* के अनुवाद की प्रस्तावना में लिखते हैं :

शायरी की तरफ़ जो तबीयत आई उसकी शान वह बढ़ाई कि उस्तादों की शान घट गई। तीन मसनवियाँ चंद दीवान हज़रत के यादगारे ज़माना हैं।

लखनऊ के एक उस्ताद शायर वज़ीर अली 'सबा' अपनी मसनवी *सैदिय्या* में कहते हैं :

मुनव्वर है इस से जहाने सुख़न
कि है अख़्तर आसमाने सुख़न

'सग़ीर' लखनवी ने मसनवी *आईनए अख़्तर* 1859 में लिखी जिसमें वह बादशाह की

साहित्यिक रुचि के बारे में लिखते हैं :

> फ़राहम थे सब कामिलाने जहाँ
> तबीबो सुख़नसंजो रामिशे गरां
> मगर शह की तकमील का था ये हाल
> कि लेते थे इस्लाह अहले कमाल
> कई शह ने दीवान फ़रमाए थे
> मै चंद तस्नीफ़ छपवाए थे
> ज़बाने फ़साहत बयाँ का कलाम
> बहुत था पसंदीदए ख़ासो आम
> वो दीवान कह कर कही मसनवी
> कही दूसरी तीसरी मसनवी
> बहुत ख़ुशबयानी से मोती पिरोए
> कि वारफ़्ता दिल जिसको सुन-सुन के होए

राजा दुर्गा प्रसाद संदेलवी बादशाह की शायरी, शायरों की क़द्रदानी और उनके समय में लखनऊ में शायरों के जमावड़े का ज़िक्र इस तरह करते हैं : (फ़ारसी से तर्जुमा)

> हज़रत सुलताने आलम वाजिद अली शाह की सल्तनत में शायरों और सुख़नवरों ने राजधानी में जमा हो कर हज़रत की रुतबा शनासी और क़दरदानी से आर्ज़ू का दामन मुराद के फूलों से भर लिया और अलक़ाब और ख़िताब, ज़र और जवाहर से कल्पना से बढ़ कर बहरामंद हुए।

अब्दुल हलीम 'शरर' का चश्मदीद बयान है :

> मैंने अपनी आँखों से देखा कि अपने सुल्तानख़ाने से बूचे पर सवार हो कर इमामबाड़ा सिब्तैनाबाद की मजलिस में शरीक होने के लिए रवाना हुए और जो मरसिया और सलाम वहाँ पढ़ेंगे उन्हें रास्ते में तैयार कर रहे हैं। दो कातिब साथ-साथ चल रहे हैं। एक को मरसिया लिखवाते हैं और दूसरे को सलाम के शेर। इमामबाड़े तक पहुँचते-पहुँचते पूरा सलाम और मरसिया लिखवा दिया।

शायरी के फ़न में वाजिद अली शाह के उस्ताद फ़तहुद्दौला मिर्ज़ा मुहम्मद रज़ा 'बर्क़' थे। बादशाह ने अपनी एक मसनवी *हुज़्ने अख़्तर* में अपने उस्ताद की वफ़ात पर अफ़सोस किया है :

> ज़न ओ मर्द से कम हुए सात लोग
> मुझे फ़तहे दौला का अब भी है सोग

ख़ुदा बख़्शे उस को अजब मर्द था
फ़ने शायरी में तो वह फ़र्द था
यह बंदा है शागिर्द उस माह का
बँधा है धुआँ दिल में एक आह का

बादशाह के दामन से वाबस्ता शायर के अलावा दूसरे शायर भी शाही इनाम से सरफ़राज़ होते रहते थे। उनमें मिर्ज़ा 'ग़ालिब' भी थे। 'ग़ालिब' एक ख़त में यूसुफ़ मिर्ज़ा को लिखते हैं :

> मैं 14 पार्चे का ख़िलअत एक बार और मलबूसे ख़ास व रूमाल व दो शाला एक बार पेशगाह हज़रत सुलताने आलम से पा चुका हूँ। चुनाँचे क़सीदा लिख कर और जैसा कि मेरा दस्तूर है काग़ज़ को बनवा कर हज़रत पीर ओ मुरशिद की ख़िदमत में भेज दिया है यक़ीन है कि हज़रत ने वहाँ भेज दिया होगा और मैं तुमको भी लिख चुका हूँ कि मैंने क़सीदा लखनऊ को भेज दिया है।

अपने एक और ख़त में 'ग़ालिब' लिखते हैं :

> वाजिद अली शाह बादशाहे अवध की सरकार से ब-सिलए मदह गुस्तरी पाँच सौ रुपये साल मुक़र्रर हुए। वह भी दो बरस से ज़्यादा न जीए। यानी अगरचे अब भी जीते हैं मगर सल्तनत जाती रही।

कई हवालों से मालूम हुआ है कि वाजिद अली शाह अपने महल में मुशायरे भी करते थे। उन में ख़ुद शरीक होते थे और शायरों की ख़ातिर-तवाज़ो ख़ुद करते थे। अवध के रेज़िडेंट कर्नल सलीमन ने गवर्नर जनरल लार्ड डलहौज़ी को अपने 6 सितंबर, 1849 के ख़त में लिखा :

> तक़रीबन दस दिन हुए लखनऊ के सब शायर बादशाह का कलाम सुनने के लिए महल में जमा हुए थे। वह सब उनका कलाम सुनने और अपना कलाम सुनाने के लिए 9 बजे रात से 3 बजे सुबह तक बादशाह के साथ बैठे रहे।

उर्दू के एक उस्ताद शायर नवाब सय्यद मुहम्मद ख़ाँ 'रिंद' के दीवान में एक ग़ज़ल का शीर्षक है 'ग़ज़ल मुशायर-ए वाजिद अली शाह बादशाह'। इस ग़ज़ल के चंद शेर यहाँ नक़ल किए जा रहे हैं :

वह जीते जी हुए ईज़ा से नज़ा की आगाह
जो सदमे तेरे शबे इंतिज़ार देख चुके
जुनूँ ने ख़ूब दिखाई बहारे जेब ओ किनार
हवा में उड़ते हुए तार-तार देख चुके

न पहुँचा एक भी ज़र्रा तुम्हारे दामन तक
उड़ा के ख़ाक भी हम ख़ाकसार देख चुके
भला वो ख़ाक करें क़स्द बज़्मे हस्ती का
जो लोग राहते कुंजे मज़ार देख चुके
क़ुसूरे बख़्त है फिर जायें अब अगर महरूम
दरे करीम तो उम्मीदवार देख चुके
सिवाए ज़ाते ख़ुदा सब के वास्ते है फ़ना
सबाते हस्तिए नापायदार देख चुके
इलाही तूने शरफ़ जिस को आसमां पे दिया
वह सरज़मीन भी ये ख़ाकसार देख चुके
फ़क़ीर भी मुतरस्सिद निगाहे लुत्फ़ का है
इधर भी रिंद मेरा शहरयार देख चुके

इसी तरह शेख़ इम्दाद अली 'यावर' की एक ग़ज़ल भी शाही मुशायरे में पढ़ी गई थी जिस के कुछ शेर हैं :

किसे देखें सिवाए जाने आलम
कि आलम है फ़िदाए जाने आलम
बहुत नाज़ाँ है गुल जामे प अपने
सुँघा दीजिए क़बाए जाने आलम
चराग़े आफ़ताब ओ शमए मह में
कहाँ नूर ओ ज़ियाए जाने आलम
मिटा दूँ ऐ मुहव्वसे रंगे इकसीर
दिखा दूँ ख़ाके पाए जाने आलम
उन्हें परवाह है क्या ज़िल्ले हुमा की
जो हैं ज़ेरे लवाए जाने आलम
नहीं झुकते किसी अहले दुवल से
वह सरकश हैं गदाए जाने आलम
सुख़न फ़हम ओ सुख़नदान ओ सुख़न रस
नहीं कोई सिवाए जाने आलम
अदू से भी नहीं दिल में कदूरत
ज़हे सिद्क़ ओ सफ़ाए जाने आलम
टपकती है मिरी बातों से उल्फ़त
यह है जोशे विलाए जाने आलम
रक़ाबत कीजिए किस किस से 'यावर'
ज़माना है फ़िदाए जाने आलम

जब तक वाजिद अली शाह बादशाह रहे लखनऊ में शायरों का जमघट रहा मगर जब वह माज़ूल हो कर कलकत्ता चले गए तो यह सभाएँ भी बिखर गईं और शेर-ओ-सुख़न की महफ़िलें सूनी हो गईं। 'शहीद' लखनवी जो शाही मुशायरों में शरीक हो कर वहाँ की रौनक़ और शान देख चुके थे, किस हसरत से कहते हैं :

लखनऊ बेकस हुआ हज़रत जो लंदन को गए
हम यहाँ नालाँ हैं वो फ़रयादे दुश्मन को गए
फ़स्ले गुल कब आएगी कब होंगे आख़िर नग़्मा संज
एक मुद्दत हो गई याराने गुलशन को गए

ख़ुद वाजिद अली शाह कहते हैं :

जब से क़ैदी हुआ कलकत्ते में आकर 'अख़्तर'
शायरे हिंद बहुत लुत्फ़े सुख़न भूल गए

मगर यह हालत बहुत दिनों तक न रहने पाई क्यूँकि वाजिद अली शाह शायरों के बड़े क़द्रदान थे इसलिए लखनऊ में सल्तनत के ख़ात्मे के बाद बीसियों शायर उन के दामने दौलत से वाबस्ता हो कर मटियाबुर्ज़ पहुँच गए। मटियाबुर्ज़ में मौजूद इन शायरों के अलावा बहुत से दूसरे शायर भी इनाम पाते रहते थे। मुंशी अमीर-उल्लाह 'तस्लीम' शायर भी थे और ख़ुशनवीस यानी सुलेखक भी। उन्होंने सुंदर अक्षरों से सजा कर एक कविता में याचना लिख कर बादशाह की ख़िदमत में मटियाबुर्ज़ भेजी। इसके बदले में इनाम के रूप में वाजिद अली शाह ने उनका 30 रुपये माहवार वज़ीफ़ा तय कर दिया।

मौलवी मुहम्मद बख़्श 'शहीद' 'नासिख़' के शागिर्द थे और ख़ुद उस्तादी का मरतबा रखते थे। उनके शेर से मालूम होता है कि बादशाह की सरकार से उनका भी कुछ वज़ीफ़ा तय हो गया था :

तसददुक़े ख़्वारीए सुलताने आलम का असर यह है
सुख़नदानों में शोहरत है 'शहीद' अकमल है कामिल है

फिर इन्हीं 'शहीद' के शागिर्द इमदाद अली 'यावर' ने बादशाह की शान में चंद शेर कह कर भेजे, बादशाह ने उनका भी 15 रुपये माहवार वज़ीफ़ा मुक़र्रर कर दिया। मेरठ के प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित शायर सय्यद अहमद हसन 'फ़ुरक़ानी' ने एक फ़ारसी क़सीदा बादशाह की तारीफ़ में कह कर क़द्दे आदम साइज़ के काग़ज़ पर बहुत ही सुंदर अक्षरों में लिखवाकर और सोने के काम से उसको अलंकृत कर के जनवरी 1860 में बादशाह की ख़िदमत में कलकत्ता भेजा। बादशाह ने एक क़ीमती ख़िलत भिजवा दिया और साथ ही नर्मी से क्षमा भी माँगी कि

मौजूदा हालात में इस उच्च श्रेणी क़सीदे का उचित इनाम देने के क़ाबिल नहीं हूँ। इस क़सीदे में 'फ़ुरक़ानी' ने उस ज़माने को याद किया है जब शायर और साहित्यकार अपने बादशाह यानी वाजिद अली शाह की सरपरस्ती में इत्मीनान की ज़िंदगी बसर करते थे।

मुंशी ज़हीरुद्दीन बिलग्रामी ने एक फ़ारसी कविता *सिराते मुस्तक़ीम* वाजिद अली शाह की ख़िदमत में कलकत्ते भेजी। बादशाह ने उसका फ़ारसी भाषा में लंबा जवाब लिख कर भेजा था। बादशाह के इस फ़ारसी लेख को ज़हीरुद्दीन बिलग्रामी ने अपनी किताबों *ज़हीरुल इंशा* और *असरारे वाजिदी* में नक़ल किया है। ज़हीरुद्दीन बिलग्रामी की कविता में कुछ संख्याएँ आई हैं। बादशाह ने हर अंक की मुनासिबत से रुपये और अशरफ़ियाँ भी ज़हीरुद्दीन बिलग्रामी को भेजी थीं।

शिव प्रधान महाराजा जय गोपाल सिंह बहादुर 'साक़िब' बादशाह की तारीफ़ में फ़ारसी कविताएँ कह कर बादशाह के दरबार में पेश किया करते थे जिसके सिले में वह बादशाह से इनाम पाते थे। बादशाह के हुक़्म से महाराजा जय गोपाल ने इन कविताओं को जमा करके एक किताब तैयार की और उसका नाम *नादिरातुस्साक़िब* रखा था।

बादशाह के क़िले से छूटने और 1857 के फ़साद के ख़त्म होने के बाद लखनऊ से और भी शायर कलकत्ता पहुँचे और वाजिद अली शाह से मुनसलिक हुए। बादशाह की आदत थी जहाँ शायर हाज़िर हुए बातों-बातों में कोई मिसरा ख़ुद ही नज़्म कर दिया कि इस पर मिसरे लगाए जाएँ। किसी शायर का कोई मिसरा या शेर पसंद आ गया तो कहा कि इस पर और शेर कहे जाएँ। महताबुद्दौला ने एक मौक़े पर यह शेर पढ़े :

न है इस तरह संगे आसिया ऐ चर्ख़ गर्दिश में
न है यूँ साग़रे बादा सदा ऐ चर्ख़ गर्दिश में
न यूँ तस्बीहे दस्ते पारसा ऐ चर्ख़ गर्दिश में
रहेगा नज़्मे अख़्तर ता कुजा ऐ चर्ख़ गर्दिश में

बादशाह ने इन शेरों को बहुत पसंद किया और फ़रमाया कि क़ाफ़िए बदल-बदल कर और मिसरे लगाओ।

वाजिद अली शाह की कई बेगमें भी शायरी करती थीं और बादशाह उनका बड़ा हौसला भी बढ़ाते थे। बादशाह महल साहिबा जिनका तख़ल्लुस 'आलम' था, उनके चार शेर देखिए :

ये हाल इश्क़ में किस के हुआ कहो तो सही
हिलाल क्यों हुए ऐ महलक़ा कहो तो सही
न वो मिज़ाज, न वो चहचहे, न वो हंसियाँ
उदास रहने का बायस है क्या कहो तो सही

अबस अबस न क़सम खाओ कल के आने की
किया है कौन सा वादा वफ़ा कहो तो सही
तुम्हारा दिल तो न 'आलम' असीरे गेसू था
ये किस तरह से हुआ मुब्तिला कहो तो सही

बेगम साहिबा ने यह ग़ज़ल कही और ख़ुद उसकी धुन रखी। उस ग़ज़ल का ऐसा रंग बँधा कि अक्सर लोगों ने इस ज़मीन में ग़ज़लें कहीं। बादशाह की दूसरी बेगम नवाब महबूब आलम साहिबा ने भी इस पर मिसरे लगाए हैं :

यकायक आई कहाँ से बला कहो तो सही
ये क्यों उतर गया मुँह चाँद सा कहो तो सही
हुई है काहिशों की वजह क्या कहो तो सही
ये हाल इश्क़ में किस के हुआ कहो तो सही
हिलाल क्यों हुए ऐ महलक़ा कहो तो सही
हैं याद तुम को दग़ा बाज़ियाँ ज़माने की
हमेशा से यूँ ही आदत है क़समें खाने की
फ़क़त ये घात है पहलू से उठ के जाने की
अबस अबस न क़सम खाओ कल के आने की
किया है कौन सा वादा वफ़ा कहो तो सही

सादिक़ अली 'मायल' ने बादशाह के पास अपनी ग़ज़ल इस्लाह के लिए भेजी। बादशाह ने एक आध लफ़्ज़ बना दिया और कई शेर उनकी तारीफ़ में भी लिखे, उनमें का पहला शेर है :

ऐ शायरे नौ सुख़न ख़ुदारा
अंदाज़े सुख़न ने तेरे मारा

बादशाह ने 'मायल' के एक शेर को बहुत पसंद किया और कई बार पढ़वाया :

तसव्वुर था जो रोने में गुलूए यारे महरू का
सुराही-दार मोती बन गया हर क़तरा आँसू का

वाजिद अली शाह के चंद शेर

अँधेरा बज़्म में था तू जो अंजुमन में न था
चमन उदास था ऐ गुल जो तू चमन में न था

ग़ुँचए दिल खिले जो चाहो तुम
गुलशने दहर में सबा हो तुम

तिरी याद का दिल में वो जोश है
ग़मे दीन ओ दुनिया फ़रामोश है

सोज़े दिल जब गुज़ार करता है
बर्क़ को बेक़रार करता है

इश्क़ से कुछ काम ने कुछ कुए जानाँ से ग़रज़
गुल से मतलब है न कुछ ख़ारे बियाबाँ से ग़रज़

आलमे वहशत में उरयानी का जामा चाहिए
काम हाथों को गरेबाँ से न दामाँ से ग़रज़

वादे प शब को आया दिलबर ध्यान लगा है और कहीं
महर हमारे दिल में है तालए नूरो ज़िया है और कहीं

ग़ुँचे खिलते हैं ऐ गुले ख़ंदाँ
बाग़ में तेरे मुस्कुराने से

कौन से साक़ी की चश्मे मस्त का ध्यान आ गया
बज़्मे मय में हो गए बेज़ार जामे जम से हम

गर बराए सैर आएंगे कभी गुलज़ार में
देख लेना ग़ुँचा ओ गुल को हँसाते जाएँगे

न जला ख़ानए सैय्याद न गुल मुरझाए
अब न कुछ होगा इन आहों का असर देख लिया

लाला रूओं का है दीवाना अबस ए दिले ज़ार
कौन से गुल से तुझे बूए वफ़ा आती है

तुम मेहरबान थे तो सभी मेहरबान थे
तुम क्या ख़फ़ा हुए कि ज़माना ख़फ़ा हुआ

दस्ते सर्राफ़ है जो शख़्स रखे ज़र को अज़ीज़
हाथ की तरह से देखा दिले ज़रदारे स्याह
एक दिन ज़ुल्फ़े मुसलसल तिरी देखी थी परी
तब से आते हैं नज़र ख़्वाबे परेशाँ क्या क्या

दाग़ों के गुल खिलाए हैं 'अख़्तर' हज़ारहा
क़ाबिल है सैरे हुसन के ये लालाज़ारे दिल

न तुम सा हँसने वाला है न हम सा रोने वाला है
हमीं तुम बाग़े आलम में तो हैं जाने गुल ओ शबनम

न वो गेसू में बसिया है न रुख़ में वो नूर
रंग क्या क्या नहीं इस शाम ओ सहर के बदले

ज़र्रे जो चमका करते हैं ख़ुर्शीद की तरह
सदहा हुए हैं साहिबे हुस्नो जमाल ख़ाक

नाक़ूसे बरहमन से सदाए अज़ाँ सुनी
मस्जिद से मैं ने क़सद किया सोमनात का

फूल खिलते हैं मगर बूए वफ़ा देते नहीं
जिन को गुल समझे थे गुलशन में वही सब ख़ार हैं

किस से हम झगड़ें नहीं अपना किसी मिल्लत से मेल
इश्क़ के बंदे को क्या गब्र ओ मुसलमाँ से ग़रज़

वाजिद अली शाह का पुस्तकालय

वाजिद अली शाह अच्छी किताबों के क़द्रदान थे उनके समय में लखनऊ के शाही पुस्तकालय में दो लाख किताबें मौजूद थीं मगर बादशाह को और किताबों की ख़्वाहिश थी। अपने बादशाह बनने के पहले ही साल यानी 1846 में उन्होंने यह इश्तिहार प्रकाशित किया :

> किताबों की विस्तृत सूची में से हर किताब जो इस महीने मतबए सुल्तानी के प्रभारी मुहम्मद हुसैन के मकान पर तकिया शाह फ़सीह में पहुँचेगी उस की क़ीमत बेचने वाले की मर्ज़ी की उसी वक़्त दे दी जाएगी।

इस सूची में विभिन्न विषयों की ढाई सौ किताबों के नाम हैं जिस में अक्सर दुर्लभ और कमयाब पुस्तकें हैं। इनमें इतिहास की किताबों की संख्या सबसे ज़्यादा है। यह पूरी सूची मसूद हसन रिज़वी के एक लेख 'लखनऊ का शाही कुतुबख़ाना' में शामिल है। यह लेख 1970 के अगस्त में *नया दौर* पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। वाजिद अली शाह का पुस्तकालय 1857 के ग़दर की लूटमार में भी तबाह हुआ। मुंशी ज़हीरुद्दीन बिलग्रामी ने बादशाह की जीवनी लिखने के लिए जब उनकी किताबें माँगी थीं तो बादशाह ने जवाब में लिखा था (फ़ारसी से तर्जुमा) :

> उम्दा किताबों को बाग़ियों की लूट के सैलाब ने इस तरह डुबो दिया कि अब उनके एक अक्षर का निशान भी बाक़ी नहीं है (ज़हीरुलइंशा)।

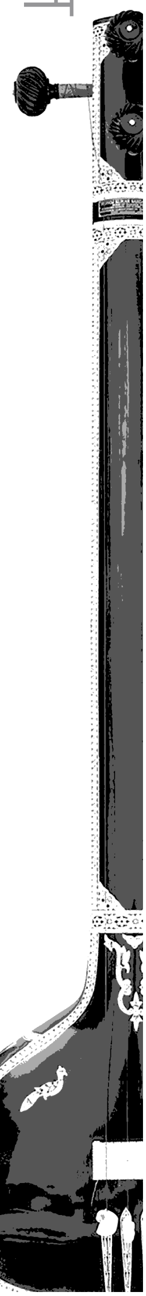
1857 के ग़दर में लखनऊ के रईसों और नवाबों को अंग्रेज़ी फ़ौज में भर्ती हिंदुस्तानी सिपाहियों ने बहुत बेदर्दी से लूटा था। चूँकि उस ज़माने में किताबें भी क़ीमती सरमाए में शुमार होती थीं इसलिए ग़दर की लूट में दूसरे क़ीमती सामान के साथ किताबें भी लूटी गईं। मिसाल के तौर पर एक महल के लूटने में वाजिद अली शाह की मसनवी *इश्क़नामा* एक सिपाही के हाथ लगी जिसको उसने अपने अंग्रेज़ अफ़सर के हवाले कर दिया और वहाँ से यह अत्यंत सुंदर किताब लंदन पहुँची। इश्क़नामा आज भी लंदन के रॉयल क्लेक्शन ट्रस्ट में मौजूद है।

अवध के विभिन्न पुस्तकालयों में अरबी और फ़ारसी किताबों की सूची बनाने के लिए अलोयस स्प्रेनज़र 3 मार्च 1848 से 1 जनवरी 1850 तक लखनऊ में रहे। उन्होंने क़रीब 10 हज़ार किताबें देखीं और उनकी सूची तैयार की। यह सूची 4 खंडों में थी। जिस में से सिर्फ़ एक खंड प्रकाशित हुआ। बाक़ी तीन खंडों का पता नहीं।

वाजिद अली शाह ने अपनी मटियाबुर्ज़ की सल्तनत में एक पुस्तकालय भी क़ायम कर लिया था। यह पुस्तकालय बादशाह के ख़ास महल में था जिसका नाम सुल्तानख़ाना था। बादशाह अधिकतर इसी महल में रहते थे। शाही पुस्तकालय में 25-30 अलमारियाँ किताबों की थीं। बादशाह के देहांत (1887) के बाद अंग्रेज़ पूरा पुस्तकालय गाड़ियों पर लदवा कर ले गए। मालूम नहीं कि वह किताबें क्या हुईं।

ध्रुपद में स्त्री स्वर : हिंदुस्तानी संगीत का सामाजिक पक्ष

प्रवीण कुमार झा



हिंदुस्तानी संगीत का समाजशास्त्र अपेक्षाकृत उपेक्षित क्षेत्र है। यह देखा गया है कि संगीत पारम्परिक सामाजिक संरचना जैसे धर्म, जाति, लिंग, राष्ट्रीयता से परे भी है और बँधा भी है। स्त्रियाँ भी संगीत का अभिन्न हिस्सा रही हैं लेकिन संगीत के एक पक्ष में महिलाओं की भूमिका कम रही है। ध्रुपद संगीत, हिंदुस्तानी संगीत का एक रूढ़ पक्ष रहा है, जिसमें कुछ प्रायोगिक बदलाव हुए, लेकिन सैद्धांतिक बदलाव कम हुए। ख़याल गायकी और उप शास्त्रीय संगीत जैसे ठुमरी या ग़ज़ल में महिलाओं ने जिस तरह बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया, ध्रुपद में कम लिया। इस लेख में हिंदुस्तानी संगीत के समाजशास्त्र से गुज़रते हुए इसी ख़ास पहलू पर चर्चा की गयी है। लेख में ध्रुपद और ख़याल संगीत के संरचनात्मक अंतर और वंशगत गुरु-शिष्य परंपरा की चर्चा करते हुए स्त्री स्वरों की तलाश की गई है। पिछले कुछ दशकों में महिलाओं की भागीदारी ध्रुपद में बढ़ी है, लेकिन अब भी ध्रुपद सम्मेलनों तक उनकी पहुँच कम है। पितृसत्तात्मक सामाजिक संरचना से इतर भी ऐसे प्रश्न उठते हैं कि स्त्रियों ने स्वयं संगीत के इस पक्ष को असहज माना अथवा उनको इससे दूर रखा गया? अगर ध्रुपद संगीत तकनीकी कारणों से स्त्रियों से दूर रहा तो यह प्रश्न भी उठता है कि ऐसा किन कारणों से हुआ होगा? सवाल यह भी है कि समय के साथ ऐसे कौन से बदलाव हुए कि ध्रुपद उनके लिए सहज होता गया?

आम तौर पर देखें तो संगीत में निश्चित रूप से स्त्रियों की महती भूमिका रही है। गायन, वादन या नृत्य, ऐसा कोई भी आयाम नहीं, जहाँ स्त्रियाँ मंचों तक न पहुँची हों। लेकिन ध्रुपद गायन में ऐसी स्थिति नहीं है। संगीत के ध्रुपद रसिक कुछेक गायिकाओं के नाम सुझा सकते हैं किंतु उन मंचों को ग़ौर से देखने पर यह स्पष्ट नज़र आएगा कि हिंदुस्तानी संगीत के इस अंग में स्त्रियाँ बेहद कम हैं।

इन सवालों के पार्श्व में संगीत और समाज के रिश्ते हैं। ये एक-दूसरे को कैसे और कितना प्रभावित करते हैं और इन सम्बन्धों का अध्ययन कैसे किया जाए? इसके लिए हमें संगीत के इतिहास और उसके समाजशास्त्र की पड़ताल करनी होगी।

संगीत, समाज और प्रकृति की ही उपज है। इसमें अन्य कलाओं की तरह ही समाज की छवि भी देखी जा सकती है। इसका अर्थ यह नहीं कि मनुष्य मात्र समाज और प्रकृति के मध्य रहने से स्वतः कला सृजन करने लग गया। कला की उपज मनुष्य द्वारा अपने अस्तित्व के लिए किए गए संघर्ष के फलस्वरूप ही हुई। समाज के बदलते स्वरूप के साथ संगीत का भी स्वरूप बदलता रहा है। इसी कारण हम किसी संगीत को सुन कर यह अंदाज़ा लगा पाते हैं कि यह किस क्षेत्र और किस काल का संगीत है, अथवा यह अंदाज़ा लगा सकते हैं कि अमुक संगीत पर किन-किन संस्कृतियों का प्रभाव हो सकता है। किन सामाजिक अथवा ऐतिहासिक परिस्थितियों से वह संगीत जन्मा होगा, यह अंदाज़ा भी संगीत सुनकर लगाया जा सकता है। जैसे मांड गीत 'केसरिया बालम आओ री, पधारो म्हारे देस' सुन कर यह अंदाज़ा लगता है कि यह राजस्थान का लोक संगीत है जो संभवतः वहाँ के राजपूत शासकों के दरबार में बना होगा।

समाजशास्त्र संगीत का अपेक्षाकृत उपेक्षित पक्ष है। सत्यवती शर्मा इस उपेक्षा के दो मुख्य कारण बताती हैं : पहला, समाजशास्त्र की दृष्टि और पद्धति से संगीत अध्येताओं का अपरिचय; दूसरा, संगीत की दुनिया से समाजशास्त्रियों की उदासीनता (शर्मा, 1995 : i) हालाँकि यह भी सत्य है कि भारत में संगीत अध्येताओं की एक लम्बी परंपरा रही है, जो संगीत के ऐतिहासिक और तकनीकी पक्षों पर लिखते रहे हैं। हिंदुस्तानी संगीत के समाजशास्त्र पर निवेदिता सिंह (2004) और सत्यवती शर्मा (1995) ने शोध पुस्तकें लिखी हैं, जिसमें भारतीय संगीत के आयामों पर आलेख लिखे गए हैं। उनमें विदेशी समाजशास्त्रियों के माध्यम से भी हिंदुस्तानी संगीत को देखा गया है। डैनियल न्यूमन ने उत्तर भारतीय संगीत और समाज पर अपनी पुस्तक (1990) में विस्तृत चर्चा की है। स्त्रियों, ख़ासकर ठुमरी गायिकाओं और तवायफ़ों पर कई शोध (दीवान, 2019) हुए हैं। वहीं, पश्चिमी समाजशास्त्रियों ने संगीत समाजशास्त्र (सोसियोम्यूज़िकॉलजी) और संजातीय संगीत शास्त्र (एथ्नोम्यूज़िकॉलजी) पर नियमित कार्य किया है और इसे भिन्न विधा के रूप में विकसित किया है (एलिस, 2009)।

सत्यवती शर्मा जैसे कुछेक प्रयासों को छोड़ दें तो भारतीय संगीत के समाजशास्त्रीय पहलुओं का अध्ययन बेहद कम है। ऐसे में भारत में संगीत में महिलाओं की भूमिका पर काम नहीं के बराबर ही है। पश्चिमी लेखन में स्त्री और संगीत पर विमर्श एलन कोसकोफ़्फ़ (1987) और बारबरा हैम्प्टॉन (1991) जैसे शोधार्थियों ने किया है, जिनसे यह ज्ञात होता है कि पश्चिमी संगीत में भी लिंग-भेद मौजूद हैं। जैसे ऐन शपीरो (1991) ने एक रॉक बैंड को यूँ उद्धृत किया है कि 'अगर हम किसी लड़की को अपने बैंड में शामिल करें, तो उसकी आवाज़ पूरी तरह से अलग होगी। ऐसी स्थिति में उसकी आवाज़ शायद मुख्य बन जाए, और हम सहायक रह जाएँ।' पुरुष और स्त्री के स्वरों में अंतर की चर्चा सत्यवती शर्मा ने भी की है। उनके अनुसार स्त्री और पुरुष की बनावट के अंतर से उनके संगीत में भी अंतर दिखाई देता है। लेकिन उन उदाहरणों पर चर्चा कम हुई है, जब पुरुष ने स्त्री की वजह से स्वयं को असुरक्षित महसूस किया हो।



शपीरो स्त्री और संगीत विमर्श के कुछ बिंदु गिनाते हैं। उनके अनुसार 'संगीत और स्त्री' पर विमर्श मुख्यतः स्त्रियों ने ही किए। उन्होंने अपने विमर्श में उन्हीं स्त्रियों को सम्मिलित किया जो पुरुष संगीतकारों के समकक्ष रही हैं। यह भी कि संगीत का स्त्री पक्ष स्वयं संगीत नहीं, बल्कि उसका रचित/लिखित पक्ष (गीत/बंदिश) है। जैसे युगल गायकी में स्त्रियाँ जो वाक्य बोलती हैं, वे स्त्री पक्ष के वाक्य होते हैं, किंतु संगीत तो लिंग भेद से मुक्त होता है। वे इस बात पर भी बल देते हैं कि संगीत में स्त्री विमर्श उस संस्कृति के अन्य पहलुओं से अलग होता रहा है। हिंदुस्तानी संगीत के लिहाज़ से भी शपीरो के तर्क बहुधा उपयुक्त लगते हैं।

अगर हम समूची भारतीय संगीत परंपरा की बात करें तो धर्म और जाति के सवालों पर जिस तरह कई बार इसने बाड़ेबंदियाँ तोड़ीं, उसी तरह महिलाओं का उन्मुक्त रूप भी यहाँ देखा जा सकता है। अगर तवायफ़ी और देवदासी परंपरा से इतर भी देखें तो स्त्रियाँ मंचों पर प्रस्तुति लंबे समय से देती रही हैं। महाराष्ट्र और दक्षिण भारत में आज तक कमोबेश एक रूढ़ परंपरा क़ायम है कि स्त्रियों को विवाह योग्य बनाने के लिए संगीत शिक्षा दी जाती है। नमिता देवी दयाल ने पुस्तक *म्यूज़िक रूम* में अपना ही उदाहरण दिया है कि उन्हें संगीत इसी कारण सीखना पड़ा। उस्ताद अब्दुल करीम ख़ान (किराना घराना) की बेटी हीराबाई बरोडकर (1905-1989) इसके शुरुआती उदाहरणों में है। अल्लादिया ख़ान के घराने में केसरबाई केरकर (1892-1977), धोन्धुताई कुलकर्णी (1927-2014), मोगुबाई कुर्दिकर (1904-2001) जैसे उदाहरण हैं। मैहर घराने से अन्नपूर्णा देवी (1927-2018) और शरण रानी (1929-2008) ने क्रमशः सुरबहार और सरोद बजाया। लेकिन ये सभी ख़याल गायकी के उदाहरण हैं।

ख़याल गायकी से उलट ध्रुपद के इतिहास में स्त्रियाँ गिनी-चुनी ही मिलती हैं। यह कुछ ऐसी ही पहेली है, जो समाज में प्रचलित रूढ़ धारणाओं जैसे 'महिलाएँ गणित में कमज़ोर होती हैं', या 'महिलाएँ गाड़ी अच्छी नहीं चलातीं' या 'महिलाएँ हड्डी रोग की शल्य-चिकित्सक नहीं हो सकतीं' से मिलती है। इस विषय पर अगर हम सिलसिलेवार चर्चा करना चाहें, तो हमें सांगीतिक और सामाजिक पक्ष, दोनों से गुज़र कर ही ध्रुपद में स्त्रियों की सीमित भूमिका के कारकों को तलाशना होगा। पहले हमें हिंदुस्तानी संगीत के ध्रुपद और ख़याल अंग के तकनीकी पक्ष और इतिहास को समझना होगा। यह स्पष्ट छवि बनानी होगी कि ध्रुपद और

ख़याल में अंतर क्या है, ध्रुपद की वर्तमान और ऐतिहासिक बानी[1] अथवा घरानों की चर्चा करनी होगी। साथ ही हमें ध्रुपद में स्त्रियों का जो भी योगदान रहा है, अथवा नहीं रहा है, उसकी समीक्षा करनी होगी। इनके समानांतर ही हमें समाज में स्त्री और संगीत में स्त्री की स्थिति का आकलन करना होगा। पड़ताल की इसी प्रक्रिया से हम समझ सकेंगे कि ध्रुपद में स्त्रियाँ क्यों कम रहीं और भविष्य में उनकी अधिक भूमिका के लिए किस तरह के प्रयास किए जा रहे हैं, अथवा किए जा सकते हैं।

ध्रुपद का सबसे प्राचीन रूप साम-गान से जोड़ा जाता रहा है, जो सामवेद की वैदिक गायन परंपरा थी। इनके दो रूप थे – छंद और प्रबद्ध। प्रबद्ध रूप को ध्रुपद के पदों के रूप में गाया जाता था। पिंगल के छंद सूत्र में ध्रुव नामक छंद है, जिसे 1-2-1-1-1 (छह) मात्रा में गाने की अनुशंसा की गई है। ध्रुपद भी पारम्परिक रूप से बारह मात्रा के चौताल में गाया जाता है, जो संभव है कि उसी से विकसित हुआ हो (आर. के. दास, 2014)। वैदिक काल के समय ध्रुपद किस रूप में था, यह प्रामाणिक रूप से नहीं कहा जा सकता। गंधर्व वेद में साम-गान का उल्लेख है, किंतु ध्रुपद नामक गायन शैली का उल्लेख नहीं। रागों और रागिनियों की व्याख्या तो भरत मुनि के नाट्यशास्त्र और ग्यारहवीं सदी के कार्नात वंश (मिथिला) के राजा नान्यदेव के भरत-भाष्य जैसी रचनाओं में हो चुकी थी। इसका गायन उस काल में प्रबंधित ही था और दक्षिण भारत में रूढ़ प्रबंधित गायन होता रहा। उत्तर भारत में मुस्लिम शासकों का प्रभाव आ रहा था, जिससे संगीत में भी बदलाव स्वाभाविक था। शास्त्रीय रागों की गायन-शैली में क़व्वाली और ख़याल[2]शैली का जन्म हो रहा था। वहीं, स्वतंत्र रूप से ध्रुपद गायन शैली भी विकसित हो रही थी। सारंग-देव (1125-1247) के *संगीत रत्नाकर* में ध्रुव-वीणा वर्णित है।[3] तेरहवीं सदी में अलाउद्दीन ख़िलजी के लिए गोपाल नायक का लिखा एक ध्रुपद भी उल्लेखित है।[4] ग्वालियर के तोमर वंश के राजाओं ने ध्रुपद संगीत को रूप देने में ख़ास भूमिका निभायी। पुष्टिमार्गी वैष्णव महाप्रभु वल्लाभाचार्य (1479-1531) के समय राजा मान सिंह तोमर (शासनकाल 1486-1516) ने *मान-कुतूहल* में कुछ विष्णुपद और कुछ ध्रुपद लिखे। इसकी चर्चा फ़क़ीर-उल्लाह ने अपनी पुस्तक *राग दर्पण* में की है। यह माना जा सकता है कि आज का ध्रुपद कमोबेश उस काल में ही विकसित हुआ। स्वामी हरिदास, बैजनाथ मिश्र (बैजू बावरा) और रामतनु पांडेय (तानसेन) का काल-खंड भी इसी सातत्य से मेल खाता है।

जैसे-जैसे ध्रुपद गायन स्थापित होने लगा, इसकी भिन्न-भिन्न शैलियाँ जन्म लेने लगीं, जो बानी(वाणी) कहलायीं। मान्यता है कि ये स्वामी हरिदास द्वारा प्रबद्ध की गई। ध्रुपद की

---

[1] बानी शब्द 'वाणी' का अपभ्रंश है, जो ध्रुपद की भिन्न-भिन्न शैलियों के लिए प्रयोग होता है.

[2] ख़याल का अर्थ है सोच, या कल्पना.

[3] सारंग देव (1943) : 76.

[4] ध्रुपद है – 'धकदलन रे प्रबल्लनाद सिंघनाद बल अपबल वक्कर। कुंडान धीर अंडान मिलवात चपल चाप अचपल अक्कअर।। गीत गावत नाइक गोपाल विद्यावर साहिनसही अल्लावदी।। तपै डिली नरेस जाके वसुधा सुचित तुअत्रक्कधर।।' (गजेंद्र नारायण सिंह 2011 : 55).

चार वाणियाँ कही जाती हैं— डागुर (या डागर), खंडार, नौहर, गौहार (आर. के. दास, 2019)। गजेंद्र नारायण सिंह लिखते हैं :

> मअदनुलमौसिक़ी के प्रणेता हकीम मोहम्मद करम इमाम के अनुसार ग्वालियर निवासी तानसेन 'गौहारी' बानी के, खंडार निवासी समोखन सिंह 'खंडार' बानी के, दिल्ली के निकट डांग क्षेत्र के निवासी ब्रजचन्द 'डागुरी' या 'डागर' बानी के तथा राजपूताना के नौहा (नौहार) वासी श्रीचंद 'नौहार' बानी के प्रवर्तक हुए।

इन वाणियों के लिए एक प्रचलित पद है,

> ज़ोर ज़ोर से खंडार गाए
> मधुर बोल से नौहर लेवे
> साँस बड़ी है गौहर की
> अलापचारी है डागुर की

ध्रुपद की ये वाणियाँ मुग़ल दरबार में जब तानसेन के माध्यम से पहुँची, तो वहाँ भी स्थापित हुईं। आज मौजूद सभी वाणियाँ स्वयं को तानसेन और स्वामी हरिदास से जोड़ती हैं। वहीं अधिकांश ख़याल घराने भी तानसेन से अपनी पहचान जोड़ते रहे हैं। इस कारण इन दोनों शैलियों में भेद तानसेन के बाद ही उभरता है। मान्यता है कि मोहम्मद शाह 'रंगीला' के समय सदारंग और अदारंग ने ख़याल गायकी को विस्तार दिया, और उसके बाद यही गायकी लोकप्रिय होती गयी। लेकिन, मुग़ल दरबार के बाहर ध्रुपद गायकी क़ायम रही।

ध्रुपद का रिश्ता दक्षिण भारतीय संगीत से भी है। हिंदुस्तानी और कर्नाटक संगीत, दोनों, अपना उद्भव साम-गान से जोड़ते हैं, और दोनों के पद अविचल रहे हैं। ध्रुपद और कर्नाटक संगीत के कई पद संस्कृत में हैं। मान सिंह तोमर एवं पुष्टिमार्गी कवियों के समय ये लोक-भाषाओं (ब्रजभाषा, अवधी आदि) में लिखे जाने लगे। शकुंतला नरसिम्हन लिखती हैं :

> कृति/कीर्तन रूप (जो कर्नाटक संगीत का प्रचलित रूप है) में ध्रुपद से बहुत साम्य है, और पल्लवी रूप का भी (शकुंतला नरसिम्हन, 1999)।

प्रश्न यह है कि ऐसा सार्वभौमिक संगीत जो उत्तर से दक्षिण तक किसी न किसी रूप में पसरा हो, क्या वह स्त्रियों से अछूता रह गया होगा? क्या हवेली संगीत, या विष्णुपद महिलाएँ नहीं गाती होंगी? आज भी ध्रुपद गायन में मीराबाई के पदों को गाया जाता है, तो स्त्री-स्वर इस रूप में तो सदियों से मौजूद है ही। यह मुमकिन है कि कालांतर में ध्रुपद संगीत में जब वंशगत घरानों की परंपरा आई, तो यह मंदिरों के सहज विष्णु-कीर्तन से भिन्न एक कठिन शास्त्रीय प्रशिक्षण की ओर बढ़ने लगा हो।

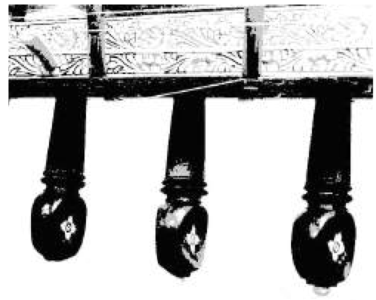
यह परंपरा वंशवादी भले न हो, लेकिन एक गुरु से उनके चुने हुए शिष्यों तक प्रसारित होने लगी। हवेली संगीत या विष्णुपद जहाँ सामाजिक संगीत के रूप में सभी गाते रहे, ध्रुपद संगीत मात्र एक ख़ास समूह के लोग ही सीखते और गाते रहे। यह कलावंतों तक तो पहले भी सीमित होता जा रहा था, लेकिन बानी ने इसे अधिक अनुशासित बना दिया। मसलन, ध्रुपद गायन के रियाज़ लंबे होने लगे, जो स्त्रियों के लिए भारतीय समाज में सुलभ नहीं था। उनके ऊपर पारिवारिक ज़िम्मेदारियाँ भी थीं। ध्रुपद से स्त्रियों की अनुपस्थिति का एक कारण यह भी हो सकता है।

ध्रुपद के अलग-अलग घराने हैं। बेहराम ख़ान के वंशजों ने डागुर/डागर घराने को आगे बढ़ाया। बिहार के दरभंगा और बेतिया में ज़मींदार-राजाओं ने दो ध्रुपद घरानों को प्रश्रय दिया। जहाँ डागर घराने में डागर वाणी गायी जाती रही, दरभंगा घराने में खंडार और गौहार वाणियों का मिश्रण आया। तलवंडी (पाकिस्तान) घराने में खंडार वाणी गाया गया। बेतिया घराने में सभी चार वाणियों का मिश्रण दिखता है। एक शाखा बंगाल के विष्णुपुर में गई, जो विष्णुपुर घराना कहलाई। बिहार के डुमराँव राजा ने डुमराँव घराने को आश्रय दिया। इन सभी घरानों में ऐतिहासिक रूप से स्त्री स्वर लगभग नहीं मिलता, और ये पुरुषों के घराने ही थे। घरानों के भीतर की इस पुरुष प्रधानता ने भी ध्रुपद में महिलाओं को हाशिए पर रखने में भूमिका निभाई।

माना जाता है कि अगर परिवार में संगीत का माहौल हो, और कोई बचपन से ही संगीत सीख रहा हो, तो उसकी क्षमता अधिक होती है। अमराम शेनफ़ील्ड ने अपनी पुस्तक *यू ऐंड हेरेडिटी* (1939) में इस बात की विस्तृत व्याख्या की है कि अगर माता-पिता संगीतकार हों तो उनकी संतानों में सत्तर प्रतिशत तक सांगीतिक प्रतिभा हो सकती है। लेकिन इस व्याख्या से पुरुष और महिला, दोनों में बराबर क्षमता ही होती है। अगर ध्रुपद घरानों में स्त्री संतानों को भी संगीत शिक्षा दी जाती, तो वे सफल होतीं। अब उसके उदाहरण मिल रहे हैं, जिनकी चर्चा मैं आगे करूँगा। इन घरानों से जुड़े सामाजिक कारणों से इतर महिलाओं की कम भागीदारी के तकनीकी कारण भी हैं, जिस पर हम आगे चर्चा करेंगे। ध्रुपद अपनी रूढ़ संरचना के कारण भी महिलाओं के लिए अनुपयुक्त रहा।

ध्रुपद का तकनीकी पक्ष

ध्रुपद गायकी और ख़याल गायकी में अगर एक आम श्रोता अंतर ढूँढे तो कुछ अंतर मंच पर ही दिखाई दे सकते हैं। ख़याल गायकी में तबले की संगत दिखती है तो ध्रुपद गायकी में पखावज की। लेकिन यह बहुत ही सपाट अंतर है। मंदिरों में पखावज का लम्बा इतिहास रहा है। इसी को दो फाँक कर क्रमशः 'जोड़ी तबला' का निर्माण हुआ। यह सहूलियत का मामला भी है। मसलन पुराने हार्मोनियम में पैर से हवा भरी जाती थी और दोनों हाथों से पियानो की तरह बजाया जाता था। लेकिन चूँकि मंच पर सभी पालथी मार कर बैठने लगे तो एक हाथ से हवा भरी जाने लगी, और दूसरे हाथ से सफ़ेद-काली कुंजियाँ दबानी होती हैं। इसी तरह



पखावज से अधिक आसानी से बजाने के लिए तबला का विकास हुआ होगा। लेकिन आज भी ध्रुपद में पखावज क़ायम है। कर्नाटक संगीत में नादश्वरम उसी का मिलता-जुलता रूप है।

ध्रुपद में जो आलाप लिया जाता है, उसे नोम-तोम का आलाप कहते हैं। यह एक श्लोक का अपभ्रंश माना जाता है – 'ओम् अनंत तारन तारिणी तोम ओम् हरि नारायण ओम्'। इसे गायन में 'ओम् ता ना ना ना तोम री रे ना ना ओम्' कह कर गाते हैं। ख़याल में मुख्यतः आकार आलाप लिए जाते हैं, जो श्रवण में 'आ' रूप में सुनाई देते हैं। ख़याल गायकी में 'मुर्की' और 'खटका' का उपयोग होता है, जो ध्रुपद में नहीं होता। ध्रुपद में मीड़ का उपयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त ध्रुपद में मुरन, घूरन, गमक, सूत, हुदक, कम्पित, आंदोलन आदि का प्रयोग होता है।

ध्रुपद की बंदिश स्पष्ट होती है और इसकी भाषा अधिकांश संस्कृत है। इसके अतिरिक्त ब्रज भाषा, खड़ी बोली और कुछ लोक-भाषाओं के पद भी इसमें शामिल है। बंदिश के चार अंग होते हैं – स्थायी, अंतरा, संचारी और अभोग। यह दक्षिण भारतीय कर्नाटक संगीत के समकक्ष ही है, जिसके चार अंग हैं – पल्लवी, अनुपल्लवी, चरणम, चित्तस्वरम। ख़याल की बंदिश लोकभाषा जैसे ब्रजभाषा, अवधी, उर्दू, हिन्दी सभी में मिल जाती है। इसके दो अंग- स्थायी और अंतरा है। ख़याल में पूरी बंदिश गाने की प्रतिबद्धता नहीं है, जबकि ध्रुपद और कार्नाटिक संगीत में पदों को संपूर्ण गाने की परंपरा रही है।

उपरोक्त तकनीकी पक्ष में महिलाओं के लिए असुविधा नहीं नज़र आती। अगर वे ख़याल गायकी कर सकती हैं, तो ध्रुपद भी गा ही सकती हैं। लेकिन पारम्परिक रूप से ध्रुपद गायन के स्वरमान और स्केल में मंद्र सप्तक या भारी गले की आवाज़ पर बल दिया गया। यह महिलाओं के प्राकृतिक स्वर से मेल ही नहीं खाती। जैसे लता मंगेशकर के अधिकांश गीत सफ़ेद चार (पाश्चात्य संगीत के एफ़ स्केल), सफ़ेद तीन (ई) या काली दो (डी शार्प) स्केल में हैं। उन्हें अगर काली एक (सी शार्प) या सफ़ेद एक (सी) में गाने को कहा जाए, जो किशोर कुमार का स्केल है, तो उनके लिए संभवतः उपयुक्त न हो। ऐसे उदाहरण मिल सकते हैं, जब महिलाओं की भी पुरुषों की तरह बैरिटोन आवाज़ होती है, जैसे उषा उत्थुप की आवाज़, लेकिन वे अपवाद हैं। गंगूबाई हंगल की आवाज़ टॉन्सिल के ऑपरेशन के बाद पुरुषों जैसी भारी हो गई, तो वे उस स्केल में गा सकीं। ध्रुपद में गमक के उपयोग में जब भारी आवाज़ में गले को कम्पित करना होता है, वहाँ पुरुषों को प्राकृतिक सुविधा होती है। ख़याल गायकी में भी मंद्र सप्तक का उपयोग है और राग दरबारी जैसे रागों में महिलाओं को समस्या आती है। लेकिन ख़याल के लचीलेपन ने महिलाओं को यह स्वतंत्रता दी कि वे न सिर्फ़ गा सकें, बल्कि निपुणता से अपने स्वरमान पर गा सकें। अब जब ध्रुपद में भी महिलाएँ गा रही हैं, तो वह अपने स्केल के मंद्र सप्तक के गमक गा रही हैं, और वह उपयुक्त लगता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि दैहिक सीमा एक भ्रांति है, जो महिलाओं की ध्रुपद की शिक्षा में आड़े नहीं आ सकती।

ध्रुपद में महिलाएँ : ऐतिहासिक और सांस्कृतिक धरातल

ध्रुपद में महिलाओं का प्रवेश कब हुआ, यह कहना कठिन है। वैदिक काल में संगीत समाज का अभिन्न अंग था, और इसका आयोजन स्त्रियाँ करती थीं। इनका ध्येय ईश्वर की उपासना से संबंधित था, जो दिनचर्या का हिस्सा था। उस समाज में 'समन' नामक एक सांगीतिक उत्सव भी होता था, जिसमें हालाँकि महिलाओं की मुख्य भूमिका नृत्य थी। साम-गान में मंत्रोच्चार पुरुषों का उत्तरदायित्व था। लेकिन वैदिक परंपराओं में ध्रुपद की उपस्थिति अस्पष्ट है। पन्द्रहवीं सदी से ही ध्रुपद गायन को व्यवस्थित रूप से देखा जा सकता है। उस काल में हवेली संगीत में स्त्रियों की भूमिका न रही हो, इसका कोई तर्कसंगत कारण नहीं लगता। तानसेन की किंवदंतियों में ताना और रिरी नामक बहनों का नाम आता है, जो गुजरात के वडनगर क्षेत्र में थी। कुछ स्रोत यह भी कहते हैं कि ध्रुपद का 'ता ना रि रि' अलाप उन्हीं के नाम से जन्मा, लेकिन इसके प्रमाण मिलने कठिन हैं।

पहली महिला ध्रुपद गायिका के रूप में असग़री बाई (1918-2006) का नाम उभरता है। वे ओरछा रियासत की राजगायिका थीं, जिन्होंने कम उम्र में ही उस्ताद ज़हूर ख़ान से तालीम ली। उनका ध्रुपद अपेक्षाकृत सुगम था और किसी वाणी से सीधे तौर पर नहीं जुड़ा था। जब रियासतों की व्यवस्था ख़त्म हुई, असग़री बाई भी लम्बे समय के लिए भुला दी गयीं। उन्होंने ध्रुपद सम्मेलनों में भी गाया लेकिन ध्रुपद के अन्य स्थापित घरानों के सामने उनका अस्तित्व गौण ही रहा। असग़री बाई पर एक वृत्तचित्र (प्रीति चंद्रियानी और बह्मानंद सिंह 2011) अवश्य उल्लेखनीय है। असग़री बाई के अलावा जिन्हें अक्सर पहली महिला ध्रुपद गायिका कहा जाता है, वे हैं ध्रुपद गायक लक्ष्मण भट्ट तैलंग की शिष्या और पुत्री मधु भट्ट तैलंग। हालाँकि, उनसे पहले उस्ताद नसीर अमीनुद्दीन डागर की शिष्या अशोका धर (जन्म-1946) गाती रही हैं।

मधु भट्ट तैलंग पहली मिसाल हैं जब किसी ध्रुपद गायक ने अपनी पुत्री को ध्रुपद सिखाना शुरू किया और उनकी आवाज़ को पखावज के उपयुक्त पाया। उन्होंने जब तेरह वर्ष की अवस्था में मंच पर ध्रुपद गया तो यह श्रोताओं के लिए भी एक आश्चर्य था कि महिलाएँ ध्रुपद गा सकती हैं। इस तरह दशकों पुरानी धारणा टूट रही थी कि तकनीकी कारणों से महिला ध्रुपद नहीं गा सकतीं। तैलंग ने ध्रुपद धाम संस्थान भी स्थापित किया।

ध्रुपद के घरानों में यह प्रथा डागर घराने से शुरू हुई। अशोका धर ने नसीर अमीनुद्दीन डागर से शिक्षा ग्रहण की। वे उनकी वरिष्ठतम शिष्या रहीं, और देश-विदेश के मंचों पर गायन किया। लेकिन, स्त्रियों का प्रवेश अधिकांश तभी शुरू हुआ, जब घरानों से इतर प्रशिक्षण के लोकतांत्रिक संस्थान स्थापित हुए, यानि ऐसे संस्थान जहाँ वंशवादी परंपरा न हो। संगीत महाविद्यालय पहले भी मौजूद थे लेकिन उनमें गुरु-शिष्य परंपरा का कलेवर न था।

1978 में आई टी सी नामक कम्पनी ने कलकत्ता में संगीत शोध संस्थान स्थापित किया। इस संस्थान की विशेषता थी कि यहाँ गुरु-शिष्य परंपरा से शिक्षा प्रारंभ हुई। किंतु इस संस्थान



में मुख्यतः ख़याल गायकी और वादन की ही शिक्षा दी जाती। इसके तीन वर्ष बाद 1981 में अशोक वाजपेयी और मणि कौल जैसे कला-प्रेमियों ने ज़िया फ़रीदुद्दीन डागर से अनुरोध किया कि वे भोपाल में एक संस्थान की ज़िम्मेदारी लें। फिर जन्मा ध्रुपद केंद्र। उदय भवालकर और गुंदेचा बंधु जैसे कलाकार इस संस्थान के शुरुआती प्रशिक्षुओं में रहे। इसी संस्थान के सुलभा सर्राफ़ और मनोज सर्राफ़ ध्रुपद के पहले महिला-पुरुष युगल जोड़ी बने। सोमबला सतले कुमार और सुलेखा काम्बले जैसी गायिकाएँ भी यहीं से उभरीं। बाद में गुंदेचा बंधुओं से स्वयं एक ध्रुपद संस्थान की भी स्थापना की और महिला ध्रुपद गायिकाओं का उदय होना शुरू हुआ।

इससे यह संकेत मिलता है कि ऐतिहासिक रूप से सामाजिक कारणों और घरानों की रूढ़ संरचना के कारण महिलाओं का ध्रुपद में प्रवेश कम रहा। जब ये मार्ग खुल गए, उनकी भागीदारी बढ़ती चली गई। मेघना सरदार केंजाले ने उदय भवलकर से शिक्षा ग्रहण की। आलिया राशिद एक दृष्टिबाधित गायिका हैं, जिन्होंने ध्रुपद संस्थान से प्रशिक्षण लिया और पाकिस्तान की पहली महिला ध्रुपद गायिका बनीं। आस्था त्रिपाठी, रूपाली जैन, अमिता सिन्हा महापात्रा, जाह्नवी फंसालकर और अनुजा बरोड़े जैसे नाम इस संस्थान से जुड़ते चले गए। यहाँ से सीख कर गयी कई महिलाएँ विदेश में भी हैं, जैसे मैरिएना स्वचेक और सिलीना वाडीयर।

इसके साथ ही स्थापित घरानों ने भी अपना योगदान देना शुरू किया। दरभंगा घराने की संतान रूबी मल्लिक इसके ऐसे उदाहरणों में हैं, जब किसी ऐतिहासिक ध्रुपद घराने में स्त्री गायिका आई। इसके अतिरिक्त इसी घराने की शिष्या नीता रामानाथन, नमिता यादव, सुचेता रक्षित और अमीलिया कुनी (इटली) हैं। ज़िया फ़रीदुद्दीन डागर की शिष्या पेलवा नाइक ध्रुपद गा रही हैं। उस्ताद रहीम फ़हीमुद्दीन डागर की शिष्या काबेरी कार ध्रुपद और ख़याल दोनों ही गाती रही हैं। कुछ अन्य ध्रुपद गायकों की बेटियाँ भी सम्मिलित हुईं जैसे श्री दत्त शर्मा की बेटी अदिति शर्मा गर्ग।

इनमें अधिकांश ने पिछले चार दशकों में ही प्रशिक्षण प्रारंभ किया, और कुछ अभी तक मंचीय प्रस्तुति तक नहीं पहुँच सकी हैं। अगर ध्रुपद के चार सौ वर्षों से अधिक के इतिहास को लें, तो इसका नब्बे प्रतिशत काल महिलाओं से रहित है। ध्रुपद में महिलाओं का प्रवेश वंशवादी परंपरा से संस्थागत परंपरा की दिशा में जाने से संभव हुआ। लेकिन इससे यह सिद्ध नहीं होता कि गुरु-शिष्य परंपरा में दोष था। बल्कि, जिस तरह की तैयारी आज भी घरानेदारी में दिखती है, वह इन संस्थाओं के विद्यार्थियों में अपेक्षाकृत कम दिखती है। इसका सीधा कारण है कि वहाँ संगीत घर के माहौल में ही होता है। वे बचपन से अपने पिता के साथ संगीत को देख-सुन और समझ रहे होते हैं। वह पर्यावरण या माहौल किसी संस्था में मिलना कठिन है।

स्त्री स्वर का भविष्य

ध्रुपद के संरक्षण और प्रसार के लिए महत्त्वपूर्ण है कि महिलाओं की अधिकाधिक भागीदारी हो। महिलाओं के प्रवेश के साथ ही ध्रुपद गायन की शैली में स्वाभाविक अंतर आया है। पहले ध्रुपद गायकी में तार-सप्तक का उपयोग कम था, और मंद्र-सप्तक (खड़ज) का काम अधिक था। अब पुरुष गायक भी मध्यम और तार सप्तक का बहुधा उपयोग कर रहे हैं। स्त्री गायिकाओं के लिए तो यह सुलभ है ही, श्रोता भी इस बदलाव को पसंद कर रहे हैं। इसका कारण यह भी है कि ध्रुपद की सीमाएँ बढ़ गई हैं, और ख़याल गायकी पसंद करने वाले भी इस गायकी से जुड़ रहे हैं।

एक प्रयोग की सम्भावना बनती है कि स्त्री और पुरुष साथ गाएँ। ध्रुपद में पुरुषों की जुगलबंदी की लम्बी परंपरा रही है। डागर बंधु, मल्लिक बंधु, गुंदेचा बंधु आदि जोड़े में ही गाते रहे हैं। महिला-पुरुष जुगलबंदी सिर्फ़ सर्राफ़ दम्पत्ति में देखने को मिलती है। लेकिन, ऐसी जुगलबंदी में समस्या 'स्केल' की है, जो स्वाभाविक रूप से पुरुष और महिला का भिन्न होता है। ऐसे में पंडित जसराज का एक प्रयोग उल्लेखनीय है। उन्होंने एक प्राचीन 'मूर्छना' पद्धति का प्रयोग किया, जिसके अनुसार दो 'स्केल' पर दो राग साथ गाए जाने से जुगलबंदी संभव हो पाती है। इसे उन्होंने 'जसरंगी' नाम दिया। ऐसे ही प्रयोग ध्रुपद गायकी में भी मुमकिन हैं, जब स्त्री और पुरुष एक ही मंच पर साथ गाएँगे, और श्रोताओं को असुविधा नहीं होगी। साथ ही संगीत की बढ़ती व्यावसायिकता के इस दौर में श्रोता पुरुष और महिला, दोनों स्वरों को सुनना पसंद करते हैं। बाज़ार के बढ़ते दबाव के नाते भी इस क्षेत्र में महिलाओं की भूमिका बढ़ी है।

संगीत का समाज तीन आधारों पर टिका है – गुरु, शिष्य/प्रशिक्षु, और श्रोता। इस समाज के विस्तार के लिए इन तीनों आधारों का सशक्त होना आवश्यक है। वर्तमान स्थिति यह है कि ध्रुपद शिक्षण के मुख्य संस्थान भोपाल में ही हैं। इसके अतिरिक्त प्रयाग में पंडित विदुर मल्लिक संस्थान मौजूद है, और कुछ अन्य निजी शिक्षा संस्थान भी हैं। इनके अधिक विस्तृत

होने से महिलाओं का प्रवेश बढ़ता जाएगा। मसलन, राजधानियों और मुख्य विश्वविद्यालयों से संलग्न *सोसायटी फ़ॉर प्रमोशन ऑफ़ इंडियन क्लासिकल म्यूज़िक ऐंड कल्चर इन यूथ* (स्पिक मैके) जैसी संस्थाएँ युवाओं को इस ओर अधिक आकर्षित कर सकती हैं जिसके भारत में 800 से अधिक और विदेश में 100 से अधिक निकाय मौजूद हैं। दरभंगा घराने के प्रशांत और निशांत मल्लिक इसके अंतर्गत ध्रुपद कार्यशालाएँ कराते हैं, जिनमें पुरुष और महिला दोनों भाग लेते हैं।

इन माध्यमों से अगले दशक में महिला गायकों और श्रोताओं में गुणात्मक वृद्धि की सम्भावना दिखती है, जो भविष्य के समाज के लिए एक सकारात्मक सम्भावना है। पिछले दशक में ध्रुपद शिक्षा में 'ऑनलाइन शिक्षा' भी जुड़ी है, जिसमें उच्च कोटि की तकनीकों का प्रयोग कर सुदूर क्षेत्रों में संगीत शिक्षा दी जा रही है। प्रशांत मल्लिक ने बातचीत में कहा कि उनके शिष्य दक्षिण भारत, अमेरिका, युरोप, और मध्य एशिया में मौजूद हैं, जो नियमित ऑनलाइन शिक्षण ले रहे हैं और उनकी प्रगति अच्छी है। यह महिलाओं के लिए भी सुविधाजनक सिद्ध हो रहा है, और बालिकाएँ स्कूल के बाद संगीत-शिक्षा ले पा रही हैं। इसके पीछे एक कारक समाज में क्रय क्षमता का बढ़ना भी है, कि अब मध्य-वर्गीय परिवारों में भी संगीत पर निवेश किया जा रहा है। एक और कारण संचार माध्यमों जैसे टेलीविज़न पर आने वाले कार्यक्रमों, यूट्यूब चैनलों आदि से बढ़ता प्रचार-प्रसार भी है।

ध्रुपद की लोकप्रियता बढ़ाने के लिए कुछ और प्रयोग भी दिखते हैं, जिससे महिलाओं की रुचि बढ़ी है। अब कुछ नए पदों को गाया जा रहा है, जो पारम्परिक रूप से नहीं गाए जाते थे। इसी तरह स्त्रियों के प्रिय माने जाने वाले राग, जैसे मधुवंती पहले ध्रुपद में कम गाए जाते थे। अब उनका प्रवेश हो रहा है। स्त्रियाँ अपने कुछ आधुनिक समूह भी बना रही हैं, जिनमें 'ध्रुपद सिस्टर्स' उल्लेखनीय है। यह समूह तीन ध्रुपद गायिकाओं अमीता सिंहा महापात्रा, जाह्नवी फंसालकर और अनुजा बोरडे (पखावज वादक) ने मिल कर बनाया है। तीनों ही ध्रुपद संस्थान, भोपाल से प्रशिक्षित हैं। वे पारम्परिक मंचों का उपयोग नहीं करतीं, बल्कि सामाजिक माध्यमों से श्रोताओं को जोड़ रही हैं। आधुनिक युग में इस तरह के साधन उपलब्ध हैं कि संगीत के प्रसार के लिए किसी बड़े बैनर की संगीत कम्पनी की आवश्यकता नहीं। श्रोता भी सम्मेलनों में पहुँचने के बजाय घर बैठे संगीत देखना या सुनना पसंद करने लगे हैं।

निश्चितरूपेण यह हिंदी पट्टी में एक आधुनिक हस्तक्षेप है, जो संगीत के क्षेत्र में देखा गया। अगले कुछ दशकों में स्त्री-स्वर अधिक संगठित, प्रत्यक्ष और स्वीकार्य होता जाएगा। लेकिन, कला क्षेत्र में प्रतिभाएँ किसी सामाजिक आंदोलन से उत्पन्न नहीं की जा सकतीं। यह एक सतत प्रक्रिया है, जो रुचि और साधना पर आधारित है। ध्रुपद में स्त्रियों के लिए द्वार खुलना इस दिशा में एक सीढ़ी मात्र है।

संदर्भ

अलोकपर्णा दास (2019), *ध्रुपद, विष्णुपद ऐंड हवेली संगीत* (किंडल संस्करण), गोया पब्लिशिंग, नई दिल्ली.

आर. के. दास (2014), *डेल्विंग डीप इंटू द ध्रुपद टर्मिनॉलजी*, *ध्रुपद ऐंड डागर्स*, ई-बुक, ऐमेज़ॉन किंडल.

कैथरीन एलिस (2009), 'सोसियॉलॉजी ऑफ़ म्यूज़िक', हार्पर स्कॉट और जिम सैम्सॉन (सं.), *ऐन इंट्रोडक्शन टू म्यूज़िक स्टडीज़*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज : 43-58.

गजेंद्र नारायण सिंह (2011), *बिहार की संगीत परंपरा*, तक्षशिला प्रकाशन.

डैनियल न्यूमन (1990), *लाइफ़ ऑफ़ म्यूज़िक इन नॉर्थ इंडिया*, युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, शिकागो.

निवेदिता सिंह (2004), *ट्रैडिशन ऑफ़ हिंदुस्तानी म्यूज़िक : अ सोसियोलॉजिकल अप्रोच*, कनिष्क पब्लिशर, नई दिल्ली.

प्रीति चंद्रियानी और ब्रह्मानंद सिंह (निर्देशक), (2011), *असग़री बाई*, मोबिस फ़िल्म्ज़, https://youtu.be/BTSbWhj6BL8

शकुंतला नरसिम्हन (1999), ध्रुपद ऐंड कर्नाटक म्यूज़िक, *जर्नल ऑफ़ इंडियन म्यूज़िकोलॉजिकल सोसायटी* : 135-140.

शेनफ़ील्ड अमराम (1939), *यू ऐंड हेरेडिटी*, लिप्पिनकोट, फ़िलाडेल्फ़िया.

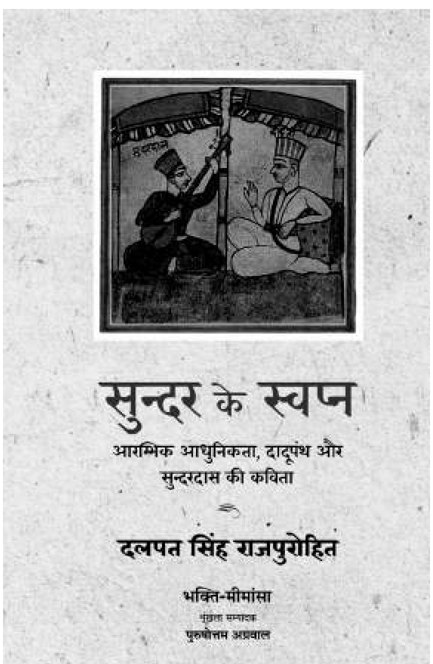
सत्यवती शर्मा (1995), *संगीत का समाज शास्त्र*, पंचशील प्रकाशन, जयपुर.

सबा दीवान (2019), *तवायफ़नामा*, वेस्टलैंड, चेन्नई.

सारंग देव (सं.) (1943), *संगीत रत्नाकर*, अदयार लाइब्रेरी, चेन्नई.

आरंभिक आधुनिकता, हिंदी साहित्य का इतिहास लेखन और *सुंदर के स्वप्न*

रबि प्रकाश



***सुंदर के स्वप्न* (2022)**

दलपत सिंह राजपुरोहित

राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली.

पृष्ठ : 360.

मूल्य : ₹ 297.

दलपत सिंह राजपुरोहित की नई किताब, *सुंदर के स्वप्न : आरंभिक आधुनिकता, दादूपंथ और सुंदरदास की कविता*, को हिंदी साहित्य के इतिहास-लेखन में एक महत्त्वपूर्ण योगदान के रूप में देखा जाना चाहिए। गहरे और व्यापक शोध पर आधारित, इतिहास-लेखन के समकालीन सैद्धांतिक विमर्श से सुपरिचित, दादूपंथी संप्रदाय के संत सुंदरदास (1596-1689) को केंद्र में रख कर लिखी गई यह किताब भक्ति-कालीन संतों की बौद्धिकता, उनके धार्मिक-आध्यात्मिक चिंतन व उनके सामाजिक, राजनीतिक सरोकारों को एक नवीन परिप्रेक्ष्य और दृष्टि से उद्धृत करती है। एक ऐसे बौद्धिक परिवेश में जहाँ हिंदी में प्रस्तुत ज़्यादातर शोध-परक लेखन क्षेत्रीयता के शिकार एवं इतिहास-लेखन और उसकी सैद्धांतिकी की समकालीन वैश्विक बहस से बेख़बर से दिखते हैं, दलपत की किताब *सुंदर के स्वप्न* हिंदी की दुनिया के लिए एक सुखद परिघटना है।

पिछले कुछ दशकों में, पूर्व-आधुनिक-काल के हिंदी-साहित्य' और उससे संबंधित अन्य भाषाओं के संदर्भ-स्रोतों का नए नज़रिए से अध्ययन शुरू हुआ है, जो इतिहास-लेखन के वैश्विक विमर्श से संवाद करता है। यह विमर्श आधुनिकता को यूरोपीय प्रबोधन और औद्योगीकरण की उपज के रूप में देखने के मिथक पर पुनर्विचार करने की ज़रूरतों को रेखांकित करता है, तथा आधुनिकता के सवाल को यूरोपीय और पाश्चात्य समाज में घटने वाली एकमात्र घटना से परे देखने के आह्वान के साथ शुरू हुआ है। इस विमर्श में आरंभिक-आधुनिकता की अवधारणा एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है और इतिहास-लेखन के विमर्श को नई दिशा देती हुई दिखाई देती है। दलपत ने इसी विमर्श के हवाले से हिंदी साहित्य के इतिहास को नए दृष्टिकोण से देखने का आह्वान किया है। ज़रूरत इस बात की है कि हिंदी और देशभाषा के विद्वत्जन इस किताब की प्रस्तावना को लेकर एक सकारात्मक जाँच-पड़ताल करें और हिंदी साहित्य के इतिहास के अध्ययन में इसकी गुंजाइश पर विचार करें। एक ओर जहाँ आधुनिकता व आरंभिक आधुनिकता की बहस हिंदी साहित्य के इतिहासकारों के लिए नई नहीं है, वहीं, आरंभिक हिंदी के लेखकों, काव्य-सिद्धांतकारों को लेकर एक गहरे और गंभीर शोध-परक अध्ययन अभी तक विरले ही मिलते हैं।

आरंभिक-आधुनिकता का विमर्श, देश-भाषाओं का बौद्धिक व सांस्कृतिक सरोकार व हिंदी साहित्य का इतिहास

'परंपरा' बनाम 'आधुनिकता' की बहस में उलझी हुई आधुनिकता की चर्चा, मोटे तौर पर, विश्व समाज को प्राच्य और पाश्चात्य की दो पारस्परिक विरोधी सभ्यताओं के रूप में देखने का नज़रिया पेश करती रही हैं। इसके तहत हुई स्थापनाओं का सार कुछ यूँ रहा है : पाश्चात्य समाज या सभ्यता अपनी परंपरागत सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक व्यवस्थाओं एवं बौद्धिक और तकनीकी सोच से बाहर निकल कर, आधुनिक-वैज्ञानिक, तर्क-बुद्धिवादी सोच विकसित करने में कामयाब हुई जबकि प्राच्य समाजों/सभ्यताओं में कोई ऐसी ख़ास ऐतिहासिक घटना नहीं घटी जो उनकी अपनी आधुनिकता के कारण बन सकती थी।

भारतीय इतिहासकारों और समाज विज्ञानियों के बीच एक प्रबल मत यह रहा है कि भारतीय समाज की वर्तमान आधुनिकता औपनिवेशिकता के ज़रिए गृहीत-आधुनिकता है। इस संदर्भ में, आरंभिक-आधुनिकता का विमर्श, औपनिवेशिक सत्ता के द्वारा प्रायोजित-'आधुनिकता' के परे 'आधुनिक' होने की संभावना और उसकी कसौटी तलाशने का विमर्श है।

इस दिशा में, आरंभिक-आधुनिकता का विमर्श इतिहास लेखन में काल-विभाजन की समस्या का एक तरह से लोकतंत्रीकरण का परिचायक भी है।[1] मध्य-काल और आधुनिक-काल जैसा काल-विभाजन पाश्चात्य और ग़ैर

[1] देखें, रुडोल्फ़ स्टर्न (2002) : 296-307. और ये भी देखें, 'द प्रॉब्लम ऑफ़ द अर्ली मॉडर्न वर्ल्ड', *जर्नल ऑफ़ इकनॉमिक ऐंड सोशल हिस्ट्री ऑफ़ द ओरिएंट*, वॉल्यूम 41, नंबर 3, 1998 : 294-284.

पाश्चात्य समाजों में अलग-अलग तरीक़े से किया जाता रहा है। आरंभिक-आधुनिकता की संकल्पना को सबसे प्रभावी रूप से दक्षिणी एशियाई इतिहासकारों ने लिया है। जिसका एक कारण भारतीय इतिहास के मध्य काल और आधुनिक काल के बीच की अवधि निर्धारण से जुड़ा है वहीं दूसरा आधुनिकता की बहस से संबंधित है। यहाँ आरंभिक-आधुनिकता का विमर्श, 16 वीं शताब्दी से 19 वीं शताब्दी के बीच एक निरंतरता तलाशने का विमर्श है। इस दिशा में, संजय *सुब्रह्मण्यम* का लेख, *हियरिंग वॉयसेज़ : विन्येट्स ऑफ़ अर्ली माडर्निटी इन साउथ एशिया*, एक प्रसिद्ध हस्तक्षेप है।[2] अपने इस आलेख में *सुब्रह्मण्यम* ने औपनिवेशिक काल के पूर्व में भारतीय समाज के स्थापित अपरिवर्तनीय चरित्र चित्रण को न केवल चुनौती दी बल्कि, जाति संबंधित सामाजिक रिश्तों के बदलते स्वभाव, भाषाई विविधता ज और दक्षिण एशिया में 'पब्लिक' के उभरने की देशी अवधारणा को सफलतापूर्वक स्थापित किया है।[3] आरंभिक-आधुनिकता को परिभाषित करने का एक संजीदा व प्रभावी प्रयास जॉन एफ़ रिचर्ड्स ने अपने एक आलेख, 'अर्ली मॉडर्न इंडिया ऐंड वर्ल्ड हिस्ट्री'*[4]* में किया। उनकी नज़र में, आरंभिक आधुनिकता, 1500-1800 के दौरान घटने वाली वैश्विक परिघटनाएँ हैं। उन्होंने इन घटनाओं की एक सूची पेश की जिसमें सूचना तंत्र के विस्तार, राज्यों की सत्ता का विस्तार, जनसंख्या में वृद्धि, उत्पादन में भूमि के इस्तेमाल में बढ़ोतरी, और नई तकनीकों के प्रसार को शामिल किया। लेकिन ये आरंभिक आधुनिकता से ज़्यादा, एक आधुनिकीकरण की अवधारणा को गढ़ने जैसा था। एक महत्त्वपूर्ण प्रस्थापना के रूप में, रिचर्ड्स भारतीय समाज और अर्थव्यवस्था के वैश्विक जुड़ाव या वैश्विक समाज और अर्थव्यवस्था में सहभागी होने की भूमिका को रेखांकित करने में सफल रहे। पश्चिमी विमर्श में, आधुनिकता आधुनिकीकरण का एक हिस्सा है जो नए संस्थानों के उद्भव और निर्माण का एक अहम सूचक है। आधुनिकता के एक दूसरे पहलू के रूप में, आलोचनात्मक आत्म-चिंतनशीलता के विकास, और उभरते हुए सामाजिक, वैचारिक प्रक्रियाओं पर एक इहलौकिक नज़रिए के प्रादुर्भाव को देखा जाता है। आधुनिकता और आधुनिकीकरण के बीच अवधारणात्मक फ़र्क़ भी देखा जा सकता है। आधुनिकीकरण मानव का प्रकृति को काबू में करने का पर्याय है, आधुनिकता मानव का अपने ऊपर नियंत्रण या ऐसा मानवीय तंत्र है जो दमनात्मक विशेषाधिकार और सत्ता पर काबू पाने से जुड़ा है।[5] दक्षिणी एशियाई आरंभिक

---

[2] संजय *सुब्रमण्यम* (1998) : 75-104.

[3] सुब्रह्मण्यम ने अपने स्रोतों के हवाले से ये प्रस्ताव भी रखा कि वक़्त आ गया है कि दक्षिणी एशियाई इतिहासकार युरोप और पश्चिमी समाज की आरंभिक-आधुनिकता की 'संदिग्ध (एम्बिगुअस) अवधारणा' को दुरुस्त करें. हालाँकि सुब्रह्मण्यम ने 'संदिग्ध अवधारणा' को विस्तार नहीं दिया या परिभाषित नहीं किया है.

[4] देखें, जॉन एफ़ रिचर्ड्स (1997) : 197-209.

[5] इमैनुएल वॉलस्टीन (1995) : 471-488.

आधुनिकता का विमर्श आधुनिकता के इन्हीं ख़ास चारित्रिक अर्थों के इर्द-गिर्द रहा है।

दिलचस्प बात ये है कि दक्षिण एशिया की आरंभिक-आधुनिकता के विमर्श के केंद्र में देशी-भाषाएँ (वर्नाक्युलर) और उनमें होने वाले यही बौद्धिक क्रिया-कलाप हैं।[6] साहित्यिक और बौद्धिक संस्कृति में होने वाले परिवर्तनों में देशी-भाषाओं में घटने वाली घटनाएँ, न केवल अप्रत्याशित थीं, बल्कि ये वैश्विक स्तर पर होने वाले बौद्धिक परिवर्तनों के समानार्थी और समतुल्य भी थीं।

आरंभिक-आधुनिकता के मद्देनज़र एक महत्त्वपूर्ण हस्तक्षेप शेल्डन पोलॉक ने निरंतरता, अवरोध और समानार्थकता आदि सवालों के साथ जूझते हुए किया है। भारतीय और यूरोपीय बौद्धिक परंपरा में दीर्घकालीन सदृश्यता की तरफ़ इशारा करते हुए उन्होंने यह दर्शाया कि इन दोनों परंपराओं के विद्वानों की रुचि एक जैसी प्रतीत होती है। मसलन, बनारस के पंडित कमलाकर भट्ट और फ्रांसीसी कवि निकोलस बोईलू (1636-1711) के अलंकार शास्त्र और उसका शास्त्रीय प्रबंधन, नीति-शास्त्र से संबंध, और साहित्यिक सृजनात्मकता के स्रोतों की विधाओं के प्रति रुचि परस्पर मिलती-जुलती और साझी प्रतीत होती है। फिर भी अगर दोनों परंपराओं को व्यवस्थित रूप से जाँचा जाए तो, हम यह पाते हैं कि 17 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ये दोनों बौद्धिक परंपरायें अलग-अलग तरीक़े से विकसित हुईं। जहाँ भारतीय राजनीतिक विचार के क्षेत्र में नीलकंठ भट्ट और मित्र मिश्र पैदा हुए वहीं यूरोप के राजनीतिक दर्शन के क्षेत्र में थॉमस हॉबस, और फ्रांसिस्को सॉरेज़ आदि पैदा हुए।[7]

यहाँ एक बात को रेखांकित करना ज़रूरी है कि पोलॉक का मन्तव्य औपनिवेशिक-काल के पूर्व भारत के प्रति किसी तरह के आलोचनात्मक रुख़ का नहीं है। बल्कि यहाँ वे उस संभावना के प्रति इशारा कर रहे हैं कि तर्क, अलंकार, धर्म, और राज्य शास्त्र के भारतीय विशेषज्ञों ने तत्कालीन भौतिक-परिवर्तनों के प्रति सजग अनुक्रिया नहीं की। पोलॉक के सवाल, भारतीय इतिहासकारों के लिए, आधुनिकता के पैराकारों के लिए, उसकी भिन्न संकल्पना की दिशा में एक बड़ी चुनौती पेश करते हैं।

हालाँकि, दक्षिण एशियाई इतिहासकारों और विद्वानों के लिए आरंभिक-आधुनिकता की बहसों के केंद्र में दो प्रमुख सवाल हैं। पहला, क्या यूरोपीय आधुनिकता का वर्तमान अभिरूप वाक़ई अपरिहार्य था और शेष ग़ैर-पाश्चात्य समाजों के लिए इसको आत्मसात करने के अलावा कोई अन्य विकल्प नहीं था या है? इस प्रश्न की संकल्पना में, आधुनिकता के अनेकता की कोई गुंजाइश नहीं बचती है। दूसरा, आरंभिक आधुनिकता के विभिन्न स्वरूपों के आधुनिक होने की संभावना से जुड़ा है : ऐसा क्यों है कि आरंभिक आधुनिकता के एक से अधिक स्वरूप की उपस्थिति होने के बावजूद भी सभी आरंभिक आधुनिक

[6] देश भाषाओं में आरंभिक आधुनिकता के विमर्श के लिए, संजय सुब्रमण्यम (1998) : 75-104.

[7] शेल्डन पोलॉक (2005) : 83, 84, 86.

संभावनाएँ 'आधुनिक' नहीं हुईं? दूसरे शब्दों मे, आरंभिक आधुनिकता के बहुतेरे स्वरूप होने के बावजूद, आधुनिकता का एक ही मॉडल, या प्रतिमान (पाश्चात्य आधुनिकता) सर्वव्यापी क्यों हुआ? एक और अहम बात, जहाँ उत्तर-औपनिवेशिक विद्वान भारतीय सामाजिक संस्थानों में आमूल-चूल परिवर्तन के लिए औपनिवेशिक शासन और उसकी शासकीय तकनीकों की अहम भूमिका को रेखांकित करते हैं,[8] वहीं आरंभिक आधुनिकता के विद्वान इस सवाल को थोड़ा घुमाकर ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को ज़्यादा अहमियत देते हुए यह पूछते हैं कि आख़िरकार औपनिवेशिक आधुनिकता के पूर्व सामाजिक, आर्थिक, और बौद्धिक संस्थाओं तथा विचारधाराओं का स्वरूप क्या था जिसमें औपनिवेशिक सत्ता और उसकी तकनीकी ने आमूल-चूल परिवर्तन किए? परिवर्तन के लिए उपलब्ध संस्थाओं और विचारधाराओं का मूलरूप क्या था? क्या उनके अंदर आंतरिक गतिशीलता और परिवर्तन धर्मिता थी? यदि थी तो कैसी थी? क्या औपनिवेशिक-सत्ता जैसी परिवर्तनकारी शक्तियों के द्वारा परिवर्तित और आविष्कारित होने से पहले उनमें स्व-परिष्कृत होने का सामर्थ्य मौजूद था? क्या उनमें औपनिवेशिक आधुनिकता के एजेंडे और उसकी अपरिहार्यता का सामना करने और अपने मौलिक वजूद को अक्षुण्ण बनाए रखने की ताक़त थी? इन सवालों से जूझते हुए, आरंभिक आधुनिकता के सिद्धांतकार व इतिहासकार, भारतीय समाज के पूर्व-आधुनिक सामाजिक सरंचना, बौद्धिक व साहित्यिक संस्कृति का एक श्रमसिद्ध व विस्तृत वृत्तांत प्रस्तुत करने की कोशिश करते हैं, जिसका औपनिवेशिक आधुनिकता की बदलावकारी सत्ता से सामना हुआ होगा।[9] आरंभिक आधुनिकता के इतिहासकार ये जानना ज़्यादा ज़रूरी समझते हैं कि हमारे पास आधुनिककाल के पूर्व के सांस्कृतिक, राजनीतिक, और तकनीकी परिस्थितियों का एक जायजा हो। औपनिवेशिक आधुनिकता की योजना और उसकी राजनीतिक तथा तकनीकी शक्तियों से, आधुनिकता पूर्व की ज्ञान की संस्कृति और उसकी तकनीकों के साथ समागम एक नई संस्कृति की नींव पड़ती है। आधुनिकता और परंपरा के टकराव और उनके समागम की स्थिति को समझने के लिए आरंभिक आधुनिकता की अवधारणा एक दृष्टि पेश करती है। लगभग पिछले तीन दशकों में आरंभिक आधुनिकता के विमर्श में इसकी अवधारणा, सैद्धांतिकी, और इसके विभिन्न पहलुओं पर उत्तरोत्तर बेहतरीन विद्वत्तापूर्ण लेखन सामने आया है।[10]

ज़ाहिर है आधुनिकता की इन

[8] इस विमर्श के लिए प्रमुख रूप से देखें, बर्नार्ड कोह्न, 'द सेन्सस, सोशल स्ट्रक्चर ऐंड ऑब्जेक्टिफ़िकेशन इन साउथ एशिया', *ऐन एंथ्रोपोलॉजिस्ट एमंग द हिस्टोरियंस ऐंड अदर एसेज़*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1987 में संकलित. और देखें निकोलस डर्क्स, *कास्टस ऑफ़ माइंड : कोलोनियलिज़्म ऐंड द मेकिंग ऑफ़ मॉडर्न इंडिया*, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, 2001.

[9] इस दिशा में, उल्लेखनीय योगदान शेल्डन पोलॉक का है जिन्होंने, आरंभिक आधुनिक काल में भारतीय ज्ञान और उसके शास्त्र के स्वरूप को समझने की कोशिश की. देखें, शेल्डन पोलॉक (2011) (सं.) *फ़ॉर्म्स ऑफ़ नॉलेज इन अर्ली मॉडर्न एशिया*, ड्यूक युनिवर्सिटी प्रेस.

[10] यहाँ एक छोटी टिप्पणी विचारधारात्मक इतिहास-लेखन पर लाज़िमी है। मार्क्सवादी विचारधारा ने भारतीय इतिहास लेखन को बहुत प्रभावित किया है। इतिहास लेखन की एक गढ़ी-गढ़ाई परिपाटी जो भारतीय इतिहास को देखने का एक सीमित नज़रिया पेश करती रही है जिसमें रिलिजन/धर्म, राजनीति और अर्थव्यवस्था को देखने के प्रति, मार्क्सवाद की थियरी ज़्यादा महत्त्वपूर्ण हो जाती है बजाय इसके कि

प्रक्रियाओं को ऐतिहासिक रूप से अधिकाधिक दर्शाने की ज़रूरत है, केवल सैद्धांतिक रूप से कल्पित कर लेने भर से बात तो नहीं बनेगी। *सुंदर के स्वप्न* में दलपत ने सुंदरदास के चरित्र-चित्रण और उनके बौद्धिक साहित्यिक कार्य के मद्देनज़र यही दर्शाने का बीड़ा उठाया है। इसीलिए उनके आरंभिक आधुनिकता की इस खोजबीन में जीवन के विभिन्न पहलू (जैसे तत्कालीन समाज का बहिर्मुखी होते जाना, अन्य संस्कृतियों से बौद्धिक, व्यावहारिक लेन-देन में विस्तार, देशी-शास्त्रीय भाषाओं के संबंधों में होने वाले परिवर्तन, विमर्शों में तार्किकता और विवेकशीलता का विकास, राज्य की राजनीतिक अवधारणा में परिवर्तन, सत्ता के केंद्रीयकरण, वैयक्तिकता का विकास आदि) शामिल हैं। एक स्तर पर दलपत तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक गतिशीलता को बख़ूबी दर्शाने का काम करते हैं तो दूसरे स्तर पर सामयिक बदलाव को प्रमाणित करते हैं जो बौद्धिक रूप से एक समृद्ध आंतरिक विमर्श होने के पुख़्ते ऐतिहासिक सबूत पेश करती है। औपनिवेशिक इतिहासकारों के द्वारा गढ़ा गया कथानक, जो दक्षिण एशिया के मध्य-काल को अंधकार युग के रूप में चित्रित करता है, बकौल दलपत एक ऐतिहासिक मिथक साबित होता है।[11]

दलपत राजपुरोहित *सुंदर के स्वप्न* को इतिहास लेखन के उपरोक्त बहसों और संदर्भ को सामने रख कर पढ़े जाने की माँग करते हैं। दलपत की नज़र में, दादूपंथ की दूसरी पीढ़ी के संत, सुंदरदास आरंभिक-आधुनिकता के इन मायनों की बौद्धिक, धार्मिक और साहित्यिक परिवेश में नुमाइंदगी करते हैं। सुंदरदास के बहाने, दलपत जी की कोशिश यह दर्शाने की है कि 17वीं शताब्दी में, देशी भाषा में संचालित होने वाला धार्मिक-बौद्धिक परिवेश एक मूलभूत परिवर्तनकारी दशा से गुज़र रहा था। *सुंदर के स्वप्न* सुंदरदास के काम को इस युगांतरकारी ऐतिहासिक काल-क्रम में इसके प्रतिनिधि के रूप में देखने का आग्रह करती है। छह अध्याय में फैली हुई, लेकिन एक मुख़्तसर किताब, सुंदर के व्यक्तित्व और उनकी बौद्धिक उपलब्धि को एक व्यापक ऐतिहासिक परिवेश में देखने का प्रयास करती है। यह पुस्तक एक सुलभ व पठनीय शैली में, आरंभिक-आधुनिकता को लेकर चल रहे विमर्श और उसकी उपयोगिता को रेखांकित करती हुई, इतिहास-लेखन की राजनीति और उसकी सीमाओं पर चल रही बहस से अवगत कराती हुई, सुगठित अध्याय

इतिहास के स्रोतों को अलग-अलग सृजनात्मक नज़रिए से पढ़ने की क़ाबिलियत विकसित की जाए. दूसरी तरफ़ इतिहास-लेखन का राष्ट्रवादी दृष्टिकोण, अपने सोद्देश्यवादी (टेलियोलॉजिकल) रुख़ का शिकार रहता है, जिसमें धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक पहचानों को वर्तमान के सामने रख कर गढ़ने की प्रवृत्ति प्रबल रहती है। ये दोनों, विशुद्ध रूप से राजनीतिक तरीक़े हैं इतिहास लिखने के.

[11] ज़ाहिर है हिंदी साहित्य के इतिहास का पूर्व-आधुनिक प्रकरण भी इतिहास लेखन की औपनिवेशिक काल योजना से न केवल शासित रहा, बल्कि इसके परिणामस्वरूप, मध्यकाल और इसके चरित्र-चित्रण में सामंती समाज की प्रवृत्तियों का विवेचन हावी रहा। एक तरफ़ सामंती समाज की प्रवृत्ति की साहित्यिक अभिव्यक्ति के रूप में रीति कविता का विकास और उसके प्रचलन को परखा गया तो दूसरी तरफ़, इस्लाम का आगमन, राजनीतिक प्रभाव, और इसके परिणामस्वरूप, भारतीय सांस्कृतिक परिदृश्य में नैतिक पतन के प्रादुर्भाव का एक आख्यान निर्मित हुआ. भक्ति की व्याख्या भी इस्लामिक राज के परिणामस्वरूप होने वाले राजनीतिक परिवर्तन के असर के रूप में की गई। आधुनिक काल के आगमन को एक उद्धार करने वाले काल-खंड के रूप में देखा गया.

प्रस्तुत करती है।

हालाँकि, आरंभिक आधुनिकता को लेकर चल रही बहस और विमर्श से परिचित पाठक के लिए, प्रथम दृष्टया यह संभव है कि यह किताब कोई नवीन दृष्टि प्रस्तुत करती हुई नज़र नहीं आए लेकिन *सुंदर के स्वप्न* की मौलिकता, आरंभिक आधुनिकता के विमर्श के संदर्भ में दादूपंथ के सामाजिक व बौद्धिक इतिहास के मूल्यांकन में है। एक तरह से आरंभिक आधुनिकता की अवधारणा को लेकर, 'आरंभिक हिंदी' के विद्वानों के बीच दो तरह की बहस प्रमुखता से दिखती है। इन दोनों बहस के केंद्र में शेल्डन पोलॉक द्वारा प्रतिपादित 'वर्नाक्यूलराइज़ेशन'[12] या 'देश भाषाकरण' की संकल्पना ही है। पोलॉक ने दक्षिणी एशिया की दूसरी सहस्राब्दी में घटने वाली ऐतिहासिक घटनाओं में, देश भाषाओं का बौद्धिक, साहित्यिक और धार्मिक अभिव्यक्ति के प्रमुख माध्यम के रूप में उभरने को प्रमुख माना और इसे ही 'वर्नाक्यूलराइज़ेशन' की संज्ञा दी है। साथ ही, देशी भाषाओं के अभ्युदय में, राज दरबारों की अहम भूमिका और क्षेत्रवाद से जुड़ी पहचान को लेकर राजघरानों के बीच पैदा होने वाली संजीदगी को उन्होंने रेखांकित किया है। वे देश-भाषाओं के विकास में राजकीय संरक्षण की भूमिका अहम मानते हैं।

आरंभिक आधुनिकता की संभावना और संकल्पना को मानने वाले विद्वान पोलॉक की थीसिस को नकारते नहीं, बल्कि इसमें संशोधन की गुंजाइश तलाशते हैं। कुछ देशी भाषा साहित्य के इतिहासकार, राजघरानों के इतर, धार्मिक व आध्यात्मिक क्षेत्रों में होने वाली घटनाओं और प्रक्रियाओं, ख़ास कर, सूफ़ी और भक्ति आंदोलनों से उपजने वाली नई भाषा जिसने भक्ति और सूफ़ी दर्शन की लोक सुलभ आध्यात्मिक अभिव्यक्ति के लिए देश भाषाओं को परिष्कृत किया, को ज़्यादा अहमियत देने की वकालत करते हैं।[13] भक्ति और सूफ़ी दर्शन से प्रेरित साहित्य की एक बड़ी संपदा देश भाषाओं में ही है। इसका एक कारण है भक्ति और सूफ़ी दर्शन और मतों के प्रणेताओं का अपने मतों और मान्यताओं को लोक सुलभ बनाने के लिए देशज भाषाओं को माध्यम बनाना। इस शुभारंभ में, भक्ति के अंदर विभिन्न पंथों और संप्रदायों के उभरने के बाद, उनके बीच एक तरह के बौद्धिक या धर्मशास्त्रीय मान्यताओं और अभिमतों को लेकर आपसी प्रतिस्पर्धा उपजी। अपने मतों को लिपिबद्ध करने और उनको प्रमाणित साबित करने की शास्त्रीय आकांक्षा के नतीजतन देशी भाषाओं का विकास होता है। इस परिघटना के अध्ययन करने वाले विद्वतजन देश-भाषाओं के उभार में राजघरानों और राज-दरबारों की भूमिका को श्रेय देने वाले दावों के प्रति सहमत नहीं हैं। वे भक्ति, सूफ़ी, और समकालीन राजदरबार, और राजघरानों के आंतरिक स्तर पर चलने वाले बौद्धिक विमर्शों में बहुत पृथकता और संघर्ष नहीं देखते हैं, बल्कि उनमें पारस्परिक प्रोत्साहन और अंतर्संबंधों को ध्यान में रखते

[12] देखें, शेल्डन पोलॉक (1998) : 41-74.

[13] उदाहरण के लिए, देखें फ़्रंचेस्का ओर्सीनी (2012) : 225-46.

हैं। चाहे सूफ़ी-मुग़ल संबंध हों या भक्ति के प्रणेताओं और उनके संप्रदायों को राजनीतिक सरंक्षण, वो एक-दूसरे के लिए अपरिहार्य ही समझे जाते हैं। *सुंदर के स्वप्न* में दलपत ने ऐसे कई पहलुओं की परतों को खोलने की कोशिश की है। दलपत के अनुसार, भक्ति व धार्मिक-साहित्यिक लेखन और राज-दरबारी बौद्धिक क्रिया कलापों में पारस्परिक प्रतिरोध का भाव नहीं हैं। बल्कि ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। किताब दादूपंथ का अकबर के राजदरबार के साथ यथार्थ या अभिलाषी रिश्ते की चर्चा और उसके ऐतिहासिक संदर्भ का ज़िक्र, जन गोपाल रचित *दादू जन्म लीला* के हवाले से करती है जिसमें दादू का अकबर के दरबार और उसके सर्वधर्म संवाद की नीति की चर्चा है. दलपत ने ये दिखलाने की कोशिश भी की है कि अकबर के दरबार में दादू को न केवल सम्मान प्राप्त था, बल्कि दादू के विचार अकबर की नीति के लिए अहम थे। लेखक ने सुंदरदास की बौद्धिक रचना के संदर्भ से यह बताया है कि भक्ति, वेदांत, सूफ़ी आदि दर्शन की भाषा साझी है। भक्ति के धार्मिक विमर्श को हम तत्कालीन राजनीतिक और वैचारिक विमर्श से पृथक करके नहीं देख सकते हैं। यह किताब देशभाषा के एक ज्ञानी संत के हवाले से धार्मिक, राजनीतिक, और भाषाई विविधता को संबोधित करने वाले व्यापक सांस्कृतिक संवाद की ऐतिहासिक उपस्थिति को दर्ज करने पर ज़ोर देती है। और, इसी विशिष्टता को आरंभिक-आधुनिकता का आधार मानती है।

अद्वैत वेदांत, भक्ति, राजसत्ता और सुंदरदास

समकालीन हिंदी के इतिहास लेखन में सुंदरदास कोई अपरिचित नाम नहीं हैं। उनको दादूपंथ के आंतरिक साहित्य और संप्रदाय के इतिहास में एक स्थापित व बौद्धिक संत का दर्जा प्राप्त है[14] वहीं, हिंदी साहित्य के इतिहास में भी सुंदरदास एक जाना पहचाना नाम हैं। सुंदरदास की संपूर्ण कृतियों का एक संग्रह *सुंदरदास ग्रंथावली* का प्रकाशन 1937 ई. में पुरोहित हरिनारायण शर्मा ने किया था जिसमें उन्होंने सुंदरदास के व्यक्तित्व तथा जीवन इतिहास का एक सटीक व प्रामाणिक लेखा-जोखा प्रस्तुत किया था। इस ग्रंथावली की एक प्रशंसापूर्ण पर संक्षिप्त भूमिका रवींद्रनाथ टैगोर ने लिखी थी। इसके बाद दो और परिष्कृत संस्करण आए। 1987 ई. में द्वारकादास शास्त्री ने अपनी *सुंदरदास ग्रंथावली* में उनकी कविताओं का आधुनिक हिंदी में अनुवाद किया है। और दूसरा संकलन नारायणदास ने सुंदरदास की चुनिंदा कृतियों पर उनकी टीका के साथ 1989 ई. में प्रकाशित किया है।

जहाँ तक सुंदरदास को लेकर अकादमिक शोध का सवाल है, दादू दयाल और दादूपंथ के ऊपर हुए शोध में सुंदरदास को हमेशा से जगह मिली है। 1947 ई. में, डब्ल्यू. जी. ऑर ने अपनी किताब *ए सिक्स्टीन्थ सेंचुरी मिस्टिक दादू ऐंड हिज*

[14] देखें, मोनिका हॉर्स्टमन (2014), 'संत ऐंड सूफ़ी इन सुंदरदासे'ज़ पोएट्री', वसुधा डालमिया और मूनिस फ़ारूक़ी (सं.), *रिलिजियस इंटरैक्शन इन मुग़ल इंडिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली.

फॉलोवर्स[15] में सुंदरदास का एक संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया। उसी तरह हिंदी साहित्य के इतिहास में, रॉनल्ड स्टुअर्ट मैकग्रेगर ने सुंदरदास की कृतियों का संक्षिप्त लेकिन सारगर्भित मूल्यांकन किया है। हालाँकि, एक तरीक़े से सुंदरदास के ऊपर व्यवस्थित, विद्वत्तापूर्ण व शोधपरक काम का श्रेय जर्मनी की विद्वान प्रोफ़ेसर मोनिका हॉर्स्टमन को जाता है जिन्होंने अपने राजस्थानी भक्ति पदों के संकलन, '*क्रॉसिंग द ओसियन ऑफ़ एक्ज़िस्टेंस : ब्रज भाषा रिलीजियस पोएट्री फ्रॉम राजस्थान, ए रीडर*' में सुंदरदास का एक सुचिंतित व शोधपरक जीवन वृत्तांत प्रस्तुत किया और उनकी कुछ महत्त्वपूर्ण कृतियों का अंग्रेज़ी में अनुवाद भी किया। कुछ और भी समकालीन विद्वानों, मसलन माइकल एस एलेन ने अपने लेख में सुंदरदास को एक वेदांती विद्वान के रूप में स्थापित करने का सराहनीय प्रयास किया है।

लेकिन इन सभी विद्वानों में एक बात साझी है और वह यह है कि इन्होंने सुंदरदास का मूल्यांकन या तो एक भक्त के रूप में या एक संत के रूप में या तो एक हिंदी कवि के रूप में या एक वेदांती के रूप में किया है। दलपत ने अपनी किताब में, सुंदरदास को इन खाँचों से मुक्त करवाने की कोशिश की है। उनकी नज़र में कोई भी एक विशेषण या लेबल के नज़रिए से सुंदरदास को देखना उनकी कृतियों और उनके अपने समय के साथ रिश्ते तथा अपने समय में उनके अग्रगामी होने को सीमित दायरे से बद्ध करना है। सुंदरदास एक ही साथ भक्त भी हैं, संत भी हैं, प्रतिनिधि कवि भी हैं और वेदांती भी; इस परिस्थिति को दलपत आरंभिक आधुनिकता के एक पहलू के रूप में देखने का आग्रह करते हैं। इस प्रस्ताव का एक हिस्सा ऐतिहासिक अवधारणाओं के पुनःमूल्यांकन का प्रस्ताव है जो ऐतिहासिक संदर्भों के पुनर्गठन की माँग करता है। दलपत ने कोशिश की है कि इस पुनर्गठन की ज़मीन तैयार हो सके।

मसलन, भक्ति संबंधित अकादमिक विमर्श में कुछ प्रचलित अनैतिहासिक धारणाएँ भी हैं कि भक्तिकाव्य की काव्यभाषा शास्त्र-विरोधी है; यह जनभाषा में लोक-सुलभ व्यावहारिक, आध्यात्मिक विमर्श का 'आंदोलन' है।[16] ऐतिहासिक साक्ष्य भक्तिकाव्य की 'शास्त्र-विरोधी' चलताऊ छवि को चुनौती भी देते हैं। सुंदरदास जैसे भक्त संत जिन्होंने न केवल संस्कृत की विभिन्न विधाओं जैसे वेदांत, सांख्य और योग के दर्शन में विधिवत प्रशिक्षण हासिल किया, बल्कि देशभाषा में रचित अपनी रचनाओं को शास्त्र सम्मत बनाया। सुंदरदास की भूमिका न केवल अपने समय के प्रधान बौद्धिक वैचारिक और धर्म शास्त्रीय दर्शन की प्रमुख विधा अद्वैत-वेदांत को भक्ति के विमर्श का हिस्सा बनाने में है, बल्कि अद्वैत-वेदांत को भक्ति के केंद्र में स्थापति करने में भी है। परवर्ती समय में अद्वैत-वेदांत, दादू पंथ के केंद्रीय धर्मशास्त्रीय (थियोलॉजिकल) आग्रह के रूप में स्थापित हुआ। दादू पंथ एक वेदांत-सम्मत भक्ति संप्रदाय के रूप में उभरा।

[15] डब्लू. जी. ऑर. (1947) : 187-189.

[16] भक्ति 'आंदोलन' से संबंधित विमर्श के लिए देखें, जॉन स्ट्रैटन हॉली, *ए स्टॉर्म ऑफ़ सॉन्स : इंडिया ऐंड द आइडिया ऑफ़ द भक्ति मूवमेंट*, हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 2015.

17वीं शताब्दी, यानि सुंदरदास के जीवन काल में ही, अद्वैत वेदांत एक बेहद महत्त्वपूर्ण धार्मिक, दार्शनिक और तात्विक सिद्धांत के रूप में सामने आता है, जिसका एक परिणाम हम दाराशिकोह की महत्वाकांक्षी उपनिषद अनुवाद परियोजना में देखते हैं। इसके तहत मुग़लकालीन भारत में उपनिषदों का फ़ारसी में अनुवाद हुआ, अद्वैत-वेदांत के दार्शनिक और धार्मिक सिद्धांतों को अंतर-धार्मिक-सामुदायिक विमर्श का आधार बनाया गया, और वेदांत को बड़े फ़ारसी बौद्धिक समाज के सामने पेश किया गया। वहीं दूसरी ओर, वेदांत और अद्वैत वेदांत को लेकर एक बड़ा और नया बौद्धिक विमर्श संस्कृत विद्वानों के अंदर भी चला।

यह अलग बात है मध्यकालीन भारतीय दर्शन के परंपरागत इतिहासकारों की नज़र में वेदांत के मध्यकालीन इतिहास को बहुत गंभीरता से नहीं लिया जाता है। ऐसा माना जाता है कि वेदांत दर्शन में शंकराचार्य के द्वारा अद्वैत वेदांत के सिद्धांत को प्रतिपादित करने के उपरांत, कोई तात्विक रूप से बुनियादी काम नहीं हुआ। 'वेदांत के मध्यकालीन विद्वानों को एक अच्छे संकलनकर्ता का दर्जा दिया जाता है, न कि मौलिक दार्शनिक और अध्यात्मविद का।[17] एक तरह से, भारतीय दर्शन के इतिहास में अद्वैत-वेदांत को लेकर, मध्यकाल में अंधकार युग का मापदंड ही अपनाया जाता है। 'नव-वेदांत'[18] के उभरने से पहले, वेदांत में दार्शनिक और आध्यात्मिक मौलिकता को कमतर ही आँका जाता रहा है।

क्रिस्टोफ़र के एक सारगर्भित ऐतिहासिक सर्वेक्षण के मुताबिक मध्यकाल (1200-1800) में वेदांत के इतिहास को दो हिस्से में बाँट कर देखा जा सकता है।[19] मिन्कॉव्स्की भाषा शास्त्रीय दृष्टि से 1200-1600 की अवधि को वेदांत के पहले चरण के रूप में देखते हैं, जिसमें वेदांती विद्वतजन न्याय के दार्शनिकों के साथ बहस करते पाए जाते हैं। न्यायिकों की आधारभूत तर्क पद्धति को गंभीर चुनौती पेश करते हैं। 17वीं सदी के आरंभिक वर्षों से ही, अद्वैत वेदांत पर शास्त्रार्थपरक तर्क की टीकाएँ और भाष्य संस्कृत में लिखे जाने लगते हैं, ये सभी टीकाएँ वैष्णव संप्रदायों के प्रणेताओं जैसे कि रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निंबार्क, और वल्लभाचार्य के धर्मशास्त्रीय सिद्धांतों को आड़े हाथों लेते हुए दी गई थी। अप्पय दीक्षित (1520-1593), मधुसूदन सरस्वती (1540-1593), और नृसिंह शर्मा जैसे वेदांत के मूर्धन्य विद्वानों ने भाषाशास्त्रीय

[17] देखें, एस. एन. दासगुप्ता (1975) : 53. और देखें, कार्ल पॉटर (1963) : 181.

[18] नव वेदांत एक बहुत ही व्यापक शब्द है जिसके मायने को लेकर कई आलोचकीय नज़रिए हैं. नव वेदांत के इतिहासकारों, ख़ास कर दो विल्हेम हाफ़बस और क्रिस्टोफ़र बेली के अलग- अलग नज़रिए हैं. हाफ़बस ये मानते हैं कि नव वेदांत पाश्चात्य अवधारणाओं और प्रतिमानों को आत्मसात करते हुए, पारंपरिक वेदांतिक विचारों को नए दृष्टिकोण में देखने की परिकल्पना है. जबकि बेली ये मानते हैं कि नववेदांत-नव हिंदूवाद / हिंदुइज़्म की एक संकल्पना है. पाश्चात्य प्रभाव का एक परिणाम है, जो भारतीय विद्वतजनों द्वारा कार्यान्वित की गई.
देखें, विल्हेम हाफ़बस, *रिसर्च ऐंड रेफ़लेक्शन : रेस्पान्स टू माई रेस्पॉन्डेंट, III, इश्यूज़ इन कॅम्परेटिव फ़िलॉसफ़ी, बियॉन्ड ओरिएंटलिज़्म: द वर्क ऑफ़ विल्हेम हाफ़बस ऐंड इट्स इम्पैक्ट ऑन इंडियन ऐंड क्रॉस कल्चरल स्टडीज़, (सं.) एली फ्रंकों ऐंड करीं प्रेज़ीनडेज़*, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, 2007. और देखें, *क्रिस्टोफ़र बेली, रिकवरिंग लिबर्टीज़: इंडियन थॉट इन द एज ऑफ़ लिबरलिज़्म ऐंड एम्पायर*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, 2012.

[19] देखें, क्रिस्टोफ़र मिन्कॉव्स्की (2011) : 205-231.

(फ़िलोलॉज़िकल) पद्धति का उपयोग करते हुए, शास्त्रार्थ परक टीकाएँ वेदांत के मूलग्रंथों पर लिखीं। इन्होंने उपनिषद, ब्रह्मसूत्र, भाष्य, और भगवदगीता – वेदांत की 'प्रस्थान त्रयी' पर टीकाएँ और भाष्य लिखे। इन्होंने परम सत्य, स्व, आत्मा, आत्म-सत्य, जैसी वेदांतिक अवधारणाओं पर तत्वमीमांसक (मेटाफ़िज़िक्स) तर्क प्रस्तुत किए। अद्वैत वेदांत के ये दार्शनिक टीकाकारों ने भक्ति के वेदांत प्रणेताओं के द्वैतवादी सिद्धांत के सामने दार्शनिक चुनौती पेश की।

अद्वैत वेदांत पर किए गए हालिया ऐतिहासिक शोध ये दर्शाते हैं कि मध्यकाल ख़ासकर 16वीं सदी में अद्वैत वेदांत का एक महत्त्वपूर्ण बौद्धिक विषय के रूप में उभरने के पीछे एक और कारण है बनारस स्थित पंडित समुदाय के बीच मीमांसा का एक बौद्धिक युक्ति के रूप में उभरना।[20] पंडितों के एक बौद्धिक वर्ग जिसने बनारस को अपना केंद्र बनाया वह न तो राज्याश्रित दरबारी था, न ही मंदिर आश्रित पुजारियों का एक समूह। यह एक ऐसा समूह था जिसने बनारस को संस्कृत बौद्धिकता के एक केंद्र के रूप में विकसित कर लिया था जो पठन-पाठन के एक केंद्र के रूप में उभर रहा था। दार्शनिक व शास्त्रीय ज्ञान और विशेषज्ञता ही इनकी पहचान थी। इनकी विशेषज्ञता की सेवा राजदरबारों, महाजनों और मठों द्वारा अपनी ज़रूरतों के हिसाब से ली जाती थी। संस्कृत के शिक्षार्थी देश के कोने-कोने से बनारस आकर संस्कृत की विभिन्न विधाओं में शिक्षा प्राप्त कर रहे थे, जो इन दार्शनिक-पंडितों के जीविकोपार्जन का एक प्रमुख साधन भी बन गया था। यह बौद्धिकता बनारस में एक 'निवासित केंद्र' (एक्यूमीन) के रूप विकसित हुई, जहाँ के पंडितों की प्रतिबद्धता केवल संस्कृत के शास्त्रों और मूलग्रंथों के प्रति प्रतीत होती है, जिसके परिणामस्वरूप संस्कृत की शास्त्रीय परंपराओं का पुन:स्थापन होना शुरू होता है। इन परिवर्तनों का अंदाज़ा बनारस के धर्मशास्त्रों पर इन पंडितों द्वारा लिखित टीकाओं और इसके पहले राजदरबारों में लिखी गई टीकाओं के तुलनात्मक अध्ययन से हम बख़ूबी लगा सकते हैं।

देशभाषाओं, ख़ासकर ब्रजभाषा में लिखित इन टीकाओं और भाष्य का दोहरा उद्देश्य था. एक, जन सुलभ तरीक़े से अद्वैत-वेदांत के दर्शन के मर्म को प्रस्तुत करना दूसरा, वेदांत दर्शन को भक्ति के आध्यात्मिक विमर्श के आलोक में पुन: अवलोकन करना। यहाँ दार्शनिक विमर्श के लिए देशभाषा का चयन ग़ौरतलब है। दार्शनिक विमर्श का माध्यम बनाने के लिए भाषा में तकनीक के स्तर पर उन्नयन के लिए उपलब्ध छंद शास्त्रीय युक्ति में नवोन्मेषण, शब्दावलियों में समृद्धीकरण जैसे प्रयास बहुत व्यापक स्तर पर हुए। इस मामले में, सुंदरदास ब्रजभाषा में एक अग्रणी संत साबित होते हैं। दलपत ने सही ज़िक्र किया है कि वेदांत को लेकर देशभाषा, ख़ासकर ब्रजभाषा के कवियों और लेखकों में उत्साहजनक आग्रह है, नतीजे के रूप में हम

[20] देखें, रोज़ालिंड ओ' हैन्लॉन, 'स्पीकिंग फ्रॉम शिवा'ज़् टेंपल : बनारस स्कॉलर हाउस्होल्ड ऐंड ब्राह्मण एक्यूमीन ऑफ़ मुग़ल इंडिया', *साउथ एशियन हिस्ट्री ऐंड कल्चर*, मार्च 2011.



वेदांत के संस्कृत मूलग्रंथों का ब्रज में रूपांतरण और अनुवाद तथा उनपर टीकाओं का उदाहरण देखते हैं। 12वीं शताब्दी में मूलरूप से संस्कृत में रचित *प्रबोधचंद्रोदय* नाटक, जो कि अद्वैत-वेदांत दर्शन को राजनीतिक रूप से स्थापति करने के उद्देश्य से लिखी गई मालूम पड़ती है, ब्रजभाषा के रचनाकारों के बीच एक बहुत ही लोकप्रिय व वांछित पुस्तक के रूप में उभरती है। वेदांत में राजनीतिक रुचि, दाराशिकोह और उसकी अनुवाद की परियोजना, मारवाड़ के राजा जसवंत सिंह की वेदांत दर्शन में रूचि, और अनेक संस्कृत के वेदांत परक ग्रंथों का ब्रज और फ़ारसी में अनुवाद और विमर्श होना, यह सब सत्रहवीं सदी की एक ख़ासियत है। सवाल यह है कि उपरोक्त ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में अद्वैत वेदांत दर्शन को दादू पंथ जैसे भक्ति संप्रदाय का केंद्रीय विमर्श बना देने वाले बौद्धिक प्रयास के सूत्रधार सुंदरदास के आलोचनात्मक मूल्यांकन का आधार क्या हो?

सुंदर के स्वप्न में दलपत ने दादूपंथ के समकालीन और व्यापक ऐतिहासिक संदर्भ से यह दिखाने का प्रयास किया है कि सुंदरदास अद्वैत वेदांतिक विमर्श और सूफ़ीवाद के 'अकबरी रहस्यवाद' जिसका प्रतिपादन इब्न अरबी (अल शेख़ अल अकबर) ने अपने 'वहदत अल-वजूद' और 'तौहीद' के सिद्धांत के साथ किया, दोनों से प्रेरित थे। दलपत सुंदरदास की भाषा में बहु-भाषिकता की प्रचुर मौजूदगी, जिसमें अरबी और फ़ारसी के शब्दों, साहित्यिक रचना-पद्धतियों व शैलियों का सार्थक उपयोग है, का उल्लेख करते हैं और सुंदरदास के 'ज्ञानी' होने की अवधारणा को व्यापक अर्थ में लेने का प्रस्ताव रखते हैं।

सुंदरदास की दादू व दादूपंथ के प्रति प्राथमिक निष्ठा है और वो अपने अद्वैत वेदांत व अन्य दार्शनिक विषयों की शिक्षा का दादूपंथ के भीतर प्रसार करने में कोई अंतर्विरोध नहीं देखते थे। उनके लिए भक्ति

और अद्वैत वेदांत पारस्परिक रूप से भिन्न दर्शन नहीं थे, बल्कि वे एक-दूसरे को पोषित करने वाली दार्शनिक और आध्यात्मिक अवधारणाएँ थीं। फलतः आने वाले समय में अद्वैत-वेदांत के देशभाषा में होने वाली वैचारिकी के एक महत्त्वपूर्ण केंद्र के रूप में दादूपंथ उभरता है। सुंदरदास के काम से गृहीत व कृतज्ञता का भाव लिए हुए, पंथ के तीसरी पीढ़ी के संत निश्चलदास ने एक बहुत ही प्रभावकारी ग्रंथ *विचार-सागर* की रचना की जो अद्वैत-वेदांत को लोकप्रिय दर्शन के रूप में स्थापित करने में बहुत अहम भूमिका निभाता है।

जहाँ एक ओर, 19वीं और 20वीं शताब्दी में अद्वैत-वेदांत को आधुनिक हिंदू धर्म के केंद्रीय दार्शनिक या आध्यात्मिक परिघटना के रूप में पहचान मिली। और इसके साथ ही एक मिथक को प्रबलता से स्थापित किया गया कि अद्वैत वेदांत एक 19 वीं शताब्दी के प्राच्यवादियों की खोज व रचना थी[21] जिसको हिंदू समाज व धर्म सुधारकों ने अपनाया।[22] एक हद तक यह बात सही हो सकती है कि प्राच्यविदों और हिंदी समाज सुधारकों ने अद्वैत वेदांत को एक नई लोकप्रियता दिलाई। पर ये भ्रामक है कि औपनिवेशिक काल के पूर्व अद्वैत वेदांत एक गौण दार्शनिक दृष्टिकोण था। यहाँ सुंदरदास, अद्वैत-वेदांत का देशभाषाकरण और दादू पंथ के उत्तर काल में अद्वैत-वेदांत का लोकप्रिय होना, आरंभिक आधुनिकता से आधुनिकता के बीच एक निरंतरता की मिसाल हो सकती है। हालाँकि अद्वैत वेदांती आधुनिकता की प्रकृति पर गंभीर बहस की गुंजाइश भी जायज़ है।

भक्ति काव्य और संत-ज्ञान की नई परंपरा

हिंदी साहित्य के इतिहास में काल विभाजन मुख्यरूप से साहित्य और रचना शैली को केंद्र में रख कर किया जाता रहा है।[23] इसमें भक्ति संबंधित रचनाएँ और रीति काव्य के बीच अंतर स्थापित करने को लेकर एक बड़ी जद्दोजहद रही है। प्रमुख बहस का विषय, राजदरबार के कवियों की रचनाएँ और संत कवि जो किसी न किसी पंथ या संप्रदाय से जुड़े होते थे उनकी रचनाओं के बीच भिन्नता स्थापित करने की कोशिश रही है। इस संकल्पना में, भक्ति और रीति के बीच बहुत ही साफ़ व स्पष्ट अंतर स्थापित कर दिया गया है जिसे एक वृहद स्वीकृति प्राप्त है।

राजदरबारों में स्थापित कवियों की रचनाएँ मूलतः रीति शैली में मानी जाती हैं और इसीलिए इन्हें दरबारी या अभिजात वर्ग की विलासिता से जोड़ कर देखा जाता है। इन कविताओं की विषयवस्तु में ऐसे तो बहुत विविधता है, पर नायिका-भेद, नख-शिख वर्णन और शब्द-अलंकारिकता को ही इस विधा की रचनाओं के केंद्र में रख कर स्थापित करने की कोशिश होती है। रीति

---

[21] रॉनल्ड इंडेन (2000) : 130.

[22] रिचर्ड किंग, *ऑरिएन्टलिज़म ऐंड रिलीजन : पोस्ट कॉलॉनियल थियरी इंडिया ऐंड द मिस्टिक ईस्ट*, रटलेज लंदन, 1999.

[23] हिंदी साहित्य के इतिहास में प्रमुख काल जैसे कि आदिकाल, वीरगाथा काल, भक्तिकाल, रीतिकाल और आधुनिक काल प्रमुखत: रचना साहित्य की विषय वस्तु और उसकी रचना शैली पर आधारित हैं. इसको, हिंदी साहित्य का आधार मान कर, इतिहास लेखन के प्रणेता रामचंद्र शुक्ल की हिंदी साहित्य का इतिहास सबसे प्रभावशाली पुस्तक रही है.

कविता के प्रति हिंदी के कुछ विशिष्ट और प्रसिद्ध इतिहासकारों के पूर्वग्रहपूर्ण रवैये के कारण रीति कवियों को भक्त कवियों से कमतर आँकने का एक रिवाज सा बन गया है।[24] ऐलिशन बुश ने रीति कवियों के काव्य को केंद्र में रख कर अपने शोध में ये यह दिखाने की कोशिश की थी कि ये राजदरबारी कवि मुग़ल राजनीति से उपजे सांस्कृतिक-राजनीतिक परिवेश में एक बौद्धिक वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे।[25] रीति कवियों को उनके व्यापक अर्थों में लेते हुए उन्होंने दिखाया था कि नायिका-भेद और नख-शिख वर्णन रीति परंपरा की समग्रता का केवल एक हिस्सा था। चरित काव्य, कवियों के लिए संदर्भ पुस्तिकाएँ और नीति पद संग्रह, युद्ध व ऐतिहासिक वर्णन के ग्रंथों की रचना भी इन्हीं कवियों की कृतियों का हिस्सा थे। नायिका भेद और नख-शिख वर्णन की शैली को भी बुश ने एक व्यापक सांस्कृतिक स्वीकार्यता के रूप में भी दर्शाने का प्रयास किया था जिसका प्रसार राज दरबारों और उसके बाहर भी था। उनका ये भी मानना था कि रीति कविता को लेकर फैला पूर्वग्रह 20 वीं शताब्दी के राष्ट्रवादी और सांस्कृतिक रूढ़िवादिता का परिणाम था। *सुंदर के स्वप्न* में दलपत जी ने सुंदरदास की रचनाओं के अपने पठन के आधार पर ये बताने की कोशिश की है कि रीति कविता और इसके प्रमुख विषयवस्तु नायिका भेद और नख-शिख वर्णन को लेकर, संत कवियों में एक अस्वीकरण का भाव है जो 20 वीं शताब्दी के राजनीतिक पूर्वग्रह के उपज वाले आसान तर्क को थोड़ा उलझा देता है।

सुंदर के स्वप्न में इस बात को दर्शाया गया है कि भक्त-कवियों के लिए भी कविता करने के तकनीकी पक्ष का ज्ञान आवश्यक होता था । सुंदरदास की कविता शैली जहाँ एक ओर रीति कविता की तकनीकी समृद्धता की पक्षधर है, वहीं उसकी विषय-वस्तु को लेकर उनका रुख़ आलोचनात्मक भी है। रीति कवियों और रीति कविता की विधा को लेकर सुंदरदास का यह आलोचनात्मक रुख़, उसके नख-शिख वर्णन, शृंगार रस और नायिका भेद जैसे विषयों पर अत्यधिक ज़ोर देने से जुड़ा है। पर इसके साथ ही यह भी ध्यान देना ज़रूरी है कि सुंदरदास का ज़ोर एक संत होने या एक कवि होने से ज़्यादा एक 'ज्ञानी' होने पर है। 'ज्ञानी' होने की सुंदरदास की परिकल्पना की व्याख्या करते हुए, दलपत इस बात को रेखांकित करते हैं कि सुंदरदास ने अद्वैत वेदांत व अन्य शास्त्रीय ज्ञान के माध्यम से एक व्यापक आध्यात्मिक विषयवस्तु की खोज की है और उसे बौद्धिकता का आधार बनाया है जो एक स्तर पर रीति कविता के 'सांसारिक' विषय-वस्तु के प्रति हेय का भाव भी पैदा कर जाता है। जो भी हो, विषयवस्तु से सख़्त असहमति के बावजूद, रीति कविता की तकनीकी और उसकी शैली के कायल हैं सुंदरदास!

हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन में रीति और भक्ति को दो परस्पर विरोधी विधा जैसी

---

[24] यहाँ, महावीर प्रसाद द्विवेदी और रामचंद्र शुक्ल को प्रतिनिधि इतिहासकारों के रूप में लिया जा सकता है. देखें. महावीर प्रसाद द्विवेदी, *रसायन विज्ञान*, साहित्य रत्न भंडार, आगरा, 1920 और शुक्ल का *हिंदी साहित्य का इतिहास*, नागरी प्रचारिणी सभा, 1929.

[25] देखें, ऐलिशन बुश, *पोएट्री ऑफ़ किंग्स: क्लासिकल हिंदी लिटरेचर ऑफ़ मुग़ल इंडिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 2012.

सरलीकृत संकल्पना के प्रति दलपत सचेत करते हैं। शैली के रूप में एक-दूसरे की पूरक होने की स्थिति को दर्शाते हैं। वे दुहराते हैं कि जहाँ रीति कविता के लिए *भक्ति रसामृत सिंधु* जैसे ग्रंथ प्रेरणा स्रोत हैं वहीं रीति कविता और इसकी तकनीकी भक्त कवियों के लिए अपरिहार्य बन जाती है। इसके अलावा दलपत ने सार्थक इशारा किया है कि रीति की विषय वस्तु के प्रति दूसरी पीढ़ी के भक्त संतों के बीच असहमति बढ़ जाती है।

संत और भक्त कवियों की असहमति के बावजूद रीति कविता 17 वीं और 18 वीं शताब्दी में लोकप्रियता के अपने शीर्षबिंदु पर थी। अगर सुंदरदास और भक्त के दूसरी पीढ़ी के संतों में रीति कविता की विषय-वस्तु के प्रति निंदा का भाव भक्ति के एक ख़ास विमर्श का हिस्सा है जो सत्रहवीं शताब्दी की उपज थी, तो रीति कविता और उसकी लोकप्रियता की प्रकृति और उसके सामाजिक ग्रहण की व्याख्या रीति और भक्ति के संबंध पर पुनर्विचार के लिए आवश्यक है। एक और महत्त्वपूर्ण बात जो आरंभिक आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य से हिंदी साहित्य के इतिहास में ख़ासी महत्त्वपूर्ण हो जाती है, वो है इस अवधि में बहुभाषिकता के एक मानदंड के रूप में स्वीकृति। भक्ति काल के संत वेदांत और संस्कृत की शास्त्रीय परंपरा में प्रशिक्षित होने के बावजूद, आरंभिक हिंदी के बहुभाषिक चरित्र का प्रतिनिधित्व करते हैं। सुंदरदास का बहुभाषिक सामर्थ्य, जहाँ एक ओर संस्कृत ज्ञान व शास्त्र परंपरा में प्रशिक्षित होने, बनारस की पांडित्यपूर्ण संस्कृति का देशभाषाओं में प्रभाव और अनुकरण के किसी भी सरलीकरण की संभावना को जटिल बनाती है वहीं सुंदरदास अपने समय के देश-भाषाकरण की संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते हुए नज़र आते हैं।

आरंभिक आधुनिकता की प्रवृत्ति बहुभाषिकता को आत्मसात करने के एक स्वाभाविक अभिप्राय के रूप में लेने की रही है, लेकिन आधुनिक साहित्य और भाषा आंदोलन की राजनीति ने भाषा की संकीर्ण एकभाषी वैचारिकी को बढ़ावा दिया। *सुंदर के स्वप्न* में दलपत जी ने सुंदरदास की काव्य रचना में इस पहलू को उजागर कर स्वागत योग्य काम किया है। एक बात जो भक्ति के दर्शन के देशभाषाई विमर्श में खुल कर नहीं आती है वह है भक्ति के विमर्श और इसके आध्यात्मिक विमर्श का बहुधार्मिक होने की अनिवार्यता। दादूपंथ में एक से अधिक मुस्लिम संतों का महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करना और भक्ति और सूफ़ी के तात्विक दर्शन में सामंजस्य देखने की प्रवृत्ति को आरंभिक आधुनिकता के भारतीय प्रारूप की एक अहम पहचान के रूप में देखा जाना चाहिए। जहाँ पाश्चात्य इतिहास में, आरंभिक आधुनिकता का विमर्श एकरूपता और एकभाषी समाज की तरफ़ बढ़ने का विमर्श है, वहीं भारतीय संदर्भ में आरंभिक आधुनिकता बहुभाषिकता, एक से अधिक सामाजिक पहचानों को आत्मसात करने का विमर्श है, जो कि कई अर्थों में औपनिवेशिक आधुनिकता की ऐतिहासिक मौजूदगी की वजह से एक अधूरी परियोजना बनकर रह गई है। भारत की बहुल संस्कृति के लिए आधुनिकता की संकल्पना व परियोजना कैसी हो जिसमें हम अपनी बहुलता की पहचान को सार्थक कर सकें। ये कुछ ऐसे प्रश्न

हैं जिनके लिए आरंभिक आधुनिकता के विमर्श हमारी समकालीन राजनीतिक व बौद्धिक समझ के लिए बेहद ज़रूरी हैं। इन प्रश्नों से एक बार फिर रू-ब-रू करवाने के लिए *सुंदर के स्वप्न* को दलपत ने हमारे सामने रखा है।

संदर्भ

इमानुयल वॉलस्टीन (1995), 'द एन्ड ऑफ़ व्हाट मार्डर्निटी', *थ्योरी ऐंड सोसायटी*, खंड 24, नंबर 4 : 471-488.

ऐलिशन बुश (2012), *पोएट्री ऑफ़ किंग्स : क्लासिकल हिंदी लिटरेचर ऑफ़ मुग़ल इंडिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस.

एस. एन. दासगुप्ता (1975), *हिस्ट्री ऑफ़ इंडियन फिलॉसफ़ी, खंड III*, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिकेशन्स, दिल्ली.

कार्ल पॉटर (1963), *प्रीसपोज़िशन ऑफ़ इंडियन फ़िलॉसफ़र्स*, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिकेशन्स, दिल्ली.

क्रिस्टोफ़र बेली (2012), *रिकवरिंग लिबर्टीज़ : इंडियन थॉट इन द एज ऑफ़ लिबरलिज़्म ऐंड एम्पायर*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस.

क्रिस्टोफ़र मिन्कॉव्स्की (2011), 'अद्वैत वेदान्त इन अर्ली मॉडर्न इंडिया', *साउथ एशियन हिस्ट्री ऐंड कल्चर,* खंड 2, नंबर 2, अप्रैल : 205-231.

जॉन एफ़ रिचर्डस (1997), 'अर्ली मॉडर्न इंडिया ऐंड वर्ल्ड हिस्ट्री', *जर्नल ऑफ़ वर्ल्ड हिस्ट्री,* खंड 8, नंबर 2 : 197-209.

जॉन स्ट्रैटन हॉली (2015), *ए स्टॉर्म ऑफ़ सॉन्ग्स : इंडिया ऐंड द आइडिया ऑफ़ द भक्ति मूवमेंट,* हावर्ड युनिवर्सिटी प्रेस.

डब्लू जी ऑर (1947), *ए सिक्स्टीन्थ सेंचुरी मिस्टिक दादू ऐंड हिज़ फ़ॉलोवर्स,* लटर वर्थ, प्रेस, लंदन.

निकोलस डर्क्स (2001), *कास्टस ऑफ़ माइन्ड : कोलोनियलिज़्म ऐंड द मेकिंग ऑफ़ मॉडर्न इंडिया*, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस.

फ्रंचेस्का ओर्सीनी (2012), 'हाऊ टू डू मल्टीलिंगुअल लिटरेरी हिस्ट्री? लेसन फ्रॉम फ़िफ़्टीन्थ ऐंड सिक्स्टीन्थ सेंचुरी नॉर्थ इंडिया', *इंडियन इकनॉमिक ऐंड सोशल हिस्ट्री रिव्यू*, 49, 2 : 225-46.

बर्नार्ड कोह्न (1987), 'द सेन्सस, सोशल स्ट्रक्चर ऐंड ऑब्जेक्टीफ़िकेशन इन साउथ एशिया', *ऐन एन्थ्रोपोलीजिस्ट एमंग द हिस्टोरियंस ऐंड अदर एसेस,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस.

महावीर प्रसाद द्विवेदी (1920), *रसायन विज्ञान*, साहित्य रत्न भंडार, आगरा.

मोनिका हॉर्स्टमन (2014), 'संत और सूफ़ी इन सुंदरदासे'ज़ पोएट्री', वसुधा डालमिया और मूनिस फ़ारूक़ी (सं.), *रिलिजियस इंटरैक्शन इन मुग़ल इंडिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली.

रामचंद्र शुक्ल (1929), *हिंदी साहित्य का इतिहास*, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी.

रिचर्ड किंग (1999), *ओरिएन्टलिज़्म ऐंड रिलीजन : पोस्ट कोलोनियल थ्योरी इंडिया ऐंड द मिस्टिक ईस्ट*, रटलेज, लंदन.

रुडोल्फ़ स्टर्न (2002), 'द अर्ली मॉडर्न मडल', *जर्नल ऑफ़ अर्ली मॉडर्न हिस्ट्री*, खंड 6, नंबर 3 : 296-307.

रॉनल्ड इंडेन (2000), *इमेजिंग इंडिया*, ब्लूमिंगटन इंडियाना युनिवर्सिटी प्रेस.

विल्हेम हाफ़बस (2007), 'रिसर्च ऐंड रिफ़लेक्शन : रिस्पॉन्स टू माई रिस्पान्डेंट, III इशूज इन कॅम्परेटिव फिलॉसफ़ी', *बियॉन्ड ओरिएन्टलिज़्म : द वर्क ऑफ़ विल्हेम हाफ़बस ऐंड इट्स इम्पैक्ट ऑन इंडियन ऐंड क्रॉस कल्चरल स्टडीज़*, (सं.), एली फ्रंकों ऐंड करीं प्रेज़ीनडेज़, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली.

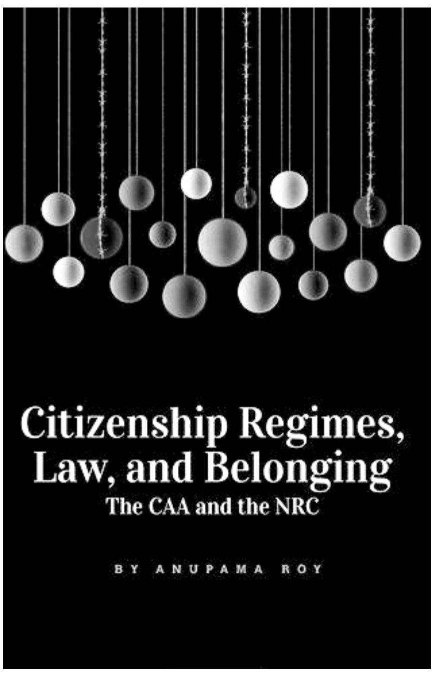
शेल्डन पोलॉक (1998), 'इंडिया इन द वर्नाक्युलर मिलेनियम : लिटरेरी कल्चर ऐंड पॉलिटी, 1000-1500', *डेयडलस* , 127 नंबर, 3, ग्रीष्म : 41-74.

शेल्डन पोलॉक (2011), (सं.) *फॉर्म्स ऑफ़ नॉलेज इन अर्ली मॉडर्न एशिया*, ड्यूक युनिवर्सिटी प्रेस.

संजय सुब्रमण्यम (1998), 'हियरिंग वॉयसेज़ : विन्यनेट्स ऑफ़ अर्ली मॉडर्निटी इन साउथ एशिया, 1400-1700', *डेयडलस*, खंड 127, नंबर 3, ग्रीष्म : 75-104.

नागरिकता और संवैधानिकता

कुँवर प्रांजल सिंह



सिटिज़नशिप, रिजीम्स , लॉ ऐंड बिलॉन्गिग : द सीएए ऐंड द एनआरसी

अनुपमा रॉय

ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली.

पृष्ठ : 360.

मूल्य : ₹ 297.

अनुपमा रॉय की नई किताब *सिटिज़नशिप, रिजीम्स, लॉ ऐंड बिलॉन्गिग : द सीएए ऐंड द एनआरसी* संवैधानिक नैतिकता की तर्ज़ पर नागरिकता का समासित, प्रतिबद्ध और अल्पिष्ट आकलनों का त्रिभुज खींचती है। यह किताब नागरिक शासन के ऐसे वक़्त को समेटती है जहाँ स्वाधीनता संघर्ष की प्रक्रियाओं में अर्जित समता, सहअस्तित्व, सहिष्णुता, अधिकार तथा बंधुत्व जैसे मूल्य हाँफते नज़र आते हैं। धर्म को राजनीति से दूर रखने का संवैधानिक विचार असंदिग्ध रूप से भुलाया जा चुका है। जिसमें 'हम भारत के लोग' की अवधारणा बहुसंख्यक बनाम अल्पसंख्यक सांप्रदायिकता की रस्साकशी का हिस्सा बन चला है। ज़ाहिर है कि ऐसे वक़्त और माहौल में लिखी गई किताब पुराने आश्वस्तियों और निष्कर्षों का भाष्य नहीं हो सकती इसलिए अनुपमा रॉय की यह किताब बहुत से लोगों को क़ानूनी दस्तावेज़ की व्याख्या से उपजी सैद्धांतिकी भी लग सकती है।

लेखिका का प्रारंभिक विश्लेषण बताता है कि भारत का नागरिकता संशोधन अधिनियम अपने आप में शासन के तर्क को प्रकट करता है। वे तीन बिंदुओं की चर्चा करती हैं। पहला, 1955 के नागरिकता अधिनियम ने एक ऐसे शासन का गठन किया जहाँ परिवर्तनकारी तर्क संवैधानिक लोकतंत्र और गणतांत्रिक नागरिकता की विशेषता के रूप में विद्यमान है। दूसरा, 1985 का नागरिक अधिनियम असम राज्य के लिए विभेदीकृत सार्वभौमिकता और श्रेणीबद्ध नागरिकता को स्थापित करने के लिए नागरिक क़ानूनों में 'अपवाद' के तर्क को सम्मिलित करता है। तीसरा, 2003 का संशोधन केंद्र सरकार को विशिष्टता का आधार देते हुए राष्ट्रीय रजिस्टर के प्रावधान से 'दस्तावेज़ी नागरिकता' को सत्यापित करता है।[1] यह राज्य के बहुसंख्यकवादी चेहरे को सामने रखता है। मसलन असम में एनआरसी (2015 के बाद और 2016/2019) में सीएए के माध्यम से राज्य प्रतिबद्ध नागरिकता के शासन को स्थापित करने का अभ्यास करता है।[2]

अनुपमा रॉय के द्वारा प्रस्तुत किए गए नागरिकता के ये तीनों तर्क परिवर्तनकारी, अपवाद और प्रतिबद्ध नागरिकता अपने आप में संवैधानिक ढाँचे के भीतर लोकतांत्रिक प्रक्रिया से होते हुए प्रभुत्व के विचार को ही आगे बढ़ाता है। यहाँ जो ऐतिहासिक दृष्टि मिलती है वह आज़ादी और अधिकार के खंडित रूप का विस्तार करती है। क्योंकि अधिकार जैसी अवधारणा आधुनिकता[3] के साथ जुड़ी हुई है। इस अवधारणा का काम उदीयमान बुर्जुआ वर्ग को राजनीतिक अधिकारहीनता अथवा संस्थाबद्ध दासता से उबारकर औपचारिक समतावादी तथा सार्वभौमिक नागरिकता के विमर्श में स्थापित करना था।[4] ऐसे में संविधानवाद की वह गुत्थियाँ भी खुल जाती हैं। जिसकी तजवीज़ कार्ल फ्रेडरिक ने राजनीतिक समुदाय के प्रत्येक व्यक्ति की हिफ़ाज़त के रूप में पेश की थी (कार्ल फ्रेडरिक, 1950)। लेकिन अब आम तौर पर यह माना जाने लगा है कि सार्वभौमिक कसौटियों को संविधान में निहित अधिकारों से ज़्यादा सत्ता का आधार बना दिया गया है। मसलन साठ सालों से नागरिक अधिकारों का निर्वहन करने के बाद भारत में अल्पसंख्यकों का एक विशेष समूह ऐसे 'विरोधाभासी समय' में प्रवेश कर गया है जिसका एक सिरा ऐतिहासिक घटनाक्रमों की ओर खिंचा हुआ है और दूसरा हिस्सा बहुसंख्यकवाद के तर्क को लोकतंत्र का तर्क बनाने पर आमादा है। इसके लिए बेन्हबीब का हवाला देकर लेखिका ने यह फ़ुटनोट दिया है कि सार्वजनिक तर्क, विचार-विमर्श

[1] अनुपमा रॉय (2022) : 6.

[2] वही : 2.

[3] समीक्षित लेख में आधुनिकता का पर्याय आधुनिक राज्य से है. क्योंकि भारत में आधुनिकता की पूरी प्रक्रिया में राज्य इसके केंद्र में रहा है. राज्य केवल संस्थागत अर्थ ही धारण नहीं करता बल्कि समाज के साथ चयनात्मक मध्यस्थता करने वाला वाहक भी है. यही कारण है कि अधिकार, न्याय, स्वतंत्रता जैसे मूल्य राज्य के द्वारा वितरित भी किए जाते हैं और इन मूल्यों को आधुनिक राज्य अपने तर्क के आधार पर नागरिकों से वापस भी ले लेता है. दिलचस्प बहस के लिए देखें कविराज (2010) : 9.

[4] वेंडी ब्राउन (1995) : 99.

और विनिमय लोकतांत्रिक पुनरावृत्ति की एक जटिल प्रक्रिया है।[5]

इन्हीं बहसों और अंतर्विरोधों के मद्देनज़र प्रस्तुत समीक्षा लेख को तीन भागों में विभक्त किया गया है। पहले भाग में कौन है भारतीय नागरिक? जैसे सवाल से दो चार होते हुए नागरिकता के व्यावहारिक सिद्धांत की पड़ताल की जाएगी। दूसरे भाग में, नागरिक इतिहास की समीक्षा का विश्लेषण किया जाएगा। तीसरे भाग में संविधान के लोकप्रिय पाठों का विश्लेषण करते हुए संवैधानिक लोकतंत्र में लोकप्रिय संप्रभुता और नैतिकता के बीच लोकलुभावनवाद ने नागरिकता को किस प्रकार गतिशीलता प्रदान की है इसकी शिनाख़्त की जाएगी। हालाँकि यह पूरी किताब संविधान कि उन प्रक्रियाओं को नज़दीक से देखते हुए क़ानूनी धरातल पर नागरिक क़ानूनों के साथ लोगों के संबंधों की पड़ताल करती है।[6]

नागरिकता है जिसका नाम

समीक्षित किताब नागरिकता की परिभाषित बहसों को संदर्भित करते हुए नागरिकता को क़ानूनी प्रतीक के तौर पर देखती है। इस बात पर ग़ौर किया है कि क़ानून और नागरिकता का विचार अपने आप में शासन के विचार से जुड़ा हुआ है। जहाँ सत्ता के क्षेत्र की पहचान के लिए वैधानिकता की प्रथा को राज्य की आधिकारिक शक्ति के रूप में क़ानून बनाने के प्रकरण को जायज़ ठहराया जाता है।[7] जिससे नागरिकों के साथ, राज्य किसी भी प्रकार का व्यवहार करने की मान्यता प्राप्त कर लेता है। यही वह स्पेस है जिसे मैं समीक्षित किताब के माध्यम से 'विरोधाभासी स्पेस' कहना चाह रहा हूँ। यह विरोधाभासी स्पेस नागरिकता और राज्य के बीच एक ऐसी समझ को विकसित करता है जो ऐतिहासिक तौर पर बेहद अलहदा होते हैं। जहाँ राज्य पहले से यह मान कर चलता है कि उसका हर क़दम अपने नागरिकों के कल्याण के लिए है। जब नागरिक राज्य के इस क़दम का विरोध करते हैं; तब राज्य यह तर्क देता है कि उसके औचित्य के लिए संप्रभुता और शासन व्यवस्था को बनाए रखने के लिए साधारण से असाधारण स्थितियों की ओर बढ़ सकता है। जिसे उज्ज्वल कुमार सिंह 'लोकतंत्र की दुविधा' के रूप में परिभाषित करते हुए कहते हैं कि राज्य के औचित्य से जुड़े विचार ऐसे अपवादजनक या साधारण स्थितियों में उत्पन्न होते हैं जो राज्य के अस्तित्व के लिए ख़तरा पैदा कर सकते हैं। इसलिए राज्य की संप्रभुता की परिभाषा ही राज्य के औचित्य से जुड़ी हुई है।[8] ऐसे में राज्य अपनी नागरिक परिभाषा में व्यक्तिगत परिप्रेक्ष्य में अर्जित किए गए ज्ञान को सार्वजनिक दस्तावेज़ (पब्लिक डॉक्यूमेंट) के रूप में परिभाषित करता है। भारतीय साक्ष्य अधिनियम की धारा 74 इस सार्वजनिक दस्तावेज़ को सम्प्रभु प्राधिकरण, न्यायिक, कार्यपालिका, विधायिका और आधिकारिक निकायों से जोड़कर परिभाषित करती है। इस पूरे दस्तावेज़ में कौन सा दस्तावेज़ सार्वजनिक कहा जाएगा इसका निर्धारण राज्य के पास ही

[5] सेला बेन्हबीब (2007) : 14. संदर्भित अनुपमा रॉय (2022) : 8.

[6] अनुपमा रॉय (2022) : 8.

[7] वही : 9.

[8] उज्ज्वल कुमार सिंह (2020) : 6.



है। मसलन जबेदा बेगम केस में नागरिकता के प्रमाण के लिए पंचायत के द्वारा मिले प्रमाण पत्रों को आधार बनाया तो न्यायालय ने उसे नागरिकता के मापांक के लिए अस्वीकार कर दिया। यह देखना बेहद अजीब है की ग्राम पंचायत अपने आप में एक सार्वजनिक संस्था होते हुए भी उसके द्वारा प्रमाणित दस्तावेज़ों को सार्वजनिक रिकॉर्ड के तौर पर नहीं देखता है।[9] इससे यह स्पष्ट होता है कि सार्वजनिक और निजी दोनों का संकलन राज्य की परिस्थिति पर आधारित है कि वह कब और किस रूप में परिभाषित करता है। पब्लिक डॉक्यूमेंट नागरिकता की एक ऐसी परिभाषा है जो एक साथ दोहरे मापदंडों को तय करती है। एक तरफ़ वह अस्मिता से जुड़ी हुई है जो लोकतंत्र की व्यावहारिकता को नए कलेवर के रूप में देखती है। यह कलेवर नब्बे के दशक में सामाजिक न्याय और सेकुलरवाद के विजय घोष से आगे बढ़ कर व्यक्तिगत से ज़्यादा एक ऐसे राष्ट्रवाद के रूप में परिवर्तित होता जा रहा है जिसमें सरकार के पक्ष में खड़े होने वाले राष्ट्रवादी कहलाते हैं और सरकार के ख़िलाफ़ विरोध प्रदर्शन करने वाले राष्ट्रविरोधी, और यही मापांक आमफ़हम में इस प्रकार विचरण कर रहा है जो नागरिकता की हैसियत को भी सिद्ध करने लगा है। इसलिए एनआरसी केवल एकीकरण करने की प्रक्रिया ही नहीं है बल्कि असमिया पहचान की मान्यता को दस्तावेज़ी प्रक्रिया के माध्यम से कुशल और प्रभावी पहचान की व्यवस्था पर कसा जाना भी शामिल है। दूसरी तरफ़, यह नौकरशाही अभ्यास को ऐसी ताक़त प्रदान करता है जो उसके संरचनात्मक प्रभाव को विस्तारित करते हुए विशिष्ट सरकारी प्रथाओं के माध्यम से नागरिकों की एक स्थिर और गणना योग्य श्रेणी का निर्माण कर सके।[10]

अनुपमा रॉय राजनीतिक सिद्धांत की किताबों के उस आदर्श तिलिस्म को तोड़ देती हैं जहाँ क़ानून सभी को बराबरी की

[9] अनुपमा रॉय (2022) : 74.

[10] वही : 59.

हैसियत देता है। सैद्धांतिक रूप से अनुपमा रॉय यह मानती रही हैं कि नागरिकता ख़ुद अपने आप में सार्वभौमिक समानता का ही आधार है। इस अमूर्त सार्वभौमवाद में एक मुहासिर मूल्य होता है जो राज्य का समावेशी गुण है। लोकतांत्रिक होने के लिए सर्वभौमिकता अलग-अलग स्थितियों में रहने वाले व्यक्तियों के बीच अपना विस्तार करता है। यहाँ ख़ुद को द्वंद्वात्मक संबंधों और प्रक्रियाओं के ऐसे समूह के भीतर ले जाना होता है जो विभेद को मिटाने के बजाए उसे मान्यता देता हो। रॉय के अनुसार मुहासिर का तर्क दो मान्यताओं पर आधारित है। एक ऐसा समय मुक्तिकामी परिवर्तन का क्षण होता है जहाँ द्वंद्वात्मक संबंध ख़ुद को अभिव्यक्त करता है दूसरा सार्वभौमिक रेखा के भीतर ही विभेद सामने आते हैं।[11] इसके आधार पर प्रोफ़ेसर रॉय राज्य के व्यवहार की ओर इशारा करती हैं। लेकिन एक बंदोबस्त इस लोकतांत्रिक परिदृश्य में ऐसा भी है जो नागरिकता के इस सैद्धांतिक सार्वभौमिकता में लगभग ग़ायब ही रहता है। पार्थ चटर्जी के मुताबिक़, आधुनिक पश्चिमी समाजों के तजुर्बों पर आधारित पॉलिटिकल थियरी के लिए पूरा समाज यानि जो भी राज्य की परिभाषा के बाहर है और आधुनिकता की बुलंद ज़मीन पर वह सब नागरिक समाज है इसके बरअक्स भारत जैसे उत्तर-औपनिवेशिक देशों में समाज का एक बहुत बड़ा हिस्सा ऐसा भी होता है जो नागरिकता और आधुनिकता दोनों के दायरे से बाहर है।[12] यह समाज अपनी रोज़मर्रा की ज़िंदगी की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए संघर्ष करता है और अधिकांश मौक़ों पर उसकी गतिविधियाँ ग़ैर-कानूनी दायरे में चली जाती हैं। चटर्जी यह मानते हैं कि संविधान तथा क़ानून के अनुसार सभी लोग समान अधिकार के साथ नागरिक हैं लेकिन अधिकांश निवासी केवल बारीक अर्थों में ही अधिकार धारण करने वाले नागरिक हैं। अधिकार धारक नागरिक के रूप में इनकी द्वैध स्थिति है। ये अपने निवास स्थान और जीविका आदि के संदर्भ में ग़ैर-कानूनी स्थिति में हो सकते हैं। इस आधार पर यह नागरिक समाज के सदस्य नहीं होते। लेकिन ऐसा नहीं है कि यह राज्य की पहुँच से बाहर निकल पाते हैं।

नागरिक इतिहास से अपमान और अन्याय तक

अनुपमा रॉय संविधान सभा की समीक्षित व्याख्या करते हुए यह मानती हैं कि भारत में नागरिकता औपनिवेशिक शासन से एक संवैधानिक लोकतंत्र में परिवर्तन की प्रक्रिया के साथ अटूट रूप से जुड़ा हुआ है।

[11] अनुपमा रॉय (2010) : 6-7 और कमल नयन चौबे (2013) : 777.

[12] हालाँकि पार्थ चटर्जी की इस दलील को आदित्य निगम ने मार्क्सवादी प्रसंगों में समझने की भूल से आगाह किया है. निगम यह बताते हैं कि बुर्जुआ समाज में लोकतांत्रिक अधिकार और क़ानून की हुकूमत सिर्फ़ अमीरों के लिए होते हैं और आम लोग इससे हमेशा बाहर रखे जाते हैं. इस तरह की धारणा हमारे यहाँ काफ़ी प्रचलित है मगर इस तरह की सोच के साथ एक बुनियादी परेशानी भी है : इसके पीछे ऐसी मान्यता काम कर रही होती है जिसके मुताबिक़ समाज में सब कुछ या तो पूँजी के लिए होता है, या फिर किसी भी चीज का पूँजी के बाहर कोई वजूद नहीं होता है; अर्थात समाज में सब कुछ एक केंद्र से कुछ लोगों के द्वारा किए गए फ़ैसलों के तहत चलता है. इस तरह की सोच में न तो सामाजिक प्रक्रियाओं के स्वतंत्र वजूद को समझने की कोई जगह बन पाती है न ही उन प्रक्रियाओं की पेचीदगियों को बारीकी से देखने और समझने की ज़रूरत ही कभी पेश आती है. क़ानून बनने के पेचीदा रास्तों से गुज़रते हए मुख़ातिब सामाजिक समूहों और तबक़ों के आपसी द्वंद्वों के बीच राजसत्ता काम करती है, यह सब कभी हमारे विचारों का विषय ही नहीं बन पाता है. इस पूरी दिलचस्प बहस के लिए देखें. आदित्य निगम (2023) : 134. साथ ही पार्थ चटर्जी के विमर्श के लिए देखें, पार्थ चटर्जी (2004).

संविधान की घोषणा ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि भारत की नागरिकता पूरी तरह से एक नया विचार है। 1950 में संविधान के अनुच्छेद 5 से 11 तक यह घोषणा है कि भारत में रहने वाला कोई भी व्यक्ति जो किसी अन्य देश की नागरिकता का दावा नहीं करता है वो भारतीय नागरिक है। अपने औपनिवेशिक संघर्षों से भारत एक ऐसे राष्ट्र के रूप में उभरा जहाँ प्रत्येक व्यक्ति की पहचान राष्ट्रीय समुदाय या नागरिक के तौर पर की जाएगी। यह दलील उस समय तक कामयाब थी जब संप्रभुता का विचार राष्ट्रीय राज्य में सत्ता स्थानांतरण के इतिहास से जुड़ा हुआ था।

प्रोफ़ेसर रॉय इतिहास को समकालीन राजनीतिक सवालों से खोलती हैं जो इस किताब का सबसे दिलचस्प हिस्सा माना जा सकता है, जहाँ एक तरफ़ संसद की बहसों की थाह लेते हुए नागरिकता पर उत्पन्न विरोधाभास में विभाजन एक ऐतिहासिक तथ्य के रूप में मौजूद हो रहा है, वहीं दूसरी ओर नागरिकता सांप्रदायिक बहुसंख्यकवाद के खाँचे में खिंच गई है।[13] लेकिन यह एक ऐसा विरोधाभास था जिसमें सेकुलरवाद अपने आप में विपक्षीय दल की विचारधारा बन कर दम तोड़ चुका था।

दरअसल, संविधान के उद्भव के क्षण में भविष्य की दहलीज़ पर खड़े प्रेरित नागरिकों के लिए अतीत कोई बाधा नहीं थी। फिर भी, ये नागरिक उस क्षण के विरोधाभासी स्पेस के प्रतीक के तौर पर सामने आए। यह बात आंबेडकर के प्रसिद्ध दावे से सामने आती है। ग़ौरतलब है कि नेहरू ने एक युग की समाप्ति का दावा किया था। लेकिन इससे अलग, आंबेडकर ने यह विचार अभिव्यक्त किया कि 'हम 26 जनवरी, 1950 को विरोधाभासों के जीवन में प्रवेश कर रहे हैं। यह विरोध राजनीतिक क्षेत्र की औपचारिक समानता और गहरी ग़ैर-बराबरी वाली आर्थिक संरचना के बीच था। आंबेडकर यह मानते थे कि यह विरोधाभास लंबे समय तक क़ायम रहा, तो यह भारतीय लोकतंत्र को ख़तरे में डाल सकता है। साफ़ तौर पर यहाँ नेहरू मानते थे कि निर्माणकारी क्षण अतीत से बिल्कुल अलग और उच्चतर है, वहीं आंबेडकर ने इसे एक विरोधाभास के तौर पर देखा। उपेंद्र बख़्शी आंबेडकर के इन विचारों को संवैधानिक विद्रोह की अभिव्यक्ति के तौर पर देखते हैं, जिसने राजनीति के निरन्तर पुनर्सृजन और जीवन की एक नई दुनिया के निर्माण की संभावनाओं को जीवित रखा है। बख़्शी द्वारा आंबेडकर के कथन में संवैधानिक विद्रोह शामिल होने के विचार की व्याख्या संवैधानिक व्याख्याशास्त्र के भीतर की जा सकती है।[14] यह संविधान को ऐसे संघर्ष स्थल के रूप में प्रस्तुत करता है जहाँ संविधान के शासन और अधिकार के प्रावधान से खुला संघर्ष होता है। यह नागरिकता के विस्तार की संभावना पैदा करता है।

वर्तमान राजनीतिक परिदृश्य के मद्देनज़र

[13] अनुपमा रॉय (2022) : 150.

[14] बख़्शी यह मानते हैं कि संवैधानिक व्याख्याशास्त्र में क़ानून के निर्मित शब्दों और निर्माणकारी क्षण के बीच संबंधों पर ध्यान दिया जाता है. बख़्शी ने इन अर्थों की पहचान संवैधानिक ग्रंथ.(सी1) संवैधानिक क़ानून (सी2) तथा सिद्धांत/विचारधारा (सी3) के रूप में की जाती है. दिलचस्पी के लिए देखें. उपेन्द्र बख़्शी (2008) : 99-100.

आम्बेडकर के विचार को ध्यान में रखकर विश्लेषित किया जाए तो लेखिका का यह प्रस्ताव कि इतिहास अपने खंडित दौर में है, सही साबित होता है। क्योंकि नागरिकता का इतिहास यंत्रणा और यातना के एक ऐसे भित्ति-चित्र की तरह भी दिख सकता है जिसमें जितना उपस्थित है, शायद उतना ही फ्रेम से बाहर रह गया है। यह बात भी मानी जाती रही है कि इतिहास और समाज विज्ञान विभाजन पर अंतिम वाक्य कहने में लगभग असफल रहा है। इसलिए विभाजन इतिहास की एक ऐसी घटना बन चुका है जो 'दोषारोपण की राजनीति' से संचालित होता है। इसका एक बड़ा प्रतिबिंब तब देखने को मिला जब सीएए और एनआरसी पर बहस संसद से सड़क तक तेज़ हुई थी। बक़ौल प्रो. रॉय :

> जब लॉकेट चटर्जी ने घोषणा कि भारत के विभाजन का ज़िम्मेदार नेहरू है उनकी यह घोषणा सत्ता पक्ष का प्रमेय बन गई। इस प्रमेय को भाजपा के शीर्ष नेतृत्व ने प्रमाणित तथ्य की भांति बार-बार दोहराया। संविधान सभा, गांधी और श्यामा प्रसाद मुखर्जी का हवाला देते हुए भाजपा नागरिक संशोधन क़ानून में यह तर्क देती रही कि जो लोग विभाजन की त्रासदी के बाद भारत का हिस्सा नहीं बन सके उन्हें भारत का हिस्सा बनाने के लिए उनका स्वागत किया जाए। हालाँकि, भाजपा के सूत्रीकरण में, सीएए की आवश्यकता नेहरू की 'ग़लती' से उभरी! राज्यसभा में वक्ताओं को दिए अपने जवाब में अमित शाह ने कहा कि सबसे बड़ी ग़लती विभाजन नहीं बल्कि धर्म के आधार पर विभाजन था। अगर बँटवारा नहीं होता तो नागरिकता क़ानून में संशोधन की ज़रूरत ही नहीं पड़ती। विभाजन के बाद पैदा हुई परिस्थितियों से निपटने के लिए सीएबी ज़रूरी हो गया था। यदि पहले की सरकारों ने इन समस्याओं का समाधान किया होता, तो उन्हें विधेयक नहीं लाना पड़ता। मोदी सरकार पहले की अन्य सरकारों की तरह केवल सत्ता का आनंद ले सकती थी, लेकिन सीएबी राजनीतिक लाभ या चुनावी लाभ के लिए नहीं, बल्कि समस्याओं के समाधान के लिए था। शाह ने बिल का विरोध करने वालों से कहा कि वे रात के अंधेरे में अपने कमरे में बैठें और अंतरात्मा से संवाद करें; अगर बिल पचास साल पहले लाया जाता तो स्थिति इतनी गंभीर नहीं होती। सावरकर को विभाजन का पैरोकार क़रार देने वालों का ध्यान शाह ने 1950 के लियाक़त-नेहरू समझौते की ओर आकृष्ट किया, जहाँ एक समझौता किया गया था कि दोनों देश अपने अल्पसंख्यक समुदायों के लिए समानता का विस्तार करेंगे और किसी भी पेशे, विश्वास, धर्म का अभ्यास करने की स्वतंत्रता की रक्षा करेंगे। इन वादों को पाकिस्तान ने पूरा

> नहीं किया और उस देश में अल्पसंख्यकों का प्रतिशत 22 प्रतिशत से घटकर 7 प्रतिशत रह गया। यदि इन देशों के अल्पसंख्यक समुदायों के लोग अब अपनी महिलाओं, अपने धर्म और अपने परिवारों के सम्मान की रक्षा के लिए भारत आ रहे हैं, तो उनकी रक्षा की जानी चाहिए। वे अब कहाँ जाएँगे? क्या हम उन्हें नागरिकता नहीं देंगे?

वे आगे इसी शृंखला में कहते हैं कि–

> 1930 के दशक के बाद के राष्ट्र की कहानी जोगेंद्र नाथ मंडल जैसे अनुसूचित जाति समुदाय के एक आंबेडकरवादी व्यक्ति की कहानी थी, जिन्होंने पाकिस्तान में रहना चुना, जिनके धार्मिक उत्पीड़न का इतिहास छिपा हुआ है। सीएबी मंडल जैसे लोगों के लिए था, जिनके पास दमनकारी शासन से बचने के लिए कोई और जगह नहीं थी। मुसलमान 46 देशों में पलायन कर सकते थे, जो मुस्लिम होने का दावा करते थे, ईसाई 40 देशों में भाग गए, जिन्होंने अपनी आस्था का दावा किया, लेकिन हिंदुओं के लिए कोई भी नहीं था (लोकसभा बहस, 9 दिसंबर 2019)।

राज्यसभा में बोलते हुए, आनंद शर्मा ने कहा कि वर्तमान शासन उन नेताओं को नीचा दिखाने का प्रयास कर रहा है जिन्होंने वर्षों तक जेलों में बिताए और भारत की स्वतंत्रता के लिए अपना बलिदान दिया। इस आरोप को ख़ारिज करते हुए कि विभाजन के लिए नेहरू और कॉन्ग्रेस ज़िम्मेदार थे, शर्मा ने संवैधानिक नागरिकता के लिए आंदोलन और इसकी अंतर्निहित समावेशी प्रकृति की ओर ध्यान आकर्षित किया : यदि यह शासन इंकार करना चाहता है तो यह इतिहास का अन्याय और अपमान होगा। उन्होंने चेताया कि इतिहास को बदलने की कोशिश करने वाली सत्ताएँ सफल नहीं होतीं – जब सत्य को मिटाने की कोशिश की जाती है, तो वह और भी ज़ोरदार रूप में सामने आता है। धर्म के आधार पर दो राष्ट्रों के विचार का समर्थन 1937 में हिंदू महासभा ने अहमदाबाद में अपनी बैठक में किया था। जिसकी अध्यक्षता सावरकर ने की थी। एक साल बाद मुस्लिम लीग ने भी बँटवारे का प्रस्ताव पारित किया। जब भारत छोड़ो आंदोलन के बाद द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान कॉन्ग्रेस नेतृत्व को क़ैद कर लिया गया था, तो यह हिंदू महासभा और मुस्लिम लीग थी, जो प्रांतीय सरकारें बनाने के लिए प्रतिबद्ध थीं।[15]

इस प्रसंग से जो नतीजा निकाला जा सकता है वह नागरिकता को विभाजन जैसी ऐतिहासिक घटना और राष्ट्र के इतिहास दोनों का पर्याय बना देती है। परिणामस्वरूप संवैधानिक नागरिकता का प्रश्न राष्ट्र के प्रश्न से हट कर धर्म का प्रश्न बन गया। दो शब्द 'इतिहास का अपमान' और 'अन्याय' जैसे राजनीतिक शब्द ही एनआरसी और सीएए दोनों को ही समकालीन भारत में नागरिकता

[15] अनुपमा रॉय (2022) : 151-152.

के वैचारिक परिदृश्य का हिस्सा बना देते हैं। नागरिक संशोधन अधिनियम सरकारी न्यायिक दावा क़ानून के भीतर आकार ले रहा था जिसमें नागरिकों की पहचान करने की दो अलग-अलग धारणाएँ हैं; एक तरफ़, न्यायिक मार्ग के माध्यम से दूसरी तरफ़, विधायी मार्ग के माध्यम से नागरिक पहचान की पेशकश की गई है।[16] राज्य की ये गतिविधियाँ सरकारी प्रक्रिया को अंकित करती हैं। यह सरकारी प्रक्रिया एक ही साथ अंदरूनी भी होती है और बाहरी भी क्योंकि यह राज्य के क्षेत्राधिकार; सार्वजनिक और निजी आदि में क्या शामिल होता है और क्या नहीं होता? सरकार की परिभाषा और पुनर्परिभाषा संबंधी रणनीतियों से तय होता है। फ़ूको यह कहते हैं कि राज्य का यह सरकारीकरण पूरी तरह अंतर्विरोधी परिघटना है क्योंकि सरकार के तरीक़े ही राजनीतिक संघर्ष और दावेदारी के एकमात्र वास्तविक स्थान रह गए हैं। लेकिन दूसरी ओर, राज्य इसी सरकारीकरण के द्वारा अपना अस्तित्व बचा पाया है।[17]

संविधान का लोकप्रिय पाठ

संविधान अपने लोकप्रिय पाठ में बहुरंगी रूप में नज़र आता है। जिसका एक रंग ऐतिहासिक विरासतों से मिल कर बना हुआ है जो राष्ट्र की कल्पनाओं को आकार देता है। दूसरा रंग लोकतांत्रिक नागरिकता की चेतना का स्रोत है। तीसरा रंग जो इस किताब की सबसे नायाब पेशकश भी है नागरिकों के द्वारा संविधान को आंदोलन और विद्रोह के पर्याय के रूप में परिवर्तित करना है।[18] सीएए आंदोलन, दिसंबर 2019 में राज्य के प्राधिकारात्मक अभ्यास के ख़िलाफ़ नागरिकों ने एक ऐसे सार्वजनिक स्थान की शिनाख़्त की जिसने संवैधानिक नैतिकता के आधार पर नागरिकता की नई शब्दावली से परिचय कराया। जिसे संविधान के 'लोकप्रिय अध्ययन' के तौर पर समझा जाना चाहिए। किताब के अनुसार एक बात क़ाबिले ग़ौर है कि संविधान की प्रस्तावना केवल दार्शनिक दर्शन की क़वायद तक सीमित नहीं थी बल्कि यह लोगों की बेचैनी, आक्रोश, धरने का स्पष्ट प्रतीक बन गई थी। इसी का परिणाम रहा है कि दो महीने के विरोध प्रदर्शन ने संविधान को बेस्टसेलर बना दिया।[19] संवैधानिक प्रतीकों के माध्यम से सीएए 2019 के विरोध प्रदर्शनकारियों ने संवैधानिक भागीदारी, लोकतांत्रिक चेतना और विचार-विमर्श के उन सिद्धांतों पर ज़ोर दिया जिसे संविधान, सरकार और जनता के त्रिभुज पर कसा जा सके। साथ ही विरोध प्रदर्शनों के दौरान अदालत द्वारा की गई कुछ टिप्पणियाँ 'संविधान के लोकप्रिय पाठ' और नागरिकों के प्रति सरकार के कर्तव्यों की याद दिलाती है। मसलन बॉम्बे हाईकोर्ट की औरंगाबाद बेंच ने बीड ज़िले के ईदगाह मैदान में विरोध प्रदर्शन की अनुमति देकर इंकार करने वाले एडीएम के आदेश को रद्द कर दिया और संवैधानिकता व क़ानून के शासन तथा स्वतंत्रता आंदोलन की विरासत

[16] वही : 156.

[17] मिशेल फ़ूको (1991) : 102-103.

[18] अनुपमा रॉय (2022) : 203.

[19] वही.

को जनता के लिए बोधगम्य बनाया।[20] कोर्ट ने माना कि ऐसे मामलों में लोगों से बात करना और उन्हें समझाना सरकार का कर्तव्य है। फ़रवरी 2020 में दिए गए एक आदेश में, सुप्रीम कोर्ट ने शाहीन बाग़ में प्रदर्शनकारियों के साथ संचार की आवश्यकता पर भी ज़ोर दिया। महत्त्वपूर्ण रूप से, न्यायाधीशों ने यह भी महसूस किया कि विरोध प्रदर्शन में केवल एक विशेष समुदाय या धर्म के लोग ही भाग ले रहे हैं यह मानना गलत है; बल्कि सभी धर्मों के समूह इस आंदोलन का हिस्सा थे। दरअसल नागरिक संशोधन क़ानून से यह अनुमान लगाया गया कि यह क़ानून मानव जाति या बुनियादी मानवीय मूल्यों के ख़िलाफ़ है। न्यायाधीश 'संविधान के इतिहास' में बंधुत्व की उस भावना की शिनाख़्त कर सके जिसे हमने आज़ादी के संघर्षों से अर्जित किया था।[21] संविधान के इस लोकप्रिय पाठ से यह स्पष्ट हो चुका होगा कि नागरिकता और संविधान की दो ऐसी व्याख्याएँ जिनके स्रोत अलग-अलग हैं। एक व्याख्या राज्य की संप्रभुता से संचालित हो रही है, वह संप्रभुता के आयाम को आधार बना कर संविधान की व्याख्या प्रस्तुत कर रही है। दूसरी तरफ़ लोकप्रिय संप्रभुता की ओर से आने वाली एक व्याख्या है जो संविधान को विद्रोही नागरिकता के प्रतीक के रूप में व्याख्यायित करती है।

अंदाज़-ए-बयाँ और भी है...

जैसा कि हमने शुरू में ही कहा था, यह किताब संविधान की उन प्रक्रियाओं को नज़दीक से देखती है जो संसद से लेकर सड़क तक नागरिकता की व्याख्याओं पर आधारित है। नागरिकता और क़ानून के संबंधों पर लिखी और बतायी जा रही पद्धतियों और विजयी विमर्शों के ख़िलाफ़ आलोचनात्मक रुख़ लेते हुए लेखिका ने एक तरह से अकादमिक सत्याग्रह किया है। लेखिका ने अपने पूरे विश्लेषण के द्वारा पहले नागरिकता के विकास क्रम में प्रयोग की जाने वाली अकादमिक और क़ानूनी अवधारणाओं, श्रेणियों, पदों और परिप्रेक्ष्य की अपूर्णताओं की ओर ध्यान खींचा है और फिर अपनी प्रस्थापना से यह साबित करती हैं कि सैद्धांतिकी के इस संरचनात्मक असंतुलन को कैसे दुरुस्त किया जा सकता है। इन ख़ूबियों के बावजूद भी किताब की कुछ ख़ामियों की ओर ध्यान देना बेजा न होगा। प्रथम दृष्टया इस किताब पर एक विस्तृत समझ तभी बनायी जा सकती है जब आप नागरिकता के सैद्धांतिक विमर्श और नागरिक संशोधन क़ानून से पूर्वपरिचित हों या लेखिका के नागरिकता पर किये गये पहले के कामों को भलीभाँति जानते हों। मसलन उनकी किताबें *मैपिंग सिटीज़नशिप*, *सिटीज़नशिप इन इंडिया*, *जेंडर्ड सिटीज़नशिप* आदि मूलरूप से शामिल हैं। लेखिका नागरिकता पर बात करते हुए अपने पाठकों से यह उम्मीद करती हैं कि वे नागरिकता की ऐतिहासिक यात्रा से परिचित होंगे। की ऐतिहासिक यात्रा से परिचित होगा। दूसरी तरफ़ नागरिक लोकतंत्र के हवाले से सीएए और एनआरसी के आंदोलन को एक नाज़ुक वृत्तांत (क्रिटिकल

[20] वही : 217.

[21] वही : 220.

इवेंट) के तौर पर देखने की वकालत करती हैं। वीना दास को संदर्भित करते हुए सीएए के ख़िलाफ़ आंदोलनों को एक महत्त्वपूर्ण घटना मान कर उस पूरी राजनीतिक कार्यवाही को नैतिकता के विस्तारण से जोड़ देती हैं।[22] लेकिन यह जुड़ाव एकरेखीय मालूम होता है। सीएए के ख़िलाफ़ चल रहे आंदोलनों में प्रयोग की गई भाषा स्वतंत्रता आंदोलन की भाषा प्रभावित दिखी। मसलन बेहतर यह होता कि इंक़लाब के मायने को आज़ादी और *नागरिक संशोधन क़ानून* के ख़िलाफ़ प्रयोग किए जाने को भी विश्लेषित करतीं। महामारी के दरम्याँ भारत में ही बनाये जा रहे बॉर्डर का आधार क्या था? क्या वह मौलिक अधिकारों के अनुकूल था या नहीं? जो श्रमिक वर्ग शहरों में मतदाता थे उनके प्रति सरकार का रवैया क्या था उन्हें कैसे नागरिकता की श्रेणी से हटा कर भीड़ की श्रेणी में डाल दिया गया? इस तरह के तमाम सवालों को इस किताब में महत्त्वपूर्ण रूप से अंकित करने की अभिलाषा पाठक महसूस कर सकता है।

संदर्भ

अनुपमा रॉय (2010), *मैपिंग सिटिज़नशिप इन इंडिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली.

अनुपमा रॉय (2023), *सिटिज़नशिप, रिजीम, लॉ ऐंड बिलॉन्गिग : द सीएए ऐंड द एनआरसी,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली.

आदित्य निगम (2023), *आसमाँ और भी हैं : वैचारिक स्वराज के तक़ाज़े*, सेतु प्रकाशन, नई दिल्ली.

उज्ज्वल कुमार सिंह (2020), *भारत में राज्य, प्रजातंत्र और आतंक विरोधी क़ानून*, (अ.) कमल नयन चौबे, सेज भाषा कार्यक्रम, नई दिल्ली.

कार्ल फ्रेडरिक (1950), *कॉन्स्टीट्यूशनल गवर्नमेंट ऐंड डेमोक्रेसी*, जिन ऐंड कंपनी, बोस्टन.

राजीव भार्गव (2008) (सं.), *पॉलिटिक्स ऐंड एथिक्स ऑफ़ इंडियन कॉन्स्टीट्यूशन*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली.

कमल नयन चौबे (2013), 'भारत में नागरिकता : द्वंद्व और अंतर्विरोध', *प्रतिमान : समय समाज संस्कृति*, जुलाई-दिसंबर, 2013. वर्ष -1 खंड -1 अंक-2, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली : 776-782.

कविराज (2010), *मॉडर्निटी ऐंड पॉलिटिक्स इन इंडिया संकलित द ट्रैजेक्टरीज़ ऑफ़ द इंडियन स्टेट*, परमानेंट ब्लैक, रानीखेत.

पार्थ चटर्जी (2004), द *पॉलिटिक्स ऑफ द गवर्न्ड,* परमानेंट ब्लैक, रानीखेत.

मिशेल फ़ूको (1991), 'गवर्नमेन्टलिटी', ग्राहम बर्चेल, कॉलिन गार्डन और पीटर मिलर (सं.), द *फ़ूकोज़ इफ़ेक्ट : स्टडीज़ इन गवर्नमेन्टलिटी*, हार्वेस्टर, लंदन.

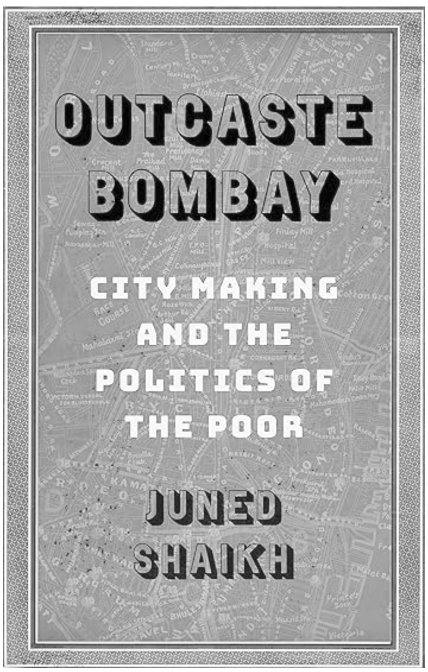
वेंडी ब्राउन (1995), *स्टेट्स ऑफ़ इंजरी : पॉवर ऐंड फ़्रीडम इन लेट मॉडर्निटी*, प्रिस्टन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिस्टन.

सेला बेन्हबीब (2007), 'ट्वाईलाइट ऑफ़ सॉवरेन्टी ऑर द इमरजेंसी ऑफ़ कॉस्मोपॉलिटन नॉर्म्स? रिथिंकिंग सिटिज़नशिप इन वोलटाइल टाइम्स', *सिटिज़नशिप स्टडीज़* : 14.

[22] वही : 211.

आउटकास्ट बॉम्बे : शहर, ग़रीबी और जाति के सवाल

अरुण कुमार



आउटकास्ट बॉम्बे : सिटी मेकिंग ऐंड द पॉलिटिक्स ऑफ़ द पुअर

ज़ुनैद शेख़

सिएटल : युनिवर्सिटी ऑफ़ वाशिंगटन प्रेस, 2021

पृष्ठ : 227

मूल्य : ₹ 852 (किंडल संस्करण)

ज़ुनैद शेख़ की *आउटकास्ट बॉम्बे* 'अछूतों' के नज़रिए से औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक बॉम्बे के इतिहास का बयान करती है। दूसरे शब्दों में कहें तो यह किताब भारतीय आधुनिकता, पूँजीवाद, महानगरीयता और वर्ग चेतना के पर्याय की तरह देखे जाने वाले भारतीय शहर बॉम्बे (अब मुंबई) में जाति की गहरी और परतदार उपस्थिति बख़ूबी दर्शाती है। आमतौर पर बंबई शहर के इतिहास को उद्योग और पूँजी, श्रम और काम-काज (वर्क), शहरीकरण और उसके बुनियादी ढाँचे, आधुनिक ज्ञान की निर्मिति और शिक्षा के लिए हुए संघर्षों के हवाले से बताया गया है, जिसमें जाति और जाति आधारित असमानताएँ अध्ययन का एक महत्त्वपूर्ण बिंदु भर रही हैं। लेकिन, पाँच अध्यायों में विभाजित, *आउटकास्ट बॉम्बे* जाति की मौजूदगी की पड़ताल को शहर के राजनैतिक-आर्थिक-सांस्कृतिक नियोजन के व्यापक फ़लक पर ले जाकर यह दावा करती है कि जातिभेद (हायरार्की) ने बॉम्बे

के मज़दूर वर्ग के आवास और औद्योगिक अर्थव्यवस्था से लेकर शहर में पनपी (मार्क्सवादी) राजनीति की भाषा और (दलित) साहित्य की अंतर्वस्तु तक को आकार दिया है।

सबसे पहले, यह किताब एक विश्लेषणात्मक प्रश्न प्रस्तुत करती है जो अकादमिक लेखन में असामान्य नहीं है। क्या जाति, जो प्राचीन काल या परंपरा से विरासत में मिली भारतीय समाज की एक विशेषता है, आधुनिकता के दबाव में भंग हो गई है? ज़ुनैद शेख़ का सीधा जवाब है 'नहीं'। बकौल शेख़, यूँ तो आधुनिकीकरण के अन्य सिद्धांतकारों की तरह डॉ. बी. आर. आंबेडकर भी मानते थे कि शहरों में जाति अप्रासंगिक हो जाएगी (पृष्ठ 4-5), लेकिन बाद में उन्होंने जाति-भेद से उभरे और कभी न ख़त्म होने वाले उत्पीड़न से बचने के लिए हिंदू धर्म को त्याग दिया और बौद्ध धर्म अपना लिया। शेख़ का तर्क है कि बॉम्बे 'शहर में जाति खुल्लम-खुल्ला ओझल थी' (*कास्ट हिड इन द प्लेन साइट इन द सिटी*), और अक्सर वर्ग और आधुनिकता की आड़ में अपना काम करती थी (पृष्ठ 5)। जाति की (अ) स्पष्ट उपस्थिति ही भारतीय आधुनिकता और शहराती अनुभव की एक विशेषता है।

समाजशास्त्री सतीश देशपांडे, अर्थशास्त्री अश्विनी देशपांडे, और मानवशास्त्री अजंता सुब्रमण्यम के हालिया अध्ययनों से पता चलता है कि ('ऊँची' जातियों की) सांस्कृतिक पूँजी, योग्यता और रोज़गार की (आभिजात्यवादी) भाषा और माध्यम किस तरह समकालीन शहरी भारत में जाति के सवाल को अदृश्य बना देते हैं। शेख़ का प्रमुख योगदान इन समकालीन शोधों की कालानुक्रमिक और वैचारिक सीमाओं को आगे बढ़ाने में निहित है जो बताता है कि बीसवीं शताब्दी की शुरुआत से ही जहाँ एक तरफ़ शहर निर्माण-योजना, वर्गीय राजनीति और मार्क्सवादी लेखन की प्रक्रियाएँ जाति पर एक क़िस्म की पर्देदारी करती दिखती हैं। वहीं दूसरी तरफ़ बॉम्बे की झुग्गी-झोपड़ियाँ, दलित साहित्य और मार्क्सवादियों की किताबें जाति के प्रश्न और दलितों के जातिगत अनुभव से ओत-प्रोत नज़र आती हैं।

शेख़ की किताब में जो समझदारी बनती है वह जाति को केवल एक सामाजिक और धार्मिक (पवित्रता-प्रदूषण अनुष्ठान) पदानुक्रम के सीमित रूप में नहीं, बल्कि राजनीतिक अर्थव्यवस्था में निहित संस्था की तरह देखती है। एक ऐसी संस्था जो सार्वजनिक संसाधनों, रोज़गार, आवास, और शिक्षा के अवसर और वितरण को सिलसिलेवार प्रभावित करती है। शेख़ ज़ोर देकर कहते हैं कि शहर में जाति और वर्ग दोनों मिलकर काम करते हैं। जाति ने वर्ग आधारित शहरी आवास निर्माण और भाषा के अंदर अपनी एक जगह बना ली और वर्ग ने जाति को अदृश्य और नक़ाबपोश बना दिया (पृष्ठ 11-15)। यद्यपि जाति और पूँजीवाद के पूरक अंतर्संबंधों पर राजनारायण चंदावरकर अपनी प्रसिद्ध किताब *द ओरिजिंस ऑफ़ इंडस्ट्रियल कैपिटलिज़म इन इंडिया* में काफ़ी पहले टिप्पणी कर चुके हैं, शेख़ उनके तर्कों को नए और पुरज़ोर तरीक़े

से पेश करते हैं : पूँजीवाद (एक आधुनिक परिघटना) और जाति (एक प्राचीन सामाजिक संस्था) एक-दूसरे के विरोधी नहीं रहे हैं। वास्तव में,भारत में पूँजीवाद ने जाति का सहारा लिया, चाहे उसे कपड़ा उद्योग के लिए पूँजी जमा करना हो या ग़रीब मज़दूरों के लिए आवास की व्यवस्था करनी हो। इतना ही नहीं, जाति ने शहर की वर्गीय राजनीति और सार्वजनिक क्षेत्र में अपनी बहुस्तरीय मौजूदगी दर्ज की थी। बहरहाल, अब हम इस पुस्तक के उन दो चुनिंदा विषयों पर अपना ध्यान केंद्रित करेंगे जिनके ज़रिये शेख़ अपने तर्क को विकसित करते हैं।

शहरी नियोजन, ग़रीबों के आवास और जाति

दो से अधिक अध्यायों में फैला शेख़ का पहला विषय हमें बताता है कि किस प्रकार जाति ने बॉम्बे के शहरी आवास के बुनियादी ढाँचे को आकार देने में मार्गदर्शन किया, और कैसे चॉल और झुग्गी-झोपड़ियाँ अपने आप में जाति का एक ठोस व मूर्त (मेटेरियल) संदर्भ भी बन गईं (पृष्ठ 20)। भले ही चॉल और झुग्गी बस्तियों की भीड़-भाड़, गंदगी और अस्वच्छ होना श्रमिकों की कम आमदनी और महँगे किराए का नतीजा थीं, और ऊँचे किराए की मार को हल्का करने के लिए, बॉम्बे के श्रमिकों ने अपने कमरों को अन्य प्रवासियों के साथ साझा करने की तरक़ीब भी निकाली। लेकिन, शहरी योजनाकारों और तत्कालीन समाजशास्त्रियों ने लगातार इन बेतरतीब और अस्वच्छ मोहल्लों और चॉलों की चारित्रिक निशानदेही जाति और समुदाय के आधार पर ही की। दरअसल, शेख़ बॉम्बे में श्रमिकों के आवास को एक बाज़ारू वस्तु या उत्पाद (कमोडिटी) के रूप में दिखाना चाहते हैं जिसके लिए श्रमिक किराया देता है (पृष्ठ 28) और फिर किराया कम करने के लिए अपने कमरे को दूसरे श्रमिकों के साथ साझा करता है (पृष्ठ 110-11)। शेख़ यह तो परिभाषित करते हैं कि इस बाज़ारू वस्तु का स्वरूप (अर्थात् इसका निर्माण और आकार) क्या था और विभिन्न जातियाँ इस वस्तु में किन परिस्थितियों में निवास करती थीं, पर वह इस बात की पड़ताल नहीं करते कि इस *वस्तु* के होने के मतलब और मायने क्या थे? क्या यह वस्तु श्रमिकों के लिए कभी घर का दर्जा ले पाई? और यदि हाँ, तो कैसे? या, क्या श्रमिक हमेशा शहर में प्रवासी के रूप में रहते थे, जो अपने घरों को बनाने और निवेश करने में रुचि नहीं रखते थे, जैसा कि बॉम्बे के वास्तुकार, क्लाउड बैटले ने टिप्पणी की थी (पृष्ठ 44)? शेख़ दिखाते हैं कि कैसे झुग्गी-झोपड़ियों के विध्वंस, निष्कासन, विस्थापन, किराए में वृद्धि और अवैध निर्माण के डर ने आवास के सवाल को दलितों की एक राजनीतिक माँग बना दिया और साथ-ही साथ उनके साहित्यिक लेखन को आकार भी दिया। लेकिन इसका मतलब यह भी था कि इस वस्तु पर श्रमिक-अधिकार हमेशा ही मिथक मात्र था, भले ही मज़दूर उस पर अपना हक़ जताने के लिए एक रक़म ख़र्च करते थे। औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक शहरी योजनाकारों (जैसे द सिटी ऑफ़ बॉम्बे इंप्रूवमेंट ट्रस्ट, 1898) की आँखों में ये झुग्गी-झोपड़ियाँ हमेशा चुभती

रहीं और इनके हिसाब से ये झुग्गियाँ घर और निवास की परिभाषा से बिल्कुल विपरीत थीं। वो इन्हें बीमारी, गंदगी और पतन का केंद्र मानकर इनको हटाना चाहते थे। मसलन, ट्रस्ट ने मार्च 1901 तक 14413 परिवारों को इन बस्तियों से हटा दिया (पृष्ठ 31)। फिर भी श्रमिक इन स्थानों को न केवल जाति और वर्ग के आधार पर, बल्कि धर्म, क्षेत्र, मोहल्ले और व्यवसाय आदि की आत्मीयता और सामाजिक संबंधों के चश्मे से देखते थे। पुस्तक में इन सामाजिक व भावनात्मक संबंधों और अनुभवों को विश्लेषणात्मक श्रेणियों (एनालिटिकल केटेगरी) के रूप में ज़्यादा उजागर नहीं किया गया है जिसकी शायद थोड़ी ज़रूरत थी। वस्तु से घर बनने के बीच की दूरी और इसे तय करने की जद्दोजहद को इतिहासबद्ध करने के लिए नए प्रकार के स्रोतों को पढ़ने की आवश्यकता है, जैसे छोटी अदालतों के मुक़दमें, गिरगाँव पुलिस थाने में दर्ज शिकायतें जिनको समकालीन अख़बार *टाइम्स ऑफ़ इंडिया* कभी-कभी छाप देता था। बहरहाल, शेख़ बताते हैं कि झुग्गी-झोपड़ियों के विध्वंस, विस्थापन और औपनिवेशिक तथा उत्तर-औपनिवेशिक राज्य के झुग्गी सुधार क़ानूनों के बावजूद भी झुग्गियों की संख्या 88 (1957) से बढ़कर 619 (1981) हो गई।

मार्क्सवाद और दलित साहित्य

इस पुस्तक का नवीनतम और सिलसिलेवार वैचारिक योगदान है मराठी मार्क्सवादी पर्चे-पोथियों, साहित्यिक रचनाओं ख़ासकर उपन्यासों और कहानियों, तथा अन्य सांस्कृतिक ग्रंथों के अध्ययन से जाति की शहरी संरचना की समझ बनाना और दलित राजनीतिक संस्कृति और साहित्य के इतिहास के शहराती पहलू को उजागर करना। शेख़ दिखाते हैं कि कैसे 1920 और 30 के दशक के बीच बॉम्बे में बढ़ती मज़दूर वर्ग की राजनीति के आलोक में मार्क्सवाद और साम्यवाद के विचारों का अनुवाद और देशीकरण किया गया। अंतर्राष्ट्रीय मार्क्सवाद के अनुवाद और प्रसारण के लिए भारतीय मार्क्सवादियों को जाति-सोपान और असमानता के सवाल का सामना करना पड़ा, जिसे अब तक उन्होंने अपने राजनीतिक सिद्धांत में वर्ग की वैचारिक शब्दावली की खोली में छिपाया हुआ था। साम्यवादियों ने मार्क्सवादी ग्रंथों के अनुवाद करते समय भी एक दिलचस्प भाषा-सोपान को जन्म दिया जिसमें अमूर्त वैचारिक शब्दावली के लिए संस्कृत-मराठी शब्दों का प्रयोग किया गया और व्यवहार और अनुभवपरक पदों के लिए शहरी लोक भाषा और पद (जिसमें जाति सूचक शब्दों का भी उपयोग हुआ) (पृष्ठ 66-67)। मसलन, अनुवादित *कम्युनिस्ट घोषणापत्र* में, ग़ैर-मज़दूर उत्पीड़ित वर्गों और मध्ययुगीन (यूरोप के) उत्पीड़ित वर्गों के लिए *दलित* शब्द का प्रयोग किया गया, किंतु मज़दूर वर्ग से निचले तबक़े के समकालीन शहरी ग़रीबों (लुंपेन-प्रोलितारिअत) के लिए *मवाली* का (पृष्ठ 69)। शेख़ ने (अँग्रेजीदां पाठकों के लिए) उन मराठी दलित कम्युनिस्टों (अन्नाभाऊ साठे) और मार्क्सवाद से प्रभावित दलित लेखकों (बाबूराव बागुल) की दुनिया को भी उजागर

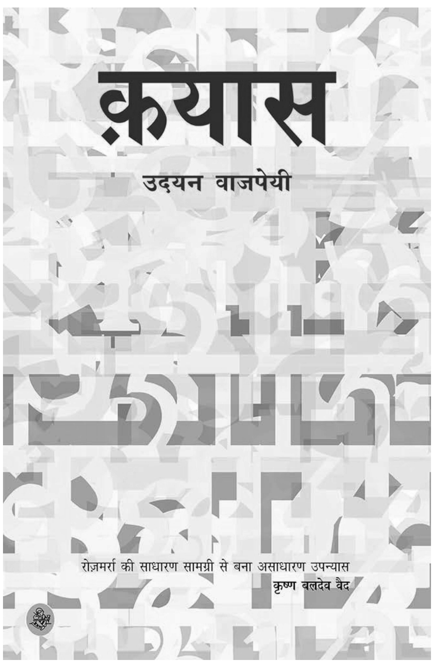
किया है, जिन्होंने न केवल साम्यवाद को दलित श्रमिकों की जीवित वास्तविकता (नौकरी की अनिश्चितता, अपमान, अस्वच्छ आवास की स्थिति, घर से निष्कासन का डर) के क़रीब लाया बल्कि भारतीय मार्क्सवाद को भी गहराई और विस्तार दिया। साथ ही साथ, अभिजात्य मराठी साहित्य के समानांतर दलित साहित्य को भी खड़ा किया जिसमें मार्क्सवाद का प्रभाव साफ़ तौर से दिखता है (पृष्ठ 139)। शेख़ का तर्क है कि उत्तर-औपनिवेशिक दलित साहित्य पर एक तरफ़ तो वामपंथी राजनीति के क्रांतिकारी विचारों का प्रभाव था जो कि औपनिवेशिक पूँजीवाद को उखाड़ फेंकना चाहता था, वहीं दूसरी तरफ़ जाति-विरोधी आंदोलन का, जो कि जातीय पदानुक्रम को उलटने पर बल देता था। यही साहित्य दलित पैंथर्स जैसे राजनीतिक आंदोलनों का वैचारिक चारा बना (पृष्ठ 119,125)।

यद्यपि इन दोनों क्रांतिकारी आंदोलनों ने बॉम्बे की राजनीतिक और सांस्कृतिक दुनिया पर एक अमिट छाप छोड़ी, पर दोनों ही आंदोलन अपनी सफलता के शीर्ष पर पहुँचने से पहले ही बिखरने भी लगे। बंबई की 1982-84 की मिल हड़ताल ने जहाँ एक तरफ़ वामपंथी राजनीति पर रोक लगाई और वहीं दूसरी तरफ़ 1970 के दशक में दलित राजनीति, मार्क्सवाद और आंबेडकरवाद के अंतर्विरोधों को आपस में ना समेट पाने के कारण, विखंडित होने लगी (पृष्ठ 168-69)। एक प्रश्न है जो अंतिम अध्याय को पढ़ने के बाद से ही मेरे मन में कौंध रहा है : क्या जाति की राजनीति वर्ग की राजनीति के साथ अंततः असंगत है?

अंत में, मैं इस सवाल पर लौटना चाहूँगा कि हिंदुस्तानी महानगर आधुनिकता और शहरातीपन के उस चोग़े को कैसे पहनते हैं जो जाति की खुली और सर्वव्यापी मौजूदगी को अदृश्य बना देता है। इस बात की पड़ताल करने के लिए शेख़ को उन साहित्यों और लेखों पर भी प्रकाश डालना चाहिए था जो शहरी जीवन के चकाचौंध को भी दर्शाते हैं और साथ ही साथ जाति छिपाने की प्रक्रिया का निर्माण भी करते हैं। शेख़ की किताब पढ़ने के बाद हमारी कई चालू मान्यताएँ ध्वस्त हो जाती हैं, जैसे सिर्फ़ गाँव जाति के टीले होते हैं जबकि शहर जाति से परे प्रगति का प्रतीक हैं, या पूँजीवाद की संरचना जाति को विलुप्त कर देगी, अथवा वर्गीय असमानता जाति असमानता से कोसों दूर तक जाती है, वग़ैरह, वग़ैरह। *आउटकास्ट बॉम्बे* हमें प्रेरित करती है कि हम बंबई शहर, दलित साहित्य, और भारतीय मार्क्सवाद की एक नई समझ पैदा करें और शहराती आधुनिकता को एक नई दृष्टि से समझें।

यक़ीन की आवृत्ति से बुना गया *क़यास*

वागीश शुक्ल



क़यास
उदयन वाजपेयी
राजकमल प्रकाशन
2022
पृष्ठ : 192
मूल्य : ₹ 188

कजी+ए+यकख़त+ए+मिस्तर चि तवह्हुम चि यक़ीं[1]

– मिर्ज़ा ग़ालिब

(चाहे भ्रम हो चाहे विश्वास, दोनों ही एक सीधी रेखा के खींचे जाते समय उसमें घुस आए टेढ़ेपन के नाम हैं।)

(पुस्तकालय असीमित किंतु आवर्ती है। यदि कोई कालजयी यात्री किसी भी दिशा में चलना शुरू करे तो अकथित शताब्दियों के बाद वह पाएगा कि वे ही पुस्तकें उसी अप–क्रम में दुहराई जा रही हैं– जो दुहरावों के नाते क्रम में बदल गया है।)[2]

आँ नफ़्ख़ ये कजू दम+ए+ईसा गुशूद बाल
बूय+ए+किनाय दाश्त, मुबरहन न गुफ़्त अम।।

– मिर्ज़ा बेदिल

[जिस फूँक (की शक्ति) से हज़रत ईसा की (जीवनदायिनी) साँस ने अपने डैने पसारे, उससे

---

[1] यह पंक्ति मिर्ज़ा ग़ालिब की एक मन्क़बत (हज़रत अली की स्तुति में लिखा गया क़सीदा) से ली गई है. उनके दीवान के हमीदिया नुस्ख़े में इस क़सीदे को पूरा पाया जा सकता है; प्रचलित दीवान में इस पंक्ति समेत एक बड़ा हिस्सा अनुपस्थित है.

[2] जॉर्ज लुइस बोर्ख़ेस (1998), द *लाइब्रेरी ऑफ़ बेबेल इन कलेक्टेड फ़िक्शंस*, (अनु.) बाई हर्ले, पेंग्विन क्लासिक्स.

रूपक की गंध आती है, (उसे) मैं प्रत्यक्ष–प्रमाणित नहीं मानता।]

(इस्लामी मान्यता है कि हज़रत ईसा कृत्रिम पक्षियों में अपनी साँस फूँक कर उन्हें उड़ा देने का चमत्कार कर सकते थे और हज़रत ईसा की साँस में यह शक्ति है कि वे निर्जीव को जीवित और अस्वस्थ को स्वस्थ कर सकते हैं। इसके आधार पर फ़ारसी कवि समय के अनुसार कविता में हज़रत ईसा को प्राय: माशूक़ से समीकृत किया जाता है जो बीमार आशिक़ को स्वस्थ कर सकता है।

चूँकि इस्लामी मान्यता के अनुसार अल्लाह ने मनुष्य की सृष्टि के लिए उसका एक पुतला मिट्टी से बना कर उसमें अपनी साँस फूँक कर उसे सप्राण किया था, बेदिल कह रहे हैं कि हज़रत ईसा की साँस की यह प्रसिद्धि एक रूपक लगती है और मैं इसे युक्ति–सम्मत नहीं कह पा रहा हूँ। यह देखते हुए कि हज़रत ईसा के इन चमत्कारों का उल्लेख क़ुर्आन में ही है, यह एक दुस्साहसिक कथन प्रतीत होता है किंतु इस ओर ध्यान देने पर कि हज़रत ईसा के नाम से माशूक़ का इशारा किया जाता है, हम इस शेर को वासोख़्त (ऐसी कविता जिसमें माशूक़ की शिकायत हो) का एक उदाहरण मान सकते हैं।'

लेकिन वस्तुत: बेदिल ने यहाँ उस कवि समय से एक बिलकुल दूसरा ही काम निकाला है। उनके मन में अद्वैत वेदांत की स्वीकृत सृष्टि–प्रक्रिया है और वे इस साँस को माया से समीकृत करते हुए यह कह रहे हैं कि यह सृष्टि का प्रसार जिस माया ने किया है, वह केवल एक औपम्य–मूलक कल्पना है, उसे मैं युक्ति–सिद्ध पारमार्थिक सत्य नहीं मानता, वह मिथ्या है।)

1

2020 की कोरोना महामारी ने जिन मनुष्यों के प्राण लिए उनमें हमारे समय के एक महान गणितज्ञ जान कॉनवे (जॉन हॉर्टन कॉनवे, 26 दिसंबर, 1937-11 अप्रैल 2020) का भी नाम है। अन्य अनेक महत्त्वपूर्ण गणितीय प्रमेयों के साथ–साथ उनका नाम 'अणोरणीयान् महतोमहीयान् (छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा)' संख्याओं को समेट लेने वाले एक संख्या–तंत्र की रचना के लिए भी जाना जाता है जिसकी वर्णना का प्रारंभ उन्होंने अपनी एक पुस्तक[3] में उमर ख़ैयाम की एक रूबाई (के अंग्रेज़ी अनुवाद) से किया है जिसकी प्रथम पंक्ति कहती है कि सच और झूठ में बाल बराबर ही फ़र्क़ है। इस संख्या–तंत्र की संरचना में कॉनवे ने प्रारंभ उस समुच्चय से किया है जिसमें कोई सदस्य नहीं है और इस समुच्चय के युग्म में यह 'बाल बराबर फ़र्क़' डालते हुए उनसे एक 'क्रमित युग्म (ऑर्डर्ड पेपर)' बनाया है जिसे उन्होंने 'शून्य' का अभिधान दिया है। यही वह संख्या है जिसे हम 'शून्य' के नाम से जानते हैं और इसी से हमारी जानी हुई 'स्थूल–काय' सारी संख्याएँ, वे सभी 'दीर्घ–काय' संख्याएँ जो 'अनंतों' की एक अनंत क्रमबद्ध शृंखला के रूप में उपस्थित होती हैं और वे सभी 'क्षुद्र–काय' संख्याएँ जो हमारी सुपरिचित सभी 'स्थूल–काय' संख्याओं से सूक्ष्म हैं,

[3] जॉन कॉन्वे (1976) *ऑन नंबर्स ऐंड गेम्स*, एकैडमिक प्रेस.

बनती हैं। इन 'अदृश्य' दीर्घकाय संख्याओं और क्षुद्रकाय संख्याओं के साथ हमारी 'दृश्य' स्थूल–काय संख्याएँ मिलकर एक क्रम–बद्ध तंत्र तैयार करती हैं जो हमारे ज्ञात संख्या–तंत्र का आत्यंतिक रूपाकार है।

कुछ समय बाद इन सारी संख्याओं को 'अधि–वास्तविक संख्याएँ (सुर्रियल नंबर्स)' कहा जाने लगा; यही नाम कॉनवे ने भी अपना लिया। इसका कारण यह है कि रिक्ति के 'अ–क्रम' में 'क्रम' के आवेश से उपजे इस सर्वव्यापी स–क्रम संख्या–तंत्र की संरचना के महत्त्व का स्वीकरण करते हुए हमारे समय में कंप्यूटर साइंस के सबसे बड़े नाम डॉनाल्ड क्नूथ (डॉनाल्ड इर्विन क्नुथ, 10 जनवरी, 1938) ने अधि–वास्तविक संख्याएँ[4] शीर्षक से एक उपन्यासिका लिखी जो किसी गणितीय उपलब्धि को समझाने का प्रथम 'कथोपाय' है। इस उपन्यास का उपशीर्षक है : 'किस प्रकार दो भूतपूर्व विद्यार्थियों की रुचि शुद्ध गणित में जागृत हुई और उन्होंने पूर्ण प्रसन्नता प्राप्त की (हाउ टू एक्स-स्टूडेंट्स टर्न्ड ऑन टू पेपर मैथेमैटिक्स ऐंड फ़ाउंड टोटल हैपीनेस)। यह एक स्त्री और एक पुरुष के बीच हुए संवाद के रूप में लिखा गया है जिनमें हम इस 'बाल–बराबर फ़र्क़' के वाम और दक्षिण से बने उस अर्द्धनारीश्वर का संकेत ढूँढ सकते हैं जिसने (कॉनवे द्वारा निर्धारित) क्रम को नियंत्रित करने वाले दो नियमों का जोड़ा प्रकट किया है।

उदयन वाजपेयी का उपन्यास *क़यास* पढ़ते हुए मुझे इस उपन्यासिका की याद आती रही। यह लेख इस उपन्यास में पाठकीय 'टोटल हैपिनेस' की विवृति करता हुआ एक उपशीर्षक लिखने का प्रयास है।

2

क़यास कुछ एकालापों, या उपन्यास से शब्द लें तो 'आवाज़ों', का बना हुआ है। ये आवाज़ें 'निर्जीव' हॉल की भी हो सकती हैं, 'गतजीव' साँवली की भी, और अन्य 'सजीव' पात्रों की भी, किंतु इनमें से प्रत्येक एकालापी से सूक्ष्मतर कॉनवे – नियमों के अनुसार 'बाल–बराबर फ़र्क़ के बाँयें' – वह प्रेत सर्वदा उपस्थित रहता है जिसका नाम 'सुदीप्त' है और जो इस उपन्यास का पारंपरिक अर्थ में 'नायक' है। इस नायक के साथ भूत (वीना), वर्तमान (मृदुला) और भविष्य (वंदना) में स्थित नायिकात्व में पहचानी जा सकने वाली तीन नायिकाएँ जुड़ी हुई हैं किंतु अपने को बहुवल्लभ के खाँचे में खींच कर अँटाते प्रेम–पियालों से बजबजा रहे 'आत्मवृत्तों' में उतराती यौनिकता के विपरीत देश और काल में पूरा पसरे हुए इस चतुष्क में यौनिक ऊष्मागतिकी क्रम–साहित्य से क्रम–राहित्य की ओर कुछ इस अप्रत्यावर्तनीयता से नीचेर्गमन में एकदिष्ट हुई है कि पृथ्वी के एक कोने में तितली के पंख फड़फड़ाने के आवृत्ति–बल से दूसरे कोने में तूफ़ान आने की तथ्यात्मकता पर विश्वास दृढ़तर होने लगता है।

आवृत्ति ही इस उपन्यास की संरचना का ईंधन है : आवाज़ों की आवृत्ति– एक आवाज़ थमी नहीं कि दूसरी सुनाई देने लगती है और

[4] सुर्रियल नं., इसे हार्वर्ड विश्वविद्यालय के सौजन्य से अब इंटरनेट पर पाया जा सकता है.

उपन्यास एक वाद्यवृंद की स्वरलिपि के आकार में उभरने लगता है। 'आरंभ' शीर्षक से प्रस्तुत हो रही पहली आवाज़ एक पेशलफ़्ज़ है जिसे 'मार्ग' शीर्षक से 'शो' के बीच का 'मध्यांतर' बताती लेखकीय घुसपैठ का समरूपी भी कह सकते हैं किंतु दोनों 'सूत्रधारीय' उपन्यास को भिन्न पारिस्थितिकियों में गढ़ते हैं। पहला एक चरित्र-कथा की सीधी शुरुआत करता है और दूसरा उस कथा को एक जंगल में प्रतिस्थापित करते हुए उसमें भटकते चरित्रों के पड़ोस में उस चरित्र को भटकता पाता है :

शायद उपन्यास लिखना या पढ़ना किन्हीं चरित्रों के साथ भाषा के अरण्य में भटकना है। भाषा का अरण्य या ज़ुबान का जंगल। इसी जंगल में मैंने वंदना के आँसू देखे, मृदुला का डर में भीगा कर्त्तव्य–बोध, किशोर कोठारी का घमंड, स्नेहा का मित्र–प्रेम, और साँवली का अजब जीवन। इन्हीं के सहारे मैं सुदीप्त से मिला, उस मरे हुए चरित्र से भाषा के अरण्य में। ज़ुबान के जंगल में। वे भी मेरी तरह ही उस जंगल में भटक रहे थे। अपने होने के मायने को मृत्यु के आलोक में समझने की कोशिश करते हुए। वे भटक रहे थे। सर्दियों में धूप का, गर्मियों में पीले पत्तों के झरने का आनंद लेते हुए। कभी कोई जा कर वाक्यों के बीच के अंतराल में सो जाता, कभी कोई अर्धविराम पर टिक जाता। कभी कोई भारी फाटक की तरह बीच में आ गए पूर्ण विराम को रास्ते से हटा कर अगले वाक्य की ओर बढ़ता। (पृष्ठ 74–75)

रे ब्रैडबरी 22 अगस्त, 1920-5 जून 2012, की एक कहानी[5] में कुछ लोग एक टाइम–मशीन में डाइनासोरों के शिकार के मक़सद से करोड़ों वर्ष पहले की दुनिया में जाते हैं और घबड़ाहट में एक व्यक्ति गाइड के निर्देशों के विपरीत निर्दिष्ट 'टाइम–लाइन' से उतर कर जंगल में भटकने लगता है जिसके परिणामस्वरूप एक तितली उसके जूते के तले दब कर चिपक जाती है और फलत: एक दूसरी टाइम–लाइन शुरू हो जाती है। कहानी के वर्तमान (2055) में लौटने पर वे पाते हैं कि जिस दुनिया से वे सैर के लिए निकले थे, वह पूरी तरह बदल चुकी है। तितली का वर्तमान में पंख फटकार कर भविष्य में कहीं तूफ़ान उठा देना या उसके पंखों का भूतकाल में घटित समय के पहले निष्प्राण हो जाने के नाते बंद हो जाने से वर्तमान को बदल देना, दोनों उस वैज्ञानिक शास्त्र की लोकवाचना के निमित्त गढ़े गए कथोपाय हैं जिसे 'केऑस सिद्धांत' कहा जाता है और इन लोकवाचनाओं का प्रतिपाद्य यह है कि एक अल्प–सत्त्व परिवर्तन आवृत्ति–बल से कालांतर में महासत्त्व परिणाम में बदल सकता है।

मैं सोचता हूँ कि क्या हो अगर भाषा के अरण्य में कोई चरित्र बीच में आ गए पूर्णविराम को रास्ते से न हटा पाए? वह अगले वाक्य की ओर कैसे बढ़ेगा?

3

सुदीप्त के बारे में प्रथम सूत्रधारीय की जिज्ञासा है : *आख़िर वह कौन था जो जा कर भी नहीं गया? मर कर भी नहीं मरा?* सुदीप्त मृत्यु के

[5] ए साउंड ऑफ़ थंडर.

पूर्णविराम को रास्ते से हटाए बिना अगले वाक्य की ओर बढ़ लेता है और फिर आगे अगले वाक्यों की ओर बढ़ता चला जाता है। उपन्यास के सारे वाक्यों में उसकी यह मौजूदगी ही वह आलोक है जिसके परावर्तनों में हम रिक्ति और सत्त्वहीनता के दर्पण में प्रतिबिंबित इस अ–बिंब की दृश्यता को अनंतगुणित करती हुई आवृत्तियों के बलबूते इस शीशमहल के सभी चरित्रों को प्रकाशित पाते हैं। इसलिए शायद इस उपन्यास के पात्रों को 'चरित्र' कहना ठीक नहीं, वे सब एक ही तस्वीर की रंगगतिकी (क्रोमोडायनिमिक्स) की झलकियाँ हैं।

इस उपन्यास के उपादान–कारणों की सुराग़–रसाई के दौरान कुछ लेखक झाँकते नज़र आते हैं। सुदीप्त भारत के एक क़स्बे में एक पुराना सरकारी पुस्तकालय चलाता है किंतु कभी पेरिस में रह कर यूरोप के सबसे पुराने और प्रतिष्ठित विश्वविद्यालयों में से एक का शोधछात्र था और दर्शन में शोध करता था। आप सुदीप्त के पीछे से बोर्खेस (जॉर्ज फ्रैंन्सिस्को ज्ज़ाडोरा लुइस बोर्खेस असीदेहो, 24 अगस्त, 1899-14 जून 1986) की आहट सुन सकते हैं। सुदीप्त के पेट में छुरा भोंकने के बाद अपने ख़ून–रँगे हाथ धो रहे चोर में लेडी मैकबेथ की छवि इतनी स्पष्ट है कि आप उपन्यास से निकल कर शेक्सपियर के पास चले जाते हैं। सुदीप्त और वीना के परिचय में दोस्तोयवस्की की *सफ़ेद रातें* मौजूद हैं तो सुदीप्त और वंदना के साहचर्य की जड़ में रेणु की *परती : परिकथा* का दूती–कर्म है। लेकिन शायद यहाँ रुक कर पहले इस उपन्यास की कथा–वस्तु पर एक सरसरी निगाह डाल लेना ठीक रहेगा।

4

उपन्यास का 'प्लाट' सीधा–सादा है। एक विवाहित और बाल बच्चेदार सुदीप्त की नज़दीकी एक कुँवारी लड़की वंदना से हो जाती है जिसके नाते दोनों के परिवार असहज हो उठते हैं और सुदीप्त की हत्या को लेकर 'ऑनर किलिंग' के क़यास यक़ीन की शक्ल में उड़ने लगते हैं। सुदीप्त के क़त्ल के शक की सुइयाँ सुदीप्त की पत्नी मृदुला से लेकर वंदना के चाचा किशोर कोठारी और उसके भाई बिट्टू तक लोग घुमाते रहते हैं और पुलिस उन्हें सुदीप्त के नौकर लखना में चुभो देती है यद्यपि रिकॉर्ड में यह एक अनसुलझा केस ही रह जाता है क्योंकि वास्तविक हत्यारे चोर के अतिरिक्त किसी को हक़ीक़त का पता नहीं है जो सुदीप्त के घर में घुसा तो था एक मामूली चोरी करने लेकिन निकला एक अनचाहा किंतु पूरा क़त्ल करके।

जिसे मैंने सुदीप्त और वंदना की 'नज़दीकी' कहा है वह वस्तुत: एक 'शो' है जिसमें वंदना कुछ किताबों के अंश पढ़ती है। *छांदोग्य उपनिषद्* के बग़ल में ग़ालिब का कोई शेर रख कर बुनी गई इस चादर को सुदीप्त और वंदना ने कितने जतन से ओढ़ा यह आनुमानिक है किंतु उपन्यास का अंत यह कहता है कि सुदीप्त इसे जस–का–तस ही धर कर गया : पुस्तकालय को अलीम ने जस–का–तस चमाचम रखा है और वंदना के साथ सुदीप्त की आवाज़ में बोलती उसकी बेटी नुआ ने 'शो' को उसी तरह सँभाल लिया है जैसा सुदीप्त के जीवन–काल में वह था, इस बुनियादी फ़र्क़ के साथ कि इस शो में मृदुला की मौजूदगी गुपचुप कोई जानकारी

लेने के लिए नहीं, सुदीप्त की आवाज़ सुनने के लिए है। नुआ का नाम वीना के पेरिस वाले अपार्टमेंट के नाम पर रखा गया है और इस तरह सुदीप्त नाम की खाई पर वीना से लेकर वंदना तक मृदुला से गुज़रता हुआ एक पुल तैयार हो जाता है जो इस शो के लिए मंच का काम करता है।

मैं उदयन वाजपेयी का कृतज्ञ हूँ जिन्होंने मेरी जिज्ञासा के उत्तर में मुझे बताया कि 'नुआ' वस्तुत: बाइबिल में दिए गए उसी नाम का वास्तविक (ता के निकट) उच्चारण है जिसे हम उसकी अंग्रेज़ी वर्तनी छवीं के आधार पर 'नोह' पढ़ने–बोलने के आदी हैं। फिर मेरा ध्यान इस ओर गया कि यद्यपि इस नाम की अधिक प्रसिद्धि यहूदियों के एक पैगंबर के नाम के रूप में है जिन्हें ईश्वर ने वैश्विक जलप्रलय के समय एक नाव में अपने समेत कुछ अन्य को बचा ले जाने का अवसर दिया था ताकि सृष्टि पूर्णत: नष्ट न हो, यह इज़रायल में आज भी लड़कियों के लिए पसंदीदा नामों में से एक है और *बाइबिल* के 'संख्या–ग्रंथ' यठववा व (बुक्स ऑफ़ नंबर्स) में उल्लिखित उन पाँच बहनों में से एक का नाम है जिन्होंने अपने मृत पिता की कोई पुरुष–संतति न होने के नाते उनका उत्तराधिकारी माने जाने का अधिकार जताया था।[6] इस ओर ताकने पर लैंगिक पक्षधरता की जो झलक दिखती है उसके समर्थन में कुछ और बातें भी गिनाई जा सकती हैं– जैसे यह कि सभी स्त्री–पात्र सुदीप्त के पक्षधर हैं, यहाँ तक कि सुदीप्त की पत्नी मृदुला का वंदना के प्रति 'सौतिया डाह' और वंदना की माँ सुशीला की अपनी बेटी के 'कुलच्छनों' को लेकर दुश्चिंता, उन्हें सुदीप्त के पक्ष में झुकाने वाले तमाम असमंजसों से ग्रस्त हैं और अंतत: विलुप्त ही हो जाते हैं जिसके नाते सुदीप्त के प्रतिपक्ष में ले देकर किशोर और बिट्टू ही बचते हैं जो उपन्यास के भीतर क्रमश: 'घमंडी' और 'मूर्ख' तो बताए ही गए हैं किंतु जिनका 'पुरुष' होना भी कहीं–न–कहीं उनकी कमज़ोरियों में शुमार है। तथापि उपन्यास के भीतर इसमें कोई 'सोद्देश्यता' ढूँढ़ना उतना ही निरर्थक है जितना ग़रीब अत: वध्य लखना को सुदीप्त का हत्यारा साबित करके पुलिस द्वारा हत्या की गुत्थी सुलझाने के प्रत्याशित प्रयासों की मौजूदगी से यह निष्कर्ष निकालना कि उपन्यास का वास्तविक लक्ष्य प्रशासनिक सत्ता की विडंबनाओं को उजागर करना है। हम इस उपन्यास को हिंदी में चल रहे किसी 'विमर्श' में नहीं घटा सकते।

'द शो मस्ट गो ऑन' की प्रसिद्ध प्रतिज्ञा के अनुपालन से बढ़कर इस कथा में मनुष्य और शब्द के संबंध के एक अधि–वास्तविक वास्तु की खिड़कियों से एक परा–आध्यात्मिक वीथी का प्रवेश होता है। ईश्वरीय शब्द से मनुष्य का सुचर्चित जन्य–जनक संबंध यहाँ एक भिन्न प्रश्न–वाचक की वक्रता में मुड़ा हुआ है : जिस शब्द को निर्विवाद रूप से स्वयं मनुष्य ने ही सिरजा है उसका वह प्रयोक्ता है या उसका प्रयुक्त है? यह सवाल हम रोबोटिक्स के बारे में अकसर

[6] यह अधिकार उन्हें एक ईश्वरीय आदेश के तहत इस शर्त पर मिला कि वे अपने क़बीले के बाहर विवाह नहीं करेंगी ताकि उनकी पैतृक सम्पत्ति क़बीले के बाहर न जाए जिसके अनुपालन में उन सब ने अपने चचेरे भाइयों से विवाह किया. इस नाते स्त्री–अधिकारों के इतिहास में इन सभी बहनों का नाम भी आता है.

उठाते हैं और इस दहशत का सामना करते रहते हैं कि क्या हमारी बनाई मशीनें कभी हमें बनाने लगेंगी किंतु हम यही सवाल अपने रचे साहित्य के बारे में नहीं पूछते। लेकिन हमें पूछना चाहिए।

इसलिए कि किताबों की अधि–वास्तविक सृष्टि में वह संभव होता है जो इस इंद्रिय–ग्राह्य वास्तविक सृष्टि में संभव नहीं है जिसमें हम रहते हैं। जैसा सुदीप्त ने वंदना से कहा :

> हर ख़ूबसूरत कहानी अपने भीतर ख़ाली जगहें ले कर आती हैं जिनमें हमें अपने अनुभव के रंग भरने होते हैं। पाठक शायद वही व्यक्ति हो सकता है जो ख़ुद को कहानी के भीतर उड़ेल कर उसे पूरा करने का जोखिम उठा सकता हो, कहानी के भीतर अपने जीवन से सामना करने की सामर्थ्य रखता हो। – पृ. 53

मुझे यहाँ ‘अनुभव' का व्युत्पत्ति–परक अर्थ—अनु–भव = फिर से होना – अधिक उपयुक्त लगा – जो उद्धरण के दूसरे वाक्य से भी समर्थित है। उद्धरण के भीतर अपनी बहुवचनात्मकता में उपस्थित ये अनु–भव कहानी में से जा कर भी न जाते, मर कर भी न मरते पाठक की उन आवृत्तियों के हस्ताक्षर हैं जो कहानी की रिक्ति में प्रवेश और अनुप्रवेश के माध्यम से उसे आकार देते हैं। यहाँ लेखक और पाठक का अंतर निरर्थक है : दोनों ही एक अ–बिंब के प्रतिबिंब हैं, या जैसा कि विद्यारण्य स्वामी ने कहा है, ईश्वर और जीव, दोनों ही माया नाम की कामधेनु के दो बछड़े हैं और जितना चाहें उसका द्वैत–नामा दूध पी कर बढ़ते रह सकते हैं :

> मायाख्याया: कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ
> यथेच्छम्पिबतान्द्वैतन्तत्त्वमद्वैतमेव हि।।[7]

इस कामधेनु का दूध बेरोकटोक पीते हुए ये ईश्वर और जीव ही जब अपनी बढ़त की सीमाएँ तोड़ते हुए बेलगाम हो जाते हैं तब हम इन्हें लेखक और पाठक की छिन्न भूमिकाओं में विभक्त कर पाते हैं। अ–द्वैत की निष्क्रियता का मायिक द्वैत–पोषण की आवृत्तियों से अभिवृद्ध क्रियावान् रूप ही कारयिता और भावयिता के युग्म में स्फ़ीत होता है जिसकी ग्राह्य आकृति को हम काव्य कहते हैं। यह संसार आख़िर ‘देव की कविता' ही तो है।

5

इस उपन्यास की गढ़न में जिन एकालापी आवृत्तियों की छेनी–हथौड़ी इस्तेमाल हुई है उनका संचालन कुछ दार्शनिक सूक्तियाँ करती हैं यद्यपि इसे एक ‘दार्शनिक उपन्यास' कहने में मुझे कुछ हिचक है। ऐसी ही दार्शनिक सूक्तियों में से है :

> प्रकाश के घेरे में बैठी लड़की के होंठ नहीं के बराबर खुलते और एक मद्धिम–सी आवाज़ निकल कर माइक से टकराती और हर श्रोता के कान के पास तितली की तरह फड़फड़ाने लगती। उस शाम मानो यह

[7] पञ्चदशी, चित्रदीप–प्रकरण, श्लोक 236.

> तितली रुक–रुक कर फड़फड़ा रही हो : 'आज अंत में मैं आपको उस व्यक्ति का कहा सुना रही हूँ जिसने हमारे शहर में इस कार्यक्रम की कल्पना की थी।... प्रेम अनंत में भागीदारी का नाम है। मृत्यु इसलिए उसे बाँध नहीं पाती। उसमें शामिल हो जाती है।...

यहाँ नुआ के बोलने का ज़िक्र है जो शो के पुनर्भव में अपने हाथ में कुछ पन्ने लिए पढ़ रही है। इसके आगे उपन्यास का अंतिम एकालाप है– लखना का एकालाप।

उपन्यास की जिल्द के चौथे पन्ने पर (मेरी जानकारी के अनुसार स्वर्गीय कृष्ण बलदेव वैद द्वारा लिखा गया) एक पाठकीय वक्तव्य है जो कहता है, 'लखना उर्फ़ लखनलाल का चरित्र ठीक ही अविस्मरणीय है। उपन्यास में उसे गौरवमय स्थान दिया गया है। यह उसी के एकालाप से ख़त्म होता है।' किंतु मैंने यह समझा कि जो पढ़ा जा रहा है, वह यही उपन्यास है जो तितली की फड़फड़ाहट के बलबूते दुहराव में वापसी की ओर मुड़ता है और अपने चाक्रिक विन्यास में आवृत्तियों के भरोसे अपक्रम से क्रम और क्रम से अपक्रम की उपज पाने की ओर बढ़ता है– जैसा मैंने पहले कहा, मेरी समझ में इस उपन्यास में कोई 'चरित्र' है ही नहीं, केवल चरित्राभास हैं।

अंत या प्रारंभ, कोई भी नाम दीजिए, मृत्यु को शामिल करती हुई अनंत में भागीदारी को प्रेम कहना *योगवासिष्ठ* के *अहल्योपाख्यान* की याद दिलाता है जिसमें अहल्या नाम की एक रानी पुराण सुनते हुए अहल्या पर इंद्र की आसक्ति की कथा सुन कर पूछती है कि 'मेरा नाम भी अहल्या है, फिर मुझ पर इंद्र क्यों नहीं आसक्त है' जिसके नाते उसकी दासी शहर से इंद्र नामक एक लफंगे को उसके प्रेमी के रूप में प्रस्तुत कर देती है। परिणामी राजदंडों के चलते ये दोनों बार–बार मृत्यु को प्राप्त होते हैं किंतु हर बार पुनर्भव में यह घोषित करते हुए प्रकट होते हैं कि मृत्यु केवल शरीर को नष्ट कर सकती है जबकि प्रेम अशरीरी है। सत्ता, चेतना और आनंद को नाम तथा रूप में बाँधने के प्रयासों पर ही उपन्यास का समापन या प्रारंभ करता हुआ प्रश्न–वाचक है : 'लखना, तुम ख़ुद को लखना क्यों कहते हो'?

प्रश्न के उत्तर में केवल *क़यास* ही किया जा सकता है।

6

बोर्ख़ेस ने अपनी पुस्तक *अधर्म का वैश्विक इतिहास* के 1954 में प्रकाशित संस्करण की भूमिका में अतिशायी (बरोक्यू) कला को 'बुद्धि–जन्य' कहा है और उसे कला का अंतिम पड़ाव बताते हुए उसके बारे में लिखा है कि यह वह कला है जो अपने संसाधनों का दिखावा और उनकी फ़िज़ूलख़र्ची करती हुई अपनी संभावनाओं का ख़ज़ाना पूरा ख़ाली कर देती है तथा इस प्रकार अपना विरूपण–सा करती है।[8]

भारतीय काव्य–शास्त्र में (मम्मट द्वारा) कविता के जो तीन 'हेतु', शक्ति, निपुणता, और अभ्यास, गिनाए गए हैं, उनके संदर्भ में

---

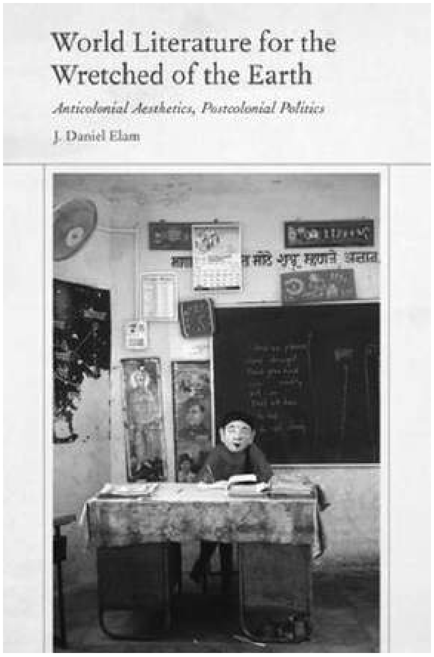
[8] ए युनिवर्सल हिस्ट्री ऑफ़ इनीक्विटी इन जॉर्ज लुइस बोर्ख़ेस कलेक्टेड फ़िक्शंस, (अनु.) एन्ड्रयू हर्ले, पेंग्विन क्लासिक्स 1998.

बोर्ख़ेस के इस कथन को अनुकूलित करने की चेष्टा में मैंने निपुणता और अभ्यास को ही 'संसाधन' समझा क्योंकि जिसे कविता की 'शक्ति' कहते हैं वह बुद्धि, मन, अहंकार, और चित्त के चतुष्फलकीय वास्तु में ढले अंतःकरण की ही उपज है जिसकी अक्षय मायिकता का ख़ज़ाना नैष्कर्म्य–सिद्धि के अतिरिक्त कभी ख़ाली नहीं हो सकता और कविता एक कर्म है।

क़यास के कला–कर्म में संसाधनों के दिखावे और फ़िज़ूलख़र्ची के नमूने यत्र–तत्र मिल जाएँगे – इसी को शायद वैद साहब ने अपने पाठकीय वक्तव्य में 'अतिनाटकीयता' कहा है– किंतु यह अतिशायिता जिस नर्म–आहंगी में रची–बसी है उसके नाते मैं इसे 'अप–वास्तविक' कहना अधिक पसंद करूँगा, कुछ इसलिए भी कि 'अधि–वास्तविक (सुर्रियल)' शब्द कला के संदर्भ में एक विशेष अर्थ में रूढ़ है। उपन्यास में आए चरित्राभास अपनी आभासी सत्ता को कुछ भाव–मूर्तियों में अपने विलयन के माध्यम से प्राप्त करते हैं– लखना का विलयन वफ़ादारी में, वंदना का विलयन स्त्री के समर्पण में, मृदुला का विलयन कर्त्तव्य–निष्ठा में। वास्तविक का यह विलयन प्रत्येक व्यक्ति की इयत्ता को नैवेद्य में बदलता हुआ एक रासायनिक परिवर्तन है जिससे उसकी पुन: प्राप्ति असंभव है। आप मृदुला में पत्नी नहीं पत्नी–त्व पाते हैं, वंदना में प्रेमिका नहीं प्रेमिका–त्व पाते हैं। पार्थिवता की इस हानि से ही उस वायवीयता की सर्जना होती है जो इस उपन्यास को हिंदी साहित्य के ठोस दमघोंटू ठसपन से बाहर एक नई पारिस्थितिकी में स्थापित करती है। हिंदी उपन्यास की कला–यात्रा का यह आख़िरी पड़ाव हो या न हो, एक नया पड़ाव ज़रूर है।

उपनिवेशवाद विरोधी पाठक होने की ज़िद

मोना दास



वर्ल्ड लिटरेचर फ़ॉर द रेचेड ऑफ़ द अर्थ (2020)
जे. डेनियल एलम
फ़ॉर्डहैम युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली.
पृष्ठ : 360.
मूल्य : ₹ 297.

'इंसान सोचता है, यह एक जैविक तथ्य है। वह *क्या* सोचता है, एक समाजशास्त्रीय तथ्य है।' अमेरिकी मनोवैज्ञानिक एडवर्ड थॉर्नडाइक का हवाला देते हुए इस पंक्ति का उल्लेख आंबेडकर *शूद्र कौन थे* पुस्तक की प्रस्तावना में करते हैं। इसे हम कुछ यूँ भी कह सकते हैं कि आंबेडकर का अछूत होना एक समाजशास्त्रीय तथ्य है और यह तथ्य उनकी राजनीतिक सोच और हिंदू धार्मिक साहित्य की आलोचना को साकार करता है। यदि शूद्र होने का अर्थ मन और शरीर की ग़ुलामी है, तो बकौल फैनों, *धरती के अभागे* सभी उपनिवेशवासी शूद्र हैं जो मुक्ति की राजनीति का निर्माण इस समाजशास्त्रीय सोच के माध्यम से कर रहे थे। जे. डेनियल एलम अपनी किताब *वर्ल्ड लिटरेचर फ़ॉर द रेचेड ऑफ़ द अर्थ : एंटीकोलोनियल एस्थेटिक्स, पोस्टकोलोनियल पॉलिटिक्स* के ज़रिए उपनिवेशवाद विरोधी विमर्शों की वंशावली में उत्तर-औपनिवेशिक वैचारिकी की मदद से एक नई अंतर्दृष्टि प्रदान करते हैं। वह उपनिवेशवाद विरोधी

राजनीति को स्वयंप्रभुता /प्राधिकार-विरोधी (एंटी-ऑथॉरिटेरिअन) राजनीति के समकक्ष परिभाषित करते हैं। एंटी-ऑथॉरिटी या (रचयितावादी) स्वयंप्रभुता/प्राधिकार विरोधी राजनीति के ख़िलाफ़ पढ़ाई-लिखाई की एक ख़ास संस्कृति को, जिसमें पाठक आत्म-निपुणता के रचयितावादी दंभ से सचेत दूरी और विरोध रखता है, एक इंक़लाबी समतावादी उपनिवेशवाद विरोधी कार्य के रूप में देखते हैं।

इस किताब की खोज-बीन इस आधार पर टिकी हुई है कि पाठक बनना या बने रहना, प्रभुतावादी निपुणता के दावों और दंभों से उद्देश्यपूर्ण छुटकारा पाना है। पाठक बने रहना, और वह भी सामासिकता या अन्य पाठकों की सोहबत में, मूलतः ब्रिटिश हुक़ूमत को जायज़ ठहराने वाले इस तर्क को चुनौती देता है कि राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए आत्म-निपुणता (सेल्फ़-मास्टरी) एक ज़रूरी शर्त है। सामुदायिक पठन-पाठन और आलोचना प्रभुतावादी आत्म-संपूर्णता और विशेषज्ञता को नकारना है, जो समतावादी मुक्ति की संभावनाओं के दरवाज़े खोलता है। यहाँ उपनिवेशवाद- विरोधी पाठक एक ऐसा फ़िगर/मूरत है जो प्रभुत्ववादी ज्ञान या प्रभुत्व स्थापना हेतु कार्यशील साहित्य का उपभोक्ता मात्र नहीं, बल्कि यह ऐसा इंक़लाबी पाठक है जो अज्ञता को स्वाध्याय के उत्सव में शरीक होने का न्यौता मानता है और ज्ञान के प्रभुत्ववादी उद्देश्य को जानबूझ कर नकारता है। इस प्रकार ज्ञान, ज्ञान-रचना व ज्ञानार्जन की सत्तावादी प्रासंगिकता के ख़िलाफ़ उद्देश्य विहीन स्वाध्याय और निष्काम (इन्कॉन्सिक्विेन्सियलिस्ट) ज्ञानार्जन स्वरूपतः मुक्तिकामी हो जाता है। पुस्तकालय और पाठक समूह एक क्रांति के अड्डे की तरह बन जाते हैं।

उपनिवेशवाद विरोधी अध्ययन परंपराओं के इस सिद्धांत के लिए किताब की रूपरेखा एस. रंगनाथन के *द फाइव लॉज़ ऑफ़ लाइब्रेरी साइंस* की परिचर्चाओं के साथ तादात्म्य स्थापित करती है। लाइब्रेरियन-दार्शनिक रंगनाथन के दूसरे और तीसरे नियम, एवरी रीडर हैज़ हिज़ बुक, एवरी बुक हैज़ इट्स रीडर ने भारत में पुस्तकालयों के एक क्रांतिकारी पुनर्गठन का प्रस्ताव रखा। जो मुख्य तौर पर पाठक को केंद्रीय भूमिका में रखता है। रंगनाथन सुझाव देते हैं कि, ऐसी राष्ट्रीय पुस्तकालय प्रणाली जो 'सतत शिक्षा' और 'असीमित लोकतंत्र' केंद्रित हो, राष्ट्रीय संप्रभुता के लिए उत्प्रेरक हो सकती है।

लाला हरदयाल, भगत सिंह, महात्मा गांधी और बाबा साहेब भीम राव आंबेडकर इस किताब के नायक हैं. ज़ाहिर है 'नायकों' का चुनाव काफ़ी दिलचस्प है क्योंकि इन चारों हस्तियों को उत्तर औपनिवेशिक राष्ट्र की स्मृति में ऐसे कर्मठ एवं स्फूर्तिमान पुरुषों के रूप में याद किया जाता है जिनके राजनीतिक विचारों और विश्वासों ने आज़ाद भारत की रूपरेखा निर्धारित की। उन्हें 'निष्काम पाठक' के रूप में परखना एक विप्लवी उलटबाँसी (रेडिकल सबवर्जन) है। एलम यहाँ सवाल करते हैं कि आख़िर मौत की दहलीज़ पर पढ़ने के क्या मायने हैं? और

इस जोख़िम भरे सवाल का जवाब पेश करते समय वह श्रमसाध्यता से यह स्थापित करने की कोशिश करते हैं कि उपनिवेशवाद विरोधी राजनीतिक विचार की कल्पित भव्यता के विपरीत निष्काम स्वाध्याय की इसी ख़ास संस्कृति ने उस समय की वास्तविक राजनीति को व्यक्त किया। क्योंकि इन विचारकों/लेखकों की भविष्य में जीने अथवा इन विचारों के फलीभूत होने की ठोस उम्मीद नहीं थी। ये निर्वासन में, मृत्यु शैया पर, अपमान में या अस्वीकृत अनुभवों के बरअक्स लिखे गए ग्रंथ थे।

हरदयाल की कल्पना

अंग्रेज़ी सरकार के अल्फ़ाज़ में 'सभी भारतीय आंदोलनकारियों में से सबसे ख़तरनाक' लाला हरदयाल थे, जिनको इस विस्तृत अध्ययन में शामिल किया गया है। यहाँ विषय उनकी ग़दर पार्टी का हिंसावाद न होकर उनकी साहित्यिक परिकल्पना और स्वाध्याय है। लेखक ने लाला हरदयाल के 19वीं सदी के पाश्चात्य दर्शन के जीवन-पर्यंत स्वाध्याय को एक ऐसे उपनिवेशवाद विरोधी परंपरा के रूप में देखा है जो एक क्रांतिकारी आत्म-निर्माण प्रक्रिया को दिशा प्रदान करता है, जो भविष्योन्मुखी समतामूलक समाज-निर्माण की ओर अग्रसर है। हरदयाल के लिए स्वाध्याय एक रोज़मर्रा की एक ऐसी सहकारी और सामुदायिक गतिविधि थी जिसे गुरुद्वारे जैसे सार्वजनिक स्थानों में अमलीज़ामा पहनाया जा सकता था। अक्सर विरोधाभासी माने जाने वाले दार्शनिकों के अध्ययन से हरदयाल ने 'एकीकृत' दर्शन ईजाद किया और एक ऐसे 'विश्वराज्य' की कल्पना की जिसने साम्राज्यवादी राजनीति से संचालित समय के एकरेखीय एकजातीय स्वरूप (एंप्टी होमोजिनियस टाइम) को धता बताया और एक बहुस्तरीय-बहुजातीय समय की वैश्विक शमलियत का भविष्य बुना। हरदयाल की नूतन वैश्विक परिकल्पना और उसके नए सौंदर्यशास्त्र की निर्मिति के केंद्र में लेखकीय बहुलता थी। एलम ने अपनी बात रखने के लिए हरदयाल के प्रकाशित ख़तो-किताबत और राजनैतिक पर्चों – विशेष रूप से *ग़दर दी गूँज*, *बराबरी दे अर्थ*, *हिंट्स ऑफ़ सेल्फ़ कल्चर* आदि को ख़ासा ध्यान में रखा है।

आंबेडकर : विज्ञान

डॉ. आंबेडकर, 50,000 से अधिक पुस्तकों का निजी संग्रह करने वाले एक उत्साही पाठक थे। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया कि, वह 'एक कठिन व्यक्ति' थे क्योंकि 'किताबें (उन्हें) पत्नी और बच्चों की तुलना में अधिक प्रिय थीं।' अपने राजनीतिक तर्कों, जो कि समान रूप से उपनिवेश और जाति विरोधी थे, को गढ़ने के लिए आंबेडकर स्वाध्याय को अति महत्त्वपूर्ण मानते थे। एलम आंबेडकर को 'अध्ययन का सिद्धांतकार' कहते हैं; उनका तर्क है कि आंबेडकर की परियोजना में अध्ययन और आलोचना वस्तुतः वृहत्तर सामाजिक और राजनीतिक कार्य हैं जो पहचाने जाने, मान्यता पाने और सूचीबद्ध होने की लेखकीय अभिलाषा से परे हैं। आंबेडकर बख़ूबी वाक़िफ़ थे कि 'पहचाना जाना, सूचीबद्ध होना और मान्यता पाना वे शर्तें भी हैं जिन पर जाति व्यवस्था अवस्थित रहती है, और जाति

उत्पीड़न संभावित रहती है। आंबेडकर के स्वाध्याय का उद्देश्य इसलिए भी पहचान को अप्रासंगिक बनाना था। यह अकारण नहीं कि वे व्यक्ति की असीम स्वायत्तता,उसकी उदार असाधारणता, उसकी आत्म-निपुणता और पहचानवादी विशेषज्ञता को ख़ारिज करते हैं।

मनुस्मृति और उसकी प्रभुता के प्रति आंबेडकर की प्रतिक्रिया पर इस किताब में लंबी बहस है। उन्होंने 1927 में सार्वजनिक रूप से *मनुस्मृति* को जलाते हुए, हिंदू क़ानून के प्राधिकार की अस्वीकृति का संकेत दिया। लेकिन इस घटना के बाद वे इस ग्रंथ के साथ लगातार जूझते हैं। जाति-विध्वंस की उनकी परियोजना मनुस्मृति के सहपाठन पर बल देती है। आंबेडकर द्वारा मनु का बारीक सामाजिक अध्ययन-विश्लेषण उसके श्रेष्ठतावादी बोध और विचार को ख़ारिज करने से कहीं आगे निकल जाता है। वह पाठक के स्वाध्याय व आलोचना कर्म को समतावादी जाति-विरोधी समाज के निर्माणकारी समुदाय में बदल देता है। दूसरे शब्दों में, आंबेडकर ने 'पाठक' के क़द को समतावादी, जाति-विरोधी समाज के एक महत्त्वपूर्ण और मौलिक हिस्से के रूप में सार्वभौमिक बना दिया।

यह पुस्तक एक ऐसे संक्रामक 'समाज प्रेमी व्यक्तित्व' के उद्भव की संभावनाओं पर एक समृद्ध चर्चा प्रस्तुत करती है जो आत्म-निपुणता या स्वयंप्रभुता/प्राधिकार का दावा करने में असमर्थ है। आंबेडकर के इस पक्ष की पड़ताल में एलम कहते हैं कि 'समाज प्रेमी-व्यक्तित्व' कोशिका विज्ञान की अराजक (भाषा) दुनिया से निकलता है और मुक्ति की राजनीति में सक्षम होने के लिए सामाजिक अंतर्मिलन से गुज़रता है। जाति का उन्मूलन एक रचनात्मक उन्मूलन बन जाता है जो नव-निर्माणकारी और मुक्तिधर्मी है।

इस पुस्तक में आंबेडकर पर लिखा गया अध्याय अपने तर्कों में विस्तृत और मौलिकता में अभूतपूर्व है। इसमें एलम ने मानविकी और समाज विज्ञान के 20 वीं सदी के शुरुआती बदलावों, ख़ासकर भाषाशास्त्र और समाजशास्त्र के उत्थान के आलोक में, आंबेडकर के स्वयंप्रभुता/प्राधिकार-विरोधी आलोचना को परखा है।

गांधी : खोई हुई बहस

'प्राधिकारवाद से संन्यास और त्याग' इस पुस्तक का केंद्रीय विषय है जो गांधी और गांधीवादी लोकाचार के साथ अच्छी तरह से फिट बैठता है। महात्मा ने न केवल अपने औपचारिक कपड़े त्यागे, यहाँ तक कि अपने विचारों को सुसंगत बनाने के ख़याल और प्राधिकार भी आसानी से छोड़ दिए। वह बदलाव, सार्वजनिक माफ़ी, बहस हारने और हार को स्वीकार करने के लिए जाने जाते थे। संक्षेप में गांधी 'समझ में नहीं आने की अपनी (अ) क्षमता पर भी ख़ुश रहते हैं'। एलम सुझाव देते हैं कि, ये नुक़सान, विफलताएँ, विसंगतियाँ और माफ़ी गांधीवादी उपनिवेशवाद विरोध को समझने के एकमात्र प्रवेशद्वार हैं जो अनिवार्य रूप से प्राधिकार विरोधी थे।

एलम ने 1939 में गांधी द्वारा माँगी गई तीन क्षमा याचनाओं पर फिर से विचार किया। ये ख़ुद ही सत्याग्रह की विफलता के

लिए स्वीकार किए गए थे, यानि यह एक क़बूलनामा था सत्याग्रही के एक ऐसे सत्य से ग्रस्त होने की संभावना का जो ग़लत भी हो सकती है। एलम गांधी की बहसों में उग्र समतावाद की राजनीति को देखते हैं, जो इस तरह के बयानों में समाप्त होती है – 'मुझे मूर्ख के रूप में छोड़ दो' या 'मुझे इस बहस को खोने की अनुमति दें' या 'मुझे ग़लत होने की अनुमति दें'। ये कथन अनिवार्य रूप से दोहरे संन्यास की प्रक्रिया का संकेत देते हैं क्योंकि इन क्षणों में गांधी न केवल अपने सत्य या विश्वास को बल्कि स्वयं को भी त्याग देते हैं। गांधी त्याग करने की अपनी क्षमता का त्याग करते हैं, और इसलिए दूसरों को उनके लिए ऐसा करने के लिए कहते हैं।

जन्म नियंत्रण पर अमेरिकी प्रजनन अधिकार कार्यकर्त्ता मार्गरेट सेंगर के साथ की बहस गांधी की मौन मुस्कान पर समाप्त हुई। वह एक विशेषज्ञ के रूप में देखे जाने से अधिक अज्ञ होने के इच्छुक नज़र आते हैं क्योंकि वे मानते थे कि विशेषज्ञता और उससे गुँथा प्राधिकार बराबरी के पायदान से नहीं बल्कि ऊँचाई के आसन से नियोजित होता है। गांधी इसलिए बस यह दावा करते हैं कि उन्होंने अपनी 'परिष्कृत बहनों' की सोहबत में इसकी थोड़ी समझ हासिल कर ली है। जब गांधी वह मौन मुस्कान देते हैं तो वह महज़ प्रतिक्रिया देने की भी अपनी क्षमता को तज देते हैं, और ऐसा करके, गुज़ारिश करते हैं कि सेंगर उन्हें छोड़ दें।

एलम की व्याख्या में *हिंद स्वराज* के मायने भी पलट जाते हैं : गांधी, जिन्हें आमतौर पर इस किताब के संपादक के रूप में देखा जाता है, इस पुस्तक के पाठक बन जाते हैं। एलम के मतानुसार, अपनी सारी उलझन और भ्रांतियों के बीच गांधी पाठक की तरह ही लगने लगते हैं। वास्तव में, एलम *हिंद स्वराज* को प्रभुता और प्राधिकार के परित्याग के इर्द-गिर्द केंद्रित उपनिवेशवाद विरोधी सौंदर्यशास्त्र के एक उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हैं। *हिंद स्वराज* के गुजराती संस्करण में एक अस्वीकरण है – 'ये विचार मेरे हैं, और फिर भी मेरे नहीं हैं' और अंग्रेज़ी संस्करण 'कुछ आधिकारिक लेखकों' की एक परिशिष्ट सूची प्रदान करता है। एलम के अध्ययन में मौलिकता का यह अस्वीकरण गांधी (*हिंद स्वराज* के लेखक) को लाखों अन्य पाठकों के साथ एकमात्र पाठक के रूप में प्रस्तुत करता है। चाहे वह *गीता* के भाष्यकार हों, रस्किन के अनुवादक हों, या सत्य के प्रयोगकर्त्ता गांधी हमेशा अपने को पाठक की भूमिका में ही रखते हैं।

भगत सिंह की जेल नोटबुक

फाँसी के साए में पढ़ने का क्या मतलब है? एलम के अनुसार, परिणामविहीन होने की वजह से ऐसी परिस्थिति में पढ़ना एक क्रांतिकारी कार्य था। यह सत्ता को पलटने की पूर्व-निर्देशित निश्चितता के विपरीत वर्तमान और उसकी निष्फलता के साथ जीने का जश्न है। इसलिए स्वाध्याय को केंद्र में रखने की एलम की यह क़वायद क्रांति के उस प्रारूप को पुनर्निरूपित करने की कोशिश भी है जो एकवचनीय, घटना-प्रधान व परिणाम धर्मी होने को प्राथमिकता देता है और बहुवचनीय, लघुस्तरीय गतिविधियों, धीमी अभिवृद्धि

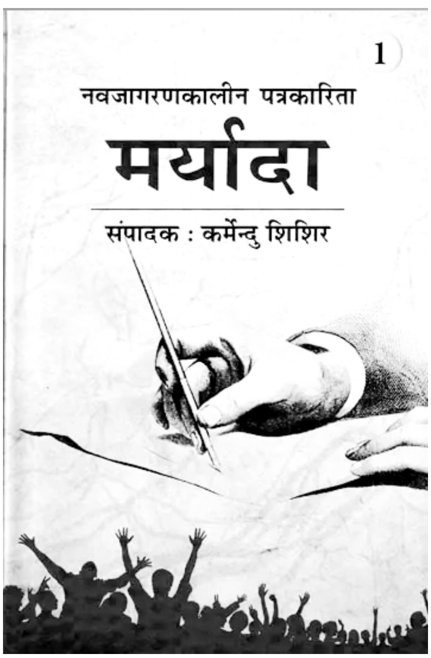
वाले बदलावों को ख़ारिज करता है। भगत सिंह के मामले में, फाँसी की प्रतीक्षा करते हुए अध्ययन करना इस अभिवृद्धि की अर्थवादी समझ की भी अवहेलना करता है : वर्तमान भविष्य में निवेश के रूप में प्रकट नहीं होता है! भगत सिंह की जेल नोटबुक का विश्लेषण करते हुए एलम कहते हैं कि उपनिवेशवाद विरोधी ग्रंथ लेखक और लेखकीय प्राधिकार और आत्म-निपुणता की धारणा को चुनौती देते हैं। लेखकीय प्राधिकार अक्सर रचनोपरांत प्राप्त होता है, जबकि भगत सिंह जैसे लोग परिणाम शून्यता और अनिश्चितता के यथार्थ को आत्मसात कर लिख रहे होते हैं। जेल नोटबुक/डायरी के विस्तृत नोट, ब्लॉक उद्धरण, ख़ाली पन्नों के साथ भगत सिंह के विसंगत और बिखरे विचार उनकी परिणाम शून्य व ग़ैर-लेखकीय (और इसलिए ग़ैर-प्राधिकारवादी) स्थिति के प्रति प्रतिबद्धता को रेखांकित करती है। एलम भगत सिंह के निबंध, 'मैं नास्तिक क्यों हूँ' को समकालीन वैश्विक दार्शनिक परिवेश के उस अराजक माहौल का हिस्सेदार मानते हैं जिसमें तर्क बुद्धिवाद, सार्वभौमिकता जैसे विचार ढह रहे थे। दशकों बाद का फैनों का यह कथन – 'आओ कॉमरेड, यूरोपीय खेल आख़िरकार ख़त्म हो गया है, अब हमें कुछ और देखना चाहिए', उसी दार्शनिक कोलाहल का सार था।

यह पुस्तक भारत के उपनिवेशवाद विरोधी विचारकों को केंद्र में रखकर लिखी गई उत्तर-औपनिवेशिक सैद्धांतिकी की एक शानदार कृति है। एलम ने यह साबित करने के लिए सफल प्रयास किया कि उपनिवेश विरोधी विचारकों ने अपनी सियासी परिस्थितियों के आलोक में प्रभुतावादी प्राधिकार और आत्म-निपुणता को मुसलसल ख़ारिज किया।

हालाँकि, एलम ने अपने तर्कों के गढने में कुछ जल्दीबाज़ियाँ भी दिखाई हैं। जैसे उपनिवेशवाद विरोधी क्रांतिधर्मी विचारकों के प्रेरणा स्रोत क्या थे? यह सही है कि ये विचारक 'धरती के अभागे', 'हाशियाई' , 'नापाक' , और 'घायल' मानवता के साथ होने की ईमानदार कोशिश करते हैं। लेकिन क्या उनकी इस प्रतिबद्धता और उनके एंटी-ऑथॉरिटेरिऑन होने में इतना सीधा और सपाट रिश्ता है? अपने किरदारों के विपरीत एलम अपने तर्कों में कुछ ज़्यादा ही पूर्व-निश्चित और तयशुदा ज़ाहिर होते हैं। बहरहाल, विभिन्न अवधारणाओं और अनुशासनों के बीच लेन-देन करती हुई यह अद्वितीय किताब उत्तर-उपनिवेशवाद और आधुनिक भारतीय राजनीतिक विचारों में रुचि रखने वाले विद्वानों को ज़रूर पढ़ना चाहिए।

हिंदी में समाज-विज्ञान और *मर्यादा*

वेंकटेश कुमार



नवजागरणकालीन पत्रकारिता : मर्यादा
कर्मेन्दु शिशिर
अनन्या प्रकाशन, नई दिल्ली
2017
पृष्ठ : 2886.
मूल्य : ₹ 6000.

कहने की ज़रूरत नहीं कि हिंदी में समाज विज्ञान के अभाव का रोना एक सर्वमान्य फ़ैशन है। लेकिन बीसवीं शताब्दी के शुरुआती दशकों में, जब खड़ी बोली अपने किशोरपन और जवानी का मज़ा ले रही थी, उसने रोना रोने वाले उपर्युक्त फ़ैशन को नकार दिया था। वह (खड़ी बोली) किसी भाषा से ख़ुद को कमतर मानने को तैयार ही नहीं थी। खड़ी बोली संभवतः अकेली ऐसी भाषा है जिसने अपने निर्माण के इतने कम समय के भीतर ज़माने से दो-दो हाथ करने के लिए ख़ुद को तैयार कर लिया। 'हिंदी नए चाल में ढली' की घोषणा करने वाले भारतेंदु ने यह सोचा नहीं होगा कि उनकी लगाई 'पौध' इतनी जल्दी वटवृक्ष का रूप ले लेगी। क्या यह आकस्मिक है कि आधुनिक हिंदी साहित्य के दो महान निर्माताओं ने एक ही सपने को पूरा करने के लिए अपना बलिदान दे दिया। 1860-70 के आसपास हिंदी की बात करने पर

जब यह सवाल पूछा जाने लगा कि आख़िर हिंदी साहित्य है कहाँ तब भारतेंदु ने *कविवचन सुधा* और *हरिश्चंद्र मैगज़ीन* जैसी पत्रिकाओं के माध्यम से इस सवाल का जवाब दिया। जब हिंदी पर कविता-कहानी तक ही सीमित रहने का आरोप लगाया जाने लगा तब अपने समय के बड़े कथाकार प्रेमचंद ने हिंदी में राजनीतिक पत्र निकालने का सपना देखा और उसे पूरा भी किया। कहना न होगा कि हिंदी को राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय विमर्शों की भाषा बनाने में उन्नीसवीं शताब्दी के आख़िरी और बीसवीं शताब्दी के आरंभिक दशकों में प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं और उसके संपादकों-लेखकों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। इस बात से अनजान रहने के कारण ही हम हिंदी में समाज विज्ञान के अभाव का रोना रोने को एक सर्वमान्य फ़ैशन बना चुके हैं। *सारसुधानिधि*, *सरस्वती*, *प्रताप* और *मर्यादा* जैसी पत्रिकाओं की फ़ाइलों को गंभीरता से पलटने वाला कोई शोधार्थी यह कहने की हिम्मत नहीं जुटा सकता कि हिंदी में समाज वैज्ञानिक विमर्शों का अभाव है। हाँ! घटना यह घटी कि हम अपनी इस समृद्ध विरासत को भूल गए। सौभाग्य से भारतीय नवजागरण पर काम करने वाले अध्येताओं का ध्यान इस ख़जाने की ओर गया। लेकिन तब तक बहुत देर हो चुकी थी। भारतेंदु युग की अधिकांश पत्र-पत्रिकाएँ नष्ट होकर विस्मृति के गर्भ में समा चुकी थीं। भारतेंदु युग (1850-1900) पर विशेष अध्ययन करने वाली वसुधा डालमिया का मानना है कि भारतेंदु हरिश्चंद्र का लिखा अधिकांश नष्ट हो गया। भारतेंदु की जो रचनावली उपलब्ध है, वह दरअसल उनका रचना संचयन है। भारतेंदु संपादित पत्र-पत्रिकाएँ भी आज अध्ययन के लिए कहीं उपलब्ध नहीं हैं। हिंदी के इस दुर्भाग्य की ओर जिन विद्वानों का ध्यान गया, उनमें कर्मेन्दु शिशिर का नाम बहुत ही आदर और सम्मान के साथ लिया जाता है। हिंदी की दुनिया इस बात से परिचित है कि कर्मेन्दु शिशिर ने अपने लेखकीय जीवन का एक बड़ा हिस्सा पुरानी पत्र-पत्रिकाओं के संकलन-संपादन में खपा दिया। यह काम बहुत ही धैर्य और मेहनत की माँग करता है और उसके अनुपात में यश बहुत ही कम मिलता है। यही नहीं लेखक की स्वयं की मुख्य रचनाओं से पाठकों का ध्यान भी भटकता है और उसकी पहचान पत्र-पत्रिकाओं के संकलन और संपादक के रूप में बनने लगती है। कहना न होगा कि कर्मेन्दु शिशिर ने यह जोखिम लेते हुए हिंदी की कुछ महत्त्वपूर्ण पत्र-पत्रिकाओं की सामग्री को संकलित-संपादित करके उसे बचा लिया है। हमें कर्मेन्दु शिशिर को यह श्रेय देना ही होगा कि उन्होंने अथक प्रयास करके हिंदी में पुरानी पत्र-पत्रिकाओं के संकलन संपादन का एक माहौल तैयार किया, ख़ासकर युवा लेखकों को इस क्षेत्र में काम करने के लिए प्रोत्साहित किया। हम देख सकते हैं कि आज हिंदी की कई पुरानी पत्र-पत्रिकाओं की फ़ाइलें किताब के रूप में पाठकों के लिए सहज उपलब्ध हैं।

कर्मेन्दु शिशिर ने *मर्यादा* जैसी महत्त्वपूर्ण पत्रिका की सामग्री को छह खण्डों में प्रस्तुत किया है। *मर्यादा* मूलतः एक राजनीतिक पत्रिका थी। बीसवीं शताब्दी के आरंभिक तीन दशकों के सामाजिक-राजनीतिक परिदृश्य को

समझने के लिए इस पत्रिका की सामग्री का दस्तावेजी महत्त्व है। समाज विज्ञान के अध्येताओं के लिए कर्मेन्दु शिशिर की ओर से यह एक अनुपम उपहार है।

मर्यादा के महत्त्व और परिप्रेक्ष्य को समझने के लिए हमें *नागरी प्रचारिणी सभा (स्थापना-1893) और हिंदी साहित्य सम्मेलन (1910)* के उद्देश्यों और कार्यों को समझना होगा। इन दोनों संस्थाओं ने हिंदी की बेहतरी के लिए जो उद्देश्य निर्धारित किए थे, *मर्यादा* ने उसे ही अपना आदर्श बनाया। स्वाभाविक रूप से इन संस्थाओं की विशेषताओं के साथ उसकी सीमाएँ भी मर्यादा में समाहित हो गईं। उल्लेखनीय है कि 1910 ई. ही वह वर्ष है, जब *हिंदी साहित्य सम्मेलन* और *मर्यादा* दोनों का जन्म हुआ। यह सिर्फ़ संयोग नहीं है कि जिन राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन ने *हिंदी साहित्य सम्मेलन* के पहले अधिवेशन (10 अक्टूबर 1910) का प्रस्ताव पढ़ा उन्हीं राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन ने *मर्यादा* के प्रवेशांक (नवंबर 1910) का अग्रलेख भी लिखा। इस अग्रलेख में टंडन जी ने *मर्यादा* को परिभाषित करने की कोशिश की है। हम जानते हैं कि 1910 का दौर वह दौर था जब अंग्रेज़ हमारे नायक और खलनायक दोनों थे। हमें अंग्रेज़ों का विरोध कैसे करना है, पश्चिमी सभ्यता से क्या ग्रहण करना है और क्या छोड़ देना है, यह एक बड़ा यक्ष प्रश्न था। इस दौर के लेखक-बुद्धिजीवी को यह 'यक्ष-प्रश्न' बहुत तंग कर रहा था। एक तरफ़ हमारी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति है, दूसरी तरफ़ वर्तमान की ज़रूरत और उसका तनाव है। इसके बीच संतुलन बनाना बहुत ज़रूरी है – 'इसी डोर का – जिसका सिरा सृष्टि के आदि में नाग पर शयन करते हुए विष्णु की नाभि में है, जिसका दूसरा कोना इस समय हमसे बँधा है और आगे औरों को बाँधेगा। जिसकी लंबान का कोई हिसाब नहीं, जो तोड़ी नहीं जा सकती परंतु मात्राओं में बढ़ाई जा सकती है – इसी का नाम मर्यादा है।' दो वर्ष बाद नवंबर 1912 में पत्रिका का विश्लेषण करते हुए इसके संपादक ने अपने उद्देश्यों को स्पष्ट किया –

(1) *मर्यादा* की छोटी और क्षीण-कलेवर नहीं, वरन् मोटी और अधिक उपयोगी लेखों से युक्त संख्याएँ प्रकाशित करेंगे।

(2) स्वतंत्रता, समता के व्यवहार और सार्वजनिक मातृभाव का उपदेश करेंगे।

(3) अत्याचार का दृढ़तापूर्वक विरोध करेंगे।

(4) जाति और रंग-संबंधी भेदभाव तथा ईर्ष्याद्वेष को दूर करने का प्रयत्न करेंगे।

(5) भारतवासियों को ईश्वरप्रदत्त मनुष्योचित अधिकार प्राप्त करने में सहायता।

अनेक संकटों से गुज़रने के बावजूद *मर्यादा* ने उपर्युक्त उद्देश्यों से कभी समझौता नहीं किया। *मर्यादा* का उद्देश्य गंभीर विषयों पर लंबे-लंबे लेख प्रकाशित करना था। यह काम उस दौर में आसान नहीं था। *मर्यादा* के नवंबर 1913 की यह टिप्पणी अपने आप में बहुत कुछ कहती है – 'उच्च कोटि की साहित्य-शिक्षा के साथ ही साथ राजनैतिक विषयों की शिक्षा देने के हेतु *मर्यादा* का जन्म हुआ था। यह कार्य सरल नहीं है। पहले तो अधिकांश लोग जो इस शिक्षा को देने के योग्य हैं, वे हिंदी में कुछ लिखना अपना अपमान समझते हैं, दूसरे जो लिखना चाहते भी हैं उन्हें समय के अभाव का बहुत बड़ा बहाना है।'...

जैसे-जैसे देश की सामाजिक-राजनीतिक परिस्थिति में बदलाव होता गया वैसे-वैसे *मर्यादा* की संपादकीय दृष्टि भी बदलती गई। जनवरी 1917 को संपादकीय में *मर्यादा* ने स्पष्ट कर दिया कि अब उसका उद्देश्य भारत को 'स्वराज्य' दिलाना है। उसने 'स्वराज्य' संबंधी अपने अंकों का प्रचार-प्रसार आम जनता के बीच करने का निर्णय लिया। उसने इसकी एक सूची प्रकाशित की –

(1) हम स्वराज्य क्यों चाहते हैं?
(2) स्वराज्य का अर्थ क्या है?
(3) प्रजातंत्र : उसकी आवश्यकता
(4) भारतीय अर्थ-कोष
(5) स्वर्ण कोष- उसके सर्वोत्तम उपयोग के उपाय
(6) उद्योग-धंधे! देश पर उसका प्रभाव।
(7) भारतीय कृषि – उन्नति के सर्वोत्तम उपाय
(8) प्रांतीय स्वराज्य
(9) आर्थिक स्वराज्य – इसकी आवश्यकता
(10) प्राचीन भारतीय राज्य : प्रबंध में जनता की आवाज़
(11) विद्यार्थी स्वराज्य की प्राप्ति में किस प्रकार सहायक हो सकते हैं।
(12) गृहजात कला-कौशल! उनको पुनर्जीवित करने के उपाय
(13) युद्ध के बाद भारत की माँग

हम देख सकते हैं कि 1917 में *मर्यादा* में इन विषयों पर गंभीर विचार-विमर्श हो रहे थे।

भाषा का सवाल और सांप्रदायिक दृष्टि

हम जानते हैं कि भारतेंदु-युग से ही हिंदी-उर्दू का विवाद आरंभ हो गया था। यह सच है कि बीसवीं शताब्दी के आरंभिक वर्षों में यह विवाद और ज़्यादा कटु हो गया था। *मर्यादा* के कुछ अंकों के संपादन का दायित्व संभालने वाले प्रेमचंद भी उर्दू को छोड़कर हिंदी में लिखने लगे थे। *मर्यादा* की स्पष्ट नीति थी – 'हिंदी का विकास और विस्तार'। अपनी इस नीति को सफल बनाने के लिए उसका संघर्ष उर्दू और अंग्रेज़ी दोनों भाषाओं से था। हम जानते हैं कि बीसवीं शताब्दी के आरंभ में उर्दू और अंग्रेज़ी हिंदी की तुलना में बहुत ही विकसित और समर्थ भाषा थी। इसलिए हिंदी को समर्थ बनाने के लिए स्वाभाविक रूप से उर्दू और अंग्रेज़ी जैसी भाषाओं की नज़ीर दी जाती थी। दुर्भाग्य से यही वह दौर है जब हिंदी हिंदुओं की और उर्दू मुसलमानों की भाषा मानने का चलन शुरू हो गया था। *मर्यादा* में जनवरी 1911 के संपादकीय की ये पंक्तियाँ देखने लायक़ हैं – 'नया निकला हुआ मुसलमानी साप्ताहिक समाचार-पत्र सहयोगी *कॉमरेड* से मालूम हुआ कि एक उदारचेता मुसलमान महाशय ने *कॉमरेड* के पास 1500 की एक अच्छी रक़म इसलिए भेजी है कि इसी रक़म में से ऐसे मुसलमान विद्यार्थियों (अंडरग्रेजुएटों) के सालाना चंदे का कुछ अंश दिया करें कि जो लोग पूरा दाम देकर यह अख़बार नहीं ख़रीद सकते। क्या हमारे हिंदू उदारचेता धनीजनों में से कोई ऐसा आवश्यक दान न करेंगे जो उनके हिंदू जाति और उनकी मातृभूमि के हित में सहारा हो और हिंदी भाषा की उन्नति हो!'

मदन मोहन मालवीय हिंदू विश्वविद्यालय, काशी की स्थापना के लिए लोगों से मदद की गुहार लगा रहे थे। उन्होंने *मर्यादा* में एक टिप्पणी लिखी – 'हमको स्मरण रखना चाहिए कि और-और जातियाँ अपने धर्म के प्रचार के लिए क्या-क्या यत्न कर रही हैं। ईसाई मत वाले अपने धर्म के प्रचार के यत्न में कितने ही लाख साल खर्च करते और अतुल परिश्रम उठाते हैं, मुसलमान भी अपने धर्म और अपनी जाति की उन्नति के लिए बड़े-बड़े यत्न कर रहे हैं। उन लोगों ने 25 लाख के लगभग चंदा कर लिया है और वे अपना स्वतंत्र मुसलमान विश्वविद्यालय अलीगढ़ में स्थापित करेंगे।... ऐसी दशा में हमको यह उचित है कि हम अपनी रक्षा के लिए अपनी उन्नति का यत्न करें।'

यह एक कड़वी सच्चाई है कि बीसवीं शताब्दी के आरंभिक दशकों में हिंदू-मुस्लिम एकता का कोई आदर्श रूप हमारे सामने नहीं था। कई स्तरों पर हिंदू-मुस्लिम बँटे नज़र आ रहे थे। मुस्लिम लीग को भारतीय राष्ट्रीय कॉन्ग्रेस की नीतियों पर भरोसा नहीं रह गया था। ऐसी स्थिति में मर्यादा के एजेंडे में हिंदू-हित की प्रधानता का होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। और इस आधार पर *मर्यादा* को खारिज कर देना या सांप्रदायिकता को बढ़ावा देने वाली पत्रिका कह देना उचित नहीं। *मर्यादा* ने कभी भी हिंदू-मुस्लिम एकता का विरोध नहीं किया, मुस्लिमों के प्रति नफ़रत का भाव प्रदर्शित नहीं किया। महात्मा गांधी ने हिंदू-मुस्लिम एकता का जो प्रयास आरंभ किया था, *मर्यादा* ने उसका समर्थन किया। मर्यादा ने अपने संपादकीय में लिखा – 'हिंदू-मुसलमान अब एक हैं। ब्राह्मण, सैयद, शेख, क्षत्रिय, वैश्य, कुंजड़े, कसाई, शूद्र-भंगी, चमार सबकी रगों में एक ही ख़ून बह रहा है। दिल्ली की सड़कों पर बहने के समय ख़ून ने अपने भाई के ख़ून को पहचान लिया और वे एक हो गए। देखने वाले हिंदू और मुसलमानों ने भी ग़ौर किया तो उनको दिखाई दिया कि ख़ून एक है, किसी क़िस्म का उसमें अंतर या फ़र्क़ नहीं और वे एक हो गए हैं। ख़ून का ख़ून से मेल हो गया। स्वयं ईश्वर ने उनको एक किया है और संसार में कोई भी शक्ति अब हिंदू-मुसलमानों की एकता को भंग नहीं कर सकती। जिस एकता के लिए हम लालायित थे, जिस पर भविष्य की आशाएँ अवलंबित थीं, वह एक हो गया और हम आशा करते हैं – सदा के लिए हो गया है। अब फिर भारत स्वर्ण भारत होगा।'

अंग्रेज़ों की नीति की आलोचना

20वीं शताब्दी के आरंभिक दशकों में अधिकांश पत्र-पत्रिकाएँ जोखिम उठाते हुए भी अंग्रेज़ों की नीतियों की आलोचना कर रही थीं, *मर्यादा* उस दौर की ऐसी ही महत्त्वपूर्ण पत्रिका थी। प्रेस ऐक्ट के विरोध में *मर्यादा* में लेख प्रकाशित हो रहे थे। प्रेस ऐक्ट को भारतीय क़ानूनी किताब कलुषित करने वाला ऐक्ट कहा गया। प्रेस ऐक्ट, अंग्रेज़ संपादक और अंग्रेज़ी की पत्र-पत्रिकाओं को तो सहूलियतें देता था लेकिन देशी भाषा में निकलने वाली पत्र-पत्रिकाओं पर कड़ा रुख़ अपनाता था – 'दिल्ली देश की राजधानी होने के समय कलकत्ते के गोरे पत्रों ने लार्ड हॉर्डिंग पर जैसा आक्रमण किया था उस तरह

से तो क्या यदि उसका शतांश भी कोई देशी पत्र लिखता तो मालूम नहीं कितने वर्षों तक उसके संपादक को जेल की हवा खानी पड़ती किंतु गोरे संपादक चैन कर रहे हैं, वे भारतवासियों को गाली देते हैं उनका कुछ नहीं होता। यह अन्याय दूर होना चाहिए, काले, गोरों के लिए एक क़ानून होना चाहिए और जो क़ानून इन दोनों को भेदभाव की दृष्टि से देखे उसका क़ानूनी पुस्तक में रहना कभी उचित नहीं कहा जा सकता।'

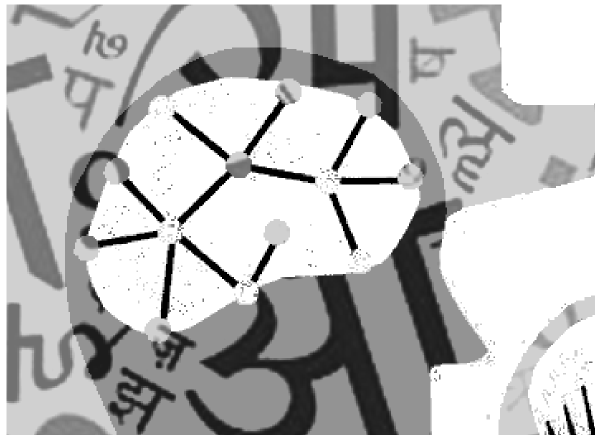
कर्मेन्दु शिशिर ने *मर्यादा* में प्रकाशित सामग्री का छह खण्डों में जो संकलन किया है, वह समाज विज्ञान और साहित्य के अध्येताओं के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसके पहले खंड में मुख्य रूप से मर्यादा के संपादकीय टिप्पणियों का संकलन किया गया है। इन संपादकीय टिप्पणियों का विस्तृत फ़लक़ देखकर पाठक हैरान रह जाते हैं। क्षेत्रीय से लेकर अंतरराष्ट्रीय परिघटनाओं पर बहुत ही सटीक और सुलझे हुए विचार *मर्यादा* के 'संपादकीय' की विशेषता है। *मर्यादा* के संपादकीय 'अंग्रेज़ी शासन से मुक्ति' के विचार से भरे पड़े हैं। 'भारत से अंग्रेज़ों को तुरंत चले जाना चाहिए' उसके संपादकों में इसको लेकर कोई किंतु-परंतु नहीं है। मर्यादा के संपादकीय बहुत ही बेबाक और सोई हुई जनता को झकझोरने वाले होते थे। 'इंग्लैंड की डेमोक्रेसी की हुई अपील की हीनता' शीर्षक संपादकीय की इन पंक्तियों को देखा जाए – 'यह उस समय की बात है जिस समय स्वनामधन्य लाला लाजपत राय स्वर्गवासी गोखले आदि इंग्लैंड की जनता के सामने अपील करने गए थे। लालाजी हिंदी की हीन दशा का चित्र चित्रित कर प्लेटफार्म से उतरे थे। एक अंग्रेज़ ने आकर उनसे पूछा कि क्या जो कुछ आपने कहा है वास्तव में सत्य है? लालाजी ने कहा 'हाँ' उसने पूछा तुम्हारी संख्या कितनी है? लालाजी ने कहा 30 करोड़। अंग्रेज़ ने कहा मेरी जो कुछ सहानुभूति तुम्हारे व्याख्यान को सुनकर तुम्हारे भाइयों के साथ हुई थी काफ़ूर हो गई। तीस कोटि मनुष्यों पर थोड़े हमारे भाई अन्याय से शासन कर रहे हैं और उसके लिए तुम यहाँ रोना रोने आए हो, तुम लोग इसी योग्य होगे'। कहना न होगा कि 1917 में किसी पत्रिका में इस तरह के प्रसंग का छपना कितनी साहसिक बात है।

स्त्रियों के बारे में भी *मर्यादा* की संपादकीय दृष्टि आधुनिक थी। मार्च 1913 में 'स्त्रियों पर अत्याचार' शीर्षक संपादकीय प्रकाशित हुआ। इसमें स्त्रियों के प्रति समाज का जो दृष्टिकोण बदल रहा है, उसका स्वागत किया गया, लेकिन साथ ही उसे अमर्यादित और हास्यास्पद भी बताया गया – 'शिक्षित आर्या ज़्यादा योग्यता के साथ घर की ग़ुलामी और पति परमेश्वर का मनोरंजन कर सकती है। इससे समाज का कोई विशेष लाभ होने की संभावना नहीं है। लोहे की ज़ंजीर की जगह आप उनको मुल्लमे की बेड़ियाँ पहना दें, पर बात तो वही रही। समाज यथोचित् रीति में समुन्नत नहीं होता। जब तक उसमें स्त्री-पुरुष का संबंध स्वाधीन, पारस्परिक सेवा-भाव पर निर्भर नहीं।' स्पष्ट है कि स्त्रियों को अधिकार देने से ज़्यादा प्रासंगिक है उन्हें मित्र या सखा भाव से स्वीकार करना। कहना न होगा कि वैचारिक रूप से *मर्यादा* के संपादक वह

ज़मीन तैयार कर रहे थे जिस पर आगे चलकर सुमित्रानंदन पंत और सूर्यकांत त्रिपाठी निराला जैसे कवियों ने स्त्रियों के प्रति मित्र-भाव की कविताएँ लिखीं।

मर्यादा की एक विशेषता यह भी है कि सस्ती लोकप्रियता पाने के लिए उसने कभी विचार और भाषा का स्तर गिरने नहीं दिया। उस दौर की पत्र-पत्रिकाओं में होली के बहाने भाषायी छूट लेने की परंपरा विकसित हो रही थी। *मर्यादा* ने बहती गंगा में हाथ धोने से इंकार कर दिया। इस संदर्भ में उसने अपने विचार स्पष्ट करते हुए 'होली और गंदे मज़ाक' शीर्षक टिप्पणी में लिखा – 'हम साहित्य-सेवियों से सविनय निवेदन करते हैं कि जो हिंदी को हिंदुस्तान की राष्ट्र-भाषा बनाने के इच्छुक हैं उन्हें मातृभाषा की हत्या इस निर्दयता के साथ न करनी चाहिए। हमें आशा है कि हमारे सहयोगी इस नोट को उदारभाव में ग्रहण कर कुछ बुरा न मानेंगे। प्रत्येक संपादक को साहित्य से फूहड़पने को दूर करने का प्रबल प्रयत्न करना चाहिए।'

मर्यादा के दूसरे खंड में कविता, लेख, व्यक्तित्व, यात्रा संस्मरण के साथ ही कुछ स्थायी स्तंभ की सामग्री को प्रस्तुत किया गया है। यह खंड दरअसल *मर्यादा* की साहित्यिक सामग्री का संकलन है। इस खंड में कुछ ऐसे लेख भी हैं, जिनका हिंदी समालोचन के विकास में ऐतिहासिक महत्त्व है। नवंबर 1910 में प्रकाशित श्रीधर पाठक का लेख *खड़ी बोली की कविता*, बालकृष्ण भट्ट का लेख 'कविता क्या है' तथा किशोरीलाल गोस्वामी का लेख 'शब्द की प्रेरणाशक्ति' का निश्चित रूप से ऐतिहासिक



महत्त्व है। *मर्यादा* से जुड़े अधिकांश लोग मूलतः साहित्यकार ही थे। हम जानते हैं कि *मर्यादा* के कुछ अंकों का संपादन कथा-सम्राट प्रेमचंद ने भी किया था। *मिश्रबंधु विनोद* और *सेवासदन* जैसी किताबों की आरंभिक समीक्षाएँ *मर्यादा* में ही छपी थीं। मार्च 1919 में पं. विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक' ने 'सेवा-सदन समालोचना' शीर्षक लेख लिखा था। इस उपन्यास पर बात करते हुए 'कौशिक' ने इसकी सीमाओं की ओर भी ध्यान दिलाया – 'पहली बात यह कि उपन्यास का उठान अच्छा नहीं हुआ।... लेखक ने विचार संबंधी भूलें की हैं।' साहित्य-समालोचन शीर्षक स्तंभ में विभिन्न भारतीय भाषाओं की पत्र-पत्रिकाओं के ताज़ा अंकों का परिचय दिया जाता था। उस दौर में विभिन्न भारतीय भाषाओं की पत्र-पत्रिकाएँ एक परिवार की तरह होती थीं। किसी एक सदस्य पर जब संकट आता था तो सब मिलकर उसका सामना करते थे। इस मामले में *मर्यादा* ने एक आदर्श स्थापित किया था।

मर्यादा के तीसरे खंड में कला, शिक्षा, विज्ञान, स्त्री, किसान और जाति व्यवस्था संबंधी लेखों का संकलन किया गया है। इस

खंड की भूमिका में कर्मेन्दु शिशिर ने ठीक ही लिखा है कि 'राजनीतिक पत्र होते हुए भी मर्यादा के सरोकार व्यापक थे और उसकी चिंताएँ बहुआयामी थीं। वह देश के हर पक्ष, हर विधा में आधुनिक उत्कर्ष का आकांक्षी था।' इस तीसरे खंड के पहले भाग में चित्रकला और शिल्पकला पर आनंद स्वामी, ए. के. कुमारस्वामी, परशुराम चतुर्वेदी जैसे विद्वानों के लेख संकलित हैं। दूसरे भाग में शिक्षा-संबंधी लेखों का संकलन किया गया है। इसमें गोपालकृष्ण गोखले, रमाबाई रानाडे, महावीर प्रसाद द्विवेदी जैसे चिंतकों ने भारतीय शिक्षा व्यवस्था पर गंभीर चिंतन प्रस्तुत किया है। *विज्ञान* के अंतर्गत *वैज्ञानिक अनुसंधान का महत्त्व*, *यंत्र-विद्या*, *विज्ञान का समाज पर प्रभाव* और *हवन से हानि* जैसे गंभीर और तार्किक लेख संकलित हैं।

मर्यादा अपने दौर में 'स्त्री-प्रश्न' पर गंभीर विमर्श करने वाली बहुत ही महत्त्वपूर्ण पत्रिका थी। 'स्त्री-प्रश्न' पर एनी बेसेंट, कमलादेवी श्रीवास्तव, उमा नेहरू जैसी विदुषी के लेख प्रकाशित होते थे। फरवरी 1914 के अंक में एनी बेसेंट का लेख *भारतीय स्त्रियों का उत्थान कैसे हो सकता है* प्रकाशित हुआ। इस लेख में एनी बेसेंट एक बहुत ही मार्के का सवाल उठाती हैं – 'आधुनिक समय में बहुत कम लोग इस बात का अनुभव करते हैं कि भारतीय धार्मिक और राजनीतिक इतिहासों में भारतीय स्त्रियों ने कितना बड़ा भाग लिया था। उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ तक भारत की कितनी ही प्रसिद्ध स्त्रियों के नाम गिनाए जा सकते हैं और यह एक विचित्र संयोग की बात है कि ज्यों-ज्यों यहाँ ब्रिटिश राज का अधिक प्रसार होता गया त्यों-त्यों लोकसेवा के क्षेत्र से भारतीय स्त्रियों का लोप होता गया।'

भारत में कृषि और कृषक की समस्याओं की अवहेलना करके उस दौर की पत्रकारिता करना संभव नहीं था। दरअसल कृषि-समस्या पर बात करना अंग्रेज़ों को बेनक़ाब करना था। 'भारत में अंग्रेज़ी राज का इतिहास एक तरह से अकाल और भुखमरी का इतिहास रहा है' –इस बात को *मर्यादा* बहुत ही मज़बूती के साथ स्थापित कर रही थी। *मर्यादा* के अप्रैल 1914 के अंक में एक लेख प्रकाशित हुआ 'रेल और नहर'। इस लेख के लेखक की जगह 'एक किसान' दर्ज है। इस लेख में रेल और नहर की तुलना करते हुए यह बतलाया गया है कि नहर भारतीयों के लिए फ़ायदेमंद है और रेल अंग्रेज़ों के लिए – 'नहरों के बन जाने से खेतिहर अपने सारे काम कर सकता है। उसका जीना-मरना बादल की अपेक्षा उसके अधीन हो जाएगा। अनावृष्टि के कारण अकाल न पड़ सकेगा और साथ-ही-साथ दीन भारतवासियों को जो सहस्त्रों दुख अक़ाल के समय सहने पड़ते हैं वे काफ़ूर हो जाएँगे। सबसे बड़ा लाभ तो यह होगा, दूसरे हमारे सहस्त्रों भाइयों को नहरों के खुल जाने पर रोटियाँ मिलेंगी, रेल के किराए से कम खर्च पर व्यापारी माल भेज और मXगा सकेंगे। जिस दृष्टि से देखा जाए भारत और भारतवासियों का उपकार इसी में है कि रेल की अपेक्षा नहर को प्रधानता दी जाए।'

चौथे खंड में *मर्यादा* में प्रकाशित लेख निबंध, टिप्पणियों और भाषणों को संकलित किया गया है। हम देख सकते हैं कि

अधिकांश लेखों का विषय 'स्वराज्य प्राप्ति' ही है। 'स्वाधीनता और पराधीनता', 'स्वदेश के लिए आत्मबलिदान', 'स्वराज्य साधन', 'स्वराज्य और भारत' जैसे दर्जनों लेख आम जनता में आज़ादी की भूख पैदा करने के लिए लिखे गए थे। इस खंड की सामग्री से गुज़रते हुए हम यह बहुत अच्छी तरह से समझ जाते हैं कि बीसवीं शताब्दी के आरंभिक दशकों में पत्र-पत्रिका निकालना भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में अपना योग देना ही था। 'देशभक्ति और विवाह' एक दिलचस्प लेख है। हम जानते हैं कि स्वतंत्रता आंदोलन में योगदान देने के लिए युवा अपनी डिग्री जला रहे थे, विदेशी वस्तु का बहिष्कार कर रहे थे। लेकिन इस लेख में मेजिनी के हवाले से यह बताया गया है कि देश को आज़ाद कराने के लिए यदि ज़रूरत पड़े तो युवाओं को विवाह और प्रेम से भी दूर रहना चाहिए – 'कभी-कभी मेजिनी के चित्त में ऐसा विचार उठता कि वह अपने दुःखमय जीवन को विवाह करके एक दुःख दूर करने वाली बीवी की प्रेमभरी चितवन से कुछ सुखी कर ले परंतु उसी समय उसकी देशभक्ति कहती है कि इटली की ऐसी बुरी अवस्था में उसको विवाह जैसे आनंददायक पदार्थ से क्या संबंध! वह सदा उन लेडियों को, जो उसके साथ विवाह की इच्छा प्रकट करती थीं, यही उत्तर देता था कि 'मैं अपनी देशभक्ति के साथ विवाह कर चुका हूँ, अब पुनः विवाह करना उचित नहीं।'

पाँचवें खंड में *मर्यादा* में प्रकाशित अंतरराष्ट्रीय ख़बर, प्रथम विश्वयुद्ध, और रूसी क्रांति से संबंधित लेखों को संकलित किया गया है। इस खंड के लेखों से गुज़रते हुए विश्वास नहीं होता कि 1910-20 ई. में हिंदी में अंतरराष्ट्रीय संबंधों पर इतने गंभीर और विश्लेषणात्मक लेख लिखे जा रहे थे। इसी तरह से छठे खंड में इतिहास और आर्थिक मसलों पर केंद्रित गंभीर लेखों का संकलन किया गया। 'भारत की व्यापार नीति', *रुपये की रामकहानी*, *भारतीय राजधन और मुद्रा*, जैसे दर्जनों लेख हिंदी में आर्थिक-विमर्श को स्थापित करते हैं। इसी खंड में *मर्यादा* की विस्तृत रचना विवरणी (नवंबर 1910-अप्रैल 1923) प्रस्तुत की गई है, जो अपने आप में एक बड़ा श्रमसाध्य कार्य है। *मर्यादा* के कुल प्रकाशित अंकों की संख्या 114 है। कर्मेन्दु शिशिर को सारे अंक उपलब्ध करने में सफलता नहीं मिली है। उन्होंने लिखा है कि 'अगर सारे अंकों की सामग्री सुलभ होती तो शायद इतने और खंड या पृष्ठ बढ़ जाते।' कर्मेन्दु शिशिर ने छह खंडों में क़रीब तीन हज़ार पृष्ठों की सामग्री प्रस्तुत की है। कोई शोधार्थी चाहे तो *मर्यादा* के अंकों को उपलब्ध करके इतने ही पृष्ठों की सामग्री और संकलित कर सकता है।

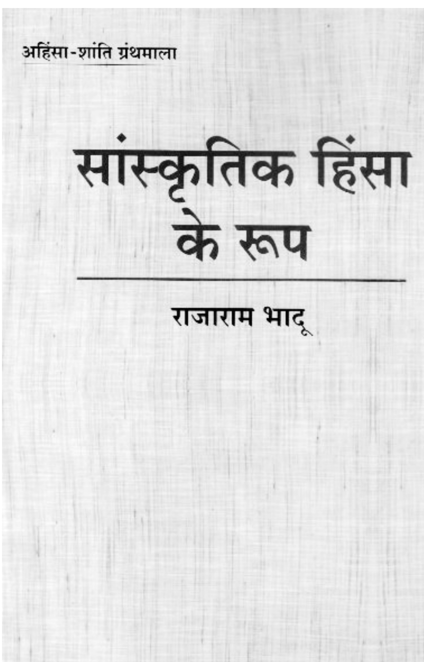
कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि *मर्यादा* की सामग्री को क़रीब तीन हज़ार पृष्ठों में संकलित करके कर्मेन्दु शिशिर ने साहित्य और समाज विज्ञान के अध्येयताओं के लिए एक नई दुनिया सर्वसुलभ कर दिया है।

वर्तमान सांस्कृतिक हिंसा की ज़रूरी समझ

आलोक टंडन

‘सांस्कृतिक हिंसा का अध्ययन उस प्रक्रिया को प्रकाश में लाता है, जिससे प्रत्यक्ष हिंसा के कर्म और संरचनात्मक हिंसा के तथ्य का वैधीकरण होता है और इस प्रकार वह समाज में स्वीकरणीय हो जाती है। सांस्कृतिक हिंसा की कार्य पद्धति किसी भी कर्म के नैतिक स्वरूप को लाल / अनुचित के बजाय हरा / उचित या कम-से-कम पीला / स्वीकरणीय दिखा देना है।’

– जोहन गाल्तुंग (इसी पुस्तक से)



सांस्कृतिक हिंसा के रूप

राजाराम भादू

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

पृष्ठ : 176

मूल्य : ₹ 320 / -

कई कारणों से समीक्ष्य पुस्तक महत्त्वपूर्ण है। मानवीय समाज में हिंसा-अहिंसा के विमर्श में रुचि रखने वालों के लिए लेखक ने, जोहन गाल्तुंग के हिंसा की प्रकृति के विश्लेषण संबंधी, अंतर्दृष्टिपूर्ण अवधारणाओं को समझने का स्थान प्रदान किया है। प्रत्यक्ष हिंसा, संरचनात्मक हिंसा के बारे में हम काफ़ी समय से परिचित हैं कि कैसे हिंसा के इस अवधारणात्मक विस्तार से हमें समाज में व्याप्त संरचनात्मक हिंसा को समझने में

मदद मिलती है। किंतु हिंसा के त्रिभुज की तीसरी अवधारणा – 'सांस्कृतिक हिंसा' और उसके प्रत्यक्ष और संरचनात्मक हिंसा से संबंधों के बारे में जानकारी कम है। यह पुस्तक उस कमी को पूरा करने का प्रयास करती है, जो वैचारिक दृष्टि से निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है। लेकिन, मेरे विचार से, पुस्तक की प्रासंगिकता इस बात से कई गुना बढ़ जाती है कि इसमें हिंसा की उक्त अवधारणाओं को वर्तमान भारतीय समाज में तेज़ी से आ रहे परिवर्तन को समझने के लिए प्रयुक्त किया गया है। भारतीय समाज में सांप्रदायिक हिंसा, दलित-भेद, लैंगिक विषमता के साथ-साथ आर्थिक और शैक्षणिक क्षेत्रों में भी व्याप्त हिंसा को सांस्कृतिक हिंसा के फ्रेमवर्क से विश्लेषित कर उनके निदान के लिए सृजनात्मक सुझावों के कारण यह पुस्तक सामयिक प्रश्नों से अपने ढंग से जूझने का मार्ग सुझाती है। एक अच्छी बात यह भी है कि हिंसा के अहिंसक प्रतिकार और शांति की रणनीतियों पर चर्चा करते हुए लेखक गांधी तक पहुँचते हैं और अपनी संबद्धता गांधी-दर्शन से दर्शाते हैं। इस तरह वे एक अहिंसक और शांतिपूर्ण समाज के निर्माण के पक्ष में, वस्तुपरक और संवेदनशील ढंग से, अपनी उपस्थिति दर्ज करते हैं।

लेखक ने, अपने उपरोक्त विवेचन को, पुस्तक में आठ अध्यायों में समाहित किया है। प्रथम अध्याय, 'संस्कृति के निहितार्थ' में सबसे जटिल प्रश्न – संस्कृति जैसे जटिल प्रत्यय को समझने का प्रयास किया है। संस्कृति की समझ को लेकर जो विभ्रम की स्थिति हमारे समाज में व्याप्त है, उसे देखते हुए यह क़दम विमर्श की स्पष्टता के लिए ज़रूरी था। हमारे यहाँ संस्कृति की समझ दो वैचारिक ख़ेमों में बँटी हुई है। पहला ख़ेमा उसे शुद्ध, सनातन मानते हुए किसी सुदूर गौरवपूर्ण अतीत में, किसी स्वर्णमणि के समान, प्रतिष्ठित मानता है, जो एक खोज का विषय है। दूसरी दृष्टि संस्कृति को चिरंतन गतिशील, विकासमान और ऐतिहासिक रूप से परिवर्तनशील मानती है जो सदा नवीनीकरण की प्रक्रिया से गुज़रती है। पहली दृष्टि जहाँ संस्कृति को वृक्ष के तने के रूप में देखती है तो दूसरी के लिए नदी का रूपक उपयुक्त है। इस मतभेद की चर्चा न करते हुए भी लेखक दूसरी दृष्टि का हामी है किंतु इस मतभेद और उससे जुड़े वैचारिक-राजनीतिक पूर्वग्रहों पर भी कुछ चर्चा अपेक्षित थी क्योंकि इससे निश्चय ही सांस्कृतिक-राष्ट्रवादी परियोजना में परोक्ष रूप से व्याप्त सांस्कृतिक हिंसा के स्वरूप को समझने में मदद मिलती।

सामान्यतः संस्कृति को दो तरह से परिभाषित किया जाता रहा है। पहला दृष्टिकोण उसे दर्शन, साहित्य, कलाओं, स्थापत्य तक सीमित मानकर उसकी संकीर्ण व्याख्या करता है जहाँ संस्कृति मानसिक परिष्कार और आनंद का स्रोत है। किंतु नृतत्व शास्त्रीय दृष्टि इससे भिन्न है, इसमें मनुष्य का लगभग समस्त सीखा हुआ व्यवहार समाहित है। उसकी मूल्य-मान्यताएँ, धर्म-आस्थाएँ, विचार-भावनाएँ, भाषा एवं कला आदि सभी संस्कृति के अंग माने जाते हैं। कुछ लोग भौतिक और पराभौतिक तत्त्वों को सभ्यता और संस्कृति के रूप में अलग-अलग करके देखते हैं किंतु दोनों रूप अविछिन्न होने के

कारण ऐसा करना उचित नहीं लगता। संस्कृति दोनों का समुच्चय है और लेखक ने उसे वर्तमान और अतीत के बीच संधिसेतु ही माना है जो समाज को एक परिधि में बाँधता है। मुख्य बात यह है कि 'यह सामाजीकरण का माध्यम है और मूल्य संरचना की नियामक है।' (पृ. 10)। लेकिन विशेष बात यह है कि यहीं लेखक हमारा ध्यान पारस्परिक साहचर्य के साथ सांस्कृतिक द्वन्द्व की प्रक्रिया की ओर भी खींचना चाहता है जो संस्कृति की ग्रहणशीलता और नवीनीकरण को बढ़ावा देती है। वर्तमान में, भारतीय संस्कृति के सामने जहाँ एक ओर भूमंडलीकरण के कारण पाश्चात्य संस्कृति के वर्चस्व की चुनौती है तो दूसरी ओर उसकी प्रतिक्रिया में उभरते सांस्कृतिक पुनरुत्थानवाद की अगुआई कर रहे धार्मिक कट्टरपंथ से लड़ने की चुनौती भी है। सांस्कृतिक संक्रमण के इस दौर को लेखक ने ठीक ही पहचाना है। (पृ.13) लेकिन लेखक सदियों से चली आ रही हमारी संस्कृति की मूल्य दृष्टि और उनके अर्जन की प्रक्रिया के बीच अंतर्विरोध की ओर इंगित करने से चूक गए हैं। यह मानते हुए भी कि हमारे समकालीन जीवन मूल्य हमारे संविधान की प्रस्तावना में संहिताबद्ध है, लेखक यह बताना भूल गए हैं कि हमारे वर्तमान सांस्कृतिक संकट के पीछे उन मूल्यों के प्रति आस्था का क्षरण भी है। ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृति ऐसे व्यापक एवं जटिल विषय के लिए पहला अध्याय छोटा पड़ गया है। क्योंकि कई बातें जो सूत्र रूप में कही गई हैं, वे आवश्यक विस्तार की अपेक्षा रखती हैं। जैसे मनुष्य क्या है, ऐसे दार्शनिक प्रश्न को एक प्रक्रिया मात्र कहकर जल्दी से निपटाया नहीं जा सकता। यदि सार्त्र के शब्दों में कहें कि 'मनुष्य वह नहीं है जो वह है, बल्कि वह है जो हो सकता है' तो फिर संस्कृति का प्रश्न मानव के भविष्य का प्रश्न भी बन जाता है। ऐसे में सांस्कृतिक हस्तक्षेप महत्त्वपूर्ण हो जाता है किंतु उसके मानदंड क्या होंगे, उनका निर्णय कौन करेगा, इन प्रश्नों से टकराना भी अनिवार्य हो जाता है। एक महत्त्वपूर्ण सवाल संस्कृतियों के आपसी टकराव का भी है जिसकी ओर हटिंग्टन ने ध्यान दिलाया है। इस टकराव को क्या सांस्कृतिक हिंसा के अंतर्गत समझा जा सकता है? इससे बचने के लिए संस्कृतियों की अंतर्क्रिया का कौन-सा प्रारूप उचित होगा, यह भी एक महत्त्वपूर्ण सवाल है जिसकी अनदेखी नहीं की जा सकती।

दूसरा अध्याय 'हिंसा के उत्स और स्वरूप' से संबंधित है और विषय को वैचारिक आधार प्रदान करने का प्रयास करता है। इसमें मुख्य रूप से जोहन गाल्तुंग की हिंसा के विवेचन को लेकर मौलिक अवधारणाओं, संरचनात्मक और सांस्कृतिक हिंसा की विस्तार से चर्चा की गई है। हिंसा के प्रत्यय को प्रत्यक्ष वैयक्तिक शारीरिक हिंसा से विस्तृत कर, सामाजिक व्यवस्था के कारण अपरोक्ष रूप से व्याप्त भूख, ग़रीबी, शोषण, दमन, बहिष्करण और सामाजिक अन्याय के विभिन्न क्षेत्रों को समाहित कर, उसको 'संरचनात्मक हिंसा' के विविध रूप मानकर अध्ययन करने का श्रेय गाल्तुंग को ही है। लेखक ने उनके विचारों को स्पष्ट करते हुए

'संरचनात्मक हिंसा' की अवधारणा को 'सामाजिक अन्याय' और 'शोषण' की प्रचलित अवधारणाओं से अधिक उपयोगी माना है और तर्क दिए हैं जो विवेचन का विषय हो सकते हैं। संरचनात्मक हिंसा के अदृश्य दुश्चक्र को समझने में लेखक दूर तक सफल दिखाई देता है लेकिन वह उन संरचनाओं को नामित करने से कहीं कतराता सा नजर आता है और केवल संरचनात्मक हिंसा के मूल में शक्ति के विभाजन को चिह्नित करता है जिसके लिए सामाजिक ढाँचे का श्रेणीकरण ज़िम्मेदार है। (पृ. 35)

चूँकि पुस्तक लिखने का मूल उद्देश्य सांस्कृतिक हिंसा के विविध रूपों का निरूपण करना है, इसलिए उसके विवेचन पर ध्यान देना ज़्यादा ज़रूरी है। सांस्कृतिक हिंसा से लेखक का तात्पर्य उस हिंसा से है जो प्रत्यक्ष और संरचनात्मक हिंसा को औचित्य और वैधता प्रदान करने के लिए प्रचलित सांस्कृतिक प्रतीकों-विधानों द्वारा की जाती है। (पृ. 41) इसके अंतर्गत धर्म-विचारधारा, भाषा-कलाओं और आनुभविक व औपचारिक विज्ञानों का सहारा लिया जाता है। इनमें सांस्कृतिक प्रतीक चिह्नों जैसे झंडे, सैन्य परेड, नायकों की मूर्तियाँ, तस्वीरें, भड़काऊ भाषण, पवित्र पुस्तक, प्रार्थनाएँ आदि का उपयोग किया जाता है। निश्चय ही संस्कृति के कुछ पहलू ही इसमें प्रयुक्त होते हैं जो हिंसा के प्रयोग को औचित्य / वैधता प्रदान करते हैं। हमारे ऊपर शांति को औचित्य और वैधता प्रदान करने वाले सांस्कृतिक पक्षों की खोज और उन पर आधारित शांतिपूर्ण संस्कृति की निर्मिति का दायित्व भी है। अतः शांति अध्ययन के लिए भी दो मुद्दों पर विचार करना आवश्यक हो जाता है – हिंसा का प्रयोग और हिंसा के प्रयोग का औचित्य उत्पाद।

सांस्कृतिक हिंसा के दुष्चक्र के विश्लेषण से लेखक ने यह स्पष्ट किया है – 'सामान्यतः सांस्कृतिक से संरचनागत और फिर प्रत्यक्ष की ओर हिंसा का क्रमिक प्रवाह साफ़ देखा जा सकता है। संस्कृति प्रवचन, उपदेश और प्रबोधन द्वारा ऐसा नज़रिया विकसित करती है, जिससे शोषण और उत्पीड़न को एक सामान्य और प्राकृतिक परिघटना के रूप में देखा जा सके। कुल मिलाकर शोषण को शोषण की तरह न समझा जा सके।' (पृ. 48)... इस तरह संरचनात्मक हिंसा की श्रेणी को सांस्कृतिक हिंसा और प्रभावी बना देती है। (पृ. 49) इसके अंतर्गत ऐसी मान्यताओं जैसे पुरुष स्त्रियों की तुलना में अधिक बुद्धिमान होते हैं, कुछ नस्लें दूसरों से श्रेष्ठ होती हैं, कुछ राष्ट्र ही आधुनिक सभ्यता के संवाहक हैं, जो व्यक्ति शिखर पर हैं वही सर्वश्रेष्ठ हैं और विशेषाधिकार और शक्ति के अधिकारी हैं – आदि को स्वीकार करा दिया जाता है जिससे अन्याय, शोषण, दमन और बहिष्करण को प्रश्नांकित न किया जा सके। धर्म, विचारधारा, भाषा, कला, औपचारिक विज्ञान आदि सभी की इसमें भूमिका खोजी जा सकती है। लेखक ने प्रत्यक्ष हिंसा को एक 'घटना', संरचनात्मक हिंसा को एक 'प्रक्रिया' और सांस्कृतिक हिंसा को एक 'स्थाई परिघटना' माना है। ये तीनों मिलकर हिंसा के एक त्रिभुज का निर्माण करती हैं जिसमें हिंसा

त्रिभुज के किसी भी कोने से शुरू हो सकती है। लेखक के विश्लेषण का सार यह है कि – 'हिंसक संरचनाओं को संस्थाबद्ध करने और हिंसक संस्कृति के आत्मसातीकरण के बाद प्रत्यक्ष हिंसा अधिक घातक और आवृत्तिमूलक हो जाती है।' (पृ. 59) अतः हिंसा के इस त्रिभुज को निष्प्रभावी करने के लिए शांति के भी ऐसे त्रिकोण की रचना करने की आवश्यकता है जिसकी संरचना में विभिन्न सहभागियों के बीच समता और सहजीवन पर आधारित संबंध हों।

आगे के अध्यायों में लेखक ने, सांस्कृतिक हिंसा की उपर्युक्त वैचारिक समझ से संरचनात्मक हिंसा के विभिन्न क्षेत्रों को व्याख्यायित करने का प्रयास किया है। विकास बनाम दरिद्रता के दुष्चक्र पर टिप्पणी करते हुए लेखक ने आर्थिक विकास के वर्तमान प्रारूप को विकास मानने से इंकार किया है क्योंकि इसमें आर्थिक वृद्धि की उच्च दर के बावजूद रोज़गार में कमी आ रही है, धर्मांधता बढ़ रही है, जनतांत्रिक व्यवस्था शिथिल हो रही है और असमानता बढ़ती जा रही है। इसके लिए लेखक एडम स्मिथ ऐसे चिंतकों को भी ज़िम्मेदार ठहराते हैं जिन्होंने आर्थिक क्षेत्र में पूँजीवाद के विचार को समर्थन और औचित्य प्रदान किया। इसलिए उनकी वैचारिकी को सांस्कृतिक हिंसा के अंतर्गत ही रखा जाना चाहिए।

सांप्रदायिक हिंसा के अपने विवेचन में लेखक स्पष्ट रूप से घोषणा करते हैं कि 'सांप्रदायिक हिंसा साफ़ तौर पर सांस्कृतिक हिंसा है, जहाँ उसके औचित्य प्रतिपादन के लिए धर्म और मत का आधार मौजूद है। वस्तुतः यह दो संस्कृतियों की वर्चस्व के लिए हिंसक टकराहट है।' (पृ. 80)। सामान्यतः यह तो स्वीकार कर लिया जाता है कि धर्म में राजनीति के समावेश से सांप्रदायिकता का जन्म होता है जो सत्ता के समर्थन और संरक्षण से और भी अधिक ख़तरनाक हो जाती है, किंतु उसे औचित्य / वैधता प्रदान करने वाले तत्व 'धर्म और मत' की अनदेखी की जाती है। राजनीति निश्चित रूप से पलीते में आग लगाने का कार्य करती है, किंतु यदि धार्मिक विद्वेष की बारूद पहले से ही मनों में विराजमान न हो तो उसे सांप्रदायिक हिंसा को विस्फोटक रूप नहीं दिया जा सकता। इसलिए सांप्रदायिक सद्भावना के लिए किसी भी प्रयास के लिए पारस्परिक विद्वेष और अविश्वास को जड़ से समाप्त किए जाने की ज़रूरत को रेखांकित करने के लिए लेखक बधाई के पात्र हैं। (पृ. 85) इस बैर भाव के पीछे हिंदू समाज में गहराई से बैठा उत्पीड़ित होने का बोध है। यह अंशतः तथ्यों के सरलीकरण पर आधारित है जो अपने विरुद्ध जाने वाली स्मृतियों को भुला देती है और एक अविश्वासपूर्ण जातीय स्मृति का निर्माण करती है, व्यक्ति की तरह / समाज भी इन ऐतिहासिक स्मृतियों से मुक्त नहीं हो पाते और अतीतजीवी होकर किसी काल्पनिक गौरवशाली समय में लौटना चाहते हैं। भारत में हिंदू और मुसलमान, दोनों समुदाय उत्पीड़ित होने के इस भाव से पीड़ित हैं जिसे तार्किक संवाद से तोड़ने की ज़रूरत है। लेखक ने यहाँ मौन 'शांति' के विरोध में सक्रिय 'शांति' को एक सामाजिक प्रक्रिया, लक्ष्य के रूप में प्रस्तावित किया है जहाँ

शांति, न्याय से जुड़ी होती है और सामाजिक जनतंत्र के रूप में संस्थाबद्ध होती है।

लेखक ने, वर्तमान वैश्विक संदर्भ में, संस्कृतियों के बचाव, टकराव और सह-अस्तित्व के गंभीर प्रश्न को भी अतिरेकी प्रवृत्ति से ऊपर उठकर रूपांतरकारी संवाद के ज़रिए हल करने का प्रस्ताव किया है। इसके लिए वे एक मूलगामी प्रश्न उठाते हैं कि यदि हम सह-अस्तित्व चाहते हैं तो संस्कृतियों को कैसे देखेंगे? हम इन्हें किसी आदिकालीन परम-पावन निर्मिति के रूप में देखेंगे या विविधता और भिन्नता के साथ विकसित होती परिघटना के रूप में देखेंगे? यूरोप-केंद्रित नवजागरण से संस्कृतियों को बचाने की चिंता को वाजिब मानते हुए लेखक संस्कृतियों के भीतर तानाशाही के सवाल को भी कम गंभीर नहीं मानते। इस तरह वह सांस्कृतिक हिंसा के बाहरी और भीतरी दोनों पहलुओं को समझने में हमारी मदद करते हैं। लेखक की स्पष्ट मान्यता है कि संस्कृतियाँ संसाधनों पर नियंत्रण करने का तंत्र भी हैं जिसके अंतर्गत लोगों को शक्ति संरचनाओं की 'स्वाभाविक' और सामान्य स्वीकृति के लिए तैयार किया जाता है। इस तरह उनकी प्रतिक्रिया वर्चस्वशाली नज़रिए से परिचालित होती है। अतः जब हम शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की बात करते हैं तब वास्तव में हम शक्ति के कई मुखौटों के सह-अस्तित्व की बात कर रहे होते हैं। (पृ. 93) यहीं पर लेखक एक मौलिक नैतिक प्रश्न उठाता है कि 'क्या हम इन सांस्कृतिक पहचानों और सर्वसत्तावादी मूल्यों के स्वघोषित प्रतिनिधियों के बीच सह-अस्तित्व चाहते हैं जो उन पर भीतर अथवा बाहर से सवाल उठाने की इजाज़त नहीं देते?' (पृ. 94) उनका स्पष्ट उत्तर है कि 'हर संस्कृति में मूल्यों का एक सोपान क्रम है जिसे चुनौती दी जा सकती है। ऐसे में सह-अस्तित्व का समर्थन करने से पहले सवाल उठता है कि हम मूल्यों के किस क़िस्म के सोपान क्रम को देखना चाहते हैं।' (पृ. 95) स्थापित संस्थागत ढाँचों के अंतर्गत इस तरह का संवाद सम्भव नहीं दीखता। लेखक के अनुसार नागरिक समाज से इस संवाद की शुरुआत के लिए सत्याग्रह का कोई विकल्प नहीं है। किंतु यहीं यह प्रश्न उठना भी समीचीन होगा कि आज के सांप्रदायिक ध्रुवीकरण के माहौल में क्या नागरिक समाज इसके लिए तैयार है? गांधी के नाम से चलने वाली संस्थाओं से क्या अब कोई उम्मीद बची है?

पुस्तक का अगला अध्याय जाति-विद्वेष और द्वंद्व के महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर केंद्रित है। निश्चय ही भारत में जाति-विभेद संरचनात्मक हिंसा का वीभत्स रूप है। किंतु हज़ारों साल से, प्रतिरोध के बावजूद, इसके बने रहने का राज क्या है? लेखक ने इसके लिए ब्राह्मणवाद की सांस्कृतिक संरचना को ज़िम्मेदार माना है। ब्राह्मणवाद संस्कृतीकरण की प्रक्रिया से विद्रोही चेतना को कुंद कर देता है। आंबेडकरवादी आंदोलन भी ब्राह्मणवाद द्वारा किए जाने वाले इस आत्मसातीकरण का शिकार हो रहा है। इसके अंतर्गत निम्न जातियाँ भी उच्च जाति में प्रवेश की प्रबल आकांक्षा के कारण, उच्च जातियों की जीवन पद्धति अपनाने लगती हैं। परिणामस्वरूप जातिवाद रूप बदलकर बचा रहता है।

हिंदू धर्म का जाति आधारित सामाजिक संरचना से गहरा संबंध है। लेखक ने इसे सफलतापूर्वक दर्शाया है कि किस तरह हिंदू धर्म में प्रचलित कर्म और पुनर्जन्म की मान्यताएँ जाति व्यवस्था को औचित्य / वैधता प्रदान करती हैं। जाति का प्रभाव इतना गहरा और व्यापक है कि व्यक्ति की पहचान उसके गुण, कर्म और योग्यता से न होकर उनकी जाति से होती है। जाति व्यवस्था एक पिरामिडनुमा सोपान-क्रम है जिसमें क्षैतिजिक और रैखिक अंतरभेद सक्रिय हैं। यह विषमता की जनक है और इसने समाज में वैमनस्य के विकास में बड़ी भूमिका निभाई है। (पृ. 101) लेकिन महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि सकारात्मक कार्रवाई के तहत आरक्षण की व्यवस्था को अपनाने के बावजूद आंबेडकर का जाति विनाश का सपना अधूरा क्यों है? क्या यह अस्मितावादी राजनीति के कारण भटकाव का शिकार हो गया है? सवर्ण जातियों से गांधी का हृदय परिवर्तन का आग्रह भी जाति विद्वेष को कम करने में असफल क्यों है? पुनर्जन्म और कर्मफलवाद की अबौद्धिक मान्यताओं से पीछा कैसे छूटे? इन प्रश्नों पर भी यदि लेखक ने विचार किया होता तो शायद भारतीय समाज में सांस्कृतिक हिंसा के इस विद्रूपतम रूप से निपटने के लिए कोई दृष्टि हमें मिल पाती। यद्यपि लेखक ने प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री पाब्लो फ्रेयरे की अंतर्दृष्टि को इस दिशा में प्रेरणास्पद माना है जिसमें उत्पीड़क और उत्पीड़ित दोनों की अमानवीयकरण से मुक्ति के लिए उत्पीड़ितों द्वारा अभियान चलाने का आह्वान है किंतु इसमें अंतर्निहित ख़तरों और द्वंद्वों के परिणामस्वरूप किसी ठोस योजना का प्रारूप लेखक नहीं सुझा पाते।

लेखक के अनुसार धर्म और ईश्वर के बाद राष्ट्रवाद अगली सांस्कृतिक अवधारणा है जो सांस्कृतिक हिंसा को औचित्य प्रदान करती है, अतः उस पर भी विचार न केवल आवश्यक है बल्कि आज के उग्र राष्ट्रवादी दौर में समीचीन भी। 'राज्य', 'राष्ट्र' और 'राष्ट्र-राज्य' के बीच भेद करते हुए लेखक ने नस्लवाद और जातीयता केंद्रित यूरोपीय राष्ट्रवाद से स्वतंत्रता आन्दोलन में उपजे भारतीय राष्ट्रवाद को अलग ढंग से देखने का आग्रह किया है। वे 'सकारात्मक राष्ट्रवाद' के पक्षधर हैं जिसमें राष्ट्र किसी विशेष धर्म, नस्ल या जाति से बँधी संकीर्ण इकाई नहीं है, इसे धर्म के कट्टरपंथियों के हाथ में गिरवी नहीं होने देना चाहिए। आज जब सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की आड़ में हिंदू राष्ट्रवाद की संकीर्ण, आक्रामक विचारधारा को स्थापित करने का प्रयास किया जा रहा है, लेखक से यह अपेक्षा थी कि वह इसमें छिपी सांस्कृतिक हिंसा पर थोड़े विस्तार से चर्चा करता जिससे सम्भावित ख़तरों के प्रति पाठक को जागरूक होने में मदद मिलती। राज्य द्वारा पाठ्य पुस्तकों में परिवर्तन द्वारा इतिहास की सांप्रदायिक समझ का विस्तार और सोशल मीडिया द्वारा उसके दिन-रात प्रचार की चर्चा के बिना लेखक का विश्लेषण अधूरा सा लगता है।

भारतीय समाज में सांस्कृतिक हिंसा के अपने विवेचन में लेखक ने स्त्री प्रश्न, शिक्षा और भाषा के प्रश्न को भी समेटने का प्रयास किया है। स्त्रियों के उत्पीड़न के लिए मूलतः पितृसत्ता को ज़िम्मेदार माना जाता है। उसके सांस्कृतिक पक्ष को पहचानते हुए लेखक की मान्यता है कि 'पितृसत्ता स्त्री के समक्ष सिर्फ़

भौतिक बाधा ही नहीं खड़ी करती, बल्कि वह स्त्री के मन का भी अनुकूलन करती है। पितृसत्ता ऐसी परिस्थितियाँ निर्मित करती है, जिससे स्त्री पितृसत्ता के मूल्यों को आत्मसात कर ले, उनका आंतरिकीकरण कर ले' (पृ. 115-116)। स्त्रियों को बचपन से ही घर में भेदभाव झेलने की आदत डाल दी जाती है। बेटे को शिक्षा, खेलकूद, आहार, चिकित्सा, सामाजिक मेलजोल में प्राथमिकता दी जाती है। बालिकाओं के लिए निषेध की बड़ी लक्ष्मण रेखा खींच दी जाती है। लेखक मौजूदा पश्चिमी स्त्रीवाद को उच्चतर स्त्रीवाद मानते हुए भी भारतीय समाज के लिए स्त्रीवाद की प्राथमिकता उससे भिन्न मानते हैं क्योंकि भारतीय स्त्री की समस्या के मूल में समाज की सामंती संरचना है, यद्यपि वे स्त्री-पुरुष के लिए समान अवसर की माँग का समर्थन करते हैं। पितृसत्ता द्वारा अनुमोदित सांस्कृतिक हिंसा में किस तरह एक स्त्री दूसरी स्त्री के प्रति हिंसा में पुरुष की साझीदार बन जाती है, उस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का थोड़ा विश्लेषण भी लेखक से अपेक्षित था।

भाषाओं के विलुप्तीकरण के प्रश्न को सांस्कृतिक हिंसा से जोड़ते हुए लेखक ने ध्यान दिलाया है कि प्रत्येक भाषा एक विशिष्ट विश्व दृष्टि का निर्माण करती है, दो भाषाओं की विश्व दृष्टि कभी समान नहीं होती। प्रत्येक भाषा की अपनी संस्कृति होती है जो अपने वाचिक समुदाय की कल्पना, स्मृति और व्यवहारों का अधिकोश होती है। भाषा के विलुप्त होने से वह संस्कृति भी विलुप्त हो जाती है। जन भाषा सर्वेक्षण के अनुसार भारत में पिछले पाँच दशकों में लगभग 220 भाषाएँ विलुप्त हो गईं। यह चिंताजनक स्थिति है। यह बात भी थोड़ी अचम्भित करने वाली है कि भाषाई हिंसा के प्रश्न पर विचार करते हुए लेखक भारतीय समाज में अंग्रेज़ी के वर्चस्व के प्रश्न पर विचार करने से क्यों चूक गया। भारत में अंग्रेज़ी, औपनिवेशिक दासता से मुक्ति के बावजूद आज भी वर्चस्वशाली है और स्थानीय भाषाओं के विकास में बाधक है। वर्चस्वशाली वर्गों को वैधता प्रदान करने में अंग्रेज़ी की भूमिका का विवेचन भी समीचीन था।

शिक्षा, संस्कृति का महत्त्वपूर्ण घटक है जो उसका संतरण और निर्माण दोनों ही करती है। परम्परागत शिक्षा प्रणाली जहाँ सामाजिक वैषम्य के सामन्तवादी मूल्यों को प्रश्रय देती थी, वहीं पश्चिम से आयातित आधुनिक शिक्षा प्रणाली बच्चों को औद्योगिक समाज के अनुकूल बनाने का कार्य करती है, जो अपने आप में एक हिंसक समाज ही है। शिक्षा यदि जनतांत्रिक मूल्यों को साथ लेकर चलती है तो उसका स्थापित सांस्कृतिक मूल्यों से तनाव स्वाभाविक है। लेखक ने इस ओर इशारा किया है कि जब शिक्षा सांस्कृतिक पुनरुत्थान के माध्यम के रूप में शासक वर्ग द्वारा प्रायोजित की जाती है तो यह धार्मिक अस्मिताओं को और मज़बूत करके सांप्रदायिक विद्वेष को बढ़ावा देती है। लेकिन वे वर्तमान में लागू नई शिक्षा प्रणाली की सम्यक आलोचना करने से बचकर निकल गए लगते हैं। शायद इसी कारण अत्यधिक प्रतिद्वन्द्विता को बढ़ावा देने वाली वर्तमान शिक्षा प्रणाली जो अंततः एक हिंसक मनुष्य का ही निर्माण करती है, को भी सांस्कृतिक हिंसा के एक रूप में पहचानने से

चूक गए हैं, जिसे जे. कृष्णमूर्ति ने स्पष्ट रूप से दर्शाया है।

पुस्तक के अंतिम दो अध्याय 'हिंसा के प्रतिकार' और 'शांति-उपक्रम' पर आधारित हैं। इनमें लेखक ने गौतम बुद्ध, महात्मा गांधी, नेल्सन मंडेला, किशन पटनायक आदि के विचारों-कार्यों की रोशनी में हिंसा-मुक्त समाज के निर्माण की सम्भावनाओं पर विचार किया है। वे गांधी की अंतर्दृष्टियों के विशेष रूप से क़ायल हैं। वे इस बात को ज़ोर देकर कहते हैं कि गांधी की अहिंसा में केवल हिंसा की अनुपस्थिति नहीं थी, उसमें करुणा के सकारात्मक मूल्य का भी अनिवार्य समावेश था। (पृ. 139)। लेकिन सांस्कृतिक हिंसा की दृष्टि से गांधी की महत्त्वपूर्ण अंतर्दृष्टि, लेखक के अनुसार यह थी कि – 'उन्होंने जातिगत दमन में अंतर्निहित हिंसा और विभिन्न धार्मिक ग्रन्थों व परम्पराओं में मौजूद हिंसा के सम्भावित औचित्य – निरूपणों को अस्वीकार किया। यह उनकी धर्मशास्त्रीय सर्जनात्मकता का प्रभाव है कि वे प्रचलित पारंपरिक प्रयासों से एक मूलगामी टूट की पैरवी करते हुए भी, अपनी बात एक पारंपरिक स्वर में कह पाए।' (पृ. 136) सांस्कृतिक हिंसा से लड़ने का यही मॉडल लेखक को वरेण्य है। लेकिन वे *मनुस्मृति* जैसे ग्रन्थों को कटघरे में खड़ा करने से बच कर निकल जाते हैं। यह अभीष्ट नहीं है।

लेखक इस बात से भली भाँति परिचित है कि मनोवैज्ञानिकों में इस बात को लेकर अनवरत विमर्श जारी है कि मनुष्य में हिंसा या आक्रामकता जन्मजात है या अर्जित या परिस्थितिगत। फिर भी वे इस निष्कर्ष की ओर झुकते दिखाई देते हैं कि 'प्रकृति हमें केवल हिंसा के लिए समर्थ बनाती है। हम उस सामर्थ्य का इस्तेमाल करें या नहीं अथवा कैसे करें, यह हमारी सामाजिक परिस्थिति द्वारा निर्धारित होता है।' (पृ.157) इसलिए हिंसा से मुक्ति के लिए हम सामाजिक परिस्थितियों के पुनर्निर्माण की नैतिक ज़िम्मेदारी से बच नहीं सकते। इसी संदर्भ में लेखक ने नैतिकता के स्रोतों को भी खँगालने का काम किया है और यह प्रश्न भी उठाया है कि आख़िर नैतिकता का निर्धारण कैसे हो, किंतु कई लेखकों-विचारकों (अज्ञेय, पुरुषोत्तम अग्रवाल, नंद किशोर आचार्य, विनोबा, अशोक वाजपेयी, किशन पटनायक आदि) के विचारों के अवगाहन के बावजूद किसी ठोस नतीजे पर पहुँचते दिखाई नहीं देते, यद्यपि वे अहिंसा को नैतिकता की आधारभूमि मानते हुए हिंसा के सामूहिक अहिंसक प्रतिकार की गांधी की पद्धति के समर्थक जान पड़ते हैं। यहीं पर वह अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को अन्याय के प्रतिकार के लिए प्रथम क़दम के रूप में आवश्यक मानते हैं और सार्वभौमिक मानवाधिकार घोषणा पत्र (1948) की वकालत करते हैं। वे अपनी पुस्तक का अंत दो सवालों के साथ ही करते हैं – 'क्या मानवाधिकारों की संकल्पना एक नई अहिंसक संस्कृति की आधार भूमि हो सकती है? क्या मानवाधिकारों का सम्मान और उसके लिए सत्याग्रह नैतिक आयाम की एक बुनियादी कसौटी नहीं है।' (पृ. 174)

पुस्तक के अंतिम अध्याय में लेखक शांति-उपक्रम के लिए बहुसंस्कृतिवाद का

समर्थन करते दीखते हैं। उनकी मान्यता है कि 'प्राचीन काल से भारत में बहुसंस्कृतिवाद का दर्शन परिलक्षित होता है। देशी ही नहीं विदेशी संस्कृतियों को हमने आत्मसात किया है और उन्हें सम्मिलित रूप से नाम दिया है – 'भारतीय संस्कृति'। संविधान निर्माण में भी हमने बहुसंस्कृतिवाद को अपनाया है' (पृ. 164)। ऐसा लगता है कि लेखक 'सांस्कृतिक बहुलता' और 'बहुसंस्कृतिवाद' के बीच अंतर न करने की भूल कर रहे हैं। सांस्कृतिक बहुलता हमारी संस्कृति की ऐतिहासिक आधारभूमि है किंतु 'बहुसंस्कृतिवाद' तो आधुनिक पश्चिम से उपजा दर्शन है जो विभिन्न सांस्कृतिक समूहों की अस्मिता को अलग-अलग सुरक्षित रखने का उपक्रम है जिससे एक संकीर्ण मानसिकता पनपती है और सांस्कृतिक टकराव को जन्म देती है। इसी कारण हमने संविधान में धर्मनिरपेक्षता को अपनाया है, बहुसंस्कृतिवाद को नहीं। भले ही उसके क्रियान्वयन में अनेक ग़लतियाँ हुई हों, किंतु भारतीय संदर्भ में धर्मनिरपेक्षता का क्या कोई विकल्प है, जहाँ धर्म आधारित अस्मिताबद्ध समूहों के बीच टकराव आज की ज्वलंत समस्या बन गई है?

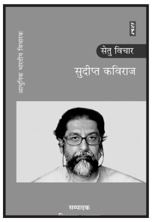
सबसे महत्त्वपूर्ण अंतर्दृष्टि जो इस पुस्तक को पढ़कर मुझे स्पष्ट हुई वह यह है कि सांस्कृतिक हिंसा की अवधारणा का उपयोग हम विभिन्न संस्कृतियों के मूल्यांकन के लिए एक मानदंड के रूप में कर सकते हैं और देख सकते हैं कि एक अहिंसक समाज के निर्माण के लिए उनमें क्या-क्या फेर-बदल अपेक्षित है। निश्चय ही यह बात हमें संस्कृति के प्रश्न पर आलोचनात्मक ढंग से विचार / हस्तक्षेप की न केवल प्रेरणा देती है बल्कि एक विवेक मंत्र भी देती है कि हम उसका पुनर्निर्माण किस आधार पर करें। अंततः यह दृष्टि हमें अतीत में खोई किसी गौरवमयी संस्कृति की खोज में भटकने / भटकाने की राजनीति से न केवल सतर्क करती है बल्कि एक वैकल्पिक मार्ग भी प्रशस्त करती है।

आज मानसिक विउपनिवेशीकरण की चर्चा के दौर में जब इस बात पर बहुत ज़ोर दिया जा रहा है कि भारतीय समाज के यथार्थ को ठीक से व्याख्यायित करने के लिए हमें पश्चिम से आयातित विचार सरणियों के स्थान पर नई भारतीय सरणियों की ज़रूरत है, सांस्कृतिक हिंसा की अवधारणा भारतीय समाज में व्याप्त हिंसा को गहराई से समझने में मददगार हो सकती है और इस पर विदेशी होने का आरोप भी नहीं लगाया जा सकता क्योंकि इसके मूल में अहिंसा की परम्परागत अवधारणा का गांधी द्वारा नवोन्मेष ही है।

अंत में सांस्कृतिक हिंसा की अवधारणा के सैद्धान्तिक विवेचन और भारतीय संदर्भ में उसके विविध रूपों का स्पष्ट विश्लेषण करने के लिए लेखक, राजाराम भादू निश्चय ही साधुवाद के पात्र हैं। सीधी, सरल, प्रवाहमयी भाषा में एक नये प्रत्यय को अधिक पढ़े-लिखे और सामान्य पाठकों तक पहुँचाने का सफलतापूर्वक जो कार्य उन्होंने किया है उससे हिंदी पट्टी की बौद्धिक विपन्नता कुछ ज़रूर कम होगी। हिंदी जगत उनका आभार मानते हुए भविष्य में भी ऐसी चिंतनशील पुस्तकों की अपेक्षा रखेगा।

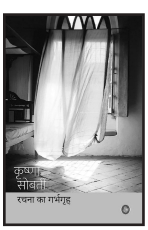
किताबें मिलीं

मनोज मोहन



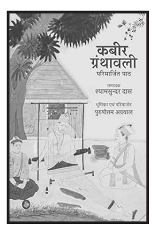
हिलाल अहमद के संपादन में आधुनिक भारतीय विचारक शृंखला में पहली किताब सुदीप्त कविराज पर आई है। सुदीप्त कविराज की प्रतिष्ठा बौद्धिक इतिहास और भारतीय राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में अप्रतिम है। यहाँ उनके अंग्रेज़ी में लिखे महत्त्वपूर्ण लेखों के अनुवाद का एक संचयन तैयार किया गया है। इस किताब की भूमिका में हिलाल अहमद सुदीप्त कविराज का बौद्धिक परिचय देते हैं, साथ ही उनके लिखे लेखों और निबंधों को समझने की कुंजी भी देते हैं। किताब के चार खंड हैं और नौ अध्याय हैं। मार्क्सवाद, ग्राम्शी और भारत पहला खंड है। इसके पहले अध्याय में ग्राम्शी और विभिन्न तरह के विभेद पर चर्चा है तो दूसरे अध्याय में निष्क्रिय क्रांति की पड़ताल की गयी है। दूसरे खंड में उपनिवेशवाद की सैद्धांतिकी और भारत-विमर्श पर गंभीर चर्चा है। चौथे खंड में मात्र एक ही अध्याय है और उसका शीर्षक है–साहित्य और सियासत का भारतीय तसव्वुर। इस किताब को पढ़ने में अड़चन न पैदा हो इसलिए किताब के संपादक ने हर लेख के पहले संपादकीय टिप्पणी दी है। एक सामान्य पाठक के लिए यह टिप्पणी एक ज़रूरी उत्प्रेरक की भूमिका में है।

आधुनिक भारतीय विचारक : सुदीप्त कविराज
संपादक : हिलाल अहमद
सेतु प्रकाशन, नोएडा, उत्तर प्रदेश
मूल्य : ₹ 599, पृष्ठ : 320



कृष्णा सोबती हमारे समय की बड़ी लेखिका रही हैं। उनके न रहने पर आर. चेतनक्रांति ने उनकी रचना-प्रक्रिया से संबंधित सभी लेखों को एकत्र कर किताब का नाम दिया–रचना का गर्भगृह। चेतनक्रांति भूमिका में लिखते हैं कि उनका हर क्षण लेखकीय है। दिन में ग्यारह बजे जगकर अगले दिन के चार बजे सोने तक। इस दौरान वे सिर्फ़ लेखक होती हैं–टीवी देखते हुए, अख़बार पढ़ते हुए, किताबें पढ़ते हुए, फ़ोन पर लोगों से बात करते हुए, और अपने एकदम आसपास की दुनिया से इंटेरेक्ट करते हुए। अब वो इस दुनिया में नहीं हैं। सिर्फ़ उनका लिखा विपुल साहित्य हमारे समक्ष है। वो इसी किताब में कहती हैं कि मेरे पास लेखक के रूप में केवल आठ पुस्तकों की दौलत है। रचना के गर्भगृह शीर्षक लेख के शुरू में ही वे अपनी बात इस तरह रखती हैं–रचना का गर्भगृह, रचना के पाताल में जिसे लेखक को खोजना पड़ता है। रचना की तासीर उसकी बनावट और बुनावट जो पहली पंक्ति में जनमती है वह अपने कलात्मक गुण-गूँथ और सत्य की समग्रता में अपनापन अर्जित करती हैं। कृष्णा सोबती मानती हैं कि लेखक उसका सर्जक है लेकिन वह उसका लिप्यंतरण नहीं करता।

रचना का गर्भगृह
कृष्णा सोबती
संकलन-संपादन : आर. चेतनक्रांति
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
मूल्य : ₹ 250, पृष्ठ : 144

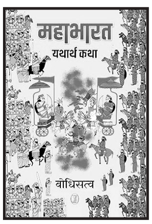


कबीर की महिमा का कारण यह है कि उनकी कविता भीतर-बाहर के सबद-निरंतर को धारण करती है। हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में वर्षों के शोध-अनुसंधान का प्रतिफल है 'कबीर ग्रंथावली : परिमार्जित पाठ' का प्रकाशन। बीसवीं सदी की दूसरी दहाई में श्यामसुन्दर दास ने कबीर ग्रंथावली का संपादन किया था, जिसमें पाठ की समस्या के साथ-साथ प्रूफ़ की ग़लतियाँ और संपादन की अनावश्यक भूलें थीं, जिसे नागरी प्रचारिणी सभा को

बहुत पहले दूर कर लेना चाहिए था। लगभग नौ दशक तक कबीर ग्रंथावली को इन्हीं त्रुटियों के साथ देश-विदेश में पढ़ाया जाता रहा। प्रसिद्ध आलोचक और कबीर विशेषज्ञ पुरुषोत्तम अग्रवाल के वश में ही था इसके परिमार्जन का श्रमसाध्य काम करना, जो उन्होंने मनोयोगपूर्वक किया। अब यह ग्रंथावली निर्दोष होकर प्रकाशित हो पाई। सिर्फ़ इतना ही नहीं बल्कि किताब की 165 पन्नों की भूमिका भी उन्होंने लिखी। जिससे कबीर के पाठों के संकलनों, कबीर को लेकर होने वाली राजनीति, कबीर की परंपरा, उनके प्रभावों को लेकर एक नया विमर्श कबीर के पाठकों के समक्ष उपस्थित हुआ।

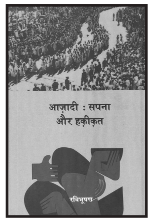
यह एक ऐसी किताब है जो आने वाले लंबे समय तक प्रामाणिक पाठ के रूप में पढ़ी और पढ़ाई जाएगी।

कबीर ग्रंथावली : परिमार्जित पाठ
भूमिका एवं परिमार्जन : पुरुषोत्तम अग्रवाल
राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली
मूल्य : ₹ 499, पृष्ठ : 480



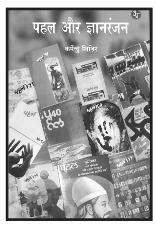
इस किताब में बोधिसत्व अपनी प्रखर विश्लेषण दृष्टि से एक नया पाठ प्रस्तुत करते हैं। यह सत्य है कि महाभारत में सादगी और सरलता किसी भी प्रसंग में अपेक्षित नहीं है। यहाँ कुछ भी छुपाकर नहीं रखा गया है, बल्कि अपने वर्णन में व्यास निर्मम और क्रूर माने जा सकते हैं। लेखक अपने पाठकों को भरोसा देते हैं कि किसी घटनाक्रम को संपूर्णता में देखना हो तो महाभारत के कथा-वन में प्रवेश करें। बोधिसत्व की यह पुस्तक पौराणिक आख्यानों को एक नये धरातल पर खड़े होकर देखने के लिए आमन्त्रित करती है, जहाँ कथा का सत्य और अर्धसत्य अपने निर्मल यथार्थ के साथ स्पष्ट दिखने लगता है! बोधिसत्व के पक्ष का एक प्रतिपक्ष भी है। महाभारत के सत्य का संधान लगभग दो हज़ार वर्षो से किया जाता रहा है, फिर भी यह पुस्तक महाभारत की यथार्थ कथा का नये सिरे से उद्घाटन करती है।

महाभारत : यथार्थ कथा
बोधिसत्व
वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली
मूल्य : ₹399, पृष्ठ : 248



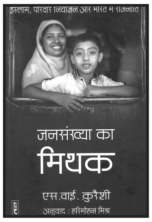
आज़ादी : सपना और हक़ीक़त समाज-चिंतक और लेखक रविभूषण के 2006 से 2023 के बीच विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में लिखी टिप्पणियों का संग्रह है। गांधी जिस अंतिम व्यक्ति के विकास की बात कर रहे थे, उन्हें आज़ादी मिलने के कुछ ही महीने के भीतर निपटा दिया गया था। इसके बावजूद भले यह लोगों को अधूरा सच लगे या झूठा सच लगे लेकिन सच यही है कि हम भारत के लोग गांधी-विचार से दूर नहीं जा सकते। किताब की संक्षिप्त भूमिका में लेखक अपना मंतव्य साफ़ शब्दों में रखते हैं। सभी लेख आज़ादी से सम्बन्धित नहीं हैं, पर किसी-न-किसी रूप में सबका उस आज़ादी से संबंध है, जो जनता को अब तक हासिल नहीं हुई है। दलित, स्त्री, आदिवासी कई अर्थों में आज पचहत्तर सालों बाद भी पराधीन हैं। इस निष्कर्ष को रविभूषण अपने बौद्धिक तर्क से सिद्ध करते हैं।

आज़ादी : सपना और हक़ीक़त
रविभूषण
अभिधा प्रकाशन, दिल्ली
मूल्य : ₹ 350, पृष्ठ : 288



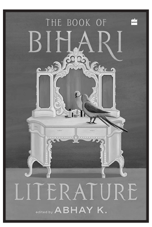
1973 से 2021 के अप्रैल माह तक 'इस महादेश के वैज्ञानिक विकास के लिए प्रस्तुत प्रगतिशील रचनाओं की अनिवार्य पुस्तक' के टैगलाइन के साथ पहल के कुल 125 अंक प्रकाशित हुए। कर्मेंदु शिशिर ने पहल पत्रिका में प्रकाशित सारी सामग्री को एकत्रित कर एक उपादेय सूची बनाई है। पहल और ज्ञानरंजन में 125 अंकों की अनुक्रमणिकाएँ ही नहीं हैं, बल्कि पत्रिका में छपी सारी सामग्री का विधानुसार शीर्षकों-उपशीर्षकों में सार्थक वर्गीकरण किया गया है जो किसी भी पाठक और अध्येता के लिए अत्यंत उपयोगी सिद्ध होगा। सरस्वती, कल्पना और आलोचना की विवरणिकाएँ मौजूद हैं और इनमें पहल की विवरणिका का प्रकाशन करके जर्मनी के ट्यूबिंगन विश्वविद्यालय ने अच्छा काम किया है। हम उनसे कर्मेन्दु जी द्वारा दी गई सामग्री के शीघ्र डिजिटाइज़ेशन की भी उम्मीद रखते हैं।

पहल और ज्ञानरंजन
कर्मेंदु शिशिर
अनन्य प्रकाशन, नवीन शाहदरा, दिल्ली
मूल्य : ₹ 550, पृष्ठ : 198



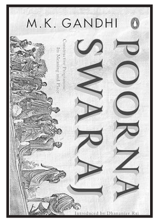
एस.वाय. क़ुरैशी जो भारत के पूर्व चुनाव आयुक्त रहे हैं, और लंबे समय तक प्रशासनिक सेवा से जुड़े रहे हैं, उनकी किताब जनसंख्या का मिथक का संदर्भ इस्लाम, परिवार नियोजन और भारत में राजनीति है। बढ़ती हुई जनसंख्या किसी भी देश के लिए शक्ति न होकर समस्या है, और आज़ादी के बाद भारत में सभी समुदायों की जनसंख्या निरंतर बढ़ी है, जबकि मुस्लिम समुदाय की संख्या कम दर से बढ़ी है। फिर भी इसे हम किसी धर्म, जाति या मज़हब के चश्मे से नहीं देख सकते। लेखक का निष्कर्ष है कि इसे 'हिंदू बनाम मुसलमान' की तरह नहीं, बल्कि दोनों समुदाय के साझा समस्या की तरह देखा जाना चाहिए। यह किताब न सिर्फ़ मुस्लिम समुदाय की जनसंख्या और परिवार नियोजन के मुद्दे पर रोशनी डालती है, बल्कि दो मुख्य समुदायों के बीच राष्ट्रीय सहिष्णुता और समझ को भी बढ़ाती है।

जनसंख्या का मिथक : इस्लाम, परिवार नियोजन और भारत में राजनीति
एस.वाय. क़ुरैशी, अनुवाद : हरिमोहन मिश्र
सेतु प्रकाशन, नोएडा, उत्तर प्रदेश
मूल्य : ₹ 399, पृष्ठ : 368



प्राचीन काल से बिहार को महान साम्राज्य और राजशाही की जन्मभूमि होने का गौरव प्राप्त है। गणित, ज्योतिषशास्त्र, दर्शनशास्त्र, विज्ञान और राजनय के साथ साहित्य के क्षेत्र में भी बिहार ने असाधारण कृतियों के साथ योगदान दिया है। द बुक ऑफ़ बिहारी लिटरेचर चुनिंदा कवियों, चिंतकों और लेखकों की अनूदित रचनाओं का एक जीवंत संचयन है। मुत्ता, सुमंगलमाता, विद्यापति, सरहपा से लेकर बेनीपुरी, दिनकर और आज के समय में लिख रहे अमिताव कुमार और कविता तक कुल इकसठ साहित्यकारों की रचनाएँ यहाँ शामिल की गई हैं। सबसे ख़ास बात, बिहारी बोलियों की भी ख़ास रचनाएँ पहली बार अनुवाद के बाद प्रकाशित हुई हैं। इस किताब के संपादक का कहना है कि ऐसे और संचयन की आवश्यकता है, यह बिहारी लिटरेचर को बड़े फ़लक पर लाने का एक छोटा प्रयास-भर है।

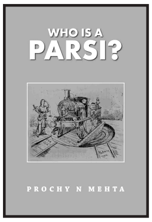
द बुक ऑफ़ बिहारी लिटरेचर
संपादकः अभय के.
हार्परकॉलिन्स पब्लिशर्स इंडिया, गुरुग्राम, हरियाणा
मूल्य : ₹ 699, पृष्ठ : 404



पेंग्विन रेंडम हाउस ने अपने विंटेज सीरीज में एम.के. गांधी के पूर्ण स्वराज : कंसट्रक्टिव प्रोग्राम : इट्स मीनिंग ऐंड प्लेस को युवा राजनीतिक विज्ञानी धनंजय राय के प्रस्तावना और पुनश्च के साथ प्रकाशित किया है। महात्मा गांधी ने पूर्ण स्वराज के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए समय-समय पर कांग्रेस के सामने रचनात्मक कार्यक्रम : उसका रहस्य और स्थान के ड्राफ़्ट को रखा। 1945 के अंतिम ड्राफ़्ट 1941 के पहले ड्राफ़्ट से काफ़ी भिन्न है। कंसट्रक्टिव प्रोग्राम : इट्स मीनिंग ऐंड प्लेस के फ़ारवर्ड लिखते हुए गांधी कहते हैं यह पूरी तरह सुधारी हुई आवृत्ति है।उन्होंने इसे कंसट्रक्टिव प्रोग्राम नाम इसलिए दिया था कि वे साफ़-साफ़ देख रहे थे, इसके बिना स्वतंत्रता मिलना मुश्किल है। गांधीजी ने अंतिम रूप से कंसट्रक्टिव प्रोग्राम में इन विषयों को रखा था – क़ौमी एकता, अस्पृश्यता निवारण, नशाबंदी, खादी, अन्य ग्रामोद्योग, ग्राम स्वच्छता, नयी तालीम, प्रौढ़ शिक्षण, महिलाएँ, स्वास्थ्य नियमों का शिक्षण, प्रांतीय भाषाएँ, राष्ट्रभाषा, आर्थिक समानता, किसान, मज़दूर, आदिवासी, रक्तपित्त के रोगी और विद्यार्थी।

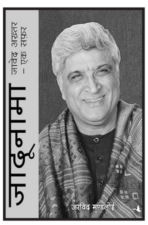
पूर्ण स्वराज : कंसट्रक्टिव प्रोग्राम : इट्स मीनिंग ऐंड प्लेस
धनंजय राय
पेंग्विन रेंडम हाउस, नई दिल्ली
मूल्य : ₹ 599, पृष्ठ : 220

प्रोची एन मेहता की हू *इज़ ए पारसी?* किताब में भारत में बसे पारसी अल्पसंख्यक समुदाय के भीतर चल रहे रूढ़िवादी और सुधारवादी समूहों के बीच के संघर्ष को सामने लाती हैं। विसंगतियों की चर्चा करते हुए कहती हैं कि सुधारवादी समूह पारसी धर्म या ज़रथुष्ट्रवाद के मूल



को माज़दायस्ना में मानते हैं। वास्तव में यहीं से रूढ़िवादिता को प्रश्रय मिलता है। जबकि इसी समुदाय के उच्च धर्मगुरु तथा प्रभावशाली सदस्यों के द्वारा संचालित यह एक सुधारवादी आंदोलन था। गोकि आज पारसियों की घटती संख्या चिंता का विषय बनी हुई है, यह अपने अस्तित्व में बना रहेगा, पारसियों की 'अदम्य भावना' को आसानी से नकारा नहीं जा सकता। इस बेहतरीन अध्ययन की लेखिका स्वयं पारसी समुदाय से आती हैं, और अपने समय की एक सफल खिलाड़ी भी रही हैं।

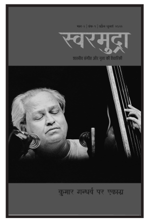
हू इज़ ए पारसी?
प्रोची एन मेहता
नियोगी बुक्स, नयी दिल्ली
मूल्य : ₹ 795, पृष्ठ : 488.



जावेद अख़्तर को लोग प्यार से जादू कहते हैं। उन्हीं पर केंद्रित जादूनामा किताब है, जिसमें उनके जीवन के अनोखे अफ़साने को दर्ज किया गया है। वे पहले एक संवाद लेखक के बतौर चर्चित हुए, फिर वे गीत लिखने लगे, उनके राजनीति विचार को भी तरजीह दिया गया। इन सबसे अलग शुरू से लेकर अभी तक लोगों के दिलों में उनकी छवि एक शायर की महदूद है। उनके जीवन की ये सारी छवियाँ इस किताब से पुख्ता होती हैं। उनके वालिद जाँ निसार अख़्तर की पंक्तियाँ हैं–'लम्हा, लम्हा किसी जादू का फ़साना होगा', जादूनामा में वही जादू का फ़साना है। ज़िंदगी में लंबा सफ़र तय करने और कामयाबी की हर मंज़िल हासिल करने के बावजूद उनका दृढ़ विश्वास है जिसे वे अपने शायराना मिज़ाज में कहते हैं कि जहाँ कोई पहुँच गया है, वह किसी की मंज़िल नहीं हो सकती।

जादूनामा : जावेद अख़्तर–एक सफ़र
अरविंद मण्डलोई
मंजुल पब्लिशिंग हाउस, नोएडा, उत्तर प्रदेश
मूल्य : ₹ 1999, पृष्ठ : 380

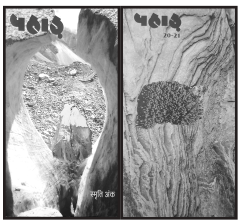
और दो पत्रिकाएं भी



अशोक वाजपेयी के प्रधान संपादकत्व में स्वरमुद्रा : शास्त्रीय संगीत और नृत्य की वैचारिकी का कुमार गन्धर्व पर एकाग्र अंक दो जिल्दों में आया है। यह कुमार गंधर्व के शतवार्षिकी वर्ष के अवसर पर है। लगभग बारह सौ पृष्ठों को समेटती यह पत्रिका एक विराट व्यक्तित्व के सभी पहलुओं को समेट ले जाती है। शुरू में ही अशोक वाजपेयी कुमार गंधर्व के बारे में कहते हैं कि स्वयं भौतिक रूप से कठिन जीवन संघर्ष में फँसे कुमार जी के लिए संगीत लगभग शब्दशः जिजीविषा था। वे जीने के लिए गाते थे और गाने के लिए जीते थे। वे अपने जीवन में मृत्यु के बहुत नजदीक पहुँचे थे। इसलिए उनका बाद का संगीत नश्वरता और काल की छाया में रचा-गया संगीत है। स्वरमुद्रा के दो जिल्दों के सात खंड हैं, पहले खंड में कुमार गंधर्व के लिखे को स्थान दिया गया है। इन लेखों से शास्त्रीय संगीत का एक आधुनिक परिदृश्य उभरता है। वे मानते थे कि शास्त्रीय संगीत के अनुशासन की सीमा के बाहर लोक संगठन का एक अद्भुत संसार है। वे यह भी मानते थे कि हमारे शास्त्रीय संगीत की उत्पत्ति इसी लोक संगीत से हुई। लोगों ने लोकगीतों के साहित्यिक पक्ष पर भले ध्यान दिया हो, लेकिन सांगीतिक पक्ष पर उपेक्षा ही बरती। अभिजात कलावती शीर्षक लेख लता मंगेशकर पर है, जो लोग छह सौ पृष्ठों में भी स्वर-सम्राज्ञी पर क़ायदे की बात नहीं कर पाते, उनपर कुमार जी ने महज सात पृष्ठों में कह डाली है। लता जी के बारे में वे लिखते हैं कि उनका तीन-साढ़े तीन मिनट का एक गीत और किसी ख़ानदानी शास्त्रीय गायक द्वारा प्रस्तुत तीन-साढ़े तीन घंटों की महफ़िल, इन दोनों का कलात्मक और आनंदात्मक मूल्य एक जितना है। वे शास्त्रीय गायन में रंजकता के विरोधी नहीं थे, उसका सरस होना ज़रूरी मानते थे। इस अंक कि सामग्री को देखकर लगता है हिंदी से भी ज़्यादा उन पर मराठी में लिखा गया है। कुमार जी की जीवनसंगिनी वसुंधरा कोमकली बकुल के फूल के बारे में लिखते हुए कुमार जी के स्वभाव के एक महत्त्वपूर्ण पहलू का ज़िक्र कर जाती हैं। मेरे फूल ताज़ा थे, कुछ में मिट्टी लगी थी, मैंने सबको धो भी दिया था, लेकिन कुछ फूलों के किनारों में हलकी-सी कुम्हलाहट थी, जिससे

उनका रंग थोड़ा-सा तांबई हो गया था, जबकि कुमार का हर फूल इस सिरे से लेकर उस सिरे तक एकदम सफ़ेद था। उन्होंने फूल ही ऐसे चुने थे। वसुंधरा ताई के इन शब्दों में कुमार जी का पूरा व्यक्तित्व स्पष्ट हो जाता है। पीयूष दईया ने सुरुचि और कल्पनाशीलता के साथ स्वर मुद्रा के इस अंक का संपादन किया है। साठ साल से भी ज़्यादा के समय में कुमार जी के बकुल के सफ़ेद फूल चुनने के स्वभाव के अनुरूप पीयूष दईया ने इस अंक के लिए लेख जुटाए हैं।

स्वरमुद्रा : कुमार गंधर्व पर एकाग्र, भाग-2 | अंक -1 | अप्रैल-जुलाई 2023
स्वरमुद्रा : कुमार गंधर्व पर एकाग्र, भाग-3 | अंक -2 | अगस्त-नवंबर 2023
प्रधान संपादक : अशोक वाजपेयी
संपादक : पीयूष दईया
रज़ा फ़ाउंडेशन, नयी दिल्ली
मूल्य : ₹ 200+200, पृष्ठ : 560+576



प्रसिद्ध लेखक और पर्यावरणविद प्रोफ़ेसर शेखर पाठक के संपादन में निकले पहाड़ के स्मृति अंक : एक और दो को पढ़ते हुए कोई भी व्यक्ति उदास हो जा सकता है कि पिछले आठ वर्षों (2015-2022) में हमने कितने मूर्धन्यों को समय-असमय इस दुनिया से जाते हुए देखा। वीरेन डंगवाल की मौत का कारण कैंसर था तो मंगलेश डबराल कोरोना से गए। दिवंगत हुए लोगों में ऐसे कवि, लेखक, विमर्शकार, और समाज-चिंतक शामिल हैं जो हमें ज्ञान-समृद्ध कर ही रहे थे, और हमारे बौद्धिक पर्यावरण के लिए ज़रूरी प्रकाश-पुंज की तरह थे। ऐसे व्यक्तित्वों के चले जाने से रिक्तता-बोध गहरा हो रहता है। पहाड़ स्मृति अंक : एक के संपादकीय में शेखर पाठक लिखते हैं कि स्मृति सिर्फ़ नॉस्टैल्जिया नहीं है, न ही हमारे बीच से जा चुके लोगों को सिर्फ़ विदा की सलामी है। न यह औपचारिकता है और न आरोपित कोशिश। स्मृति अपने आपको, अपने समूह और साथियों को और अन्ततः अपनी जड़ों को जानना है। वहीं जब वे स्मृति अंक : दो को मूर्त रूप देने लगे तो कोरोना जैसी महामारी आ चुकी थी। कोरोना ने ऐसा तांडव नृत्य किया कि सरकार भी आधारकार्ड के बावजूद दिवंगतों की संख्या नहीं बतला पाई। लेकिन शेखर पाठक ने इन दोनों अंकों में हमारे बीच से उठ गए लगभग डेढ़ सौ अहम व्यक्तित्वों को बीस उपशीर्षकों में बाँटकर उनकी उपलब्धियों पर विशिष्ट लेखकों से लिखवाया है। समाज से जुड़े सभी क्षेत्रों के दिवंगतों को समान रूप से तरजीह दी। बुद्धिचेता खंड में महाश्वेता देवी, नारायण देसाई, रामदयाल मुंडा से लेकर दाभोलकर, पानसरे, कलबुर्गी और गौरी लंकेश जैसे व्यक्तित्व हैं। यहाँ सिर्फ़ भारतीय ही नहीं हैं बल्कि स्टीफ़न हॉकिंग जैसे भौतिकविज्ञानी और एलिज़ा बेथ ब्रूनर जैसे पश्चिम के कलाकार भी स्मृति-शेष व्यक्तित्वों में शामिल हैं। पहाड़ से जुड़े कलाकार हों या वैज्ञानिक, ऐक्टिविस्ट हों या साहित्यिक सभी को यहाँ याद किया गया है। पहाड़ के इन दो स्मृति अंकों को प्रकाशित कर दिवंगत व्यक्तित्वों की सामाजिक उपस्थिति और उनके अवदानों को पाठकों के समक्ष रखा गया है। ऐसे प्रयासों से ही हम दिवंगतों के कृतित्व और चिंतन को सामूहिक स्मृति की एक समृद्धकारी विरासत के रूप में देख पाते हैं, और इसलिए ये आयोजन ज़रूरी बन जाते हैं।

पहाड़ 20-21, स्मृति अंक : एक, और
पहाड़ 22-23, स्मृति अंक : दो
संपादक : शेखर पाठक
पहाड़ः परिक्रमा, नैनीताल, उत्तराखंड
मूल्य : ₹ 300, ₹ 350, पृष्ठ : 460, 480

रचनाकार-परिचय और संपर्क

आलोक टंडन समाज-दर्शन के स्वतंत्र अध्येता हैं। dralokboi@yahoo.com

अरुण कुमार नॉटिंघम विश्वविद्यालय, इंग्लैंड में ब्रिटिश साम्राज्य, औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक इतिहास विभाग में असिस्टेंट प्रोफ़ेसर हैं। arun.kumar2@nottingham.ac.uk

अश्वनी कुमार कमला रहेजा स्कूल ऑफ़ आर्किटेक्चर से पढ़ाई करने के बाद हैं और मुंबई स्थित आर्किटेक्ट व ग्राफ़िक डिज़ाइनर हैं। ashwani.kumar18899@gmail.com

कमल नयन चौबे यूट्यूब पर चिंतनपरक कार्यक्रम 'परख' चलाते हैं; दिल्ली विश्वविद्यालय के दयाल सिंह कॉलेज में राजनीतिशास्त्र विभाग में एसोसिएट प्रोफ़ेसर हैं। kamalnayanchoubey@gmail.com

कमल मिश्रा दिल्ली के जामिया मिलिया इस्लामिया विश्वविद्यालय से हाल ही में पीएचडी पूरी की है। kissakhwar@gmail.com

कुँवर प्रांजल सिंह दिल्ली विश्वविद्यालय के राजनीतिशास्त्र विभाग में सहायक प्राध्यापक हैं। pranjal695@gmail.com

चंदन शर्मा सराय और भारतीय भाषा कार्यक्रम, विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएस-डीएस) के अभिन्न अंग हैं। chandan_sharma@csds.in

चारु गुप्ता दिल्ली विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग में वरिष्ठ प्रोफ़ेसर हैं। charugup7@gmail.com

जोएल ली विलियम्स कॉलेज, मैसाचुसेट्स, यू.एस. ए. में सामाजिक मानवशास्त्र विभाग में पढ़ाते हैं। jl20@williams.edu

तिमसाल मसूद लेखक और अनुवादक हैं, कोलंबिया विश्वविद्यालय में हिंदी और उर्दू पढ़ाते हैं। tm3212@columbia.edu

दिनेश कुमार दिल्ली विश्वविद्यालय से पीएचडी करने के बाद दिल्ली में रहते हुए स्वंतत्र लेखन और अनुवाद करते हैं। dkmr1989@gmail.com

दीपमाला मिथिला चित्रकला शैली की उभरती हुई कलाकार हैं। मधुबनी और दिल्ली के बीच आवाजाही करती रहती हैं। deepmaharajaknits@gmail.com

देवनाथ पाठक दक्षिण एशियाई विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र विभाग में सहायक प्रोफ़ेसर हैं। dev@soc.sau.ac.in

धनंजय सिंह डॉ. एस. आर. के. गवर्नमेंट आर्ट्स कॉलेज यानम पुडुचेरी में अस्सिटेंट प्रोफ़ेसर हैं। djdu25@yahoo.com

नीता कोली देशबंधु कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग में असिस्टेंट प्रोफ़ेसर हैं। neetakoli2011@gmail.com

प्रभात कुमार विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस) में असिस्टेंट प्रोफ़ेसर हैं। prabhat@csds.in

प्रवीण कुमार झा पेशे से विशेषज्ञ चिकित्सक हैं, संगीत, ख़ासकर ध्रुपद में विशेष रुचि है।

doctorjha@gmail.com

महिका पार्थियाल जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय से पीएचडी कर रही हैं। mahikaphartiyal96@gmail.com

मनोज मोहन दिल्ली स्थित सांस्कृतिक पत्रकार हैं। manojmohan2828@gmail.com

मृत्युंजय आलोचक, कवि और अनुवादक हैं और दिल्ली में रहते हुए स्वतंत्र लेखन करते हैं। mrityubodh@gmail.com

मृत्युंजय चटर्जी दिल्ली स्थित कलाकार और डिज़ाइनर हैं। mrityunjay.chatterjee@gmail.com

मोना दास सत्यवती कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय के राजनीति विज्ञान विभाग में एसोसिएट प्रोफ़ेसर हैं। contactmona@gmail.com

रबि प्रकाश स्कूल ऑफ़ लिबरल आर्ट्स ऐंड साइंस, जेएनयू में अस्सिटेंट प्रोफ़ेसर हैं। rprakash.rabi@gmail.com

रविकान्त मीडिया इतिहासकार और विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस), दिल्ली में एसोसिएट प्रोफ़ेसर हैं। ravikant@csds.in

वागीश शुक्ल भारतीय शास्त्रीय परंपरा और साहित्य के वरिष्ठ आलोचक आजकल दिल्ली में रहते हैं। wagishs@yahoo.com

वेंकटेश कुमार लेखन को पूर्णकालिक पेशा बना चुके हैं, आजकल साहित्य और इतिहास के प्रश्नों पर अनुसंधानरत हैं। venkydu@gmail.com

संजीव कुमार टाटा इंस्टिट्यूट ऑफ़ सोशल साइंसेज से अध्ययन करने के बाद स्वतंत्र पत्रकार और शोधकर्ता हैं। subaltern1@gmail.com

सौम्या गुप्ता जानकी देवी मेमोरियल कॉलेज इतिहास विभाग में एसोसिएट प्रोफ़ेसर हैं। saumya.saumyagupta@gmail.com

सुमित उज्जैनवाल वर्तमान में दिल्ली विश्वविद्यालय के स्कूल ऑफ़ ओपन लर्निंग में अध्यापन कर रहे हैं। sumit1986aujainwal@gmail.com

शिखा झींगन जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में सिनेमा अध्ययन विभाग में एसोसिएट प्रोफ़ेसर हैं। shikha.jhingan@gmail.com

शुभनीत कौशिक इतिहास विभाग, सतीश चंद्र कॉलेज, बलिया, उत्तर प्रदेश में असिस्टेंट प्रोफ़ेसर हैं। shubhneetkaushik@gmail.com

हिलाल अहमद राजनीतिशास्त्री और विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस), दिल्ली में एसोसिएट प्रोफ़ेसर हैं। hilal@csds.in

प्रतिमान के लिए संदर्भ-साँचा

हिंदी के शोध-संसार में वैसे तो अब लोग बड़े पैमाने पर संदर्भन करने लगे हैं, लेकिन अराजकता या उदासीनता अभी-भी कम नहीं है। हमारी कोशिश होगी कि लम्बे अरसे में विकसित और निहायत लोकप्रिय शिकागो या हार्वर्ड मैनुअल जैसी वैश्विक संदर्भन प्रणालियों का मूलतः इस्तेमाल करते हुए उसे भाषा के स्थानीय व्यवहार के मुताबिक़ अनुकूलित करें। लेखक/लेखिकाओं से अपील है कि वे अपने आलेख का शब्द-संयोजन करते वक़्त इन चीज़ों का ख़याल ज़रूर रखें, ताकि हमें सम्पादन में और सजग पाठकों को पढ़ने में कम मेहनत करनी पड़े। शोधपत्र में नाना प्रकार के स्रोतों को संदर्भित करने का तरीक़ा नीचे मिसाल दे कर सिलसिलेवार समझाया गया है।

ख़याल रहे कि कुछ मामलों में हमारा तरीक़ा इन तरीक़ों से अलग है। पहली बात, हम मूल आलेख में संदर्भ न डालकर फ़ुटनोट का इस्तेमाल करेंगे, और लेख के आख़िर में एक ग्रंथ-सूची देंगे। दूसरी बात, हम फ़ुटनोट व ग्रंथावली दोनों ही जगहों पर डॉट का इस्तेमाल करेंगे, जबकि मूल आलेख में पूर्ण विराम का। और, हमारे यहाँ जैसा रिवाज है नाम वैसे ही रखेंगे, यानी पहले पहला नाम, फिर उपनाम, और ग्रंथावली भी हिंदी वर्णक्रमानुसार इसी ढर्रे पर चलेगी। हमारे यहाँ लेखक अपने नाम के पहले डॉक्टर/डॉ. या प्रोफ़ेसर/प्रो. लगाते देखे गये हैं, हम उनके छोटे रूप से भी परहेज़ करेंगे, सिवाय प्राथमिक स्रोतों के, जैसे मोती बी.ए. अगर अपने तख़ल्लुस के साथ लिखते थे तो हम उनकी तमाम रचनाएँ मोती बी.ए. के नाम से ही डालेंगे। संक्षेप में नाम लिखते समय डॉट का प्रयोग करें और स्पेस न दें, जैसे : जी.पी. श्रीवास्तव, न कि जी. पी. श्रीवास्तव। विख्यात संस्थाओं या देशों के नाम लिखते समय डॉट लगाने की आवश्यकता नहीं है, जैसे : यूनेस्को, न कि यू.एन.ई.एस.सी.ओ.; या यूके, न कि यू.के.।

हम नुक़्ते का प्रयोग भी करेंगे, क्योंकि यह कुछ अंग्रेज़ी और उर्दू शब्दों के लिए ज़रूरी है। मिसाल के तौर पर, ज़ुल्फ़िक़ार बुख़ारी, ज़िज़ेक, ज़ीटीवी, क़यामत, फ़रमाइश, ग़ज़ल, ख़याल, वग़ैरह। उसी तरह, हम हमेशा अर्धचंद्र या चंद्र बिंदु का इस्तेमाल करेंगे, जहाँ भी लगता है, जैसे कि 'फ़ुटबॉल' या 'ऑल इंडिया रेडियो' या फिर 'हँसना' या 'पाँच' में। ख़याल रहे कि अगर किसी भी उद्धृत दस्तावेज़ में अगर नुक़्ते / चंद्र बिंदु का इस्तेमाल मूल में नहीं हुआ है तो हम अपनी तरफ़ से न लगाएँ। उसी तरह अगर देसी पंचांग / संवत् का प्रयोग हुआ है तो उसी का इस्तेमाल करें। जहाँ तारीख़ साफ़ नहीं / अनुपलब्ध है, वहाँ इसका ज़िक्र ज़रूर हो। कोलन या विसर्ग लगाते समय ध्यान रखें कि उसके दोनों तरफ़ स्पेस हो। हाँ, अगर किसी अंक के तुरंत बाद विसर्ग लगाया जा रहा है तो स्पेस केवल उसके बाद आएगा। हर जगह अरबी अंकों यानी 1, 2, 3, 4 आदि का प्रयोग करें।

फ़ुटनोट में किताब के संदर्भन का क्रम :

पाद-टिप्पणी के रूप में संदर्भ का संक्षिप्त रूप इस्तेमाल किया जाएगा, लेकिन पृष्ठ संख्या अवश्य लिखी जाएगी। जैसे : लेखक का नाम (कोष्ठक में प्रकाशन का वर्ष) : पृष्ठ संख्या.

मिसाल : सुमित सरकार (1985) : 21.

लेख के अंत में दी जाने वाली संदर्भ-सूची में किताब के सम्पूर्ण संदर्भन का क्रम :

सुमित सरकार (1985), *मॉडर्न इंडिया : 1885–1947,* मैकमिलन, लंदन.
ज़ाहिर है कि यहाँ पृष्ठ संख्या नहीं देनी है।

अगर वही संदर्भ फ़ुटनोट में दोबारा आ रहा है, तो महज़ लेखक के नाम से काम चला सकते हैं, पर साथ में विसर्ग लगा कर पृष्ठ संख्या देना लाज़िमी होगा। अगर एक ही संदर्भ लगातार फ़ुटनोट में है, तो 'वही : पृष्ठ संख्या' से काम चल जाएगा। अगर पृष्ठ भी नहीं बदला तो सिर्फ़ 'वही' पर्याप्त होगा। अगर लेखकों या सम्पादकों के दो नाम हैं तो पूरे जाएँगे, अगर दो से ज़्यादा, तो दोनों के बाद वग़ैरह लगाएँ। लेकिन पहले फ़ुटनोट और ग्रंथ-सूची में सारे नाम, पूरे जाएँगे। अगर किताब के एक से ज़्यादा संस्करण छप चुकी है तो जिस संस्करण का इस्तेमाल हुआ है, उसके ज़िक्र के साथ कोष्ठक में मूल प्रकाशन का साल भी जाएगा। अगर एक ही रचनाकार की एक नाम से एक ही साल की दो शीर्षक-रचनाएँ उद्धृत की गयी हैं तो उनके हवाले में भेद करने के लिए फ़ुटनोट/ग्रंथावली में रचना के नाम के बाद प्रकाशन वर्ष के साथ क, ख...आदि लगाया जाए।

मिसाल :

रामचंद्र गुहा (1982 क), 'फ़ॉरेस्ट्री इन ब्रिटिश ऐंड पोस्ट-ब्रिटिश इंडिया : अ हिस्टोरिकल एनालिसिस', *इकॉनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 18, अंक 44 : 1882–1896.
--------(1982 ख), 'फॉरेस्ट्री इन ब्रिटिश ऐंड पोस्ट-ब्रिटिश इंडिया : ए हिस्टोरिकल एनालिसिस', *इकॉनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 18, अंक 45 : 1940–1947.

अगर किताब अनूदित है तो अनुवादक का नाम फ़ुटनोट और ग्रंथावली में किताब के नाम के बाद कोष्ठक में आएगा :
मिसाल : मन्ना डे (2008), *यादें जी उठीं : एक आत्मकथा,* अंग्रेज़ी से अनुवाद : रक्षा शुक्ला, पेंगुइन बुक्स, नयी दिल्ली.

सम्पादित किताब में छपे लेख :

मिसाल : हरीश त्रिवेदी, 'ऑल काइंड्स ऑफ़ हिंदी : दि इवॉल्विंग लैंग्वेज ऑफ़ हिंदी सिनेमा', आशिस नंदी व विनय लाल (सं.), *फ़िंगरप्रिंटिंग पॉपुलर कल्चर : द मिथिक ऐंड दि आइकॉनिक इन इंडियन सिनेमा,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली : 51–86.

जर्नल-आदि में छपे लेख :

रचनाकार (प्रकाशन वर्ष), 'लेख का नाम', पत्र का नाम, खण्ड, अंक, किस पृष्ठ से किस पृष्ठ तक, आख़िर में अगर ख़ास पृष्ठ का ज़िक्र करना हो तो :
मिसाल : प्रेमलता वर्मा (2001), 'इब्ने-मरियम हुआ करे कोई', *बहुवचन,* वर्ष 2, अंक 8 (जुलाई-सितम्बर) : 110–128, 115.

पत्रिका के आलेख :
मिसाल : बजरंग बिहारी तिवारी (2012), 'केरल में दलित आंदोलन और दलित साहित्य', *कथादेश,* वर्ष 32 : अंक 5 (जुलाई) : 76.

अख़बार में छपी रचना या रपट :
लेख : दीपानिता नाथ, 'रेडियो रिवाइंड', *आई : द संडे एक्सप्रेस,* नयी दिल्ली, 10 अगस्त, 2008.
रपट : 'यह क्षेत्र हिंदी में संकट का समय : असगर', *जनसत्ता* (2005), दिल्ली, 20 मार्च : 7.
छपे हुए साक्षात्कार के हवाले के लिए : साक्षात्कार देने वाले का नाम > शीर्षक व बातचीत करने वाले का नाम उद्धरण चिह्नों के बीच > किताब है तो लेखक से शुरू करके किताब वाला संदर्भन, अगर पत्रिका है तो पत्रिका वाला।
मिसाल : विश्वनाथ त्रिपाठी, 'रामविलास शर्मा 1950 में बीटीआर वाले माने जाते थे' : अजेय कुमार से बातचीत, *उद्भावना* (रामविलास शर्मा महाविशेषांक : (सं.) प्रदीप कुमार), अंक 104 : 199
अगर बातचीत ख़ुद लेखक/लेखिका ने की है तो ज़िक्र यूँ होगा : लेखक/लेखिका द्वारा साक्षात्कार, 13 अक्टूबर, 2005, नयी दिल्ली.

अभिलेखागार की सामग्री का हवाला :
होम डिपार्टमेंट, 42–48/नवम्बर 1916, ए. जेल्स, नेशनल आर्काइव्ज़ ऑफ़ इंडिया, (आगे एनएआई).

अदालती मामलों / फ़ैसलों का हवाला यूँ दिया जाएगा :
ऑल इंडिया आईटीडीसी वर्कर्स यूनियन एवं अन्य बनाम आईटीडीसी एवं अन्य, (2006). 2007एआईआर 301, (2006) 10 एससीसी 66.

विश्वव्यापी वेब से ली गयी सामग्री का हवाला यूँ दिया जाएगा :
मिसाल : विकीपीडिया पर 'पान सिंह तोमर' :
http://en.wikipedia.org/wiki/Paan_Singh_Tomar; 28 जुलाई 2012 को देखा गया.

अगर प्रविष्टि हिंदी में है तो उसे हिंदी में दिखाएँ : http://hi.wikipedia.org/wiki/राजेश खन्ना. कई बार वेब पतों से नक़ल-चेपी करते हुए भारतीय भाषाओं की लिपि बदलकर अबूझ हो जाती है, जिससे बचने का उपाय यह है कि अंग्रेज़ी वेब-पते की नक़ल-चेपी करते समय देसी सामग्री को यथावत अपने वर्ड प्रोसेसर में अलग से टंकित करें.
चलती का नाम गाड़ी, पार्ट-4: यूट्यूब :
http://www.youtube.com/watch?v=KWqkCpybNLo
&feature=g-vrec; 30 जुलाई 2010 को संदर्भानुसार देखा/सुना/पढ़ा गया.
अगर लेख फ़िल्म-केंद्रित है, तो ग्रंथावली के साथ फ़िल्मावली भी देनी होगी, जिसमें फ़िल्म का नाम, साथ में निर्माता/निर्देशक और रिलीज़ हुए साल का ज़िक्र ज़रूरी होगा।
मिसाल : *अब दिल्ली* दूर *नहीं,* आरके फ़िल्म्स, निर्देशक : अमर कुमार, 1957. लेकिन मूल आलेख में ब्रैकेट में सिर्फ़ फ़िल्म का नाम व रिलीज़ वर्ष के ज़िक्र से काम चल जाएगा : (*अब दिल्ली* दूर *नहीं,* 1957).

भारतीय भाषा कार्यक्रम

पिछले तक़रीबन बीस साल से **विकासशील समाज अध्ययन पीठ** (सीएसडीएस) का **भारतीय भाषा कार्यक्रम** समाज-विज्ञान और मानविकी में हिंदी के चिंतन-जगत को समृद्ध करने की परियोजना चला रहा है। अभी तक चार ग्रंथमालाओं (लोक-चिंतन ग्रंथमाला, लोक-चिंतक ग्रंथमाला, सामयिक विमर्श ग्रंथमाला और सरोकार ग्रंथमाला) के तहत वाणी प्रकाशन द्वारा प्रकाशित पंद्रह से ज़्यादा पुस्तकों का बड़े पैमाने पर स्वागत हुआ है। इन ग्रंथमालाओं के तहत लोकतंत्र, भूमण्डलीकरण, दलित और आधुनिकता, सेकुलरवाद, साम्प्रदायिकता, राष्ट्रवाद, राजनीतिक प्रणाली, नारीवाद और सेक्शुअलिटी जैसे विषयों पर उच्चकोटि की सामग्री प्रकाशित की गयी है। अपने शुरुआती वर्षों में कार्यक्रम का ज़ोर अंग्रेज़ी में उपलब्ध समाज-चिंतन की उच्च-स्तरीय रचनाओं को अनुवाद और सम्पादन के ज़रिये हिंदी में लाने पर था। बाद में इस कार्यक्रम ने अंग्रेज़ी के साथ-साथ भारतीय भाषाओं में भी अनुसंधानपरक समाज-चिंतन और उसके साथ जुड़ी हुई ज्ञानमीमांसक चुनौतियों से जुड़े प्रश्नों पर समग्र रूप से विचार करना शुरू किया। इसीलिए अंग्रेज़ी से अनुवाद और सम्पादन की प्रक्रियाओं को दी गयी प्रमुखता क़ायम रखते हुए अब यह कार्यक्रम हिंदी में अनुसंधानपरक समाज-चिंतन के मूल लेखन को प्रोत्साहन देने पर केंद्रित है। समाज-विज्ञान और मानविकी की पूर्व-समीक्षित पत्रिका ***प्रतिमान समय समाज संस्कृति*** का प्रकाशन इसी दिशा में उठाया गया एक अहम क़दम है जिसकी परिणति आगे चल कर अनुसंधान और लेखन की एक सघन और बहुमुखी योजना में होगी। फ़िलहाल परियोजना हिंदी-जगत तक सीमित है, लेकिन जल्दी ही अन्य भारतीय भाषाओं में पहलक़दमियाँ लेने की कोशिशें की जाएँगी।